आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन
तारावतीसमाख्यया व्याख्यया च परिगतः

तृतीय एवं चतुर्थ उद्योतः

व्याख्याकारः
डॉ० रामसागर त्रिपाठी

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
दिल्ली □ वाराणसी □ पटना

आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन
तारावतीसमाख्यया व्याख्यया च परिगतः

व्याख्याकारः
डॉ० रामसागर त्रिपाठी

तृतीय एवं चतुर्थ उद्योतः

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली ::: वाराणसी ::: पटना

ध्वन्यालोकः

वक्तव्य

ध्वन्यालोक का उत्तरार्ध पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस खण्ड में तृतीय और चतुर्थ, ये दो उद्योत सन्निविष्ट किये गये हैं। तृतीय उद्योत कलेवर में जितना विशाल है विषय-वस्तु की दृष्टि से उतना ही उपयोगी तथा महत्त्व-पूर्ण भी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस उद्योत में लेखक ने ध्वनिसम्बन्धी अनेक आवश्यक शङ्काओं का समाधान करने की चेष्टा की है। उद्योत का प्रारम्भ व्यंजक निरूपण से होता है। अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपरवाच्य, संल्लक्ष्यक्रम, असंल्लक्ष्यक्रम, शब्दशक्ति-मूलक, अर्थशक्तिमूलक सभी प्रकार के ध्वनिभेदों के व्यंजकों पर इसमें प्रकाश डाला गया है, साथ ही रसव्यंजना के व्यंजक तत्त्वों पर अधिक विस्तार से विचार किया गया है और संघटना, रीति और गुण का रस से क्या सम्बन्ध है इस विषय में मतभेद प्रदर्शन-पूर्वक तत्त्वनिर्णय की चेष्टा की गई है। इसी प्रसंग में काव्यभेदों पर विचार किया गया है जिसके साथ ही औचित्य सम्प्रदाय के बीज भी अन्तर्निहित हो गये हैं। प्रबन्ध के द्वारा रसव्यंजना के प्रसंग में कथा-परीक्षा तथा उसका औचित्य, इतिवृत्त तथा कल्पना का योग, अवसर के अनुकूल उद्दीपन और प्रशमन इत्यादि विषयों का भी यथेष्ट समावेश किया गया है। इसके अतिरिक्त रसविरोध तथा विरोध-परिहार पर भी स्वतन्त्ररूप से विचार किया गया है। विरोध के प्रसंग में ही वृत्तियों का परिचय भी दिया गया है। दूसरे महत्त्वपूर्ण विषय हैं शान्तरस की सत्ता की सिद्धि वाच्य-वाचक विचार, रस की संल्लक्ष्यक्रमता, गुणीभूतव्यङ्ग्य का महत्त्व और उपयोग तथा काव्य में उसका स्थान, प्राधान्याप्राधान्यविवेचन की आवश्यकता, चित्रकाव्य, अलङ्कार सम्प्रदाय का ध्वनिसम्प्रदाय से सम्बन्ध, वक्रोक्ति, अलङ्कार और ध्वनि, वृत्तिविवेचन तथा विभिन्न वृत्तियों का एकीकरण और ध्वनि विरोधी मतों की परीक्षा। ध्वन्यालोक केवल ध्वनि-संस्थापनपरक ग्रन्थ ही नहीं है अपितु प्राक्तन सभी विचारधाराओं को एक-सूत्र में अनुस्यूत करता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत उद्योत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इसमें प्राक्तन सभी विचार-धाराओं का ध्वनिमान्यता के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया है। केवल पूर्ववर्ती ही नहीं अपितु उत्तरवर्ती औचित्य और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का भी प्रेरणा-स्रोत यही उद्योत है। इसमें व्यंजना का भी सबल प्रतिपादन कर दिया गया है।

चतुर्थ उद्योत उपसंहारात्मक है। इसका प्रारम्भ ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के उपयोग से होता है जिससे काव्य में अनन्तता तथा नवीनता आ जाती है। रसध्वनि फिर भी सर्वाधिक प्रधान होती है और जहाँ अनेक रसों का उपादान किया जाता है वहाँ एक रस को अङ्गी बनाना भी अत्यावश्यक बतलाया गया है। इस प्रसंग में रामायण तथा महाभारत के अङ्गी रसों पर विस्तारपूर्वक दृक्पात किया गया है। काव्य में अक्षुण्ण वस्तु से ही नवीनता आती है। इस दिशा में सर्वाधिक उपयोग कवि-प्रतिभा का होता है। व्यङ्ग्यार्थ से ही नहीं और न केवल व्यंजना वृत्ति के उपयोग से अपितु वाच्य-वाचक भाव में भी काव्य अनन्तता

का प्रयोजक हो जाता है। अवस्थादि भेद भी क्षुण्ण अर्थ को नवीनता प्रदान करने वाले हो जाते हैं। दो कवियों के भाव प्रायः मेल खा जाते हैं। किन्तु सर्वत्र अपहरण का ही आरोप समीचीन नहीं होता। इस दृष्टि से संवाद (मेल) का वर्गीकरण किया गया है और सदोषता निषता पर निर्णयो दिया गया है।

उपर्युक्त दिग्दर्शन से प्रकट होता है कि प्रस्तुत खण्ड ध्वनि के छात्र के लिए अनिवार्य रूप से उपयोगी है। विशेष रूप से तृतीय उद्योत तो काव्यशास्त्र के प्रत्येक छात्र के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। डॉ० नगेन्द्र प्रस्तुत कृति के प्रेरणा केन्द्र तो रहे ही हैं उन्होंने आमुख लिखकर भी अनुगृहीत किया है, इसके लिए आभार प्रदर्शित कर मैं उनकी सतत प्राप्य अनुकम्पा का मूल्यांकन नहीं करूँगा। इसके प्रस्तुत करने में मुझे अपने पुत्रों श्री योगेश्वर त्रिपाठी और श्रीज्ञानेश्वर त्रिपाठीसे यथेष्ट सहायता मिली हे। उन्होंने प्रेस कापी तैय्यार करने, मूल से मिलाने, विषय सूची तैय्यार करने और वर्णानुक्रमणी बनाने का बहुत ही श्रमसाध्य कार्य सम्पादित किया है। प्रेस कापी तैय्यार करने और मूल से मिलाने में मेरे अनुज श्री रामशरण त्रिपाठी से भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। मैं 'मोतीलाल बनारसीदास' प्रकाशन के अधिष्ठाता श्री सुन्दरलाल जैन का अन्तस्तल से आभारी हूँ। जिन्होंने मेरे श्रम को प्रकाश में लाने की उदारता दिखलाकर कृतार्थ किया है और इसका सर्वाधिक श्रेय श्री किशोरचन्द्र जी जैन को दिया जा सकता है जिनकी देख-रेख में मुद्रण कार्य सम्पादित किया गया है। श्री जनार्दन जी पाण्डेय का आभार प्रदर्शित न करना भी एक कृतघ्नता होगी जिन्होंने प्रूफ देखने का स्वयं भार वहन कर पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन में स्तुत्य सहयोग प्रदान किया है। पुस्तक बनारस में मुद्रित हुई और दिल्ली में उसका प्रूफ देखने में अनावश्यक विलम्ब हो जाता। ऐसी दशा में मुद्रण की कतिपय अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए अभिनवगुप्त के गुरु का नाम भट्टेन्दु राज है किन्तु पूर्वार्ध के प्राक्कथन के ९ वें पृष्ठ पर महेन्द्र-राज छप गया है। आशा है कि सहृदय पाठक ऐसे स्थलों को विवेक पूर्वक स्वयं सम्हाल लेंगे।

अन्त में पाठकों की सेवा में कालिदास का निम्नलिखित पद्य निवेदित कर मैं पाठकों से त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थना करूँगा :—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्याः लावण्यं रेखया किञ्चिदङ्कितम् ॥

भ्रातृ द्वितीया
संवत् २०२०

रामसागर त्रिपाठी

समर्पण

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी
श्रीमती फूलमती देवी की
दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त
यह अभिनव तारावती
सादर समर्पित है।

विषय-सूची

तृतीय उद्योत

चतुर्थ-उद्योत

●

तृतीय उद्योतः

ध्वन्यालोकः

एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेनैतत्प्रकाश्यते—

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाश्यता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥ १ ॥

(अनु०) इस प्रकार व्यंग्य-मुख से भेदोपभेदों सहित ध्वनि के स्वरूप को दिखला दिये जाने पर अब व्यञ्जक-मुख से यह दिखला रहे हैं :—

'अविवक्षितवाच्य ध्वनि का प्रकाशन पद और वाक्य से होता है उससे भिन्न अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि का प्रकाशन भी पद और वाक्य से ही होता है' ॥ १ ॥

लोचनम्

स्मरामि स्मरसंहारलीलापाटवशालिनः ।
प्रसह्य शम्भोर्देहार्धं हरन्तीं परमेश्वरीम् ॥

उद्योतान्तरसङ्गतिं कर्तुमाह वृत्तिकारः—**एवमित्यादि** । तत्र वाच्यमुखेन तावदविवक्षितवाच्यादयो भेदाः, वाच्यश्च यद्यपि व्यञ्जक एव । यथोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वे'ति । ततश्च व्यञ्जकमुखेनापि भेद उक्तः, तथापि स वाच्योऽर्थो व्यङ्ग्यमुखेनैव भिद्यते । तथा ह्यविवक्षितो वाच्यो व्यङ्ग्येन न्यग्भावितः, विवक्षितान्यपरो वाच्य इति व्यङ्ग्यार्थप्रवण एवोच्यते । इत्येवं मूलभेदयोरेव यथास्वमवान्तरभेदसहितयोर्व्यञ्जकरूपो योऽर्थः स व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षिताशरणतयैव भेदमासादयति । अत एवाह—**व्यङ्ग्यमुखेनेति** । किञ्च यद्यप्यर्थो व्यञ्जकस्तथापि व्यङ्ग्यतायोग्योऽप्यसौ भवतीति, शब्दस्तु न कदाचिदपि व्यङ्ग्यः अपि तु व्यञ्जक एवेति । तदाह—**व्यञ्जकमुखेनेति** । न च वाच्यस्याविवक्षितादिरूपेण यो भेदस्तत्र सर्वथैव व्यञ्जकत्वं नास्तीति पुनः शब्देनाह । व्यञ्जकमुखेनापि भेदः सर्वथैव न न प्रकाशितः किन्तु प्रकाशितोऽप्यधुना पुनः व्यञ्जकमुखेन । तथाहि व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षितया विना पदं वाक्यं वर्णाः पदभागः सङ्घटना महावाक्यमिति स्वरूपत एव व्यञ्जकानां भेदः, न चैषामर्थवत्कदाचिदपि व्यङ्ग्यता सम्भवतीति व्यञ्जकैकनियतं स्वरूपं यत्तन्मुखेन भेदः प्रकाश्यते इति तात्पर्यम् ।

यस्तु व्याचष्टे—'व्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्काररसानां मुखेन इति' स एवं प्रष्टव्यः—एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम् । वृत्तिकारेण तु दर्शितम् । न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति । ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः ? न चैतावता सकलप्राक्तनग्रन्थसङ्गतिः कृता भवति । अविवक्षितवाच्यादीनामपि प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूज्यजनसगोत्रैः साकं विवादेन ।

(लो० अनु०) 'कामदेव के संहार की लीला की चतुरता से शोभित होनेवाले शंकर की आधी देह को बलात् हरनेवाली परमेश्वरी को मैं स्मरण करता हूँ।'

दूसरे उद्योत की सङ्गति करने के लिये वृत्तिकार कहते हैं—'इस प्रकार' इत्यादि। उसमें वाच्यमुख से तो अविवक्षितवाच्य इत्यादि भेद (होते हैं) और वाच्य यद्यपि व्यञ्जक ही होता है। जैसा कहा गया है—'जहाँ अर्थ अथवा शब्द' इत्यादि। इससे व्यञ्जक-मुख से भी भेद कह दिया गया। तथापि वह वाच्य अर्थ व्यञ्जक-मुख के ही द्वारा भेद को प्राप्त होता है। वह इस प्रकार—अविवक्षितवाच्य व्यङ्ग्य के द्वारा नीचा कर दिया जाता है। विवक्षितान्यपरवाच्य यह व्यंग्यार्थ-प्रवण ही कहा जाता है। इस प्रकार अपनी सत्ता के अनुसार अवान्तर भेद सहित मूल भेदों का ही व्यञ्जकरूप जो अर्थ वह व्यंग्यमुखप्रेक्षणरूप अशरणता से ही भेद को प्राप्त कर लेता है। अत एव कहते हैं—'व्यंग्यमुख के द्वारा' यह। और भी यद्यपि अर्थ व्यञ्जक (होता है) तथापि वह व्यञ्जकता के योग्य भी होता है, अतः शब्द तो कभी व्यंग्य नहीं होता अपितु व्यञ्जक ही होता है। वह कहते हैं—'व्यञ्जक-मुख से'। पुनः शब्द से यह कहते हैं कि वाच्य के अविवक्षितवाच्य इत्यादि रूपमें जो भेद वहाँ सर्वथा व्यञ्जकत्व नहीं होता यह बात नहीं है। व्यञ्जक-मुख से भी भेद सर्वथा प्रकाशित नहीं किया यह बात नहीं किन्तु प्रकाशित भी इस समय शुद्ध व्यञ्जक-मुखसे (प्रकाशित किया जा रहा है।) वह इस प्रकार व्यंग्यमुख-प्रेक्षण के बिना पद, वाक्य, वर्ण, पदभाग सङ्घटना महावाक्य के स्वरूप से ही व्यंञ्जकों के भेद हैं। इनकी अर्थ के समान व्यंग्यता कभी सम्भव नहीं है। इस प्रकार एकमात्र व्यञ्जक में नियत जो स्वरूप है उसके दृष्टिकोण से भेद प्रकाशित किया जा रहा है, यह तात्पर्य है।

जिसने तो व्याख्या की—'व्यंग्य अर्थात् वस्तु, अलंकार और रस के मुख से' उससे यह पूछा जाना चाहिये—ये तीन भेद कारिकाकार ने नहीं किये, वृत्तिकार ने तो दिखला दिये। इस समय वृत्तिकार भेदों का प्रकटन नहीं कर रहे हैं। अतः 'यह किया' 'यह कर रहे हैं' यह कर्ता के भेद में कैसे संगत होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इतने से सभी पुराने ग्रन्थों की संगति की हुई हो जाती है। क्योंकि अविवक्षितवाच्य इत्यादि प्रभेदों को भी दिखलाया जा चुका है। बस अपने पूज्यजनों के सगोत्रों से विवाद करने की आवश्यकता नहीं।

तारावती

तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में लोचनकार ने पुनः मङ्गलाचरण किया है। यह भी ग्रन्थ का मध्यगत मङ्गलाचरण ही है और बार-बार किया हुआ मङ्गलाचरण विशेष रूप से मङ्गल-प्रवण होता है। यहाँ पर लोचनकार ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार भगवती पार्वती का स्मरण किया है। लोचनकार कह रहे हैं—'भगवान् शंकरजी बड़े ही निपुण हैं। उन्होंने खेल-खेल में ही कामदेव के संहार की लीला दिखला दी। उन अत्यन्त समर्थ तथा निपुण भगवान् शंकर के आधे शरीर को भगवती पार्वती ने बलात् हर लिया और भगवान् शंकर कुछ कर भी न सके। इस प्रकार भगवती पार्वती भगवान् शंकर की अपेक्षा कहीं अधिक निपुण तथा समर्थ हैं। इसीलिये वे परम ईश्वरी हैं। उन भगवती पार्वती के ऐश्वर्य का क्या

कहना जिन्होंने योगीश्वर भगवान् शंकर के हृदय में भी सरसता का सम्पादन कर दिया। मैं इस तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में उन परम ईश्वरी भगवती पार्वती जी का स्मरण करता हूँ। यहाँ पर कविप्रतिभा की ओर भी संकेत किया गया है जो कि नीरस से नीरस हृदय में भी सरसता का सम्पादन कर देती है।

द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के रूप में ध्वनि के स्वरूप का भी निरूपण किया जा चुका और उसके भेद भी दिखलाये जा चुके। अब पुनः व्यञ्जक के रूपमें स्वरूप और भेद दिखलाये जा रहे हैं। (प्रश्न) द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के भेदों के साथ वाच्य के भी अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दो भेद दिखलाये थे। यह भी प्रथम उद्योत में ही बतलाया जा चुका है कि वाच्यार्थ व्यञ्जक होते हैं। जैसा कि प्रथम उद्योत की 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस कारिका से स्पष्ट है। अतएव वाच्य के भेद करने के साथ ही व्यञ्जक के भी भेद हो गये। फिर यह कथन किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के भेद दिखलाये गये थे और इस तृतीय उद्योत में व्यञ्जक के भेद दिखलाये जावेंगे? (उत्तर) पहली बात तो यह है कि अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये दोनों वाच्यार्थ के भेद नहीं हैं किन्तु व्यङ्ग्य के ही भेद हैं—एक व्यङ्ग्य ऐसा होता है जिसमें वाच्यार्थ की विवक्षा होती है और दूसरा व्यङ्ग्य वह होता है जिसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं होती। इस प्रकार ये व्यङ्ग्य के ही भेद हैं वाच्यार्थ के नहीं। अविवक्षितवाच्य शब्द का अर्थ है—जिसमें वाच्य को अविवक्षित कर दिया जावे अर्थात् व्यङ्ग्य के द्वारा नीचा कर दिया जावे। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य शब्द का अर्थ है जिसमें वाच्य की विवक्षा अन्यपरक रूपमें हो अर्थात् वाच्यार्थ व्यङ्ग्यपरक हो। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये दोनों भेद व्यङ्ग्य के ही हैं। यह और बात है कि अपने विस्तार के अनुसार व्यङ्ग्य के मूलभेद और अवान्तर भेदों के दिखलाने के प्रसंग में व्यञ्जकरूप वाच्यार्थ के भी भेद हो जाते हैं। किन्तु ये भेद सर्वथा व्यंग्यार्थ के ही मुखापेक्षी हैं और स्वतः नहीं किन्तु व्यंग्य के अधीन होकर ही इन्हें भेदरूपता को प्राप्त कर लेना पड़ता है। मानो इस क्रिया में अपने भेदोपभेद कराने के लिये वाच्यार्थ को पराधीन हो जाना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि व्यञ्जक एक तो अर्थ होता है और दूसरा शब्द। अर्थ में व्यंग्य हो सकने की भी योग्यता होती है। आशय यह है कि अर्थ केवल वाच्यार्थ के रूप में ही व्यञ्जक होता हो ऐसी बात नहीं है किन्तु व्यंग्य अर्थ भी दूसरे व्यंग्य अर्थ का व्यञ्जक होता है। एक ही अर्थ एक स्थान पर वाच्य होता है और दूसरे स्थान पर व्यंग्य हो जाता है। इस प्रकार अर्थ में व्यंग्य होने की क्षमता होती है शब्द में नहीं। शब्द कभी भी व्यंग्य नहीं होता अपितु व्यञ्जक ही होता है। इसीलिये वृत्तिकार ने कहा है कि व्यंग्य-मुख से भेद दिखलाये जा चुके अब व्यञ्जक-मुख से भेद दिखलाये जा रहे हैं। इस अवतरण का आशय यह है कि जिसमें व्यंग्य हो सकने की क्षमता होती है उसके भेद द्वितीय उद्योत में दिखलाये जा चुके, अब उसके भेद दिखलाये जा रहे हैं जो केवल व्यञ्जक ही होता है व्यंग्य कभी नहीं हो सकता। आशय यह है कि यह बात नहीं है कि द्वितीय उद्योत में व्यञ्जक के रूप में ध्वनि के भेद किये ही नहीं गये थे। यद्यपि वाच्यात्मक व्यञ्जक के भी भेद किये जा चुके हैं किन्तु अब शुद्ध व्यञ्जक के

ही भेद किये जा रहे हैं। पद, वाक्य, वर्ण, पद भाग, सङ्घटना और महावाक्य ये स्वरूप से से ही व्यंजक होते हैं। अर्थ के समान ये कभी व्यंजक और कभी व्यंग्य नहीं होते। अतएव यहाँ पर यही तात्पर्य है कि जो स्वरूप केवल व्यंजक के रूप में ही नियत है उसको दृष्टिगत रखते हुए ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण किया जा रहा है।

कतिपय विद्वानों ने 'व्यंग्य के रूप में ध्वनि के भेद दिखलाये जा चुके हैं' इस वाक्य का यह अर्थ किया है कि व्यंग्य अर्थात् वस्तु अलङ्कार और रस रूप में ध्वनि के भेद दिखलाये जा चुके हैं।' किन्तु अलङ्कार और रस के रूप में भेद वस्तुतः आनन्दवर्धन ने दिखलाये हैं कारिकाकार (ध्वनिकार) ने ये भेद नहीं किये। अतएव कारिका के लिये इस अवतरण की संगति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। क्योंकि कारिका का कर्ता दूसरा है और भेदों का कर्ता दूसरा। कर्तृभेद होने पर 'हम यह कर चुके और अब हमें यह करना है' इस ग्रन्थ की संगति नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सभी पुराने ग्रन्थों की संगति के लिये यह अवतरण दिया गया है क्योंकि दूसरे उद्योत में वस्तु इत्यादि भेदों के अतिरिक्त अविवक्षितवाच्य इत्यादि भेद भी दिखलाये गये हैं। मैं समझता हूँ कि ग्रन्थ की संगति के लिये इतना कहना पर्याप्त है। अपने पूजनीय व्यक्तियों के समकक्ष आचार्यों की अधिक आलोचना करना ठीक नहीं (सम्भवतः अभिनव गुप्त के गुरुजनों में किसी ने अथवा तत्समकक्ष किसी आचार्य ने ग्रन्थ की इस प्रकार संगति लगाई होगी। इसलिये अभिनवगुप्त ने उनके लिये 'निजपूज्यजनसगोत्रैः' यह विशेषण दिया। यहाँ पर लोचनकार का कहना यही है कि द्वितीय उद्योत में अर्थ के रूप में ध्वनि के भेद दिखलाये गये थे जो कि कभी व्यंग्य भी हो सकता है। किन्तु इस उद्योत में वर्ण इत्यादि के रूप में भेद दिखलाये जा रहे हैं जो केवल व्यंजक ही होते हैं व्यंग्य कभी नहीं होते)।

(ध्वन्या०)—**अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाश्यता यथा महर्षेर्व्यासस्य—'सप्तैताः समिधः श्रियः', यथा वा कालिदासस्य—'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्', यथा वा 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'। एतेषूदाहरणेषु 'समिध' इति 'सन्नद्ध' इति 'मधुराणा' मिति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव कृतानि।**

(अनु०) अविवक्षितवाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के पद के द्वारा प्रकाशित होने के उदाहरण जैसे भगवान् व्यास का—'यह सम्पत्ति की सात समिधायें होती हैं।' अथवा कालिदास का—'तुम्हारे (मेघ के) सन्नद्ध होने पर विरह-विधुर प्रियतमा की कौन उपेक्षा कर सकता है ?' अथवा 'मधुर आकृतियों के लिये क्या आभूषण नहीं होता ?' इन उदाहरणों में 'समिध' शब्द 'सन्नद्ध' शब्द और 'मधुर' यह शब्द व्यञ्जकत्व के अभिप्राय से ही प्रयुक्त किये गये हैं।

(लो०)—चकारः कारिकायां यथासंख्यशङ्कानिवृत्त्यर्थः। तेन विवक्षितवाच्यो द्विप्रभेदोऽपि प्रत्येकं पदवाक्यप्रकाश इति द्विधा। तदन्यस्य विवक्षिताभिधेयस्य सम्बन्धी यो भेदः क्रमद्योत्यो नाम स्वभेदसहितः सोऽपि प्रत्येकं द्विधैव। अनुरणनेन रूपं रूपण-

सादृश्यं तस्य तादृग्व्यङ्ग्यं यत्तस्येत्यर्थः। महर्षेरित्यनेन तदनुसन्धत्ते यत्प्रागुक्तम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये दृश्यत इति।

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥

समिच्छब्दस्यात्र सर्वथा तिरस्कारः असम्भवात्। समिच्छब्देन च व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यानपेक्षलक्ष्म्युद्दीपनक्षमत्वं सप्तानां वक्त्रभिप्रेतं ध्वनितम्। यद्यपि 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्याद्युदाहरणादप्ययमर्थो लभ्यते तथापि प्रसङ्गाद्बहुलक्ष्यव्यापित्वं दर्शयितुमुदाहरणान्तराण्युक्तानि। अत्र च वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारः पूर्वोक्तमनुसृत्य योजनीयः किं पुनरुक्तेन। सन्नद्धपदेन चात्रासंभवत्स्वार्थेनोद्यतत्वं लक्षयता वक्त्रभिप्रेता निष्करुणकत्वाप्रतिकार्यत्वाप्रेक्षापूर्वकारित्वादयो ध्वन्यन्ते। तथैव मधुरशब्देन सर्वविषयरञ्जकत्वतर्पकत्वादिकं लक्षयता सातिशयाभिलाषविषयत्वं नात्राश्चर्यमिति वक्त्रभिप्रेतो ध्वन्यते।

(अनु०) कारिका में 'च' यथासंख्य की शङ्का की निवृत्ति के लिये है। इससे दो प्रकार का भी अविवक्षितवाच्य प्रत्येक पद और वाक्य द्वारा प्रकाशित (होकर) दो प्रकार का (होता है)। उससे भिन्न विवक्षिताभिधेय सम्बन्धी जो भेद क्रमद्योत्य नामवाला अपने प्रभेद के सहित, वह भी दो प्रकार का होता है। अर्थात् अनुरणन से रूपण या स्वरूप की जिसकी समानता है इस प्रकार का व्यंग्य है जिसका उसका। 'महर्षेः' शब्द से उसका अनुसन्धान करते हैं जो पहले कहा है कि रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्य में देखा जाता है, यह।

'धृति क्षमा, दया, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुरवाणी और मित्रों से द्रोह न करना ये सम्पत्ति की ७ समिधायें हैं।'

यहाँ 'समिध्' शब्द के अर्थ का सर्वथा त्याग हो जाता है क्योंकि असम्भव है। समिध् शब्द के द्वारा व्यंग्यार्थ (निकलता है) अन्य की बिना अपेक्षा किये हुये सातों की लक्ष्मी के उद्दीपन की क्षमता जो वक्ता को अभिप्रेत है ध्वनित की गई है। यद्यपि 'निःश्वास से अन्धे आदर्श के समान' इत्यादि उदाहरण से भी यह अर्थ प्राप्त हो जाता है तथापि प्रसङ्गवश बहुलक्ष्यव्यापित्व दिखलाने के लिये दूसरे उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ पर वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार पूर्वोक्त का अनुसरण करके योजित कर लिया जाना चाहिये पुनरुक्त की क्या आवश्यकता? यहाँ पर असम्भव स्वार्थवाले और उद्यतत्व को लक्षित करानेवाले सन्नद्ध पद से वक्ता के अभिप्रेत निष्करुणत्व अप्रतिकार्यत्व और अप्रेक्षापूर्वकारित्व इत्यादि ध्वनित किये जाते हैं। उसी प्रकार सर्वविषयरञ्जकत्व तर्पकत्व इत्यादि को लक्षित करानेवाले मधुर शब्द से वक्ता का अभिमत अतिशयतापूर्ण अभिलाषविषयत्व इस विषय में आश्चर्यजनक नहीं है यह ध्वनित करता है।

तारावती—कारिका का आशय यह है—'अविवक्षितवाच्य नामक ध्वनि पद और वाक्य से प्रकाशित होती है और उससे भिन्न अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि भी पद और वाक्य से

प्रकाशित होती है।' इस कारिका में 'च' 'और' शब्द का प्रयोग यथासंख्य की शङ्का की निवृत्ति के लिये किया गया है। आशय यह है कि यहाँ पर 'और' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है जिससे यह ज्ञात हो सके कि अविवक्षितवाच्य और अनुरणनरूप व्यङ्ग्य दोनों प्रकार की ध्वनियों के व्यंजक पद और वाक्य दोनों होते हैं। यदि यह कहा जाता कि अविवक्षितवाच्य और अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि पद और वाक्य के द्वारा प्रकाशित होती है तो कदाचित् उसका आशय यह हो जाता कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित होती है और अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि वाक्य के द्वारा प्रकाशित होती है। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य के दोनों भेदों में प्रत्येक के दो भाग होते हैं पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। उससे भिन्न अर्थात् विवक्षितवाच्य से सम्बन्ध रखनेवाला जो भेद है जो कि क्रमद्योत्य कहलाता है अपने भेदों के सहित उसके भी (प्रत्येक के) दो भेद होते हैं। उसे अनुरणनरूप कहते हैं। अनुरणनरूप शब्द का अर्थ है अनुरणन से जिसके रूपण या स्वरूप की समानता है। अर्थात् जिस प्रकार पहले घण्टानाद सुनाई पड़ता है और बाद में प्रतिध्वनि, इसी प्रकार जिसमें पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और बाद में प्रतिध्वनि के समान व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। अविवक्षितवाच्य का पहला भेद है अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। उसके दो भेद बतलाये गये हैं पद-प्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। अविवक्षितवाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की पद-प्रकाश्यता का उदाहरण जैसे महर्षि व्यास का श्लोक—यहाँ पर महर्षि शब्द से उसी का अनुसन्धान किया जाता है जो कि पहले कहा गया था कि रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्यों में इसकी सत्ता पाई जाती है। व्यास के श्लोक का अर्थ यह है—

'धैर्य, क्षमा, दया, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुर वाणी और मित्रों से द्रोह न करना ये सम्पत्ति की सात समिधायें हैं।'

समिधा शब्द के अर्थ का यहाँ पर सर्वथा परित्याग हो जाता है क्योंकि समिधायें आग की होती हैं लक्ष्मी की समिधाओं का हो सकना असम्भव है। अतएव समिधा शब्द के अर्थ का बाध हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है 'बढ़ानेवाली।' लक्षणा का प्रयोजन यह प्रकट करना है कि 'ये सातों गुण लक्ष्मी को स्वतः बढ़ाते हैं, इन्हें इस कार्य के लिये किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं होती'। (समिधायें अग्नि को स्वतः बढ़ाती हैं—उन्हें किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती।) यही ध्वनि है। यद्यपि 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि उदाहरण से भी इस अर्थ की उपलब्धि हो जाती है अर्थात् यह उदाहरण भी अवि-वक्षितवाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की पद-प्रकाश्यता का हो सकता है तथापि दूसरा उदाहरण प्रसंगानुकूल यह सिद्ध करने के लिये दिया गया है कि 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के एक नहीं अनेक उदाहरण हो सकते हैं। यह तथा दूसरे उपभेद अनेक लक्ष्यों में व्याप्त हैं।' यहाँ पर वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार किस प्रकार होता है इसकी योजना पहले के समान कर लेनी चाहिये। बार-बार एक ही बात के पिष्टपेषण की क्या आवश्यकता? (यहाँ पर यद्यपि उपमा भी अभिव्यक्त होती है—'जिस प्रकार शुष्क इन्धन अग्नि को प्रदीप्त करता है उसी प्रकार धृति इत्यादि गुण लक्ष्मी को प्रदीप्त करते हैं।' तथापि पहले यहाँ पर सारोपा लक्षण

ही होती है और समिध् शब्द के लक्ष्मी के साथ बाधित होने के कारण उससे लक्ष्यार्थ निकलता है 'बढ़ानेवाले' और उससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि धृति इत्यादि गुण लक्ष्मी को इतना अधिक बढ़ाते हैं जितना कोई और वस्तु नहीं बढ़ाती। इस प्रकार यह उदाहरण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का ही है उपमाध्वनि का नहीं। (यहाँ पर इन्धन अर्थ की सर्वथा अविवक्षा भी स्पष्ट है और व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये केवल समिध् शब्द का पर्याप्त होना भी स्पष्ट ही है। अतः यह पदव्यंग्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।)

इसी का दूसरा उदाहरण जैसे कालिदास के मेघदूत में यक्ष मेघ से कह रहा है—'जब तुम पवनपदवी पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ोगे तब परदेशियों की वे ललनायें, जो कि स्नान (ऋतुस्नान) कर अपने केशों को सुखा रही होंगी, विश्वास के कारण अपने प्रियतमों के लौटने की आशंसा करती हुई तुम्हारी ओर सतृष्ण दृष्टि से देखेंगी। क्योंकि जब तुम सन्नद्ध हो रहे हो तब अपनी वियोग-विधुर प्रियतमा की कौन उपेक्षा कर सकता है यदि वह मेरे ही समान पराधीन वृत्तिवाला न हो।' यहाँ पर सन्नद्ध शब्द को लीजिये यह शब्द सम् उपसर्ग नहधातु से क्त प्रत्यय होकर बना है। 'नह' धातु का अर्थ होता है कवच पहिनना। इसीलिये अमरकोष में लिखा है 'सन्नद्धो वीर्यतः सज्जो दंशितः' मेघ का कवच पहिन सकना स्वार्थ में बाधित है। अतः उसका लक्ष्यार्थ निकलता है 'उद्यत होना'। इससे प्रयोजन के रूप में व्यंग्यार्थ निकलता है कि 'जब तुम वियोगियों पर प्रहार करते हो तब तुम्हारे अन्दर करुणा विल्कुल ही नहीं रहती, न साधारण व्यक्ति की इतनी शक्ति होती है कि वह तुम्हारा प्रतीकार कर सके और न तुम सूझबूझ के साथ प्रहार करते हो।' (जो व्यक्ति वियोगियों पर प्रहार करने के लिये कवच धारण कर सिपाही बनकर आता है उसमें सिपाहियों की विशेषतायें होनी ही चाहिये। इसीलिये निष्करुणत्व इत्यादि की व्यञ्जना यहाँ पर होती है।) यही कहना वक्ता को अभीष्ट है और इसी अर्थ के प्रत्यायन के लिये वक्ता ने बाधित शब्द सन्नद्ध का प्रयोग किया है। यहाँ पर कवच धारण करने के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। अतएव यहाँ पर शब्दव्यंग्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

तीसरा उदाहरण जैसे कालिदास ने ही अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का वर्णन कराते हुए लिखा है—'सिवार में फँसा हुआ भी कमल अत्यन्त रमणीय होता है; चन्द्रमा का मलिन भी चिह्न शोभा को ही बढ़ाता है, यह कृशांगी वल्कल से भी अधिक मनोज्ञ मालूम पड़ रही है। मधुर आकृतियों के लिए क्या वस्तु आभूषण नहीं बनती।' यहाँ आकृति को मधुर कहा गया है। मधुर एक रस होता है, जो गुड़, शक्कर, शहद इत्यादि में तो सम्भव है पर आकृति मधुर नहीं हो सकती। अतः यह शब्द बाधित होकर सभी को अनुरञ्जित करना, तृप्त करना इत्यादि धर्म को लक्षित कराता है। उससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि शकुन्तला का रूप यदि बहुत बढ़ी-चढ़ी अभिलाषा का विषय बन जावे तो इसमें आश्चर्य की बात कुछ नहीं है। यही ध्वनि है। यह ध्वनि 'मधुर' इस पद से निकलती है, अतः पदव्यंग्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। क्योंकि मधुर शब्द के वास्तविक अर्थ मधुर रस का सर्वथा परित्याग हो जाता है।

(ध्वन्यालोकः)—**तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यथा—'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'। अत्र रामेणेत्येतत्पदं साहसैकरसत्वादि व्यङ्ग्याभिसङ्क्रमितवाच्यं व्यञ्जकम्।**

(अनु०) उसी का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में जैसे—'हे प्रिये जीवन को प्रिय समझनेवाले राम ने प्रेम के उपयुक्त कार्य नहीं किया।' यहाँ पर 'राम ने' इस पद के वाच्यार्थ का संक्रमण साहसैकरसत्व इत्यादि व्यंग्यार्थ में हो जाता है (अतः यह पद) व्यंजक है।

(लो०) **तस्यैवेति**। अविवक्षितवाच्यस्य यो द्वितीयो भेदस्तस्येत्यर्थः।

प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा।
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा'॥ इति।

रक्षःस्वभावादेव यः क्रूरोऽनतिलङ्घ्यशासनत्वदुर्मदतया च प्रसह्य निराक्रियमाणः क्रोधान्धः तस्यैतत्तावत्स्वचित्तवृत्तिसमुचितमनुष्ठानं यन्मूर्धकर्तनं नाम, मान्योऽपि कश्चिन्ममाज्ञां लङ्घयिष्यतीति। त इति यथा तादृगपि तया न गणितस्तस्यास्तवेत्यर्थः। तदपि तथा अविकारेणोत्सवापत्तिबुद्ध्या नेत्रविस्फारतामुखप्रसादादिलक्ष्यमाणया सोढम्। यथा येन प्रकारेण कुलजन इति यः कश्चित्पामरप्रायोऽपि कुलवधूशब्दवाच्यः। उच्चैः शिरो धत्ते एवंविधाः किल वयं कुलवध्वो भवाम इति। अथ च शिरःकर्तनावसरे त्वया शीघ्रं कृत्यतामिति तथा सोढं तथोच्चैः शिरो धृतं यथान्योऽपि कुलस्त्रीजनः उच्चैः शिरो धत्ते नित्यप्रवृत्ततया। एवं रावणस्य तव च समुचितकारित्वं निर्व्यूढम्। मम पुनः सर्वमेवानुचितं पर्यवसितम्। तथाहि राज्यनिर्वासनादि निरवकाशीकृतधनुर्व्यापारस्यापि कलत्रमात्ररक्षणप्रयोजनमपि यच्चापमभूत्तत्संप्रति त्वय्यरक्षितव्यापन्नायामेव निष्प्रयोजनम्, तथापि च तद्धारयामि। तन्नूनं निजजीवितरक्षैवास्य प्रयोजनत्वेन सम्भाव्यते। न चैतद् युक्तम्। **रामेणेति**। समसाहसरसत्वसत्यसंधत्वोचितकारित्वादिव्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतेनेत्यर्थः। 'कापुरुषादि धर्मपरिग्रहस्त्वादिशब्दात्' इति यद्व्याख्यातम्, तदसत्, कापुरुषस्य ह्येतदेव प्रत्युतोचितं स्यात्। प्रिय इति शब्दमात्रमेवैतदिदानीं संवृत्तम्। प्रियशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं यत्प्रेमनाम तदप्यनौचित्यकलङ्कितमिति शोकालम्बनोद्दीपनविभावयोगात्करुणरसो रामस्य स्फुटीकृत इति।

(अनु०) 'उसी का' अर्थात् अविवक्षितवाच्य का जो दूसरा भेद है उसका।

'क्रूर राक्षस ने प्रत्याख्यान के क्रोध के योग्य (व्यवहार) तुमसे किया। और तुमने उसको इस प्रकार सह लिया जिससे कुलवान् ऊँचा सिर धारण करते हैं। तुम्हारी आपत्तियों के साक्षी तथा इस समय इस धनुष को व्यर्थ ही धारण करनेवाले (जीवन के प्रेमी राम ने प्रेम का उचित व्यवहार नहीं किया)।

राक्षस स्वभाव से ही जो क्रूर (है और) अधिक अनुल्लंघनीय शासन की दुर्मदता के कारण बलात् निराकरण किया हुआ क्रोध से अन्धा (हो गया) (यह) जो कि तुम्हारा सिर काटना उसका तो अपनी चित्तवृत्ति के अनुकूल ही अनुष्ठान है और भी कोई मेरी आज्ञा का उल्लंघन न कर बैठे।

तुम्हारा अर्थात् जिससे उस प्रकार का भी उसके (सीता के) द्वारा नहीं गिना गया इस प्रकार का तुम्हारा। उसको भी उस प्रकार अर्थात् विकाररहित तथा उत्सव की प्राप्ति की बुद्धि से नेत्रविस्फारण तथा मुखप्रसाद इत्यादि के द्वारा लक्षित होनेवाली ने सह लिया। जिससे अर्थात् जिस प्रकार से कोई पामरप्राय कुलवती भी कुलवधू शब्द की वाच्य हो जाती है। 'ऊँचा सिर धारण करती है' कि इस प्रकार की हम कुलवती हैं। और भी सिर काटने के अवसर पर तुमने 'शीघ्र ही काटो' इस आशय से सिर ऊँचा कर लिया जिससे नित्य प्रवृत्त होने के कारण अन्य भी कुल स्त्रियाँ ऊँचा सिर धारण कर लेती हैं। इस प्रकार रावण का और तुम्हारा समुचितकारित्व असंदिग्ध है। मेरा तो फिर सब कुछ अनुचित ही परिणाम निकला। वह इस प्रकार राज्यनिर्वासन इत्यादि के कारण निरवकाश किये हुए धनुर्व्यापारवाले भी (मेरा) जो धनुष कलत्र-रक्षण प्रयोजनमात्र था इस समय तुम्हारे अरक्षित रूप में मारे जाने पर निष्प्रयोजन रह गया। तथापि उसे धारण कर रहा हूँ। अतः निःसन्देह अपने जीवन की रक्षा ही इसके प्रयोजन के रूप में सम्भावित की जा सकती है। यह उचित नहीं है। 'राम के द्वारा' अर्थात् समानरूप में साहसरसत्व, सत्यसन्धत्व और उचितकारित्व इत्यादि दूसरे धर्मों में परिणत (राम के द्वारा)। 'आदि शब्द से कायर इत्यादि धर्म परिग्रह हो जाता है' यह व्याख्या जो की गई है—वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्युत कायर के लिये तो यही उचित होता। 'प्रिय' यह इस समय शब्दमात्र ही हो गया। प्रिय शब्द का जो प्रवृत्तिनिमित्त प्रेम वह भी अनौचित्य से कलंकित है। इस प्रकार शोक के आलम्बन और उद्दीपन विभाव योग से राम का करुण रस स्पष्ट कर दिया गया है यह।

तारावती—अविवक्षितवाच्य के अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य नामक भेद की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

रावण ने राम को निराश और युद्ध से विरत करने के लिये माया के द्वारा सीता की मूर्ति बनवाकर (मेघनाद के द्वारा) उसका सिर कटवा लिया। श्री रामचन्द्रजी सीता-जी को वस्तुतः मरी हुई जानकर उनके वियोग में विलाप करते हुए कह रहे हैं—

'क्रूर राक्षस ने तुम्हारे द्वारा प्रत्याख्यात होकर क्रोध में भरकर वही किया जो उसके लिये उचित था। तुमने भी उसको उसी प्रकार सह लिया जिससे कुलजनों का सिर ऊँचा हो जाता है। हे प्रिये इस समय तुम्हारी आपत्ति को साक्षी के रूप में देखते हुए इस धनुष को व्यर्थ ही धारण करनेवाले राम ने, जिसको अपना जीवन ही प्यारा है, प्रेम के योग्य कार्य नहीं कर पाया।'

रावण राक्षस होने के कारण स्वभावतः क्रूर है, वह एक बुरे मद से भरा हुआ है कि कोई भी उसके शासन का उल्लंघन नहीं कर सकता। अतएव जब उसका बलात् निराकरण किया गया तब उसका क्रोधान्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। उसके लिये

यह बात अपनी चित्तवृत्ति के अनुकूल ही थी कि उसने सिर काट लिया जिससे फिर कभी कोई उसकी आज्ञा के उल्लंघन करने का साहस न कर बैठे। उसने आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली सीता का सिर काटकर अपनी क्रूरता का निर्वाह कर दिया। 'तुम्हारा सिर काट लिया' में 'तुम्हारा' शब्द से व्यक्त होता है कि तुम इतनी महान् हो कि उतने प्रभावशाली तथा क्रूर रावण को भी कुछ नहीं समझा। इतनी महत्त्वशालिनी तुम्हारा भी सिर रावण ने काट ही लिया। उस आपत्ति को भी सीता ने उत्सव समझकर आनन्दपूर्वक सहन कर लिया। नेत्र विस्फारण और मुख की प्रसन्नता से यह बात प्रकट हो रही थी कि सिर काटे जाने के अवसर पर भी सीता जी के चित्त में आनन्द था। सीता जी के कर्तव्य-पालन में इतनी उच्चता थी कि दूसरी पामर भी कुलबधुओं का सिर स्वाभिमान से ऊँचा हो जाता है। कुलवधुओं में ही यह शक्ति है कि वे कर्तव्य-पालन के लिए अपना सिर भी दे देती हैं। दूसरा आशय यह है कि सिर काटने के अवसर पर सीताजी ने अपना सिर इस मन्तव्य से ऊँचा कर दिया कि शीघ्र काटो। नित्य ही कुलवधुओं के सामने कर्तव्य-पालन तथा सतीत्व-रक्षा की दिशा में सिर कटवाने का अवसर आता है और वे सीता के उदाहरण से ही अपना सिर ऊँचा कर देती हैं। इस प्रकार रावण ने अपने क्रूरता, के कर्तव्य का निर्वाह कर दिया और सीता ने अपने पातिव्रत्य धर्म को निभा दिया। किन्तु राम के लिये तो सभी कुछ अनुचित ही रहा। राज्य से निर्वासित हो जाने इत्यादि के बाद धनुष के कार्यों का अवसर जाता ही रहा था। केवल उसका एक ही प्रयोजन रह गया था कि पत्नी की रक्षा की जाती। जब पत्नी का सिर काटा गया तब राम उस सब दृश्य को एक साक्षी के समान ही देखते रह गये, कोई भी प्रतीकार न कर सके। बिना ही रक्षा के सीता जी के मर जाने पर धनुष का पत्नी-रक्षा रूप प्रयोजन भी जाता रहा। फिर भी राम धनुष को धारण किये हुए हैं जिसका एक मात्र यही प्रयोजन हो सकता है कि वे अपने शरीर की रक्षा करें। राम को अपना जीवन प्यारा है, जो बात उचित नहीं है।

यहाँ पर कहनेवाले राम हैं। अतः उन्हें कहना चाहिए कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाया। राम का स्वयं ही कहना कि 'राम ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाया' किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं होता। अतएव उसका बाध हो जाता है। उससे एक अर्थ यह निकलता है कि—'उन राम ने अपना कर्तव्य पालन नहीं कर पाया जिनमें साहस के प्रति रस है, जो सत्य प्रतिज्ञावाले हैं और जो सर्वदा उचित कार्य ही करते हैं। उन राम ने भी अपना कर्तव्य पालन नहीं कर पाया। यह बात अनुचित हुई।' इस प्रकार राम शब्द का वाच्यार्थ व्यंग्य धर्मों में परिणत होकर ही अपना अर्थ देता है। राम शब्द के वाच्यार्थ का भी सर्वथा परित्याग नहीं होता क्योंकि वस्तुतः राम धनुष धारण किये हुए ही हैं। इस प्रकार यहाँ पर राम शब्द का व्यंग्य धर्मान्तर परिणत अर्थ लिया जाता है। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि है जो कि पद के द्वारा प्रकाशित होती है। कुछ लोगों ने यहाँ कायरता इत्यादि व्यंग्य धर्मों में संक्रान्तवाच्य की व्याख्या की है। (प्रदीपकार ने लिखा है—'जो राम कायर हैं उन्होंने............' चक्रवर्ती ने लिखा है—

'जो राम छलपूर्ण स्नेह करनेवाले हैं।' भट्ट गोपाल ने लिखा है—'जो राम पुरुषार्थ से विमुख है।') किन्तु ये व्याख्यायें ठीक नहीं हैं। क्योंकि यदि राम में कायरता इत्यादि धर्मों को स्वीकार कर लिया जावे तो रक्षा न कर सकने में अनुचित क्या हो? यहाँ पर आशय यही है कि जिन राम में साहस है, शौर्य है, सत्यसन्धत्व है उन राम ने भी अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाया यह बात अनुचित हुई। अतएव यहाँ पर साहस इत्यादि धर्मों की ही व्याख्या करनी चाहिए। राम का सीता के लिए 'प्रिये' सम्बोधन तो अब शब्दमात्र ही रह गया। प्रिय का प्रवृत्तिनिमित्त प्रेम होता है। प्रिय वही होता है जिसमें प्रेम हो और वह उसका निर्वाह भी कर सके। राम का प्रेम अनौचित्य से कलङ्कित हो गया है। इस प्रकार यहाँ शोक के आलम्बन और उद्दीपन विभाव के योग से राम का करुण रस स्फुट कर दिया गया है।

(ध्वन्या०) यथा वा—

एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिबिम्बम्।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ॥

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः।

(अनु०) अथवा जैसे—

'यों ही लोग उसके कपोल की उपमा में चन्द्रबिम्ब को दिया करते हैं। वास्तविक विचार करने पर बेचारा चन्द्र चन्द्र जैसा ही है।'

यहाँ पर दूसरा चन्द्र शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है।

(लो०)—एमेअ इति।

एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम्।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः॥ (इति छाया)

एवमेवेति स्वयमविवेकान्धतया। जन इति लोकप्रसिद्धगतानुगतिकतामात्रशरणः। तस्या इत्यसाधारणगुणगणमहार्घवपुषः। कपोलोपमायामिति निर्व्याजलावण्यसर्वस्वभूतमुखमध्यवर्ति प्रधानभूतकपोलस्योपमायां प्रत्युत तदधिकवस्तुकर्तव्यं ततो दूरनिकृष्टं शशिबिम्बं कलङ्कव्याजजिह्मीकृतम्। एवं यद्यपि गड्डुरिकाप्रवाहपतितो लोकः, तथापि यदि परीक्षकाः परीक्षन्ते तद्वराकः कृपैकभाजनं यश्चन्द्र इति प्रसिद्धः स चन्द्र एव क्षयित्वविलासशून्यत्वमलिनत्वधर्मान्तरसङ्क्रान्तो योऽर्थः। अत्र च यथा व्यङ्ग्यधर्मान्तरसङ्क्रान्तिस्तथा पूर्वोक्तमनुसन्धेयम्। एवमुत्तरत्रापि।

(अनु०) 'एमेअ' यह :—

'यों ही' 'लोग उसके कपोलों की उपमा में यों ही चन्द्रबिम्ब को दे दिया करते हैं। पुनः वास्तविक विचार करने पर तो बेचारा चन्द्र चन्द्र ही है।'

यों ही अर्थात् स्वयं अविवेक से अन्धा होने के कारण। 'जन' का अर्थ है लोक में प्रसिद्ध केवल गतानुगतिकता का सहारा लेनेवाला। उसका असाधारण गुणगणों से महनीय शरीरवाले का। 'कपोल की उपमा में' अर्थात् बिना बनावट के लावण्यसर्वस्वभूत मुख के

मध्यवर्ती प्रधानभूत कपोल की उपमा में प्रत्युत उससे अधिक वस्तु की जानी चाहिए उससे दूर गिरा हुआ शशिबिम्ब कलंक के व्याज से कुटिल कर दिया गया है। इस प्रकार यद्यपि भेड़ाचाल के प्रवाह में लोक पड़ा हुआ है तथापि परीक्षक यदि परीक्षा करें तो एकमात्र कृपापात्र जो चन्द्र नाम से प्रसिद्ध है वह चन्द्र ही है। अर्थात् क्षयित्व, विलासशून्यत्व, मलिनत्व इत्यादि दूसरे धर्मों में संक्रान्त जो अर्थ (ऐसा चन्द्र है)। यहाँ पर जिस प्रकार व्यङ्ग्यधर्मान्तर की संक्रान्ति होती है वैसा पहले कहे हुए के समान समझ लिया जाना चाहिए। ऐसा ही आगे भी।

तारावती—दूसरा उदाहरण—

(उस नायिका) के कपोलों की उपमा में लोग यों ही चन्द्रबिम्ब का उल्लेख कर दिया करते हैं। वास्तविक रूप में विचार करने पर बेचारा चन्द्र, चन्द्र ही है।'

'यों ही' से व्यञ्जना निकलती है कि लोग प्रायः अज्ञान से अन्धे हैं वे अधिकतर बिना सोचे समझे ही बात किया करते हैं। 'लोग' कहने का आशय यह है कि सर्वसाधारण व्यक्तियों का केवल यही सहारा होता है कि वे लोकप्रसिद्ध गतानुगतिकता के आधार पर बात किया करें सामान्यतया जैसा प्रसिद्ध होता है लोग वैसी ही बात किया करते हैं। छानबीन कर बोलना सर्वसाधारण के वश की बात नहीं। 'उसके' का आशय यह है कि उस नायिका का शरीर असाधारण गुणों के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कपोल की उपमा में कहने का आशय यह है कि नायिका स्वयं ही लावण्यमयी है उसे लावण्य के लिये प्रसाधनों की भी आवश्यकता नहीं होती। उस लावण्य का सर्वस्वभूत है उसका मुख और उस मुख के मध्य में भी कपोलतल ही सबसे अधिक प्रधान हैं। उन कपोलों की उपमा में कोई ऐसी वस्तु लानी चाहिए जो उनकी अपेक्षा अधिक हो। शशिबिम्ब तो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक निकृष्ट है और कलङ्क के बहाने से वह और अधिक निकृष्ट बना दिया गया है। इस प्रकार यद्यपि भेड़ाचाल का अनुसरण करते हुए संसार नायिका के कपोलतलों को चन्द्र की उपमा दे देता है तथापि यदि परीक्षक लोग परीक्षा करें तो बेचारा चन्द्रमा दया का पात्र बन जाता है। क्योंकि जो प्रसिद्ध चन्द्रमा है वह आखिर है तो चन्द्रमा ही। यहाँ पर दूसरे चन्द्र शब्द में उसके धर्मों का सङ्क्रमण हो जाता है, वे धर्म हैं—चन्द्रमा क्षयी है, विलासशून्य है, मलिन है इत्यादि। इन धर्मों से संक्रान्त होकर जो अर्थ आता है वही यहाँ पर दूसरे चन्द्र शब्द का अर्थ हो जाता है। यहाँ पर वाच्यातिरिक्त दूसरे व्यङ्ग्यधर्मों की संक्रान्ति किस प्रकार होती है इसकी व्याख्या पहले (दूसरे उद्योत के प्रारम्भ में) की जा चुकी है। उसी के अनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार आगे के उदाहरणों में भी समझ लेना चाहिए।

(ध्वन्या०)—अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाश्यता यथा—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अनेन हि वाक्येन निशार्थो न च जागरणार्थः कश्चिद्विवक्षितः। किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

(अनु०) अविवक्षितवाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे—

'जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है उसमें संयमी जागता है। जिसमें प्राणी जागते हैं वह देखनेवाले मुनि के लिये रात्रि है।'

निस्सन्देह इस वाक्य से न तो निशा का कोई अर्थ और न जागरण का कोई अर्थ विवक्षित है। तो क्या? मुनि का तत्त्वज्ञान में अवहित होना और अतत्त्व से पराङ्मुख होना प्रतिपादित किया जाता है। इस प्रकार यह तिरस्कृतवाच्य व्यञ्जक हो जाता है।

(लो०)—एवं प्रथमभेदस्य द्वावपि प्रकारौ पदप्रकाशकत्वेनोदाहृत्य वाक्यप्रकाशकत्वेनोदाहरति—**या निशेति। विवक्षित इति**। तेन ह्युक्तेन न कश्चिदुपदेश्यं प्रत्युपदेशः सिद्ध्यति। निशायां जागरितव्यमन्यत्र रात्रिवदासितव्यमिति किमनेनोक्तेन। तस्माद्बाधितस्वार्थमेतद्वाक्यं संयमिनो लोकोत्तरतालक्षणेन निमित्तेन तत्त्वदृष्टाववस्थानं मिथ्यादृष्टौ च पराङ्मुखत्वं ध्वनति। सर्वशब्दार्थस्य चापेक्षिकतयाप्युपपद्यमानतेति न सर्वशब्दस्यान्यथानुपपत्त्याऽयमर्थ आक्षिप्तो मन्तव्यः। सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां चतुर्दशानामपि भूतानां या निशा व्यामोहजननी तत्त्वदृष्टिः तस्यां संयमी जागर्ति कथं प्राप्येतेति। न तु विषयवर्जनमात्रादेव संयमीति यावत्। यदि वा सर्वभूतनिशायां मोहिन्यां जागर्ति कथमियं हेयेति। यस्यां तु मिथ्यादृष्टौ सर्वाणि भूतानि जाग्रति अतिशयेन सुप्रबुद्धरूपाणि सा तस्य रात्रिरप्रबोधविषयः। तस्यां हि चेष्टायां नासौ प्रबुद्धः। एवमेव लोकोत्तराचारव्यवस्थितः पश्यति मन्यते च। तस्यैवान्तर्बहिष्करणवृत्तिश्चरितार्था। अन्यस्तु न च मन्यत इति। तत्त्वदृष्टिपरेण भाव्यमिति तात्पर्यम्। एवं च पश्यत इत्यपि मुनेरित्यपि च न स्वार्थमात्रविश्रान्तम्। अपि तु व्यङ्ग्य एव विश्राम्यति। यत्तच्छब्दयोश्च न स्वतन्त्रार्थतेति सर्व एवायमाख्यातसहायः पदसमूहो व्यङ्ग्यपरः। तदाह—**अनेन हि वाक्येनेति**। प्रतिपाद्यत इति ध्वन्यत इत्यर्थः।

(अनु०)—इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों प्रकारों के पदप्रकाश्य रूप में उदाहरण देकर वाक्यप्रकाश्य के रूप में उदाहरण देते हैं—'जो रात्रि'। 'कहा गया है' यह! इस कहे हुए से उपदेशयोग्य व्यक्ति के प्रति कोई उपदेश सिद्ध नहीं होता। रात में जागना चाहिये अन्यत्र रात्रि के समान रहना चाहिये इस कथन से क्या? इससे बाधितस्वार्थवाला वह वाक्य संयमी के लोकोत्तरता लक्षण निमित्त से तत्त्वदृष्टि में अवधान और मिथ्यादृष्टि से पराङ्मुखत्व को ध्वनित करता है। सर्वशब्द के अर्थ की सापेक्षिक रूप में भी उपपत्ति हो जाती है अतः यह नहीं मानना चाहिये कि सर्वशब्द की अन्यथानुपपत्ति से इस अर्थ का आक्षेप हो जाता है। ब्रह्म

से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त १४ भूतों की जो रात्रि अर्थात् व्यामोह को उत्पन्न करनेवाली तत्त्वदृष्टि, उसमें संयमी जागृत रहता है कि यह कैसे प्राप्त हो ? अर्थात् केवल विषय-वर्जन से ही कोई संयमी नहीं हो जाता। अथवा सब भूतों की मोहिनी रात्रि में जागता है कि यह कैसे छोड़ी जावे। जिस मिथ्यादृष्टि में तो सब प्राणी सुप्रबुद्ध रूप में जागते हैं वह उसकी रात्रि अर्थात् प्रबोध का अविषय होता है। उस चेष्टा में वह प्रबुद्ध नहीं होता। लोकोत्तर आचार में प्रवृत्त (व्यक्ति) इसी प्रकार का देखता है और मानता है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टिपरायण होना चाहिए। इस प्रकार 'देखनेवाले' यह और 'मुनि' यह भी स्वार्थ-विश्रान्त नहीं है। अपितु व्यंग्य में ही विश्रान्त होता है। 'यत्' और 'तत्' शब्दों की स्वतन्त्रार्थता नहीं होती। इस प्रकार क्रिया की सहायता से युक्त यह सब व्यंग्यपरक है। वही कहते हैं—'इस वाक्य में' प्रतिपादित किया जाता है अर्थात् ध्वनित किया जाता है।

तारावती—(३) ध्वनि का प्रथम भेद है अविवक्षितवाच्य। उसके दो भेद होते हैं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। इन दोनों प्रकारों में पद के प्रकाशकत्व के उदाहरण दे दिये गये अब इनमें वाच्य के प्रकाशकत्व के उदाहरण दिये जा रहे हैं। (यहाँ पर लोचनकार ने पदप्रकाशकत्व और वाक्यप्रकाशकत्व इन शब्दों का प्रयोग किया है। प्रकाशक वास्तव में पद और वाक्य ही होते हैं, ध्वनिभेद तो प्रकाश्य होते हैं। अतः यहाँ पर ठीक प्रयोग होगा—'पदप्रकाश्यत्वेन' और 'वाक्यप्रकाश्यत्वेन'। सम्भवतः यह मुद्रण प्रमाद हो। किन्तु यदि स्थित का समर्थन करना हो तो यह अर्थ करना चाहिये—'पद की प्रकाशकता को दिखलाने के रूप में दोनों भेदों के उदाहरण दे दिये, अब वाक्य की प्रकाशकता को दिखलाते हुये लेखक उदाहरण दे रहा है।')

'जो सब प्राणियों के लिए रात है उसी में संयमी व्यक्ति जागता है और जिसमें संसारी लोग जागते हैं वह ज्ञानवान् मुनि के लिये रात होती है।'

यह भगवान् कृष्ण गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए कह रहे हैं। यदि इसमें रात तथा जागने का यथाश्रुत अर्थ लिया जावे तो उपदेश्य के प्रति कोई उपदेश ही सिद्ध न हो। इस उपदेश का क्या आशय कि रात्रि में जागना चाहिये तथा दिन में रात्रि के समान रहना चाहिये। इस प्रकार इस वाक्य के वाच्यार्थ का बाध हो जाता है और रात्रि का लक्ष्यार्थ हो जाता है मिथ्यादृष्टि और जागने का लक्ष्यार्थ हो जाता है तत्त्वदृष्टि। इस लक्षणा में निमित्त है संयमी व्यक्ति की लोकोत्तरता। इससे व्यञ्जना निकलती है कि 'तत्त्वदृष्टि की ओर ध्यान देना चाहिये और मिथ्यादृष्टि से पराङ्मुख रहना चाहिये।' यहाँ पर कहा जा सकता है कि 'सब प्राणियों के लिये जो रात है' में सब शब्द के द्वारा संयमी भी आजाते हैं फिर उनका 'रात में जागना' कहना अनुपपन्न हो जाता है। अतः सर्व शब्द की उपपत्ति के लिये अर्थापत्ति से उक्त अर्थ प्राप्त हो सकता है उसके लिये लक्षणामूल व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं किन्तु इसका उत्तर यह है कि सर्व शब्द आपेक्षिक रूप में भी उपपन्न हो जाता है। एक ओर हैं सब प्राणी और दूसरी ओर हैं संयमी। 'संयमी से भिन्न सभी व्यक्तियों के लिये जो रात है उसमें संयमी व्यक्ति जागता है' यह अर्थ करने से अनुपपत्ति

नहीं होती। अतः उक्त अर्थ आक्षेपगम्य नहीं हो सकता। उसके लिये लक्षणामूल व्यंजना ही माननी पड़ती है। आशय यह है कि ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त १४ प्रकार के प्राणियों के लिये जो रात्रि अर्थात् व्यामोह उत्पन्न करनेवाली तत्त्व दृष्टि है उसमें संयमी जागता है कि यह तत्त्वदृष्टि कैसे प्राप्त हो सके। आशय यह है कि संयमी बनने के लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि विषय-वासनाओं का परित्याग कर दिया जावे। उसके लिये यह भी आवश्यक है कि तत्त्वदृष्टि के प्रति जागरूक रहा जावे और अतत्त्वदृष्टि के प्रति उदासीनता रहे। अथवा यहाँ पर यह अर्थ हो सकता है कि सब प्राणियों को मोहित करनेवाली जो रात अर्थात् मिथ्यादृष्टि है उसके प्रति संयमी व्यक्ति जागरूक रहता है कि इसका परित्याग कैसे किया जा सके। जिस मिथ्या दृष्टि के प्रति सभी प्राणी जागते हैं अर्थात् उसके स्वीकार करने तथा उपभोग करने में अत्यन्त ही प्रबुद्ध अर्थात् सावधान रहते हैं कि कहीं कोई वस्तु उपभोग से छूट न जावे वह मिथ्यादृष्टि संयमी के प्रबोध का विषय नहीं होती। मिथ्यादृष्टि की चेष्टाओं में संयमी व्यक्ति प्रबुद्ध नहीं होता। लोकोत्तर आचरण में व्यवस्थित (संयमी व्यक्ति) ऐसा ही समझता है और ऐसा ही मानता है। उसी की अन्तःकरण की वृत्ति चरितार्थ होती है और उसी की बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति भी चरितार्थ होती है। दूसरे लोग न तो देखते ही हैं और न मानते ही हैं। तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टिपरायण होना चाहिये। उसी प्रकार 'देखनेवाले' और 'मुनि के' इन दोनों शब्दों का भी पर्यवसान स्वार्थ में ही नहीं होता है। ('पश्यतः' 'देखनेवाले' का लक्ष्यार्थ है 'तत्त्वदृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि को समझनेवाला और मुनि का अर्थ है—संयमी तथा मननशील कोई भी व्यक्ति) इन दोनों शब्दों के अर्थों का पर्यवसान पूर्वोक्त व्यङ्ग्यार्थ में ही होता है। इस प्रकार पूरे वाक्य में 'यत्' और 'तत्' शब्द ही छूट जाते हैं। इनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। अतएव क्रिया के सहित पूरा पदसमूहरूप वाक्य व्यङ्ग्यार्थपरक ही है। इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'इस वाक्य के द्वारा रात्रि का या जागने का कोई अर्थ विवक्षित नहीं है'। 'मुनि के तत्त्वज्ञान के प्रति अवहित होने और अतत्त्व की ओर से पराङ्मुख होने का प्रतिपादन किया जाता है।' यहाँ पर प्रतिपादन किया जाता है कहने का अर्थ है ध्वनित किया जाता है।

(ध्वन्या०)—तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाश्यता यथा—

विसमइओ काण वि काण वि वालेइ अमिअणिम्माओ।
काण वि विसामिअमओ काण वि अविसामओ कालो॥
(विषमयितः केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः॥ इति छाया।)

अत्र हि वाक्ये विषामृतशब्दाभ्यां दुःखसुखरूपसङ्क्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

(अनु०) उसीके (अवान्तर-भेद) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण—

'किसी के लिये समय विषमय होता है; किसी के लिये अमृत निर्माणवाला होता है, किसी के लिये विषामृतमय और किसी के लिये अविषामृतमय होता है।'

निस्सन्देह इस वाक्य में विष और अमृत शब्दों के द्वारा व्यवहार किया गया है जिनके वाच्यार्थों का संक्रमण सुख और दुःख में हो गया है। अतएव यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का व्यंजक है।

(लो०)–विषमयितो विषमयतां प्राप्तः। केषाञ्चिद्दुष्कृतिनामतिविवेकिनां वा। केषाञ्चित्सुकृतिनामत्यन्तमविवेकिनां वा अतिक्रामत्यमृतनिर्माणः। केषाञ्चिन्मिश्रकर्मणां विवेकवतां वा विषामृतमयः केषामपि मूढप्रायाणां धाराप्राप्तयोगभूमिकारूढानां वा अविषामृतमयः कालोऽतिक्रामतीति सम्बन्धः। विषामृतपदे च लावण्यादिशब्दवन्निरूढलक्षणारूपतया सुखदुःखसाधनयोर्वर्तते। यथा विषं निम्बममृतं कपित्थमिति। न चात्र सुखदुःखसाधने तन्मात्रविश्रान्ते, अपि तु स्वकर्तव्यसुखदुःखपर्यवसिते। न च ते साधने सर्वथा न विवक्षिते। निस्साधनयोस्तयोरभावात्। तदाह—**सङ्क्रमितवाच्याभ्यामिति**। केषाञ्चिदिति चास्य विशेषे सङ्क्रान्तिः। अतिक्रामतीत्यस्य च क्रियामात्रसङ्क्रान्तिः। काल इत्यस्य च सर्वव्यवहार सङ्क्रान्तिः। उपलक्षणार्थन्तु विषामृतग्रहणमात्रसङ्क्रमणं वृत्तिकृता व्याख्यातम्। तदाह—**वाक्य इति**।

(अनु०)—'विषमयित' अर्थात् विषमता को प्राप्त। कुछ का अर्थात् पापियों अथवा अतिविवेकियों का। कुछ का अर्थात् पुण्यात्माओं का अथवा अत्यन्त अविवेकियों का अमृत की रचनावाला व्यतीत होता है। मिले हुये कर्मवाले अथवा ज्ञान और अज्ञानवाले कुछ लोगों का (समय) विष और अमृतमय होता है। मूढप्राय अथवा धारा से प्राप्त योगभूमिका पर आरूढ कुछ लोगों का काल विष और अमृतमयता से रहित व्यतीत होता है, यह सम्बन्ध है। विष और अमृत पद लावण्य इत्यादि शब्द के समान निरूढा लक्षणारूप होने से सुख और दुःख के साधन में वर्तमान रहते हैं। जैसे नीम विष है और कैथा अमृत है। यहाँ पर सुख और दुःख के साधन स्वमात्रविश्रान्त नहीं हैं अपितु अपने द्वारा किये जाने योग्य सुख और दुःख में पर्यवसित होते हैं। उन साधनों की विवक्षा सर्वथा नहीं होती यह बात नहीं क्योंकि निस्साधन तो वे हो ही नहीं सकते। वह कहते हैं—'सङ्क्रमित वाच्यों से' यह। किसी का संक्रमण विशेष में हो जाता है। अतिक्रान्त होता है का क्रियामात्र में सङ्क्रमण हो जाता है और 'काल' इसका सङ्क्रमण सब व्यवहारों में हो जाता है। उपलक्षण के लिये तो विष और अमृत शब्दों के संक्रमण की व्याख्या वृत्तिकार ने कर दी। वह कहते हैं—'वाक्य में' यह।

तारावती—(४) अविवक्षितवाच्य के भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण—

'किन्हीं लोगों का समय विषमय व्यतीत होता है, दूसरे लोगों के लिये समय का परिपाक अमृतमय होता है, और लोगों के लिये विष और अमृत से युक्त होता है तथा दूसरों के लिए न विषमय ही होता है न अमृतमय ही।'

यहाँ पर विष और अमृत शब्दों का अर्थ सुख और दुःख में संक्रान्त हो गया है। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ हो जाता है—'पापियों का समय दुःखमय ही होता है और अत्यन्त ज्ञानियों का समय भी दुःखमय ही होता है (क्योंकि पापी पाप का फल भोगते हैं और ज्ञानियों के लिए स्वयं संसार ही दुःखमय होता है।) जो धर्मात्मा हैं या जो अत्यन्त अज्ञानी हैं उनका समय सुखमय व्यतीत होता है। जो लोग न तो बहुत पापी ही हैं और न बहुत पुण्यात्मा ही हैं अथवा जो न तो पूर्ण ज्ञानी ही हैं और न बहुत अज्ञानी ही हैं उनका समय दुःख और सुख से मिला हुआ व्यतीत होता है। इसके प्रतिकूल जो अत्यन्त मूढ हैं अथवा जो योग की पूरी भूमिका को प्राप्त कर चुके हैं उनका समय न तो दुःखमय ही होता है न सुखमय ही। मूढ लोग सुख और दुःख के अनुभव की क्षमता ही नहीं रखते और योगी लोगों को अनुभव होता ही नहीं है।

लावण्य इत्यादि शब्दों के समान विष और अमृत इन शब्दों की दुःख और सुख में निरूढा लक्षणा है। जैसे नीम विष होता है, कपित्थ अमृत होता है। अन्तर यह है कि 'नीम विष होता है और कपित्थ अमृत होता है' इस वाक्य में दुःख और सुख के साधन में लक्षणा होती है, किन्तु प्रस्तुत उदाहरण 'किन्हीं लोगों का अमृतमय ही' में लक्षण का पर्यवसान स्वसाध्य सुख और दुःख में होता है। साथ में उन साधनों का अन्वय बिल्कुल न होता हो ऐसी बात नहीं है। साधनों का भी अन्वय साथ में हो ही जाता है। क्योंकि बिना साधन के साध्य हो ही नहीं सकता। सुख और दुःख के साधन के रूप में अमृत और विष का भी अन्वय हो जाता है इसलिये यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण न होकर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण है। इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है कि विष और अमृत के वाच्यार्थों का संक्रमण सुख और दुःखमें हो जाता है। जिस प्रकार विष और अमृत की लक्षणा दुःख और सुख में होती है उसी प्रकार 'कुछ लोगों का' की लक्षणा पापी इत्यादिकों में होती है। 'व्यतीत होता है' की लक्षणा, जीवन की सभी क्रियाओं में हो जाती है तथा 'काल' की लक्षणा सभी व्यवहारों में हो जाती है। इस प्रकार यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण है। वृत्तिकार ने केवल विष और अमृत के वाच्यार्थों के संक्रमण की व्याख्या की है। वस्तुतः इस पद्य की क्रिया, काल तथा सर्वनाम इत्यादि के अर्थों का भी अर्थान्तर में संक्रमण हो जाता है। वृत्तिकार की विष और अमृत शब्दों के वाच्यार्थ की अर्थान्तरसंक्रमणपरक व्याख्या उपलक्षणमात्र है। इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'वाक्य में' व्यञ्जकता है। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि विष और अमृत शब्दों का सुख और दुःख के अर्थों में निरूढा लक्षणा के रूप में प्रयोग नहीं होता। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य न मानकर अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य मानना चाहिये। किन्तु शब्दों के अर्थ का संकोच-विस्तार प्रायः होता ही रहता है। सम्भव है आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के समय में विष और अमृत का इस प्रकार का प्रयोग होता रहा हो। इस दृष्टि से यह उदाहरण असंगत नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि विष और अमृत शब्दों की निरूढालक्षणापरक व्याख्या न भी की जावे तो भी विष और अमृत शब्दों की लक्षणा दुःखदायक वस्तुओं तथा सुखदायक वस्तुओं में हो जावेगी। विष और अमृत का

समावेश भी दुःखदायक और सुखदायक वस्तुओं में है ही। ऐसी दशा में 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां' के समान यहाँ पर भी उपादान लक्षणा ही होगी लक्षणलक्षणा नहीं। अतएव यहाँ पर अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य न होकर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ही होगा। दीधितिकार ने लिखा है कि पीयूषवर्ष का 'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः' यह वाक्य व्यंग्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का ठीक उदाहरण होगा किन्तु यहाँ पर 'अस्ति' का अध्याहार करने से 'कदली अस्ति' इत्यादि पृथक् वाक्य बन जाते हैं और इनमें व्यंग्यार्थ केवल पदद्योत्य ही रह जाता है। इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने 'जिसके मित्र मित्र हैं, शत्रु शत्रु हैं और कृपाभाजन कृपाभाजन हैं वही वास्तव में उत्पन्न हुआ है और वही वास्तव में जीवित है।' यह उदाहरण पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का दिया है। वस्तुतः वाक्य व्यङ्ग्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का काव्यप्रकाशकार का दिया हुआ यह उदाहरण अधिक समीचीन होगा—विद्वानों की सभा में जानेवाले किसी व्यक्ति के प्रति कोई आप्त कह रहा है—'मैं तुमसे कह रहा हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय एकत्र है। अतएव तुम्हें अपनी बुद्धि को ठीक रखकर सावधानतापूर्वक वहाँ स्थित होना चाहिये।' यहाँ पर (१) 'मैं तुमसे कह रहा हूँ' यह वाक्य अनुपपन्न है। क्योंकि बात कह देने से मालूम पड़ सकता है कि उसने बात कही। अतः इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती और 'मैं तुमसे कह रहा हूँ' इसका बाध हो जाता है। उससे दूसरा लक्ष्यार्थ निकलता है 'मैं तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ।' (२) जब विद्वान् लोग सामने ही हैं तब इसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'यहाँ पर विद्वानों का समुदाय एकत्र है।' इस प्रकार इसका बाध होकर लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'यहाँ जो विद्वान् आये हैं वे सर्वशास्त्रविशारद हैं' (३) इसी प्रकार जब बुद्धि का सहारा सर्वदा लिया ही जाता है तब बुद्धि का सहारा लेने का परामर्श व्यर्थ ही हो जाताहै। इससे बाध होकर लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'तुम अपनी बुद्धि को प्रमाणों के आधीन ठीक रक्खो' इस सबसे यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि—'इस स्थानपर ऐसे ऐसे विद्वान् एकत्र हुए हैं जो सब शास्त्रों में निष्णात हैं और उनके सामने अपनी बात को प्रमाणों से सिद्ध कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। तुम भली भाँति अपनी बुद्धि को ठीक रक्खो और जो भी बात कहो वह प्रमाण से भरी हुई हो। यह तुम्हारे लिये मेरी शिक्षा है। यदि तुम मेरा कहना मानोगे तो तुम्हारा हित होगा नहींतो तुम उपहास के योग्य हो जाओगे।')

(ध्वन्या०)—विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाश्यता यथा—

> **प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि।**
> **पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किन्न जडः कृतोऽहम्॥**

अत्र हि जड इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमनुरणनरूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते।

(अनु०) विवक्षितवाच्य के भेद अनुरणनरूप व्यंग्य के उपभेद शब्दशक्त्युद्भव की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'धनों से याचकों की आकांक्षा को पूरा करने के लिये यदि दैव के द्वारा मैं उत्पन्न नहीं किया गया हूँ तो मार्ग में निर्मल जल को धारण करनेवाला तडाग अथवा जड कूप ही क्यों नहीं बना दिया गया हूँ।'

यहाँ पर निर्विण्ण वक्ता के द्वारा अपने समानाधिकरण के रूप में प्रयोग किया गया 'जड' यह शब्द अनुरणनरूप में अपनी शक्ति से कूप के समानाधिकरणत्व को प्राप्त हो जाता है।

(लो०)—एवं कारिकाप्रथमार्धलक्षितांश्चतुरः प्रकारानुदाहृत्य द्वितीयकारिकार्धस्वीकृतान् षडन्यान् प्रकारान् क्रमेणोदाहरति—**विवक्षिताभिधेयस्येत्यादिना**। प्रातुमिति पुरयितुम्। धनैरिति बहुवचनं यो येनार्थी तस्य तेनेति सूचनार्थम्। अत एवार्थिग्रहणम्। जनस्येति बाहुल्येन हि लोको धनार्थी, न तु गुणैरुपकारार्थी। **दैवेनेति**। अशक्यपर्यनुयोगेनेत्यर्थः। **अस्मीति**। अन्यो हि तावदवश्यं कश्चित् सृष्टो न त्वहमितिनिर्वेदः। प्रसन्नं लोकोपयोगि अम्बु धारयतीति। **कूपोऽथवेति**। लोकैरप्यलक्ष्यमाण इत्यर्थः। **आत्मसमानाधिकरणतयेति**। जडः किंकर्तव्यतामूढ इत्यर्थः। अथ च कूपो जडोऽर्थिता कस्य कीदृशीत्यसम्भवद्विवेक इति। अत एव जडः शीतलो निर्वेदसन्तापरहितः। तथा जडः शीतलजलयोगितया परोपकारसमर्थः। अनेन तृतीयार्थेनायं जडशब्दस्तटाकार्थेन पुनरुक्तसम्बन्ध इत्यभिप्रायेणाह—**कूपसमानाधिकरणतामिति**। स्वशक्त्येति शब्दशक्त्युद्भवत्वं योजयति।

(अनु०)—इस प्रकार कारिका के प्रथमार्ध में लक्षित चार प्रकारों का उदाहरण देकर द्वितीय कारिकार्ध में स्वीकृत छः अन्य प्रकारों के क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं—'विवक्षिताभिधेय का' इत्यादि के द्वारा। 'प्रातुम्' का अर्थ है पूरा करने के लिये। 'धनैः' में बहुवचन 'जो जिसका प्रार्थी है उसका उसके द्वारा' यह सूचित करने के लिये। अतएव अर्थी शब्द का प्रयोग किया है। 'जन का' इसका व्यङ्ग्यार्थ है—बहुलता से लोक धन का अर्थी होता है गुणों से उपकार का अर्थी नहीं 'दैव के द्वारा' यह। अर्थात् जिससे भलीभाँति प्रश्न किया ही नहीं जा सकता। मैं यह। अन्य कोई इस प्रकार का अवश्य उत्पन्न किया गया है, मैं नहीं, यही निर्वेद है। प्रसन्न अर्थात् लोकोपयोगी जल को जो धारण करता है। 'अथवा कूप'। अर्थात् लोक के द्वारा न देखा जाता हुआ। 'आत्मसमानाधिकरण के रूप में' यह 'जड़' अर्थात् जिसको यह विवेक ही न हो कि किसकी प्रार्थना किस प्रकार की है। अतएव जड़ अर्थात् शीतल अर्थात् निर्वेदसन्ताप रहित। उसी प्रकार जड़ अर्थात् शीतल जल से संयुक्त न होने से परोपकारसमर्थ। इस तृतीय अर्थ के द्वारा यह जड शब्द तड़ाग के अर्थ के साथ पुनरुक्त सम्बन्धवाला है इस अभिप्राय से कहते हैं—'कूपसमानाधिकरणता को'। 'अपनी शक्ति से' यह शब्दशक्त्युद्भव की योजना करता है।

तारावती--प्रथम कारिका के प्रथम दल में अविवक्षितवाच्य के दो भेद बतलाये गये थे—पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। अविवक्षितवाच्य के पूर्वोक्त दोनों भेदों के साथ इन दोनों भेदों को गुणित करने पर इसके चार भेद हो जाते हैं—पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य,

पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। यहाँ तक इन चारों भेदों की व्याख्या की जा चुकी और उनके उदाहरण दिये जा चुके। अब कारिका के उत्तरार्ध की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। इसमें कहा गया है कि विवक्षितान्यपरवाच्य का उपभेद अनुरणनरूपव्यङ्ग्य भी पद और वाक्य के द्वारा प्रकाशित हुआ करता है। इसके छह भेद हो सकते हैं जिनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(५) विवक्षितवाच्य के अनुरणरूप व्यंग्य (संल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य) में शब्दशक्त्युद्भव की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'यदि मैं दैव के द्वारा धनों से याचक-जनों की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए नहीं पैदा किया गया तो मार्ग में निर्मल जल को धारण करनेवाला तडाग, कुआँ या जड ही क्यों नहीं बना दिया गया ?'

यहाँ पर 'प्रा' धातु का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है पूरा करना। इससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि वक्ता तबतक सन्तुष्ट नहीं होना चाहता जब तक वह याचकों को उतना न दे दे जितना याचक चाहते हों। (प्रातुं के 'तुमुन्' प्रत्यय का व्यंग्यार्थ है कि वक्ता अपने जन्म की सफलता इसी में समझता है कि वह याचकों की आकांक्षा पूरी कर सके।) 'धनों से' में बहुवचन से सूचित होता है कि जो व्यक्ति जो भी चाहता हो उसको वही मिलना चाहिए। अर्थी या याचक शब्द के ग्रहण का भी यही आशय है। 'याचक-जन' में 'जन' शब्द का व्यंग्यार्थ यह है कि अधिकतर लोग धनों की आकांक्षा ही रखते हैं, गुणों के द्वारा उपकृत होने की इच्छा बहुत कम लोगों को होती है। 'दैव के द्वारा' की व्यंजना यह है कि दैव सर्वथा स्वतन्त्र होता है वह दृष्टिगोचर भी नहीं होता। उसने मुझे जैसा बना दिया है मुझे वैसा ही स्वीकार करना पड़ेगा। मैं उससे किसी प्रकार का कोई शिकवा भी नहीं कर सकता। 'अस्मि' 'हूँ' में उत्तमपुरुष तथा एक वचन का व्यंग्यार्थ यह है कि परमात्मा ने ऐसा मुझे नहीं बनाया और लोगों को बनाया है। तडाग निर्मल अर्थात् लोकोपयोगी जल को धारण करता है जिससे वह निरन्तर लोक की आकांक्षा पूरी करता रहता है। (इस वाक्य के द्वारा लोचनकार ने तडाग से वैषम्य बतलाया है, यह 'अम्बुधर' की व्युत्पत्ति नहीं है जैसा कि कुछ लोगों ने समझा है।) 'अथवा कूप' की व्यंजना यह है कि या तो मैं लोक का उपकार कर सकता या लोक के द्वारा मैं देखा ही न जा सकता।

वक्ता इस बात से बहुत विरक्त हो गया है कि लोक तो उससे धन की अभिलाषा रखता है किन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह उनकी आकांक्षा पूरी कर सके। अतएव उसने अपने लिए जड शब्द का प्रयोग किया है। जो कि वक्ता के समानाधिकरण होने के कारण उससे 'जडत्व के अभेद' का परिचायक है। (जहाँ प्रातिपदिकार्थ प्रथमा विभक्ति होती है वहाँ दोनों शब्दों में अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।) इस प्रकार वाच्यार्थ का पर्यवसान वक्ता और जड़ के समानाधिकरण में ही होजाता है। इसके बाद 'जड़' शब्द के अर्थ के बल पर अनुरणनरूप में कूप से भी समानाधिकरण व्यक्त होता है। जड शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) किंकर्तव्य-

विमूढ़ (२) शीतल और (३) जल से युक्त। वक्ता और कूप का इन तीनों अर्थों के बल पर सामानाधिकरण्य इस प्रकार होगा—(१) जिस प्रकार अचेतन होने के कारण कुआँ अपने कर्तव्य को समझ नहीं सकता क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान ही नहीं हो पाता कि किसकी क्या याच्ञा है उसी प्रकार वक्ता भी ज्ञानशून्य बन जाने की कामना कर रहा है जिससे उसे न तो याचकों की याच्ञा का अनुभव ही हो और न उसके कारण वेदना ही उत्पन्न हो। (२) कूप सदा शीतल रहता है उसे निर्वेद और सन्ताप का अनुभव ही नहीं होता। उसी प्रकार वक्ता भी कामना करता है कि वह सदा शीतल रहे और उसे निर्वेद तथा सन्ताप का अनुभव ही न हो। (३) जिस प्रकार शीतल जल से युक्त होने के कारण कुआँ परोपकार करने में लगा रहता है उसी प्रकार वक्ता भी कामना कर रहा है कि वह भी धन से सम्पन्न हो, जिससे वह भी दूसरों का उपकार कर सके। यद्यपि इस 'जड' शब्द का अन्वय तडाग के साथ भी हो सकता है किन्तु उसका तीसरे अर्थ के साथ सम्बन्ध उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि तडाग के लिये 'निर्मल जल धारण करने वाला' यह विशेषण दिया ही जा चुका है। अतएव जड के तीसरे अर्थ के साथ उसकी पुनरुक्ति की सम्भावना हो जाती है। अतः 'जड' शब्द का कूप के साथ ही सम्बन्ध ध्वनित होता है। इसीलिये कूपसमानाधिकरणता बतलाई है। इस प्रकार यहाँ पर जड शब्द से प्रकाशित होनेवाली शब्दशक्त्युद्भवध्वनि है। 'अपनी शक्ति से कूपसमानाधिकरणता को प्राप्त हो जाता है' में अपनी शक्ति से कहने का अर्थ है शब्दशक्त्युद्भवत्व के द्वारा।

(ध्वन्या०)—तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्येषु 'वृत्तेऽस्मिन्महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः।'

एतद्धि वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति।

(अनु०) उसी की वाक्यप्रकाश्यता जैसे हर्षचरित में सिंहनाद के वाक्यों में—'इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथ्वी को धारण करने के लिए तुम शेष हो।'

यह वाक्य निस्सन्देह अनुरणनरूप अर्थान्तर को स्फुट रूप में शब्दशक्ति के द्वारा प्रकाशित करता है।

(लो०)—**महाप्रलय इति।** महस्य उत्सवस्य आसमन्तात्प्रलयो यत्र तादृशि शोककारणभूते वृत्ते धरण्या राज्यधुराया धारणायाश्वासनाय त्वं शेषः शिष्यमाणः। इतीयता पूर्णे वाक्यार्थे कल्पावसाने भूपीठभारोद्वहनक्षम एको नागराज एव दिग्दन्तिप्रभृतिष्वपि प्रलीनेष्वित्यर्थान्तरम्।

(अनु०) 'महाप्रलय' यह। मह अर्थात् उत्सव का चारों ओर से जहाँ प्रलय उस प्रकार के शोककारणभूत वृत्त में धरणी अर्थात् राजधुर के धारण करने के लिये अर्थात् आश्वासन के लिये तुम शेष अर्थात् बचे हुये हो। इस इतने वाक्यार्थ के पूर्ण हो जाने पर दूसरा अर्थ यह (आ जाता है)—कल्पावसान में दिग्गज इत्यादि के प्रलीन हो जाने पर भी भूपीठभार के उद्वहन में समर्थ केवल नागराज ही है।

तारावती—(२) उसी शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे—बाण रचित हर्षचरित में प्रभाकर बर्धन की भी मृत्यु हो चुकी है और राज्यवर्धन को भी गौडाधिप ने मिथ्या विश्वासों से जाल में फँसाकर एकान्त में मार डाला है। उस समय हर्ष का सेनापति हर्ष को समझाते हुये कह रहा है कि–'इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथ्वी को धारण करने के लिये तुम शेष हो।' इस वाक्य का वाच्यार्थ 'इस' शब्द के प्रयोग के कारण प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। वाच्यार्थ इस प्रकार है—'इस मह अर्थात् उत्सव के आप्रलय अर्थात् चारों ओर से पूर्ण प्रलय के उपस्थित होने पर केवल तुम्हीं शेष बचे हुये हो जो पृथ्वी की मर्यादा को अथवा राज्यधुर को स्थिर रख सकते हो।' (क्योंकि राज्य का भार संभालनेवाले तुम्हारे पिता तथा बड़े भाई दोनों का मरण हो चुका है जिससे राज्य का आनन्दोत्सव पूर्णरूप से समाप्त हो गया।) इसके बाद महाप्रलय तथा शेष शब्दों के बल पर दूसरा अर्थ निकलता है। इन दोनों अर्थों का उपमानोपमेय भाव हो जाता है। 'जिस प्रकार महाप्रलय होने पर पृथ्वी को धारण करने वाले वाराह शूकर इत्यादि सभी नष्ट हो जाते हैं, उस समय केवल शेष नाग ही पृथ्वी को धारण कर सकता है, उसी प्रकार उत्सव को समाप्त करनेवाले अपने पूर्वजों के महानाश के उत्पन्न होने पर केवल तुम्हीं शेष रह गये हो जिन पर पृथ्वी की रक्षा के लिये विश्वास किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ पर सम्पूर्ण वाक्य से अनुरणनन्याय से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि निकलती है, यह बात स्पष्ट ही है।

(ध्वन्या०)—अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्यार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा हरिविजये—

चूअङ्कुरावअंसं छणमप्पसरमहग्घणमणहरसुरामोअम्।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम्॥

अत्र ह्यसमर्पितमपीत्येतदवस्थाभिधायिपदमर्थशक्त्या कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति।

(अनु०) इसी (विवक्षितान्यपरवाच्य) के उपभेद कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर की पदप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे हरिविजय में—

'बहुमूल्य महोत्सव के प्रसार के कारण मनोहर सुरामोदवाले आम्रमञ्जरी के आभूषणों से युक्त वसन्त मास की लक्ष्मी के मुख को कामदेव ने बिना किसी के प्रदान किए हुए स्वयं ग्रहण कर लिया।'

यहाँ पर 'बिना दिये हुए ही कामदेव ने मधुमासलक्ष्मी के मुख को ग्रहण कर लिया' में बिना दिए हुए यह अवस्था का कहनेवाला पद अर्थशक्ति से कामदेव के बलात्कार को प्रकाशित करता है।

(लो०)—चूताङ्कुरावतंसं क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम्।
महार्घेण उत्सवप्रसरेण मनोहरसुरस्य मन्मथदेवस्य आमोदश्चमत्कारो यत्र तत्।

अत्र महार्घशब्दस्य परनिपातः, प्राकृते नियमाभावात् । क्षण इत्युत्सवः ।

असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमसरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम् ॥

मुखं प्रारम्भो वक्त्रं च । तच्च सुरामोदयुक्तं भवति । मध्वारम्भे कामश्चित्तवृत्तिमाक्षिपतीत्येतावानयमर्थः कविप्रौढोक्त्यार्थान्तरव्यञ्जकः सम्पादितः ।

(अनु०) 'बहुमूल्य उत्सव के प्रसार से मनोहर सुरामोदवाले आम्रमञ्जरी के आभूषण से युक्त'

महार्घ उत्सव के विस्तार से मनोहर सुर अर्थात् मन्मथ देव का आमोद अर्थात् चमत्कार जिसमें विद्यमान हो वह । यहाँ महार्घ शब्द का परनिपात (हो जाता है) क्योंकि प्राकृत में नियम नहीं होता । 'क्षण' का अर्थ है उत्सव ।

'कुसुमशर ने बिना ही दिये मधुमास-लक्ष्मी का मुख पकड़ लिया ।' मुख अर्थात् प्रारम्भ और वक्त्र । वह भी सुरा के आमोद से युक्त होता है । 'वसन्त के प्रारम्भ में काम चित्तवृत्ति को आक्षिप्त कर देता है' यह इतना अर्थ कविप्रौढोक्ति से अर्थान्तर का व्यञ्जक कर दिया गया है ।

तारावती—(३) इसी संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में अर्थशक्त्युद्भव के कविप्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्नशरीर नामक भेद की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'बहुमूल्य महोत्सव के प्रसार के कारण मनोहर सुरामोदवाले आम्रमञ्जरी के आभूषणों से युक्त वसन्त मास की लक्ष्मी के मुख को कामदेव ने बिना किसी के प्रदान किये हुए स्वयं ही ग्रहण कर लिया ।'

यहाँ पर 'क्षणप्रसर महार्घमनोहर सुरामोदम्' का अर्थ है महार्घ अर्थात् बहुमूल्य बहुत बड़े उत्सव के द्वारा 'मनोहर सुर' अर्थात् कामदेव का आमोद अर्थात् चमत्कार जहाँ विद्यमान है । महार्घ शब्द 'क्षणप्रसर' शब्द का विशेषण है । अतः यहाँ पर महार्घ का पूर्व प्रयोग होकर 'महार्घक्षणप्रसर' यह रूप होना चाहिए । किन्तु प्राकृत में पूर्वनिपात का ऐसा कोई हठ नियम नहीं है । क्षण शब्द का अर्थ है उत्सव ।

'मनोहरसुरामोद' शब्द के दो अर्थ हैं (१) जिसमें मनोहर सुर कामदेव का आमोद अर्थात् चमत्कार विद्यमान हो और (२) जो मनोहर सुरा की गन्ध से युक्त हो । इसी प्रकार मुख शब्द के भी दो अर्थ हैं प्रारम्भ और मुख । वसन्त के प्रारम्भ में कामदेव का चमत्कार विद्यमान होता है और नायिका के मुख में मदिरा की सुगन्ध आ रही है ।

इस वाक्य का केवल यही अर्थ है कि वसन्त के प्रारम्भ में चित्त में कामदेव का जागरण हो जाता है । यहाँ पर कामदेव का मधुमासलक्ष्मी के मुख को पकड़ लेना एक कविकल्पित वस्तु है । मधुमासलक्ष्मी ने मुख समर्पित नहीं किया है फिर भी कामदेव ने पकड़ लिया है । इससे नायिका की नवोढ़ा दशा की अभिव्यक्ति होती है । और नायक (कामदेव) पर हठी कामुक के व्यवहार का समारोप हो जाता है । इस कविकल्पित वस्तु से नायक के नायिका पर बलात्कार की ध्वनि निकलती है । इस ध्वनि में 'बिना किसी के दिये हुये' इस पद का

अर्थ ही व्यञ्जक है। अतएव यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से पद से प्रकाशित होनेवाली अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है।

(ध्वन्या०)—अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाश्यता यथोदाहृतम् प्राक्—'सज्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि। अत्र 'सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरा'–नित्ययं वाक्यार्थः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो मन्मथोन्माथमदनावस्थां वसन्तसमयस्य सूचयति।

(अनु०) इसी में (विवक्षितवाच्य के) उपभेद (कविप्रौढोक्ति-निष्पन्नशरीर) की वाक्य-प्रकाश्यता जैसा पहले उदाहरण दिया गया है—'सज्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि। यहाँ पर 'वसन्तमास बाण तैय्यार कर रहा है; किन्तु कामदेव को प्रदान नहीं कर रहा है' यह वाक्यार्थ कविप्रौढोक्ति-निष्पन्नशरीर है और वसन्तसमय की (की हुई) कामदेव द्वारा उन्मथन और मदन की अवस्था को सूचित करता है।

(लो०)—अत्र कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिशरीरार्थशक्त्युद्भवे पदवाक्यप्रकाशतायामुदाहरणद्वयं न दत्तम्। 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इति प्राच्यकारिकाया इयतैवोदाहृतत्वं भवेदित्यभिप्रायेण। तत्र पदप्रकाशता यथा—

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

इत्यत्र कविना यो विरागी वक्ता निबद्धस्तत् शक्तिप्रौढोक्त्या जीवितशब्दोऽर्थमूलतयेदं ध्वनयति—सर्व एवामी कामा विभूतयश्च स्वजीवितमात्रोपयोगिनः, तदभावे हि सद्भिरपि तैरसद्रूपताप्यते, तदेव च जीवितं प्राणधारणरूपत्वात्प्राणवृत्तेश्च चाञ्चल्यादनास्थापदमिति विषयेषु वराकेषु, किं दोषोद्घोषणदौर्जन्येन निजमेव जीवितमुपालभ्यम्, तदपि च निसर्गचञ्चलमिति न सापराधमित्येतावता गाढं वैराग्यमिति वाक्यप्रकाशता यथा 'शिखरिणी'त्यादौ।

(अनु०) यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिशरीर अर्थशक्त्युद्भव में पद और वाक्य द्वारा प्रकाश्यता के अन्तर्गत दो उदाहरण नहीं दिये। 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर और स्वतः सम्भवी' इस प्राच्य कारिका का इतने से ही उदाहृतत्व हो जावे इस अभिप्राय से। उसमें पदप्रकाश्यता जैसे—

'काम सचमुच मनोरम (होते हैं) विभूतियाँ भी सचमुच रमणीय होती हैं किन्तु मत्त अङ्गनाओं के अपाङ्गभङ्ग के समान जीवन चञ्चल है।'

यहाँ पर कवि ने जो विरागी वक्ता निबद्ध किया है उसकी प्रौढोक्ति से अर्थशक्ति-मूलतया जीवित शब्द यह ध्वनित करता है—ये सभी कामनायें और विभूतियाँ स्वजीवन मात्र की उपयोगिनी हैं उसके अभाव में निःसन्देह होते हुए भी वे न होने का रूप ही प्राप्त कर लिया करती हैं। वही जीवन प्राणधारण रूप होने से और प्राणवृत्ति की चञ्चलता से आस्था

का स्थान नहीं है। इस प्रकार बेचारे विषयों के दोषोद्घोषण के दौर्जन्य से क्या अपने ही जीवन को उपालम्भ देना चाहिए। वह भी स्वभाव चञ्चल है इस प्रकार वह भी अपराधी नहीं इतने से गाढ़ वैराग्य (ध्वनित होता है)। वाक्यप्रकाश्यता जैसे—'शिखरिणि' इत्यादि !

तारावती—इसी कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर नामक भेद की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे—द्वितीय उद्योत में एक उदाहरण दिया गया था—'वसन्त अभिनव आम्र-मञ्जरी इत्यादि अनङ्ग के शरों को सज्जित कर रहा है किन्तु दे नहीं रहा है। ये अनङ्ग-शर नवीन पल्लव और पत्रों को देनेवाले हैं और इनके मुखों का लक्ष्य युवतियों का समूह ही है।' वहाँ बतलाया जा चुका है कि 'वसन्त केवल कामदेव के बाणों को तैय्यार ही कर रहा है अभी दे नहीं रहा है' इस कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वसन्तसमय में कामदेव की क्रमशः प्रगाढावस्था ध्वनित होती है। यह ध्वनि समस्त वाक्य से निकलती है। अतएव यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से वाक्यप्रकाश अर्थशक्तिमूलक ध्वनि निकलती है।

यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-निष्पन्नशरीर नामक भेद की पदप्रकाश्यता और वाक्यप्रकाश्यता के दो भेद नहीं दिये गये हैं। यथासम्भव इसका कारण यह हो सकता है कि 'प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इस प्राचीनों की कारिका में अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के मूलभेद दो ही माने गये हैं—(१) प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर और (२) स्वतः सम्भवी। इसी आधार पर यहाँ पर केवल दो भेदों के उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु इस अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध नामक एक भेद और होता है। उसके दोनों उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

(क) कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध नामक भेद में पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'सच यह है कि काम्य वस्तुयें मनोरम होती हैं, यह भी सच है कि सम्पत्तियाँ भी मनोहर होती हैं, किन्तु जीवन तो मत्त अंगनाओं के अपांगों के भंग के समान चञ्चल है।'

यहाँ पर विरागी व्यक्ति एक कविनिबद्ध वक्ता है। 'जीवन अंगनाओं के अपांगभंग के समान चञ्चल है' यह उसी विरागी व्यक्ति की प्रौढोक्ति है। उससे अर्थशक्ति से यह ध्वनि निकलती है—'जितनी भी सांसारिक कामनायें और विभूतियाँ हो सकती हैं उनका एकमात्र उपयोग जीवन के लिये ही है। जीवन न होने पर उनका रहना भी न रहने के समान हो जाता है। प्राणों का धारण करना ही जीवन है और प्राणवृत्ति चञ्चल होती है। अतएव जीवन का कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर बेचारे दोषों के उद्घोषण का दौर्जन्य ही क्यों दिखलाया जावे ? अपने जीवन को ही दोष देना चाहिये। अथवा वह जीवन भी स्वाभाविक रूप में चञ्चल है। अतः उसका भी क्या अपराध ? यही कारण है कि जीवन के प्रति प्रगाढ वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। यहाँ पर यह ध्वनि जीवित शब्द से निकलती है। अतएव कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से पदद्योत्यध्वनि का यह उदाहरण है।

(ख) उसी की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण—जैसे पहले आया हुआ उदाहरण 'शिख-रिणि क्व नु नाम—' इत्यादि पद्य। इसमें रसिक व्यक्ति कविनिबद्धवक्ता है। विम्बफल का

तपस्या करना केवल उसी कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु है। उससे उस व्यक्ति की अधरचुम्बन विषयक अभिलाषा ध्वनित होती है। अतएव यह कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वाक्यप्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण है।

(ध्वन्या०)—स्वतः सम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुतो अह्माण वाघकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुह्वा॥

अत्र लुलितालकमुखीत्येतत्पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावितशरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं सूचयंस्तदोयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति।

(अनु०) स्वतः सम्भवी शरीर अर्थशक्त्युद्भव नामक उपभेद में पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'हे व्यापारी! हमारे घर में हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म तब तक कहाँ जब तक कि चूर्णकुन्तल से सुशोभित मुखवाली हमारी पुत्रवधू घर में विलास के साथ घूम रही है।'

यहाँ पर 'लुलितालकमुखी' यह पद स्वतः सम्भावित शरीरवाली अर्थशक्ति से व्याध-वधू की सुरतक्रीडासक्ति को सूचित करते हुये उसके पति की निरन्तर सम्भोगजन्य क्षीणता को प्रकाशित करता है।

(लो०)—वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥ इति छाया।

सविभ्रमं चङ्क्रम्यते। अत्र लुलितेति स्वरूपमात्रेण विशेषणमवलिप्ततया च हस्तिदन्ताद्यपाहरणं सम्भाव्यमिति वाक्यार्थस्य तावत्येव न काचिदनुपपत्तिः।

(अनु०) 'ऐ बनिये (व्यापारी) कहाँ से हमारे (यहाँ) हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म जब तक मुख पर केशों को छिटकाये हमारी पुत्रवधू घरमें विचरण कर रही है। विलासपूर्वक इधर-उधर घूम रही है। यहाँ लुलित इत्यादि विशेषण स्वरूप से और अवलेप के गर्व (तथा प्रमाद) से हस्तिदन्त इत्यादि के अनाहरण की सम्भावना की जा सकती है। अतः वाक्यार्थ के उतने से ही (विरत हो जानेपर) कोई अनुपपत्ति नहीं होती।

तारावती—(५) अनुरणनरूप व्यङ्ग्य में स्वतः सम्भवी भेद की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—किसी व्यापारी ने किसी वृद्ध व्याध से हाथी दाँत और व्याघ्रचर्म को देने के लिये कहा, इसपर वह वृद्ध व्याध कहने लगा—

'हे वणिक्? जब तक हमारे घर में हमारी पुत्रवधू अपने मुख पर केशों को फहराती हुई घूम रही है तब तक हमारे घर में कहाँ से हाथी दाँत आये और कहाँ से व्याघ्रचर्म आया?'

यहाँ पर व्याधवधू का अपने मुख पर केशों को फहराते हुये घूमना वाच्य वस्तु है जो कि लोक में स्वतः सम्भव है। इससे अर्थशक्ति से यह ध्वनित होता है कि व्याध का पुत्र अपनी पत्नी के सौन्दर्य पर रीझकर उसके विलासों को देखता रहता है और सहवास में ही अपना मन लगाये रहता है जिससे वधू के केश निरन्तर छूटे रहते हैं तथा मुखपर मंडराते रहते हैं।

व्याध का पुत्र निरन्तर सम्भोग के कारण अत्यत क्षीण हो गया है और वह हाथियों और बाघों को हीं मार सकता जिससे घर में हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म मिलसके। केशों का छूटे रहना और मुख पर मँडराना यह विशेषण स्वरूपमात्र (स्वभावोक्ति के रूप में) भी हो सकता है और हाथीदाँत इत्यादि का न लाना प्रमाद से भी सम्भव है। अतएव वाच्यार्थ की विश्रान्ति इतने में ही हो जाती है और इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती। अतः संभोगक्षामता इत्यादि व्यङ्ग्य ही है। इस प्रकार यहाँ पर स्वतःसम्भवी वस्तु से पदप्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि निकलती है।

(ध्वन्या०)—तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा—

सिहिपिच्छकण्णऊरा बहुआ वाहस्य गव्विरी भमइ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम्॥

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छकर्णपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित्सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते। तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात्। तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां दौर्भाग्यातिशयः ख्याप्यते। तत्सम्भोगकाले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थ आसीदित्यर्थप्रकाशनात्।

(अनु०) उसी की वाक्यप्रकाश्यता जैसे—

'मयूर पिच्छ के कर्णपूर को धारण किये हुये व्याध की बहू मुक्ताफल के द्वारा प्रसाधन को बनाये हुये सपत्नियों के बीच में गर्व के साथ घूम रही है।'

इस वाक्य के द्वारा भी किसी नवपरिणीता, मयूरपिच्छ का कर्णपूर धारण करनेवाली, व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता प्रकाशित की जाती है। क्योंकि इससे यह अर्थ प्रकाशित होता है कि एकमात्र उसके सम्भोग में ही लगा हुआ पति केवल मयूर मारने की शक्तिवाला बन गया। उसके भिन्न मुक्ताफल का प्रसाधन करनेवाली चिरपरिणीता सौतों के दुर्भाग्य की अधिकता प्रकट होती है। क्योंकि इससे यह अर्थ निकलता है कि उनके सम्भोग काल में वही व्याध बड़े बड़े हाथियों के बध के कार्य में समर्थ था।

(लो०)—सिहिपिच्छेति। पूर्वमेव योजिता गाथा।

(अनु०) 'सिखि पिच्छ' इति। इस गाथा की योजना तो पहले ही की जा चुकी।

तारावती—(६) उसी स्वतः सम्भवी भेद की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण—

'मयूरपिच्छ के कर्णाभरण बनाये हुये व्याध की वधू मुक्ताफलों के आभूषणों का शृंगार करनेवाली अपनी सौतों के मध्य में अभिमानपूर्वक घूम रही है।'

इस गाथा की योजना पहले की जा चुकी है। इस वाक्य से भी मयूरपिच्छ का कर्णाभरण धारण करने वाली नव परिणीता व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता ध्वनित होती है। क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि उस नवपरिणीता वधू के संभोग का आनन्द लेने के कारण उसके पति में केवल इतनी ही शक्ति रह गई है कि वह मयूरों को मार सके। उसकी बहुत

दिनों की ब्याही हुई सौतों को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। उस समय उसका पति उन सब सपत्नियों में इतना अधिक अनुरक्त नहीं हुआ था और उसमें हाथियों के मारने की शक्ति बनी रही थी। वह हाथियों को मारकर मुक्ता-फल लाकर दिया करता था। अतएव यद्यपि नायिका की सपत्नियाँ मुक्ता-फल धारण किये हुये हैं और नायिका को मयूरपिच्छ ही मिल सके हैं किन्तु फिर भी नायिका का सौभाग्य प्रकट होता है और सपत्नियों का दौर्भाग्य प्रकट होता है। नायिका का मयूरपिच्छ धारण करना और सौतों में अभिमानपूर्वक घूमना स्वतः सम्भवी वस्तु है। उससे नायिका के सौभाग्य रूप में वाक्यप्रकाश्यध्वनि निकलती है।

(ध्वन्या०) **ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाश्यता। काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्। उच्यते—स्यादेष दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्। तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्। किञ्च काव्यानां शरीराणामिव संस्थानविशेषाविच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीति-रन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधि।**

(अनु०) (प्रश्न) एक विशेष प्रकार का काव्य ध्वनि बतलाई गई है फिर उसका पद के द्वारा प्रकाशित होना कैसे हो सकता है? निस्सन्देह विशेष प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति में कारण विशेष प्रकार का शब्द-सन्दर्भ ही विशेष प्रकार का काव्य होता है। पदप्रकाश्य में उसका होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि स्मारक होने के कारण पद वाचक नहीं होते। (इसके) उत्तर में कहा जा रहा है—यह दोष होता यदि वाचकत्व ध्वनि-व्यवहार में प्रयोजक होता। किन्तु ऐसा नहीं है। उसकी व्यवस्था तो व्यञ्जकत्व के द्वारा होती है। दूसरी बात यह है कि शरीरों के समान काव्यों की भी चारुत्वप्रतीति विशेष प्रकार के अवयवसंस्थान से घटित समु-दाय के द्वारा ही यद्यपि सिद्ध होती है तथापि अन्वय-व्यतिरेक से भागों में कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार व्यञ्जकत्व के द्वारा व्यवस्थित पदों का ध्वनिव्यवहार व्यवस्थित नहीं है।

(लो०)—**नन्विति**। समुदाय एव ध्वनिरित्यत्र पक्षे चोद्यमेतत्। **तद्भा-वश्चेति**। काव्यविशेषत्वमित्यर्थः। अवाचकत्वादिति यदुक्तं सोऽयमप्रयोजको हेतुरिति छलेन तावद्दर्शयति–**स्यादेष दोष इति**। एवं छलेन परिहृत्य वस्तुवृत्तेनापि परिहरति–**किंचेति**। यदि परो ब्रूयात्—न मया अवाचकत्वं ध्वनिव्यवहारे हेतूकृतं किंतूक्तं काव्यं ध्वनिः। काव्यं चानाकाङ्क्षप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति तत्राह—सत्यमेवं तथापि पदं न ध्वनिरित्यस्माभिरुक्तम् अपि तु समुदाय एव, तथा च पदप्रकाशो ध्वनिरिति प्रकाशपदेनोक्तम्। ननु पदस्य तत्र तथाविधं सामर्थ्यमिति कुतोऽखण्ड एव प्रतीतिक्रम इत्याशङ्क्याह **काव्यानामिति**। उक्तं हि "प्राग्विवेककाले विभागोपदेश इति"। (वा० प० १.९०

(अनु०) 'ननु' इति। समुदाय में ही ध्वनि होती है इस पक्ष में यह प्रश्न उठता है। 'तद्भाव' इति। अर्थात् काव्यविशेषत्व। 'अवाचक होने से' जो यह कहा यह अप्रयोजक हेतु है

यह छल से दिखलाते हैं-'यह दोष होता' इत्यादि। इस प्रकार छल से परिहार करके वस्तुवृत्त से भी परिहार कर रहे हैं—'किञ्च'-यदि दूसरा कहे कि 'मैंने अवाचकत्व को ध्वनि के अभाव में हेतु नहीं बनाया किन्तु यह कहा है कि काव्य ध्वनि हैं और काव्य आकांक्षारहित प्रतिपत्ति करानेवाला वाक्य होता है पद नहीं' इस विषय में कहते हैं— यह सच है, तथापि हमलोगों ने यह नहीं कहा कि पद ध्वनि है। अपितु समुदाय ही (ध्वनि है।) इसीलिये 'ध्वनि पदप्रकाश होता है' यह प्रकाश शब्द के द्वारा कहा है। 'यदि वहाँ पर पद का इस प्रकार का सामर्थ्य है तो अखण्ड प्रतीतिक्रम जिस प्रकार होगा ?' यह शङ्का करके कहते हैं—'काव्यों का' यह। निःसन्देह पहले ही कहा गया है कि विवेककाल में विभाग का उपदेश होता है।

तारावती—(ऊपर वाक्यप्रकाश्य तथा पदप्रकाश्य ध्वनि भेदों के उदाहरण दिये गये। यहाँ पर अब यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि ध्वनि पदसमूह में रहती है और समूह की बोधक ही होती है। फिर यह कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि ध्वनि एक पद के द्वारा प्रकाशित होती है ?)

(प्रश्न) आपने यह बतलाया है कि वाचक, वाच्य और व्यङ्ग्य के समुदायको ध्वनि कहते हैं। यह एक विशेष प्रकार का काव्य होता है। काव्य एक विशेष प्रकार के शब्दों के समूह को कहते हैं जो विशेष प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति करानेवाला होता है। दूसरी ओर आप कह रहे हैं कि ध्वनि शब्द के द्वारा प्रकाशित होती है। यदि ध्वनि का शब्द के द्वारा प्रकाशित होना मान लिया जावे तो शब्दसमूह के द्वारा सत्ता में आनेवाला काव्यत्व ध्वनि में किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? पद केवल स्मारक होते हैं वाचक नहीं होते। फिर ध्वनि का पदप्रकाश्यत्व किस प्रकार सङ्गत हो सकता है ? यह प्रश्न इस पक्ष को मानकर किया गया है कि ध्वनि समुदाय को कहते हैं। पहले ध्वनि के अनेक अर्थ बतलाये थे और यह सिद्धान्तित किया था कि ध्वनि सभी के समूह को कहते हैं। (उत्तर) सिद्धान्ती ने यहाँ पर दो उत्तर दिये हैं—एक तो पूर्वपक्षी को निरुत्तर करने के लिए उसकी बात काटने के मन्तव्य से छलपूर्वक दिया गया है जिससे सिद्धान्त की बात छिपा ली गई है। प्रश्नकर्ता के प्रश्न का सारांश यह था कि ध्वनि पद के द्वारा इसलिए प्रतीत नहीं हो सकती कि पद वाचक नहीं होते। (सिद्धान्ततः वाक्यस्फोट ही मुख्य होता है। जिस प्रकार शब्द में प्रत्येक अक्षर का कोई अर्थ नहीं होता उसी प्रकार वाक्य में प्रत्येक शब्द का कोई अर्थ नहीं होता।) वैय्याकरणों का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार 'घट' शब्द में 'घ' का पृथक् कोई अर्थ नहीं है उसी प्रकार 'घटो भवति' में 'घट' शब्द का भी कोई अर्थ नहीं है। सम्पूर्ण वाक्य का ही अर्थ होता है किन्तु समस्त वाक्यों का अर्थ बतला सकना असंभव है इसीलिये वाक्यगत पदों की कल्पना कर ली जाती है और पदों में भी वर्णों की कल्पना कर ली जाती है। यही बात वैय्याकरण-भूषणसार की निम्नलिखित कारिका में कही गई है :—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

अर्थात् पद में वर्ण नहीं होते जैसे 'ए' 'ओ' इत्यादि वर्णों में 'अ + इ' 'अ + उ' इत्यादि अवयव पारमार्थिक नहीं होते। वाक्य से पदों का कोई भी पृथक् विवेक (भेद) नहीं होता।

वैय्याकरण 'भवति' इत्यादि शब्दों में 'भू + अ + ति' इत्यादि विभाजन कल्पित उपाय मात्र मानते हैं :—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

शिक्षण प्राप्त करनेवाले बालकों के लिए व्याकरण के उपाय लालनमात्र हैं। (जैसे खेल में बालक) असत्य मार्ग पर स्थित होकर फिर सत्य की आकांक्षा करता है।'

उत्तरपक्षी का कहना है कि यह सच है कि पद अवाचक होते हैं किन्तु ध्वनि का प्रयोजक वाचकत्व होता भी तो नहीं। ध्वनि का प्रयोजक तो व्यंजकत्व होता है। यदि व्यंजकता विद्यमान है तो पद वाचक हों या न हों ध्वनि तो हो ही सकती है। इस प्रकार छलपूर्वक उत्तर देकर वस्तुवृत्त के द्वारा अर्थात् वास्तविकता को प्रकट करते हुए उत्तर दिया जा रहा है। उक्त उत्तर पर प्रश्नकर्ता कह सकता है कि मेरा आशय यह नहीं है कि पद इसलिए ध्वनित नहीं कर सकता कि वह वाचक नहीं होता किन्तु मेरा कहने का आशय यह है कि ध्वनि काव्य को कहते हैं। काव्य एक ऐसे पदसमूहरूप वाक्य को कहते हैं जिसमें आकांक्षा विद्यमान न रह जावे अर्थात् जिससे पूर्ण अर्थ की प्रतीति हो सके। पद अकेला काव्य नहीं हो सकता। (प्रश्न) जब पद काव्य नहीं हो सकता तब पद ध्वनि कैसे हो सकता है ? (उत्तर) मैं यह नहीं कहता कि पद ध्वनि या काव्य होता है। मैं ध्वनि तो समुदाय को ही मानता हूँ। किन्तु मेरा कहना यह है कि ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित हुआ करती है। इसलिए प्रकाश शब्द का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। समुदाय में होते हुए भी ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित तो हो ही सकती है। (प्रश्न) जब ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित हो सकती है तो शेष काव्य वाक्य से उसका क्या सम्बन्ध रह जाता है ? उसी पद को काव्य क्यों नहीं मान लिया जाता ? अखण्ड वाक्य को काव्य क्यों कहा जाता है ? (उत्तर) यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि काव्य एक शरीर है। शब्द इत्यादि उसके अङ्ग होते हैं। जिस प्रकार यद्यपि शरीर में चारुता की प्रतीति विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त समुदाय के द्वारा ही हो सकती है तथापि शरीर में कोई एक विशेष अवयव ऐसा प्रतीत होता है जिसके होने से चारुता की प्रतीति होती है और न होने से चारुता की प्रतीति नहीं होती। अतएव उस व्यक्ति के सौन्दर्य की कल्पना उसी अंग में कर ली जाती है। उसी प्रकार काव्य में भी चारुता सम्पूर्ण वाक्य में ही होती है किन्तु उसमें हेतु किसी एक पद की उपस्थिति ही हो जाती है। अतएव व्यंजकत्व के द्वारा पदों के लिये भी ध्वनि शब्द का व्यवहार किया जा सकता है। उसमें कोई विरोध नहीं आता।

(ध्वन्या०)—अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टश्रुतिर्गुणम्॥

पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः ।
तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता ॥
विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भरती ॥

इति परिकरश्लोकाः

(अनु०) श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों में अनिष्ट का श्रवण जिस प्रकार दुष्टता का सम्पादन स्पष्टरूप में करता है उसी प्रकार इष्टस्मरण गुण का सम्पादन कर सकता है ॥१॥

'इस कारण पदों के स्मारक होते हुए भी केवल पद से प्रकाशित होनेवाली ध्वनि के सभी भेदों में रमणीयता होती है ॥२॥

'जिस प्रकार विच्छित्ति के द्वारा शोभित होनेवाले एक ही भूषण से कोई कामिनी शोभित होने लगती है उसी प्रकार पद के द्वारा द्योत्य ध्वनि से अच्छे कवि की वाणी शोभित होती है ॥३॥ ये परिकर श्लोक हैं।

(लो०)-ननु भागेषु पदरूपेषु कथं सा चारुत्वप्रतीतिरारोपयितुं शक्या ? तानि हि स्मारकाण्येव । ततः किम् ? मनोहारिव्यङ्ग्यार्थस्मारकत्वाद्धि चारुत्वप्रतीतिनिबन्धनत्वं केन वार्यते ? यथा श्रुतिदुष्टानां पेलवादिपदानामसभ्यपेलाद्यर्थं प्रति न वाचकत्वम् । अपि तु स्मारकत्वम् । तद्वशाच्च चारुस्वरूपं काव्यं श्रुतिदुष्टम् । तच्च श्रुतिदुष्टत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु व्यवस्थाप्यते तथा प्रकृतेऽपीति तदाह—**अनिष्टस्येति** । अनिष्टार्थस्मारकस्येत्यर्थः । दुष्टतामित्यचारुत्वम् । एवं दृष्टान्तमभिधाय पादत्रयेण तुर्येण दार्ष्टान्तिकार्थ उक्तः । अधुनोपसंहरति—**पदानामिति** । यत एवमिष्टस्मृतिश्चारुत्वमावहति तेन हेतुना सर्वेषु प्रकारेषु निरूपितस्य पदमात्रावभासिनोऽपि पदप्रकाशस्यापि ध्वने रम्यतास्ति स्मारकत्वेऽपि पदानामिति समन्वयः । अपिशब्दः काकाक्षिन्यायेनोभयत्रापि सम्बध्यते । अधुना चारुत्वप्रतीतौ पदानामन्वयव्यरिरेकौ दर्शयति—**विच्छित्तीति** ॥१॥

(अनु०) (प्रश्न) पदरूप भागों में उस चारुत्वप्रतीति का आरोप कैसे किया जा सकता है ? वे तो स्मारक ही होते हैं (उत्तर) इससे क्या ? मनोहर व्यंग्यार्थ को स्मरण कराने के कारण निःसन्देह वे चारुत्वप्रतीति में निबन्धन होते हैं इसको कौन रोक सकता है ? जैसे श्रुतिदुष्ट 'पेलव' इत्यादि पदों में असभ्य 'पेल' इत्यादि अर्थ के प्रति वाचकत्व नहीं होता । अपितु स्मारकत्व ही होता है । उसके वश से चारुस्वरूप काव्य श्रुतिदुष्ट होता है और वह श्रुतिदुष्टत्व अन्वय-व्यतिरेक से भागों में स्थापित किया जाता है वैसा प्रकृत में भी है । वही कहते हैं—'अनिष्ट का' अर्थात् अनिष्ट अर्थ के स्मारक का । दुष्टता का अर्थ है अचारुत्व । गुण का अर्थ है चारुत्व । तीन पदों से दृष्टान्त कहकर चौथे से दार्ष्टान्तिक अर्थ कहा है । अब उपसंहार करते हैं—'पदों का' यह । क्योंकि इस प्रकार की इष्ट स्मृति चारुत्व को धारण करती है । इस हेतु से सभी प्रकारों में निरूपित तथा पदमात्र से अवभासित होनेवाले भी अर्थात्

पदप्रकाश्य भी ध्वनि की रम्यता पदों के स्मारक होते हुए भी होती है, यह समन्वय है। अपिशब्द कौवे की आँख के न्याय से दोनों ओर सम्बद्ध हो जाता है। इस समय चारुत्व-प्रतीति में पद के अन्वय-व्यतिरेक को दिखलाते हैं —'विच्छत्ति' इत्यादि ॥१॥

तारावती-(प्रश्न) पदरूप भागों में उस चारुता की प्रतीति का आरोप हो ही किस प्रकार सकता है ? पद तो केवल अर्थ के स्मारक होते हैं। (उत्तर) पद अर्थ के स्मारक होते हैं इससे क्या हुआ ? वे मनोहर व्यंग्यार्थ का स्मरण कराते हैं। अतएव वे चारुताप्रतीति में कारण होते हैं इस बात में किस को आपत्ति हो सकती है ? उदाहरण के लिये श्रुतिदुष्ट पेलव शब्द को लीजिये। यह शब्द कोमल अर्थ का वाचक है, असभ्य पेल (वृषण) का वाचक नहीं है, केवल उस अर्थ का स्मरण करा देता है। इसी स्मरण करा देने के कारण ही सुन्दर रूपवाला यह काव्य श्रुतिदुष्ट दोष से दूषित हो गया है। जहाँ पर इस प्रकार के असभ्य अर्थ के स्मारक भाग होते हैं वहीं पर श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष होते हैं, जहाँ पर इस प्रकार के भाग नहीं होते वहाँ पर ये दोष भी नहीं होते। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष भागों में ही माने जाते हैं। इसी प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के नियम से ही चारुता की प्रतीति में हेतुता भी भागों में ही मानी जाती है। यही बात इस परिकर श्लोक में कही गई है—

जिस प्रकार श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों में अनिष्ट का श्रवण दुष्टता का आपादन करता है उसी प्रकार इष्ट का स्मरण गुण का स्पष्ट रूप में आपादन करता है।'

'अनिष्ट का श्रवण' शब्द में अनिष्ट शब्द का अर्थ है अनिष्ट का स्मरण करानेवाला शब्द। दुष्टता का अर्थ है अचारुता। गुण का अर्थ है चारुता। इस प्रकार तीन चरणों में दृष्टान्त कहा और चौथे चरण में दार्ष्टान्तिक कह दिया। अब दूसरे श्लोक में उपसंहार कर रहे हैं—

'अतएव यद्यपि पद स्मारक होते हैं तथापि केवल पद से प्रकाशित होनेवाले ध्वनि के समस्त उपभेदों में रमणीयता विद्यमान रहती ही है।'

क्योंकि इष्ट का स्मरण चारुता का आवाहन करनेवाला होता है इसी कारण केवल पद के द्वारा अवभासित होनेवाले भी ध्वनि के उन समस्त उपभेदों में जिनका निरूपण पहले किया जा चुका है रमणीयता विद्यमान रहती ही है यद्यपि पद होते स्मारक ही हैं। इस कारिका का समन्वय इसी रूप में करना चाहिये। कारिका में आया हुआ अपि शब्द उसी प्रकार दोनों ओर लग जाता है जिस प्रकार कौवे की दोनों आँखों में एक ही पुतली घूमती रहती है। इस प्रकार 'अपि' शब्द का 'स्मारकत्व' के साथ भी अन्वय होता है और 'पदमात्रावभासिनः' के साथ भी। अब तृतीय श्लोक में चारुत्वप्रतीति में पद का अन्वय-व्यतिरेक दिखलाया जा रहा है—'जैसे किसी कामिनी का कोई एक ही आभूषण ऐसा होता है जो कि सभी से पृथग्भूत होकर शोभा का परिपोष किया करता है और उससे कामिनी का सारा शरीर जगमगा उठता है किन्तु उस भूषण की शोभा सर्वोपरि अवगत होती रहती है उसी प्रकार कवि की भारती में भी कोई एक पद ही इतना अच्छा होता है कि वह विच्छित्तिवि-

शेष का परिपोष करने वाले किसी ऐसे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है जो कि चमत्कार-पर्यवसायी होने के कारण ध्वनि का रूप धारण कर लेता है और उससे कवि की वाणी एकदम जगमगा उठती है ॥१॥

(ध्वन्या०)—**यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।**
वाक्ये संघटनायाञ्च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥ २ ॥

(अनु०) जोकि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है वह वर्ण पद इत्यादि में वाक्य में संघटना में और प्रबन्ध में भी दीप्त होती है ॥ २॥

(लो०)—एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं प्रपञ्चयितुमाह **—यस्त्विति ।** तुशब्दः पूर्वभेदेभ्योऽस्य विशेषद्योतकः । वर्णसमुदायश्च पदम् । तत्समुदायो वाक्यम् । सङ्घटना पदगता वाक्यगता च । सङ्घटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः इत्यभिप्रायेण वर्णादीनां यथाक्रममुपादानम् । आदिशब्देन पदैकदेशपदद्वितयादीनां ग्रहणम् । सप्तम्या निमित्तत्वमुक्तम् । दीप्यतेऽवभासते सकलकाव्यावभासकतयेति पूर्ववत्काव्यविशेषत्वं समर्थितम् ॥ २॥

(अनु०) इस प्रकार कारिका की व्याख्या करके उसके द्वारा असंगृहीत असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य को प्रपञ्चित करने के लिये कहते हैं—यस्त्विति । 'तु' शब्द पूर्वभेदों से इसकी विशेषता का द्योतक है । वर्णसमुदाय को पद कहते हैं, उसके समुदाय को वाक्य कहते हैं । सङ्घटना पदगत भी होती है और वाक्यगत भी । सङ्घटित वाक्यसमुदाय को प्रबन्ध कहते हैं इस अभिप्राय से वर्णों का यथाक्रम उपादान किया गया है । आदि शब्द से पद के एक देश, दो पद इत्यादि का ग्रहण होता है । सप्तमी से निमित्तत्व कहा गया है । सकल काव्य के अवभासक के रूप में दीप्त किया जाता है अर्थात् अवभासित किया जाता है; इस प्रकार पूर्ववत् काव्य-विशेष का समर्थन कर दिया गया ॥ २ ॥

असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की व्यञ्जकता का उपक्रम

तारावती—ऊपर प्रथम कारिका की व्याख्या की गई । इस कारिका से अविवक्षित-वाच्य ध्वनि के उपभेदों और विवक्षितवाच्य के संल्लक्ष्यक्रम-व्यंग्य के उपभेदों की व्यञ्जकता का निरूपण कर दिया गया कि ये सब ध्वनियाँ पद और वाक्य से अभिव्यक्त होती हैं । अब ध्वनि के उपभेदों में शेष रह जाता है, असंल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उपभेद । उसके व्यञ्जक तत्त्वों को दूसरी कारिका में विस्तारपूर्वक बतलाया जा रहा है—

'जो कि असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनिभेद है वह तो वर्ण और पद इत्यादि में तथा वाक्य में, संघटना में और प्रबन्ध में भी दीप्त होता है ।'

यहाँ पर 'तो' का अर्थ यह है कि असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य से भिन्न जिन ध्वनिभेदों का पहली कारिका में उल्लेख किया गया था उन भेदों से इसमें कुछ विलक्षणता होती है । यहाँ पर व्यञ्जकतत्त्वों का क्रम एक विशेष मन्तव्य से रक्खा गया है—असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का सबसे छोटा व्यञ्जक वर्ण होता है । इसीलिये वर्ण का उल्लेख सबसे पहले किया गया है । वर्णसमुदाम को पद कहते हैं, पदसमुदाय को वाक्य कहते हैं अतएव वर्ण के बाद पद और पद के बाद वाक्य का उल्लेख किया गया है । संघटना दो प्रकार की होती है पदगत और वाक्यगत । अतएव संघटना का उसके बाद उल्लेख है । संघटित वाक्यसमूह ही प्रबन्ध कहलाता है इसी अभिप्राय से वर्ण इत्यादि का यथाक्रम उल्लेख हुआ है । 'पद इत्यादि में' पद इत्यादि का आशय यह है कि असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की

अभिव्यक्ति पद के एकदेश, दो पद इत्यादि से भी होती है। 'पदादिषु' में सप्तमी निमित्त में है। अर्थात् वर्ण पद इत्यादि असंल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में निमित्त होते हैं। 'दीप्यते' का अर्थ है अवभासित होता है। अवभासित कहने का आशय यह है कि वर्ण इत्यादि एक देश में स्थित होकर नवीन विच्छित्ति के साथ ध्वनि का प्रत्यायन कराते हुये समस्त काव्य को अवभासित कर देते हैं। इस प्रकार पहले जैसे पद की अवभासकता के द्वारा काव्यविशेष का समर्थन किया गया था उसी प्रकार यहाँ पर वर्ण इत्यादि की अवभासकता का समर्थन हो गया ॥ २ ॥

(ध्वन्या०)—तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद् द्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते—

शषौ सरेफसंयोगो टकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः श्रृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥ ३ ॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः ॥ ४ ॥

श्लोकद्वयेनान्वय-व्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति।

(अनु०) उसमें वर्णों के अनर्थक होने के कारण द्योतकता असम्भव है यह शंका करके कहा जा रहा है—

अधिक संख्या में 'श' और 'ष' 'रेफ' के अधिक संयोग से युक्त वर्ण, टकार की अधिकता, ये श्रृङ्गार में विरोधी होते हैं। अत एव वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

वे ही जब बीभत्स इत्यादि रस में निविष्ट किये जाते हैं तब उसको दीप्त करते ही हैं। अतः वर्ण रस के प्रकट करनेवाले होते हैं ॥ ४ ॥

दो श्लोकों के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से वर्णों की द्योतकता दिखलाई गई है।

(लो०)—भूयसेति प्रत्येकमभिसंबध्यते। तेन शकारो भूयसेत्यादि व्याख्यातव्यम्। रेफप्रधानसंयोगः र्कर्ह्र्द्रे इत्यादिः।

विरोधिन इति। परुषावृत्तिर्विरोधिनी श्रृङ्गारस्य यतस्ते वर्णा भूयसा प्रयुज्यमाना न रसांश्च्योतन्ति स्रवन्ति। यदि वा तेन श्रृङ्गारविरोधित्वेन हेतुना वर्णा शषादयो रसाच्छृङ्गाराच्च्यवन्ते तं न व्यञ्जयन्तीति व्यतिरेक उक्तः। अन्वयमाह—**त एव त्विति।** शादयः। तमिति बीभत्सादिकं रसम्। दीपयन्ति द्योतयन्ति। कारिकाद्वयं तात्पर्येण व्याचष्टे—**श्लोकद्वयेनेति।** यथासंख्यप्रसङ्गपरिहारार्थं श्लोकाभ्यामिति न कृतम्। पूर्वश्लोकेन हि व्यतिरेक उक्तो द्वितीयेनान्वयः। अस्मिन् विषये श्रृङ्गारलक्षणे शषादिप्रयोगः सुकवित्वमभिवाञ्छता न कर्तव्य इत्येवं फलत्वादुपदेशस्य कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः। न च सर्वथा न कर्तव्योऽपि तु बीभत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण त्वन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः।

एतदुक्तं भवति—यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम्। तथापि विशिष्टश्रुतिकशब्दसमर्थ्यमाणास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसंविित्सिद्धमदः। तेन वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैकग्राह्यो मृदुपरुषात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकार्येव। अत एव च सहकारितामेवाभिधातुं निमित्तसप्तमी कृता वर्णपदादिष्विति। न तु वर्णैरेव रसाभिव्यक्तिः, विभावादिसंयोगाद्धि रसनिष्पत्तिरित्युक्तं बहुशः। श्रोत्रग्राह्योऽपि च स्वभावो रसनिष्यन्दे व्याप्रियत एव, अपदगीतध्वनिवत् पुष्करवाद्यनियमितविशिष्टजातिकरणघ्राणाद्यनुकरणशब्दवच्च।

(अनु०) 'भूयसा' इसका अभिसम्बन्ध प्रत्येक के साथ होता है। इसलिये 'शकार अधिकता से' इत्यादि व्याख्या की जानी चाहिये। रेफप्रधान संयोग—र्क र्ह्र द्र इत्यादि।

'विरोधी का' यह। परुषा वृत्ति शृङ्गार की विरोधिनी है। क्योंकि वे वर्ण अधिकता से प्रयोग किये हुये रस को स्रवित नहीं करते। अथवा शृङ्गारविरोधित्व हेतु से श ष इत्यादि वर्ण शृङ्गार से च्युत हो जाते हैं अर्थात् उसको व्यक्त नहीं करते। यह व्यतिरेक कहा गया है। अन्वय कहते हैं—'वे ही तो' यह। 'श' इत्यादि। 'उसको' अर्थात् बीभत्स इत्यादि रस को। 'दीप्त करते हैं' अर्थात् द्योतित करते हैं। दो कारिकाओं की तात्पर्य के द्वारा व्याख्या करते हैं—'दो श्लोकों के द्वारा' यह। यथासंख्या के प्रसंग के परिहार के लिये 'श्लोकाभ्याम्' यह नहीं लिखा। पूर्वश्लोक से व्यतिरेक कहा द्वितीय से अन्वय। शृङ्गार लक्षण इस विषय में ष श इत्यादि प्रयोग सुकवित्व की इच्छा करनेवाले के द्वारा नहीं किया जाना चाहिये। उपदेश के इसी फल के कारण कारिकाकार ने पहले व्यतिरेक कहा। वह सर्वथा नहीं किया जाना चाहिये यह नहीं अपितु बीभत्स इत्यादि में किया ही जाना चाहिये यह बाद में अन्वय (कहा गया है)। वृत्तिकार ने तो अन्वयपूर्वक व्यतिरेक इस शैली का अनुसरण करने के लिये अन्वय का उपादान किया है।

यह बात कही हुई है—यद्यपि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव की प्रतीति की सम्पत्ति ही रसास्वादन में हेतु है। तथापि यह तो स्वसंवेदना सिद्ध है कि विशिष्ट श्रुतिवाले शब्दों से समर्थित किये जाते हुये वे विभाव इत्यादि वैसे हो जाते हैं। इससे वर्णों के भी सुनने के समय में उपलक्षित किये जाते हुये अर्थ की बिना ही अपेक्षा किये हुये भी केवल श्रोत्र से ही ग्रहण करने योग्य मृदु-परुष इत्यादि आत्मावाला स्वभाव रसास्वाद में सहकारी ही होता है। और इसीलिये सहकारिता को कहने के लिये 'वर्ण पद इत्यादि में' इसमें निमित्त सप्तमी की गई है। वर्णों से ही रसाभिव्यक्ति नहीं होती, विभाव इत्यादि के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है यह बहुत बार कहा जा चुका। केवल श्रोत्र के द्वारा ग्राह्य भी स्वभाव रसास्वादन को व्याप्त कर ही लेता है जैसे अपद गीतध्वनि और पुष्कर वाद्य से नियमित विशिष्ट जाति करण घ्राण इत्यादि के अनुकरण शब्द।

वर्णों की व्यञ्जकता का समर्थन

तारावती—अब यहाँ पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि वर्ण तो सर्वथा निरर्थक होते हैं वे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के द्योतक किस प्रकार हो सकते हैं ? इसका उत्तर निम्नलिखित दो कारिकाओं में दिया जा रहा है—

'अधिक संख्या में श और ष का प्रयोग, रेफ के संयोग से युक्त वर्ण, टकार ये शृङ्गार रस में विरोधी होते हैं। अत एव वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

वे ही जब बीभत्स इत्यादि रस में निविष्ट किये जाते हैं तब उसको दीप्त ही करते हैं। अत एव वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं ॥ ४ ॥

इन दो कारिका-वाक्यों में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वर्णों की द्योतकता सिद्ध की गई है। 'भूयसा' (अधिकता से) इस शब्द का अन्वय प्रत्येक के साथ हो जाता है। अर्थात् अधिकता से श का प्रयोग, अधिकता से ष का प्रयोग इत्यादि वर्ण शृंगार रस को प्रवाहित करने वाले नहीं होते। यही व्याख्या करनी चाहिये। (दीधितिकार ने 'सरेफसंयोगौ' यह पाठ मान कर र के संयोग के साथ श और ष शृंगाररसोपघातक होते हैं यह अर्थ किया है। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि रेफ का बहुलता से किसी वर्ण के साथ संयोग शृंगार का उपघातक होता ही है।) 'सरेफसंयोग' का अर्थ है रेफप्रधान संयोग जैसे र्क र्ह्ल द्र इत्यादि। ये वर्ण शृंगार रस के विरोधी हैं कहने का आशय यही है कि परुषा वृत्ति शृंगार रस की विरोधिनी होती है। (भट्टोद्भट ने परुषा वृत्ति की परिभाषा ही यह की है कि 'श और ष, रेफ संयोग तथा ट वर्ग से संयुक्त की हुई वृत्ति को परुषा वृत्ति कहते हैं।') कारिका में रसच्युत् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—(१) रस को च्युत या स्रवित करनेवाले। क्योंकि बाहुल्य से श इत्यादि का प्रयोग शृङ्गार रस को स्रवित नहीं करता अतः सिद्ध होता है कि वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं। अथवा (२) उस शृङ्गारविरोधी हेतु से श ष इत्यादि वर्ण शृंगार रस से च्युत हो जाते हैं अर्थात् उसे अभिव्यक्त नहीं करते, इससे सिद्ध होता है कि वर्ण रस के अभिव्यंजन में निमित्त होते हैं। तीसरी कारिका में व्यतिरेक के द्वारा साध्य सिद्धि की गई है। व्यतिरेकी हेतु का स्वरूप यह होगा—'जहाँ पर रस के अविरोधी वर्णों का अभाव होता है (और विरोधी वर्णों की सत्ता होती है) वहाँ पर रस का भी अभाव होता है। जैसे शृङ्गार रस के विरोधी श इत्यादि के बहुल प्रयोग से रस च्युत या क्षरित नहीं होता अथवा वह काव्य रस से च्युत हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण रस के व्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार तीसरी कारिका में व्यतिरेकी हेतु दिखलाकर चौथी कारिका में अन्वय दिखलाया जा रहा है—अन्वयव्याप्ति का रूप यह है—जहाँ रस के अविरोधी वर्ण होते हैं वहाँ रस च्युत या क्षरित होता है। जैसे बीभत्स इत्यादि कठोर रसों के अविरोधी वही श इत्यादि जहाँ बाहुल्य के साथ आते हैं वहाँ बीभत्स इत्यादि रस अभिव्यक्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण रस के व्यञ्जक होते हैं। 'वे ही वर्ण' अर्थात् 'श' इत्यादि। 'उसको' अर्थात् बीभत्स इत्यादि को। 'दीप्त करते हैं' अर्थात् द्योतित करते हैं।

वृत्तिकार ने उक्त कारिकाओं का तात्पर्य इस प्रकार लिखा है कि—'श्लोकद्वय से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वर्णों की द्योतकता दिखलाई गई है।' यहाँ पर वृत्तिकार ने 'दो श्लोकों के द्वारा' न लिखकर 'श्लोकद्वय के द्वारा' यह लिखा है। इसका कारण यह है कि यदि 'दो श्लोकों से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा' यह लिखा होता तो इसका अर्थ यह हो सकता

था कि प्रथम श्लोक में अन्वय दिखलाया गया है और दूसरे श्लोक में व्यतिरेक। इसीलिये 'श्लोकद्वय' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे उक्त दोष नहीं आता। वास्तविकता इससे विपरीत है। वस्तुतः पहली कारिका में व्यतिरेक बतलाया गया है और दूसरी में अन्वय। परम्परानुसार पहले अन्वय दिखला कर ही व्यतिरेक दिखलाया जाना चाहिये। किन्तु कारिकाकार ने यह परिवर्तन इसलिये कर दिया है कि कारिका लिखने का प्रयोजन यह उपदेश देना है कि यदि सुकवि बनने की इच्छा हो तो इस शृङ्गार रस के क्षेत्र में श ष इत्यादि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यही उपदेश देने के लिये कारिकाकार ने पहले व्यतिरेक बतलाया है। फिर अन्वय यह दिखलाने के लिये बतलाया है कि इस कथन का आशय यह नहीं है कि श ष इत्यादि का प्रयोग कहीं करना ही नहीं चाहिये, अपितु बीभत्स इत्यादि में इन वर्णों का प्रयोग करना ही चाहिये। वृत्तिकार ने स्वाभाविक शैली का अनुसरण करने के लिये पहले अन्वय शब्द का प्रयोग किया और बाद में व्यतिरेक का।

यहाँ पर कहने का आशय यह है कि यद्यपि रसास्वाद में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की प्रतीति ही कारण होती है तथापि यह स्वसंवेदन सिद्ध ही है कि विशेष प्रकार की श्रुतिवाले शब्दों से जब विभाव इत्यादि का समर्थन होता है तब वे काव्य-रस के विशेष रूप से पोषक होते हैं। यही कारण है कि जब वर्ण श्रवण-गोचर होते हैं उस समय वर्ण तो उपलक्षित हो जाते हैं किन्तु उनका अर्थ शीघ्र ज्ञात नहीं होता। उस समय जिन कोमल या कठोर वर्णों का कानों से प्रत्यक्ष किया जाता है वे बिना ही अर्थ की अपेक्षा किये हुये रसास्वादन के सहकारी हो जाते हैं। अर्थात् यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक स्थान पर अमुक रस है। इसी सहकारिता के अर्थ को प्रकट करने के लिये कारिका में निमित्तसप्तमी का प्रयोग किया गया है—'वर्णपदादिषु'। आशय यह है कि वर्णों से रस-निष्पत्ति नहीं होती, वर्ण तो रस-निष्पत्ति में निमित्त मात्र होते हैं। रसनिष्पत्ति के लिये विभावादिसंयोग की अपेक्षा होती है यह कई बार बतलाया जा चुका है। किन्तु वर्णों का कोमल या कठोर रूप से अपना भी एक स्वभाव होता है जिसका ग्रहण केवल श्रोत्र से ही होता है। वह स्वभाव भी रस के अभिव्यञ्जन को व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार ऐसे गाने को सुनकर जिसमें पद विद्यमान न हो अथवा ढोल इत्यादि वाद्यों के लिये नियमित विशिष्ट प्रकार के जाति और करण घ्राण इत्यादि के अनुकरण को सुनकर यह प्रतीत हो जाता है कि अमुक गान अमुक रस सम्बन्धी है उसी प्रकार अक्षरों के माधुर्य इत्यादि के आधार पर बिना ही अर्थ जाने इतना मालूम पड़ जाता है कि अमुक पद्य अमुक रस प्रवण है। अत एव वर्णों की अभिव्यञ्जकता सर्वथा अक्षुण्ण है।

संगीतशास्त्र का उदाहरण

[ऊपर वर्णो की रसाभिव्यञ्जकता सिद्ध करने के लिये संगीत शास्त्र के कुछ उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ पर अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—वर्ण, रस के अभिव्यञ्जक होते हैं, क्योंकि अर्थ इत्यादि इतर तत्त्व की बिना ही अपेक्षा किये हुये रस-प्रत्यायन करा देते हैं, जैसे अपदगीत ध्वनि या पुष्करवाद्यनियन्त्रित जाति करण घ्राण इत्यादि के अनुकरण शब्द।

व्याप्ति यह होगी—जो तत्त्व अर्थ इत्यादि इतर तत्त्व की बिना ही अपेक्षा किये हुए रस-प्रत्यायन करा देते हैं वे रस के अभिव्यंजक होते हैं। अपदगीत ध्वनि इत्यादि तत्त्व अर्थ इत्यादि इतर तत्त्व की बिना ही अपेक्षा किये हुये रसप्रत्यायन करा देते हैं अतः वे रस के अभिव्यंजक माने जाते हैं, इसी प्रकार वर्ण भी अर्थ इत्यादि इतर तत्त्वों की बिना ही अपेक्षा किये रस का प्रत्यायन करा देते हैं अतः वे भी रसाभिव्यंजक होते हैं।

संगीत शास्त्र की रचना स्वरों के आधार पर हुई है। स्वर की परिभाषा यह है :—

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते॥

अर्थात् 'श्रुति के बाद उत्पन्न होनेवाली अनुरणनात्मक जो स्निग्ध ध्वनि होती है और जो बिना किसी अपेक्षा के स्वतः सुननेवाले के चित्त को अनुरंजित कर देती है उसे स्वर कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि स्वरों का निर्माण श्रुतियों से होता है। श्रुति की परिभाषा यह दी हुई है :—

प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः।
सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा॥

'जब हम पहले किसी शब्द को सुनते हैं तब वह केवल ह्रस्व ही सुनाई देता है। इस श्रुतिगोचर होनेवाली ध्वनि को श्रुति कहते हैं, इसका लक्षण है स्वर का अवयव होना।' एक दूसरे ग्रन्थ में श्रुति का यह लक्षण दिया हुआ है :—

नित्यं गीतोपयोगित्वमभिज्ञेयत्वमप्युत।
लक्ष्ये प्रोक्तं सुपर्याप्तं संगीतश्रुतिलक्षणम्॥

'जो संगीत के लिये नित्य उपयोगी हो और जो प्रतीतिगोचर किये जाने के योग्य हो तथा जिसका निरूपण पर्याप्त रूप में लक्ष्य की दृष्टि से किया गया हो यह संगीत-श्रुति का लक्षण है।'

ऊपर की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रथम श्रुतिगोचर होनेवाली ध्वनि को संगीत में श्रुति कहते हैं। इन श्रुतियों के विभिन्न प्रकार के संयोग से स्वर बनते हैं। श्रुतियाँ तो साधारण ध्वनि हैं, किन्तु जब उनकी अनुरणनात्मक (प्रतिध्वनि रूप) आवृत्ति इस रूप में की जाती है कि उनमें स्निग्धता उत्पन्न हो जाती है तथा श्रोता को अनुरंजित करने की शक्ति आ जाती है तब उसे स्वर कहने लगते हैं। 'स्व' का अर्थ है स्वपद और 'र' का अर्थ है अनुरंजन करना। अर्थात् जब श्रुतियों का विभिन्न प्रकार का संयोग अनुरंजन योग्य बन जाता है तब उसे स्वर कहते हैं। विभिन्न स्वरों के लिये श्रुतियों की विभिन्न संख्या भी नियत है जो इस प्रकार है :—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः।
द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ॥

'षड्ज मध्यम और पञ्चम में चार-चार श्रुतियाँ होती हैं, निषाद और गान्धार में दो-दो तथा ऋषभ और धैवत में तीन-तीन श्रुतियाँ होती हैं।' षड्ज और पञ्चम को छोड़कर अन्य स्वर दो-दो प्रकार के होते हैं—प्राकृत (कोमल) और विकृत (वैकृत)। इसी दृष्टि से लोचनकार ने लिखा है कि वर्गों का भी कोमल कठोरात्मक एक विशेष प्रकार का स्वभाव होता है जो अर्थ की अपेक्षा नहीं करता तथा उसको श्रुति-समय के द्वारा लक्षित किया जा सकता है। ये वर्ण रसास्वादन में सहकारी होते ही हैं। वर्ण संगीतशास्त्र में चार प्रकार के माने जाते हैं—स्थायी, आरोही, अवरोही, और संचारी। आशय यह है कि जब कोई व्यक्ति संगीत स्वरों का ही प्रयोग करता है और उसमें स्पष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं होता उस समय भी काकु और ध्वनि के आश्रय से हर्ष, खेद, शोक, निर्वेद इत्यादि की प्रतीति हो ही जाती है। इसी प्रकार विभिन्न वर्णों के प्रयोग से भी रसाभिव्यक्ति होती है।

लोचनकार ने दूसरे उदाहरण दिये हैं जाति, करण और घ्राण के। जाति संगीत की कोटियों को कहते हैं जिनका विस्तृत विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में आतोद्यविधान के प्रकरण में किया गया है। संगीत में इस प्रकार का क्रम माना जाता है—श्रुतियोंसे स्वर, स्वर से ग्राम और ग्राम से मूर्छनाओं की उत्पत्ति होती है। ग्राम की परिभाषा यह है :—

यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता वसन्ति हि।
तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते ॥

'जैसे अनेक कुटुम्बियों के मिलकर रहने को ग्राम कहते हैं उसी प्रकार स्वरसमूह को ग्राम कहा जाता है।' इनकी संख्या तीन होती है।—

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनाश्चैकविंशति।

एक स्वर से आरम्भ करके क्रमशः सातवें स्वर तक आरोह करने के पश्चात् उसी मार्ग से अवरोह करने को मूर्छना कहते हैं। हर एक ग्राम में हर एक स्वर से आरम्भ करने पर एक ग्राम में सात मूर्छनायें सम्पन्न हो जाती हैं। तीन ग्रामों के आधार पर इन मूर्छनाओं की संख्या २१ मानी जाती है। वादी और संवादी में विभिन्नता होने पर भी एक ही मूर्छना से उत्पन्न रागों में कई लक्षण एक ही प्रकार के होते हैं। उन लक्षणों में न्यासस्वर प्रधान हैं। सप्तस्वरों में किसी भी एक स्वर को न्यास रूप में ग्रहण करनेवाली जाति की उत्पत्ति हो सकती है। जिस जाति में षड्जन्यास स्वर होता है उसका नाम षाड्जी है। इसी प्रकार आर्षभी गान्धारी इत्यादि जातियाँ बन जाती हैं। इनका विस्तृत विवेचन संगीत के ग्रन्थों में किया गया है। जब इनका नियमन वाद्यों के द्वारा होता है तब पद और अर्थ न होते हुये भी रसाभिव्यक्ति हो जाती है।

संगीतज्ञों में आज भरत का जाति-ज्ञापन प्रचलित नहीं है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी मूर्छना-पद्धति ने भारतीय संगीत को निश्चयात्मक रूपसे प्रभावित किया होगा। भरत-वर्णित श्रुति स्वर ग्राम और मूर्छना से जातियों का निकट का सम्बन्ध है। भरत ने १८ जातियों का विवेचन तो किया है किन्तु नाट्यशास्त्र में जाति का स्वरूप तथा उसकी व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या कहीं नहीं दी गई है। मतङ्ग कृत वृहद्देशीय में जाति शब्द की तीन प्रकार की

व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या दी गई है। (१) श्रुति और ग्रहादि के समूह से जो जन्म पाती है वह जाति है। (२) सब रागों के जन्म का जो हेतु है उसे जाति कहते हैं। (३) रस की प्रतीति या जन्म जिसके द्वारा होता है उसे जाति कहते हैं। मूर्छना और जाति में अन्तर यह है कि मूर्छना स्वरसंघ का ढाँचा मात्र होती हैं किन्तु जाति से राग तथा रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिना ही पद पदार्थ की प्रतीति के जाति रसनिष्पत्ति में कारण होती है।

जिस प्रकार वाचिक अभिनय में संगीत का उपयोग होता है उसी प्रकार आंगिक अभिनय में करण और अंगहार का प्रयोग किया जाता है। विभिन्न रसों के अनुकूल अङ्गों की स्थापना करण कहलाती है। इन्हीं करणों से अङ्गहार बनते हैं। इनमें पदसञ्चार हस्त-सञ्चार इत्यादि पर विचार किया जाता है। इस प्रकार नेत्र-सञ्चालन, भ्रूसञ्चालन, कर-व्यवस्था इत्यादि से भावाभिनय किया ही जाता है। वहाँ शब्द न होते हुये भी भावानुभूति हो जाती है। इसी प्रकार पद पदार्थों के अवगमन के अभाव में भी भावानुभूति हो सकती है। यहाँ पर घ्राण का अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं। भरतमुनि ने जहाँ इतर अंगों के अभिनय का विवेचन किया है वहाँ घ्राण के अभिनय का विवेचन नहीं किया। सम्भवतः लोचनकारने घ्राण शब्द से यहाँ पर नासाकर्म की ओर सङ्केत किया होगा। भरतमुनि ने अष्टम अध्याय में नासिका का ६ प्रकार का विनियोग बतलाया है तथा विस्तारपूर्वक इस बात का प्रतिपादन किया है कि निर्वेद औत्सुक्य चिन्ता इत्यादि विभिन्न भावों के अभिनय में नासिका की किस प्रकार की स्थिति होनी चाहिए। वहाँ पर सारांश यही है कि बिना शब्द और अर्थ के भी रसाभिव्यक्ति हो सकती है। अतः वर्णों को रसाभिव्यञ्जक मानने में तो अनुपपत्ति होनी ही नहीं चाहिए। कहीं कहीं घ्राण शब्द के स्थान पर 'प्रभाव' यह पाठ पाया जाता है—'करणप्रभावाद्यनुहार-शब्दवत्'। यह पाठ कुछ अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि इसमें करणों के प्रभावाभिनय का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

विभिन्न वर्णों की रसाभिव्यञ्जकता पर रसगंगाधर तथा वक्रोक्तिजीवित इत्यादि ग्रन्थों में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। वहीं देखना चाहिए।]

(ध्वन्या०)—**पदे चालक्ष्यक्रमस्य द्योतनं यथा—**

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥

अत्र हि ते इत्येतत्पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम्।

(अनु०) और पद में अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का द्योतन जैसे—

'काँपनेवाली तथा भय के कारण स्खलित वस्त्र के छोरवाली और उन विधुर नेत्रों को प्रत्येक दिशा में दौड़ानेवाली (वह वासवदत्ता) क्रूर तथा धुयें के कारण अन्धी अग्नि के द्वारा देखी नहीं गई अपितु अपनी दारुणता के कारण सहसा जला डाली गई।'

यहाँ पर निस्सन्देह 'तें' (उन) यह पद सहृदयों के लिये स्फुटतया रसमय के रूप में अवभासित होता है।

(लो०)—**पदे चेति**। पदे च सतीत्यर्थः। तेन च रसप्रतीतिर्विभावादेरेव। ते विभावादयो यदा विशिष्टेन केनापि पदेनार्प्यमाणा रसचमत्कारविधायिनो भवन्ति तदा पदस्यैवासौ महिमा समर्प्यत इति भावः।

अत्र हीति। वासवदत्तादाहाकर्णनप्रबुद्धशोकनिर्भरस्य वत्सराजस्येदं परिदेवितवचनम्। तत्र च शोको नामेष्टजनविनाशप्रभव इति तस्य जनस्य ये भ्रूक्षेपकटाक्षप्रभृतयः पूर्वं रतिविभावतामवलम्बन्ते स्म त एवात्यन्तविनष्टाः सन्त इदानीं स्मृतिगोचरतया निरपेक्षभावत्वप्राणं करुणरसमुद्दीपयन्तीति स्थितम्। **ते लोचने इति**। तच्छब्दस्तल्लोचनगतस्वसंवेद्याव्यपदेश्यानन्तगुणगणस्मरणाकारद्योतको रसस्यासाधारणनिमित्ततां प्राप्तः। तेन यत्केनचिच्चोदितं परिहृतं च तन्मिथ्यैव। तथा हि चोद्यम्—प्रक्रान्तपरामर्शकस्य तच्छब्दस्य कथमियति सामर्थ्यमिति। उत्तरं च—रसाविष्टोऽत्र परामृष्टेति तदुभयमनुत्थानोपहतम्। यत्र ह्यनूद्दिश्यमानधर्मान्तरसाहित्ययोग्यधर्मयोगित्वं वस्तुनो यच्छब्देनाभिधाय तद्बुद्धिस्थधर्मान्तरसाहित्यं तच्छशब्देन निर्वाच्यते—

यत्रोच्यते—'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धत्व'मिति; तत्र पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शकत्वं तच्छब्दस्य। यत्र पुनर्निमित्तोपनतस्मरणविशेषाकारसूचकत्वं तच्छब्दस्य 'स घट' इत्यादौ यथा तत्र का परामर्शकत्वकथेत्यास्तामलीकपरामर्शकैः पण्डितम्मन्यैः सह विवादेन।

उत्कम्पिनीत्यादिना तदीयभयानुभावोत्प्रेक्षणम्। मयानिर्वाहितप्रतीकारमिति शोकावेशस्य विभावः। ते इति सातिशयविभ्रमैकायतनरूपे अपि लोचने विधुरे कान्दिशीकतया निर्लक्षे क्षिपन्ती कस्त्राता क्वासावार्यपुत्र इति तयोर्लोचनयोस्तादृशी चावस्थेति सुतरां शोकोद्दीपनम्। क्रूरेणेति तस्यायं स्वभाव एव। किं कुरुतां तथापि च धूमेनान्धीकृते द्रष्टुमसमर्थ इति तु स विवेकस्येदृशानुचितकारित्वं सम्भाव्यते, इति स्मर्यमाणं तदीयं सौन्दर्यमिदानीं सातिशयशोकावेशविभावतां प्राप्तमिति। ते शब्दे इति सर्वोऽयमर्थो निर्व्यूढः। एवं तत्र तत्र व्याख्यातव्यम्।

(अनु०) 'और पद में' अर्थात् पद के होने पर। इससे रसप्रतीति विभाव इत्यादि से ही होती है। भाव यह है कि वे विभाव इत्यादि जब किन्हीं विशिष्ट पदों से अर्पण किये जाते हुये रसचमत्कार-विधायक होते हैं तब पद की ही यह महिमा समर्पित की जाती है।

'यहाँ निःसन्देह' यह। वासवदत्ता के दहन के सुनने से प्रबुद्ध शोक से भरे हुये वत्सराज का यह विलाप-वचन है। वहाँ शोक इष्टजन-विनाश से उत्पन्न हुआ है इसलिये उस व्यक्ति के जो भ्रूक्षेप कटाक्ष इत्यादि पहले रतिभाव की विभावता का अवलम्बन लेते थे वे ही अत्यन्त विनष्ट होते हुये इस समय स्मृतिगोचर होने के कारण ऐसे करुण रस को उद्दीप्त करते हैं जिसका प्राण है निरपेक्षभाव, यह स्थिति है। 'वे लोचन' में 'वे' शब्द उन लोचनों में विद्यमान स्वसंवेद्य तथा अवर्णनीय अनन्त गुणगणों के स्मरणाकार के द्योतक होकर रस की असाधारण निमित्तता को प्राप्त हुआ है। इससे जो किसी ने प्रश्न किया और उत्तर दिया वह मिथ्या ही है। वह प्रश्न इस प्रकार है—प्रक्रान्तपरामर्शक तत् शब्द की इतनी शक्ति कैसे ?

और उत्तर—यहाँ पर दर्शक रसाविष्ट है। ये दोनों (प्रश्न और उत्तर) अनुत्थान से ही उपहत हैं। जहाँ वस्तु की बाद में उद्दिष्ट किये जानेवाले दूसरे धर्म के साहित्य के योग्य धर्म की संयुक्तता 'यत्' शब्द के द्वारा कहकर उस बुद्धिस्थ दूसरे धर्म के साहित्य को तत् शब्द के द्वारा कहा जाता है।

जहाँ कहा जाता है—'यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होता है' वहाँ पर तत् शब्द का पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शकत्व हुआ करता है। जहाँ पर तो तत् शब्द का निमित्त से आये हुये आकार-विशेष का सूचकत्व होता है जैसे 'वह घड़ा' इत्यादि में, वहाँ परामर्शकत्व की बात ही क्या ? बस, असत्य परामर्श देनेवाले अपने को पण्डित समझनेवाले लोगों से अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं।

उत्कम्पिनी इत्यादि के द्वारा उसके भय के अनुभाव की उत्प्रेक्षा की गई है। 'मेरे द्वारा जिसके प्रतीकार का निर्वाह नहीं किया जा सका' यह शोकावेग का विभाव है। 'वे' अर्थात् सातिशय विलास का जो एकमात्र आयतन है इस प्रकार के रूपवाले भी विधुर नेत्रों को भयातिरेक से बिना ही लक्ष्य के इधर-उधर डालती हुई कि 'कौन रक्षक है' 'कहाँ आर्यपुत्र हैं' उन नेत्रों की वैसी अवस्था नितान्त रूप में शोक का उद्दीपन है। 'क्रूर के द्वारा'। उसका यह स्वभाव ही है। क्या किया जावे ? तथापि धूम से अन्धा किया हुआ, देखने में असमर्थ, विवेकशील के इस प्रकार के अनुचितकारित्व की सम्भावना नहीं की जा सकती। इस प्रकार स्मरण किया हुआ उसका सौन्दर्य इस समय पर शोकावेश को सातिशयविभावता को प्राप्त हुआ है। 'वे' इस शब्द के होने पर यह सारा अर्थ पूरा हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न स्थलों पर व्याख्या कर ली जानी चाहिये।

पद से असंल्लक्षक्रमव्ययङ्ग्य का द्योतन

तारावती—पद में भी अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का द्योतन होता है। यहाँ पर 'पद में' यह सप्तमी विभक्ति भावलक्षणा सति सप्तमी है। इसका अर्थ होता है 'पद के होने पर'। इससे यह सिद्ध होता है कि रस की प्रतीति विभाव इत्यादि से ही होती है। वे विभाव इत्यादि जब किसी विशिष्ट पद के द्वारा समर्पित किये जाते हैं और इस प्रकार रस के चमत्कारविधायक बन जाते हैं तब रस की चमत्कृति का श्रेय उस पद को ही दिया जाता है और पद की ही यह महिमा मानी जाती है। अब पद के द्वारा असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के द्योतन का उदाहरण लीजिये—

महाराज उदयन शिकार खेलने गये थे। मन्त्रियों ने राजनीति की आवश्यकता के अनुसार वासवदत्ता को छिपा दिया और लावाणक नगरमें आग लगा दी तथा महाराज के लौटने पर उन्हें यह समाचार दे दिया कि वासवदत्ता जलकर मर गई। यह सुनकर महाराज उदयन विलाप करते हुये कह रहे हैं—

"जिस समय तुम्हें आग ने जलाया उस समय तुम काँप रही होगी, तुम्हारा अञ्चल भय के कारण नीचे सरक गया होगा (अस्त-व्यस्त हो गया होगा) तुम्हारे वे नेत्र

व्याकुल हो गये होंगे और उनको तुम चारों ओर (सहायता के लिये या मेरे दर्शन के लिये) दौड़ा रही होगी। आग अत्यन्त क्रूर थी। उसने अपनी दारुणता के साथ तुम्हें जला डाला वह निःसन्देह धुयें के कारण अन्धी हो गई थी जिससे उसने तुम्हें देख नहीं पाया। (नहीं तो तुम्हारे सौन्दर्य पर रीझ कर वह तुम्हें कदापि न जलाती।)"

वासवदत्ता के दाह को सुनकर वत्सराज का शोक एकदम जाग्रत हो गया है और उनका हृदय उस शोक से भरा हुआ है। उस समय विलाप करते हुये वे ये शब्द कह रहे हैं। उसमें शोक इष्टजन (वासवदत्ता) के विनाश से उत्पन्न हुआ है। अतएव उस वासवदत्ता के जो भ्रूक्षेप कटाक्ष इत्यादि पहले सम्भोगशृङ्गार की विभावरूपता (उद्दीपनरूपता) को धारण करते थे वे ही अब अत्यन्त विनष्ट हो गये हैं और इस समय पर स्मृतिगोचर होने के कारण उस करुण रस का उद्दीपन कर रहे हैं जिस करुण रस का प्राण है निरपेक्षभावत्व अर्थात् अनुभूत वस्तु की प्राप्ति की आशा न रहना। यही यहाँ पर स्थिति है। यहाँ पर 'ते लोचने' (वे नेत्र) में 'वे' शब्द लोचनगत गुणगणों के स्मरण स्वरूप का अभिव्यञ्जक है।

पद के द्वारा द्योतकता पर विवाद

जिनकी रमणीयता केवल स्वसंवेदन सिद्ध ही हो सकती है उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार 'वे' शब्द रसका असाधारण निमित्त बन गया है। यहाँ पर किसी ने जो प्रश्नोत्तर लिखे हैं वे मिथ्या ही हैं। प्रश्न इस प्रकार है—(प्रश्न) 'वह' सर्वनाम अथवा सङ्केतवाचक विशेष प्रसिद्धि का परामर्शक होता है। उसमें इतनी शक्ति कहाँ से आ गई कि वह इतने बड़े अर्थ को प्रकट कर सके? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है (उत्तर) यहाँ पर 'वे लोचन' में 'वे' इस सङ्केतवाचक विशेषण का प्रयोग वक्ता ने लोचन के गुणगणों को अपनी बुद्धि में रखकर रसावेश के साथ किया है और श्रोता को भी उसकी प्रतिपत्ति उसी रूप में होती है। अत एव यहाँ पर प्रसिद्धि का परामर्श साधारण रूप में नहीं होता अपितु रसावेश के साथ होता है। ये दोनों प्रश्नोत्तर असङ्गत हैं। कारण यह है न तो यह प्रश्न ही उठता है और न इसका उत्तर ही समीचीन है। 'वह' शब्द प्रसिद्ध या प्रक्रान्त का परामर्शक वहीं पर होता है जहाँ पर पहले 'जो' शब्द के द्वारा किसी वस्तु में किसी ऐसे धर्म का योग होना बतलाया जा चुका हो जो कि बाद में निर्दिष्ट किये जानेवाले किसी दूसरे धर्म के साथ रहने की योग्यता रखता हो और बाद में 'वह' (तत्) शब्द के द्वारा उस बुद्धिस्थ दूसरे धर्म के साथ का निर्वचन कर दिया जावे। जैसे 'जो पुरुष विद्वान् है वह पूज्य है' इस वाक्य में पहले पुरुष के अन्दर विद्वत्त्व धर्म का योग बतलाया गया है। इस विद्वत्त्व धर्म में एक दूसरे बुद्धिस्थ धर्म का निर्वचन भी कर दिया गया है। ऐसे ही स्थान पर 'तत्' शब्द प्रसिद्ध या प्रक्रान्त का परामर्शक होता है। जहाँ यह कहा जाता है कि यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध हुआ करता है' वहीं पर तत् शब्द पूर्व प्रक्रान्त का परामर्शक होता है। इसके प्रतिकूल जहाँ पर तत् शब्द किसी निमित्तवश प्राप्त हुये स्मरण के द्वारा किसी विशेष आकार का सूचक होता है जैसे 'वह घड़ा' इत्यादि में, वहाँ पर तत् शब्द के प्रक्रान्तपरामर्शकत्व की बात ही कैसे उठ सकती है? बस इतना पर्याप्त है, मैं उन पण्डितंमन्यों से अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं समझता, जो झूठा परामर्श दिया करते हैं।

'काँपनेवाली' इस विशेषण से वासवदत्ता के भय के अनुभाव की कल्पना की गई है। 'मैं उस भय का प्रतीकार नहीं कर सका' इसीलिये यह उनके शोकावेग का उद्दीपक है। 'वे नेत्र' में 'वे' का अर्थ है कि जिन नेत्रों में विलास अत्यधिक मात्रा में निवास किया करता था, असहाय होकर वे भी व्याकुल हो गये और उस समय वे नेत्र अत्यन्त भय के कारण चारों ओर बिना ही लक्ष्य के इसलिए पड़ रहे थे कि 'कौन हमारा रक्षक आ जावे' 'आर्यपुत्र कहाँ मिल जावें'। नेत्रों की इस प्रकार की दुर्दशा शोक को उद्दीप्त करती है। क्रूर होना तो अग्नि का स्वभाव ही है, इस विषय में किया ही क्या जा सकता है। किन्तु कोई भी सहृदय व्यक्ति इस प्रकार के सौन्दर्य को जान-बूझकर नष्ट नहीं कर सकता था। अग्निदेव ने उसे इसीलिए नष्ट कर दिया कि धुयें के कारण उसकी आँखें अन्धी हो गई थीं। यदि उसने वासवदत्ता का सौन्दर्य देख पाया होता तो ऐसा अनुचित कार्य करने की सम्भावना उससे कभी नहीं हो सकती थी। इस प्रकार यहाँ पर वासवदत्ता के सौन्दर्य का स्मरण शोकावेश के आधिक्य को प्रकट करते हुये शोक का उद्दीपन विभाव बन गया है। यह सारा अर्थ 'वे' इस शब्द के होने पर ही पुष्ट होता है। इसी प्रकार की व्याख्या विभिन्न स्थानों पर करनी चाहिए।

(ध्वन्या०)—पदावयवेन द्योतनं यथा—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणाम्
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य बाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः॥

इत्यत्र त्रिभाग-शब्दः।

(अनु०) पदावयव के द्वारा द्योतन जैसे :—गुरुओं के सन्निकट लज्जा के योग से नीचे को मुख किये हुये, कुचकलशों में कम्पन उत्पन्न करनेवाले मन्यु को अन्दर ही रोके हुये उसने जो कि आँसू गिराकर चञ्चल हरिणी के समान आकर्षक नेत्र के तिहाई भाग को मेरी ओर गड़ा दिया, तो क्या उसने यह नहीं कह दिया कि रुको (मत जाओ)।

यहाँ पर त्रिभाग शब्द।

(लोचन)—**त्रिभागशब्द इति।** गुरुजनमवधीर्यापि सा मां यथा तथापि साभिलाषमन्युदैन्यगर्वमन्थरं विलोकितवतीत्येवं स्मरणेन परस्परहेतुकत्वप्राणप्रवासविप्रलम्भोद्दीपनं त्रिभागशब्दसन्निधौ स्फुटं भातीति।

(अनु०) 'त्रिभाग शब्द'। गुरुजनों की अवधीरणा करके भी उसने मुझे जैसे तैसे, अभिलाष, मन्यु, दीनता और गर्व के साथ मन्थर दृष्टि से देखा इस प्रकार स्मरण करने से परस्पर हेतुता ही जिसका प्राण है इस प्रकार के प्रवास-विप्रलम्भ का उद्दीपन त्रिभाग शब्द के निकट स्फुट प्रतीत होता है।

पदांश के द्वारा असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का द्योतन

पदांश के द्वारा असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रस) के ध्वनित होने का उदाहरण—

कोई नायक प्रवास के लिए प्रस्तुत था। उस समय नायिका ने उसकी ओर देखकर जो चेष्टायें की हैं उनका वर्णन वह अपने अन्तरंग मित्र से कर रहा है—

'एक तो उसका स्वभाव ही लज्जाशील है दूसरे वह उस समय गुरुजनों के पास बैठी थी। मेरे प्रस्थान के विचार से उसके हृदय में मन्यु की एक आँधी सी उठ रही थी जिससे उसके श्वास-प्रश्वास विशेष तीव्र होकर उसके कुचकलशों को कँपा देते थे। वह अपने उस मन्यु को अपने अन्दर ही रोके हुये थी और मुझे रोकने के लिए न कुछ कह सकती थी और न मेरे प्रस्थानजन्य शोक से भरे हुये रोष को प्रकट ही कर सकती थी। आँसू गिरा रही थी; उसके नेत्र चञ्चल हरिणी के समान बड़े ही आकर्षक मालूम पड़ रहे थे। उन नेत्रों के एक तिहाई भाग को उसने मेरी ओर ऐसा गड़ा दिया कि उसने मानों यह कह ही दिया कि तुम मत जाओ।'

यहाँ पर 'चकितहरिणी-हारिनेत्रत्रिभाग' एक पद है। उसका एक अंश है त्रिभाग शब्द। इससे सिद्ध होता है कि उसने पूरी निगाह से नायक की ओर नहीं देखा अपितु नेत्र के तृतीय भाग से तिरछी चितवन के द्वारा देखा। इस त्रिभाग शब्द से अभिलाषा, मन्यु, दैन्य और गर्व अभिव्यक्त होता है। 'गुरुजनों की अवधीरणा करके भी उसने मेरी ओर जैसे तैसे अभिलाषा मन्यु दैन्य और गर्व के कारण मन्थर दृष्टि से देखा' इस प्रकार स्मरण करने से त्रिभाग शब्द की निकटता में प्रवास विप्रलम्भ का उद्दीपन स्फुट रूप में प्रतीत होता है। इस प्रवास-विप्रलम्भ का प्राण है परस्पर आस्थाबन्ध। नायिका का प्रेममय आस्थाबन्ध नेत्र के त्रिभाग से देखने के कारण अभिव्यक्त होता है और नायक का आस्थाबन्ध उस चितवन के स्मरण से व्यक्त होता है। इस प्रकार यहाँ पर विप्रलम्भ श्रृङ्गार की ध्वनि में त्रिभाग यह पदांश ही निमित्त है।

(ध्वन्या०)—वाक्यरूपश्चालक्ष्यक्रमध्वनिः शुद्धोऽलङ्कारसङ्कीर्णश्चेति द्विधा मतः। तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये—'कृतककुपितैः' इत्यादिश्लोकः। एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।

(अनु०) वाक्यरूप असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि दो प्रकार की मानी गई है शुद्ध और अलङ्कारसङ्कीर्ण। उनमें शुद्ध का उदाहरण जैसे रामाभ्युदय में 'कृतककुपितैः' इत्यादि श्लोक। यह वाक्य निस्सन्देह परिपोष को प्राप्त परस्पर अनुराग को प्रदर्शित करते हुये चारों ओर से रसतत्त्व को प्रकाशित करता है।

(लो०)—**वाक्यरूपश्चेति**। प्रथमानिर्देशेनाव्यतिरेकनिर्देशस्यायमभिप्रायः। वर्णपदतद्भागादिषु सत्स्वेवालक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो निर्भासमानोऽपि समस्तकाव्यव्यापक एव निर्भासते, विभावादिसंयोगप्राणत्वात्। तेन वर्णादीनां निमित्तत्वमात्रमेव। वाक्यं तु ध्वनेरलक्ष्यक्रमस्य न निमित्ततामात्रेण वर्णवदुपकारि, किन्तु समग्रविभावादिप्रतिपत्ति-

व्यापृतत्वात् रसादिमयमेव तन्निर्भासत इति वाक्य इत्येतत्कारिकायां न निमित्तसप्तमीमात्रम् अपि त्वनन्यत्र भावविषयार्थमपीति।

शुद्ध इत्यर्थालङ्कारेण केनाप्यसंमिश्रः।

कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै—
र्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन्दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः॥

अत्र तथा तैस्तैः प्रकारैर्मात्रा धृतमपीत्यनुरागपरवशत्वेन गुरुवचनोल्लङ्घनमपि त्वया कृतमिति। प्रिये प्रिय इति परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानात्मको रतिस्थायिभाव उक्तः। नवजलधरेत्यसोढपूर्वप्रावृषेण्यजलदालोकनं विप्रलम्भोद्दीपनविभावत्वेनोक्तम्। जीवत्येवेति सापेक्षभावता एवकारेण करुणावकाशनिराकरणायोक्ता। **सर्वत एवेति।** नात्रान्यतमस्य पदस्याधिकं किञ्चिद्रसव्यक्तिहेतुत्वमित्यर्थः। **रसतत्त्वमिति।** विप्रलम्भश्रृङ्गारात्मतत्त्वम्।

(अनु०) और वाक्यरूप यहाँ प्रथमा निर्देश के द्वारा अभेदबोध का यह अभिप्राय है—वर्ण, पद और पदांश के होते हुये ही अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य निर्भासित होता हुआ भी समस्त काव्यव्यापक ही शोभित होता है क्योंकि उसका प्राण विभाव इत्यादि का संयोग है। इससे वर्ण इत्यादि की निमित्तत्वमात्रता ही है। वाक्य तो वर्ण इत्यादि के समान अलक्ष्यक्रम ध्वनि का केवल निमित्तता से ही उपकार करनेवाला नहीं होता। किन्तु समग्र विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति में लगे होने से वह रसादिमय ही शोभित होता है। इस प्रकार कारिका में 'वाक्ये' यह निमित्तसप्तमी ही नहीं है अपितु अन्यत्र सम्भव न होना रूप विषय के अर्थवाला भी है।

शुद्ध का अर्थ है किसी अर्थालङ्कार से असंमिश्र।

'बनाबटी कोपों से, आँसुओं से और दैन्य-पूर्ण अवलोकनों से माता द्वारा रोकी हुई भी जिसकी प्रीति से वन को भी गई कठिन हृदयवाला वह तुम्हारा प्रिय तुम्हारे वियोग में नव जलधरों से श्याम दिशाओं को देखते हुये जीवित ही है।'

यहाँ पर उस प्रकार विभिन्न उपायों से माता द्वारा रोकी हुई भी अनुराग की परवशता से तुमने गुरुवचन का उल्लंघन भी किया। 'हे प्रिये।' 'हे प्रिय' इससे परस्पर जीवितसर्वस्वाभिमानात्मक रतिस्थायिभाव कहा गया है। 'नवजलधर·····' से पहले न सहे हुये मेघ का अवलोकन विप्रलम्भ के उद्दीपन विभाव के रूप में कहा गया है। 'जीवित ही है' में सापेक्षभावता (एक दूसरे की अपेक्षा करते हुये जीवित रहने की सत्ता) 'ही' के प्रयोग से करुण रस के अवकाश के निराकरण के लिए कही गई है। 'चारों ओर से ही' अर्थात् यहाँ पर किसी एक पद का रसाभिव्यक्ति में कुछ भी अधिक हेतुत्व नहीं है। 'रसतत्त्व' अर्थात् विप्रलम्भश्रृङ्गारात्मकत्व।

'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनि:' के समानाधिकरण्य पर विचार

तारावती—'वाक्य रूप असंल्लक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि दो प्रकार की होती है—शुद्ध और अलंकारसंकीर्ण।' वृत्तिकार के इस वाक्य में 'वाक्यरूप' में भी प्रथमा का निर्देश किया गया है। 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिः' इसमें भी प्रथमा निर्देश किया गया है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों में सामानाधिकरण्य है। 'दो प्रातिपदिकार्थों का अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं होता' इस नियम के अनुसार 'वाक्यरूप' तथा 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' इन दोनों शब्दों में अभेद-सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। इस प्रथमा निर्देश तथा अभेद-सम्बन्ध के निर्देश का अभिप्राय यह है—यद्यपि वर्ण, पद और पद का भाग इनके होने पर ही अलक्ष्य-क्रमव्यंग निर्भासित हुआ करता है तथापि उसका निर्भास समस्त वाक्य में व्यापक रूप में ही होता है। कारण यह है कि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य का प्राण है विभाव इत्यादि का संयोग। अत एव रसनिष्पत्ति समस्त काव्य में होती है; वर्ण इत्यादि निमित्तमात्र हो जाते हैं। किन्तु वाक्य के विषय में यह बात नहीं है। वाक्य वर्ण इत्यादि के समान अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का उपकारक केवल निमित्तमात्र होकर के ही नहीं होता अपितु समग्र विभावादि की प्रतिपत्ति में लगा रहता है। अत एव वाक्य रसादिमय ही निर्भासित होता है। (आशय यह है कि वर्ण पद इत्यादि रस की पूरी सामग्री नहीं जुटा पाते। रस की पूरी सामग्री तो काव्य के दूसरे भागों से प्राप्त होती है वर्ण इत्यादि उस अभिव्यक्त रस में एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। इसके प्रतिकूल जहाँ वाक्य व्यञ्जक होता है वहाँ रस की सामग्री अन्यत्र से नहीं आती अपितु वाक्य ही सारी सामग्री जुटा देता है। इस प्रकार वाक्य अलक्ष्यक्रमव्यंग्य से अभिन्न होता है। यही प्रथमा तथा अभेद निर्देश का आशय है।) कारिका में 'वर्णपदादिषु' की सप्तमी को निमित्तसप्तमी बतलाया था किन्तु 'वाक्य' इसमें केवल निमित्तसप्तमी नहीं है अपितु इसका आशय ऐसे विषय से भी है जो अन्यत्र सम्भव न हो। (अर्थात् 'वाक्य' इस शब्द में सप्तमी निमित्तसप्तमी नहीं है अपितु विषयसप्तमी है।)

वाक्यरूप शुद्ध असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि

(अ) शुद्ध का अर्थ है किसी भी अर्थालङ्कार से न मिला हुआ। इसका उदाहरण जैसे रामाभ्युदय काव्य का यह पद्य—

'बनावटी कोपों के द्वारा, अश्रुजलों के द्वारा और दैन्यपूर्ण अवलोकनों के द्वारा माता के द्वारा रोकी हुई भी जिसके प्रेम से तुम वन को चली आई थी, हे प्रिये! वही तुम्हारा कठोर हृदयवाला प्रियतम इस समय नवीन जलधरों के कारण श्यामायमान दिशाओं को देखते हुए भी तुम्हारे अभाव में भी जीवन धारण किये हुये है।'

'यद्यपि विभिन्न उपायों से माता ने वन जाने से रोका तथापि तुम न मानी और मेरे साथ वन को चली ही आई। इस प्रकार तुमने अनुरागपरवशता में गुरुवचनों का उल्लंघन भी कर दिया। अत एव ऐसी प्रेमिका के वियोग में नायक को प्राण छोड़ देने चाहिए थे किन्तु नायक नवजलधररूप उद्दीपनों के होते हुये भी सब कुछ सह रहा है और अपने प्राण नहीं छोड़ता। इस प्रकार यह वाक्य नायक-नायिका के प्रेम की परिपुष्ट अवस्था को दिखलाते हुये

सभी ओर से पूर्णरूप से विप्रलम्भ श्रृंगार को प्रकट करता है। इस ध्वनि में किसी एक शब्द की प्रधानता नहीं है। प्रिय शब्द में एक दूसरे के जीवन सर्वस्व होने का अभिमान छिपा ही रहता है। अत एव 'प्रिये' इस सम्बोधन तथा 'प्रिय' इस प्रथमान्त से रति स्थायीभाव प्रकट किया गया है। नवीन जलधर इत्यादि शब्दों का आशय यह है कि मेघ उठ रहे हैं जिनका सहन कर सकना सर्वथा असम्भव है और जिनको पहले कभी सहन किया भी नहीं गया है। यह विप्रलम्भ श्रृंगार का उद्दीपन विभाव है। 'जीवन धारण किये हुए ही है' यह सापेक्ष-भाव का शब्द है जिससे नायिका के भी जीवित होने की सम्भावना पाई जाती है। अतएव आलम्बन वच्छेद न होने के कारण यहाँ पर करुण रस को अवकाश नहीं रहता किन्तु विप्रलम्भ श्रृङ्गार ही पुष्ट हो जाता है।

(ध्वन्या०)—अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा—'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि श्लोकः। अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यञ्जकानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरामभिव्यज्यते।

(अनु०) अलङ्कारान्तरसङ्कीर्ण जैसे 'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि श्लोक। यहाँ पर व्यंजक के बतलाये हुये लक्षणों का अनुगमन करनेवाले रूपक के द्वारा उपस्कृत होकर रस ठीक रूप में अभिव्यक्त होता है।

(लो०)—स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिः
यदपि विधृताः तिष्ठत्यारादपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखाः
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः॥

रूपकेणेति। स्मर एव नवनदीपूरः प्रावृषेण्यप्रवाहः सरभसमेव प्रवृद्धत्वात् तेनोढाः परस्परसाम्मुख्यमबुद्धिपूर्वमेव नीताः अनन्तरगुरवः श्वश्रूप्रभृतय एव सेतवः इच्छाप्रसररोधकत्वात्। अथ च गुरवोऽलङ्घ्याः सेतवस्तैः विधृता प्रतिहतेच्छाः। अत एवापूर्णमनोरथास्तिष्ठन्ति। तथापि परस्परोन्मुखतालक्षणेनान्योन्यतादात्म्येन स्वदेहे सकलवृत्तिनिरोधाल्लिखितप्रायैरङ्गैर्नयनान्येव नलिनीनालानि तैरानीतं रसं परस्पराभिलाषलक्षणमास्वादयन्ति परस्पराभिलाषात्मकदृष्टिच्छटामिश्रीकारयुक्त्यापि कालमतिवाहयन्तीति।

ननु नात्र रूपकं निर्व्यूढं हंसचक्रवाकादिरूपेण नायकयुगलस्यारूपितत्वात्। ते हि हंसाद्याः एकनलिनीनालानीतसलिलपानक्रीडादिषूचिता इत्याशङ्क्याह—**यथोक्तव्यञ्जकेति।** उक्तं हि पूर्वं 'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादौ 'नातिनिर्वहणैषिता' इति। **प्रसाधित इति।** विभावादिभूषणद्वारेण रसोऽपि प्रसाधित इत्यर्थः॥३, ४॥

(अनु०) 'कामदेवरूपी नदी के प्रवाह से लाये हुए फिर भी जो कि गुरुरूपी सेतु के द्वारा विशेषरूप से रोके हुए अत एव निकट ही अपूर्णमनोरथ वाले बैठे हुए हैं, फिर भी लिखे हुए जैसे अङ्गों से एक दूसरे की ओर उन्मुख प्यारे व्यक्ति नेत्रकमलिनी की नाल से लाये हुए रस का पान कर रहे हैं।'

'रूपक के द्वारा' कामदेव ही है नवीन नदी का पूर अर्थात् वर्षाकाल का प्रवाह, सहसा बढ़े होने के कारण उसके द्वारा बहाकर लाये हुए अर्थात् बिना ही बुद्धि के एक दूसरे की सम्मु-

खता को प्राप्त किये हुए। बाद में गुरु अर्थात् सास इत्यादि ही सेतु हैं क्योंकि इच्छा के प्रसार को रोकने वाले हैं। और भी गुरु अर्थात् अलंघ्य सेतु उनके द्वारा रोके हुए अर्थात् प्रतिहत इच्छावाले; अत एव अपूर्ण मनोरथवाले स्थित हैं। तथापि परस्पर उन्मुखतावाले एक दूसरे के तादात्म्य से अपने शरीर में समस्तवृत्तियों के निरोध से लिखितप्राय अङ्गों से नयन ही हैं कमलिनी नाल, उनके द्वारा लाये हुए परस्पर अभिलाष लक्षणवाले रस को आस्वादित कर रहे हैं—परस्पर अभिलाषात्मक दृष्टिछटाओं के मिलाने की युक्ति से कालयापन कर रहे हैं।

(प्रश्न) यहाँ पर रूपक पूरा नहीं किया गया है क्योंकि नायक-युग्म का हंस चक्रवाक इत्यादि रूप में आरोप नहीं किया गया है। निःसन्देह वे हंस इत्यादि एक कमलिनीनाल से लाये हुए जलपान की क्रीडा में अभ्यस्त हैं यह शङ्का करके (उत्तर) देते हैं—'यथोक्त व्यंजक' यह। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इत्यादि में पहले कहा गया था कि अत्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं होनी चाहिए। 'प्रसाधित' यह। अर्थात् विभाव इत्यादि भूषण के द्वारा रस भी विभूषित किया गया है ॥३, ४॥

अलंकारसंकीर्ण वाक्यरूप असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि

तारावती—(आ) अलङ्कारान्तरसङ्कीर्ण वाक्य रूप असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का उदाहरण—

'कामदेवरूपी नवीन नदी के प्रवाह के द्वारा बहाकर लाये हुए, गुरुरूपी सेतु के द्वारा रोके हुए अपूर्ण मनोरथवाले जो प्रेमीजन दुःख के साथ निकट ही बैठे हुए हैं और जो लिखे हुए से अङ्गों के द्वारा एक दूसरे की ओर उन्मुख प्रतीत हो रहे हैं वे नयनरूपी नलिनी की नाल से लाये हुए रस का पान कर रहे हैं।'

आशय यह है कि यद्यपि उनको सहवास-सुख प्राप्त नहीं हो रहा है तथापि वे प्रेमीजन परस्पर प्रेमपूर्ण अवलोकन के द्वारा ही अपना समय बिता रहे हैं।

यहाँ पर कामदेव पर नवीन नदी की धारा का आरोप किया गया है, गुरुजनों पर सेतु का और नेत्रों पर कमलिनी नाल का आरोप किया गया है। अतः यह रूपक अलङ्कार है। इसके द्वारा प्रसाधित होकर रस भली भाँति अभिव्यक्त होता है।

कामदेव को नवीन-नदीपूर कहा गया है नदीपूर का अर्थ है वर्षा का प्रथम प्रवाह। जब वर्षा का प्रथम प्रवाह आता है तब क्योंकि वह एकदम बढ़ा होता है अतः तृणलता इत्यादि जिस किसी वस्तु को पाता है बलात् बहाये लिए चला जाता है। इसी प्रकार कामदेव के इस नवीन प्रवाह में भी प्रेमीजन बलात् बहते हुए चले गये हैं, उनमें एक दूसरे की ओर प्रवृत्ति बुद्धिपूर्वक उत्पन्न नहीं हुई है। बाद में जैसे धारा के साथ बहनेवाले तृण इत्यादि को कोई सेतु बीच में पड़कर रोक देता है और आगे नहीं बढ़ने देता उसी प्रकार सास इत्यादि गुरुजन सेतु हैं क्योंकि वे इच्छा के प्रसार को रोकनेवाले हैं। अथवा 'गुरुसेतु' का अर्थ बड़े सेतु भी किया जा सकता है जिनका उल्लंघन करना अशक्य है। उनके द्वारा रोके हुए हैं अर्थात्

उनकी इच्छाओं को प्रतिहत कर दिया गया है इसीलिए वे अपूर्ण मनोरथ होकर बैठे हुए हैं।

इससे ज्ञात होता है कि उनमें एक दूसरे की एकरूपता उत्पन्न हो गई है। देह की सारी वृत्ति निरुद्ध हो गई है यह इस बात से ज्ञात होता है कि उनके अङ्ग चित्र लिखे हुए के समान बिल्कुल निरुद्ध हो गये हैं। उनके नेत्र ही कमलिनी की नाल हैं। उनके द्वारा लाये हुए परस्पर अभिलाषापूर्ण दृष्टिच्छटारूपी रस का आस्वाद ले रहे हैं। आशय यह है कि अपनी अनुरागपूर्ण दृष्टि की छटा के मिश्रण की युक्ति से ही अपना समय बिता रहे हैं।

(प्रश्न) यहाँ पर रूपक निर्वहण (पूर्णता) को प्राप्त नहीं हुआ है क्योंकि नायक और नायिका पर हंसमिथुन चक्रवाक इत्यादि आरोप नहीं किया गया है। निःसंदेह वे हंस इत्यादि एक कमलिनी की नाल से लाये हुए जलपान की क्रीड़ा इत्यादि में अभ्यस्त होते ही हैं। इस प्रकार नायक और नायिका पर हंसमिथुन का बिना आरोप किये रूपक में पूर्णता किस प्रकार आसकती है ? बिना पूर्णता के रूपक रस का परिपोषक और अलङ्कारक किस प्रकार हो सकता है ? (उत्तर) यह 'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादि कारिकाओं में रस में अलङ्कार प्रयोग की प्रक्रिया पर विचार करने के प्रकरण में पहले ही बतलाया जा चुका है कि वही अलङ्कार रस का पोषक होता है जिसके अत्यन्त निर्वहण की ओर कवि का ध्यान न हो। (नहीं तो अलङ्कार प्रधान हो जाता है और रस दब जाता है।) इसी बात को प्रकट करने के लिए वृत्तिकार ने लिखा है कि व्यंजक अलङ्कार की बतलाई हुई प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए यहाँ रूपक रस का पोषक हो रहा है। रूपक के द्वारा रस प्रसाधित किया गया है, कहने का आशय यह है कि रूपक विभाव इत्यादि को आभूषित करते हुए रस का भी आभूषित करनेवाला बन गया है॥३, ४॥

(ध्वन्या०)—**अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः सङ्घटनायां भासते ध्वनिरित्युक्तं तत्र सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते—**

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥५॥

कैश्चित्—

(अनु०) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि संघटना में भासित होती है। यह कहा गया है। उसमें संघटना स्वरूप का ही पहले निरूपण किया जा रहा है—

'समास-रहित, मध्यम समास से भूषित तथा दीर्घ समासवाली तीन प्रकार की संघटना बतलाई जाती है॥५॥'

कुछ लोगों के द्वारा

(लो०)—संघटनायामिति भावे प्रत्ययः, वर्णादिवच्च निमित्तमात्रे सप्तमी। उक्तमिति निरूप्यत इति गुणेभ्यो विविक्ततया विचार्यत इति यावत्।

(अनु०) 'संघटना में' यह भाव में प्रत्यय है, वर्ण इत्यादि के समान केवल निमित्त में सप्तमी है। 'कहा गया है' अर्थात् कारिका में। 'निरूपित किया जाता है' अर्थात् गुणों से पृथक् रूप में विचार किया जाता है।

संघटना द्वारा रस के ध्वनित होने का उपक्रम

तारावती—दूसरी कारिका में कहा गया था कि 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि संघटना में भासित होती है।' इस पर विचार करने के पहले कि संघटना किस प्रकार रस को अभिव्यक्त करती है, संघटना के स्वरूप पर प्रकाश डाल लेना उचित प्रतीत होता है। संघटना शब्द में सम् उपसर्ग 'घट' धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है। यह भावार्थक प्रत्यय है। जिस प्रकार वर्ण इत्यादि में निमित्तसप्तमी मानकर व्याख्या की गई थी उसी प्रकार 'संघटनायाम्' में भी निमित्त सप्तमी ही है। अर्थात् संघटना भी वर्ण इत्यादि के समान रस इत्यादि की अभिव्यंजना में निमित्त ही होती है। 'कहा गया था' का आशय है द्वितीय कारिका में कहा गया था कि संघटना भी अभिव्यंजक होती है। 'निरूपण किया जा रहा है' कहने का आशय यह है कि यह विचार किया जा रहा है कि गुणों से संघटना में क्या भेद होता है?

रीतियों का संक्षिप्त दिग्दर्शन

[यहाँ पर आनन्दवर्धन ने संघटना शब्द का प्रयोग रीति के अर्थ में किया है। अब यह विचार उठाया जा रहा है कि संघटना या रीति किस प्रकार रस के अभिव्यंजन में सहायक होती है? रीति सम्प्रदाय का विस्तृत परिचय तृतीय उद्योत के अन्त में टिप्पणी के रूप में दिया जावेगा। यहाँ पर आवश्यकतानुसार संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। वैसे तो शैली व्यक्तिसापेक्षिणी होती है और प्रत्येक कलाकार के अनुसार इसमें कुछ न कुछ विशेषता अवश्य रहती है तथापि एक प्रदेश के व्यक्तियों में कुछ न कुछ साम्य रहता ही है। यह बात केवल काव्यशैली के क्षेत्र में ही नहीं लागू है अपितु मानव-साधना के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी सत्ता पाई जाती है। इसी आधार पर हम कहते हैं कि पंजाबी लोगों की अमुक प्रथा है, बंगालियों की अमुक परम्परा है; दाक्षिणात्यों की विचारधारा इस प्रकार होती है, अंग्रेज लोग बीर होते हैं इत्यादि। यदि इसी प्रकार देश-भेद के आधार पर काव्यशैलियों की व्याख्या की जावे तो देश-भेद की अनन्तता के आधार पर काव्यशैलियां भी असीमित हो जावेंगी। किन्तु विभिन्न देशों की विभिन्न परम्पराओं में भी साम्य के बीज खोजे जा सकते हैं और इसी आधार पर उनका एक नामकरण कर दिया जाता है।

सर्व प्रथम काव्यशैलियों का विचार दण्डी ने किया। उन्होंने समस्त काव्यक्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर दिया एक तो विदर्भ का मार्ग और दूसरा गौड या बंगाल का मार्ग। शैली के लिए उन्होंने प्रयोग भी मार्ग शब्द का ही किया। दण्डी ने शैली के अन्दर केवल वर्णविन्यास पर ही विचार नहीं किया अपितु प्रत्येक क्षेत्र में दोनों शैलियों का अन्तर दिखलाया। इसके बाद देश-भेद के आधार पर रीतियों का विचार आचार्य वामन ने किया। उन्होंने ही सबसे पहले रीति शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने दण्डी के द्विविध मार्गों में एक तीसरा और जोड़कर रीतियों की संख्या तीन कर दी—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। वामन ने गुणात्मक पदरचना का नाम रीति रखकर गुण और रीति दोनों के सम्बन्ध की ओर इङ्गित किया और विभिन्न रीतियों की परिभाषा में भी गुणों का उल्लेख किया। इस प्रकार वामन के मत में रीति और गुण का अनिवार्य सम्बन्ध है। आचार्य वामन ही रीति सम्प्रदाय

के प्रतिष्ठापक और उसके सबसे बड़े आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना और तीनों रीतियों की परिभायें इस प्रकार दीं—

'जिसमें दोष की मात्राओं का बिल्कुल स्पर्श न हो, जो कि समस्त गुणों से गुम्फित हो और जिसको वीणा के स्वर का सौभाग्य प्राप्त हो उसे वैदर्भी रीति कहते हैं।

'जिसमें शिथिलता के भाव का प्रवेश हो, जो पुरानी छाया से युक्त हो और मधुर तथा सुकुमार हो उसे कवि लोग पाञ्चाली रीति कहते हैं।

'जिसमें समासगर्भित अत्यन्त उत्कट पद हों जो ओज और कान्ति से समन्वित हो, रीति के निपुण वेत्ता उसे गौडी रीति कहते हैं।'

यही तीन रीतियाँ वामन ने मानी हैं। रुद्रट ने चार रीतियाँ स्वीकार की। इन्हीं से मिलती जुलती उपनागरिका, परुषा और कोमला ये तीन वृत्तियाँ भी हैं। आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना इस नाम से अभिहित किया है। इन्होंने यहाँ पर विस्तार पूर्वक रीतियों के स्वरूप का विवेचन करते हुए दो प्रश्नों पर प्रमुख रूप में प्रकाश डाला है—रीति और गुण का क्या सम्बन्ध है? रीतियाँ रस की अभिव्यंजक किस प्रकार होती हैं?

आनन्दवर्धन ने भी अपने प्राचीनों की मान्यता के आधार पर रीति या संघटना तीन ही प्रकार की मानी है—(१) समासरहित संघटना (२) मध्यम समास से भूषित संघटना और (३) दीर्घ समास से युक्त संघटना। प्रथम प्रकार की संघटना को हम वैदर्भी रीति कह सकते हैं; दूसरे प्रकार की संघटना को पाञ्चाली और तीसरे प्रकार की संघटना को गौडी यह नाम दिया जा सकता है। संघटनाओं के इन भेदों का पाँचवीं कारिका में केवल अनुवाद कर दिया गया है। इसके बाद छठवीं कारिका में गुण और संघटना तथा संघटना और रस के सम्बन्ध पर विचार प्रारम्भ कर दिया गया है। गुण और संघटना का परस्पर क्या सम्बन्ध है इस विषय में दो बातें कही जा सकती हैं—(१) गुण और संघटना दोनों एक ही वस्तुयें हैं—गुणों का ही दूसरा नाम संघटना रख दिया गया है। (२) ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि दूसरा पक्ष माना जावे तो एक प्रश्न यह उठता है कि क्या संघटना गुणों के आश्रित रहती है या गुण संघटना के आश्रित रहते हैं? इस प्रकार संघटना और गुणों के सम्बन्ध के विषय में तीन मत हो गये (१) गुण और संघटना दोनों एक ही चीजें हैं इनमें कोई भेद नहीं। (२) संघटना गुणों पर आश्रित रहती है। (३) गुण संघटना पर आश्रित रहते हैं। यह तो हुई संघटना और गुणों के परस्पर सम्बन्धविषयक वैकल्पिक पक्षों की बात। दूसरा प्रश्न यह है कि संघटना और रस का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि संघटना अभिव्यंजक होती है और रस अभिव्यङ्ग्य होते हैं। छठवीं कारिका में कहा गया है कि 'संघटना माधुर्य इत्यादि गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है।' संघटना और गुणों के परस्पर सम्बन्ध विषयक तीनों वैकल्पिक पक्षों को लेकर प्रस्तुत कारिका की व्याख्या इस प्रकार होगी—(१) यदि यह मानें कि संघटना और गुण दोनों एक ही चीजें हैं तो इस कारिका का अर्थ होगा—संघटना इन गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त किया करती है जो गुण संघटना की आत्मा ही हैं। यद्यपि संघटना और गुण दोनों एक ही वस्तुयें हैं तथापि देखा जाता है कि विचारक लोग विचार के निमित्त एक ही वस्तु के स्वभाव में भेद की कल्पना

कर लिया करते हैं। इसी काल्पनिक भेद को लेकर कह दिया गया है कि संघटना गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है। (२) गुण संघटना के अधीन रहते हैं इस पक्ष को लेकर इस कारिका का अर्थ होगा—'संघटना ऐसे गुणों का आश्रय लेकर रसों की व्यंजना करती है जो गुण संघटना का आधेय होते हैं। (३) भेदवाद में इस पक्ष को लेकर कि संघटना गुणों के अधीन रहती है इस कारिका का अर्थ होगा—'संघटना ऐसे गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है जिन गुणों के वह आधीन रहा करती है। यही आनन्दवर्धन के विवेचन का सार है।]

(ध्वन्या०)—तां केवलमनूद्येदमुच्यते—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।

रसान्—

सा संघटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति। अत्र च विकल्प्यं गुणानां संघटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः गुणाश्रया संघटना संघटनाश्रया वा गुणा इति। तत्रैक्यपक्षे संघटनाश्रयगुणपक्षे च गुणनात्मभूतानाधेयभूतान् वाश्रित्य तिष्ठन्ती संघटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः। यदा तु नानात्वपक्षे गुणाश्रयसंघटनापक्षः तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः।

(अनु०) उसका केवल अनुवाद कर यह कहा जा रहा है—

'माधुर्य इत्यादि गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली वह (संघटना) रसों को अभिव्यक्त करती है।'

वह संघटना गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती हुई रसादियों को अभिव्यक्त करती है। यहाँ पर विकल्प करने योग्य यह है कि—गुण और संघटना दोनों की एकरूपता है या भेद है? भेद होने पर भी दो अवस्थायें हो सकती हैं—गुण के आधीन संघटना हो या संघटना के आधीन गुण हों। उनमें एकता के पक्ष में संघटना के अधीन गुण इस पक्ष में यह अर्थ होता है—अपनी आत्मा के रूप में स्थित गुणों या अपने आधेयभूत गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली संघटना रसादिकों को अभिव्यक्त किया करती है। जबकि गुण और संघटना के नानात्व पक्ष में संघटना गुणों के आधीन रहती है यह पक्ष मानें तो अर्थ होगा—गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली अर्थात् गुणों के परतन्त्र स्वभाववाली, गुणरूप ही नहीं।

(लो०)—रसानिति कारिकायां द्वितीयार्धस्याद्यं पदम्। 'रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' इति कारिकार्धम्।

बहुवचनेनाद्यर्थः संग्रहीत इति दर्शयति—**रसादीनिति**। **अत्र चेति**—अस्मिन्नेव कारिकार्धे। विकल्पेनेदमर्थजातं कल्पयितुं व्याख्यातुं शक्यम्, किं तदाह—**गुणानामिति**। त्रयः पक्षा ये सम्भाव्यन्ते ते व्याख्यातुं शक्याः। कथमित्याह—**तत्रैक्यपक्ष** इति। **आत्मभूतानीति**। स्वभावस्य कल्पनया प्रतिपादनार्थं प्रदर्शितभेदस्य स्वाश्रयवाचोयुक्तिर्दृश्यते शिंशपाश्रयं वृक्षत्वमिति। **आधेयभूतानिति**। संघटनाया धर्मा

गुणा इति भट्टोद्भटादयः। धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः। **गुणपरतन्त्रेति**। अत्र नाधाराधेयभाव आश्रयार्थः। न हि गुणेषु संघटना तिष्ठतीति। तेन राजाश्रयः प्रकृतिवर्ग इत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतय इत्ययमर्थः, एवं गुणेषु परतन्त्रस्वभावा तदायत्ता तन्मुखप्रेक्षिणी संघटनेत्ययमर्थो लभ्यत इति भावः।

(अनु०)—'रसान्' यह कारिका में द्वितीयार्ध का प्रथम पद है। 'रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' यह कारिका का आधा भाग है।

बहुवचन से आदि का अर्थ संगृहीत कर लिया गया है, यह दिखलाते हैं 'रस इत्यादि का' यह। 'यहाँ पर' अर्थात् उसी कारिका के आधे भाग में। विकल्प से इस अर्थसमूह की कल्पना अर्थात् व्याख्या की जा सकती है—वह क्या है यह कहते हैं—'गुणों का' यह। तीन पक्ष, जिनकी सम्भावना की जाती है उनकी व्याख्या की जा सकती है। किस प्रकार ? यह कहते हैं—'उसमें ऐक्यपक्ष में' इत्यादि। 'आत्मभूतों का'। स्वभाव के प्रतिपादन के लिये कल्पना के द्वारा कथन देखा जाता है शिंशपा के आश्रयवाला वृक्ष। 'आधेयभूतों को'। संघटना के आश्रित गुण होते हैं यह भट्टोद्भट इत्यादि कहते हैं। धर्म धर्मी के आश्रित होते हैं यह प्रसिद्ध मार्ग है। 'गुणपरतन्त्र' इति। यहाँ पर आधाराधेय भाव आश्रय का अर्थ नहीं है। गुणों में संघटना रहती नहीं है। उससे 'राजाश्रय प्रकृतिवर्ग' इसमें जैसे राजाश्रय के औचित्य से अमात्य इत्यादि प्रकृतियाँ यह अर्थ होता है इसी प्रकार गुणों से परतन्त्र स्वभाववाली उसके आधीन अर्थात् उसके मुख को देखनेवाली संघटना यह अर्थ प्राप्त होता है, यह भाव है।

संघटना की रसव्यञ्जकता पर विचार

तारावती—छठी कारिका की व्याख्या आनन्दवर्धन ने दो खण्डों में की है—प्रथम खण्ड में कारिका का प्रथम दल और द्वितीय दल का प्रथम शब्द रक्खा गया है। 'रसान्' यह छठी कारिका के द्वितीय दल का प्रथम शब्द है। पूरा द्वितीय दल इस प्रकार है—'रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः'। इस कारिका में 'रसान्' यह बहुवचनान्त पाठ है। इस बहुवचन का अर्थ है—संघटना रसों को भी अभिव्यक्त करती है और भाव रसाभाव भावाभास इत्यादि रसवर्ग के दूसरे असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों को भी अभिव्यक्त करती है। इसी मन्तव्य से वृत्तिकार ने 'रसान्' की व्याख्या करते हुये 'रस इत्यादिकों को' यह लिखा है। 'यहाँ पर विकल्प्य यह है' इस वाक्य में 'यहाँ पर' का अर्थ है इस आधी कारिका में। विकल्प्य का अर्थ है विकल्प से इस अर्थ समूह की कल्पना की जा सकती है अथवा व्याख्या की जा सकती है। वह अर्थसमूह क्या हैं ?—गुण और संघटना की एकता या भेद, और भेद में भी गुणाश्रित संघटना या संघटनाश्रित गुण ये तीन पक्ष हैं जिनकी सम्भावना की जा सकती है। इन तीनों पक्षों के आधार पर कारिका की व्याख्या की जा सकती है। किस प्रकार ? इसका उत्तर दे रहे हैं—ऐक्य पक्ष में आत्मभूत गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली संघटना, यह अर्थ किया जा सकता है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जब गुण और संघटना एक ही वस्तु है तब संघटना गुणों का आश्रय लेती है इस कथन का क्या अर्थ होगा ? इसका उत्तर यह है—प्रायः देखा जाता है कि किसी बात को समझाने के लिये किसी के

स्वभाव में भेद की कल्पना कर ली जाती है और उस दिखलाये हुये भेद में यह कह दिया जाता है कि अमुक वस्तु अमुक के आश्रित है। उदाहरण के लिये शिंशपा और वृक्षत्व में भेद नहीं है फिर भी कह दिया जाता है कि वृक्षत्व शिंशपा में रहता है। दूसरा पक्ष है भेद का। इस भेदभाव में यदि संघटना के आश्रित गुण रहते हैं यह पक्ष माना जाता है तब उस पक्ष में इस कारिका का अर्थ होगा—संघटना ऐसे गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है जो कि संघटना के आधेयभूत होते हैं। भट्टोद्भट इत्यादि ने लिखा है कि गुण संघटना के धर्म होते हैं। यह तो प्रसिद्ध मार्ग ही है कि धर्म धर्मी के आश्रित रहा करते हैं। यदि तीसरे पक्ष के अनुसार यह माना जावे कि संघटना गुण के आश्रित रहती है। तब उस पक्ष में इस कारिका का अर्थ होगा—संघटना जो कि गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती है अर्थात् जिसका स्वभाव गुणों से पराधीन होता है तथा जो गुण रूप ही नहीं होती वह संघटना रसों को अभिव्तक्त करती है। 'गुण से पराधीन' कहने का आशय यह है कि 'गुण के आश्रित संघटना होती है' इस वाक्य में आश्रय का अर्थ आधाराधेयभाव नहीं है क्योंकि गुणों में संघटना रहती नहीं है। अपितु यहाँ पर आश्रय का प्रयोग उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्रयोग 'प्रकृति वर्ग राजा के आश्रय में रहता है' यह है। 'राजाश्रित भृत्य वर्ग का अर्थ है राजा के आश्रय के औचित्य से अमात्य इत्यादि प्रकृति होती है उसी प्रकार गुणों में परतंत्र स्वभाववाली अर्थात् गुणों के आधीन या गुणमुखप्रेक्षिणी संघटना होती है, यह अर्थ प्राप्त हो जाता है।

(ध्वन्या०)—**कि पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति ? अभिधीयते—यदि गुणाः संघटना चेत्येकं तत्त्वं, संघटनाश्रया वा गुणाः, तदा संघटनाया इव गुणानामनियत-विषयत्वप्रसङ्गः। गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषयनियमो व्यवस्थितः। संघटनासु स विघटते।**

तथाहि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति। शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा—'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' इति। यथा वा—

अनवरतनयनजलनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥

इत्यादौ। तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ। तस्मान्न संघटनास्वरूपा न च संघटनाश्रया गुणाः।

(अनु०) फिर इस विकल्प का प्रयोजन क्या है ? बताया जा रहा है—यदि गुण और संघटना दोनों एक तत्त्व हैं अथवा संघटना के आधीन गुण रहते हैं तो संघटना के समान गुणों में भी अनियतविषयता आ जाने का दोष होगा। निस्सन्देह गुणों में माधुर्य और प्रसाद की अधिकता करुण और विप्रलम्भ शृंगार के विषय में ही होती है। ओज का विषय रौद्र और अद्भुत इत्यादि ही होते हैं। माधुर्य और प्रसाद का विषय रस भाव तथा उनके आभास ही होते हैं। इस प्रकार गुणों के विषयका नियम व्यवस्थित है। संघटनाओं में वह विघटित होता है।

वह इस प्रकार—शृंगार में भी दीर्घसमासवाली संघटना देखी जाती है और रौद्र इत्यादि में भी समासरहित संघटना होती है। उसमें शृंगार में दीर्घ समास जैसे—'मन्दारपुष्परेणु से पिञ्जरित अलकोंवाली' अथवा—

'निरन्तर नयनजल निपतन से नष्टपत्ररचनावाला, करतल पर निषण्ण तुम्हारा बदन हे अबले किसे सन्तप्त नहीं करेगा।'

इत्यादि में। तथा रौद्र इत्यादि में भी समासरहित संघटना देखी जाती है जैसे—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि। अतएव न गुण संघटना का स्वरूप हैं न संघटना पर आश्रित।

(लो०)—**सङ्घटनाया इवेति।** प्रथमपक्षे तादात्म्येन समानयोगक्षेमत्वादितरत्र तु धर्मत्वेनेति भावः। भवत्वनियतविषयतेत्याशङ्क्याह—**गुणानां हीति।** हिशब्दस्तु-शब्दार्थे। नत्वेवमुपपद्यते आपद्यते तु न्यायबलादित्यर्थः। स इति योऽयं गुणेष्वनियम उक्तोऽसावित्यर्थः।

तथात्वे लक्ष्यदर्शनमेव हेतुत्वेनाह—**तथाहीति।** दृश्यत इत्युक्तम्। दर्शन-स्थानमुदाहरणमासूत्रयति-**तत्रेति।** नात्र शृंगारः कश्चिदित्याशङ्क्य द्वितीयमुदाहरण-माह—**यथा वेति।** एषा हि प्रणयकुपितनायिकाप्रसादनायोक्तिर्नायकस्येति। **तस्मा-दिति।** नैतद्व्याख्यानद्वयं कारिकायां युक्तमिति यावत्।

(अनु०)—'संघटना के समान'। यह भाव है कि प्रथम पक्ष में तादात्म्य के कारण उनका योग-क्षेम समान होता है इसलिये तथा अन्यत्र धर्म के कारण। 'अनियत विषयता हो' यह शंका करके कहते हैं—'निःसन्देह गुणों का'। यहाँ 'हि' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। यह सिद्ध तो नहीं होता किन्तु न्याय के बल पर आ जाता है। 'वह' अर्थात् जो यह गुणों के लिये नियम बतलाया गया है वह।

ऐसा होने पर लक्ष्यदर्शन को ही हेतु के रूप में कहते हैं—'तथाहि' इत्यादि।

'देखा जाता है' इस कहे हुये दर्शनस्थान उदाहरण को दिखलाते हैं—'वहाँ पर' यहाँ पर कोई शृङ्गार नहीं है यह शङ्का करके दूसरा उदाहरण देते हैं—'अथवा जैसे।' यह प्रणयकुपिता नायिका के प्रसादन के लिये नायक की उक्ति है। 'इससे' अर्थात् ये दोनों व्याख्यान कारिका में उचित नहीं हैं।

वैकल्पिक पक्षों की उद्‌भावना का प्रयोजन

तारावती—अब प्रश्न उठता है कि इन वैकल्पिक पक्षों का विवेचन करने से लाभ क्या है? इसी पर प्रस्तुत प्रकरण में विचार किया जा रहा है। पहला पक्ष लीजिये 'गुण और संघटना एक ही हैं या इनका तादात्म्य है' ऐसी दशा में इन दोनों का योगक्षेम एक सा ही होगा। जो बात संघटना में होगी वही बात गुणों में भी होगी। यदि दूसरा पक्ष लिया जावे अर्थात् यह स्वीकार किया जावे कि गुण संघटन के आधीन होते हैं तो गुणों को धर्म मानना पड़ेगा और

संघटना को धर्मी। धर्मी की विशेषतायें धर्म में भी होना अनिवार्य है। ऐसी दशा में भी जो विशेषता संघटना में हो।ी वही गुणों में आ जावेगी। संघटना का विषय नहीं होता। असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा तीनों प्रकार की संघटना कोमल और कठोर दोनों प्रकार के रसों को अभिव्यक्त करती है। यही बात गुणों में आ जावेगी अर्थात् माधुर्य और ओज दोनों गुण दोनों प्रकार के रसों के अभिव्यंजक माने जाने लगेंगे। अत एव उक्त दोनों पक्षों को मानने पर गुणों का विषय भी अनियत हो जावेगा। (प्रश्न) यदि गुणों का विषय भी अनियत हो ही जावे तो इसमें दोष क्या है? (उत्तर) इसमें तो सन्देह नहीं कि गुणों का विषय नियत होता है। माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष करुण तथा विप्रलम्भ श्रृङ्गार के विषय में ही होता है। ओज का प्रकर्ष रौद्र और अद्भुत इत्यादि के विषय में ही होता है। माधुर्य और प्रसाद रस और रसाभास, भावाभास इत्यादि के विषय में ही होते हैं। कहने का आशय यह है कि गुणों का विषयनियम व्यवस्थित है। यहाँ पर 'गुणानां हि' में हि शब्द का अर्थ है 'तु' अर्थात् गुणों का तो विषयनियम व्यवस्थित है। यह बात तर्क के बल पर सिद्ध नहीं की जाती किन्तु अनेक लक्ष्यों पर विचार करने से सामान्य न्याय के बल पर स्वतः यह निष्कर्ष निकल आता है। गुणों में जो विषय की व्यवस्था बतलाई गई है संघटना में उसका व्यभिचार मिलता है अर्थात् संघटना में विषय की व्यवस्था ठीक रूप में लागू नहीं होती। संघटना में विषय-व्यवस्था किस प्रकार विघटित हो जाती है इसमें तर्क के रूप में लक्ष्य ही दिखलाये जा रहे हैं जहाँ यह व्यवस्था लागू नहीं होती। वह इस प्रकार कि नियमानुकूल श्रृंगार रस में समास नहीं होने चाहिये। और रौद्र इत्यादि रसों में लम्बे समास होने चाहिये। किन्तु देखा जाता है कि कहीं-कहीं श्रृङ्गार रस में लम्बे समास होते हैं और रौद्र रस में समास होते ही नहीं। 'देखे जाते' हैं यह कहा गया था। अब जिन उदाहरणों में देखे जातें हैं उन स्थानों को सूत्ररूप में बतलाया जा रहा है। उसमें श्रृङ्गार रस में दीर्घ समास का उदाहरण जैसे 'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' में दीर्घ समास है। इसका अर्थ कि 'मन्दार पुष्प की धूल से नायिका के अलक पिंजर वर्ण के हो गये थे' यह श्रृंगार रस है। इस वाक्य में श्रृंगार रस की आलम्बनभूत नायिका के केशपाश के सौन्दर्य की प्रशंसा की गई है। अतः यह श्रृंगार रस है और इसमें दीर्घ समास विद्यमान ही है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि संघटना का विषय नियत होता है। इस पर कोई कह सकता है कि प्रस्तुत वाक्य में भले ही नायिका के सौन्दर्य की प्रशंसा की गई हो किन्तु केवल इतने से वाक्य से ही श्रृङ्गार रस की कोई प्रतीति तो होती नहीं। श्रृंगार रस की पूर्ण प्रतीति के निमित्त पूरे प्रसङ्ग के सामने होने की आवश्यकता है। अतः इस वाक्य से ही यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि संघटना का विषय नियत नहीं होता। इस पर वृत्तिकार दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'अनवरत.......तापयति'। इस पद्य में पूरे प्रथम दल में 'ते' शब्द को छोड़कर एक लम्बा समास किया गया है। इसका अर्थ यह है—कोई नायक किसी मानिनी नायिका से कह रहा है—'हे अबले तुम्हारा यह करतल पर रक्खा हुआ मुख किसके हृदय में सन्ताप उत्पन्न न करेगा जिसकी पत्ररचना निरन्तर जलबिन्दुओं के गिरने से धुलकर नष्ट हो रही है। यह प्रणयकुपिता नायिका के प्रसादन के लिये नायक की उक्ति है। अत एव यहाँ पर मान विप्रलम्भ श्रृङ्गार की अभि-

व्यक्ति होती है। नियमानुकूल सबसे अधिक समास रहित संघटना विप्रलम्भ शृंगार में ही होनी चाहिये। यहाँ पर दीर्घ समास होते हुये भी विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि समास रहित संघटना ही विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यंजना करती है। दूसरी व्यवस्था यह है कि दीर्घसमासा संघटना रौद्र इत्यादि रस को अभिव्यक्त करती है। किन्तु इस नियम का भी व्यभिचार देखा जाता है। 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्' इत्यादि वेणीसंहार का पद्य कुपित भीमसेन की उक्ति है। यहाँ पर समास बिलकुल नहीं किया गया है और समास का न करना ही रौद्र रस का विशेष रूप से अभिव्यंजक हो रहा है। अतः यह सिद्ध हो गया कि संघटना का विषय नियत नहीं होता किन्तु गुणों का विषय नियत होता है। अतएव यदि संघटना और गुणों की एकता मानी जावेगी या संघटना के आश्रित'गुण माने जावेंगे तो यह दोष होगा कि संघटना का धर्म गुणों में भी मानना पड़ेगा और गुणों को भी अनियत विषय ही माना जाने लगेगा। इस प्रकार ये दोनों पक्ष ठीक नहीं हैं और न इनके अनुसार की हुई कारिका की व्याख्या ही ठीक है।

(ध्वन्या०)—**ननु यदि संघटना गुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्पन्ताम्। उच्यते प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्।**

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥

(अनु०) (प्रश्न) यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं होती तो फिर इनके किस आलम्बन की कल्पना की जावे? (उत्तर) कहा जा रहा है—इनके आलम्बन का प्रतिपादन तो पहले ही किया जा चुका है—'उस अङ्गी अर्थ (रस) का जो अवलम्बन लेते हैं वे गुण माने जाते हैं। कटक इत्यादि के समान अलङ्कार अङ्गाश्रित माने जाने चाहिये।

(लो०)—**किमालम्बना इति।** शब्दार्थालम्बनत्वे हि तदलङ्कारेभ्यः को विशेष इत्युक्तं चिरन्तनैरितिभावः। **प्रतिपादितमेवेति।** अस्मन्मूलकृतेत्यर्थः।

(अनु०)—'किस सहारे से'। भाव यह है कि शब्द और अर्थ का सहारा होनेसे उनके अलङ्कारों से क्या विशेषता है? वह प्राचीनों ने कहा है। 'प्रतिपादित ही किया गया है' अर्थात् हमारे मूलाकार के द्वारा।

गुणों के आश्रय पर विचार

तारावती—(प्रश्न) यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं है तो गुणों के किस आश्रय की कल्पना की जावे? प्रश्नकर्त्ता का आशय यह है कि गुण निराश्रय तो हो ही नहीं सकते, इनका कोई न कोई आधार तो मानना ही पड़ेगा। आधार के रूप में तीन ही तत्त्व माने जा सकते हैं शब्द, अर्थ और संघटना। शब्द और अर्थ गुणों का आश्रय माने नहीं जा सकते क्योंकि प्राचीनों ने कह दिया है कि यदि शब्द और अर्थ गुणों का आश्रय माने जावेंगे तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार से गुणों में भेद क्या रह जावेगा? आशय यह है कि शब्दाश्रित काव्य तत्त्व शब्दालङ्कार कहलाते हैं, अर्थाश्रित काव्यतत्त्व अर्थालङ्कार कहलाते हैं। अब संघटना ही शेष रह जाती है जो कि गुणों का आश्रय मानी जा सकती है। यदि आप संघटना को भी गुणों का आश्रय नहीं मानेंगे तो फिर गुणों का दूसरा आश्रय रह क्या जावेगा?

(उत्तर) इस शङ्का का समाधान तो हमारे मूल-कार (कारिकाकार) ने ही दे दिया है'— 'उस अङ्गी अर्थ (रस) का जो आश्रय लेते हैं वे गुण माने गये हैं। कटक इत्यादि के समान अलङ्कार अङ्गाश्रित माने जाने चाहिये।'

आशय यह है कि अलङ्कारों का आश्रय शब्द और अर्थ होते हैं और गुणों का आश्रय रस होते हैं। अतः संघटना गुणों का आश्रय नहीं मानी जा सकती।

(ध्वन्या०)—**अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।**

(अनु०) अथवा शब्दाश्रय ही गुण होवें। इनका अनुप्रासादितुल्यत्व नहीं हो सकता। क्योंकि अनुप्रास इत्यादि शब्द के अर्थ की अपेक्षा न करनेवाले धर्म ही हैं यह प्रतिपादित किया जा चुका है। गुण तो विशेष व्यङ्ग्य के द्वारा अवभासित होनेवाले वाच्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्दधर्म ही हैं। इनकी शब्दधर्मता शौर्य इत्यादि के शरीराश्रयत्व के समान दूसरे का आश्रय होते हुये भी मानी जाती है।

(लो०)—**अथवेति।** न ह्येकाश्रितत्वादैक्यं, रूपस्य संयोगस्य चैक्यप्रसङ्गात्। संयोगे द्वितीयमपेक्ष्यमपि चेत्। इहापि व्यङ्ग्योपकारकवाच्यापेक्षाऽस्त्येवेति समानम्। न चायं मम स्थितः पक्षः, अपितु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्दधर्मत्वं शौर्यादीनामिव शरीरत्वम्। अविवेकी हि औपचारिकत्वविभागं विवेक्तुमसमर्थः। तथापि न कश्चिद्दोष इत्येवं परमेतदुक्तमित्येतदाह—**शब्दधर्मत्वमिति। अन्याश्रयत्वेऽपीति।** आत्मनिष्ठत्वेऽपीत्यर्थः।

(अनु०)—'अथवा'। एक में आश्रित होने के कारण एकता नहीं कही जा सकती क्योंकि रूप और संयोग की भी एकता प्रसक्त हो जावेगी। यदि कहो कि 'संयोग में दूसरे की अपेक्षा होती है' तो यहाँ पर भी व्यङ्ग्य के उपकारक वाच्य की अपेक्षा है ही इस प्रकार यह पहले के समान है। यह मेरा पक्ष स्थित नहीं है, अपितु अविवेकियों के अभिप्राय से भी शौर्य इत्यादि के शरीरधर्म के समान इनका शब्दधर्मत्व मान लिया जावे। निस्सन्देह अविवेकी औपचारिकत्व (गौणत्व) का विभेद करने में असमर्थ होता है। तथापि कोई दोष नहीं है इस आशय से यह कहा है यह कहते हैं—'शब्दधर्मत्व' इत्यादि। 'अन्याश्रयत्व में भी' अर्थात् आत्मनिष्ठत्व में भी।

इस दृष्टि से गुण और अलङ्कार का भेद

तारावती—अथवा गुणों को शब्द के आश्रय में रहनेवाला भी माना जा सकता है। (प्रश्न) यदि गुण शब्दाश्रित ही होते हैं तो वे अनुप्रास इत्यादि के समान क्यों नहीं हो जाते? (उत्तर) अनुप्रास इत्यादि शब्द का ऐसा धर्म होते हैं जिनमें अर्थ की अपेक्षा नहीं होती यह बता पहले ही बतलाई जा चुकी है। इसके प्रतिकूल गुण शब्द का ऐसा धर्म होते हैं जो व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करनेवाले वाच्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ हों। (प्रश्न) गुण भी शब्दाश्रित होते हैं और अनुप्रास इत्यादि भी शब्दाश्रित ही होते हैं फिर एकाश्रय होने के कारण दोनों की तुल्यता

क्यों नहीं हो जाती ? (उत्तर) एकाश्रय में रहने के कारण कभी दो वस्तुयें एक नहीं हो जातीं। यदि एकाश्रय में रहने के कारण दो वस्तुयें एक हो जाती हैं तो रूप और संयोग भी एक हो जावेंगे। क्योंकि एक ही द्रव्य कटक इत्यादि में रूप भी रहता है और संयोग भी। (प्रश्न) संयोग को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा होती है रूप को नहीं, फिर दोनों एक कैसे हो सकते हैं। (उत्तर) यहाँ पर भी तो गुण को शब्द के अतिरिक्त व्यङ्ग्य के उपकारक वाच्य की अपेक्षा होती है। यह बात दोनों में एक सी ही है। यहाँ पर ध्यान रखने की बात यह है कि गुण शब्दाश्रित नहीं होते फिर भी शब्द के आश्रित उसी प्रकार कहे जाते हैं जिस प्रकार शौर्य इत्यादि शरीर के धर्म नहीं होते वे आत्मा के धर्म होते हैं किन्तु कहे शरीर के धर्म जाते हैं। आशय यह है कि गुणों का शब्दधर्म होना मुख्य पक्ष नहीं है किन्तु जिस प्रकार अविवेकी लोग शौर्य इत्यादि को शरीर का धर्म न होते हुये भी शरीर का धर्म कहने लगते हैं (उसे ज्ञानी लोग भी औपचारिक या लाक्षणिक प्रयोग मानकर सहन कर लेते हैं।) उसी प्रकार यदि कोई अविवेकी चाहे तो गुणों को शब्दों का धर्म कह सकता है। क्योंकि अविवेकी वही होता है जो औपचारिक का भेद न कर सके अर्थात् यह न जान सके कि मुख्य क्या है और गौण क्या है ? मुख्य पक्ष यही है कि गुण आत्मभूत रस के धर्म होते हैं। किन्तु यदि कोई उन्हें शब्दधर्म भी मानता है तो औपचारिक प्रयोग मानकर उसमें भी कोई दोष नहीं आता। इसी आशय से वृत्तिकार ने लिखा है कि 'अन्याश्रित होते हुए भी जिस प्रकार शौर्य इत्यादि शरीर के आश्रित कहे हैं उसी प्रकार गुण भी शब्दधर्म कहे जाते हैं।' यहाँ पर अन्याश्रित का अर्थ है आत्मनिष्ठ। अर्थात् जैसे आत्मनिष्ठ होते हुये भी शौर्य इत्यादि शरीर का धर्म कहे जाते हैं उसी प्रकार रसरूप आत्मनिष्ठ होते हुये भी गुण शब्दधर्म कहे जाते हैं।

(ध्वन्या०)—**ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्संघटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव न ह्यसंघटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्। वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।**

(अनु०)—(प्रश्न) यदि गुण शब्दाश्रय होते हैं तो उनका संघटनारूपत्व अथवा संघटनाश्रयत्व प्राप्त ही हो गया। निस्सन्देह असंघटित शब्द वाचक न होने के कारण अर्थविशेष के द्वारा प्रतिपाद्य रस इत्यादि के आश्रित गुणों के कभी आश्रय नहीं होते। (उत्तर) यह बात नहीं है। क्योंकि इस बात का प्रतिपादन किया ही जा चुका है कि रस इत्यादि की व्यञ्जना वर्ण और पद इत्यादि से होती है।

(लो०)—**शब्दाश्रया इति**। उपचारेण यदि शब्देषु गुणास्तदेदं तात्पर्यम्—शृङ्गारादि रसाभिव्यञ्जकवाच्यप्रतिपादनसामर्थ्यमेव शब्दस्य माधुर्यम्। तच्च शब्दगतं विशिष्टघटनयैव लभ्यते। अथ सङ्घटना न व्यतिरिक्ता काचित्, अपितु सङ्घटिता एव शब्दाः तदाश्रितत्वं तत्सामर्थ्यमिति संघटनाश्रितमेवेत्युक्तं भवतीति तात्पर्यम्।

ननु शब्दधर्मत्वं शब्दैकात्मकत्वं वा तावतास्तु, किमयं मध्ये संघटनानुप्रवेश इत्याशङ्क्य स एव पूर्वपक्षवाद्याह—**न हीति**। अर्थविशेषैर्न तु पदान्तरनिरपेक्षशुद्धपदवाच्यैः सामान्यैः प्रतिपाद्या व्यङ्ग्या ये रसभावतदाभासतत्प्रशमास्तदाश्रितानां मुख्यतया तन्निष्ठानां गुणानामसङ्घटिता शब्दा न भवन्त्युपचारेणापीति भावः। अत्र

हेतुः—**अवाचकत्वादिति।** न ह्यसङ्घटिता व्यङ्ग्योपयोगिनिराकाङ्क्षरूपवाच्यमाहु-रित्यर्थः। एतत्परिहरति—**नैवमिति।** वर्णव्यङ्ग्यो हि यावद्रस उक्तस्तावदवाचक-स्यापि पदस्य श्रवणमात्रावसेयेन स्वसौभाग्येन वर्णवदेव यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं स्फुटमेव लभ्यत इति तदेव माधुर्यादीति किं सङ्घटनया। तथा च पदव्यङ्ग्यो यावद्ध्वनिरुक्त-स्तावच्छुद्धस्यापि पदस्य स्वार्थस्मारकत्वेनापि रसाभिव्यक्तियोग्यार्थविभासकत्वमेव माधुर्यादीति तत्रापि कः संघटनाया उपयोगः?

(अनु०)—'शब्दाश्रय' इत्यादि। उपचार से यदि शब्दों में गुण होते हैं तो यह तात्पर्य है—शृङ्गाररसाभिव्यञ्जक वाच्यप्रतिपादन सामर्थ्य ही शब्द का माधुर्य है। और शब्दगत वह (माधुर्य) विशिष्ट संघटना से ही प्राप्त होता है, यदि कहो कि संघटना कोई व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है अपितु संघटित शब्द ही (संघटना है) तात्पर्य यह है उन (संघटित शब्दों) के आश्रित वह पूर्वोक्त सामर्थ्य संघटनाश्रित ही है यह बात कही हुई हो जाती है।

'शब्दधर्मत्व अथवा शब्दैकाश्रयत्व उतने से ही (गुणों के शब्दाश्रयत्व से ही) सिद्ध हो जावें यह बीच में संघटना का क्या अनुप्रवेश?' यह शङ्का करके वही पूर्वपक्षवादी कहता है—'नहि' इत्यादि। भाव यह है कि पदान्तरनिरपेक्ष शुद्ध पद वाच्य सामान्यों के द्वारा नहीं अपितु अर्थविशेषों के द्वारा रस, भाव, उनके आभास और उनके प्रथम ये जो व्यङ्ग्य, उनके आश्रित अर्थात् मुख्य रूप से उनमें रहनेवाले गुणों के आश्रय असंघटित शब्द उपचार के द्वारा भी नहीं हो सकते। इसमें हेतु है—'अवाचकत्व के कारण'। निस्सन्देह असंघटित (शब्द) व्यङ्ग्योपयोगी निराकांक्षा रूप वाच्य को नहीं कहते। इसका उत्तर देते हैं—'ऐसा नहीं है—' क्योंकि जब वर्णव्यंग्य भी रस बतलाया गया है तब अवाचक भी पद के श्रवणमात्र से ज्ञान होने योग्य अपने सौभाग्य से वर्ण के समान ही जो रसाभिव्यक्ति हेतुत्व स्पष्ट ही उपलब्ध होता है वही माधुर्य इत्यादि है। संघटना की क्या आवश्यकता? और भी जब पदव्यङ्ग्य भी ध्वनि कही गई है तो शुद्ध भी पद के स्वार्थस्मारकत्व के द्वारा भी रसाभिव्यक्ति के योग्य अर्थ का अवभासन करना माधुर्य इत्यादि है, उसमें भी संघटना का क्या उपयोग?

गुण-संघटना के ऐक्य पर विचार

तारावती—(प्रश्न) यदि गुण शब्दाश्रित होते हैं तो उनका संघटनारूपत्व या सङ्घ-टनाश्रयत्व स्वभावतः सिद्ध हो गया। आशय है कि जब आप यह कहते हैं कि शब्दों में गुणों का औपचारिक प्रयोग होता है तब उसका तात्पर्य यही माना जा सकता है कि शब्द की मधुरता शब्दों के उस सामर्थ्य को ही कहते हैं जिसके द्वारा ऐसे वाच्यार्थ का प्रतिपादन किया जा सके जो कि शृङ्गार इत्यादि रसों का अभिव्यञ्जक हो। यदि शब्दों में इस प्रकार के वाच्यार्थ को प्रकट करने की शक्ति नहीं होती तो वहाँ पर शब्दों का माधुर्य भी नहीं माना जा सकता। शब्द के अन्दर वाच्यार्थ को कहने की शक्ति सङ्घटना के द्वारा ही आती है। क्योंकि सङ्घटना कोई पृथक् वस्तु तो है नहीं अपितु संघटित शब्दों को ही संघटना कहते हैं। शब्दों में व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जक वाच्यार्थ का तात्पर्य यही है संघटनाश्रित सामर्थ्य। (प्रतिप्रश्न) (प्रश्नकर्ता की इस स्थापना पर कि गुणों का शब्दाश्रितत्व और संघटनाश्रितत्व दोनों एक ही वस्तुयें हैं अतः या तो संघटना और गुण एक ही तत्त्व हैं या गुण सङ्घटना के आधीन रहा

करते हैं––एक प्रश्न और उत्पन्न होता है।) गुणों को हम शब्दधर्म मान सकते हैं या शब्दाश्रित मान सकते हैं। यह बीच में सङ्घटना क्यों सम्मिलित की जा रही है? (प्रतिपक्षी) (उक्त प्रतिप्रश्न के उत्तर में प्रतिपक्षी अपने प्रश्न को और अधिक दृढ़ता तथा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत कर रहा है।) 'रसों की निष्पत्ति विशेष प्रकार के वाच्यार्थ द्वारा होती है। वे रस ही गुणों का आश्रय होते हैं। अतः रसों पर आश्रित रहनेवाले गुण कभी भी असङ्घटित शब्दों को अपने आश्रय के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि गुणों का आश्रय वे ही शब्द हो सकते हैं जिनमें वाच्यार्थ का पर्यवसान होकर रसनिष्पत्ति की भूमिका सम्पन्न हो सके। वाच्यार्थ का पर्यवसान कभी भी असङ्घटित शब्दों में नहीं होता। अतः गुणों के आश्रय भी असङ्घटित शब्द नहीं हो सकते। प्रतिपक्षी का मन्तव्य यह है कि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम इत्यादि सर्वदा व्यङ्ग्य ही होते हैं। इनकी व्यञ्जना विशेष प्रकार के अर्थों से ही होती है। (उस विशेष अर्थ को कहनेवाले सङ्घटित तथा साकांक्ष पद ही होते हैं।) रस इत्यादि की व्यञ्जना ऐसे शब्दों से भी नहीं होती जिनको दूसरे पदों की अपेक्षा बिल्कुल न हो। जिनको केवल शुद्ध पद की संज्ञा प्रदान की जा सके और जो सामान्य रूप में अर्थ के बोधक हों अर्थात् जो केवल पदमात्र के अर्थ के परिचायक हों। इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यञ्जित करनेवाले वाच्यार्थ के बोधक शब्दों के आश्रित ही गुण मुख्य रूप में माने जाते हैं। इस प्रकार उन शब्दों में रहनेवाले गुणों के आश्रय असङ्घटित शब्द उपचार से भी नहीं होते। उपचार से भी असङ्घटित शब्दों के गुणों के आश्रय न होने का हेतु है उन शब्दों का वाचक न होना। इसका अर्थ यह है कि असङ्घटित शब्द व्यङ्ग्योपयोगी निराकांक्ष वाच्यार्थ को कभी प्रकट नहीं कर सकते। इस प्रकार शब्दसङ्घटना को या तो गुणों से अभिन्न मानना चाहिये या गुणों का आश्रय मानना चाहिये। (प्रतिपक्षी की इस लम्बी-चौड़ी स्थापना का सार यही है कि सङ्घटित शब्द ही वाचक होकर व्यङ्ग्य रस की अभिव्यक्ति में निमित्त होते हैं और वे ही गुणों का आश्रय-औपचारिक रूप में ही सही, माने जाते हैं। सङ्घटित शब्द न वाचक होते हैं न व्यञ्जक। अतः गुण शब्दधर्म होते हैं। कहने का स्पष्ट अर्थ यही है कि गुण और सङ्घटना या तो एक ही वस्तु हैं या गुण सङ्घटना के आश्रित रहते हैं।) अब इसका उत्तर दिया जा रहा है। (उत्तर) जब यह सिद्ध ही किया जा चुका कि वर्ण और पद से भी रस इत्यादि की व्यञ्जना होती है तब सङ्घटना निरपेक्ष गुणों के द्वारा रसाभिव्यक्ति के मानने में आपत्ति ही क्या रह गई? वर्ण के द्वारा रसाभिव्यक्ति मानने से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ति में अर्थ की बिल्कुल अपेक्षा नहीं होती और पद के द्वारा रसाभिव्यक्ति के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पदान्तरनिरपेक्ष केवल स्वार्थं का बोधक भी पद अभिव्यञ्जक होता है। जब केवल वर्ण के द्वारा रसाभिव्यक्ति अङ्गीकृत की जा चुकी तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अवाचक पद जो रसाभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है जिसका सौभाग्य वर्ण के समान श्रवणमात्र से ज्ञात हो रहा हो। वही पद माधुर्य गुण की सीमा में आता है उसके लिये सङ्घटना की क्या आवश्यकता? इसी प्रकार जब पद को भी ध्वनि का अभिव्यञ्जक माना जा चुका है तब शुद्ध भी पद अपने अर्थ का स्मरण कराते हुये रस की अभिव्यक्ति के योग्य अर्थ को प्रकट कर देता है और उसी को माधुर्य इत्यादि गुणों के नाम

से पुकारने लगते हैं उसमें भी सङ्घटना का क्या उपयोग ? (उक्त विस्तृत विवेचन का निष्कर्ष यह है—(१) गुणों का आश्रय मुख्य रूप में रस ही होते हैं किन्तु औपचारिक रूप में उन्हें शब्दाश्रित भी माना जा सकता है। (२) गुणों का आश्रय बनने के लिये इस बात की आवश्यकता नहीं कि शब्द सङ्गठित ही हों, वर्ण और पद के समान असङ्गठित पद भी रसाभिव्यक्ति में हेतु हो सकते हैं और वे ही माधुर्य इत्यादि गुणों के नाम से पुकारे जा सकते हैं। (३) इस प्रकार वामन का यह मत ठीक नहीं कि गुण सङ्घटना पर आधारित होते हैं।)

(ध्वन्या०)—अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित् संघटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसंघटनाशब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः।

(अनु०)—रस इत्यादि की वाक्यव्यङ्ग्यता के अङ्गीकार कर लेने पर भी कोई भी निश्चित संघटना उनके आश्रयत्व को प्राप्त नहीं होती। अतएव अनियत संघटनावाले शब्द ही विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य से अनुगत होकर गुणों का आश्रय हो जाते हैं।

(लो०)—ननु वाक्यव्यङ्ग्ये ध्वनौ तर्ह्यवश्यमनुप्रवेष्टव्यं सङ्घटनया स्वसौन्दर्यं वाच्यसौन्दर्यं वा तया विना कुत इत्याशङ्क्याह—**अभ्युपगत इति**। वा शब्दोऽपिशब्दार्थे, वाक्यव्यङ्ग्यत्वेऽपीत्यत्र योज्यः। एतदुक्तं भवति—अनुप्रविशतु तत्र सङ्घटना न हि तस्याः सन्निधानं प्रत्याचक्ष्महे। किन्तु माधुर्यस्य न नियता सङ्घटना आश्रयो वा स्वरूपं वा तया विना वर्णपदव्यङ्ग्ये रसादौ भावान्माधुर्यादेः वाक्यव्यङ्ग्योऽपि तादृशीं सङ्घटनां विहायापि वाक्यस्य तद्रसव्यञ्जकत्वात्सङ्घटना सन्निहितापि रसव्यक्तावप्रयोजिकेति। तस्मादौपचारिकत्वेऽपि शब्दाश्रया एव गुणाः इत्युपसंहरति—**शब्दा एवेति**।

(अनु०)—'तो वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि में अवश्य ही संघटना को प्रविष्ट होना चाहिये, स्वसौन्दर्य या वाच्यसौन्दर्य उसके बिना कैसे ?' यह शङ्का करके कहते हैं—'अभ्युपगते इति।' वा शब्द अपि शब्द के अर्थ में है। यहाँ पर वाक्यव्यङ्ग्यत्व में भी यह योजना की जानी चाहिये। यह बात कही गई है—संघटना उसमें प्रवेश करे, उसकी निकटता का हम प्रत्याख्यान नहीं करते। किन्तु नियत संघटना न माधुर्य का आश्रय है ओर न स्वरूप। क्योंकि उसके विना वर्णपदव्यङ्ग्य रस इत्यादि में भी माधुर्य इत्यादि होता है। वाक्यव्यङ्ग्य में भी वाक्य की उस प्रकार की संघटना को छोड़कर के भी वाक्य के उस रस को व्यञ्जक होने के कारण सन्निहित भी संघटना रसाभिव्यक्ति में प्रयोजिका नहीं होती। इसलिये औपचारिकत्व में भी शब्दाश्रय ही गुण होते हैं। यह उपसंहार कर रहे हैं—'शब्द ही।'

रसाभिव्यञ्जन में संघटना का अनिश्चय

तारावती—(प्रश्न) पदव्यङ्ग्यध्वनि में सङ्घटना न भी मानें तब भी वाक्य से व्यक्त होनेवाली रसध्वनि में सङ्घटना का प्रयोग होना ही चाहिये। बिना सङ्घटना के वाक्य में अपना सौन्दर्य किस प्रकार हो सकता है और वाच्यार्थ का भी सौन्दर्य किस प्रकार हो सकता है ? (उत्तर) रसध्वनि की वाक्य से अभिव्यक्ति मानने पर भी कोई निश्चित सङ्घटना रसादकों का आश्रय नहीं बनती। अत एव ऐसे शब्द जिनकी कोई सङ्घटना नियत न हो जब

किसी विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य का अनुगमन करते हैं तब वे शब्द ही गुणों का आश्रय हो जाते हैं। यहाँ पर 'अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे' में 'वा' का प्रयोग 'अपि' के अर्थ में हुआ है। इसलिये यहाँ पर अर्थ किया गया है 'वाक्यव्यङ्ग्यत्व के स्वीकार कर लेने पर भी'। आशय यह है कि हम वाक्य में सङ्घटना का तो खण्डन करते ही नहीं। वाक्य में संघटना सन्निहित रहे; उसके सन्निधान में हमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु कोई भी निश्चित संघटना न तो माधुर्य का आश्रय होती है और न उसका स्वरूप ही होती है। क्योंकि जब कि बिना संघटना के वर्ण और पद से व्यक्त होनेवाले रस इत्यादि में माधुर्य इत्यादि देखा जाता है तथा वाक्य के द्वारा व्यक्त होनेवाले रस इत्यादि में भी उस प्रकार की संघटना को छोड़कर अन्य प्रकार से भी वाक्य को संघटित कर देने पर भी वह वाक्य उसी रस को अभिव्यक्त करता ही रहता है; इससे मानना पड़ेगा कि सन्निहित भी संघटना रसाभिव्यक्ति में प्रयोजिका नहीं होती। अत एव मानना ही पड़ेगा कि गौण प्रयोग होते हुये भी गुण शब्द के आश्रित ही होते हैं। इसीलिये वृत्तिकार ने उपसंहार करते हुए लिखा है कि 'शब्द ही विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य से अनुगत होकर गुणों का आश्रय बनते हैं।' (इस विवेचन का आशय यही है कि वर्ण और पद के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली रसध्वनि में संघटना का प्रश्न उठता ही नहीं। वाक्यव्यङ्ग्य रसध्वनि में संघटना विद्यमान होती है किन्तु वह अभिव्यञ्जना की प्रयोजिका नहीं होती क्योंकि यदि वाक्य की संघटना को बदल कर उस वाक्य को अन्य प्रकार से संघटना को बदल कर उस वाक्य को अन्य प्रकार से संघटित कर दिया जावे तो भी रसध्वनि बनी ही रहती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि असंघटित शब्द ही गुणों का आश्रय होते हैं।)

(ध्वन्या०)—ननु माधुर्ये यदि नामैवमुच्यते तदुच्यताम्; ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वम्। न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते। उच्यते यदि न प्रसिद्धिमात्रग्रहदूषितं चेतस्तदत्रापि न न ब्रूमः। ओजसः कथमसमासा सङ्घटना नाश्रयः? यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक्प्रतिपादितम्। तच्चौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्तत्को दोषो भवेत्। न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति। तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित् क्षतिः। तेषां तु चक्षुरादीनामिव यथास्वं विषयनियमितस्य न कदाचिद्व्यभिचारः। तस्मादन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना। न च सङ्घटनाश्रिता गुणा इत्येकं दर्शनम्।

(अनु०) (प्रश्न) यदि माधुर्य के विषय में ऐसा कहा जाता है तो कहा जावे किस प्रकार अनियत संघटनावाले शब्द ओज के आश्रय हो सकते है? समासरहित संघटना कभी ओज के आश्रयत्व को प्राप्त नहीं हो सकती। इस पर कहा जा रहा है—यदि प्रसिद्धिमात्र के ग्रहण का दोष चित्त में न उत्पन्न हो गया हो तो वहाँ पर भी हम 'न' नहीं कह सकते (अर्थात् यह नहीं कह सकते कि असमासा संघटना से ओज की अभिव्यक्ति नहीं होती।) असमासा संघटना ओज का आश्रय क्यों नहीं हो सकती। क्योंकि रौद्र इत्यादि को प्रकाशित करनेवाली दीप्ति को निस्सन्देह ओज कहते हैं यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है।

वह ओज यदि असमासा संघटना में भी हो तो क्या दोष आजावेगा। यहाँ पर अचारुता सहृदयसंवेद्य है ही नहीं। अत एव गुणों का आश्रय अनियत संघटना को मानने पर कोई दोष नहीं आता। चक्षु इत्यादि के समान उन गुणों का स्वरूप सर्वदा विषय के द्वारा नियमित होता है और उसमें कभी व्यभिचार नहीं आता। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि गुण अन्य वस्तु हैं और संघटना अन्य वस्तु। संघटना के आश्रित गुण नहीं होते यह एक सिद्धान्त हुआ।

(लो०)—**नन्विति।** वाक्यव्यङ्ग्यध्वन्यभिप्रायेणेदं मन्तव्यमिति केचित्।

वयं तु ब्रूमः—वर्णपदव्यङ्ग्येऽप्योजसि रौद्रादिस्वभावे वर्णपदानामेकाकिनां स्वसौन्दर्यमपि न तादृगुन्मीलति तावद्यावत्तानि सङ्घटनाङ्कितानि न कृतानीति सामान्येनैवायं पूर्वपक्ष इति। **प्रकाशयत इति।** 'लक्षणहेत्वोः' इति शतृ प्रत्ययः।

रौद्रादि प्रकाशनाल्लक्ष्यमाणमोज इति भावः। **न चेति।** चशब्दो हेतौ। यस्मात् 'यो यः शस्त्रं' इत्यादौ नाचारुत्वं प्रतिभाति तस्मादित्यर्थः। **तेषां त्विति।** गुणानाम्। यथास्वमिति 'शृङ्गार एव परमो मनःप्रह्लादनो रसः' इत्यादिना च विषय नियम उक्त एव।

(अनु०)—'ननु इति।' कुछ लोग यह कहते हैं कि वाक्य व्यङ्ग्य ध्वनि के अभिप्राय से यह माना जाना चाहिये।

हम तो कहते हैं—वर्ण पद व्यङ्ग्य भी रौद्र इत्यादि स्वभाववाले ओज में एकाकी वर्ण तथा पदों का स्वसौन्दर्य भी उतना तब तक नहीं होता जब तक संघटना से अङ्कित न किये गये हों इस प्रकार सामान्यरूप से ही यह पूर्वपक्ष है। 'प्रकाशित करते हैं' 'लक्षण हेत्वोः' से शतृप्रत्यय हो जाता है।

अर्थात् ओज रौद्र इत्यादि के प्रकाशन से भलीभाँति लक्षित होता है। 'न च' इति। 'च' शब्द हेतु में है। अर्थात् क्योंकि 'यो यः शस्त्रं' इत्यादि में अचारुता प्रतीत नहीं होती इसलिये। 'उनका तो' अर्थात् गुणों का। 'यथास्वम्' इति। 'शृङ्गार ही मनका परम प्रह्लादन रस है' इसके द्वारा विषयनियम कह ही दिया गया है।

तारावती—(प्रश्न) यदि आप माधुर्य के विषय में यह बात कहना चाहें तो कह भी सकते हैं। (क्योंकि शृङ्गार की व्यञ्जना अधिकतर तो समासरहित संघटना से ही होती है; किन्तु कभी-कभी दीर्घसमासवाली संघटना से भी शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः माधुर्य गुण के विषय में संघटना के नियत होने का नियम नहीं रहा।) किन्तु ओज गुण के लिये आप यह किस प्रकार कह सकते हैं कि ओज ऐसे शब्दों के अधीन रहता है जिनकी संघटना नियत नहीं होती? किन्हीं लोगों ने (चन्द्रिकाकार ने) माना है कि यह पूर्वपक्ष वाक्यव्यङ्ग्य रस इत्यादि के विषय में ही है (क्योंकि संघटना वाक्य में ही सम्भव है।) इस पर हमारा (लोचन-कार का) कहना यह है कि यह बात आप केवल वाक्य-व्यङ्ग्य ध्वनि के विषय में ही नहीं कहसकते किन्तु यही बात आप वर्ण और पद व्यङ्ग्य ध्वनि के विषय में भी कह सकते हैं। कारण यह है कि रौद्रादि स्वभाववाला ओज गुण जहाँ पर वर्ण या पद के द्वारा प्रकाशित होगा वहाँ पर अकेला वर्ण या अकेला पद किसी प्रकार भी

अपनी उतनी सुन्दरता प्रकट नहीं कर सकेगा जितनी संघटना से अङ्कित होकर कर सकेगा। आशय यह है कि ओजगुण सर्वदा संघटना के ही आश्रित होता है वह माधुर्य इत्यादि के समान कभी संघटना से पृथक् रह ही नहीं सकता। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष सामान्यतया ओजगुण के विषय में ही है केवल वाक्यव्यङ्ग्य रसध्वनि के विषय में नहीं। (उत्तर) यदि प्रसिद्धिमात्र को मानने का दोष चित्त में उत्पन्न न हो गया हो तो इसका उत्तर भी नहीं दिया जा सकता यह बात नहीं। (आशय यह है कि यह बात प्रसिद्ध हो गई है कि ओजगुण में दीर्घ समास का होना अनिवार्य है। प्रतिपक्षी केवल उसी प्रसिद्धि को लेकर अपनी बात पर डटा हुआ है और जैसे-तैसे उस पुरानी बात को सिद्ध करना चाहता है। किन्तु विचार उन्मुक्त होने चाहिये। पुरानी लकीर का फकीर होना भी एक दोष है। यदि दोष को छोड़ दिया जावे तो सरलतापूर्वक समझ में आ सकता है कि ओज के लिये दीर्घ समास का होना अपरिहार्य नहीं है।) असमासा संघटना ओज को प्रकाशित क्यों नहीं कर सकती? यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि रौद्र इत्यादि रसों को प्रकाशित करनेवाली दीप्ति को ओज कहते हैं। यहाँ पर 'प्रकाशयतः' इस शब्द में शतृप्रत्यय 'लक्षणहेत्वोः' इस पाणिनिसूत्र से हुआ है। इसका अर्थ यह है कि रौद्र इत्यादि के प्रकाशन से ही ओज लक्षित होता है। यदि वह ओज समास रहित सङ्घटना के द्वारा भी हो तो क्या दोष हो जावेगा? 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि पद्य में कोई अचारुता तो प्रतीत नहीं होती। अत एव यदि गुणों को असङ्घटित शब्दों के आश्रित मानें तब भी कोई दोष नहीं होता। गुणों के विषय तो उसी प्रकार नियत हैं जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय नियत होते हैं। जैसे इन्द्रियों के विषयों में कभी व्यभिचार नहीं आता उसी प्रकार गुणों के विषयों में भी कभी व्यभिचार नहीं आता। (आशय यह है कि जिस प्रकार नेत्र का विषय है रूप और कानों का विषय है शब्द। ये विषय नियत हैं। कभी ऐसा नहीं हो सकता कि कानों का कार्य आँख करने लगे और आँख के विषय रूप को कान देखने लगे। इसी प्रकार गुणों का विषय व्यवस्थित है। माधुर्य का स्थान ओज नहीं ले सकता और ओज का स्थान माधुर्य नहीं ले सकता।) इन गुणों का अपना क्षेत्र नियत होता है यह बात—'शृङ्गार एव परमः परः प्रह्लादनो रसः' इत्यादि कारिकाओं में कह दी गई है और वहाँ पर गुणों के विषय नियत कर दिये गये हैं। अत एव गुण अन्य होते हैं और सङ्घटना अन्य होती है। गुण सङ्घटनाओं के आश्रित भी नहीं होते। यह हुआ एक पक्ष।

(ध्वन्या०) अथवा संघटनारूपा एव गुणाः। यत्तूक्तम्—'संघटनावद्गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति। तत्राप्येतदुच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितविषयव्यभिचारस्तद्विरूपमेवास्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत्? कविशक्तितिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः—कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात्कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते। परिकरश्लोकश्चात्र—

(अनु०) अथवा संघटनारूप ही गुण होते हैं। जो कि यह कहा गया था कि 'संघटना के समान गुणों की भी अनियतविषयता प्राप्त हो जावेगी क्योंकि लक्ष्य में व्यभिचार देखा जाता है।' उस पर यह कहा जा रहा है कि जिस लक्ष्य में परिकल्पित विषय का व्यभि-

चार देखा जावे उसको विरूप ही मान लिया माना चाहिये। उस प्रकार के विषय में सहृदयों को अचारुता का अवभास क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ पर अचारुता कवि-शक्ति से तिरोहित हो जाती है। दो प्रकार का दोष होता है—कवि की अव्युत्पत्ति से उत्पन्न और कवि की अशक्ति से उत्पन्न। उसमें अव्युत्पत्तिकृत दोष कभी-कभी कवि की शक्ति से तिरोहित होकर प्रतीत नहीं होता। किन्तु अशक्ति कृत दोष तो शीघ्र ही प्रतीत हो जाता है। इस विषय में एक परिकर श्लोक भी है—

(लो०)—अथ वेति। रसाभिव्यक्तावेतदेव सामर्थ्यं शब्दानां यत्ताथा तथा संघटमानत्वमिति भावः।

(अनु०) 'अथवा' यह। भाव यह है कि रसाभिव्यक्ति में शब्दों का इतना ही सामर्थ्य है कि उस प्रकार से संघटित कर दिये जावें।

दूसरा पक्ष और दोनों का ऐक्य

तारावती—(२) दूसरे मत के अनुसार सङ्घटना और गुण दोनों एक ही वस्तु हैं। गुण सङ्घटना का रूप ही होते हैं। आशय यह है कि रसाभिव्यक्ति में शब्दों की यही सामर्थ्य है कि शब्द विभिन्न रूप में संघटित हों तभी वे रसाभिव्यञ्जक हो सकते हैं। विरोधियों की ओर से जो यह कहा गया था कि यदि सङ्घटना और गुण एक ही होतें हैं तो जिस प्रकार सङ्घटना का विषय नियत नहीं होता उसी प्रकार गुणों में भी अनियतविषयता आ जावेगी। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता अपितु लक्ष्य में इसका अपवाद देखा जाता है। इत्यादि। इस पर मेरा उत्तर यह है कि संघटना का भी विषय नियत होता है और गुणों का भी। जहाँ कहीं कल्पित विषय में व्यभिचार देखा जावे वहाँ कमी ही समझी जानी चाहिये ? इस प्रकार के विषय में सहृदयों को अचारुता का आभास क्यों नहीं मिलता ? इसका उत्तर यही है कि ऐसे स्थानों पर दोष कवि की शक्ति से तिरोहित हो जाता है। दोष दो प्रकार का होता है—(१) व्युत्पत्ति की कमी से होनेवाला और (२) शक्ति की कमी से होनेवाला। शक्ति उस प्रतिभा को कहते हैं जिससे कवि में वर्णनीय वस्तु के विषय में नवीनरूप में उल्लेख करने की क्षमता आ जाती है और व्युत्पत्ति निपुणता को कहते हैं जिससे वर्णनीय वस्तु के उपयोग में आनेवाली समस्त वस्तु के पौर्वापर्य के परामर्श करने की योग्यता उत्पन्न हो। व्युत्पत्ति की कमी से जो दोष उत्पन्न होता है वह शक्ति से तिरस्कृत होकर कभी-कभी लक्षित नहीं होता; किन्तु जो दोष शक्ति की कमी से उत्पन्न होता है वह एकदम लक्षित हो जाया करता है। यही बात एक प्रसिद्ध श्लोक में कही गई :—

(ध्वन्या०)—'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥'

तथाहि—महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयकप्रसिद्धसंभोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते। यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्।

एवमादौ विषये यथौचित्यत्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे । शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते । तथा हि शक्तिरहितेन कविना एवंविधे विषये शृङ्गार उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते । नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति' इत्यादौ किमचारुत्वम् ? अप्रतीयमानमेवारोपयामः ।

(अनु०) 'अव्युत्पत्तिकृतदोष कविशक्ति से संवृत हो जाता है; किन्तु जो उसका अशक्तिकृत दोष होता है वह शीघ्र ही अवभासित होने लगता है ।'

वह इस प्रकार—महाकवियों को भी उत्तमदेवताविषयक प्रसिद्ध सम्भोगशृङ्गार के निबन्धन इत्यादि का अनौचित्य शक्ति के द्वारा तिरस्कृत होने के कारण ग्राम्यत्व के रूप में प्रतिभासित नहीं होता । जैसे कुमारसम्भव में देवी का सम्भोगवर्णन ।

इत्यादि विषय में जिस प्रकार औचित्य का त्याग नहीं होता वैसा आगे दिखलाया ही गया है । शक्तितिरस्कृतत्व का निर्णय अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा होता है । वह इस प्रकार कि शक्तिरहित कवि के द्वारा इस प्रकार के विषय में निबद्ध किया हुआ शृङ्गार स्फुटतया दोष के रूप में अवभासित होता है । (प्रश्न) इस पक्ष में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में क्या अचारुता है ? (उत्तर) हम तो प्रतीत न होनेवाली अचारुता का ही आरोप करते हैं ।

(लो०)—शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् । व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् । **तस्येति** कवेः । **अनौचित्यमिति** । आस्वादयितृणां यः चमत्काराविघातस्तदेव रससर्वस्वम्, आस्वादायत्तत्वात् । उत्तमदेवतासम्भोगपरामर्शे च पितृसम्भोग इव लज्जातङ्कादिना कश्चमत्कारावकाश इत्यर्थः । **शक्तितिरस्कृतत्वादिति** । सम्भोगोऽपि ह्यसौ वर्णितस्तथा प्रतिभानवता कविना यथा तथैव विश्रान्तं हृदयं पौर्वापर्यपरामर्शं कर्तुं न ददाति यथा निर्व्याजपराक्रमस्य पुरुषस्याविषयेऽपि युद्ध्यमानस्य तावत्तस्मिन्नवसरे साधुवादो वितीर्यते न तु पौर्वापर्यपरामर्शे, तथाऽत्रापीति भावः ।

दर्शितमेवेति । कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः । वक्ष्यते हि 'अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्' इत्यादि । **अप्रतीयमानमेवेति** । पूर्वापरपरामर्शविवेकशालिभिरपीत्यर्थः ।

(अनु०)—शक्ति अर्थात् प्रतिभा अर्थात् वर्णनीय वस्तु के विषय में नूतन उल्लेखशाली होना । व्युत्पत्ति अर्थात् उसमें उपयोगी समस्त वस्तु के पौर्वापर्य परामर्श की कुशलता । उसका अर्थात् कवि का । 'अनौचित्य' । अर्थ यह है कि आस्वाद करनेवालों के चमत्कार का विघात न होना वही रस का सर्वस्व है क्योंकि आस्वाद के आधीन होता है । उत्तमदेवता के सम्भोग के परामर्श में पिता के सम्भोग के समान लज्जा और आतङ्क इत्यादि से चमत्कार का अवकाश ही क्या है ?

'शक्तितिरस्कृत होने से' यह सम्भोग भी प्रतिभाशाली कवि के द्वारा ऐसा वर्णित किया गया है जैसे उसी में विश्रान्त हृदय पौर्वापर्य परामर्श करने नहीं देता जैसे व्याजरहित पराक्रमवाले तथा बिना अवसर युद्ध करनेवाले पुरुष को उस अवसर पर साधुवाद दे दिया जाता है किन्तु पौर्वापर्य परामर्श में नहीं, वैसा ही यहाँ पर भी है, यह भाव है ।

'दिखलाया ही है' यह। कारिकाकार ने अतः भूत अर्थ में प्रत्यय (क्त) है। निस्सन्देह कहेंगे—'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का कोई कारण नहीं' इत्यादि। 'अप्रतीयमान नहीं' अर्थात् पूर्वापर विवेकशालियों के द्वारा भी।

तारावती—'अव्युत्पत्ति से होनेवाला दोष कवि की शक्ति से संवृत हो जाता है; किन्तु अशक्ति से उत्पन्न दोष शीघ्र ही प्रकट हो जाया करता है।'

उत्तमदेवता विषयक श्रृङ्गारमें अनौचित्य

उदाहरण के लिये एक सामान्य नियम है कि उत्तम देवता के विषय में सम्भोगवर्णन अनुचित हुआ करता है। किन्तु महाकवियों ने जहाँ उत्तम देवताविषयक सम्भोगश्रृङ्गार का वर्णन किया है वह न तो अनुचित ही मालूम पड़ता है और न उसमें ग्राम्यता ही आती है। कुमारसम्भव में देवी का सम्भोगवर्णन भी इसी प्रकार का है। उसमें अनौचित्य का प्रतिभास नहीं होता। इसमें यही प्रमाण है कि आस्वाद लेनेवालों को चमत्कार के विघात की यहाँ पर प्रतीति नहीं होती। यही एक सबसे बड़ा प्रमाण है; क्योंकि रसका सर्वस्व आस्वाद के ही आधीन हुआ करता है। जहाँ कहीं उत्तम देवता के सम्भोग श्रृङ्गार का विस्तृत निबन्धन उपस्थित किया जाता है वह माता-पिता के सम्भोग के समान लज्जा और आतंक इत्यादि को उत्पन्न करनेवाला होता है। अतः उसमें चमत्कार का अवकाश ही कहाँ होता है? 'शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण' कहने का आशय यह है कि प्रतिभाशाली कवि (कालिदास) ने शिवपार्वती के सम्भोग का वर्णन इतनी निपुणता से किया है कि सहृदयों का हृदय उसी वर्णन में विश्रान्त होकर रह जाता है और पाठकों को अवकाश ही प्राप्त नहीं होता कि वे पौर्वापर्य का परामर्श कर सकें तथा उसके अनौचित्य पर ध्यान दे सकें। जैसे—यदि कोई पराक्रमशाली व्यक्ति किसी अनुचित पक्ष को लेकर युद्ध कर रहा हो तो भी उस अवसर पर एकबार साधुवाद निकल ही जाता है। पौर्वापर्य के परामर्श में वह बात नहीं होती। वैसा ही यहाँ पर समझना चाहिये। इस प्रकार के विषयों में जिस प्रकार औचित्य का त्याग नहीं होता—उसकी व्याख्या आगे कर दी गई है। यहाँ पर वृत्तिकार ने 'कर दी गई है' इस भूत-काल का प्रयोग किया है जबकि 'की जावेगी' इस भविष्यत्काल का प्रयोग होना चाहिये। भूतकाल का प्रयोग करने का कारण यह है कि कारिकाकार ने तो पहले ही व्याख्या कर दी थी। वृत्तिग्रन्थ का प्रणयन बाद में हुआ। ध्वनिकार ने कारिकायें पहले बनाई थीं। अतः कारिका के प्राक्तनत्व को लेकर यहाँ पर भूतकाल का प्रयोग कर दिया गया है। आगे चल कर कारिका आवेगी—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।' वहीं पर बतलाया जावेगा कि ऐसे विषयों में औचित्य का त्याग क्यों नहीं होता? अन्वय-व्यतिरेक से इस बात का निश्चय किया जाता है कि कहाँ पर अनौचित्य शक्ति के द्वारा तिरस्कृत हुआ है, कहाँ पर नहीं। वह इस प्रकार कि यदि शक्तिरहित कवि उत्तमदेवता के विषय में श्रृङ्गार रस का उप-निबन्धन करने लगे तो वहाँ पर स्फुट रूप में दोष मालूम पड़ने लगेगा। (अन्वय इस प्रकार होगा—'जहाँ अच्छा कवि वर्णन करता है वहाँ अदोषता होती है।' व्यतिरेक इस प्रकार होगा—'जहाँ कवि अच्छा नहीं होता वहाँ अदोषता भी नहीं होती।' यहाँ पर ग्रंथकार का आशय यह है कि कविवर कालिदास ने इतनी प्रौढ़ता के साथ भगवती पार्वती के सम्भोग श्रृङ्गार का वर्णन

किया है कि जब हम उसे पढ़ने लगते हैं तब काव्य की प्रौढ़ता में इतने निमग्न हो जाते हैं कि हमें ध्यान ही नहीं रहता कि हम उत्तमदेवताविषयक शृङ्गार का आस्वादन कर रहे हैं। जब हमें कोई विशेष रूप से स्मरण दिलाता है कि यह वर्णन तो उत्तमदेवता के विषय में है अतः माता पिता के सम्भोगवर्णन के समान सर्वथा अनुचित है तब हमारा ध्यान उस ओर जाता है। इस प्रकार काव्य का अनौचित्य कवि की शक्ति से दब जाया करता है। यही बात सङ्घटना के विषय में समझनी चाहिये। नियमानुकूल शृङ्गार में असमासा सङ्घटना ही होनी चाहिए, रौद्र रस में दीर्घसमासा सङ्घटना ही होनी चाहिये। जहाँ इस नियम का अतिक्रमण किया जाता है वहाँ अनौचित्य तो होता है, किन्तु कवि की प्रतिभा के प्रभाव से वह अनौचित्य लक्षित नहीं होता।) (प्रश्न) इस पक्ष में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इस पद्य में क्या अचारुता है? (उत्तर) यहाँ पर कोई न कोई अचारुता तो है ही; किन्तु वह कविप्रतिभा से ऐसी दब गई है कि पूर्वापर विवेचन का विवेक रखने वाले भी उसे जान नहीं पाते। यदि हम इस पक्ष को सिद्ध ही करना चाहते हैं कि सङ्घटना और गुण एक ही है या सङ्घटनाश्रित गुण होते हैं तो 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' में ऐसी अचारुता का आरोप करना ही पड़ेगा जो प्रतीतिगोचर नहीं हो रही है। (किन्तु यह अच्छी बात नहीं है कि एक ठीक निर्दुष्ट पद्य को हम बलात् केवल इसलिए दूषित कह दें कि हमें एक अपना पक्ष सिद्ध करना है और वह दोष भी ऐसा है जो किसी की भी समझ में नहीं आता।)

(ध्वन्या०)—तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते—

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ६ ॥

(अनु०) अत एव सङ्घटना के गुणों के व्यतिरिक्त होने पर अथवा गुणरूप होने पर नियम का कोई और हेतु कहा जाना चाहिए। अतः कहा जा रहा है—

'उसके नियम में वक्ता और वाच्य का औचित्य हेतु होता है' ॥ ६ ॥

(लो०)—**गुणव्यतिरिक्तत्व इति।** व्यतिरेकपक्षे हि संघटनाया नियमहेतुरेव नास्ति। ऐक्यपक्षेऽपि न रसो नियमहेतुरित्यन्यो वक्तव्यः। तन्नियम इति कारिकावशेषः। कथां नयति स्वकर्तव्याङ्गभावमिति कथानायको यो निर्वहणे फलभागी।

(अनु०) 'गुणव्यतिरिक्तत्व में'। व्यतिरेकपक्ष में सङ्घटना का नियमहेतु ही नहीं होता, ऐक्य पक्ष में भी रस नियम का हेतु नहीं होता अतः अन्य कहना चाहिए।

'तन्नियम' यह कारिका का अवशेष अंश है। कथा को अपने कर्तव्य के अङ्ग भाग के रूप में ले चलता है वह कथानायक (होता है) अर्थात् निर्वहण में फलभागी।

एकत्व पक्ष में औचित्य के दूसरे नियामक

तारावती—अत एव यदि आपको इस बात का आग्रह ही है कि सङ्घटना और गुण की एकता या व्यतिरेक में सङ्घटनाश्रितत्व सिद्ध हो जावे तो औचित्य का नियामक रस को न मानकर किसी दूसरे तत्त्व को मानना पड़ेगा। क्योंकि यदि सङ्घटना और गुण दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं तब तो नियम का कोई हेतु है ही नहीं और अभेद पक्ष में भी रस नियम का

हेतु नहीं हो सकता। इसीलिए औचित्य का नियामक कोई दूसरा तत्त्व मानना पड़ेगा। अतः छठी कारिका के उत्तरार्ध से औचित्य के दूसरे निमित्तों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

'वक्ता और वाच्य का औचित्य सङ्घटना के नियम में हेतु होता है' ॥ ६ ॥

'तन्नियम' इत्यादि भाग छठी कारिका का शेष अंश है।

(ध्वन्या०)–तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा, रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा। कथानायकश्च-धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः। वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्। तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव। यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमास-मध्यसमासे एव सङ्घटने।

(अनु०) उसमें वक्ता या तो कवि होता है या कविनिबद्ध कोई पात्र। कविनिबद्ध भी या तो रसभाव से रहित होता है या रसभावसमन्वित। रस भी कथानायक के आश्रित होता है या उसके विपक्ष के आश्रित। कथानायक भी धीरोदात्त इत्यादि भेद से भिन्न प्रथम होता है या उसके बाद का—यही विकल्प हैं। वाच्य भी ध्वन्यात्मक रस का अङ्ग होता है या रसाभासाङ्ग, वाच्य अभिनेयार्थ होता है या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृत्याश्रय होता है या तद्भिन्न प्रकृत्याश्रय—इस प्रकार वाच्य बहुत प्रकार का होता है। उसमें यदि कवि रसभावरहित वक्ता है तब रचना में स्वेच्छाचार होता है और जब कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित होता है तब भी वही बात होती है। इसके प्रतिकूल जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता नियम से रसभाव से युक्त हों और रस प्रधानाश्रित होने के कारण ध्वनि का आत्मभूत ही हो तब नियम से ही असमास या मध्यसमासवाली सङ्घटना ही (अपेक्षित होती है।)

(लो०)—**धीरोदात्तादीति**। धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः, वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः, वीरश्रृङ्गारप्रधानो धीरललितः, दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीरप्रशान्त इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सात्वत्यारभटीकैशिकीभारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः। पूर्वः कथा-नायकस्तदनन्तर उपनायकः। विकल्पा इति वक्तृभेदा इत्यर्थः।

वाच्यमिति। ध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभावो यो रसस्तस्याङ्गं व्यञ्जकमित्यर्थः। अभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यैराभिमुख्यं साक्षात्कारप्रायं नेयोऽर्थो व्यङ्ग्यरूपो ध्वनिस्व-भावो यस्य तदभिनेयार्थं वाच्यम्, स एव हि काव्यार्थ इत्युच्यते। तस्यैव चाभिनयेन योगः। यदाह मुनिः—'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति' इत्यादि तत्र तत्र। रसाभिनयनान्तरीयकतया तु तद्विभावादिरूपतया वाच्याऽर्थोऽभिनीयत इति वाच्यमभिनेयार्थमित्येषैव युक्ततरा वाचोयुक्तिः। नत्वत्र व्यपदेशिवद्भावो व्याख्येयः, यथान्यैः। **तदितरेति**। मध्यमप्रकृत्याश्रयमधमप्रकृत्याश्रयं चेत्यर्थः। एवं वक्तृभेदान् वाच्यभेदांश्चाभिधाय तद्गतमौचित्यं नियामकमाह—**तत्रेति**।

रचनाया इति संघटनायाः। रसभावहीनोऽनाविष्टस्तापसादिरुदासीनोऽपीतिवृत्ताङ्गतया यद्यपि प्रधानरसानुयाय्येव, तथापि तावति रसादिहीन इत्युक्तम्। स एवेति कामचारः। एवं शुद्धवक्त्रौचित्यं विचार्य वाच्यौचित्येन सह तदेवाह—**यदा त्विति**। कविर्यद्यपि रसाविष्ट एव वक्ता युक्तः। अन्यथा 'स एव वीतरागश्चेत्' इति स्थित्या नीरसमेव काव्यं स्यात्। तथापि यदा यमकादिचित्रदर्शनप्रधानोऽसौ तटस्थः। रसश्च ध्वन्यात्मभूत एव न तु रसवदलङ्कारप्रायः। तदासमासामध्यसमासे एव संघटने, अन्यथा तु दीर्घसमासापोत्येवं योज्यम्। तेन नियमशब्दस्य द्वयोश्चैवकारयोः पौनरुक्त्यमनाशङ्क्यम्।

(अनु०) धीरोदात्त इत्यादि। धर्म और युद्ध वीर प्रधान धीरोदात्त (होता है) वीर और रौद्र प्रधान धीरोद्धत (होता है।) वीर शृंगार प्रधान धीरललित (होता है) दानवीर, धर्मवीर और शान्त प्रधान धीरशान्त (होता है)। इस प्रकार चार नायक क्रमशः सात्वती, आरभटी, कैशिकी और भारती नामक वृत्तियों में प्रधान होते हैं। पहला कथानायक और उसके बाद का उपनायक (होता है)। 'विकल्प' अर्थात् वक्ता के भेद।

'वाच्य यह'। ध्वन्यात्मक अर्थात् ध्वनिस्वभाववाला जो रस उसका अङ्ग अर्थात् व्यञ्जक। अभिनेय अर्थात् वाणी अङ्ग सत्त्व और आहार्य के द्वारा आभिमुख्य अर्थात् साक्षात्कार की ओर ले जाया जानेवाला व्यङ्ग्यरूप अर्थात् ध्वनिस्वभाव वाला है अर्थ जिसका वह अभिनेयार्थ अर्थात् वाच्य। वही काव्यार्थ कहा जाता है। उसी का अभिनय से योग होता है। जैसा कि मुनि कहते हैं—'वाणी अङ्ग और सत्त्व से उपेत काव्यार्थों को भावित करते हैं' इत्यादि विभिन्न स्थानों पर। रसाभिनय में अवश्यकर्तव्यता के रूप में तो उसके विभावादिरूपता के कारण वाच्य अर्थ अभिनीत किया जाता है इसलिये वाच्य अभिनेयार्थ है यही अधिक उपयुक्त कथन है। यहाँ पर व्यपदेशिवद्भाव की व्याख्या नहीं की जानी चाहिये जैसी औरों ने की है। 'उससे भिन्न' मध्यमप्रकृत्याश्रय और अधमप्रकृत्याश्रय। इस प्रकार वक्ता के भेदों और वाच्य के भेदों को कहकर तद्गत औचित्य के नियामक को कहते हैं—'वहाँ पर'।

रचना का अर्थात् संघटना का। रसभावहीन तापस इत्यादि उदासीन भी इतिवृत्ताङ्ग होने के कारण प्रधान रस का अनुयायी ही होता है तथापि उतने में रसभावहीन यह कह दिया गया। 'वही' अर्थात् कामचार। इस प्रकार वक्ता के शुद्ध औचित्य पर विचार कर वाच्यौचित्य के साथ उसी को कहते हैं—'जब तो'। कवि का यद्यपि रसाविष्ट वक्ता होना ही उचित है, नहीं तो 'यदि वह वीतराग हो' इत्यादि स्थिति से काव्य नीरस ही हो जावेगा। तथापि जब यह (कवि) यमक इत्यादि चित्र-दर्शन प्रधान होता है तब रसभावादिहीन कहा गया है। नियमपूर्वक वक्ता रसभाव इत्यादि से समन्वित ही होना चाहिए, किसी प्रकार भी तटस्थ नहीं। रस भी ध्वन्यात्मभूत ही होना चाहिए रसवदलङ्कारप्राय नहीं। तब असमासा और मध्यसमासा ही संघटनाएँ (होती हैं), अन्यथा तो दीर्घसमासा भी हो सकती हैं—इस प्रकार की योजना करनी चाहिये। इससे नियम शब्द और दोनों एवकारों के पौनरुक्त्य की शङ्का नहीं करनी चाहिए।

वक्ता और वाच्य के भेदोपभेद

तारावती—वक्ता और वाच्य के औचित्य के आधार पर सङ्घटना के नियमों पर विचार करने के पहले सङ्घटना के दृष्टिकोण से वक्ता और वाच्य के भेदोपभेद कर लेना उचित प्रतीत होता है। उसमें वक्ता दो प्रकार का हो सकता है या तो कवि या कविनिबद्ध कोई पात्र। कविनिबद्धपात्र भी दो प्रकार का हो सकता है रस और भाव से रहित तथा रस और भाव से युक्त। रस भाव युक्त वक्ता भी दो प्रकार का हो सकता है कथानायक के आश्रित रस से युक्त और कथानायक के विरोधी व्यक्ति में रहनेवाले रस से युक्त। ('कथानायक' शब्द कथा उपपद नीधातु से कर्ता के अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय होकर बना है) इस कथानायक शब्द का अर्थ होता है कथा को अपने कर्तव्य का अङ्गभूत बनानेवाला व्यक्ति जो कि निर्वहण में फल का भागी हो। कथानायक के धीरोदात्त इत्यादि भेद होते हैं—नायक चार प्रकार का होता है—(१) धीरोदात्त उसे कहते हैं जिसमें धर्मवीर तथा युद्धवीर की प्रधानता हो। (२) धीरोद्धत उसे कहते हैं जिसमें वीररस और रौद्र रस की प्रधानता हो। (३) धीर-ललित उसे कहते हैं जिसमें वीररस और शृङ्गार रस की प्रधानता हो। (४) धीरप्रशान्त उसे कहते हैं जिसमें दानवीर, धर्मवीर और शान्तरस की प्रधानता हो। इन चारों नायकों में क्रमशः सात्वती, आरभटी, कैशिकी और भारती नामक वृत्तियों की प्रधानता होती है। (इनके लक्षण अन्यत्र दिये गये हैं वहीं देखना चाहिए। शृङ्गाररस के नायक चार प्रकार के होते हैं अनुकूल, दक्षिण, शठ और धूर्त। इनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं उत्तम, मध्यम और अधम। इनके भी लक्षण रसशास्त्रीय ग्रन्थों में दिये गये हैं वहीं देखना चाहिये) यह नायक भी दो प्रकार का होता है—या तो पहला या बाद का। पहला कथानायक होता है और बाद का उपनायक होता है। (यह या तो कथानायक के अनुकूल हो सकता है या विरोधी। अनुकूल होगा तो अनुनायक या उपनायक कहलावेगा और प्रतिकूल होगा तो प्रतिनायक।) नायकभेद के यही विकल्प हैं अर्थात् वक्ता के यही भेद हैं।

इसी भाँति वाच्य भी कई प्रकार का होता है। एक तो ऐसा वाच्य जो ध्वनिस्वभाव-वाले रस का अङ्ग अर्थात् व्यञ्जक हो, दूसरा ऐसा वाच्य जो रसाभास का व्यञ्जक हो। वाच्यार्थ के पुनः दो भेद होते हैं अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ। इनके अतिरिक्त उसके दो भेद और होते हैं उत्तम प्रकृति का आश्रय लेनेवाला वाच्यार्थ और उससे भिन्न प्रकृति का आश्रय लेनेवाला वाच्यार्थ। इस प्रकार वाच्यार्थ के बहुत से प्रयोग होते हैं। यहाँ पर अभिनेयार्थ शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिये। यह शब्द वाच्यार्थ का विशेषण है और इसमें बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह होगा—'अभिनय है अर्थ जिसका' अर्थात् अभिनेयार्थवाच्य उसे कहते हैं जिस वाच्यार्थ का अर्थ अभिनेय हो। अभिनेय शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है अभि + नेय। 'अभि' का अर्थ है सामने और 'नेय' का अर्थ है ले आना। आशय यह है कि जिस वाच्यार्थ का अर्थ दर्शकों के सामने ले आया जावे उस वाच्यार्थ को अभिनेयार्थ वाच्य कहते हैं। कोई भी अर्थ चार प्रकार के अनुभावों के द्वारा सामने लाया जाता है—वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य। इनके द्वारा सामने लाया जानेवाला या प्रत्यक्ष कराया जानेवाला अर्थ व्यङ्ग्यार्थ ही होता है जिसका स्वभाव ध्वन्यात्मक हो अर्थात् जिस व्यङ्ग्यार्थ में ध्वनिरूपता को धारण करने की क्षमता हो।

अत एव अभिनेयार्थ वाच्यार्थ का निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि जिस वाच्यार्थ के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला ध्वनि के स्वभाववाला व्यङ्ग्यार्थ वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य इन चार प्रकार के अनुभावों के द्वारा प्रत्यक्ष रूपमें (दर्शनीयरूप में) सामने लाया जावे उस वाच्यार्थ को अभिनेयार्थ कहते हैं। उसी व्यङ्ग्यार्थ की संज्ञा काव्यार्थ भी होती है और उसी व्यङ्ग्यार्थ का अभिनय से योग भी होता है। भरत मुनि ने विभिन्न स्थानों पर सङ्केत दिया है कि अभिनय व्यङ्ग्यार्थ का ही होता है। जैसा कि उन्होंने भावों की परिभाषा लिखते हुये लिखा है—"वाणी अङ्ग और सत्त्व से युक्त काव्यार्थों को ये भावित करते हैं।' अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वाच्यार्थ का योग अभिनय से सर्वथा नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि होता है। किन्तु होता इसी रूप में है कि रस अथवा भाव का अभिनय तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि रस के विभाव इत्यादि का भी अभिनय न किया जावे। इस प्रकार रसाभिनय के लिये विभाव इत्यादि के रूप में वाच्य का अभिनय भी अपरिहार्य ही है; अत एव वाच्यार्थ का भी अभिनय किया ही जाता है। यहाँ पर सारांश यह है कि यद्यपि वाच्यार्थ का भी अभिनय से योग होता है तथापि वाच्यार्थ को अभिनेयार्थ इसीलिये कहते हैं कि वाच्यार्थ के अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) का अभिनय किया जाता है—यही व्याख्या करनी चाहिए; क्योंकि यही अधिक उचित तर्क है अर्थात् बहुव्रीहि का अर्थ इसी व्याख्या में ठीक बैठता है। कुछ लोगों ने (चन्द्रिकाकार ने) यह अर्थ किया है कि 'अभिनेय है अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ जिसका' इस प्रकार की व्याख्या करने में दोष यह आता है कि 'जिस वाच्यार्थ का वाच्यार्थ अभिनेय है' इस अर्थ का क्या अभिप्राय होगा ? 'वाच्यार्थ का वाच्यार्थ' कहने का क्या अभिप्राय ? इसका उत्तर चन्द्रिकाकार ने यह दिया है कि यहाँ पर व्यपदेशिवद्भाव से भेद की कल्पना कर ली जावेगी अर्थात् व्याख्याता लोग किसी एक ही वस्तु में भेद की कल्पना कर उसे समझाया करते हैं। जैसे 'राहु का शिर' यद्यपि 'राहु' वास्तव में शिर को ही कहते हैं; राहु और शिर दोनों एक ही वस्तु हैं फिर भी समझाने के लिये भेदकल्पना की गई है। इसी प्रकार 'वाच्यार्थ का वाच्यार्थ' इसमें भी भेद की कल्पना कर लेनी चाहिये। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। (क्योंकि एक तो व्यपदेशिवद्भाव अगतिकगति है दूसरे अभिनय भाव इत्यादि का ही होता है। अतः जब व्यङ्ग्यार्थ के अभिनयपरक अर्थ करने से सन्दर्भ ठीक बैठ जाता है तब व्यपदेशिवद्भावपरक व्याख्या करना ठीक नहीं।) 'वाच्य के दो और भेद होते हैं—उत्तम प्रकृति के आश्रित और उससे भिन्न के आश्रित।' यहाँ पर उससे भिन्न का आशय है मध्यम प्रकृति के आश्रित या अधम प्रकृति के आश्रित।

उक्त भेदों का औचित्य

इस प्रकार वक्ता के भेदों और वाच्य के भेदों का अभिधान कर दिया गया। अब उनके औचित्य के नियामक पर विचार किया जा रहा है—'जब कवि में रस भाव इत्यादि का समावेश न हो तथा कवि ही वक्ता हो तब स्वेच्छानुसार रचना किसी प्रकार की भी हो सकती है अर्थात् उसमें संघटना का कोई विशेष नियम नहीं है।' 'कवि रसभावहीन वक्ता हो' में रसभावहीन का आशय यह है कि जब कवि में किसी प्रकार के रस भाव इत्यादि का समावेश न हुआ हो। (उदाहरण के लिये सूर तुलसी इत्यादि ने भक्ति-परक काव्य लिखा है

और उनमें भक्तिका आवेश भी था। किन्तु कुछ ऐसे कवियों ने भी भक्ति-परक रचनायें की हैं जिनमें वस्तुतः भक्तिभावना विद्यमान नहीं थी। अथवा भक्त कवियों को भी प्रकरण वश ऐसे रसों का अभिव्यञ्जन करना पड़ा है जिनमें उनकी अन्तरात्मा आनन्द नहीं लेती थी। ऐसे अवसर पर यदि कवि में रस का अभिनिवेश न हो तो उसे अधिकार है कि वह संघटना के किसी भी प्रकार को अपना सकता है। आशय यह है कि कुछ तो प्रकरण ऐसे होते हैं जिनको कवि पूर्ण तन्मयता के साथ लिखता है और उनका प्रभाव पाठकों या दर्शकों पर भी जमाना चाहता है तथा कुछ प्रकरण ऐसे होते हैं जिनको कवि प्रकरण-वश लिखता तो है किन्तु उसका पूर्ण अभिनिवेश उसमें नहीं होता। यदि कवि इस प्रकार प्रकरण को चलते हुये रूप में लिख रहा हो तो उसे अधिकार है कि चाहे जैसी शैली अपना सकता है।) रसभाव-हीन का अर्थ है रसाभिनिवेश से रहित तपस्वी इत्यादि कोई उदासीन कवि। यद्यपि इस प्रकार का भी इतिवृत्त काव्य का अंग होने के कारण प्रधान रस का अनुयायी होता है (अतः उसे रसभावहीन कवि नहीं कह सकते) तथापि उतने अंश में अर्थात् अप्रधान रस में वह रस-भावहीन होता ही है इसीलिये उसे रसभावहीन कहा गया है। (उदाहरण के लिये सूर का प्रधान अभिनिवेश कोमल रसों के लिखने में है। प्रसङ्ग-वश उन्होंने अघासुर-वध इत्यादि में कठोररस-परक भी रचना की है तथापि उसमें उनका पूर्ण अभिनिवेश नहीं था। अतः यद्यपि सूर सहृदयशिरोमणि कहे जाते हैं तथापि कठोर रसों के विषय में वे रसभावहीन ही कहे जावेंगे और यदि उस प्रकार की रचना में उन्होंने संघटना के औचित्य का उल्लंघन किया होगा तो वह आलोचकों की उपेक्षा का ही विषय होगा। किन्तु तुलसी के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उनका अभिनिवेश प्रायः सभी प्रकार के काव्य के विषय में था।) इसी प्रकार जब कविनिबद्ध वक्ता रसभाव रहित हो तब वही बात अर्थात् रचना स्वेच्छानुसार कैसी भी हो सकती है। यहाँ तक शुद्ध वक्ता के दृष्टिकोण से संघटना के औचित्य का विचार कर दिया गया। अब वाच्यार्थ के औचित्य के साथ वक्ता के औचित्य पर विचार किया जा रहा है—'जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता नियम से रस और भाव से युक्त हो और रस प्रधान में आश्रित होने के कारण ध्वनि की आत्मा के रूप में ही स्थित हो तब संघटना असमास या मध्यसमास वाली ही होती है। किन्तु करुण और विप्रलम्भ शृंगार में संघटना समासरहित ही होती है।'

रस पर आधारित संघटना

यद्यपि कवि का सर्वदा रसाविष्ट वक्ता होना ही उचित है। नहीं तो जैसा कि कहा गया है 'यदि कवि वीतराग हो तो सारा काव्य नीरस हो जावेगा' इसके अनुसार काव्य में नीरसता आ जावेगी तथापि कभी-कभी कवि का अभिनिवेश प्रधानतया रसोन्मुख न होकर यमक इत्यादि अथवा चित्रकाव्यप्रदर्शनपरक हो जाता है उसी दशा में कवि रसभाव-हीन कहा जाता है। (इसके अतिरिक्त कवि अपने प्रधान रस से भिन्न जब ऐसे विषय में लिखने लगता है जिसका उसे चलता हुआ वर्णन करना है तब भी वह रसभावाभिनिवेश हीन ही कहा जाता है। आलोककार ने 'यदा तु कवि·······संघटने' इस वाक्य के अन्त में लिखा है 'नियमेनैव तत्रासमासे एव संघटने।' इस वाक्य का सीधा अर्थ यह होगा—नियम से ही

असमास या मध्यसमास ही संघटनायें होती हैं। यहाँ पर तो एक नियम शब्द दूसरे दो बार 'ही' (एव) का प्रयोग पुनरुक्त हो जाते हैं और इनका कोई उपयोग नहीं रहता। अतः इस पुनरुक्ति को दूर करने के लिए इन शब्दों को वाक्य में विभिन्न स्थानों पर जोड़ देना चाहिए। नियम का अन्वय वक्ता से करना चाहिए अर्थात् जो वक्ता नियमपूर्वक रसभाव से युक्त हो अर्थात् किसी प्रकार भी तटस्थ न हो। प्रथम 'एव' शब्द को ध्वन्यात्मभूत के साथ जोड़ना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि रस ध्वन्यात्मभूत ही हो किसी प्रकार भी रसवदलङ्कारप्राय न हो। दूसरा 'एव' अपने ठीक स्थान पर (प्रयोग के स्थान पर) लग जाता है। उसका अर्थ हो जाता है—'तब संघटना असमास या मध्यसमासवाली ही होती है नहीं तो दीर्घसमासवाली भी हो सकती है। इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये जिससे नियम शब्द तथा दोनों 'एव' शब्दों की पुनरुक्ति की आशङ्का न की जा सके।

(ध्वन्या०) करुणविप्रलम्भयोस्त्वसमासैव सङ्घटना।

कथमिति चेदुच्यते—रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः।

एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये। ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात्स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति। रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यमसमासा सङ्घटना कदाचिद्धीरोद्धतनायकाश्रयेण दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या। सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसङ्घटनासाधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न न प्रकाशयति। तस्मात्सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः।

(अनु०) करुण और विप्रलम्भ में तो असमासा संघटना ही होती है। किस प्रकार? यदि यह कहो तो कहा जा रहा है—जब प्रधानतया रस का प्रतिपादन करना हो तब उसकी प्रतीति में व्यवधान डालनेवालों तथा विरोधियों का सभी प्रकार से परिहार करना चाहिये।

और इस प्रकार समासों की अनेक प्रकार की सम्भावना के कारण दीर्घसमासा संघटना कदाचित् रसप्रतीति में व्यवधान भी उपस्थित कर देती है। अतः उस दीर्घसमास में अत्यन्त आग्रह शोभित नहीं होता है। विशेष रूप से अभिनेयार्थ काव्य में उससे भिन्न (श्रव्य काव्य में) विशेष रूप से करुण और विप्रलम्भ शृंगार में। उन दोनों के अधिक सुकुमार होने के कारण थोड़ी भी अस्वच्छता में शब्द और अर्थ की प्रतीति मन्थर हो जाती है। पुनः रौद्र इत्यादि दूसरे रस के प्रतिपादनीय होने पर मध्यमसमासवाली संघटना अथवा कदाचित् धीरोद्धत नायक से सम्बन्ध रखनेवाले क्रिया-कलाप का आश्रय लेने से दीर्घसमास भी उस वाच्य की अपेक्षा करने के कारण जो ऐसे रस के अनुकूल हो जिस (रस का) आक्षेप विना दीर्घसमास के हो ही न सके, गुणहीन नहीं होता अत एव उसका भी अत्यन्त परिहार नहीं होना

चाहिये। (जहाँ वाच्य बिना दीर्घ समास के रस को अभिव्यक्त ही न कर सके वहाँ दीर्घ-समास विगुण नहीं होता। अतः उसका भी परित्याग करना उचित नहीं है।) सब प्रकार की सङ्घटनाओं में प्रसाद नामक गुण व्यापक होता है। यह बतलाया जा चुका है कि वह सभी रसों में साधारण होता है तथा सभी सङ्घटनाओं में भी साधारण होता है। प्रसाद गुण का अति-क्रमण करने पर समासरहित सङ्घटना भी करुण तथा विप्रलम्भ श्रृंगार को अभिव्यक्त नहीं करती। प्रसाद गुण के परित्याग न करने पर मध्यम समासवाली सङ्घटना भी (कोमल रसों को) प्रकाशित न करे—ऐसा नहीं होता। अतः सर्वत्र प्रसाद गुण का अनुसरण करना चाहिए।

(लो०)—**कथमिति चेदिति**। किं धर्मसूत्रकारवचनमेतदिति भावः। उच्यते इति। न्यायोपपत्त्येत्यर्थः। **तत्प्रतीताविति**। तदास्वादे ये व्यवधायका आस्वादविघ्नरूपा विरोधिनश्च तद्विपरीतास्वादमया इत्यर्थः।

सम्भावनयेति। अनेकप्रकारः सम्भाव्यते संघटना तु सम्भावनायां प्रयोक्त्रीति द्वौ णिचौ। **विशेषतोऽभिनेयार्थेति**। अत्रुटितेन व्यङ्ग्येन तावत्समासार्थाभिनयो न शक्यः कर्तुम्। काक्वादयोऽन्तरप्रसादगानादयश्च। तत्र दुष्प्रयोजा बहुतर-सन्देहप्रसरा च तत्र प्रतिपत्तिर्न नाट्येऽनुरूपा स्यात्। प्रत्यक्षरूपत्वात्तस्या इति भावः। **अन्यत्र चेति**। अनभिनेयार्थेऽपि। **मन्थरीभवतीति**। आस्वादो विघ्नितत्वात्प्रतिहन्यत इत्यर्थः। तस्या दीर्घसमाससङ्घटनायाः य आक्षेपस्तेन विना यो न भवति व्यङ्ग्या-भिव्यञ्जकतयोपादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटनां प्रति सा अवैगुण्ये हेतुः। नायकस्याक्षेपो व्यापार इति यद्व्याख्यातं तत्र श्लिष्यतीवेत्यलम्।

व्यापीति। या काचित्सङ्घटना सा तथा कर्तव्या यथा वाच्ये झटिति भवति प्रतीतिरिति यावत्। **उक्तमिति**। 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु' इत्यादिना। **न व्यनक्तीति**। व्यञ्जकस्य स्ववाच्यस्यैवाप्रत्यायनादिति भावः। **तदिति**। प्रसादस्यापरित्यागे अभीष्टत्वादत्रार्थे स्वकण्ठेनान्वयव्यतिरेकावुक्तौ।

(अनु०)–'यदि कहो किस प्रकार' यह। भाव यह है कि क्या यह धर्म-शास्त्रकार का वचन है ? 'कहा जाता है' अर्थात् न्याय्य उपपत्ति से। 'उसकी प्रतीति में' अर्थात् उसके आस्वाद में जो व्यवधायक अर्थात् आस्वाद विघ्नस्वरूप विरोधी उससे विपरीत आस्वादमय।

'सम्भावना के द्वारा' अनेक प्रकार की सम्भावना की जाती है और सङ्घटना तो सम्भावना में प्रयोजिका होती है इस प्रकार दो णिच् (किये गये हैं) 'विशेषरूप से अभिनेयार्थ काव्य में'। बिना टूटे हुए व्यंग्य के द्वारा तो समासार्थ का अभिनय नहीं ही किया जा सकता। और काकु इत्यादि तथा प्रसादन के लिये अन्तर्गान इत्यादि। उसमें कठिनता से प्रयोग करने योग्य तथा बहुतर सन्देह प्रसारवाली प्रतिपत्ति नाट्य के अनुरूप नहीं होगी। क्योंकि उसका रूप प्रत्यक्ष (हो जाता है) यह भाव है। 'और अन्यत्र' अर्थात् अनभिनेय अर्थ (वस्तु) में भी। 'मन्थर हो जाती है' अर्थात् विघ्नित होने के कारण आस्वाद प्रतिहत हो जाता है। उसका अर्थात् दीर्घसमास सङ्घटना का जो आक्षेप उसके बिना जो व्यंग्य का अभि-व्यञ्जक नहीं होता उस प्रकार का रसोचित अर्थात् रसव्यंजकता के लिये ग्रहण किया हुआ जो वाच्य उसकी जो दीर्घसमाससङ्घटना के प्रति अपेक्षा वह अवैगुण्य में हेतु है। नायक का

आक्षेप अर्थात् व्यापार जो यह व्याख्या की गई वह (हृदय में) जमती ही नहीं बस इतना पर्याप्त है।

'व्यापी' यह। आशय यह है कि जो कोई भी सङ्घटना हो वह ऐसी की जानी चाहिये जिससे वाच्य में शीघ्र ही प्रतीति हो जावे। 'कहा गया है' 'काव्य का (सभी रसों के प्रति) जो समर्पकत्व' इत्यादि के द्वारा। 'व्यक्त नहीं करता है'। भाव यह है कि क्योंकि व्यञ्जक अपने वाच्य का ही प्रत्यायन नहीं कराता। 'वह' यहाँ प्रसाद के अपरित्याग में अभीष्ट होने के कारण, इस विषय में स्वकण्ठ से अन्वय-व्यतिरेक कह दिये गये हैं।

तारावती—'करुण तथा विप्रलम्भ शृंगार में संघटना समासहीन होनी चाहिये। (प्रश्न) यह कैसे ? क्या यह धर्मशास्त्र का वचन है जोकि इसका निर्देश मानना अनिवार्य हो ? (उत्तर) यह बात तो न्यायानुकूल ही सिद्ध हो जाती है जब प्रधानतया रस का प्रतिपादन किया जा रहा हो तब उसकी प्रतीति में व्यवधायक हो अर्थात् जो तत्त्व रसास्वादन में विघ्नकारक हों अथवा विरोधी हों अर्थात् उससे विपरीत आस्वादको उत्पन्न करनेवाले हों उनका तो पूर्ण रूप में परित्याग ही करना चाहिये। अब ऐसी संघटना की बात लीजिये जिसमें लम्बे समास किये गये हों। समास में अनेक प्रकार की सम्भावना की जा सकती है। (जैसे 'लोकनाथ' शब्द में बहुव्रीहि भी हो सकता है, कर्मधारय भी और मध्यमपदलोपी समास भी।) अतः कभी-कभी वाच्यार्थ के निर्णय में विवेचन करना पड़ सकता है जिससे रस की प्रतीति में एक व्यवधान उपस्थित हो सकता है। यह बात विशेष रूप से लम्बे समासों में होती है। अतः लम्बे समासों का अधिक आग्रह अच्छा नहीं लगता। यहाँ पर सम्भावना शब्द सम् उपसर्ग भू धातु से दो बार णिच् प्रत्यय होकर संज्ञा अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होने से बना है। एक णिच् के बाद जब दुबारा णिच् प्रत्यय होता है तब एक णिच् का लोप हो जाता है। दो बार णिच् होने से यह अर्थ हो जावेगा— समास में अनेक प्रकार सम्भव होते हैं, कोई परिशीलक व्यक्ति उनकी सम्भावना करता है और उसकी सम्भावना में प्रयोजक होती है संघटना। इस प्रकार दीर्घसमासगर्भित संघटना में अनेक प्रकार की सम्भावना से वाच्यार्थ व्यवहित हो जाता है और उससे रसप्रतीति भी व्यवहित हो जाती है। यह बात विशेष रूपसे ऐसे काव्य में होती है जोकि अभिनय के लिये लिखा गया हो। कारण यह है कि दृश्य काव्य अभिनय के मन्तव्य से लिखा जाता है और नट लोग उस काव्य का अभिनय कर उसका प्रत्यक्षीकरण पाठकों के सामने करते हैं। यदि अभिनेय काव्य में लम्बे समास हुए तो उस समासगर्भित वाक्य का अभिनय बिना वाक्य को तोड़े हुए सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में व्यङ्ग्यार्थ भी टूट-टूट कर ही परिशीलकों के सामने आता है जिससे रसप्रतीति में विघ्न पड़ता है। दूसरी बात यह है कि अभिनय में अभिनेता को विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि बनाकर (काकु के द्वारा) किसी शब्द या वाक्य का उच्चारण करना पड़ता है। यदि लम्बे समास हुए तो कण्ठध्वनि किस प्रकार बनाई जा सकेगी ? इसी प्रकार अभिनय में बीच-बीच में जनता के अनुरंजन के लिये गाने भी होते हैं। यदि गानों में लम्बे समास हुए तो उनका स्वर-संयोग किस प्रकार ठीक किया जा सकेगा ? आशय यह है कि उस अभिनेय काव्य में ऐसी प्रतिपत्ति जिसका प्रयोग (अभिनय) कठिनाई से किया जा सके तथा जो सन्देह को बहुत अधिक प्रसार देनेवाली हो नाट्य के अनुकूल नहीं होती। क्योंकि उसमें तो नाट्यप्रतीति प्रत्यक्षरूपिणी ही

होती है। दूसरे स्थान पर अर्थात् ऐसे काव्य में जिसका प्रयोजन अभिनय न हो विशेषरूप से दीर्घसमास के परित्याग का ध्यान करुणरस तथा विप्रलम्भश्रृंगार में रखना चाहिये। क्योंकि निस्सन्देह ये दोनों रस अन्य रसों की अपेक्षा अधिक सुकुमार होते हैं। अतः इनमें यदि स्वल्प भी अस्वच्छता आती है तो शब्द और अर्थ की प्रतीति मन्द पड़ जाती है जिससे आस्वादन में विघ्न पड़ जाता है और उसकी क्रिया ही नष्ट हो जाती है। यदि दूसरे रौद्र इत्यादि रसों का प्रतिपादन करना हो तो मध्यमसमासा संघटना भी गुणहीन नहीं होती और यदि कदाचित् उन रौद्रादि रसों में धीरोद्धत नायक से सम्बद्ध व्यापार का आश्रय लिया जावे तो ऐसी दशा में दीर्घसमासा संघटना भी बुरी नहीं होती। दीर्घसमासा संघटना वहाँ पर भी अनुचित नहीं होती जहाँ पर दीर्घसमासा संघटना में अनुपपत्ति के कारण नवीन अर्थ की योजना कर ली जाती हो तथा उस नवीन अर्थ की योजना के अभाव में वाच्यार्थ अपने व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त ही न कर सके। इस प्रकार रस की अभिव्यंजना के लिये जिस वाच्यार्थ जा उपादान किया जावे उस वाच्यार्थ को यदि दीर्घसमासघटित संघटना की अपेक्षा हो तो वहाँ पर दीर्घसमास के अभाव में रौद्रादि रस की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती और अभिव्यंजक वाच्यार्थ को उस दीर्घसमास की अपेक्षा होती है। वृत्तिकार ने इन शब्दों का प्रयोग किया है—'उसके आक्षेप के बिना न होनेवाले रस में उचित वाच्य की अपेक्षा होने के कारण दीर्घसमासा संघटना दूषित नहीं होती।' कुछ लोगों ने 'उसके आक्षेप' का अर्थ किया है नायक का आक्षेप, किन्तु यह व्याख्या संगत नहीं होती। यहाँ पर ठीक व्याख्या यही है कि जहाँ पर रसाभिव्यक्ति के लिये दीर्घसमासवाली संघटना का आक्षेप अनिवार्य हो और उसके बिना वाच्यार्थ रसाभिव्यक्ति कर ही न सके, वहाँ पर चूँकि वाच्यार्थ रसाभिव्यक्ति के लिये दीर्घसमासा संघटना की अपेक्षा रखता है, अतः दीर्घसमासा संघटना ऐसे स्थान पर दूषित नहीं होती। इतना कहना पर्याप्त है अधिक की क्या आवश्यकता ?

(ध्वन्या०)--**अत एव च 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते तत्प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम्, अभिप्रेतरसप्रकाशनात्। तस्माद् गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा संघटनाया यथोक्तादौचित्याद्विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम्।**

(अनु०) अत एव 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में यदि ओज की स्थिति का मानना अभीष्ट न हो तो वहाँ पर प्रसाद नामक गुण ही माना जाना चाहिये, माधुर्य नहीं। वहाँ अचारुता नहीं आती; क्योंकि उससे अभिप्रेत रस प्रकाशित हो जाता है। अतः चाहे संघटना को गुणों से अभिन्न मानें चाहे भिन्न, बतलाये हुए औचित्य के कारण विषय नियम होता है अतः संघटना में रस की व्यञ्जकता होती है। रस की अभिव्यक्ति में निमित्तभूत उस संघटना का जो अभी नियमहेतु बतलाया गया है वही गुणों का भी नियत विषय है, अतः गुणों के आश्रय से संघटना की व्यवस्था करना भी विरुद्ध नहीं है।

(लो०)—**न माधुर्यमिति**। ओजोमाधुर्ययोर्ह्यन्योऽन्याभावरूपत्वं प्राङ्निरूपितमिति तयोः सङ्करोऽत्यन्तं श्रुतिबाह्य इति भावः। **अभिप्रेतेति**। प्रसादेनैव स रसः

प्रकाशितः न न प्रकाशित इत्यर्थः । **तस्मादिति**। यदि गुणाः संघटनैकरूपास्तथापि गुण-नियम एव संघटनाया नियमः । गुणाधीनसंघटनापक्षेऽप्येवम् । संघटनाश्रयगुणपक्षेऽपि संघटनाया नियामकत्वेन यद्वक्तृवाच्यौचित्यं हेतुत्वेनोक्तम् तद् गुणानामपि नियमहेतु-रिति पक्षत्रयेऽपि न कश्चिद्विप्लव इति तात्पर्यम् ॥५, ६॥

(अनु०) 'माधुर्य नहीं' अर्थात् ओज और माधुर्य का अन्योन्याभावरूपत्व पहले ही निरूपित कर दिया गया, इस प्रकार उनका संकर अत्यन्त श्रुतिबाह्य है । 'अभिप्रेत' अर्थात् प्रसाद के द्वारा ही वह रस प्रकाशित कर दिया गया, प्रकाशित न कर दिया गया हो ऐसी बात नहीं । 'इससे' यदि गुण और संघटना एक रूप हैं तथापि गुण का नियम ही संघटना का नियम है, गुण के आधीन संघटना पक्ष में भी यही है । संघटनाश्रय गुण पक्ष में भी संघटना के नियामक होने के कारण जो वक्ता और वाच्य का औचित्य हेतु के रूप में बतलाया गया है वह गुणों का भी नियमहेतु होता है—इस प्रकार तीनों पक्षों में कोई विप्लव नहीं है यह तात्पर्य है ॥५, ६॥

प्रस्तुत विषय का उपसंहार

तारावती—सभी प्रकार की संघटनाओं में प्रसाद नामक गुण व्यापक होता है, अर्थात् कोई भी किसी प्रकार की भी संघटना हो उसको ऐसे रूप में बनाना चाहिये जिससे वाच्य के विषय में एकदम प्रतीति हो जावे। यह तो पहले बतलाया ही जा चुका है कि प्रसाद नामक गुण साधारणतया सभी रसों में आता है और सभी संघटनाओं में सामान्यतया अपेक्षित होता है । यह बात 'समर्पकत्वं काव्यस्य यस्तु सर्वरसान् प्रति' इत्यादि कारिका में कही गई है । यदि प्रसाद गुण का अतिक्रमण कर दिया जावे तो समासरहित संघटना भी करुणरस तथा विप्रलंभ-शृङ्गार को अभिव्यक्त नहीं कर सकती; क्योंकि वाच्यार्थ व्यञ्जक होता है और प्रसाद गुण के अभाव में उस वाच्चार्थ का ही प्रत्यायन नहीं हो सकता । यदि प्रसाद गुण का परित्याग न किया गया हो तो मध्यमसमासवाली संघटना भी करुणरस तथा विप्रलम्भशृंगार को अभिव्यक्त नहीं कर सकती—यह बात नहीं है; अतः सर्वत्र प्रसाद गुण का अनुसरण करना चाहिये । इसीलिये यद्यपि 'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति' इत्यादि पद्य रौद्ररसपरक है, किन्तु इसमें समास नहीं किया गया है । इस समास न करने के कारण यदि इसे हम ओज के अन्दर सन्निविष्ट नहीं करना चाहते तो भी माधुर्य में सन्निविष्ट नहीं कर सकते । इसे हम प्रसाद गुण के अन्दर ही सन्निविष्ट करेंगे । आशय यह है कि यहाँ पर वाच्यार्थ तो उद्धत है और संघटना समास न करने के कारण माधुर्यप्रवण है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यहाँ पर ओज और माधुर्य का सङ्कर है । किन्तु पहले इस बात का निरूपण किया जा चुका है कि ओज के अभाव को माधुर्य कहते हैं और माधुर्य संघटना के अभाव को ओज कहते हैं । इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के अभावरूप ही होते हैं । अतः इनका साङ्कर्य तो श्रवणगोचर भी नहीं हो सकता। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि ओजस्विनी संघटना के अभाव में 'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति' इत्यादि में अचारुता आ गई है । कारण यह है कि यहाँ पर प्रसाद गुण ही रौद्ररस के प्रका-शन से ओज का कार्य कर देता है । वह रौद्र का प्रकाशन नहीं करता ऐसी बात नहीं है । अतः चाहे हम संघटना को गुणों के साथ अभिन्न मानें या भिन्न मानें जो ऊपर औचित्य का

नियम बतलाया गया है उसके अनुसार उनके विषय का नियम है ही। अतः संघटना भी रस की व्यञ्जक होती है। इसी प्रकार गुणों के आधीन संघटना की व्यवस्था भी विरुद्ध नहीं है; क्योंकि संघटना रस में निमित्त होती है और जो उसके नियमहेतु अभी बतलाये गये हैं वे गुणों के भी निश्चित विषय हो सकते हैं। आशय यह है कि यदि गुण और संघटना दोनों को एक ही मानें तो गुण के नियम संघटना में भी लागू हो सकते हैं। यदि गुणों के आधीन संघटना को मानें तो भी यही बात होगी अर्थात् गुणों के ही नियम संघटना में भी लागू हो जावेंगे। यदि संघटना के आधीन गुणों को मानें तो संघटना नियामक होगी। ऐसी दशा में वक्ता और बोद्धव्य का जो औचित्य संघटना में हेतु के रूप में बतलाया गया है वह गुणों का भी नियमहेतु हो सकता है। इस प्रकार तीनों ही पक्षों में किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं आता ।।५, ६।।

(ध्वन्या०)--**विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।**
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ।।७।।

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्। सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि। पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथासकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति।

(अनु०) 'एक दूसरे प्रकार का विषय के आधीन औचित्य भी उस संघटना को नियन्त्रित करता है। क्योंकि काव्य के अवान्तर भेदों का आश्रय लेकर वह संघटना भेदवाली स्थित होती है।

वक्ता और वाच्य में रहनेवाले औचित्य के होते हुये भी विषय के आधीन एक दूसरा औचित्य भी संघटना को नियन्त्रित करता है। क्योंकि काव्य के भेद हैं संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक और कुलक। पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, और सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका और कथा। इनके आश्रय से भी संघटना विशेषतावाली हो जाती है।

(लो०)—नियामकान्तरमप्यस्तीत्याह--**विषयाश्रयमिति**। विषयशब्देन संघातविशेष उक्तः। यथा हि सेनाद्यात्मकसंघातनिवेशी पुरुषः कातरोऽपि तदौचित्यादनुगुणतयैवास्ते, तथा काव्यवाक्यमपि संघातविशेषात्मकसन्दानितकादिमध्यनिविष्टं तदौचित्येन वर्तते। मुक्तकं तु विषयशब्देन यदुक्तं तत्संघाताभावेन स्वातन्त्र्यमात्रं प्रदर्शयितुं स्वप्रतिष्ठितमाकाशमिति यथा। अपिशब्देनेदमाह—सत्यपि वक्तृवाच्यौचित्ये विषयौचित्यं केवलं तारतम्यभेदमात्रव्यापृतम्, न तु विषयौचित्येन वक्तृवाच्यौचित्यं निवार्यत इति। **मुक्तकमिति**। मुक्तमन्येनानालिङ्गितं तस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते। मुक्तकस्यैव विशेषणं संस्कृतेत्यादि। क्रमभावित्वात्तथैव निर्देशः। द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम्। त्रिभिर्विशेषकम्। चतुर्भिः कलापकम्। पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम्। इति क्रिया-

समाप्तिकृता भेदा इति द्वन्द्वेन निर्दिष्टा। अवान्तरक्रियासमाप्तावपि वसन्तवर्णनादिरेक-वर्णनीयोद्देश्येन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्त-वृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा। एकदेशवर्णना खण्डकथा। समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना सकलकथा। द्वयोरपि प्राकृतप्रसिद्धत्वाद् द्वन्द्वेन निर्देशः। पूर्वेषां तु मुक्तकादीनां भाषायामनियमः। महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव। अभिनेयार्थं दशरूपकं नाटिकात्रोटकरासकप्रकरणिकाद्यवान्तरप्रपञ्च-सहितमनेकभाषाव्यामिश्ररूपम्। आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद्विरहिता। उभयोरपि गद्यबन्धस्वरूपतया द्वन्द्वेन निर्देशः। आदिग्रहणा-च्चम्पूः। यथाह दण्डी—'गद्यपद्यमयी चम्पूः' इति।

(अनु०) दूसरा नियामक भी है यह कहते हैं—'विषयाश्रय.....' इत्यादि। विषय शब्द से विशेष प्रकार का संघात बतलाया गया है। जिस प्रकार निस्सन्देह सेना इत्याद्यात्मक संघात में निविष्ट कातर पुरुष भी उसके औचित्य से अनुगुणरूप में ही रहता है उसी प्रकार काव्य-वाक्य भी काव्यविशेषात्मक सन्दानितक इत्यादि के मध्य में निविष्ट होकर उसके औचित्य से वर्तमान रहता है। मुक्तक तो विषय शब्द से जो कहा गया है उसके संघात के अभाव के कारण केवल स्वातन्त्र्य को प्रदर्शित करने के लिये (यहाँ पर आया है) जैसे स्वप्रतिष्ठित आकाश। 'अपि' शब्द से यह कहते हैं—वक्ता और वाच्य के औचित्य के होते हुये भी विषय का औचित्य केवल तारतम्य के भेद से प्राप्त है; विषयौचित्य के द्वारा वक्ता और वाच्य का औचित्य निवारित नहीं किया जाता। 'मुक्तक' मुक्त अर्थात् अन्य से अनालिङ्गित उसका संज्ञा में कन्। इससे स्वतन्त्ररूप में परिसमाप्त तथा निराकांक्ष अर्थवाला प्रबन्धमध्यवर्ती मुक्तक यह नहीं कहा जाता। मुक्तक का ही विशेषण है संस्कृत इत्यादि। क्रमभावी होने के कारण वैसा ही निर्देश है। दो से क्रिया की समाप्ति में सन्दानितक, तीन से विशेषक, चार से कला-पक, पाँच इत्यादि से कुलक। ये क्रियासमाप्ति के द्वारा किये हुये भेद हैं इस प्रकार द्वन्द्व से निर्देश किया गया है। अवान्तर क्रियासमाप्ति में भी वसन्तवर्णन इत्यादि एक उद्देश्य से प्रवृत्त पर्यायबन्ध (कहलाता है)। धर्म इत्यादि एक पुरुषार्थ के उद्देश्य से प्रकारवैचित्र्य से अनन्त वृत्तान्त वर्णन के प्रकार परिकथा (कहलाते हैं)। एकदेश का वर्णन खण्डकथा। अन्त में फलों वाले समस्त इतिवृत्त का वर्णन सकलकथा। दोनों के प्राकृत में प्रसिद्ध होने के कारण द्वन्द्व का निर्देश किया गया है। पहले के मुक्तक इत्यादि का भाषा में नियम नहीं है। महा-काव्यरूप पुरुषार्थ फलवाला समस्तवस्तु-वर्णनपरक प्रबन्ध सर्गबन्ध संस्कृत में ही (होता है)। अभिनेयार्थ दशरूपक 'नाटिका त्रोटक, रासक, प्रकरणिक इत्यादि' अवान्तर प्रपञ्च सहित अनेक भाषा से मिले हुए रूपवाला (होता है)। आख्यायिका उच्छ्वास इत्यादि से और वक्त्र तथा अपवक्त्र इत्यादि से युक्त होती है। कथा उससे रहित होती है। दोनों के गद्यबन्धस्वरूप होने के कारण द्वन्द्व से निर्देश किया गया है। आदि ग्रहण से चम्पू। जैसा दण्डी कहते हैं—'गद्यपद्यमयी चम्पूः' यह।

संघटना में विषयाश्रय का औचित्य

तारावती—अब यह बतलाया जा रहा है कि संघटना के दूसरे भी नियामक हैं—'एक

दूसरे प्रकार का भी औचित्य होता है जो कि संघटना को नियन्त्रित करता है। काव्य के भेदोपभेदों के आधार पर संघटना में भी भेद हो जाया करता है।'

विषय शब्द का अर्थ है एक प्रकार का संघात या समूह। जिस प्रकार एक कायर मनुष्य भी सेना इत्यादि रूप समूह के अन्दर पहुँच कर सेना के औचित्य से उसी प्रकार के गुणोंवाला हो जाता है, उसी प्रकार काव्यवाक्य भी सन्दानितक इत्यादि विशेष प्रकार के समूह में पड़कर उसी के औचित्य का अनुसरण करने लगता है। मुक्तक में कोई समूह नहीं होता किन्तु उसके लिये विषय शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। यह इस बात को प्रकट करने के लिये किया गया है कि मुक्तक स्वतन्त्र होता है इसमें कोई समूह नहीं होता। जैसे यदि कोई यह प्रश्न करे कि पृथ्वी इत्यादि चार तो आकाश में स्थित हैं और आकाश कहाँ स्थित है? तो इसका उत्तर यही होगा कि आकाश अपने में ही स्थित है। यही बात मुक्तक के विषय में भी समझनी चाहिये। उपर्युक्त कारिका में 'भी' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका आशय यह है कि इस विषयाश्रित औचित्य से पूर्वोक्त वक्तृवाच्य का औचित्य निवृत्त नहीं होता, उसमें केवल तारतम्य का अन्तर हो जाता है। आशय यह है कि वक्तृगत औचित्य और वाच्यगत औचित्य रसाभिव्यक्ति के लिये अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त विषयगत औचित्य का जितना अधिक निर्वाह किया जाता है उतनी अधिक चारुता उस काव्य में बढ़ जाती है।

प्रस्तुत प्रसंग में काव्यभेदों पर विचार

(यहाँ पर विषय का अर्थ काव्य का स्वरूप या काव्य का भेद है। अतः विषयगत औचित्य पर प्रकाश डालने से पहले लेखक काव्य के भेदोपभेदों का संक्षिप्त परिचय दे रहा है।) काव्य का सबसे छोटा भेद मुक्तक होता है। यह संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में निबद्ध किया जाता है। मुक्तक शब्द मुक्त शब्द से संज्ञा में कन् प्रत्यय होकर बना है। मुक्त शब्द का अर्थ है जिसका आलिङ्गन कोई दूसरा न कर रहा हो अर्थात् यदि केवल एक पद्य परतः निरपेक्ष भाव से अर्थसमाप्ति में पर्याप्त हो तो उसे मुक्तक कहते हैं। मुक्तक के अर्थ में ही यह बात आ जाती है कि वही पद्य मुक्तक हो सकता है जिसका आलिङ्गन कोई दूसरा पद्य न कर रहा हो। इसीलिये यदि प्रबन्ध के अन्दर कोई ऐसा पद्य आजावे जिसका अर्थ पूर्णतया उस पद्य में ही समाप्त हो रहा हो और उसे अर्थ-समाप्ति के लिये किसी अन्य की आकांक्षा न हो तो भी उसे मुक्तक नहीं कहेंगे। (क्योंकि अर्थसमाप्ति में स्वतन्त्र होते हुए भी उसका आलिङ्गन तो दूसरे पद्यों से हो ही रहा है। इस पर दीधितिकार ने लिखा है—'यह कहना ठीक नहीं है कि प्रबन्धान्तर्गत स्वतन्त्र पद्यों को मुक्तक नहीं कहते क्योंकि यद्यपि अन्ततः उन्हें पद्यान्तर की अपेक्षा होती है तथापि अनेकशः वे स्वतंत्र रूप में शाब्द प्रतीति तो उत्पन्न ही कर देते हैं और कहीं कहीं रसास्वादपर्यन्त उनमें स्वतंत्र सत्ता पाई जाती है, अतः मुक्तकत्व की स्वीकृति के लिये कोई बाधा नहीं आती।' किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रबन्धान्तर्वर्ती पद्यों में अर्थ की परिसमाप्ति स्वतन्त्र होती ही नहीं। प्रबन्ध के कारण पाठक की एक भावना बन जाती है और एक प्रकार की विचारधारा से पाठक ओतप्रोत हो जाता है। जब कोई भी स्वतन्त्र पद्य प्रबन्ध के अन्दर आ जाता है तब प्रबन्ध से प्राप्त विचारधारा

तथा भावना के प्रकाश में ही हम उस पद्य को भी देखते हैं और उसी वातावरण में हम उसका आस्वादन भी करते हैं। उदाहरण के लिये तुलसी का निम्नलिखित दोहा लीजिये—

तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिले सहाय।
आपु न आवै ताहि पै ताहि तहाँ लै जाय॥

यह दोहा दोहावली में भी आया है और रामचरितमानस में भी। दोहावली में इसकी स्वतन्त्र सत्ता है और नीतिवाक्य के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं मालूम पड़ता। किन्तु जब हम रामचरितमानस में इसे पढ़ते हैं तो प्रतापभानुका अतीत, उसका दैववश कपटमुनि के आश्रम में पहुँचना और भविष्य की उसकी विनाश की भूमिका–ये सारी बातें हमारी आँखों के सामने नाच उठती हैं। तथा इस दोहे में कही हुई नीति सूक्ति के अतिरिक्त बहुत बड़ा प्रसंग और तज्जन्य निर्वेद हमारे आस्वादन में निमित्त हो जाता है। अतः यह दोहा वहाँ पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो देता है। अतः मुक्तक कहलाने का अधिकारी नहीं रहता। हम अनेक प्रकार के सिनेमा के गीत सुना करते हैं किन्तु वातावरण के प्रकाश में जब अभिनय के साथ वह गीत हमें सिनेमाघर में सुनाया जाता है तब उसका प्रभाव और ही प्रकार का होता है। अतः प्रबन्धान्तर्वर्ती स्वतन्त्र पद्य को मुक्तक नहीं कह सकते। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि दण्डी प्रभृति आचार्य प्रबन्धान्तर्वर्ती परिसमाप्तार्थ पद्य को ही मुक्तक कहा करते थे। इसीलिये उन्होंने मुक्तक की पृथक् परिभाषा लिखने की आवश्यकता नहीं समझी थी। 'सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तवाक्यविस्तरः।' इसी मान्यता का खण्डन यहाँ पर अभिनवगुप्त ने किया है। अग्निपुराण में मुक्तक की यह परिभाषा दी हुई है—'मुक्तक एक ही श्लोक को कहते हैं जो सज्जनों को चमत्कृत करने में समर्थ हो।) 'संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश से निबद्ध' यह विशेषण मुक्तक का ही है। (क्योंकि दोनों में प्रथमान्त का निर्देश है।) इन भाषाओं की उत्पत्ति के आधार पर इनका क्रम रक्खा गया है। संस्कृत से प्राकृत उत्पन्न हुई है, प्राकृत से अपभ्रंश। (इनका संक्षिप्त परिचय काव्यादर्श में दण्डी ने दिया है।) मुक्तक काव्य इन तीनों भाषाओं में लिखे जाते थे। यह तो स्वतन्त्र पद्य की बात हुई। कभी-कभी कई पद्यों में एक ही क्रिया होती है, अतः क्रिया की एकता के आधार पर काव्य के ४ भेद किये गये हैं—(१) यदि दो पद्यों में क्रिया समाप्त हो तो उसे सन्दानितक कहते हैं (उसी को युग्मक भी कहते हैं)। (२) यदि तीन पद्यों में क्रिया समाप्त हो तो उसे विशेषक कहते हैं। (३) यदि चार पद्यों में क्रिया की परिसमाप्ति हो तो उसे कलापक कहते हैं। (४) यदि पांच या पांच से अधिक पद्यों में क्रिया की समाप्ति हो तो उसे कुलक कहते हैं। इन चारों भेदों में वृत्तिकार ने द्वन्द्व समास का योग किया है। इसका आशय यह है कि ये भेद इस आधार पर किये गये हैं कि इनमें कई पद्यों में एक ही क्रिया का प्रयोग होता है। (ये चारों प्रकार भी सभी भाषाओं में मिलते हैं। इसीलिये लोचनकार ने लिखा है कि मुक्तक इत्यादि का भाषा में कोई नियम नहीं है। हेमचन्द्र ने भी यहाँ कहा है कि ये सब भेद सभी भाषाओं में होते हैं।) अब उन भेदों का उल्लेख किया जाता है जो अनेक वाक्यों का समूह होते हैं तथा जिनका कलेवर अपेक्षाकृत विस्तृत होता है। पर्यायबन्ध उसे कहते हैं जिसमें यद्यपि अवान्तर क्रियायें समाप्त हो जाती हैं परन्तु उनका उद्देश्य बसन्त इत्यादि किसी एक वस्तु

का वर्णन ही होता है। (आधुनिक काल की अनेक कविताएँ इसी नाम से अभिहित की जा सकती हैं।) परिकथा उसे कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में किसी एक को लेकर (अथवा इन्हीं से सम्बद्ध किसी तत्त्व को लेकर) अनेक प्रकारों के द्वारा अनेक वृत्तान्तों का वर्णन किया जावे। कथा के एक भाग का वर्णन खण्डकथा कहलाती है। (इसे ही खण्डकाव्य भी कह सकते हैं। साहित्यदर्पण में खण्ड काव्य की परिभाषा इस प्रकार लिखी है—'खण्डकाव्य उसे कहते हैं जो काव्य के एकदेश का अनुसरण करनेवाला हो।' सकलकथा उसे कहते हैं जिसमें अनेक इतिवृत्तों का वर्णन किया जावे और वे समस्त इतिवृत्त फलपर्यन्त दौड़नेवाले हों। वृत्तिकार ने खण्डकथा और सकलकथा इन दोनों में द्वन्द्व समास का निर्देश किया है। इसका आशय यह है कि ये दोनों भेद प्राकृत में ही प्रसिद्ध थे। इनसे पहले जितने भी मुक्तक इत्यादि भेद बतलाये गये हैं उनका भाषा में कोई नियम नहीं है। सर्गबन्ध उसे कहते हैं जो कि महाकाव्य रूप हो, कोई भी पुरुषार्थ जिसका फल हो और जिससे प्रबन्धात्मक रूप में सम्पूर्ण जीवनवृत्त का वर्णन किया गया हो। (इसके विस्तृत लक्षण साहित्यदर्पण में दिये हुए हैं वहीं देखना चाहिये।) सर्गबन्ध (महाकाव्य) केवल संस्कृत में ही लिखा जाता है। कुछ काव्य अभिनय के मन्तव्य से लिखे जाते हैं। (ये दृश्यकाव्य कहलाते हैं।) इनके भेद हैं—दशरूपक (नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन। इनका विस्तृत परिचय साहित्यदर्णण में देखना चाहिये।) इन दश रूपकों का अवान्तर विस्तार भी होता है, जैसे—नाटिका, त्रोटक, रासक, प्रकरणिक इत्यादि। (ये उपरूपक कहलाते हैं। इनके १८ भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्यप्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका। इनके भी लक्षण साहित्यदर्पण में दिये गये हैं।) ये दशरूपक तथा इनका समस्त अवान्तर प्रपञ्च अभिनेयार्थ काव्य होता है। इसका स्वरूप अनेक भाषाओं से मिला हुआ रहता है। (नाटक इत्यादि में किसकी क्या भाषा होनी चाहिये इसका विस्तृत विवेचन नाट्यशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में किया गया है। वहीं देखना चाहिये।) अब गद्य काव्यों को लीजिये—प्रधानतया इसके दो भेद होते हैं—आख्यायिका और कथा। आख्यायिका उसे कहते हैं जिसका विभाजन उच्छ्वास इत्यादि के द्वारा किया गया हो तथा उसमें वक्त्र तथा अपवक्त्र का समावेश हो। कथा उसे कहते हैं जिसमें ये दोनों बातें नहीं अर्थात् न तो उसका विभाजन उच्छ्वास इत्यादि के द्वारा हो और न वक्त्र तथा अपवक्त्र का प्रयोग हो। (साहित्यदर्पण में इनका विशेष परिचय दिया गया है। अग्निपुराण में गद्य काव्य के पांच भेद किये गये हैं—'आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका' इनके लक्षण भी वहाँ पर दिये गये हैं।) वृत्तिकार ने आख्यायिका तथा कथा में द्वन्द्व का निर्देश किया है। इसका कारण यह है कि ये दोनों ही गद्यबन्ध रूप में होते हैं। वृत्तिकार ने 'इत्यादि' शब्द का प्रयोग किया है। इस इत्यादि से चम्पू का ग्रहण हो जाता है। जैसा कि दण्डी ने कहा है—'गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं।' (आदि ग्रहण से ही उन अनेक प्रकारों का भी समावेश हो जाता है जो कि अभिनव गुप्त के बाद प्रकाश में आये हैं और आधुनिक काल तक अनेक प्रकार के काव्यभेदों की कल्पना की जाती रही है उन सबका समावेश भी इसी इत्यादि शब्द के

द्वारा हो जाता है तथा जो प्रकार भविष्य में भी प्रवर्तित किये जावेंगे उन सबका यहाँ समावेश समझा जाना चाहिये। इन भेदोपभेदों के आधीन भी संघटना में विशेषता आ जाती है।

(ध्वन्या०)—**तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। तच्च दर्शितमेव। अन्यत्र कामचारः। मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।**

(अनु०) उनमें मुक्तकों में रसबन्धाभिनिवेशी कवि का उसी के आश्रित औचित्य होता है और वह दिखलाया ही जा चुका है। अन्यत्र कवि को स्वतन्त्रता होती है कि वह यथेच्छ रचना कर सकता है। निस्सन्देह प्रबन्धों के समान मुक्तकों में भी रसबन्धाभिनिवेशी कवि देखे जाते हैं। जैसे अमरुक कवि के शृंगार रस को प्रवाहित करनेवाले मुक्तक प्रबन्धरूपता को धारण करनेवाले प्रसिद्ध ही हैं।

(लो०)—अन्यत्रेति रसबन्धानभिनिवेशे। ननु मुक्तके विभावादिसंघटना कथं येन तदायत्तो रसः स्यादित्याशङ्कयाह—**मुक्तकेष्विति। अमरुकस्येति।**

कथमपि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम्।
असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिं विशङ्क्य ससम्भ्रमम्
विवलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः॥

इत्यत्र हि श्लोके स्फुटैव विभावादिसम्पत्प्रतीतिः।

(अनु०) 'अन्यत्र' अर्थात् रसबन्ध का अभिनिवेश न होने पर। 'मुक्तक में विभाव इत्यादि की संघटना कैसे जिससे उसके आधीन रस हो?' यह शङ्का करके कहते हैं—'मुक्तकों में' यह। जैसे अमरुक का—

'किसी न किसी प्रकार प्रियतम के लौटने पर तथा स्खलित उत्तरवाला हो जाने पर विरहकृश (नायिका ने) बहाने से न सुनने की कल्पना करके सम्भ्रमपूर्वक असहिष्णु सखी की श्रोत्रप्राप्ति की आशङ्का करके शून्यघर में दृष्टि घुमाकर फिर गहरी श्वास ली।'

यहाँ पर श्लोक में स्फुट ही विभाव इत्यादि सम्पत्ति की प्रतीति होती है।

मुक्तक में संघटना का औचित्य

तारावती—ऊपर काव्य के भेदोपभेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। अब इनके औचित्य पर विचार किया जा रहा है। सर्वप्रथम मुक्तक को लीजिए। यदि मुक्तक की रचना करनेवाले कवि में रसको निबद्ध करने का आग्रह हो तो कवि को उन्हीं सब औचित्यों का पालन करना चाहिए जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है। मुक्तक के क्षेत्र में भी रस के अनुकूल औचित्य तथा वक्ता और वाच्य पर आश्रित औचित्य उसी रूप में होते हैं। अन्यत्र अर्थात् यदि मुक्तक रचना करनेवाले कवि को रसबन्धन करना अभीष्ट न हो तो कवि चाहे जिस प्रकार की संघटना का प्रयोग कर सकता है। (प्रश्न) रसनिष्पत्ति के लिए विभाव इत्यादि की संघटना अनिवार्य होती है। मुक्तक के छोटे से कलेवर में विभाव इत्यादि की संघटना हो सके यह सम्भव ही किस प्रकार है? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—(उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि जिस प्रकार कवियों का अभिनिवेश रसमय प्रबन्ध रचना में होता है

उसी प्रकार मुक्तकों में भी हुआ करता है। उदाहरण के लिए अमरुक के मुक्तक श्रृङ्गार रस को प्रवाहित करनेवाले हैं और यह प्रसिद्ध है कि उनमें प्रबन्ध के जैसे तत्त्व विद्यमान हैं। (कहा ही जाता है कि 'अमरुक का एक पद्य सौ प्रबन्धों के समान है।') उदाहरण के लिए अमरुक का एक पद्य लीजिए—

'जब प्रियतम किसी न किसी प्रकार लौटकर आया और उससे संयोगवश गोत्रस्खलन हो गया, उस समय विरह के कारण कृश नायिका ने बहाने से यह प्रकट किया कि उसने उस गोत्रस्खलन को सुन नहीं पाया। उस समय उसे यह आशङ्का हुई कि कहीं असहनशील सखी ने सुन तो नहीं लिया। अत एव उसने सम्भ्रम पूर्वक शून्य घर में अपनी दृष्टि घुमाई और फिर गहरी श्वास ली।'

इस पद्य में स्पष्ट रूप में विभाव इत्यादि रस की सारी सामग्री पाई जाती है। (नायक आलम्बन है; उसका किसी न किसी प्रकार घर आना, गोत्रस्खलन इत्यादि उद्दीपन हैं; अनसुना करना, शून्य घर में चारों ओर दृष्टि घुमाना और गहरी श्वास लेना इत्यादि अनुभाव हैं; ग्लानि, शङ्का, असूया, त्रास, वितर्क, दैन्य इत्यादि सञ्चारी भाव हैं; इनसे पुष्ट होकर रति स्थायिभाव ने श्रृङ्गार रस का रूप धारण किया है। इस प्रकार एक पद्य में ही रस की सारी सामग्री उपलब्ध हो रही है।)

(ध्वन्या०)—सन्दानितकादिषु विकटबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घसमासे एव रचने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम्। पर्यायबन्धे पुनरसमासा-मध्यसमासे एव संघटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि संघटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या। परिकथायां कामचारः। तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तरससम्बन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुल-कादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्दीर्घसमासायामपि न विरोधः। वृत्त्यौचित्यं तु यथारसमनुसर्त-व्यम्। सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यमन्यथा तु कामचारः, द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद्रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनि-वेशः कार्यः। आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्याद् गद्ये च छन्दोबन्धभिन्न-प्रस्थानत्वादिह नियमे हेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक्क्रियते।

(अनु०) सन्दानितक इत्यादि में तो विकट निबन्ध के औचित्य के कारण मध्यमसमास और दीर्घसमास घटित रचनायें ही उपयुक्त हैं। यदि ये प्रबन्ध के आश्रित हों तो पहले कहे हुये प्रबन्ध के औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए। पर्यायबन्ध में तो असमास और मध्य-समास परक संघटनायें ही ठीक हैं। यदि कदाचित् अर्थ के औचित्य का आश्रय लेकर दीर्घ-समासा संघटना का उपयोग करना पड़े तो परुषा और ग्राम्या वृत्तियों का तो परित्याग कर ही देना चाहिए। परिकथा में इच्छानुसार कैसी भी संघटना हो सकती है। क्योंकि उसमें इतिवृत्त मात्र का उपन्यास किया जाता है और रस के सम्बन्ध का अधिक अभिनिवेश नहीं होता। प्राकृत में प्रसिद्ध खण्डकथा और सकलकथाओं में तो कुलक इत्यादि के निबन्धन की अधिकता होने के कारण दीर्घसमासा संघटना में भी कोई विरोध नहीं आता। वृत्ति के औचित्य का अनुसरण तो रस के अनुसार करना चाहिए। रस के तात्पर्य से लिखे हुये सर्गबन्ध में

रस के अनुकूल औचित्य का पालन करना चाहिये नहीं तो इच्छानुसार चाहे जैसी संघटना का प्रयोग किया जा सकता है। सर्गबन्ध लिखनेवालों की प्रवृत्ति दोनों प्रकार के मार्गों में देखी जाती है; किन्तु रसतात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा है। अभिनेयार्थ काव्यों में सब प्रकार से रसबन्ध में ही आग्रह रखना चाहिए। आख्यायिका और कथा में गद्य निबन्धन की बहुलता होती है और गद्य का मार्ग छन्दोबन्ध से भिन्न हुआ करता है। अतः इस विषय में नियमों में हेतु यद्यपि पहले नहीं बनाये गये थे तथापि यहाँ पर संक्षेप में बनाये जा रहे हैं—

(लो०)—**विकटेति**। असमासायां हि संघटनायां मन्थररूपा प्रतीतिः साकांक्षा सती चिरेण क्रियापदं दूरवर्त्यनुधावन्ती वाच्यप्रतीतावेव विश्रान्ता सती न रसतत्त्वचर्वणायोग्या स्यादिति भावः। **प्रबन्धाश्रयेष्विति**। सन्दानितकादिषु कुलकान्तेषु। यदि वा प्रबन्धेऽपि मुक्तकस्यास्तु सद्भावः। पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। यथा 'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इत्यादिश्लोकः।

कदाचिदिति। रौद्रादिविषये। **नात्यन्तमिति**। रसबन्धे यो नात्यन्तमभिनिवेशस्तस्मादिति सङ्गतिः वृत्त्यौचित्यमिति। परुषोपनागरिकाग्राम्याणां वृत्तीनामौचित्यं यथाप्रबन्धं यथारसं च। **अन्यथेति**। कथामात्रतात्पर्ये वृत्तिष्वपि कामचारः। **द्वयोरपीति** सप्तमी। कथातात्पर्ये सर्गबन्धो यथा भट्टजयन्तकस्य कादम्बरीकथासारम्। रसतात्पर्यं यथा रघुवंशादि। अन्ये तु संस्कृतप्राकृतयोर्द्वयोरिति व्याचक्षते। तत्र तु रसतात्पर्यं साधीय इति यदुक्तं तत्किमपेक्षयेति नेयार्थं स्यात् ॥७॥

(अनु०) 'विकट' इत्यादि। असमासा संघटना में मन्थररूपिणी प्रतीति साकांक्ष होते हुये दूरवर्ती क्रिया-पद तक देर में अनुधावन करती हुई वाच्यप्रतीति में ही विश्रान्त होती हुई रसतत्त्व की चर्वणा के योग्य हो ही न सके यह भाव है। 'प्रबन्धाश्रयों में' यह। सन्दानितक इत्यादि से लेकर कुलक पर्यन्त। अथवा प्रबन्ध में भी मुक्तक की सत्ता मान ली जावे। पूर्वापरनिरपेक्ष जिस (पद्य) से रस चर्वणा की जाती है वही मुक्तक (होता) है। जैसे—'प्रणयकुपिता तुम्हें लिखकर' इत्यादि (मेघदूत का) श्लोक।

'कदाचित्' अर्थात् रौद्र इत्यादि के विषय में। 'अत्यन्त नहीं·····' (यहाँ पर) सङ्गति इस प्रकार है—'रसबन्ध में जो अत्यन्त अभिनिवेश नहीं उसके कारण'। 'वृत्तिका औचित्य ·····' परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या इन वृत्तियों का औचित्य प्रबन्ध के अनुसार और रस के अनुसार। 'अन्यथा' यह। कथा मात्र तात्पर्य में वृत्तियों में भी कामचार (स्वेच्छा व्यवहार) ही है। 'दोनों में भी' यह सप्तमी है। कथातात्पर्य में सर्गबन्ध, जैसे भट्टजयन्त का कादम्बरीकथासार। रसतात्पर्यवाला, जैसे रघुवंश इत्यादि। दूसरे लोग तो 'संस्कृत और प्राकृत इन दोनों में' यह व्याख्या करते हैं। उसमें तो 'रसतात्पर्य अधिक अच्छा होता है यह जो कहा गया है वह किस अपेक्षा से?' यह नेयार्थ हो जावेगा ॥७॥

सन्दानितक इत्यादि में संघटना का औचित्य

तारावती—सन्दानितक इत्यादि में तो विकट निबन्धन ही उचित होता है, अत एव उसमें संघटना या तो मध्यसमासवाली होनी चाहिए या दीर्घसमासवाली। क्योंकि सन्दानितक

इत्यादि में कई पद्यों में एक ही क्रिया होती है। यदि उसमें समास नहीं किया जावेगा तो शब्दों की संख्या बहुत बढ़ जावेगी, प्रतीति बहुत ही मन्द होगी, प्रत्येक प्रतीतिगोचर होनेवाले शब्द को बहुत देर तक साकांक्ष रहना पड़ेगा। क्रिया बहुत दूर पड़ जावेगी और उस क्रिया तक प्रत्येक प्रतीति को बड़ी लम्बी और बड़ी देर की दौड़ लगानी पड़ेगी। (कभी-कभी तो शब्दों का इतना व्यवधान हो जावेगा कि किसी एक पद के प्रतीतिगोचर होने पर पहले के पद दृष्टि से ओझल भी हो जावेंगे।) इस प्रकार जैसे तैसे मन्दगति से आगे बढ़नेवाली प्रतीति वाच्यार्थ के प्रत्यायन में ही विश्रान्त हो जावेगी और रसतत्त्व के चर्वण करने के योग्य नहीं हो सकेगी। अतः सन्दानितक इत्यादि में दीर्घसमास या कम से कम मध्यसमास ही अधिक उचित होता है। यदि सन्दानितक से लेकर कुलकपर्यन्त काव्यभेद प्रबन्ध के अन्दर आवें तो प्रबन्ध के बतलाते हुये औचित्य का ही पालन करना चाहिये। अथवा यहाँ पर यह भी अर्थ किया जा सकता है कि यदि मुक्तक से लेकर कुलक तक काव्यभेद प्रबन्ध के अन्दर आवें तो प्रबंध के औचित्य का पालन किया जाना चाहिए। कारण यह है कि प्रबन्ध में भी मुक्तक की सत्ता मानी जा सकती है, मुक्तक उसे ही कहते हैं जिसमें पूर्वापर की अपेक्षा न करते हुये एक पद्य के द्वारा ही रस-चर्वणा की जावे। यदि ऐसा पद्य प्रबन्ध के अन्दर भी आता है तो मुक्तक की संज्ञा प्राप्त कर सकता है। जैसे मेघदूत में यक्ष मेघ के द्वारा अपनी पत्नी को सन्देश भेज रहा है—'मैं धातुओं की लाली से शिलाओं के ऊपर तुम्हारा उस समय का चित्र बनाता हूँ जब तुम प्रणय में ही कुपित हो जाया करती थीं। फिर मैं तुम्हें मनाने के लिए अपने को तुम्हारे चरणों में गिरा हुआ जैसे ही चित्रित करना चाहता हूँ कि एकदम बढ़े हुए आँसुओं से मेरी दृष्टि भर आती है। क्रूर विधाता हमारे तुम्हारे सङ्गम को उस चित्र में भी देखना सहन नहीं करता।' यहाँ पर एक ही पद्य में रस की सारी सामग्री उपस्थित हो गई है। यद्यपि यह पद्य मेघदूत के प्रबन्ध के मध्य में आया है तथापि यदि चाहें तो इसे हम मुक्तक कह सकते हैं। (पहले लोचनकार ने प्रबन्धान्तर्वर्ती स्वतःपर्यवसित पद्य की मुक्तक संज्ञा का निषेध किया था। यहाँ पर उसका समर्थन कर दिया। किन्तु यह मुख्य पक्ष नहीं है। एक तो 'प्रबन्धाश्रयेषु' में सप्तमी का बहुवचन है और उससे निकटवर्ती 'सन्दानितकादिषु' का ही योग हो सकता है मुक्तक का नहीं। दूसरी बात यह है कि लोचनकार ने 'यदि वा' लिखकर अरुचिपूर्ण पक्ष की व्याख्या की है। 'यदि वा' का आशय यही है कि 'यदि दुर्जनतोषन्याय से इस पक्ष को मान भी लें तो भी कोई विशेष क्षति नहीं होती। वस्तुतः प्रबन्धान्तर्वर्ती स्वतः-पर्यवसित पद्यों का मुक्तक न मानना ही मुख्य पक्ष है। यही आनन्दवर्धन को भी मान्य है और यही अभिनवगुप्त का भी अभिमत है। यदि प्रबन्धाश्रित पद्यों को मुक्तक संज्ञा प्रदान ही करनी हो तो ऐसे पद्यों को सम्मिलित किया जा सकता है जो मुक्तक रचना के क्षेत्र में तो आते हैं किन्तु प्रबन्ध की हल्की सी छाया लेकर लिखे जाते हैं। जैसे सूरसागर के गीत इत्यादि प्रबन्धाश्रित मुक्तक माने जा सकते हैं।) पर्यायबन्ध में तो नियमानुसार समास रहित ही अथवा मध्य समासवाली ही संघटना अपनाई जानी चाहिए। यदि कदाचित् रौद्र इत्यादि रसों में अर्थ के औचित्य के कारण दीर्घसमासा संघटना का प्रयोग करना पड़े तो सावधानी से परुषा और ग्राम्या वृत्तियों को बचाना चाहिए। परिकथा में चाहे जैसी संघटना का उपयोग

किया जा सकता है; क्योंकि उसमें प्रधानतता इतिवृत्त का प्रस्तुत करना ही अभीष्ट होता है, अतः उसमें रसबन्ध का अत्यन्त अभिनिवेश नहीं होता। खण्डकथा तथा सकलकथा ये दोनों प्रकार प्राकृत में ही प्रसिद्ध हैं और उनमें कुलक इत्यादि का निबन्धन बहुत अधिक पाया जाता है। अतः उसमें दीर्घसमास करने में भी कोई विरोध नहीं आता। किन्तु उनमें वृत्ति के औचित्य का पालन रस के अनुसार करना चाहिए। आशय यह है कि परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या इन तीनों वृत्तियों का औचित्य प्रबन्ध के अनुसार तथा रस के अनुसार होता है। यदि सर्गबन्ध (महाकाव्य) रस के मन्तव्य से लिखा गया हो तो रस के अनुकूल ही उसमें औचित्य का पालन करना चाहिए! यदि सर्गबन्ध (महाकाव्य) का प्रणयन केवल कथा के मन्तव्य से हो तो चाहे जैसी संघटना का प्रयोग किया जा सकता है। यदि केवल कथा के तात्पर्य से सर्गबन्ध लिखना अभीष्ट हो तो वृत्तियों के प्रयोग में भी स्वेच्छाचारिता अपनाई जा सकती है। सर्गबन्ध लिखने वालों की प्रवृत्ति दोनों ही मार्गों में देखी जाती है, किन्तु रस-तात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा है। 'द्वयोः मार्गयोः' में सप्तमी विभक्ति है, अतः दोनों ही मार्गों में यह अर्थ किया गया है। आशय यह है कि सर्गबन्धकाव्य रसतात्पर्य से भी लिखा जाता है और कथामात्रतात्पर्य से भी। कथातात्पर्य से लिखा हुआ सर्गबन्ध जैसे भट्टजयन्तक का कादम्बरी-कथासार और रसतात्पर्य से लिखा हुआ जैसे रघुवंश इत्यादि। कुछ लोगों ने 'दोनों मार्गों में' इस वाक्य का अर्थ किया है संस्कृत और प्राकृत दोनों में सर्गबन्ध लिखा जाता है। किन्तु यह अर्थ करने में जो कि यह कहा गया है कि 'किन्तु रसतात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा है।' इस वाक्य की क्या सङ्गति होगी? और इसका क्या उत्तर दिया जावेगा कि किसकी अपेक्षा रसतात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा होता है। इस प्रकार यहाँ पर 'नेयार्थ' दोष होगा। अतः 'दोनों मार्गों में' का अर्थ 'रस तात्पर्य तथा कथामात्र तात्पर्य इन दोनों मार्गों में' यह करना चाहिए। अभिनेयार्थ काव्य में तो सर्वथा रसबन्ध में ही अभिनिवेश करना चाहिए अर्थात् उसमें रसमय रचना के औचित्य का पालन करना चाहिए ॥७॥

(ध्वन्या०)—एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥८॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं संघटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवर्जितेऽपि विषयापेक्षनियमहेतुः। तथा ह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः। रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम्। तत्रापि च विषयौचित्यमेव। आख्यायिकायां तु भूम्ना मध्यमसमासादीर्घसमासे एव संघटने। गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात्। कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।

(अनु०) यह जैसा कि औचित्य बतलाया गया है यह छन्दोनियम से रहित गद्यबन्ध में भी सर्वत्र उस (संघटना) का नियामक होता है ॥८॥

यह जो वक्तृगत तथा वाच्यगत औचित्य संघटना का नियामक बतलाया गया है यही छन्दोनियम से रहित गद्यबन्ध में भी विषय की अपेक्षा करते हुये नियम में हेतु होता है। वह

इस प्रकार—जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित हो तो यथेच्छ संघटना होती है। वक्ता के रसभावसमन्वित होने पर पहले बतलाये हुये औचित्य का अनुसरण करना चाहिये। उसमें भी विषयानुरूप ही औचित्य होता है। आख्यायिका में तो अधिकता के साथ मध्यम समास या दीर्घसमासवाली संघटना ही होती है; क्योंकि गद्य में छायावत्ता विकटबन्ध के आश्रय से ही आती है। क्योंकि उसमें उसकी अधिकता आ जाती है। कथा में तो विकटबन्ध प्रचुरता होते हुये भी गद्य के रसबन्ध में कहे हुये औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिये।

(लो०)—**विषयापेक्षमिति**। गद्यबन्धस्य भेदा एव विषयत्वेनानुमन्तव्याः।

(अनु०) 'विषयापेक्ष' यह। गद्यबन्ध के भेद ही विषय के रूप में पाये जाने चाहिये ॥८॥

तारावती—आख्यायिका और कथा इन दोनों प्रकार के काव्यों में गद्य के निबन्धन का बाहुल्य होता है। गद्य का मार्ग छन्दोबद्ध रचना से सर्वथा भिन्न हुआ करता है। किन्तु इस दिशा में नियमपालन के कौन-कौन से हेतु होने चाहिये—इसका निर्धारण किसी भी आचार्य ने अभी तक नहीं किया है। यहाँ पर मैं भी बहुत ही संक्षेप में प्रकाश डाल रहा हूँ। यह दिग्दर्शनमात्र है। इसी के आधार पर दूसरे तत्त्व भी समझ लिये जाने चाहिये।

'ऊपर जिस औचित्य का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है वह जिस प्रकार छन्दोबद्ध रचना के क्षेत्र में संघटना का नियामक होता है उसी प्रकार छन्दोबद्ध के नियमों से रहित गद्यबन्ध में भी उस संघटना का नियामक होता है।

संघटना के नियामक के रूप में जिन वक्तृगत तथा वाच्यगत औचित्यों का निरूपण पहले किया जा चुका है यही औचित्य छन्दोव्यवस्था से रहित गद्य में भी विषय की अपेक्षा करते हुये नियम में हेतु होता है। यहाँ पर विषय शब्द से गद्य बन्ध के भेदों का ग्रहण किया जाना चाहिये। आशय यह है कि पद्य और गद्य में एक से ही औचित्यों का पालन किया जाता है किन्तु गद्य में माध्यम के रूप में स्वीकृत गद्य के प्रकार के आधार की भी अपेक्षा उसमें रहती अवश्य है। वह इस प्रकार कि पद्य के समान गद्य में भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता रस और भाव से रहित हो तो स्वेच्छानुसार किसी भी प्रकार की संघटना का पालन किया जा सकता है। यदि वक्ता रसभाव से युक्त हो तो पहले बतलाये हुये औचित्यों का अनुसरण ही करना चाहिये। उनमें भी प्रधानतया विषय के औचित्य-पालन का आग्रह होना चाहिये। आख्यायिका में प्रचुरता से मध्यसमास और दीर्घसमास वाली संघटनायें ही होनी चाहिये। क्योंकि गद्य में छाया अर्थात् काव्य-सौन्दर्य विकटबन्ध के आश्रय से ही आता है। क्योंकि विकटबन्ध के कारण गद्य में काव्य सौन्दर्य अधिक प्रकृष्ट कोटि का हो जाता है। कथा में यद्यपि विकठ-बन्ध की प्रचुरता अपेक्षित होती है तथापि उसमें रसबन्ध में कहे हुये औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिये ॥८॥

(ध्वन्या०) **रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।**
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ॥९॥

अथवा पद्यवद् गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं संश्रिता रचना भवति। तत्त विषयापेक्षं किञ्चिद्विभेदवद्भवति, न तु सर्वाकारम्। तथा हि गद्यबन्धेऽ-

प्यतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते। नाटकादावप्यसमासैव संघटना। रौद्रवीरादिवर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति संघटनाया दिगनुसर्तव्या।

(अनु०) 'रचना रसबन्ध में कहे हुये औचित्य का आश्रय लेकर ही सर्वत्र शोभित होती है। किन्तु विषय की अपेक्षा करते हुये वह (औचित्य) भेदवाला हो जाता है ॥९॥

अथवा पद्य के समान गद्यबन्ध में भी रचना रसबन्ध में भी कहे हुये औचित्य का सर्वत्र सहारा लेनेवाली होती है। वह तो विषय की अपेक्षा से कुछ विशेषतावाला हो जाता है, पूर्णरूप में नहीं। वह इस प्रकार—गद्यबन्ध में भी अत्यन्त दीर्घसमासगर्भित रचना विप्रलम्भ शृंगार तथा करुण रसों में आख्यायिका में भी शोभित नहीं होती। नाटक इत्यादि में असमासा संघटना ही होती है। रौद्र वीर इत्यादि के वर्णन में औचित्य विषय की अपेक्षा करते हुये प्रमाण में घट भी जाता है और बढ़ भी जाता है। वह इस प्रकार की आख्यायिका में अपने विषय में भी अत्यन्त समासहीन संघटना नहीं होनी चाहिये। नाटक इत्यादि में अत्यन्त दीर्घ समास वाली नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार संघटना की दिशा का अनुसरण करना चाहिये।

(लो०)—स्थितपक्षं तु दर्शयति—**रसबन्धोक्तमिति**। वृत्तौ वा शब्दोऽस्यैव पक्षस्य स्थितिद्योतकः। यथा—

स्त्रियो नरपतिर्वह्निर्विषं युक्त्या निषेवितम्।
स्वार्थाय यदि वा दुःखसम्भारायैव केवलम् ॥ इति।

रचना सङ्घटना। तर्हि विषयौचित्यं सर्वथैव त्यक्तं नेत्याह—तदेव रसौचित्यं विषयं सहकारितयापेक्ष्य किञ्चिद्विभेदोऽवान्तरवैचित्र्यं विद्यते यस्य सम्पाद्यत्वेन तादृशं भवति। एतद्व्याचष्टे—**तत्त्विति**। **सर्वाकारमिति**। क्रियाविशेषणम्। **असमासैवेति**। सर्वत्रैवेति शेषः। तथा हि वाक्याभिनयलक्षणे 'चूर्णपादैः प्रसन्नैः' इत्यादि मुनिरभ्यधात्। अत्रापवादमाह—**न चेति**। **नाटकादाविति**। स्वविषयेऽपीति सम्बन्धः ॥९॥

(अनु०)—स्थित पक्ष को तो दिखला रहे हैं—'रसबन्धोक्त.....' इत्यादि। और वृत्ति में 'वा' शब्द इसी पक्ष की स्थिति का द्योतक है। जैसे—

'स्त्रियाँ, राजा, अग्नि, विष ये युक्ति के साथ सेवन किये हुये या तो स्वार्थ साधन के लिये या केवल दुःखसम्भार के लिये ही (होते हैं)।

रचना अर्थात् संघटना 'तो क्या विषय का औचित्य सर्वथा ही छोड़ दिया गया? कहते हैं—नहीं। वही रस का औचित्य विषय की सहकारी के रूप में अपेक्षा करके—कुछ विभेद अर्थात् अवान्तर वैचित्र्य सम्पाद्य के रूप में जिसमें विद्यमान है इस प्रकार का हो जाता है। इसकी व्याख्या करते हैं—'वह तो' यह। 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है। 'असमासा' ही 'सर्वत्र ही' इतना शेष है। वह इस प्रकार वाक्याभिनय के लक्षण में मुनि ने कहा—'प्रसन्न चूर्णपादों से.....' इत्यादि। उसमें अपवाद कहते हैं—'न च' इत्यादि। 'नाटक इत्यादि में' अपने विषय में भी यह सम्बन्ध है ॥९॥

विषयाश्रित संघटना का उपसंहार

तारावती—यहाँ तक विषयाश्रित संघटना के औचित्य पर विचार कर चुकने के बाद जो निष्कर्ष निकलता है और उससे जो सिद्धान्तपक्ष बनता है उसका अभिधान ९वीं कारिका में किया जा रहा है—'रचना सर्वत्र रसबन्ध के योग्य औचित्य का आश्रय लेकर शोभित होती है, किन्तु विषय की अपेक्षा से उसमें कुछ भेद हो जाता है ।।९।।

अथवा पद्य के समान गद्य में भी रसबन्ध के लिये कहे हुये औचित्य का आश्रय लेकर रचना सर्वत्र शोभित होती है। वृत्तिकार द्वारा प्रयोग किया हुआ 'वा' (अथवा) शब्द यहाँ पर विकल्पार्थक नहीं है, किन्तु इसी पक्ष की मुख्यता को सिद्ध करता है। कभी-कभी अथवा शब्द मुख्य पद का द्योतक भी होता है। जैसे—

'स्त्रियाँ, राजा, अग्नि और विष युक्ति से सेवन किये जाने पर स्वार्थसाधन के लिये होते हैं अथवा केवल दुःखसंभार के लिये ही होते हैं।' यहाँ पर 'अथवा' शब्द मुख्य पक्ष का ही द्योतक है।

इस कारिका में रचना शब्द का अर्थ है संघटना। आशय यह है कि रसबन्ध में कहे हुये औचित्य का आश्रय लेने वाली संघटना ही सर्वत्र शोभित होती है। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या इस सिद्धान्तनिरूपण में विषय के औचित्य का सर्वथा प्रत्याख्यान कर दिया गया है ? उत्तर है—नहीं। किन्तु वही रस का औचित्य सहकारिता के रूप में विषय के औचित्य की अपेक्षा करता है और इस प्रकार उस रसौचित्य में ही विषयौचित्य के आधार पर कुछ विभेद अर्थात् अवान्तर वैचित्र्य हो जाता है। इस वैचित्र्य का सम्पादक विषय का औचित्य होता है और सम्पाद्य वैचित्र्य होता है जो कि रसौचित्य में हुआ करता है। आशय यह है कि रसौचित्य मुख्य होता है, काव्य-प्रकारों से उसमें कुछ विलक्षणता आ जाती है। इसी बात को वृत्तिकार ने इस प्रकार कहा है—'वह तो विषय की अपेक्षा कुछ विशेषता वाला हो जाता है। सर्वाकार नहीं।' यहाँ पर सर्वाकार यह क्रियाविशेषण है। आशय यह है कि विषय का औचित्य रस के औचित्य में विशेषता उत्पन्न अवश्य करता है; किन्तु वह विशेषता परिमाण में बहुत थोड़ी होती है, पूर्ण रूप से नहीं होती। यदि विषय के आधार पर रसौचित्य में पूरी विशेषता ही आ जावे तो रसौचित्य का महत्त्व ही क्या रहे और रसौचित्य को प्रधानता ही किस प्रकार दी जा सके ? इसको इस प्रकार समझिये—गद्यबन्ध में नियमानुकूल अतिदीर्घ समास वाली रचना ही शोभित होती है।

यदि आख्यायिका भी लिखी जा रही हो, किन्तु उसमें विप्रलम्भ शृङ्गार अथवा करुण रस प्रतिपाद्य हों तो आख्यायिका में भी दीर्घसमासा संघटना अधिक अच्छी नहीं मालूम पड़ेगी। आशय यह है कि रस का औचित्य ही प्रमुख रूप में प्रयोजनीय होता है। नाटक इत्यादि में भी सर्वत्र असमासा रचना ही होनी चाहियें, क्योंकि मुनि ने वाक्याभिनय के लक्षण में लिखा है—'पृथक्-पृथक् स्पष्ट शब्दों के द्वारा अभिनय करना चाहिये।' तथापि कहीं नाटक में समास किये ही न जावें यह बात नहीं है। रौद्र इत्यादि के अभिनय में नाटक में भी

समास का प्रयोग किया जा सकता है। रौद्र वीर इत्यादि के वर्णन में औचित्य विषय की विशेषता के आधार पर प्रमाण में घट भी जाता है और बढ़ भी जाता है। वह इस प्रकार— यदि आख्यायिका में रौद्र इत्यादि रस लिखे जा रहे हों तो बिल्कुल ही समासरहित रचना नहीं होगी और उसमें बड़े समासों का प्रयोग किया जावेगा। इसके प्रतिकूल यदि नाटक में दीर्घ समास का विषय भी आ जावे तो भी अत्यन्त दीर्घ समासों का उसमें प्रयोग नहीं होगा। इस प्रकार संघटना का दिग्दर्शन करा दिया गया है। इसी का अनुसरण करना चाहिये ॥९॥

(ध्वन्या०)—इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव। तस्य तु यथा प्रकाशनं तत्प्रतिपाद्यते—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥१०॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥११॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥१२॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥१३॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥१४॥

(अनु०) प्रबन्धात्मक अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि रामायण महाभारत इत्यादि में प्रकाशित होती हुई प्रसिद्ध ही है। उसका जैसे प्रकाशन होता है अब उसका प्रतिपादन किया जा रहा है—

'विभाव, भाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से युक्त घटित या केवल कविकल्पित कथा के शरीर का विधान (पहला हेतु है) ॥१०॥

'इतिवृत्त के कारण आई हुई अनुकूल स्थिति को छोड़कर उत्प्रेक्षा करके भी अन्दर अभीष्ट रस के योग्य कथा का उन्नयन करना (दूसरा हेतु है) ॥११॥

'केवल-शास्त्रीय मर्यादा' परिपालन की दृष्टि से ही नहीं, अपितु रसव्यञ्जना के उपयोग की दृष्टि से सन्धि तथा सन्धि के अङ्गों की संघटना करना (प्रबन्धव्यञ्जकता का तीसरा हेतु है।) ॥१२॥

मध्य में अवसर के अनुकूल रस का उद्दीपन तथा प्रशमन करना तथा प्रबन्ध के आरम्भ से अवसानपर्यन्त अङ्गी रस का अनुसन्धान करना (प्रबन्धव्यञ्जकता का चौथा हेतु है) ॥१३॥

(अलङ्कारयोजना की) शक्ति होते हुये भी रस की अनुरूपता का ध्यान रखते हुये ही अलङ्कारों की योजना करना• (प्रबन्धव्यञ्जकता का पञ्चम हेतु है।) (यही पञ्चक) प्रबन्ध की रस इत्यादि के प्रति व्यञ्जकता में निबन्धन है ॥१४॥

(लो०) एवं संघटनायां चालक्ष्यक्रमो दीप्यत इति निर्णीतम्। प्रबन्धे दीप्यत इति तु निर्विवादसिद्धोऽयमर्थं इति नात्र वक्तव्यं किञ्चिदस्ति। केवलं कविसहृदयान् व्युत्पादयितुं रसव्यञ्जने येतिकर्तव्यता प्रबन्धस्य सा निरूप्येत्याशयेनाह—**इदानीमिति**। इदानीं तत्प्रकारजातं प्रतिपद्यत इति सम्बन्धः।

(अनु०) इस प्रकार संघटना में अलक्ष्यक्रम दीप्त होता है यह निर्णय कर दिया गया। प्रबन्ध में दीप्त होता है यह निर्विवाद सिद्ध अर्थ (है) अतः इस विषय में कुछ भी कहना नहीं है। केवल कविसहृदयों को व्युत्पन्न करने के लिये प्रबन्ध की जो इतिकर्तव्यता है इसका निरूपण किया जाना चाहिये इस आशय से कहते हैं 'इस समय' यह। इस समय उसके प्रकार समूह का प्रतिपादन किया जा रहा है यह सम्बन्ध है।

प्रबन्ध के द्वारा रस की व्यञ्जना

तारावती—ऊपर यह निर्णय कर दिया गया कि संघटना के द्वारा अलक्ष्यक्रम व्यंग्य दीप्त होता है। 'प्रबन्ध अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का व्यंजक होता है' इसमें किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता।

यहाँ तक इस बात की पूर्ण व्याख्या की जा चुकी है कि संघटना के द्वारा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की व्यञ्जना होती है। अब प्रबन्ध के द्वारा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की व्यंजना पर विचार करना है। यह विचार दो प्रकार से किया जा सकता है—एक तो यह सिद्ध करना कि प्रबन्ध के द्वारा भी व्यंजना हो सकती है। किन्तु इस विषय में किसी को विप्रतिपत्ति है ही नहीं। अतः स्वतःसिद्ध तथा सर्वजन-सम्भव विषय को सिद्ध करने के लिये तर्क देना व्यर्थ ही है। इसीलिये ध्वनिकार ने यहाँ पर प्रबन्ध की व्यञ्जकता के लिये तर्क नहीं दिये हैं। दूसरा तत्त्व है यह बतलाना कि वे कौन सी विशेषतायें हैं जिनसे प्रबन्ध व्यञ्जक होता है। यहाँ पर इसी बात की व्याख्या की जा रही है। कारिकाकार ने प्रबन्ध को व्यञ्जक बनाने की दृष्टि से पाँच बातों पर ध्यान रखने की आवश्यकता पर बल दिया है। इसके लिये पाँच कारिकायें लिखी गई हैं। प्रथम चार कारिकाओं में प्रत्येक में एक तत्त्व का निर्देश किया गया है। पाँचवीं कारिका के पूर्वार्ध में पाँचवाँ तत्त्व निर्दिष्ट है और उत्तरार्ध में उपसंहार है। ये पाँचों प्रकार अक्रम नहीं हैं किन्तु क्रमबद्ध ही हैं। अर्थात् पहले प्रथम तत्त्व का ध्यान रखना चाहिये फिर दूसरे का, फिर तीसरे का। इसी क्रम से इन तत्त्वों का ध्यान रखना चाहिये। पाँचों प्रकार क्रमशः ये हैं (१) सर्वप्रथम कथानक के कलेवर की रचना पर ध्यान देना चाहिये। कथानक चाहे घटित हुआ हो अर्थात् प्रमाणप्रसिद्ध कोई घटना हो या केवल कल्पनाप्रसूत हो, दोनों प्रकार के कथानकों में विभाव, भाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के औचित्य का सर्वथा ध्यान रहना चाहिये; क्योंकि इससे कथानक की शोभा बढ़ जाती है। (यहाँ पर भाव का अर्थ है अपरिपुष्ट स्थायी; क्योंकि सञ्चारी का पृथक् उपादान किया ही गया है और परिपुष्ट स्थायी भाव न रह कर रस बन जाता है। यदि इनका औचित्य कथानक में न हो तो वह कथानक दूषित माना जाता है। इसीलिये विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना, रस के विरोधी तत्त्वों का उपादान तथा दूसरे प्रकार के अर्थानौचित्य रसदोष के अन्दर आते हैं।) (२) यदि पुराणप्रसिद्ध घटना का उपादान किया गया हो और उसमें

कोई ऐसी स्थिति आ जावे जो प्रस्तुत रस के अनुकूल न हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिये या मध्य में भी कल्पना के द्वारा अभीष्ट रस के असुकूल कथा का उन्नयन कर लेना चाहिये। (आशय यह है कि यदि प्रसिद्ध कथानक में रसचर्वणा के लिये अनावश्यक कोई अधिक तत्त्व हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिये। और यदि कोई विरोधी तत्त्व हो तो उसको तो कहना ही नहीं चाहिये। यदि उसके बिना कथानक का निर्वाह न हो रहा हो तो उसको ऐसे रूप में बदल देना चाहिये जिससे वह रस के अनुकूल बन जावे।) (३) कथानक की रचना के लिये जिन सन्धियों तथा सन्ध्यङ्गों का शास्त्र में निरूपण किया गया है उनका पालन करना चाहिये। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि उनका पालन रसव्यञ्जना के अनुकूल हो और उनसे रसाभिव्यक्ति में सहायता मिल रही हो तभी उनका पालन करना चाहिये, केवल इस दृष्टि से ही उनका पालन नहीं करना चाहिये कि शास्त्र में उनका प्रतिपादन किया गया है और शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा करनी ही है। (शास्त्र में इन अङ्गों का उल्लेख इसीलिये किया गया है कि इनके अनुसार कथानक संघटित करने से रसव्यञ्जना सुन्दर बन पड़ती है। यदि इनके पालन करने से रस व्यञ्जना से कोई सहायता न मिले अथवा रस में व्याघात उपस्थित हो तो इनके पालन करने की आवश्यकता नहीं है।) (४) कथानक के बीच में आवश्यकतानुसार रस का उद्दीपन और प्रशमन होना चाहिये। अर्थात् इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ आवश्यकता हो वहाँ रस को तीव्रता प्रदान कर दी जावे और जहाँ रस के प्रशान्त कर देने से रस की पुष्टि होना सम्भव हो वहाँ पर उसे प्रशान्त कर देना चाहिये। यदि उसकी विश्रान्ति प्रारम्भ हो गई हो तो उसका अनुसन्धान कर लेना चाहिये। (दीधितिकार ने यहाँ पर दो पृथक् पृथक् तत्त्व माने हैं—एक तो रसका उद्दीपन और प्रशम तथा दूसरा अन्तमें अङ्गी रस का अनुसन्धान। यह व्याख्या लोचन के विरुद्ध होने से त्याज्य है।) (५) कवि अलङ्कारयोजना में कितना ही निपुण क्यों न हो उसे रसानुकूल ही अलङ्कारयोजना करनी चाहिये। रस इत्यादि के प्रति प्रबन्ध की व्यञ्जकता के यही ५ निबन्धन हैं। इन पाँचों प्रकारों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—कथापरीक्षा, अधिकतासम्पादन, रस को फलपर्यन्त लेजाना, रस के प्रति जागरूक रहना, उचित विभाव इत्यादि के वर्णन में अलङ्कार के औचित्य का ध्यान रखना। अब इन्हीं पाँचों की क्रमशः व्याख्या की जा रही है—

(ध्वन्या०)—प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। प्रथमं तावद्विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम्। तत्र विभावौचित्यं तावत्प्रसिद्धम्।

(अनु०) प्रबन्ध भी रस इत्यादि का व्यञ्जक (होता है) यह कहा गया है। उसकी व्यञ्जकता में निबन्धन (यह है)। सर्वप्रथम विभाव, भाव (स्थायी भाव) अनुभाव और सञ्चारी भाव के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होनेवाले कथाशरीर का विधान अर्थात् ठीक रूप में प्रतिपादन के लिये अभीष्ट रस और भाव इत्यादि की अपेक्षा से जो उचित विभाव भाव

अनुभाव और सञ्चारी भाव हो उसके औचित्य से सुन्दर मालूम पड़नेवाले कथाशरीर का विधान व्यञ्जकता में निबन्धन होता है यह एक है। उनमें विभावौचित्य तो प्रसिद्ध ही है।

(लो०) **प्रथमं तावदिति**। प्रबन्धस्य व्यञ्जकत्वे ये प्रकारास्ते क्रमेणैवोपयोगिनः। पूर्वं हि कथापरीक्षा। तत्राधिकावापः फलपर्यन्ततानयनम्, रसं प्रति जागरणं तदुचितविभावादिवर्णनेऽलङ्कारौचित्यमिति। तत्क्रमेण पञ्चकं व्याचष्टे—**विभावे**त्यादिना। **तदौचित्येति**। शृंगारवर्णनेच्छुना तादृशी कथा संश्रयणीया यस्यामृतुमाल्यादेर्विभावस्य लीलादेरनुभावस्य हर्षधृत्यादेः सञ्चारिणः स्फुट एव सद्भाव इत्यर्थः। **प्रसिद्धमिति**। लोके भरतशास्त्रे च। **व्यापार** इति। तद्विषयोत्साहोपलक्षणमेतत्। स्थाय्यौचित्यं हि व्याख्येयत्वेनोपक्रान्तं नानुभवौचित्यम्। **सौष्ठवभृतोऽपीति**। वर्णनामहिम्नेत्यर्थः। **तत्र त्विति**। नीरसत्वे।

(अनु०) 'प्रथमं तावत्' प्रबन्ध की व्यंजकता में जो प्रकार हैं वे क्रमशः ही उपयोगी होते हैं। पहले कथापरीक्षा, उसमें अधिकता की प्राप्ति, फलपर्यन्त ले जाना, रस के प्रति जागरण और उसके लिये उचित विभाव इत्यादि के वर्णन में अलंकारों का औचित्य (ये पांच प्रकार हैं) इसी क्रम से इस पञ्चक की व्याख्या कर रहे हैं—विभाव इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा। 'तदौचित्यम्' शृङ्गार वर्णन के इच्छुक द्वारा उस प्रकार की कथा का आश्रय लिया जाना चाहिये जिसमें ऋतु माल्य इत्यादि विभाव की लीला इत्यादि अनुभाव की और हर्ष धृति इत्यादि संचारी की स्फुट ही सद्भावना हो यही अर्थ है। 'प्रसिद्धम्' यह लोक में और भरतशास्त्र में।

'व्यापार' यह। तद्विषयक उत्साह का उपलक्षण है। क्योंकि वर्णनीय के रूप में स्थाय्यौचित्य का उपक्रम किया गया है। अनुभावौचित्य का नहीं। 'सुन्दरता से युक्त भी' अर्थात् वर्णन की महिमा से। 'वहाँ पर तो' अर्थात् नीरसत्व में।

कथा परीक्षा में विभावौचित्य

तारावती—(१) सर्वप्रथम कथापरीक्षा को लीजिये। कथा ऐतिहासिक भी हो सकती है, पौराणिक भी और सर्वथा काल्पनिक भी। किन्तु सभी प्रकार के कथानकों में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसमें रस के जिन तत्त्वों का निबन्धन किया जाये वे सर्वथा उचित ही होने चाहिये। उदाहरण के लिये यदि शृंगाररसमय रचना करनी है तो उसके अनुकूल ही परिस्थिति का निर्माण करना होगा। शृंगाररसमय रचना के लिये कवि को ऐसी कथा का आश्रय लेना चाहिये जिसमें स्पष्ट रूप में ऋतु माला इत्यादि का वर्णन सन्निहित हो, जिस में लीला इत्यादि अनुभावों के वर्णन का पर्याप्त अवसर हो और हर्ष, धृति, इत्यादि सञ्चारिभाव स्पष्ट रूप में प्रतीत हो रहे हों। रसोपकरणों के औचित्य का यही अभिप्राय है। इस औचित्य को हम कई भागों में विभाजित कर सकते हैं—विभावौचित्य, भावौचित्य, अनुभावौचित्य और सञ्चार्यौचित्य। विभावौचित्य लोक में भी प्रसिद्ध है और भरत इत्यादि आचार्यों ने निरूपण भी विशेष रूप में कर दिया है। (यह बात लोकसिद्ध है कि कौन से विभाव उचित होते हैं? कौन से अनुचित? उदाहरण के लिये कुछ प्रेम उचित माने जाते हैं और कुछ उचित नहीं होते। कहीं क्रोध प्रशंसनीय होता है कहीं निन्दनीय। इसी प्रकार अन्य भावों के विषय में भी समझना चाहिये।) भरत मुनि ने नाट्य को त्रैलोक्या-

नुकृति कहा है तथा उसे धीरोदात्ताद्यवस्थानुकृति बतलाया है। भरत के मत में नाट्य लोक-धर्मी होता है और लोकप्रवृत्ति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के प्रादेशिक राष्ट्रिय तथा जातीय चरित्रों का अध्ययन कार्यकलाप और वाक्यादि की दृष्टि से किया गया है। प्रकृति के अन्दर विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों, मस्तिष्कों और स्वभावों का वर्णन किया गया है। तथा उनको रसानुकूल रखने का आदेश दिया गया है। भरत का कहना है—

'एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि।
यथा भावरसावस्थं विज्ञायैवं प्रयोजयेत्॥

अर्थात् केश से नख तक यह स्त्री का विभूषण है। इस प्रकार इनको जानकर भाव और रस की अवस्था के अनुसार इनका प्रयोग करना चाहिये। किन्तु प्रकृतियों और प्रवृत्तियों की इयत्ता नहीं हो सकती। भरत ने कहा है कि प्रकृतियाँ नाना शील वाली होती हैं, शील में ही नाट्य की प्रतिष्ठा होती है। लोकसिद्ध ही सिद्ध माना जाता है; शास्त्र लोकस्वभाव से उद्भूत होता है; अतः नाट्यप्रयोग में लोक ही प्रमाण है। जो शास्त्र हैं, जो धर्म हैं जो शिल्प हैं, जो क्रियायें हैं; लोकधर्म द्वारा सञ्चालित होने पर ही वे नाट्य संज्ञा की अधिकारिणी होती हैं। स्थावर और चर लोक का शास्त्र के द्वारा इयत्ता के रूप में निर्णय कर सकना असम्भव है अतः मैंने जो नहीं कहा वह भी लोक से ही समझ लिया जाना चाहिये।' इस प्रकार भरत लोक के औचित्य को प्रमुखता देते हैं। वस्तुतः धर्म और अधर्म तथा उचित और अनुचित की भावना प्रत्येक समझदार व्यक्ति के हृदय में स्वतः होती है। अतः लोक-प्रवृत्त व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से ही उचित-अनुचित का निर्णय कर लेता है। शास्त्रकार केवल दिग्दर्शन कराते हैं। साहित्यदर्पणकार ने विभावानौचित्य का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया है—'उपनायकविषयक, मुनि गुरुपत्नी इत्यादि के प्रति विद्यमान तथा अनुभयनिष्ठरति और प्रतिनायकनिष्ठ तथा अधम पात्र तिर्यक् इत्यादि के प्रति शृंगार में अनौचित्य होता है। गुरु इत्यादि के प्रति कोप, हीननिष्ठ शान्त, गुरु इत्यादि को आलम्बन बनाकर हास्य, ब्रह्मवध इत्यादि के लिये उत्साह, अधम पात्रगत वीर और उत्तम पात्रगत भयानक ये अनुचित होते हैं तथा ऐसे दूसरे स्थानों पर भी समझना चाहिये।' इसी प्रकार उद्दीपन के औचित्य का भी दिग्दर्शन कराया जा सकता है। आशय यह है रसनिष्पत्ति के उद्देश्य से कथानक ऐसा चुना जाना चाहिये जो सहृदयों को अनुचित प्रतीत न हो और जिस व्यक्ति के प्रति जो भाव दिखलाया गया हो उस के पात्र रसाभास उत्पन्न न करें और न परिस्थितियाँ ही सहृदयों में खिंचाव उत्पन्न करने वाली हों।

(ध्वन्या०)—भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिह्युत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी। तां यथायथमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायी भाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग्भवति। अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्योत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः।

(अनु०) भाव का औचित्य तो प्रकृति के औचित्य से (होता है)। प्रकृति निस्सन्देह

उत्तम मध्यम और अधम भावसे तथा दिव्य मानुष इत्यादि भाव से विभेदवाली (हो जाती है)। उसको ठीक रूप में अनुसरण करते हुए उपनिबद्ध किया हुआ असंकीर्ण स्थायी भाव औचित्यवाला हो जाता है। नहीं तो केवल मानव के आश्रय से दिव्य के और केवल दिव्य के आश्रय से केवल मनुष्य के उपनिबद्ध किये हुये उत्साह इत्यादि अनुचित होते हैं। अत एव राजा इत्यादि केवल मानव के वर्णन में सातों समुद्रों के लंघन इत्यादि रूप व्यापार उपनिबद्ध किये हुये सुन्दरता से भरे हुये भी नियमतः नीरस ही होते हैं। उसमें अनौचित्य ही हेतु है।

भावौचित्य तथा प्रकृतियाँ

तारावती—ऊपर विभावौचित्य का वर्णन किया गया है। कथानक के औचित्य की कल्पना में कवि को जिस दूसरे तत्त्व का विचार करना है वह है भावौचित्य (वैसे तो भावौचित्य में विभावों का औचित्य भी प्रयोजनीय होता ही है तथापि भावौचित्य के लिये कतिपय अतिरिक्त तत्त्व भी आवश्यक होते हैं।) भाव का औचित्य प्रकृतियों के औचित्य पर आधृत होता है। प्रकृतियों का विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है—प्रथम भेदकल्पना के अनुसार प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। द्वितीय उपभेद कल्पना के अनुसार उसके तीन भेद होते हैं दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। समान परिस्थिति में प्रकृतिभेद के आधार पर भावना का भेद भी हो जाता है। एक ही परिस्थिति में उत्तम प्रकृतिवाले व्यक्ति के हृदय में जैसी भावनायें उठेंगी अधम प्रकृतिवाले व्यक्ति के हृदय में सर्वथा उससे विपरीत भावनायें होंगी। अतः भावाभिव्यक्ति में प्रकृति का सर्वथा ध्यान रखना चाहिये अन्यथा प्रकृतिविपर्यय दोष के कारण रसानुभूति अकलुष नहीं हो सकती। (साहित्यदर्पण ने प्रकृति-भेद के विषय में लिखा है कि—प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—दिव्य अर्थात् देवताओं की प्रकृति, अदिव्य अर्थात् मानव इत्यादि की प्रकृति और दिव्यादिव्य अर्थात् महापुरुषों की प्रकृति जो कुछ देवता और कुछ मनुष्यत्व की ओर झुकी हुई होती है। उनके धीरोदात्त इत्यादि भेद होते हैं, उनके भी उत्तम मध्यम और अधम ये भेद होते हैं। उसमें जो जिस प्रकार का हो उसका उससे भिन्न रूप में वर्णन करना प्रकृतिविपर्यय दोष कहलाता है। जैसे धीरोदात्त राम का धीरोद्धत के समान बालिवध अथवा जैसे कुमारसम्भव में उत्तम देवता पार्वती और परमेश्वर का सम्भोगशृङ्गार ('यह मातापिता के सम्भोगवर्णण के समान अत्यन्त अनुचित है यह कुछ लोग कहते हैं।) उस प्रकृति का यदि ठीक रूप में अनुसरण किया जावे और उसके माध्यम से स्थायी भाव का उपनिबन्धन इस रूप में किया जावे कि वह किसी विरोधी भाव से सङ्कीर्ण न हो और न किसी अनुकूल अथवा उदासीन भाव के प्रति गौण हो रहा हो वह स्थायी भाव ही औचित्यशाली कहा जा सकता है। इसके प्रतिकूल यदि प्रकृति का उलटफेर हो जाता है जैसे देवों के जो उत्साह इत्यादि भाव होते हैं उनको केवल मानव के आश्रय से वर्णन किया जावे अथवा जो उत्साह इत्यादि भाव केवल मानव के हो सकते हैं उनका आश्रय केवल देवताओं को बनाया जावे तो इस प्रकार के उत्साह इत्यादि के उपनिबन्धन अनुचित होते हैं। (केवल मानव और केवल देव का अर्थ है कि जो पाण्डव इत्यादि देवों और मानवों की मिश्रित प्रकृति के होते हैं उनके आश्रय में दिव्य या मानुष किसी प्रकार के औचित्य का पालन किया जा सकता है।) इस प्रकार राजा इत्यादि जो केवल मानव है

उनके वर्णन के प्रसङ्ग में सातों समुद्रों को लांघ जाने इत्यादि 'कार्यों का' उपनिबन्धन किया जाता है तो वह उपनिबन्धन (कलात्मक दृष्टि से) कितना ही अच्छा क्यों न हो किन्तु नियमतः नीरस हो जाता है। इस नीरसता का कारण अनौचित्य ही होता है। यहाँ पर 'कार्यों का उपनिबन्धन' अनुचित बतलाया गया है। रसप्रकरण में कार्य या व्यापार को सर्वदा अनुभाव कहा जाता है। किन्तु यहाँ पर भाव के औचित्य का प्रकरण है अनुभाव के औचित्य का नहीं। अतः व्यापार शब्द का अर्थ करना चाहिये सात समुद्रों के लांघ जाने इत्यादि कार्यों से उपलक्षित उत्साह इत्यादि।

(ध्वन्या०)—ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तदलोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्षमाभुजामिति? नैतदस्ति, न वयं ब्रूमो यत् प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम्, किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायां तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव। यथा पाण्ड्वादिकथायाम्। सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम्। तदयमत्र परमार्थः—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

(अनु०) (प्रश्न) निस्सन्देह सातवाहन इत्यादि (राजाओं) के नागलोकगमन इत्यादि (लोकोत्तर कार्य) सुने जाते हैं; अतः समस्त पृथ्वी के भरण-पोषण में समर्थ पृथ्वी का भोग करनेवाले (राजाओं) के अलोकसामान्य प्रभावातिशय वर्णन करने में क्या अनौचित्य है? (उत्तर) यह नहीं है। हम यह नहीं कहते कि राजाओं का प्रभावातिशय वर्णन अनुचित होता है; किन्तु केवल मनुष्य के आश्रय से जो उत्पाद्यवस्तु की कथा की जाती है उसमें दिव्य औचित्य की योजना नहीं करनी चाहिये। दिव्य-मनुष्य (दोनों प्रकृतिवाली) के आश्रय से की हुई कथा में दोनों के औचित्य की योजना अविरुद्ध ही है। जैसे पांडु इत्यादि की कथा में। सातवाहन इत्यादि में तो जितना कर्मवृत्त सुना जाता है केवल उतने का अनुगमन करना गुणों की अनुकूलता के अनुसार प्रतिभासित हो जाता है। तो यह यहाँ पर सारार्थ है—

'अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का और कारण नहीं होता। प्रसिद्ध औचित्य का उपनिबन्धन रस की सबसे बड़ी परा विद्या है॥'

(लो०)—व्यतिरिक्तं त्विति। अधिकमित्यर्थः।

(अनु०)—'व्यतिरिक्त तो' यह अर्थात् अधिक।

लोकोत्तर कृत्यों के औचित्य पर विचार

तारावती—यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि राजा लोग सर्वसाधारण जनता के समान सीमित शक्ति वाले तो होते नहीं उनमें लोकोत्तर शक्ति होती है। वे समस्त पृथ्वी के रक्षण करने की शक्ति रखते हैं और भूमि का भोग भी करते हैं। यदि उनके आश्रय से अलोकसामान्य प्रभाव की अतिशयता का वर्णन करें तो क्या अनुचित होगा? उदाहरण के लिये सातवाहन इत्यादि का नागलोकगमन इत्यादि सुना जाता है। (विक्रम की द्वितीय

शताब्दी के आस पास सातवाहन नामक राजा कुन्तल राज्य में हुआ था। इसकी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठान) में थी। इन्हीं का चलाया हुआ शक संवत् है और इन्हीं ने प्रसिद्ध मुक्तक कोश गाथासप्तशती की रचना की थी। ये अपने दान मान और ऐश्वर्य के कारण जनसाधारण में अलौकिक शक्तिसम्पन्न माने जाने लगे थे। ऐसे व्यक्तियों के विषय में किंवदन्तियाँ प्रायः चल पड़ती हैं। सम्भवतः इनके विषय में भी पातालगमन जैसी किंवदन्वियाँ चल पड़ी हों और वे आनन्दवर्धन के समय तक तथा उसके बाद तक प्रसिद्ध रही हों। विक्रमादित्य के विषय में ऐसी ही किंवदन्तियाँ आज भी प्रसिद्ध हैं। यह भी सम्भव है कि ये कोई दूसरे सातवाहन हों।) आशय यह है कि राजाओं के लोकोत्तर कृत्य सम्भव हैं अतः उनके प्रभाव की अधिकता का वर्णन क्यों अनुचित कहा जावेगा ? (उत्तर) इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कुछ प्रतिपक्षी ने कहा है वह वास्तव में ठीक नहीं है। हमारे कहने का आशय यह नहीं है कि राजाओं के प्रभाव की अधिकता का वर्णन नहीं करना चाहिये। सामान्य जनों की अपेक्षा राजा में प्रभाव की जितनी अधिकता सम्भव हो सकती है उसका वर्णन करना दोष नहीं कहा जा सकता, अतः उसका तो वर्णन करना ही चाहिये। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि कथायें दो प्रकार की होती हैं एक तो लोक में परम्परागतरूप में प्रसिद्ध और दूसरी काल्पनिक। परम्पराप्राप्त कथाओं के समान कल्पित कथाओं के प्रति सर्वसाधारण की भावना पहले से ही बनी नहीं रहती। अतः यदि ऐसी कल्पित कथा को लेकर नाट्य या काव्य की रचना की जावे उसके पात्र सर्वथा लौकिक तथा अप्रसिद्ध हों और उनके विषय में सर्वसाधारण की कोई पुरानी धारणा बनी हुई न हो तो उनके चित्रण में मानव औचित्य का ध्यान रखना चाहिये, दिव्य औचित्य की योजना उनके साथ नहीं करनी चाहिये। प्रसिद्ध कथा में कुछ पात्र ऐसे होते हैं जो होते तो हैं वस्तुतः लौकिक, किन्तु उनके साथ परम्परागतरूप में दिव्यता जुड़ जाती है, उन्हें हम दिव्यादिव्य प्रकृति का नायक कह सकते हैं उनके चरित्रों में दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकार की प्रकृतियों की योजना विरुद्ध नहीं कही जा सकती। जैसे पांडव इत्यादि के चरित्र। (मूल में पांड्वादि लिखा है। ज्ञात होता है 'पांडवादि' में ड् के नीचे हलन्त पाठ की भ्रष्टता के कारण आ गया है। क्योंकि पांडु की कथा में किसी लोकोत्तर कृत्य का वर्णन नहीं है। पाण्डवों की कथा सभी लोकोत्तर कृत्यों से भरी हुई है।) इसमें भी इतना ध्यान रखना चाहिये कि प्रसिद्ध दिव्यादिव्य प्रकृति वाले राजाओं के लोकोत्तर कृत्यों की जो सीमा लोक में प्रतिष्ठित हो चुकी हो यदि उतने तक का ही अनुगमन किया जाता है तो वह अनुगमन रस के अनुकूल नहीं होता है। यदि लोक-प्रतिष्ठा का अतिक्रमण करके उससे अधिक का वर्णन किया जावे तो वह अनुगमन रस के अनुकूल नहीं होता है। यदि लोकप्रतिष्ठा का अतिक्रमण करके उससे अधिक का वर्णन किया जावे तो वह सर्वथा अनुचित ही होता है। यहाँ पर सारांश इतना ही है—

'अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का और कोई कारण नहीं होता। प्रसिद्ध औचित्य का निबन्धन रस की सबसे बड़ी उपनिषद् है।' (उपनिषद् शब्द के दो अर्थ होते हैं—परा विद्या और निकट पहुँचना। आशय यह है कि औचित्य का निबन्धन रस की परा विद्या है और रसनिष्पत्ति के सबसे अधिक निकट पहुँचना भी औचित्य का उपनिबन्धन ही है।)

(ध्वन्या०)—अत एव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम् । तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति । यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः ।

(अनु०) अत एव भरत में नाटक का प्रख्यात वस्तुविषयत्व और प्रख्यात उदात्तनायकत्व अवश्यकर्तव्यता के रूप में रक्खा गया है । इससे नायक के औचित्य अनौचित्य के विषय में कवि व्यामोह में नहीं पडता । और जो नाटक को उत्पाद्य (कल्पित) वस्तु वाला बनावे उससे अप्रसिद्ध और अनुचित नायक के स्वभाववर्णन में बहुत बड़े प्रमाद की सम्भावना है ।

(लो०)—एतदुक्तं भवति–यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग् वर्णनीयम् । तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्तार्णवलंघनमसम्भाव्यमानतयानृतमिति हृदये स्फुरदुपदेशस्य चतुर्वर्गोपायस्याप्यलीकतां बुद्धौ निवेशयति । रामादेस्तु तथाविधमपि चरितं पूर्वप्रसिद्धिपरम्परोपचितसम्प्रत्ययोपारूढमसत्यतया न चकास्ति । अत एव तस्यापि यदा प्रभावान्तरमुत्प्रेक्ष्यते तदा तादृशमेव । न त्वसंभावनापदं वर्णनीयमिति । **तेन हीति** । प्रख्यातोदात्तनायकवस्तुत्वेन । **व्यामुह्यतीति** । किं वर्णयेयमिति । **यस्त्विति** कविः । **महान् प्रमाद** इति । तेनोत्पाद्यवस्तु नाटकादि न निरूपितं मुनिनेति न कर्तव्यमिति तात्पर्यम् । आदिशब्दः प्रकारे, हिमादेः प्रसिद्धदेवचरितस्य सङ्ग्रहार्थः ।

अन्यस्तु—उपलक्षणमुक्तो बहुव्रीहिरिति प्रकरणमत्रोक्तमित्याह । 'नाटिकादि' इति वा पाठः । तत्रादिग्रहणं प्रकारसूचकम्, तेन मुनिनिरूपिते नाटिकालक्षणे 'प्रकरणनाटकयोगादुत्पाद्यं वस्तु नायको नृपतिः' इत्यत्र यथासंख्येन प्रख्यातोदात्तनृपतिनायकत्वं बोद्धव्यमिति भावः ।

(अनु०) (यहाँ पर) यह कहा गया है––जहाँ उपदेश दिये जानेवाले (सहृदय व्यक्तियों) की प्रतीति का खण्डन हो रहा हो उस प्रकार की वस्तु का वर्णन करना चाहिए । उसमें केवल मानव का अकस्मात् सातों समुद्रों का लांघ जाना असम्भव होने से असत्य है यह उपदेश्य (उपदेश के योग्य) व्यक्ति के हृदय में स्फुरित होते हुए बुद्धि में चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के उपाय की भी असत्यता को निविष्ट कर देता है । राम इत्यादि का तो उस प्रकार का भी चरित्र पूर्वप्रसिद्धि-परम्परा से बढ़े हुए विश्वास के कारण (हृदय पर) चढ़ा हुआ असत्य के रूप में प्रकाशित नहीं होता । अत एव जब उनके भी दूसरे प्रभाव की कल्पना की जाती है तब वैसा ही होता है । आशय यह है कि असम्भावना के स्थान का वर्णन नहीं करना चाहिए । 'इससे निस्सन्देह' अर्थात् प्रख्यात उदात्त नायक विषयक वस्तु होने से । 'व्यामोहित होता है' अर्थात् क्या वर्णन करूँ यह (व्यामोह) । 'जो' अर्थात् कवि । 'बहुत बड़ा प्रमाद' इसलिए उत्पाद्य वस्तु वाले नाटक इत्यादि का मुनि ने निरूपण नहीं किया है अतः उन्हें नहीं करना चाहिए यह तात्पर्य है । 'आदि' शब्द प्रकारार्थक है (यह) हिम इत्यादि प्रसिद्ध देवचरित के संग्रह के लिए (लिखा गया है ।)

दूसरा तो 'उक्त बहुव्रीहि उपलक्षण है इसलिए प्रकरण यहाँ पर कहा गया है' यह कहता है । अथवा 'नाटिकादि' यह पाठ है । उसमें आदिग्रहण प्रकारसूचक है । इससे मुनि के

द्वारा निरूपित नाटिकालक्षण में 'प्रकरण और नाटक के योग से उत्पाद्य वस्तु और नायक नृपति होता है' यहाँ पर क्रम का अनुसरण करते हुए प्रख्यात उदात्त नृपति नायक समझा जाना चाहिए—यह भाव है।

प्रख्यातवृत्त के उत्पादन का औचित्य

तारावती—भरतमुनि ने नाटक के अन्दर प्रख्यात वस्तु का कथानक के रूप में उपादान करना और इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति को नाटक का नायक बनाना कवि का अनिवार्य कर्तव्य माना है। इसका कारण ही यह है कि प्रसिद्ध कथानक के पात्रों के चरित्र तथा उनकी शक्ति की सीमा कवि के सामने सर्वदा सन्निहित रहती है, अतः कवि उनका चित्रण करने में व्यामोह में नहीं पड़ता और पाठकों की भी उनके पात्रों के विषय में एक भावना बनी रहती है, अतः पाठक न तो उनकी सम्भावना में सन्देह करते हैं और न उनका आस्वादन ही प्रतिहत होता है। इसके प्रतिकूल काल्पनिक नाटकादि की रचना में कवि को किसी पात्र के चरित्र की कल्पना स्वयं करनी पड़ती है और परिशीलक जब उस नई घटना को पढ़ता है या उसका अभिनय देखता है तब किसी विशिष्ट पात्र के विषय में उसकी धारणा चित्रण के अनुकूल बन जाती है! न तो कवि के मस्तिष्क में उस नवीन पात्र के विषय में कोई धारणा बद्धमूल होती है और न पाठकों के सामने उनका कोई चरित्र स्पष्ट होता है। ऐसी दशा में यह बहुत सम्भव है कि कवि स्वकल्पित चरित्र के ठीक ठीक निर्वाह करने में भूल कर जावे। वहाँ कवि को विशेष रूप से चरित्रचित्रण में जागरूक रहना पड़ता है। यदि वहाँ पात्र के चित्रण में कवि प्रकृति के औचित्य का पालन करने में समर्थ हो जाता है तो भावौचित्य के कारण प्रबन्ध रसाभिव्यंजन में समर्थ होता है।

विनेय व्यक्तियों की प्रतीतिरक्षा की आवश्यकता

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि कवि को सर्वदा ऐसा वर्णन करना चाहिये जिससे विनेय व्यक्तियों की प्रतीति का खण्डन न हो (आशय यह है कि काव्य का प्रमुख प्रयोजन होता है सुकुमार प्रकृति के राजकुमार इत्यादि को ठीक मार्ग पर ले आया जावे। यह तभी सम्भव है जब कि उनके हृदय में असत्यता का प्रतिभास न हो। यदि नाटकादि में ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाता है जिसको विनेय व्यक्ति सत्य समझने लगते हैं तभी उनकी आस्था जमती है और तभी वे उपदेश को ग्रहण कर सकते हैं।) अब मान लीजिये कोई ऐसा पात्र है जो शुद्ध मानव की सीमा से पार नहीं जा सकता, यदि एकदम उसका सातों समुद्रों का लांघ जाना दिखला दिया जावेगा तो सहृदयों के हृदयों मे असम्भवनीयताजन्य असत्यता स्फुरित होने लगेगी और जिस चतुर्वर्ग के उपाय का उपदेश देना कवि को अभीष्ट होता है असम्भव प्रकृति उस उपाय के मिथ्यात्व को बुद्धि में निविष्ट कर देती है (जिससे कवि का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता।) राम इत्यादि का तो यदि वैसा भी चरित्र चित्रित किया जावे अर्थात् समुद्र पर पत्थरों को तैराना, एक बाण से समुद्र को क्षुब्ध कर देना इत्यादि असम्भव घटनाओं को यदि राम इत्यादि पात्रों के विषय में दिखलाया जावे तो पूर्वप्रसिद्धि की परम्परा से बढ़े हुये विश्वास के हृदय पर जमे होने के कारण ये घटनायें असत्य के रूप में प्रतीत नहीं होतीं। अत एव यदि उन राम इत्यादि के भी प्रसिद्ध से भिन्न

दूसरे प्रकार के प्रभावों का वर्णन किया जावे तो उनकी भी वही दशा होगी। सारांश यह है कि असम्भव का वर्णन नहीं करना चाहिये। (आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि आजकल या तो नवीनता की झोंक में या पुरातन के खंडन करने की मिथ्या वीर भावना से कुछ कवि प्राचीन प्रतिष्ठित चरित्रों में गड़बड़ किया करते हैं। कोई मेघनाद को नायक बनाते हुए देखा जाता है कोई दूसरे प्रकार की कल्पनाओं से प्राचीन चरित्रों की बुद्धिगम्यता प्रतिपादित करते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार नवीन कल्पना के लिये अपरिमित अवकाश होते हुये भी यह सरस्वती के मन्दिर को व्यर्थ कलंकित करना है।) भरत मुनि का आशय यही है कि प्रख्यात और उदात्त नायक विषयक वस्तु होने से कवि इस व्यामोह में नहीं पड़ता कि क्या वर्णन करना चाहिये या क्या नहीं करना चाहिये। यहाँ पर कहा गया है कि जो उत्पाद्य वस्तु वाले नाटक इत्यादि की रचना न करे उससे अप्रसिद्ध अनुचित नायक के स्वभाववर्णन में बहुत बड़े प्रमाद की सम्भावना रहती है। इसमें यह प्रश्न उठता है कि नाटक तो कल्पित वस्तु वाला होता ही नहीं फिर यह क्यों कहा गया कि 'जो कल्पित वस्तु वाले नाटक की रचना करे'? अतः इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये इस सन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि यदि नाटक भी कल्पित विषय वाला रक्खा जावे तो कवि से बहुत बड़े प्रमाद हो जाने की सम्भावना हो सकती है। इसीलिए उत्पाद्य वस्तु वाले नाटक इत्यादि की रचना नहीं करनी चाहिये। और इसीलिये मुनि ने नाटक को उत्पाद्य वस्तु को लेकर लिखने का आदेश नहीं दिया है और न उसका निरूपण ही किया है। 'नाटकादि' में आदि शब्द प्रकारवाचक है अर्थात् नाटक के ढंग पर ही लिखे हुये और भी अभिनेय काव्य जिनमें प्रख्यात वस्तु को नाट्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जावे। इससे डिम इत्यादि का संग्रह हो जाता है जिसमें प्रसिद्ध देवचरित को नाट्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाता है। (नाट्य शास्त्र में रूपक के दस भेद किये गये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन। इसी प्रकार १८ उपरूपक होते हैं। इनमें कुछ रूपक और उपरूपक प्रख्यात वस्तु को लेकर चलते हैं और कुछ कल्पित वृत्त को लेकर। नाटक प्रथम प्रकार का रूपक होता है जिसमें प्रख्यात वृत्त का आश्रय लिया जाता है। लोचन के अनुसार यहाँ पर वृत्तिकार (आनन्दवर्धन) ने जो 'नाठकादि' की कल्पित वृत्तता में कवि के महान् प्रमाद की सम्भावना का उल्लेख किया है उसका आशय यह है कि यदि प्रख्यात वृत्त पर आधृत नाठक इत्यादि को कल्पितवस्तुविषयक माना गया होता तो कवि के महान् प्रमाद की सम्भावना थी, इसीलिये भरतमुनि ने नाटक इत्यादि को कल्पित वृत्त-गत माना नहीं है और उसकी रचना करनी भी नहीं चाहिये।) कुछ लोग 'नाटकादि' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—इस शब्द में बहुव्रीहि है, यह बहुव्रीहि उपलक्षणपरक हो जाता है। (उपलक्षण का अर्थ है एक भाग के ग्रहण करने पर सम्पूर्ण का ज्ञान हो जाना। यहाँ नाटक शब्द के ग्रहण से सभी रूपकों और उपरूपकों का ग्रहण हो जाना उपलक्षण है।) अतः नाटकादि के द्वारा प्रकरण इत्यादि कल्पितवस्तुपरक रूपकों का ग्रहण हो जाता है। इस अवस्था में आनन्दवर्धन के उक्त कथन का यही आशय है कि जिन प्रकरणादिकों में वस्तु उत्पाद्य होती है उनमें प्रमाद हो जाना अधिक सम्भव है। अथवा यहाँ पर 'नाठकादि' यह पाठ न मानकर 'नाटिकादि' यह पाठ मानना चाहिये। यहाँ

पर 'आदि' का ग्रहण प्रकार का सूचक है। अर्थात् 'जिस प्रकार की नाटिका होती है उस प्रकार के रूपकों में.....' इत्यादि। मुनि ने नाटिका का लक्षण यह लिखा है—(नाटिका में) प्रकरण और नाटक के योग से उत्पाद्य वस्तु और नायक राजा होता है।' यहाँ पर यथासंख्य अर्थात् क्रम के अनुसार व्याख्या करनी चाहिये। अर्थात् नाटिका में प्रकरण और नाटक दोनों के तत्त्व मिले रहते हैं—प्रकरण के अनुसार वस्तु उत्पाद्य होती है और नाटक के अनुसार उदात्त चरित्रवाला कोई प्रख्यात राजा नायक होता है। आशय यह है कि नाटिका की वस्तु भी कल्पित ही होती है और उसी को लेकर आनन्दवर्धन ने लिख दिया है कि कल्पित वस्तु वाली नाटिका इत्यादि में प्रमाद का हो जाना बहुत स्वाभाविक है। (साहित्यदर्पण में नाटिका का लक्षण यह लिखा है—'नाटिका कल्पित वृत्त वाली, अधिकतर स्त्रीपात्रों से युक्त, चार अङ्कों वाली होती है। इसमें प्रख्यात धीरललित राजा नायक होता है।' आशय यह है कि नाटिका में किसी प्रसिद्ध नायक का कल्पित चरित्र रहता है'।)

(ध्वन्या०)—ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद्दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत्क्रियताम्, रत्यादौ तु किं तया प्रयोजनम्? रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः, नैवम्; तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता? त्रिविधं प्रत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम्। यत्तु दिव्यमौचित्यं तत्तत्रानुपकारकमेवेति चेत्—न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद् ब्रूमः। किं तर्हि? भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ; तथैव देवेषु तत्परिहर्तव्यम्। नाटकादेरभिनेयत्वादभिनयस्य च सम्भोगशृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात्तत्र परिहार इति चेत्, न; यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत्काव्यस्यैवंविषयस्य सा केन निवार्यते? तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवताविषयम्।

(अनु०) (प्रश्न) यदि उत्साह इत्यादि के वर्णन में दिव्य, मानुष इत्यादि के औचित्य की परीक्षा की जाती है तो की जावे, रति इत्यादि में तो उससे क्या प्रयोजन? स्थिति यह है कि रति भारतवर्षोचित व्यवहार से ही दिव्यों की भी वर्णित की जानी चाहिये। (उत्तर) ऐसा नहीं है। वहाँ औचित्य के अतिक्रमण से तो दोष होता ही है। वह इस प्रकार कि अधम प्रकृति के औचित्य से उत्तम प्रकृति के शृङ्गारोपनिबन्धन में क्या उपहास्यता न होगी? शृङ्गार के विषय में भारत में भी तीन प्रकार की प्रकृतियों का औचित्य है। यदि कहो कि जो (अतिरिक्त) दिव्य औचित्य है वह तो इस विषय में अनुपकारक ही है तो (इसका उत्तर यह है कि) हम शृङ्गारविषयक दिव्य औचित्य कुछ और नहीं बतलाते। तो क्या? भारतवर्ष के विषय में जैसा कि उत्तम नायक राजा इत्यादि के (विषय में) शृङ्गार का उपनिबन्धन होता है वैसा (ही) देवों के आश्रय से भी शोभित होता है। नाटक इत्यादि में राजा इत्यादि

के विषय में ग्राम्य शृङ्गार का भी उपनिबन्धन प्रसिद्ध नहीं है उसी प्रकार देवों के विषय में भी उसका त्याग करना चाहिए। (यदि कहो कि) नाटक इत्यादि के अभिनेय होने से और संभोगशृङ्गारविषयक अभिनय के असभ्य होने से उसका परिहार (किया जाता है) तो (इसका उत्तर यह है कि) यह बात नहीं है। यदि इस विषय के अभिनय में असभ्यता है तो इस विषय के काव्य में उसे (असभ्यता को) कौन रोक लेगा ? अतः अभिनेय अर्थ या अभिनय भिन्न अर्थवाले काव्य में जो उत्तम प्रकृतिवाले राजा इत्यादि का उत्तम प्रकृतिवाली नायिकाओं के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन वह माता पिता के सम्भोग वर्णन के समान नितान्त असभ्य है और उसी प्रकार उत्तम देवताओं के विषय में भी।

रति इत्यादि में प्रकृत्यौचित्य पर विचार

तारावती—ऊपर बतलाया है कि प्रकृतियों के औचित्य का पालन भावौचित्य में हेतु होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उत्साह इत्यादि के वर्णन में तो दिव्य मानव इत्यादि प्रकृतियों के भेद की परीक्षा सङ्गत कही जा सकती है—देवों में उत्साह का परिमाण मानवों की अपेक्षा भिन्न अवश्य होता है। अतः उत्साह इत्यादि के क्षेत्र में दिव्य मानव इत्यादि औचित्यों की परीक्षा यदि कोई करता है तो किया करे, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु रति इत्यादि में उस परीक्षा का क्या प्रयोजन ? सम्भोग इत्यादि जैसे देवों में होते हैं वैसे ही मानवों में भी होते हैं। यदि कोई कोई कवि भारतीय व्यक्तियों के प्रेम के औचित्य के आधार पर दिव्य प्रेम का भी वर्णन करता है तो उसमें अनौचित्य क्या होगा ? आशय यह है कि प्रेम तो सभी का एक-सा होता है उसमें औचित्य-भेद का क्या अर्थ ? इसका उत्तर यह है यह कथन ठीक नहीं है। यदि प्रेम के क्षेत्र में भी औचित्य का अतिक्रमण किया जाता है तो उसमें भी दोष होगा। वह इस प्रकार—यदि अधम प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों के औचित्य का प्रयोग उत्तम प्रकृति वाले व्यक्तियों के श्रृंगारोपनिबन्धन में किया जावेगा तो वह अवश्य ही उपहसनीय होगा। (भरतमुनि ने उत्तम और मध्यम व्यक्तियों की रति भाव के द्वारा मानी है और नीचों की सम्भ्रम के द्वारा।) स्वयं भारतवर्ष में ही शृङ्गार के विषय में उत्तम मध्यम और अधम प्रकृति के अनुसार औचित्य का विचार किया ही जाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृत्यौचित्य का विचार उत्साह इत्यादि में ही किया जाना चाहिये, श्रृंगार इत्यादि में नहीं। यहाँ पर कोई विचारक यह भी कह सकता है कि श्रृंगार के विषय में उत्तम मध्यम इत्यादि प्रकृतियाँ ही प्रयोजक होती हैं—प्रकृतियों का दिव्य, अदिव्य यह विभाजन इस दिशा में अकिञ्चित्कर है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। श्रृंगार की दृष्टि से दिव्य औचित्य और कुछ नहीं है और न हम उसे कोई पृथक् तत्त्व कहते ही हैं। तो फिर है क्या ? भारतवर्ष के विषय में एक प्रकार का प्रकृत्यौचित्य नहीं होता अपितु उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकारों का औचित्य माना जाता है। यदि देवताओं के शृङ्गार का वर्णन करना हो तो भारतवर्ष के उत्तम राजा इत्यादि के लिये जिस प्रकार के औचित्य का पालन किया जाता है और उनकी रति का जिस प्रकार का वर्णन किया जाता है उसी प्रकार का वर्णन दिव्य पात्रों का भी करना चाहिये। राजा इत्यादि

के विषय में प्रसिद्ध ग्राम्य शृङ्गार का उपनिबन्धन नाटक इत्यादि में प्रसिद्ध नहीं है। (नाटक में दन्तच्छेद्य, नखच्छेद्य तथा अन्य लज्जाजनक तत्त्वों का समावेश नाट्यशास्त्र के अनुसार भी वर्जित है और व्यवहार में भी नाटक में वैसा प्रयोग नहीं किया जाता।) यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि नाटक की तो बात ही और है। नाटक में अभिनय किया जाता है; सम्भोग का अभिनय अत्यन्त असभ्यता प्रकट करने वाला होगा। अतः सम्भोग का अभिनय नहीं किया जाता। किन्तु श्रव्य काव्य का प्रयोजन तो अभिनय होता नहीं है अतः श्रव्य काव्य में इस प्रकार के अनौचित्य का परित्याग क्यों किया जाना चाहिये ? (उत्तर) यदि अभिनय में इस ग्राम्य शृंगार को सहन नहीं किया जा सकता तो श्रव्य काव्य में इस प्रकार के अनौचित्य का निवारण किस प्रकार तथा किसके द्वारा किया जा सकता है ? आशय यह है कि अभिनय में जिस प्रकार असभ्य व्यवहार चित्तसङ्कोच उत्पन्न करता है उसी प्रकार असभ्य व्यवहार का वर्णन सुनकर भी चित्तसङ्कोच होता ही है। अतः काव्य चाहे अभिनेय हो चाहे अनभिनेय, श्रव्य हो अथवा पाठ्य दोनों प्रकार के काव्यों में उत्तम प्रकृतिवाले राजा इत्यादि का उत्तम प्रकृतिवाली नायिकाओं के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार माता-पिता का सम्भोगवर्णन अनुचित हुआ करता है। यह तो सर्वथा अनुचित ही है। (यही व्यवस्था दिव्य शृंगार के विषय में भी स्थापित की जा सकती है।) उत्तम देवताओंके विषय में भी ग्राम्य सम्भोग वर्णन अनुचित ही होता है। (आशय यह है कि दिव्य अदिव्य इत्यादि प्रकृतियों का विचार शृंगार के क्षेत्र में भी किया ही जाता है।)

(ध्वन्या०)—**न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते ? तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्। तथैव विस्मयादिषु। यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव। अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव।**

इयत्तूच्यते—भरतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकविप्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनावहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः। औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्यनेनैतत् प्रतिपादयति—यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यम्, नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात् स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति। परिकरश्लोकश्चात्र—

कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

(अनु०)—सम्भोग शृङ्गार का सुरत रूप एक ही प्रकार नहीं होता (उसके) परस्पर प्रेमपूर्वक दर्शन इत्यादि और भी भेदोपभेद हो सकते हैं, उत्तम प्रकृति के विषय में उनका वर्णन क्यों नहीं किया जाता ? अतः उत्साह के समान रति में भी प्रकृति के औचित्य का

अनुसरण करना चाहिये। उसी प्रकार विस्मय आदि में भी। जो कि इस प्रकार के विषय में महाकवियों के भी बिना सोचे-समझे (रचना) करने की (प्रवृत्ति) देखी जाती है वह दोष ही है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण वह (दोष) लक्षित नहीं होता। अनुभाव का औचित्य तो भरत में प्रसिद्ध ही है।

इतना तो कहा जा रहा है—भरत इत्यादि विरचित स्थिति का अनुवर्तन करते हुये, महाकवियों के प्रबन्धों की पर्यालोचना करते हुये और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुये कवि को सावधानचित्त होकर विभाव इत्यादि के औचित्य के भ्रंश को बचाने का बहुत बड़ा प्रयत्न करना चाहिये। औचित्यवान् घटित या कल्पित कथाशरीर का ग्रहण व्यञ्जक होता है इससे यह प्रतिपादन करते हैं—कि इतिहास में आदि में विभिन्न प्रकार की रसमयी कथाओं के होते हुए भी जो उसमें विभाव इत्यादि के औचित्यवाला कथाशरीर हो उसी को ग्रहण करना चाहिये, दूसरे को नहीं। घटित कथाशरीर से भी अधिक प्रयत्न कल्पित कथा-शरीर (के निष्पादन) में करना चाहिये। वहाँ पर ध्यान न देने से कवि की बहुत बड़ी अव्युत्पत्ति की सम्भावना हो जाती है।

इस विषय में एक परिकर श्लोक भी है—

'उत्पाद्यवस्तु कथाशरीर को उन उन प्रकारों से बनाना चाहिये जिससे वह सब **रसमय** ही प्रतीत होने लगे।

(लो०)—कथं तर्हि सम्भोगश्रृङ्गारः कविना निबध्यतामित्याशङ्क्याह—**न चेति। तथैवेति।** मुनिनापि स्थाने प्रकृत्यौचित्यमेव विभावानुभावादिषु बहुतरं प्रमाणीकृतम् 'स्थैर्येणोत्तमध्यमाधमानां नीचानां सम्भ्रमेण' इत्यादि वदता।

इयत्त्विति। लक्षणज्ञत्वं लक्ष्यपरिशीलनमदृष्टप्रसादोदितस्वप्रतिभाशालित्वं चानुसर्तव्यमिति संक्षेपः।

रसवतीष्वित्यनादरे सप्तमी। रसवत्त्वं चाविवेचकजनाभिमानाभिप्रायेण मन्तव्यम्। विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता। **कवेरिति।** न हि तत्रेतिहासवशादेव मया निबद्धमिति जात्युत्तरमपि सम्भवति।

(अनु०) तो कवि के द्वारा सम्भोग श्रृङ्गार कैसे निबद्ध किया जावे यह शङ्का करके कहते हैं—'और नहीं' यह। 'उसी प्रकार से' यह। मुनि ने भी विभाव अनुभाव इत्यादि में स्थान-स्थान पर प्रकृत्यौचित्य ही बहुत अधिक प्रमाणित किया है—'उत्तम और मध्यम का स्थैर्य के द्वारा तथा नीचों का अपसर्पण के द्वारा' यह कहते हुए।

'इतना तो'। लक्षण का जानना, लक्ष्य का परिशीलन करना, अदृष्ट और प्रसादन से उत्पन्न अपनी प्रतिभा से युक्त होना—इनका अनुसरण करना चाहिये यह संक्षेप है।

'रसवतीषु' में अनादर में सप्तमी है और रसवत्त्व तो अविवेचक जनों के अभिमान के अभिप्राय से माना जाना चाहिये। विभाव इत्यादि के औचित्य के विना रसवत्ता ही क्या? 'कवि का' यह। यहाँ पर इतिहास के कारण ही मैंने ऐसा निबद्ध कर दिया है—यह असमीचीन उत्तर भी सम्भव नही हैं।

तारावती—यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्भोगवर्णन असम्य है तो उसका वर्णन तो काव्य के क्षेत्र से बाह्य ही हो जावेगा, नहीं तो उसका वर्णन किया ही किस प्रकार जासकेगा? (उत्तर) सम्भोग शृङ्गार का केवल सुरतरूप एक ही प्रकार तो नहीं है; किन्तु उसके और भी बहुत से प्रकार हो सकते हैं जैसे प्रेमपूर्वक एक दूसरे को देखना (मिलना, बातचीत करना) इत्यादि। उत्तम प्रकृतिवालों के विषय में यदि इन शालीन प्रेमचेष्टाओं का वर्णन किया जावे तो उसमें दोष क्या होगा? इस समस्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार उत्साह इत्यादि में प्रकृति के औचित्य का विचार आवश्यक होता है उसी प्रकार रति में भी प्रकृति के औचित्य का अनुवर्तन अपरिहार्य ही है। मुनि ने विभिन्न प्रकरणों में विभाव अनुभाव इत्यादि के वर्णन के प्रसङ्ग में प्रकृति के औचित्य का बहुत अधिक विवेचन किया है और प्रमाणित भी कर दिया है, जैसे प्रेमप्रसङ्ग में—उत्तम और मध्यम के आश्रय से जिस प्रेम को काव्यविषय बनाया जावे उसमें स्थिरता होनी चाहिये, नीचों के प्रसङ्ग में सम्भ्रम होना चाहिये इत्यादि। यही बात विस्मय इत्यादि के विषय में भी गतार्थ होती है (अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ लोगों का विस्मय परिमाण में अधिक होता है, कुछ का कम, कोई विस्मय को एकदम प्रकट करने लगता है और कोई गम्भीरता से अपनी आकृति को छिपाये रहता है। यह सब प्रकृत्यौचित्य ही है।) यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस विषय में महाकवियों ने भी सूझबूझ से काम नहीं लिया है (कालिदास ने भी शङ्कर-पार्वती के सम्भोग का वर्णन कर ही दिया है।) उसकी क्या व्यवस्था होगी? इसका उत्तर यह है कि महाकवियों का वह विवेक-शून्य कार्य दोष ही माना जावेगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उसमें ऐसी कलात्मक प्रौढ़ता विद्यमान रहती है जिससे उस अनौचित्य का तिरस्कार हो जाता है और परिशीलकों के सामने वह दोष के रूप में नहीं आता। अनुभाव का औचित्य तो भरत इत्यादि में प्रसिद्ध ही है। (नाटच में अनुभाव का औचित्य तो भरत ने विभिन्न भावों का विभिन्न रूप में अभिनय दिखलाया है यह सब अनुभावौचित्य ही है। यहाँ पर सञ्चारियों के औचित्य का उल्लेख नहीं किया। उसको भी उसी प्रकार समझ लेना चाहिये जिस प्रकार दूसरे औचित्य बतलाये गये हैं। अनुभावौचित्य का उदाहरण यह होगा कि यदि कोई व्यक्ति शोक का अभिनय मुख-विकास के द्वारा करे अथवा भ्र,म की परिस्थिति में गम्भीरता धारण करे तो यह अनुचित होगा। इसी प्रकार यदि कोई नायिका किसी कामी द्वारा सम्बाधित किये जाने पर क्रोधजन्य उद्विग्नता का हर्षपूर्ण मुद्रा में अभिनय करे तो यह भी अनुचित ही होगा! सञ्चारी का औचित्य जैसे वेश्यागत लज्जा और कुलवती की लज्जाहीनता अनुचित कही जावेगी। इसी प्रकार उत्तम प्रकृतिवालों में जो लज्जाशीलता होगी वह अधम प्रकृतिवालों में नहीं होगी। इस प्रकार उस परिस्थिति में भी भाव का तारतम्य होगा ही। इन सब औचित्यों का निर्वाह करते हुए कथाशरीर की रचना करना प्रबन्धौचित्य का प्रथम रूप है।)

उपसंहार

ऊपर कथाशरीर के विधान में परिपालनीय औचित्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। उपसंहार के रूप में इतना कहा जा सकता है—कथाविधान में तीन तत्त्वों का प्रधानतया

अनुसरण किया जाना चाहिये—लक्षणज्ञान, लक्ष्यपरिशीलन और अपनी प्रतिभा। १—भरत इत्यादि लक्षणशास्त्रकारों ने विस्तारपूर्वक नाट्यवस्तु रचना पर विचार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिस स्थिति का विवेचन किया है उसका पूर्णरूप में अनुसरण करना चाहिये। (इसी प्रकार वात्स्यायन मुनि इत्यादि ने जिन विभिन्न परिस्थितियों और तज्जन्य मनोविकारों का विस्तृत विवेचन किया है उसका भी पालन करना चाहिये और साथ ही लोकवृत्त को भी देखना चहिये। क्योंकि शास्त्रकार दिग्दर्शनमात्र कराते हैं; औचित्य का पूर्ण परिचय तो लोक से ही मिलता है।)

अध्ययन और प्रतिभा का उपयोग

२—महाकवियों के बनाये हुये प्रबन्धों का मनोयोगपूर्वक अध्यन करना चाहिये और उनकी पर्यालोचना करनी चाहिये। अर्थात् यह देखना चाहिये कि महाकवियों ने कथा का उपादान किस प्रकार किया है और उसकी संघटना का निर्वाह भी किस प्रकार किया है? इससे कथाशरीर के निर्माण में निपुणता आ जाती है।

३—कवि को अपनी प्रतिभा का अनुसरण भी करना चाहिये। प्रतिभा का उदय अदृष्ट अर्थात् सुकृत और प्रसाद अर्थात् देवता की कृपा हुआ करता है। इस प्रतिभा के बल पर अनुचित के निराकरण के लिये नवीन अर्थों और उसके योग्य नवीन शब्दों का स्फुरण होता है। प्रतिभा के द्वारा उच्छिन्न कथाभागों की संघटना और अनुचित भागों का त्याग या उचित रूप में परिवर्तन कथाशरीर के निर्माण के लिये अत्यन्त आवश्यक है।) कवि को चाहिये कि अपने मन को भलीभाँति अवधान से युक्त बनाकर उक्त तत्त्वों की सहायता से विभाव इत्यादि में जो औचित्यभ्रंश हो जाता है उसके निराकरण का बहुत बड़ा प्रयत्न करे। 'घटित या उत्प्रेक्षित औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण व्यञ्जक होता है' इस कथन से यह प्रतिपादित किया गया है कि—चाहे इतिहास इत्यादि में विविध प्रकार की रसमय कथायें भरी पड़ी हों, किन्तु काव्यवस्तु के लिये ऐसे कथाशरीर का ही उपादान किया जाना चाहिये जिसमें विभाव इत्यादि का औचित्य विद्यमान हो। उससे भिन्न (अनौचित्य वाला) कथा-शरीर काव्य वस्तु के रूप में नहीं ग्रहण किया जाना चाहिये। 'रसवती कथाओं में' यहाँ पर सप्तमी अनादर के अर्थ में है। अर्थात् इतिहास आदि में भरी हुई रसवती कथाओं का अनादर (उपेक्षा) करके केवल विभाव इत्यादि के औचित्य वाली कथायें ही ग्रहण की जानी चाहिये। वस्तुतः कथाओं में रसवत्ता तो विभाव इत्यादि के औचित्य से ही आती है। जिन कथाओं में इस प्रकार का औचित्य विद्यमान नहीं होता उनमें रसवत्ता ही क्या? किन्तु फिर भी अविवेकी जन उन कथाओं में भी रसवत्ता का अभिमान कर सकते हैं। इसलिये उन कथाओं को भी रसवती कह दिया गया है जिनमें औचित्य नहीं होता और उनके अनादर के लिये अनादर के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग कर दिया गया है। यह तो इतिहास प्रसिद्ध कथा की बात हुई। काल्पनिक कथाओं में उससे भी अधिक ध्यान रखने की आवश्यता होती है जितना ध्यान वृत्त (घटित) कथाओं में रक्खा जाता है। यदि कवि उस प्रकार की कल्पित कथा की संघटना लापरवाही से करे तो उसके स्खलन की सम्भावना बहुत अधिक रहती है

जिससे कवि अव्युत्पत्ति के लाञ्छन से ग्रस्त हो सकता है। क्योंकि यदि कल्पित कथा में किसी प्रकार की रसविषयिणी कलुषता आ जाती है तो कवि को यह बहाना करने का भी अवसर नहीं रहता कि मैंने इतिहास के अनुरोध से ऐसा लिख दिया। यद्यपि यह बहाना है असमीचीन ही; क्योंकि कवि को रसानुकूल परिवर्तन करने की छूट तो रहती ही है। इसी विषय में यह एक प्रसिद्ध श्लोक है—

'उत्पाद्य वस्तु विषयक कथाशरीर की संघटना इस रूप में की जानी चाहिये कि कथा का प्रत्येक भाग रसमय ही प्रतीत हो।'

(ध्वन्या०)—तत्र चाभ्युपायः सम्यग्विभावाद्यौचित्यानुसरणम्। तच्च दर्शितमेव। किञ्च—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत्स्वेच्छैव न योज्या। यदुक्तम्—'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः'। स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या।

इदमपरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः यथा कालिदासप्रबन्धेषु। यथा च सर्वसेनरचिते हरिविजये। यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये।

(अनु०) उसमें उपाय है कि सम्यक् रूप में विभाव इत्यादि के औचित्य का अनुसरण करना। और वह दिखला ही दिया गया है। और भी—

'सिद्ध रसों से प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले जो रामायणादि कथाश्रय (प्रबन्ध) हैं उनके साथ रसविरोधिनी स्वेच्छा की योजना नहीं करनी चाहिये।'

उन कथाश्रित (प्रबन्धों) में तो स्वेच्छा का योग करना ही नहीं चाहिए। जैसा कि कहा गया है—कथामार्ग में स्वल्प भी अतिक्रम नहीं होना चाहिए। यदि स्वेच्छा का भी योग करना हो तो रसविरोधिनी स्वेच्छा का योग नहीं करना चाहिए।

प्रबन्ध की रसव्यञ्जकता में यह दूसरा निबन्धन है कि इतिवृत्तवश आई हुई किसी प्रकार रस की प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर पुनः कल्पना करके अभीष्ट रस के उचित कथा का उन्नयन कर लेना चाहिए। जैसा कालिदास के प्रबन्धों में या जैसे सर्वसेनरचित हरिविजय में या मेरे ही अर्जुनचरित महाकाव्य में।

(लो०)—**तत्र चेति**। रसमयत्वसम्पादने। सिद्धः आस्वादमात्रशेषो न तु भावनीयो रसो येषु; कथानामाश्रया इतिहासाः, तैरितिहासार्थैः सह स्वेच्छा न योज्या। सहार्थश्चात्र विषयविषयिभाव इति व्याचष्टे—**तेष्विति** सप्तम्या। स्वेच्छा तेषु न योज्या। कथञ्चिद् वा यदि योज्यते तत्तत्प्रसिद्धरसविरुद्धा न योज्या। यथा रामस्य धीरललितत्वयोजनेन नाटिकानायकत्वं कश्चित्कुर्यादिति त्वत्यन्तासमञ्जसम्। **यदुक्तमिति**। रामाभ्युदये यशोवर्मणा—'स्थितमिति यथा शय्याम्'। **कालिदासेति**।

रघुवंशेऽजादीनां राज्ञां विवाहादिवर्णनं नेतिहासेषु निरूपितम् । हरिविजये कान्तानुनयाङ्गत्वेन पारिजातहरणादिनिरूपितमितिहासेष्वदृष्टमपि । तथार्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालविजयादिवर्णितमितिहासाप्रसिद्धम् ।

(अनु०)—'और उसमें' अर्थात् रसमयता के सम्पादन में । 'सिद्ध' यहां सिद्ध अर्थात् आस्वाद मात्र रूप में अवशिष्ट तथा भावना के योग्य नहीं है रस जिनमें। कथा के आश्रय अर्थात् इतिहास । उन इतिहासार्थों के साथ अपनी इच्छा का योग नहीं करना चाहिये । यहाँ साथ का अर्थ है विषयविषयीभाव इसलिये 'उनमें' इस सप्तमी के द्वारा व्याख्या की है ! स्वेच्छा उनमें नहीं जोड़ी जानी चाहिये । यदि कथञ्चित् जोड़ी जानी चाहिये तो उन उन प्रसिद्ध रसों के विरुद्ध नहीं जोड़ी जानी चाहिये । जैसे कोई राम के धीरललितत्व की योजना के द्वारा (उन्हें) नाटिका का नायकत्व (प्रदान) करे तो यह अत्यन्त असमीचीन होगा । 'जैसा कहा गया है'—रामाभ्युदय में यशोवर्मा के द्वारा—

'स्थित' यहाँ । कथायोजन के अनुसार 'कालिदास इत्यादि' रघुवंश में अज इत्यादि का वर्णन इतिहासों में निरूपित नहीं किया गया है । हरिविजय में कान्ता के अनुनय के अङ्ग रूप में पारिजातहरण इत्यादि इतिहासों में न देखे हुए (कथानक) का निरूपण किया गया है । उसी प्रकार अर्जुनचरित में अर्जुन के पातालविजय इत्यादि का वर्णन इतिहास मे प्रसिद्ध नहीं है ।

सिद्धरस काव्यों में स्वेच्छासन्निवेश का निषेध

तारावती—सभी कुछ रसमय बना देने का उपाय है विभाव इत्यादि के औचित्य का पालन करना जिसका विस्तृत परिचय पिछले पृष्ठों पर दिया जा चुका है । और भी—

'कथा को लेकर लिखे हुये रामायण इत्यादि जो प्रबन्ध सिद्ध रस वाले तथा प्रतिष्ठित हैं उनमें रसविरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।'

रस की दो अवस्थायें होती हैं सिद्ध और साध्य । सिद्ध रस वह होता है जिसका आस्वादनमात्र ही अवशिष्ट रह गया हो और भावना के द्वारा जिसमें आस्वादनीयता उत्पन्न करने की आवश्यकता न हो । रामायण इत्यादि सिद्धरस काव्य हैं उनमें भावना के द्वारा आस्वादनीयता सम्पादित करने की आवश्यकता नहीं (प्रख्या शब्द का अर्थ है तुल्य अर्थात् जिस प्रकार लोक में कोई पदार्थ पूर्णरूप से तैय्यार करके रख दिया जावे, उसका रस पूर्णतया निष्पन्न हो चुका हो केवल आस्वादन ही शेष हो । इसी प्रकार के रामायण इत्यादि सिद्धरस काव्य हैं । उनका भी आस्वादन लिया जा सकता है उनमें अपनी नवीन भावना के समावेश से रसनयीता उत्पन्न करने की चेष्टा व्यर्थ है ।) 'तैः' यह तृतीया है जो कि 'साथ' के अर्थ में हुई है अर्थात् उनके साथ । अर्थात् उस इतिहासार्थ के साथ अपनी इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिए । यहाँ पर साथ का अर्थ विषयविषयिभाव है । (अधिकरण के चार अर्थों में 'वैषयिक' अर्थ एक है जिसमें सप्तमी हुआ करती है । अतः यहाँ पर विषय-विषयिभाव में सप्तमी हो गई है ।) इसीलिए वृत्ति में इसकी व्याख्या में 'उनमें' इस सप्तमी का प्रयोग किया गया है । इसका सार यही है कि कथाश्रित काव्यों में प्रथम तो अपनी इच्छा का उपयोग करना ही नहीं चाहिए जैसा कि रामाभ्युदय में यशोवर्मा के द्वारा कहा गया है कि 'कथामार्ग में थोड़ा सा भी अतिक्रमण नहीं होना चाहिए । और यदि इच्छा का उपयोग करना ही हो तो

इच्छा रसानुकूल ही होनी चाहिए; विभिन्न प्रकृत रसों के विपरीत तो इच्छा का कभी प्रयोग करना ही नहीं चाहिए। उदाहरण के लिए राम की धीरोदात्तता प्रसिद्ध है। यदि कोई कवि स्वेच्छा से राम को धीरललित बनाकर उनके जीवन को शृङ्गारमय चित्रित कर दे और उन्हें नाटिका का नायक बना दे तो यह बहुत ही अनुचित बात होगी। (इसके प्रतिकूल कृष्ण में धीरोदात्तता के साथ धीरलालित्य का योग अनुचित नहीं कहा जा सकता।)

वृत्तिकार ने 'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः' को उद्धृत किया है। यह एक प्रसिद्ध पद्य के दूसरे चरण का अन्तिम खण्ड है। पद्य यह है—

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
बुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयोः,
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैरेतावदेवास्तु नः॥

('प्रकृतियों के अनुकूल वाणी का औचित्य, सर्वत्र पात्रानुकूल तथा अपने अवसर पर रस की पुष्टि, कथामार्ग का अतिक्रमण न करना, प्रस्तुत की सामग्री कल्पना में शुद्धि और शब्द तथा अर्थ की प्रौढ़ता, ध्यान देकर विद्वान् लोग परिभावन कर सकें बस यह इतना ही हमें चाहिए।')

यह पद्य भोज के शृङ्गारप्रकाश में दिया है। इसके दूसरे चरण का अन्तिम भाग 'कथामार्गे न चातिक्रमः' आनन्दवर्धन ने उद्धृत किया है और इस पर टिप्पणी करते हुए लोचनकार ने लिखा है कि यह भाग यशोवर्मा के रामाभ्युदय से लिया गया है। डा० राघवन् के अनुसार यही एक ऐसा प्रमाण है जिससे यह प्रकट होता है कि यह पद्य यशोवर्मा के रामाभ्युदय में आया है। यह पुस्तक इस समय उपलब्ध नहीं होती। ईशा की अष्टम शती के प्रथमार्ध में यशोवर्मा कन्नौज के राजा थे और उनके आश्रय में ही प्रसिद्ध नाटककार भवभूति भी रचना करते थे। भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में कुछ आलोचनाशास्त्र सम्बन्धी पद्य लिखे हैं। प्रस्तुत पद्य की विचारधारा भवभूति के उन पद्यों से मेल खाती है। ज्ञात होता है कि प्रस्तुत पद्य भी रामाभ्युदय की प्रस्तावना में ही लिखा गया होगा।

लोचन में 'जैसा कहा गया है' का उद्धरण देकर 'रामाभ्युदये यशोवर्मणा' इन शब्दों के बाद 'स्थितमिति यथाशय्याम्' यह लिखा है और इन शब्दों को उद्धरण चिह्न से चिह्नित कर दिया गया है। यहाँ पर इन शब्दों का कोई सम्बन्ध समझ में नहीं आता। उद्धरणचिह्न से ऐसा ज्ञात होता है कि ये शब्द भी रामाभ्युदय के ही हैं। किन्तु रामाभ्युदय के उपलब्ध न होने से इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। सम्भव है प्रस्तुत पद्य से पृथक् ये शब्द रामाभ्युदय में पहले आये हों। फिर भी केवल इतने शब्दों से अर्थ की संगति लगा सकना दुस्साध्य है। दूसरी बात यह हो सकती है कि यहाँ पर उद्धरणचिह्न लेखक के प्रमाद से लग गया हो और यहाँ पर 'स्थितमिति' के स्थान पर 'स्थितिमिति' यह पाठ हो। ऐसी दशा में 'स्थितिं त्यक्त्वा' के 'स्थिति' शब्द का यह प्रतीक निर्देश हो सकता है। डा० राघवन् ने यही सम्भव माना है, और यही पाठ सबसे अधिक शुद्ध प्रतीत होता है। ऐसी दशा में 'स्थितिमिति यथा शय्याम्' यह भाग प्रबन्ध के दूसरे औचित्य की व्याख्या करने वाला सिद्ध होता है। ('स्थिति' का अर्थ है कथा की योजना।)

(ध्वन्या०) कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित्प्रयोजनम्; इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

(अनु०) काव्य का उपनिबन्धन करनेवाले कवि को पूरी आत्मा से रसपरतन्त्र होना चाहिए। उसमें यदि इतिवृत्त में रस के प्रतिकूल स्थिति देखे तो इसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूप में रस के अनुकूल दूसरी कथा का सृजन कर ले। केवल इतिवृत्त के निर्वाह से कवि का कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि उसकी सिद्धि इतिहास से हो जाती है।

(लो०)—एतदेव युक्तमित्याह—**कविनेति।**

(अनु०)—यही ठीक है यह कहते हैं—'कवि के द्वारा' यह।

कथा में रसानुकूल परिवर्तन

तारावती—प्रबन्ध की रसाभिव्यंजकता का दूसरा निबन्धन यह है कि यदि इतिवृत्त के कारण कथा की कोई ऐसी योजना सामने आ जावे जो रस के अनुकूल न हो तो उस योजना को छोड़कर पुनः नई कल्पना करके अभीष्ट रस के अनुकूल कथा का उन्नयन कर लेना चाहिए। जैसा कि कालिदास के प्रबन्धों में किया गया है। उदाहरण के लिए अज इत्यादि राजाओं के विवाह का वर्णन इतिहासग्रन्थों में निरूपित नहीं किया गया है, किन्तु कालिदास ने रघुवंश में इसका वर्णन किया है। (इसी प्रकार दुर्वासा के शाप की कल्पना कालिदास ने रसानुगुणता की दृष्टि से ही की है और अपने नाटकों में दूसरे परिवर्तन भी इस प्रकार कर लिए हैं कि पात्रों के आदर्श-परिवर्तित न करते हुए भी सदोष परिस्थितियों का सर्वथा निराकरण कर दिया है। तुलसीदास ने कैकेयी के दोषपरिमार्जन के लिए सरस्वती का उनकी जबान पर बैठ जाना लिखा है। परशुरामजी राम को बारात से लौटने के अवसर पर मार्ग में मिले थे—अनेक रामकथा काव्यों में ऐसा ही वर्णन मिलता है। किन्तु राम के अभ्युदय का उत्कर्ष दिखलाने के लिए तुलसी उनको समस्त राजाओं के सामने ही धनुष्-यज्ञ की रङ्गशाला में लाये हैं। विदेहराज की प्रतिज्ञा थी कि जो धनुष् की प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा उसी से सीता का विवाह हो जावेगा। राम ने प्रत्यञ्चा चढ़ाने में धनुष को तोड़ भी दिया; यह प्रतिज्ञापूर्ति नहीं थी किन्तु राम के चरित्र का एक दोष था जिसके निराकरण के लिए तुलसी ने धनुष् तोड़ने की ही प्रतिज्ञा कराई है।) इसी प्रकार सर्वसेनरचित हरिविजय में प्रियतमा सत्यभामा के अनुनय के अङ्ग होने के कारण पारिजातहरण इत्यादि का निरूपण कर दिया गया है, जो कि ऐतिहासिक कथाओं में नहीं देखा गया। स्वयं आनन्दवर्धन ने अर्जुनचरित नामक एक महाकाव्य लिखा था। इस नाटक में अर्जुन के पाताल-विजय इत्यादि का वर्णन किया गया है जो कि इतिहास में प्रसिद्ध नहीं है। यही ठीक भी है। काव्यरचना में कवि को सर्वथा रस के आधीन रहना चाहिये। यदि इतिवृत्त में कोई प्रतिकूल परिस्थिति दिखलाई पड़े तो उसे सर्वथा भंग कर दे और स्वतन्त्रतापूर्वक किसी दूसरी ऐसी कथा की कल्पना कर ले जो प्रकृत रस के अनुकूल हो। काव्य का फल कवि की दृष्टि से यही है कि उसे महाकवि का पद प्राप्त हो जावे और सहृदय की दृष्टि से उसका प्रयोजन है अनुरंजन के साथ उपदेश प्राप्त होना। ये प्रयोजन कथामात्र के निर्वाह से तो सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि जो प्रयोजन किसी अन्य

उपाय से सिद्ध हो जाता है उसके लिये नवीन साधन की कल्पना नहीं की जाती। इतिवृत्त का निर्वाह तो इतिहास इत्यादि से ही हो जाता है, उसके लिये काव्य का उपादान अनावश्यक है। अतः यदि इतिवृत्त रसनिष्पत्ति का उपघातक हो तो उसे छोड़कर नई कल्पना द्वारा उसे ठीक कर लेना चाहिये।

(ध्वन्या०)—**रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत्सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया, यथा रत्नावल्याम्। न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया, यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।**

(अनु०) रस इत्यादि के व्यञ्जकत्व में प्रबन्ध का यह दूसरा मुख्य निबन्धन है कि मुख प्रतिमुख गर्भ विमर्श और निर्वहण नामवाली सन्धियों का और उपक्षेप इत्यादि उनके अंगों का रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा करते हुये संघटन, जैसे रत्नावली में। केवल शास्त्रस्थिति सम्पादन की इच्छा से तो नहीं, जैसे वेणी संहार में विलास नामक प्रतिमुखसन्धि के अंग की घटना प्रकृत रस के प्रतिकूल होते हुए भी मत के अनुसरणमात्र की इच्छा से की गई है।

(लो०)—**सन्धीनामिति।** इह प्रभुसम्मितेभ्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतिभ्यः कर्तव्यमिदमित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः शास्त्रेभ्यो ये न व्युत्पन्नाः, न चाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तकर्मफलसम्बन्धप्रकटनकारिभ्यो मित्रसम्मितेभ्य इतिहासशास्त्रेभ्यो लब्धव्युत्पत्तयः, अथ चावश्यं व्युत्पाद्याः प्रजार्थसम्पादनयोग्यताक्रान्ताः राजपुत्रप्रायास्तेषां हृदयानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयकविभावादिसंयोगप्रसादोपनत इत्येवं रसोचितविभावाद्युपनिबन्धे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसभाविन्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम्, नाट्यमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः। न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव, द्वयोरप्येकविषयत्वात्। विभावाद्यौचित्यमेव हि सत्यतः प्रीतेर्निदानमित्यसकृदवोचाम।

विभावादीनां तद्रसोचितानां यथास्वरूपवेदनं फलपर्यन्तीभूततया व्युत्पत्तिरित्युच्यते। फलं च नाम यददृष्टवशाद्देवताप्रसादादन्यतो वा जायते। नच तदुपदेश्यम्, तत उपाये व्युत्पत्त्ययोगात्। तेनोपायक्रमेण प्रवृत्तस्य सिद्धिः, अनुपायद्वारेण प्रवृत्तस्य नाश इत्येवं नायकप्रतिनायकगतत्वेनार्थानर्थोपायव्युत्पत्तिः कार्या। उपायश्च कर्त्राश्रीयमाणः पञ्चावस्था भजते। तद्यथा—स्वरूपम्, स्वरूपात्किञ्चिदुच्छूनताम्, कार्यसम्पादनयोग्यताम्, प्रतिबन्धोपनिपातेनाशङ्क्यमानताम्, निवृत्तप्रतिपक्षतायां बाधकबाधनेन सुदृढफलपर्यन्तताम्। एवमार्तिसहिष्णूनां विप्रलम्भभीरूणां प्रेक्षापूर्वकारिणां तावदेवं कारणोपादानम्। ता एवंविधाः पञ्चावस्थाः कारणगता मुनिनोक्ताः—

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य यः।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः॥

प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ इति ।

एवं या एताः कारणस्यावस्थास्तत्सम्पादकं यत्कर्तुरितिवृत्तं पञ्चधा विभक्तम् । त एव मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणाख्या अन्वर्थनामानः पञ्च सन्धय इतिवृत्तखण्डाः सन्धीयन्त इति कृत्वा । तेषामपि सन्धीनां स्वनिर्वाह्यं प्रति तथा क्रमदर्शनादवान्तरभिन्ना इतिवृत्तभागाः सन्ध्यङ्गानि 'उपक्षपः परिकरः परिन्यासो विलोमनम्' इत्यादीनि ।

अर्थप्रकृतयोऽत्रैवान्तर्भूताः । तथा हि स्वायत्तसिद्धे बीजं बिन्दुः कार्यमिति तिस्रः । बीजेन सर्वव्यापाराः बिन्दुनानुसन्धानं कार्येण निर्वाहः सन्दर्शनप्रार्थनाव्यवसायरूपा ह्येतास्तिस्रोऽर्थे सम्पाद्ये कर्तुः प्रकृतयः स्वभावविशेषाः । सचिवायत्तसिद्धित्वे तु सचिवस्य तदर्थमेव वा स्वार्थमेव वा स्वार्थमपि वा प्रवृत्तत्वेन प्रकीर्णत्वप्रसिद्धत्वाभ्यां प्रकरीपताकाव्यपदेश्यतयोभयप्रकारसम्बन्धी व्यापारविशेषः प्रकरीपताकाशब्दाभ्यामुक्त इति । एवं प्रस्तुतफलनिर्वाहणान्तस्याधिकारिकस्य वृत्तस्य पञ्चसन्धित्वं पूर्णसन्ध्यङ्गता च सर्वजनव्युत्पत्तिदायिनी निबन्धनीया । प्रासङ्गिके त्वितिवृत्ते नायं नियम इत्युक्तम्—

'प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न ह्येष नियमो भवेत् ।'

इति मुनिना । एवं स्थिते रत्नावल्यां धीरललितस्य नायकस्य धर्माविरुद्धसम्भोगसेवायामनौचित्याभावात् प्रत्युत न निस्सुखः स्यादिति श्लाघ्यत्वात् पृथ्वीराज्यमहाफलान्तरानुबन्धिकन्यालाभफलोद्देशेन प्रस्तावनोपक्रमे पञ्चापि सन्धयोऽवस्थापञ्चकसहिताः समुचितसन्ध्यङ्गपरिपूर्णा अर्थप्रकृतियुक्ता दर्शिता एव । 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इति हि बीजादेव प्रभृति 'विश्रान्तविग्रहकथः' इति 'राज्यं निर्जितशत्रु' इति च वचोभिः 'उपभोगसेवावसरोऽयम्' इत्युपक्षेपात्प्रभृति हि निरूपितम् । एतत्तु समस्तसन्ध्यङ्गस्वरूपं तत्पाठपृष्ठे प्रदर्श्यमानमतितमां ग्रन्थगौरवमावहति । प्रत्येकेन तु प्रदर्श्यमानां पूर्वापरानुसन्धानवन्ध्यतया केवलं संमोहदायि भवतीति न विततम् । अस्यार्थस्य यत्नावधेयत्वेनेष्टत्वात् स्वकण्ठेन यो व्यतिरेक उक्तो 'न तु केवलया' इति तस्योदाहरणमाह—**न त्विति** । केवलशब्दमिच्छाशब्दं च प्रयुञ्जानस्यायमाशयः—भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम् । न तु पूर्वरङ्गवददृष्टसम्पादनं विघ्नादिवारणं वा । यथोक्तम्—

'इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानपक्षयः ।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम् ॥
आश्चर्यवदभिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम् ।
अङ्गानां षड्विधं ह्येतद् दृष्टं शास्त्रे प्रयोजनम् ॥' इति ।

ततश्च—

'समीहा रतिभोगार्था विलासः परिकीर्तितः ।'

इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गविलासलक्षणे । रतिभोगशब्द आधिकारिकरसस्थायिभावोपव्यञ्जकविभावाद्युपलक्षणार्थत्वेन प्रयुक्तः, यथा तत्त्वं नाधिगतार्थ इति । प्रकृतो ह्यत्र वीररसः ।

(अनु०) 'सन्धियों का' यह। यहाँ पर 'यह करना चाहिये' इस आज्ञामात्र परम अर्थवाले श्रुति स्मृति इत्यादि शास्त्रों से जो व्युत्पन्न नहीं हैं और नहीं ही 'यह इनकी बात अमुक कर्म से हुई' इस युक्तियुक्त कर्मफलसम्बन्ध को प्रकट करनेवाले मित्रसम्मित इतिहासशास्त्रोंसे व्युत्पत्ति को प्राप्त करनेवाले हैं और प्रजा के प्रयोजनसम्पादन की योग्यता से आक्रान्त जो राजपुत्र अवश्य व्युत्पन्न करने ही हैं उनके अन्दर हृदय में प्रवेश के माध्यम से व्युत्पत्ति का आधान करना चाहिये।

और हृदयानुप्रवेश रसास्वादमय ही होता है। और वह रस चतुर्वर्ग में उपायभूत व्युत्पत्ति के लिये अनिवार्य विभाव इत्यादि के संयोग की कृपा से प्राप्त हुआ है। इस प्रकार रस के योग्य विभाव इत्यादि के उपनिबन्धन में रसास्वाद की विवशता ही परिणामरूप में होनेवाली व्युत्पत्ति में प्रयोजिका है इस प्रकार प्रीति ही व्युत्पत्ति की प्रयोजिका है। रस प्रीत्यात्मक होता है, वही नाट्य है और नाट्य ही वेद है यह हमारे उपाध्याय (का कथन है)। ये दोनों प्रीति और व्युत्पत्ति भिन्न रूपवाली नहीं हैं; क्योंकि दोनों का विषय एक है। यह हमने कई बार कहा है कि विभाव इत्यादि का औचित्य ही सचमुच प्रीति का निदान है।

विभिन्न रसों के योग्य विभाव इत्यादि का फलप्राप्तिपर्यन्त ठीक स्वरूपज्ञान व्युत्पत्ति कहा जाता है। और फल अदृष्टवश देवताप्रसाद से अथवा अन्य कारण से उत्पन्न होता है वह उपदेश देने योग्य नहीं होता; क्योंकि उससे उपाय में कोई व्युत्पत्ति होने का योग नहीं होता। इससे उपायक्रम से प्रवृत्त की सिद्धि और अनुपाय द्वारा प्रवृत्त का नाश इस प्रकार नायक और प्रतिनायक गत अर्थ और अनर्थ की व्युत्पत्ति करा दी जानी चाहिये। कर्ता के द्वारा आश्रय लिये जाने पर उपाय पाँच अवस्थाओं को प्राप्त कर लेता है। वह इस प्रकार— स्वरूप, स्वरूप का कुछ परिपोष, कार्य सम्पादन की योग्यता, प्रतिबन्ध के आ पड़ने से आशंका, प्रतिपक्ष के निवृत्त हो जाने पर बाधक के बाधन द्वारा सुदृढ़ फलपर्यन्तता। इस प्रकार कष्ट को सहन करनेवाले (लोगों का) इस प्रकार कारण का उपादान होता है। ये कारणगत पाँच अवस्थायें मुनि ने कही हैं—

'फल योग के सिद्ध किये जाने में कारण का जो व्यापार उसकी अनुपूर्वी से प्रयोक्ताओं के द्वारा पाँच अवस्थायें ज्ञात की जानी चाहिये।

'प्रारम्भ, प्रयत्न तथा प्राप्ति के हेतु की सम्भावना, फलप्राप्ति का नियत होना और पाँचवाँ फलयोग।'

इस प्रकार जो कार्य की अवस्थायें हैं उनका सम्पादन करनेवाला जो कर्ता का इतिवृत्त पाँच भागों में विभक्त किया गया है वही मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण नामक अन्वर्थ संज्ञावाली पाँच सन्धियाँ अर्थात् इतिवृत्तखण्ड (होती हैं) 'जिनका सन्धान किया जाता है' इस व्युत्पत्ति के आधार पर। उनके सन्धियों का भी अपने निर्वाह्य (फल) के प्रति उस प्रकार के क्रम के देखे जाने अवान्तरभिन्न इतिवृत्तभाग (होते हैं।) सन्धि के अङ्ग हैं— उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन इत्यादि।

अर्थप्रकृतियाँ भी इन्हीं में अन्तर्भूत (हो जाती है।) वह इस प्रकार—स्वायत्तसिद्धिवाले (नायक) के लिये बीज, बिन्दु और कार्य ये तीन। बीज से सभी व्यापार, बिन्दु से अनुसन्धान और कार्य से निर्वाह; सन्दर्शन प्रार्थना और व्यवसाय रूपवाली ये तीन अर्थ अर्थात्

सम्पादनीय में कर्ता की प्रकृति अर्थात् स्वभावविशेष। सचिवायत्तसिद्धि में तो सचिव का उसके लिये ही अथवा अपने लिये ही अथवा अपने लिये भी प्रवृत्त होने से प्रकीर्ण और प्रसिद्ध रूपों में होने से प्रकरी और पताका इस नामकरण से दोनों प्रकारों का सम्बन्धी व्यापारविशेष प्रकरी और पताका शब्दों से कहा गया है। इस प्रकार प्रस्तुत फल के निर्वाहपर्यन्त आधिकारिक वृत्त की पाँच सन्धियों का होना और पूर्ण सन्धियों का अङ्ग होना सभी व्यक्तियों को व्युत्पत्ति देनेवाला निबद्ध किया जाना चाहिये। कहा गया है कि प्रासङ्गिक इतिवृत्त में यह नियम नहीं है—

'प्रासङ्गिक में पदार्थ होने के कारण यह नियम नहीं होता।' यह मुनि के द्वारा। ऐसी स्थिति में धीरललित नायक का सम्भोग सेवन में अनौचित्य न होने से प्रत्युत 'सुखरहित नहीं होना चाहिये' इस (नियम से) प्रशंसनीय होने के कारण पृथ्वी के राज्यरूप महाफल के अनुबन्धी कन्यालाभ के उद्देश्य से प्रस्तावना के उपक्रम में पाँचों सन्धियाँ पाँचों अवस्थाओं के साथ, समुचित सन्ध्यङ्गों से परिपूर्ण और अर्थप्रकृतियों से युक्त दिखलाई ही गई हैं।'स्वामी के वृद्धिहेतु इसके प्रारम्भ करने पर' इस बीज से ही लेकर 'जिसमें विग्रह की कथा शान्त हो गई है' तथा 'शत्रुओं से जीता हुआ राज्य' इन वचनों से 'यह उपभोग सेवा का अवसर है' इन शब्दों से उपक्षेप से ही लेकर निरूपण किया गया है। यह समस्त सन्ध्यङ्गों का स्वरूप उसके पाठ के आधार पर दिखलाया जाने पर अत्यन्त ग्रन्थगौरव को धारण कर लेगा। प्रत्येक रूप में दिखलाये जानेपर पूर्वापर अनुसन्धान में व्यर्थं होने के कारण केवल सम्मोहदायक होगा। अतः विस्तृत रूप में नहीं दिखलाया।

अर्थ के यत्नपूर्वक अवधान देने योग्य होने से स्वकण्ठ से जो व्यतिरेक 'केवल (शास्त्रस्थितिसम्पादन को इच्छा) से नहीं' इन शब्दों से कहा गया उसका उदाहरण देते हैं—'न तु' इत्यादि। 'केवल' शब्द और 'इच्छा' शब्द को प्रयुक्त करने वाले का आशय यह है—भरतमुनि ने सन्ध्यङ्गों के रसाङ्गभूत इतिवृत्त का प्राशस्त्योत्पादन ही प्रयोजन कहा है। पूर्वरङ्ग के समान अदृष्टसम्पादन या विघ्न इत्यादि का वारण नहीं। जैसा कहा गया है—

'इष्ट अर्थ की रचना, वृत्तान्त का अपक्षीण न होना, प्रयोग की रागप्राप्ति, गोपनीयों का गोपन, चमत्कारकारक कथन और प्रकाशनीयों का प्रकाशन—शास्त्र में अंगों का यह छः प्रकार प्रयोजन देखा गया है।' इसके बाद—

'रतिभोग के प्रयोजनवाली इच्छा को विलास कहते हैं।'

यह प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग विलास के लक्षण में कहा गया है। रतिभोग शब्द आधिकारिक रस के स्थायो भाव के उपव्यञ्जक विभाव इत्यादि के उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त किया गया है; (वेणीसंहारकार ने) ठीक तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाया। यहाँ पर प्रकृत वीररस है।

शास्त्रमर्यादा पालन के लिये काव्यक्रिया का निषेध

तारावती—अब प्रबन्ध की रसाभिव्यंजकता का तीसरा तत्त्व लीजिये–प्रबन्ध की रसाभिव्यंजकता में यह एक अन्य प्रमुख निबन्धन है कि काव्यशास्त्र में रचना के विषय में जो सिद्धान्त तथा मानदण्ड स्थापित किये गये हैं उनको मानना तो चाहिये और उनका पालन भी करना चाहिये किन्तु शास्त्रमर्यादापालन कभी भी लक्ष्य नहीं होना चाहिये। यदि उन व्यवस्थाओं से

रसाभिव्यक्ति में सहायता मिलती हो तो उनका पालन करना ठीक है, अन्यथा नहीं। (शास्त्रकार उन सम्भव उपायों का निरूपण किया करते हैं जिनसे अधिक से अधिक रस-निष्पत्ति हो सके; फिर परिस्थितियों की वैयक्तिकता अवशिष्ट ही रह जाती है जिसका इयत्तया प्रकथन तथा परिगणन अशक्य है। अतः कलाकार का यह कर्तव्य है कि शास्त्रीय व्यवस्थाओं से उपकृत होते हुए भी वैयक्तिकता पर विचार करके ही उसकी संयोजना करे।)

शिक्षा के विभिन्नरूप और काव्यक्रिया की उत्कृष्टता

लोकव्यवस्था के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि राजपुत्र इत्यादि जिन व्यक्तियों से समाज स्वार्थसाधन की अपेक्षा करता है और जिनका प्रजा के प्रयोजनसम्पादन की योग्यता से युक्त होना अत्यावश्यक होता है उनको कर्तव्य की शिक्षा दी जावे। इसका एक उपाय है वेद और शास्त्रों द्वारा उनको उनका कर्तव्य बतलाना। किन्तु वेद शास्त्र इत्यादि समस्त उपदेशप्रधान शास्त्रों का परम अर्थ होता है 'ऐसा करना चाहिये'—यह आज्ञामात्र प्रदान करना। (किन्तु आज्ञा का अनुवर्तन सरल नहीं होता, एक तो तुच्छ वृत्तियाँ बलात् कुपथगामिनी बना देती हैं और शास्त्रमर्यादा दूर ही रक्खी रह जाती है, दूसरे अपने को बुद्धिमान समझने और दूसरे की आज्ञा का पालन करने में हीनभाव अनुभव करने की मनुष्य की दुर्बलता राजपुत्र इत्यादि को शास्त्र की आज्ञा का पालन करने से रोकती रहती है और इस उपाय से बहुत कम इन्द्रियजयी लोग ही कर्तव्य-पालन की ओर अग्रसर हो सकते हैं) सामान्यतः राजपुत्र इत्यादि को वेदशास्त्र के विधान से कर्तव्यज्ञान नहीं होता। दूसरा उपाय है इतिहास और दर्शनशास्त्रों से व्युत्पत्ति उत्पन्न करना। इनका निर्देश मित्रसम्मित उपदेश जैसा होता है। इनका कार्य होता है यह ज्ञान करा देना कि अमुक व्यक्ति की अमुक दशा अमुक कर्म से हुई है। इस प्रकार युक्तियुक्त कर्म तथा मूल सम्बन्ध को प्रकट करनेवाले इतिहास तथा दर्शनशास्त्र के वाक्य मित्रसम्मित उपदेश जैसे होते हैं। उनसे भी राजपुत्रादिकों को व्युत्पत्ति की प्राप्ति नहीं होती। (कारण यह है कि जिस प्रकार राजसम्मित वेदशास्त्र वाक्यों का राजा के आदेश के समान अपना अपमान समझकर प्रत्याख्यान किया जा सकता है और उसके प्रतिकूल आन्दोलन इत्यादि किया जा सकता है उसी प्रकार इतिहास पुराण दर्शन इत्यादि मित्रसम्मित बचनों को मित्र की सम्मति के समान ठुकराया जा सकता है।) उन राजपुत्रादिकों को कर्तव्य का उपदेश देना अनिवार्य होता है और वेद-शास्त्रादि तथा इतिहास-पुराणादि के वचन अकिञ्चित्कर हो जाते हैं तब उनके अन्दर हृदय में प्रवेश के द्वारा चतुर्वर्ग के उपायों की व्युत्पत्ति (योग्यता) का आधान करना उचित होता है। हृदय में प्रवेश रसास्वादमय ही होता है तथा आनन्द-साधना ही उसमें प्रधान होती है। (इसीलिये काव्यप्रकाशकार ने रसास्वादमय काव्य को कान्तासम्मित उपदेश कहा है।) आनन्दसाधना या रसास्वाद विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के संयोग से ही प्राप्त होता है और वह विभावादि संयोग जब तक सम्पन्न नहीं होता तब तक चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति भी नहीं हो सकती। इस प्रकार विभावादिसंयोग चतुर्वर्गव्युत्पत्ति में अवश्यम्भावी होता है और विभावादिसंयोग रसास्वादन का भी प्रवर्तक होता है इस प्रकार रसास्वादन के योग्य विभाव इत्यादि का जब उपनिबन्धन किया जाता है तब उसका परि-शीलन करनेवाला मानो विवश होकर रसास्वादन करने लगता है। विभावादिसंयोग के

परिशीलन से हमारे हृदय में बलात् रसास्वादन की प्रवृत्ति हो जाती है और न चाहते हुये भी हम आनन्दानुभव करने लगते हैं। उसी आनन्दसाधना के साथ परिणाम स्वरूप बाद में व्युत्पत्ति का अवगम होता है, उस व्युत्पत्ति में रसास्वादन ही प्रवर्तक का रूप धारण करता है। इस प्रकार व्युत्पत्ति की प्रयोजिका भी प्रीति ही होती है। रस की आत्मा प्रीति ही है, उसी को नाट्य कहते हैं और नाट्य ही वेद कहलाता है। आशय यह है कि कवि को विभावादि की संयोजना करनी पड़ती है जिससे स्वाभाविक रूप में आस्वादन प्रवृत्त हो जाता है; काव्यरसास्वादन के साथ ही आनुषङ्गिक रूप में धर्मादि चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति भी हो जाती है; उस व्युत्पत्ति की प्रयोजिका प्रीति होती है। राजपुत्र इत्यादि विनेय व्यक्ति जब विभाव इत्यादि का परिशीलन करते हैं तब कवि अनायास ही उनके हृदय में प्रविष्ट होकर रससञ्चार करता है और वे परवश-से होकर उस रस का आस्वादन करने के लिये बाध्य हो जाते हैं। उसके साथ ही उनके अन्दर उचित-अनुचित कर्तव्याकर्तव्य की व्युत्पत्ति भी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार व्युत्पत्ति को उत्पन्न करनेवाली प्रीति ही होती है। (क्योंकि विनेय व्यक्ति रस के माध्यम से सम्पादित व्युत्पत्ति को ग्रहण करने के लिये बाध्य होता है अतः व्युत्पत्तिसम्पादन का यह प्रकार वेदादि तथा पुराणादि दोनों साधनों से अधिक अच्छा होता है।) प्रीति और व्युत्पत्ति भिन्न रूपवाली नहीं होती; क्योंकि दोनों का विषय एक ही होता है। यह तो हम कई बार बतला चुके हैं कि वास्तव में प्रीति का मूलकारण विभाव इत्यादि का औचित्य ही है। व्युत्पत्ति भी कोई अन्य वस्तु नहीं है अपितु विभिन्न रसों में जो विभाव इत्यादि उचित होते हैं उनके स्वरूप को ठीक-ठीक समझा देना और उन समस्त उपकरणों को फलपर्यन्त ले जाना ही व्युत्पत्ति कहलाता है। विभावादि का परिपोष ही रसरूपता में परिणत होता है, अतः प्रीति और व्युत्पत्ति दोनों का रूप भिन्न नहीं होता। अब काव्य द्वारा सम्पादनीय फल के विषय में विचार कर लेना चाहिये। लोक में फल अनेक साधनों से प्राप्त हो सकता है। कभी फल भाग्यवश ही प्राप्त हो जाता है; कभी देवाराधन से देवताओं की कृपा के रूप में फलप्राप्ति होती है; कभी अन्य कोई साधन उपस्थित हो जाता है (जैसे किसी मित्र की सांयोगिक सहायता आदि।) ये समस्त फल काव्य के विषय नहीं होते और न कवि का उद्देश्य इस प्रकार के फल का उपदेश देना ही होता है। कारण यह है कि, जैसा कि बतलाया जा चुका है, काव्य का प्रमुख प्रयोजन होता है विनेय व्यक्तियों को सन्मार्ग का उपदेश देना जिससे वे उचित मार्ग को समझ सकें। भाग्य इत्यादि से जो फलप्राप्ति होती है उससे किसी प्रकार के साधन की शिक्षा नहीं मिलती। अतः ऐसी व्युत्पत्ति का उपदेश देना चाहिये कि जो व्यक्ति ठीक उपायों का क्रमबद्ध रूप में आश्रय लेता है उसे सफलता मिल सकती है और जो व्यक्ति ऐसे उपायों का सहारा लेता है, जो सफलता में कारण नहीं हो सकते, उसका नाश हो जाता है। नायक में उपाय दिखला कर उसकी सफलता दिखलाई जानी चाहिये और प्रतिनायक में मिथ्या उपाय दिखलाकर उनसे उद्भूत अनर्थ दिखलाये जाने चाहिये। इससे परिशीलकों को उचित तथा अनुचित उपायों की व्युत्पत्ति हो जाती है। (यहाँ पर बतलाया गया है कि देवाराधन से उद्भूत फल काव्य का विषय नहीं होता। इसके प्रतिकूल कुछ काव्यों में देवताप्रसाद से सफलता होती हुई दिखलाई जाती हैं। यहाँ पर यह समझ लेना चाहिये कि

यदि कोई व्यक्ति माला जपते हुये ही सफलता प्राप्त कर ले उस प्रकार का फल काव्य का विषय नहीं होता। यही आचार्य का आशय है। आस्तिकता स्वयं एक सन्मार्ग है। यदि कोई गुणवान् व्यक्ति अन्यायों से पराहत होकर अच्छे मार्ग को न छोड़ते हुये भगवत्सहायता को भी प्राप्त कर लेता है तो उसका निषेध करना आचार्य का लक्ष्य नहीं है।)

नाटक-सन्धियों का विवेचन

कर्ता जिस उपाय का आश्रय लेता है वह पाँच अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। वे पाँच अवस्थायें हैं (१) सर्वप्रथम उपाय का स्वरूप प्रदर्शित करना अर्थात् यह निर्देश करना कि अमुक उपाय अमुक कार्य के साधन में प्रयुक्त किया गया है। (२) स्वरूप से कुछ आगे बढ़ना अर्थात् उपाय का कार्यसाधन की दिशा में परिपोष। (३) उपाय में कार्यसम्पादन की योग्यता का प्रदर्शन। (४) प्रतिबन्धक के आ जाने से जहाँ कार्यसिद्धि सन्दिग्ध हो जावे और (५) प्रतिपक्ष के निवृत्त हो जाने पर बाधन के बाधक के द्वारा सुदृढ़ फल पर्यन्त (बीज को ले जाना।) (लोचन के प्रस्तुत पाठ से यही अवस्थायें सिद्ध होती हैं। किन्तु इस व्याख्या से पाँचों सन्धियों की सङ्गति ठीक नहीं बैठती। उक्त विभाजन के अनुसार तृतीय अवस्था में कार्यसम्पादन की योग्यता और चतुर्थ अवस्था में साधनसिद्धि का सन्दिग्ध होना सिद्ध होता है जबकि काव्यशास्त्रीय विवेचन के अनुसार तृतीय सन्धि में ही कार्यसिद्धि की सन्दिग्धता प्रस्तुत की जानी चाहिये। इसी प्रकार उपर्युक्त विभाजन में सफलता का निश्चय यह चौथी अवस्था और सफलता की प्राप्ति—इन दोनों को एक कर दिया गया है जो कि प्रसिद्धविभाजन के प्रतिकूल भी है और तर्कसङ्गत नहीं है। प्रतापरुद्रीय में इस प्रकार व्याख्या की गई है—प्रथम अवस्था में स्वरूप का कुछ आगे बढ़ना, द्वितीय अवस्था में कार्यसम्पादन की योग्यता, तृतीय अवस्था में प्रतिबन्धक की उपस्थिति से फल का सन्दिग्ध होना, चतुर्थ में प्रतिबन्धक की निवृत्ति से कार्य का निश्चय और पञ्चम में बाधक के बाधन के द्वारा सुदृढ़ फल पर्यन्तता। यह विभाजन प्रसिद्धि के अनुकूल भी है और तर्कसङ्गत भी। इसमें 'स्वरूपम्' यह सामान्य शब्द रक्खा गया है, 'स्वरूपात् किञ्चिदुच्छूनताम्' यह प्रथम अवस्था मानी गई है। 'निवृत्तप्रतिपक्षतायाम्' के बाद 'कार्यस्य निश्चयावस्थाम्' इतना और जोड़ कर चतुर्थ अवस्था मानी जा सकती है और 'सुदृढ़ फल पर्यन्तता' यह पञ्चम अवस्था।) श्रम तथा विघ्नों को सहन करनेवाले, कार्य की असफलता से भयभीत तथा समझ-बूझकर काम करनेवालों का कारणों का उपादान इसी प्रकार का हुआ करता है। वे कारण में रहनेवाली ५ प्रकार की अवस्थायें मुनि ने इस प्रकार कही हैं—

'कारण का फल से योग (काव्य और नाट्य में) साध्य होता है। उसमें कारण का जो व्यापार होता है, प्रयोक्ता लोगों को चाहिये कि आनुपूर्वी अर्थात् क्रमिकता के द्वारा पाँच अवस्थाओं को समझ लें।

प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति की सम्भावना (अथवा असम्भावना) नियतफल-प्राप्ति और पाँचवाँ फल योग (ये क्रमशः ५ अवस्थायें होती हैं)।

इस प्रकार जो ये ५ कारण की अवस्थायें हैं उनका सम्पादनकर्ता का इतिवृत्त होता है। वह इतिवृत्त ५ भागों में विभक्त किया गया है। इन भागों को ५ सन्धियों के नाम से अभिहित किया जाता है। (सन्धि शब्द सम् उपसर्ग 'धा' धातु से कर्म में 'कि' प्रत्यय होकर

बना है।) इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ होगा जिनका सन्धान किया जावे उन्हें सन्धि कहते हैं। सन्धान इतिवृत्त का किया जाता है। अतः इतिवृत्त-खण्डों को सन्धि कहते हैं। इन पाँच सन्धियों के नाम हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। ये अन्वर्थं संज्ञायें हैं अर्थात् इनकी परिभाषा शब्दार्थ से ही अवगत हो जाती है। (मुख का अर्थ है प्रारम्भ। अतः प्रारम्भ में बीज की उत्पत्ति को मुखसन्धि कहते हैं। प्रतिमुख शब्द का अर्थ है जिसमें प्रतिष्ठित किया जावे या आगे बढ़ाया जावे अथवा मुख के प्रतिकूल बढ़ा जावे। प्रतिमुखसन्धि में एक तो मुखसन्धि के निर्दिष्ट बीज को आगे बढ़ाया जाता है दूसरे प्रयत्न के प्रारम्भ हो जाने से कभी बीज प्रकट रहता है कभी अप्रकट। यह स्थिति मुख के प्रतिकूल होती है क्योंकि मुखसन्धि में बीज प्रकट ही रहता है। गर्भ शब्द 'गृ' धातु से भन् प्रत्यय होकर बनता है जिसका अर्थ है निगरण कर लेना गुप्त कर लेना या कुक्षि में छिपा लेना'। इस सन्धि में बीज गर्भित हो जाता है अतः इसे गर्भसन्धि कहते हैं। विमर्श शब्द में 'वि' उपसर्ग का अर्थ है छानवीन अतः जहाँ छानवीन से बीज का परिज्ञान हो और छानबीन से ही सफलता भी प्रतीत हो वहाँ विमर्शसन्धि होती है। निर्वहण का अर्थ है निर्वाह। इसमें बीज का निर्वाह कर दिया जाता है अतः इसे निर्वहणसन्धि कहते हैं। इस प्रकार सन्धियों की ये अन्वर्थ संज्ञायें हैं।) इन सन्धियों के द्वारा फल का निर्वाह किया जाता है। उस निर्वाह्य फल के प्रति इन सन्धियों में एक-एक के अन्दर अवान्तर क्रम भी देखा जाता है। अतः इन सन्धियों के अवान्तर भेद के रूप में भी इतिवृत्त के टुकड़े कर लिये जाते हैं। सन्धियों के इन अवान्तर भेदों को सन्ध्यङ्ग कहते हैं। वे हैं—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन इत्यादि। (मुखसन्धि के उपक्षेप इत्यादि १२ भेद होते हैं प्रतिमुख के विलास इत्यादि १३ भेद होते हैं। गर्भ सन्धि के अभूताहरण इत्यादि १२ भेद होते हैं। बिमर्श के अपवाद, संफेट इत्यादि १३ भेद होते हैं और निर्वहण के सन्धिमे विबोध ग्रथन इत्यादि १४ भेद होते हैं। इनके लक्षण और उदाहरण नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक दिये हुये हैं। इनको वहीं देखना चाहिये। अप्रासङ्गिक विस्तार-भय से यहाँ पर विवेचन नहीं किया जा रहा है।)

अर्थप्रकृतियों का सन्धियों में अन्तर्भाव

अर्थप्रकृतियों का अन्तर्भाव भी इन्हीं में हो जाता है। वह इस प्रकार—नायक तीन प्रकार का होता है—स्वायत्तसिद्धि, सचिवायत्तसिद्धि और उभयायत्तसिद्धि। स्वायत्तसिद्धिवाला नायक वह होता है जिस की सफलता स्वयं उसके हाथ में हो। इस प्रकार के नायक की अर्थप्रकृतियाँ तीन होती हैं—बीज, बिन्दु और कार्य। अर्थप्रकृति शब्द का अर्थ है प्रयोजन की सिद्धि में हेतु। स्वायत्तसिद्धि वाले नायक की यही तीन अर्थ प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं। बीज का अर्थ है सभी व्यापार। बिन्दु का अर्थ है अनुसन्धान और कार्य का अर्थ है निर्वाह। बीज का रूप है सन्दर्शन अर्थात् निर्देश। (कार्य को सिद्ध करने वाला जो हेतु प्रारम्भ में बहुत ही स्वल्प मात्रा में निर्दिष्ट किया गया हो और जिसका नाटक के अग्रिम भाग में विशेष विस्तार होने वाला हो उसे बीज कहते हैं। प्रारम्भ में बीज बहुत छोटा होता है और बाद में विस्तृत होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार नाट्यबीज प्रारम्भ में बहुत संक्षिप्त होता है किन्तु बाद में अनेक प्रकार से विस्तृत होकर नाटक इत्यादि का रूप धारण कर लेता है।) बिन्दु सम्प्रार्थना रूप होता है। इसमें बीज को फल से मिलाने की सम्प्रार्थना या आकांक्षा

की जाती है। (जिस प्रकार तैलबिन्दु जल में बहुत प्रकार से फैल जाता है उसी प्रकार नाट्य-बिन्दु भी अग्रिम कथाभाग में फैलता जाता है। नाटक में प्रायः छोटे-छोटे प्रयोजन होते हैं और इनकी पूर्ति भी थोड़ी-थोड़ी दूर पर होती चलती है तब कथा भाग रुकता-सा जान पड़ता है, वहाँ पर कोई ऐसा तत्त्व (Point) आ जाता है जो कथाभाग को आगे बढ़ा देता है यही बिन्दु कहलाता है।) कार्य का रूप होता है व्यवसाय। (कार्य नाट्यफल को कहते हैं यह फल धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में कोई एक दो या तीन हो सकते हैं। इस फल को सिद्ध करने के लिये जो व्यवसाय किया जाता है उसे ही कार्य कहते हैं।) इस प्रकार ये तीन अर्थ अर्थात् सम्पादनीय (कार्य) में कर्ता की प्रकृतियाँ अर्थात् विशेष स्वभाव होते हैं। यह तो हुई स्वायत्त-सिद्धिवाले नायक की बात। अब सचिवायत्तसिद्धि को लीजिये। सचिवायत्तसिद्धि में सचिव या तो उस राजा के लिये ही प्रवृत्त होता है, या अपने लिये ही अथवा अपने लिये भी (अर्थात् दोनों के लिये) प्रवृत्त होता है। अतः उसका कार्य या तो प्रकीर्ण (अर्थात् सङ्कट से युक्त फेंका हुआ या कथा में मिलाया हुआ) होता है या प्रसिद्ध। यदि प्रकीर्ण होता है तो उसे प्रकरी कहते हैं और यदि प्रसिद्ध होता है तो उसे पताका कहते हैं। इस प्रकार आधिकारिक कथावस्तु में प्रारम्भ से प्रस्तुत फल के निर्वहण पर्यन्त पाँचों सन्धियाँ और सभी सन्धियों के अङ्ग इस प्रकार निबद्ध किये जाने चाहिये जिससे सभी व्यक्तियों को व्युत्पत्ति प्राप्त हो सके। किन्तु यह नियम प्रासङ्गिक इतिवृत्त में नहीं लागू होता। यह बात मुनि ने कही है—

'प्रासङ्गिक में परार्थ होने के कारण यह नियम नहीं लगता।'

रत्नावली का उदाहरण

ऊपर नाट्यरचना में इतिवृत्त के निर्वाह का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है अब रत्नावली का उदाहरण लीजिये। रत्नावली के नायक हैं धीरललित महाराज उदयन। सम्भोग का सेवन धीरललित नायक का अवच्छेदक धर्म है। अतः ऐसे सम्भोग का सेवन जो धर्म के विरुद्ध नहीं है (धीरललित नायक के लिये) अनुचित नहीं कहा जा सकता किन्तु जीवन में धर्म, अर्थ और काम का सन्तुलन और अविरोध ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख का एकमात्र साधन है। (जीवन में धर्म के साथ अर्थ और काम का भी उतना ही महत्त्व है।) धर्मशास्त्र का नियम है कि 'जीवन सुख रहित नहीं होना चाहिये।' इस नियम के अनुसार वत्सराज का शृङ्गार सेवन अनुचित नहीं कहा जा सकता। उनका वह शृङ्गारसेवन श्लाघ्य ही है। एक तो उसमें कन्यारत्न की प्राप्ति एक बहुत बड़ा फल है दूसरे पृथ्वी के राज्य की प्राप्ति का एक दूसरा बहुत बड़ा लाभ और सम्मिलित है। उसी उद्देश्य से नाटक की प्रवृत्ति हुई है। उसमें प्रस्तावना के उपक्रम में (बीज को प्रस्तुत कर उसको क्रमबद्धता के साथ फलपर्यन्त ले जाने में) पाँचों कार्यावस्था और पाँचों अर्थ प्रकृतियों के संयोग से पांचों सन्धियां दिखलाई गई हैं और जहाँ तक सम्भव हो सका है उन सन्धियों के अङ्ग भी दिखलाये गये हैं। 'यह कार्य स्वामी की वृद्धि के लिये प्रारम्भ किया गया'......' इस कथन में बीज सन्निहित है; 'विग्रह की कथा शान्त हो गई....' 'राज्य में शत्रु जीत लिये गये....' इत्यादि वचनों के द्वारा 'यह उपभोग सेवा का अवसर है' यहां से मुखसन्धि के उपक्षेप नामक (प्रथम) अङ्ग से ही प्रारम्भ करके सभी प्रकार की सन्धियों और अधिक से अधिक सन्ध्यङ्गों को दिखलाया गया है। यदि

रत्नावली के पाठ के आधार पर सभी उदाहरण देकर नाट्यशास्त्र के सभी सन्ध्यङ्गों को समझाया जावे तो व्यर्थ ही ग्रन्थ का अत्यन्त विस्तार हो जावेगा। यदि प्रत्येक सन्धि के एक-आध उदाहरण देकर सन्तोष किया जावे तो पाठक व्यर्थ में ही भ्रम में पड़ जावेगा। इसलिये मैं यहाँ पर इनको विस्तार के साथ नहीं समझा रहा हूं। (दशरूपक इत्यादि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकतर रत्नावली से ही उदाहरण दिये गये हैं। अतः वहीं देखना चाहिये।)

शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छा निषेध और वेणीसंहार का उदाहरण

यहां पर कहने का मन्तव्य यही है कि जिस प्रकार रत्नावली में सन्धि और सन्ध्यङ्गों का निर्वाह प्रकृति के औचित्य और रस की मर्यादा को ध्यान में रखकर किया गया है उसी प्रकार यदि इन अंगों का समावेश किया जाता है तब तो प्रबन्ध रसाभिव्यञ्जक होता है यदि इसके प्रतिकूल रस और प्रकृतियों का विचार छोड़कर केवल शास्त्रमर्यादापरिपालन के लिये ही इन सबके सन्निवेश की चेष्टा की जाती है और उसमें केवल शास्त्रस्थितिसम्पादन की इच्छा ही प्रयोजक होती है वह प्रबन्ध रसाभिव्यञ्जन करके केवल रसभंग का ही साधन बन जाता है शास्त्रमर्यादापालन करने न करने का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका यत्नपूर्वक ध्यान अभीष्ट होता है। इसीलिये ध्वनिकार ने नियम भी बतलाया और उसके अभाव के स्थान का भी निर्देश इन शब्दों में किया कि 'केवल शास्त्रस्थितिसम्पादन की इच्छा से सन्धि तथा सन्ध्यङ्गों का पालन नहीं करना चाहिये।' तथा आलोककारने जहां नियम का उदाहरण दिया वहां व्यतिरेक का भी उदाहरण दिया है। 'केवल शास्त्रस्थिति सम्पादन की इच्छा से नहीं' इस वाक्य में केवल शब्द और इच्छा के प्रयोग का आशय यह है—शास्त्रों में प्रायः समस्तः विधियां दो प्रकार की होती हैं एक तो कर्मकाण्डस्तर की, जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। (जैसे गौरीपूजन के नवग्रह इत्यादि के लिये जितनी शास्त्रीय बिधि होती है उसका अनिवार्य रूपमें पालन किया जाता है।) भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग का इसी प्रकार का विधान किया है जिसका फल होता है अदृष्टसम्पादन और विघ्न इत्यादि का निवारण। अतः पूर्व-रङ्ग की समस्त विधि अनिवार्य है। दूसरे प्रकार की विधि ऐसी होती है जिसके पालन के लिये प्रयोक्ता स्वतन्त्र होता है। उन विधियों की शास्त्र में चर्चा इसीलिये की जाती है कि वे कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जिनके आधार पर गुणावगुणों की परीक्षा तथा विचार किया जा सकता है और सामान्यतता उनका पालन श्रेयस्कर होता है। (जैसे धर्मशास्त्रों में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है कि कैसी कन्या से विवाह करना चाहिये। यदि उन बतलाये हुये गुणों में कुछ व्यक्तिगत परिस्थिति के अनुकूल न हों तो उनका पालन नहीं करना चाहिये। शास्त्र-कार का वहाँ यही आशय होता है कि ऐसा करना प्रशस्त होता है।) भरतमुनि द्वारा बतलाई हुई सन्धि और सन्ध्यङ्गों की विधि पूर्वरङ्ग के समान अनिवार्य नहीं, अपितु रसाङ्गभूत इति-वृत्त में प्राशस्त्य का सम्पादन करनेवाली ही है। यह बात भरतमुनि ने स्वयं कही है—

'शास्त्र में अङ्गों का यह छः प्रकार का प्रयोजन देखा गया है। इष्ट अर्थ की रचना, वृत्तान्त का क्षीण न होना, अभिनयदर्शन से सामाजिकों के मनोरञ्जन की समृद्धि, गोपनीय तत्त्वों का गोपन, चमत्कार कारक कथन और प्रकाशनीय तत्वों का प्रकाशन।'

यदि ये अभिप्राय सिद्ध न हो रहे हों प्रत्युत अङ्गों से रस में व्याघात उत्पन्न हो रहा

हो तो शास्त्रमर्यादापालन के लिये ही काव्य या नाट्य में उनका समावेश नहीं करना चाहिये। जैसा कि वेणीसंहार में किया गया है। वेणीसंहार में अनेक वीरों का संक्षय उपस्थित है; महाभारत का युद्ध होने जा रहा है उसी प्रसङ्ग के अन्दर दुर्योधन अन्तःपुर में जाते हैं और वहाँ उनका भानुमती से शृङ्गार का विस्तार वर्णित किया जाने लगता है। कवि ने यह सब अप्रासंगिक तथा अवसर के प्रतिकूल इसलिये किया है कि उसे प्रतिमुखसन्धि के अंग विलास की पूर्ति करनी है। विलास की भरतमुनि ने यह परिभाषा दी है—

'रतिभोग के प्रयोजनवाली इच्छा को विलास कहा जाता है।'

वस्तुतः वेणीसंहार के लेखक भट्टनारायण ने इस प्रकरण का ठीक अर्थ समझ नहीं पाया है। यहाँ पर 'रतिभोग के प्रयोजनवाली इच्छा' का यथाश्रुत अर्थ नहीं है, अपितु यह शब्द उपलक्षणपरक है। अतः इसका अर्थ हो जाता है—जिस रस का आधिकारिक के रूप में उपादान किया गया हो उसका स्थायिभाव। अतः शृंगार का प्रयोजन रतिभोग की इच्छा है और वीररस का प्रयोजन उत्साह की इच्छा है। वेणीसंहार में वीररस प्रकृत है अतः विलास पूर्ति के लिये रतिभोगेच्छा का नहीं अपितु उत्साहेच्छा का विस्तार किया जाना चाहिये।

(ध्वन्या०)—इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य यथा रत्नावल्यामेव।

(अनु०) यह दूसरा प्रबन्ध की रसव्यञ्जकता में निमित्त है कि अवसर के अनुसार रस के बीच में उद्दीपन और प्रशमन (होने चाहिये।) जैसे रत्नावली में ही।

(लो०)—**उद्दीपन इति।** उद्दीपनं विभावादिपरिपूरणया। यथा 'अयं स राआ उदयणो त्ति' इत्यादि सागरिकायाः। प्रशमनं वासवदत्तातः पलायने। पुनरुद्दीपनं चित्रफलकोल्लेखे। प्रशमनं सुसङ्गताप्रवेशे इत्यादि। गाढं ह्यनवरतपरिमृदितो रसः सुकुमारमालतीकुसुमवज्झटित्येव म्लानिमवलम्बेत। विशेषतस्तु शृङ्गारः। यदाह मुनिः—

यद्वामाभिनिवेशित्वं यतश्च विनिवार्यते।
दुर्लभत्वं यतो नार्या कामिनः सा परा रतिः॥ इति।

वीररसादावपि यथावसरमुद्दीपनप्रशमनाभ्यां विना झटित्येवाद्भुतफलकल्पे साध्ये लब्धे प्रकटीचिकीर्षित उपायोपेयभावो न प्रदर्शित एव स्यात्।

'उद्दीपन' यह। यह विभावादि परिपूरण के द्वारा उद्दीपन जैसे सागरिका का 'यह वह राजा उदयन है' इत्यादि। प्रशमन जैसे वासवदत्ता से पलायन में। फिर उद्दीपन जैसे चित्रफलक के उल्लेख में। प्रशमन सुसंगता के प्रवेश में इत्यादि। गाढरूप में निरन्तर मसला हुआ रससुकुमार मालती कुसुम के समान शीघ्र ही मलिनता को प्राप्त हो जावे और विशेषरूप में शृंगार। जैसा कि मुनि ने कहा—

'जो कि विपरीत अभिनिवेश होता है, जो कि मना किया जाता है जो कि नारी दुर्लभ होती है कामियों की वह बहुत बड़ी रीति है।'

वीररस इत्यादि में भी अवसर के अनुसार उद्दीपन और प्रशमन के बिना शीघ्र ही अद्‌भुत फल के समान साध्य के प्राप्त हो जाने पर जिस उपायोपेयभाव के प्रकट करने की इच्छा है वह प्रदर्शित हो ही नहीं सकता।

अवसर के अनुकूल उद्दीपन और प्रशमन

तारावती—प्रबन्ध की रसव्यंजकता का चौथा निमित्त है अवसर को समझकर बीच-बीच में रसको उद्‌दीप्त करना और बीच-बीच में शान्त करना। जो आधिकारिक रस प्रकान्त किया गया हो उसको निरन्तर प्रगाढ रूप में परिपुष्ट करते रहने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। रस को बीच-बीच में उद्‌दीप्त करने का अर्थ है उसमें उचित विभाव इत्यादि की पूर्ण योजना करते हुये प्रकाशित करना (प्रशमन का अर्थ है उसको विघटित कर आस्वाद की धारा को विच्छिन्न कर देना) इसका भी उदाहरण रत्नावली से ही दिया जा सकता है। रत्नावली में मदन-पूजन के अवसर पर उदयन का नाम सुनकर सागरिका कहती है कि 'ये वही राजा उदयन हैं'। यहाँ पर सागरिका की शृंगारभावना उद्‌दीप्त होती है फिर वासवदत्ता के भय से जब सागरिका भागने लगती है तब उस भावना का प्रशमन हो जाता है। फिर चित्रफलक के उल्लेख में उस भावना का पुनः उद्‌दीपन होता है; सागरिका का तन्मयतापूर्वक राजा का चित्रचित्रण, सखी के सामने कामदेव के चित्र बनाने का बहाना, सखी का निकट ही रति के रूप में सागरिकानामधारिणी रत्नावली का चित्र बना देना, वानर के सम्भ्रम से चित्र का छूट जाना और वह राजा द्वारा प्राप्त करना इत्यादि समस्त प्रकरण में पुनः शृंगारभावना का उद्दीपन होता है पुनः वासवदत्ता की सखी सुसंगता के प्रवेश करने पर इस भावना का प्रशमन हो जाता है। (फिर सागरिका की सखी से संकेतस्थान नियत करने में शृंगारभावना की उद्दीप्ति और सागरिका के वेश में वासवदत्ता के आ जाने से उस भावना का प्रशमन, यही क्रम चलता रहता है।) इस प्रकार ठीक अवसर पर उद्‌दीपन और ठीक अवसर पर प्रशमन होने से शृंगार रस के अन्दर नीरसता नहीं आने पाती और बार-बार उद्‌दीप्त तथा प्रशान्त होकर शृङ्गारभावना परिशीलकों का अनुरंजन करने में सर्वथा समर्थ हो जाती है। यदि एक ही रस का निरन्तर परिमर्दन किया जावे तो वह उसी प्रकार मलिन हो सकता हैं जैसे सुकुमार मालती का पुष्प निरन्तर मसलने से मलिन हो जाता है। यह बात शृङ्गार के विषय में विशेष रूप से कही जा सकती है; क्योंकि शृंगार में तो प्रच्छादनपूर्वक निर्वाह ही आनन्ददायक होता है। मुनि ने कहा है—

'स्त्रियों की वामाचरण की अभिलाषा होती है अर्थात् स्त्रियों की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है जो व्यक्ति या वस्तु उन्हें सर्वाधिक प्रिय होती है उसके प्रेम को वे सहसा प्रकट नहीं करती, प्रत्युत उसके प्रति वे अधिक से अधिक विपरीत आचरण करती हैं। दूसरी बात यह है कि स्त्रियों का मिलना जुलना समाज में ठीक नहीं माना जाता और सामान्यतया उसका निवारण किया जाता है। स्त्रियाँ प्रायः सुलभ नहीं होती। कामियों के लिये रति की सबसे बड़ी भूमिका यही है।'

वीररस में भी अवसर के अनुसार उद्‌दीपन और प्रशमन करना ही पड़ता है। यदि ऐसा न किया जावे और एक बार के उद्योग में ही सफलता मिल जावे तो वह सफलता ऐसी

ही होगी जैसे इन्द्रजाल इत्यादि में कोई कार्य दिखला दिया जाता है तथा उसका हेतु दर्शकों की समझ में नहीं आता। ऐसी दशा में कवि का यह दिखलाने का अभिप्राय कभी सिद्ध नहीं हो सकता कि अमुक उपाय से अमुक फल की सिद्धि हुई।

(ध्वन्या०) पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च। यथा तापसवत्सराजे।

प्रबन्धविशेषस्य नाटकादे रसव्यक्तिनिमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचिदलङ्कारनिबन्धने तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते, तदुपदेशार्थमिदमुक्तम्। दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु।

(अनु०)—पुनः जिसका विश्राम आरम्भ हो गया हो उस अङ्गी रस का पुनः अनुसन्धान करना जैसे तापसवत्सराज में।

नाटक इत्यादि विशेष प्रकार के प्रबन्ध का रसाभिव्यक्ति में निमित्त यह दूसरा (तत्त्व) समझा जाना चाहिये कि शक्ति होते हुए भी (रस) अनुरूपता के साथ अलङ्कारों की योजना (की जावे)। समर्थ कवि निस्सन्देह कभी-कभी रसबन्धन की परवाह न करके अलङ्कारनिबन्धन के अवसर पर केवल उसी में अपना मन लगाकर तथा तल्लीन होकर प्रबन्ध का प्रारम्भ करता है उसके उपदेश के लिये यह कहा गया है। प्रबन्धकाव्यों में केवल अलङ्कारनिबन्धन में ही आनन्द लेनेवाले तथा रस की अपेक्षा न करनेवाले कवि देखे जाते हैं।

(लो०) **पुनरिति।** इतिवृत्तवशादारब्धाऽऽशङ्क्यमानप्राया न तु सर्वथैवोपनता विश्रान्तिर्विच्छेदो यस्य स तथा। **रसस्येति।** रसाङ्गभूतस्य कस्यापीति यावत्। तापसवत्सराजे हि वासवदत्ताविषयो जीवितसर्वस्वाभिमानात्मा प्रेमबन्धस्तद्विभावाद्यौचित्यात्करुणविप्रलम्भादिभूमिका गृह्णन् समस्तेतिवृत्तव्यापी। राज्यप्रत्यापत्या हि सचिवनीतिमहिमोपनतया तदङ्गभूतपद्मावतीलाभानुगतयाऽनुप्राण्यमानरूपा परमामभिलषणीयतमतां प्राप्ता वासवदत्ताधिगतिरेव तत्र फलम्। निर्वहणे हि 'प्राप्ता देवी भूतधात्री च भूयः सम्बन्धोऽभूद्दर्शकेन' इत्येवं देवीलाभप्राधान्यं निर्वाहितम्। इयति चेतिवृत्तवैचित्र्यचित्रे भित्तिस्थानीयो वासवदत्ताप्रेमबन्धः प्रथममन्त्रारम्भात्प्रभृति पद्मावतीविवाहादौ, तस्यैव व्यापारात्। तेन स एव बासवदत्ताविषयः प्रेमबन्धः कथावशादाशङ्क्यमानविच्छेदोऽप्यनुसंहितः। तथा हि प्रथमे तावदङ्के स्फुटं स एवोपनिबद्धः 'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा तद्गोष्ठ्यैव' इत्यादिना 'बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथ वा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवम्' इत्यन्तेन। द्वितीयेऽपि 'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम्' इत्यादिना स एव विच्छिन्नोऽप्यनुसंहितः। तृतीयेऽपि—

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते,
श्वासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तथा।
हा नाथेति मुहुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तया,
शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे॥

इत्यादिना । चतुर्थेऽपि—

देवीस्वीकृतमानसस्य नियतं स्वप्नायमानस्य मे,
तद्गोत्रग्रहणादियं सुवदना यायात्कथं न व्यथाम् ।
इत्थं यन्त्रणया कथंकथमपि क्षीणा निशा जाग्रतो,
दाक्षिण्योपहतेन सा प्रियतमा स्वप्नेऽपि नासादिता ॥

इत्यादिना । पञ्चमेऽपि समागमप्रत्याशया करुणे निवृत्ते विप्रलम्भेऽङ्कुरिते—

तथाभूते तस्मिन् मुनिवचसि जातागसि मयि,
प्रयत्नान्तर्गूढां रुषमुपगता मे प्रियतमा ।
प्रसीदेति प्रोक्ता न खलु कुपितेत्युक्तिमधुरम्,
समुद्भिन्ना पीतैर्नयनसलिलैः स्थास्यति पुनः ॥

इत्यादिना । षष्ठेऽपि—

'त्वत्सम्प्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः' इत्यादिना ।

अलंकृतीनामिति योजनापेक्षया कर्मणि षष्ठी । **दृश्यते चेति** । यथास्वप्नवासवदत्ताख्ये नाटके—

स्वञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडेन ।
उद्घाटय सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा ॥ इति ॥१४॥

(अनु०)—'पुनः' यह । इतिवृत्तवश जिसकी विश्रान्ति अर्थात् विच्छेद आरम्भ किया गया हो अर्थात् केवल आशङ्का का विषय ही बना हो सर्वथा उपनत न हुआ हो उस प्रकार से । 'रस का यह' । आशय यह है कि रस के अङ्गभूत किसी भी तत्त्व का । निस्सन्देह तापसवत्सराज में वासवदत्ताविषयक, जीवितसर्वस्वाभिमानात्मक प्रेमबन्धन उन विभावों के औचित्य से करुण विप्रलम्भ की भूमिकाओं को ग्रहण करते हुये समस्त इतिवृत्त में व्यापक है । सचिवनीति की महिमा से आई हुई उसके अङ्गभूत पद्मावती के लाभ से अनुगत राज्य की पुनः प्राप्ति से अनुप्राणित होनेवाली और परम अभिलषणीयता को प्राप्त वासवदत्ता की प्राप्ति ही वहाँ पर फल हैं । निर्वहण में निस्सन्देह 'प्राणियों की रक्षा करनेवाली देवी पुनः प्राप्त हो गई और दर्शक के साथ सम्बन्ध हो गया' इस प्रकार देवीलाभ के प्राधान्य का निर्वाह कर दिया गया । और इतने इतिवृत्त के वैचित्र्यरूपी चित्र में वासवदत्ता का प्रेमबन्ध भित्तिस्थानीय है क्योंकि प्रथम मन्त्रणा से प्रारम्भ कर पद्मावती के विवाह इत्यादि में उसी की क्रिया (दृष्टिगत होती है ।) इससे वही वासवदत्ताविषयक उस प्रेमबन्धन का, जिसके विच्छेद की कथा के कारण आशङ्का हो रही थी, अनुसन्धान कर लिया गया । वह इस प्रकार—पहले अङ्क में तो स्पष्ट रूप में ही उपनिबद्ध किया गया है—'उसके मुखचन्द्र के अवलोकन के द्वारा दिन और उसकी गोष्ठी से ही प्रदोष बिताया' यहाँ से 'क्यों मेरा मन उत्कण्ठा से भरा है अथवा प्रेम असमाप्त उत्सव वाला है' यहाँ तक ।

'क्या दृष्टि अमृत की बरसानेवाली नहीं ? क्या मुख मुस्कुराहट रूप मधु को प्रवाहित करनेवाला नहीं है ?' इत्यादि से उसी विच्छन्न का अनुसन्धान कर लिया गया । तीसरं में भी—

'सर्वत्र भवनों के प्रज्वलित होने पर भय से सखियों के भागने लगने पर निःश्वास कम्प और घबराहट से भरी हुई और उस प्रकार प्रतिपद गिरती हुई 'हाय नाथ' इन शब्दों के साथ बार-बार प्रलाप में लगी हुई वह बेचारी देवी जल गई। किन्तु शान्त भी उस अग्नि से हम तो आज भी जले जा रहे हैं।'

इत्यादि के द्वारा। चतुर्थ में भी—

'देवी के द्वारा मेरा मन स्वीकार कर लिया गया है (अतः) निश्चितरूप से स्वप्न देखने लगने पर उसके नाम का ग्रहण करने से यह सुमुखी (पद्मावती) क्यों व्यथा को प्राप्त न होगी। इस प्रकार यन्त्रणापूर्वक जैसे-तैसे जागते हुये रात बीत गई दाक्षिण्य के द्वारा अपहृत मैं उस प्रियतता को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर पाया।'

इत्यादि के द्वारा। पञ्चम में भी समागम की प्रत्याशा से करुण के निवृत्त हो जाने पर और विप्रलम्भ के अंकुरित होने पर—

'मुनि वचन के उस प्रकार (सम्पन्न) हो जाने पर, मेरे अपराध करने पर प्रयत्नपूर्वक अन्दर छिपाये हुये क्रोध को प्राप्त हुई मेरी प्रियतमा 'प्रसन्न हो' यह कही हुई 'मैं निस्सन्देह कुपित नहीं हूँ' यह मधुर उक्ति में कहकर छिपे हुये नयनजल के साथ पुनः स्थित होगी (अथवा नेत्रजल के द्वारा प्रकाशित प्रेम वाली स्थित होगी।')

इत्यादि के द्वारा। छठे में भी—

'सचिवों ने तुम्हारी सम्प्राप्ति का लोभ दिखला कर मुझसे प्राण धारण करवाये।' इत्यादि के द्वारा।

'अलंकृतीनाम्' इसमें योजना की दृष्टि से कर्म में षष्ठी हो जाती है 'और देखे जाते हैं' यह। जैसे स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटक में—

'भलीभाँति जड़े हुये पलकरूपी किवाड़ोंवाले नेत्रद्वार को सौन्दर्यरूपी ताडन के द्वारा खोलकर वह राजकुमारी हृदयरूपी घर में प्रविष्ट हो गई' ॥१४॥

अङ्गी रस के अनुसन्धान की आवश्यकता और तापसवत्सराज का उदाहरण

तारावती—कवि को प्रबन्धयोजना में जिस दूसरे तत्त्व का ध्यान रखना पड़ता है वह यह है कि यदि अंगीरस का विच्छेद प्रारम्भ हो गया हो तो उसका पुनः अनुसन्धान कर लेना चाहिये। आशय यह है कि अंगी रस कभी बहुत समय के लिये दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिये। यदि इतिवृत्त का निर्वाह करने के लिये अङ्गीरस को बहुत समय तक छोड़ देना अनिवार्य हो जावे तो बीच-बीच में उसका अनुसन्धान करते चलना चाहिये। 'विच्छेद आरम्भ हो गया हो' का आशय यह है कि जिस समय कथाप्रवाह में अंगीरस के विच्छेद की आशंका उत्पन्न हो जावे उस समय उसका अनुसन्धान कर लेना चाहिये उसका सर्वथा तिरोधान तो होने ही नहीं देना चाहिये। 'रस का अनुसन्धान कर लेना चाहिये' में रस का आशय है रस के अंगभूत किसी तत्त्व का, अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र अंगी रस का पूरा परिपोष ही किया जावे। रस के विभाव इत्यादि किसी तत्त्व का उल्लेख ही पर्याप्त होता है। उदाहरण के लिये 'तापसवत्सराज' नामक नाटक को लीजिये (दीधिति-

कार ने लिखा है कि 'तापसवत्सराज' नामक नाटक उपलब्ध नहीं होता, किन्तु सुना जाता है कि यह नाटक विन्ध्याचल के पास के किसी गाँव में मिला है। बालप्रियाकार ने तापसवत्सराज के अनुपलब्ध होने की बात नहीं लिखी है, प्रत्युत लोचन में जिन श्लोकों का संकेत किया गया है उन श्लोकों के पूरे-पूरे भाग मूल पुस्तक के आधार पर लिख दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि सम्भवतः बालप्रियाकार को यह पुस्तक देखने को मिल गई होगी। प्रतीत होता है कि यह नाटक भासरचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' के आधार पर लिखा गया होगा।) इस नाटक में वासवदत्ता के प्रति प्रेमबन्धन समस्त इतिवृत्त में व्यापक है। इस प्रेमबन्धन की आत्मा है दोनों का एक दूसरे को जीवनसर्वस्व मानना। (कूटनीतिक कारणों से जब मन्त्री लोग वासवदत्ता को छिपाकर उसके आग में जलकर मर जाने की घोषणा कर देते हैं उस समय) उन विभावों के औचित्य से (अनुकूल परिस्थियों को प्राप्त कर) वह वासवदत्ता के प्रति प्रेमबन्ध करुण विप्रलम्भ का रूप धारण कर लेता है। (विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण दोनों वेदनाप्रधान रस हैं। इनमें भेद यह है कि यदि आलम्बन का विच्छेद न हो गया हो और दोनों के पुनः सम्मिलन की आशा बनी हुई हो तो विप्रलम्भ शृङ्गार होता है, यदि मरण हो गया हो और पुनः सम्मिलन की आशा शेष न हो तो उस अवस्था में जो दुःख होता है वह करुण रस कहलाता है। यदि मरण के बाद पुनः सम्मिलन की आशा बनी हुई हो जैसा कि दैवी शक्ति के प्रभाव से प्रायः सम्भव हो सकता है तो वहाँ पर करुण विप्रलम्भ होता है। वासवदत्ता के मरण के समाचार से वस्तुतः उदयन का करुण रस है करुणविप्रलम्भ नहीं; क्योंकि पुनः सम्मिलन की आशा उदयन को नहीं है। किन्तु एक तो पाठकों को पुनः सम्मिलन की आशा बनी हुई है जिससे वे उस दुःख को करुण विप्रलम्भ समझकर ही आस्वादित करते हैं, दूसरे स्वप्नदर्शन इत्यादि घटनाओं से वासवदत्ता के पुनः मिलन की क्षीण आशा उदयन के हृदय में भी कभी-कभी जागृत होती रहती है। इसीलिये यहाँ पर उदयन के दुःख को करुण विप्रलम्भ कहा गया है करुण रस नहीं।) इस प्रकार वासवदत्ता का बढ़ा-चढ़ा प्रेमबन्धन करुण विप्रलम्भ इत्यादि की अथवा करुण इत्यादि की और विप्रलम्भ इत्यादि की भूमिकाओं को ग्रहण करते हुये समस्त इतिवृत्त में व्याप्त है। (अङ्गी रस की दूसरी विशेषता यह होती है कि अन्त में उसका फल से योग करा दिया जावे।) तापसवत्सराज का फल ही है वासवदत्ता की प्राप्ति। साथ ही मन्त्रियों की नीति की महिमा से राज्य की पुनः प्राप्ति हो जाती है और साथ ही उसमें अङ्गभूत पद्मावती का लाभ भी सम्मिलित है। इस प्रकार वासवदत्ता की प्राप्ति में प्राणों का सञ्चार करनेवाली है राज्य की पुनः प्राप्ति और साथ में पद्मावती का लाभ। इन सब फलों में देवी वासवदत्ता की प्राप्ति ही प्रधान है क्योंकि 'प्राणियों की रक्षा करनेवाली देवी पुनः प्राप्त हो गई और दर्शक से सम्बन्ध हो गया।' इन शब्दों में निर्वहण में देवी के लाभ का ही निर्वाह किया गया है। यह इतिवृत्त का वैचित्र्य एक इतना बड़ा (विशाल) चित्र है जिसमें फलक का काम देता है वासवदत्ता का प्रेमबन्ध। क्योंकि जब सर्वप्रथम मन्त्रियों में आपस में मन्त्रणा होती है वहीं से लेकर पद्मावती के विवाह इत्यादि में उसी वासवदत्ता के प्रेमबन्ध की क्रिया ही (दिखाई देती है)। जब कथा आगे बढ़ती है और दूसरे इतिवृत्त खण्डों का विस्तार होने लगता है तब ऐसी सम्भावना उत्पन्न हो जाती है कि वह प्रमुख

प्रेमबन्ध विच्छिन्न हो जावेगा। (क्योंकि जब वासवदत्ता गुप्त वास करने लगती है और उदयन उसे मरी हुई समझते हैं उनका पद्मावती से पुनः विवाह हो जाता है तब वासवदत्ता के प्रेम का अवसर ही नहीं रह जाता।) उस विच्छिन्न प्रेमबन्धन का अनुसन्धान कवि बार-बार प्रत्येक अङ्क में करता चलता है जिससे प्रधान कार्य आँखों से सर्वथा तिरोहित न हो जावे। वह इस प्रकार समझिये—प्रथम अङ्क में तो वासवदत्ता का प्रेम स्फुट रूप में ही उपनिबद्ध किया गया है। यहाँ पर लोचनकार ने तापसवत्सराज के प्रथम अङ्क के एक श्लोक के प्रथम और अन्तिम चरण लिखे हैं। बालप्रियाकार के अनुसार पूरा पद्य इस प्रकार होगा—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा,
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे,
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथ वा प्रेमासमाप्तोत्सवम्॥

'मैंने अपने दिन वासवदत्ता के मुख कमल के अवलोकन के द्वारा बिताये हैं, अपने सन्ध्या काल वासवदत्ता से बात-चीत का आनन्द लेते हुये बिताये हैं। वह वासवदत्ता कामवासनाजन्य आनन्दातिरेक में भरकर उत्साह के साथ अपने अङ्ग अर्पित किया करती थी; मैं उन्हीं आनन्दानुभावों में अपनी रात्रियाँ बिताया करता था। (इस प्रकार उसके सहवास में कोई कमी नहीं रह गई और मैं भरपूर आनन्द लेता रहा हूँ। फिर भी) इस समय वह मार्ग में निगाह गड़ाये बैठी होगी और उसको देखने के लिये मेरे इस मन में पूरी उत्कण्ठा भरी हुई है, न जाने यह क्या बात है, अथवा प्रेम का उत्सव तो कभी समाप्त ही नहीं होता।' (सम्भवतः उदयन ने ये शब्द मृगया से लौटने के अवसर पर कहे हैं।) द्वितीय में भी राजा वासवदत्ता की याद करते हैं। यहाँ पर भी पद्य का एक ही चरण दिया गया है। बालप्रिया के अनुसार पूरा पद्य इस प्रकार होगा।

'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम्,
नोर्ध्वार्द्रं हृदयं न चन्दनरसस्पर्शीनि चाङ्गानि वा।
कस्मिन् लब्धपदेन ते कृतमिदं क्रूरेण पीताग्निना,
नूनं वज्रमयोऽन्य एव दहनस्तस्येदमाचेष्टितम्॥

'क्या तुम्हारी दृष्टि अमृत बरसानेवाली नहीं थी? क्या तुम्हारा मुख मुस्कराहट रूपी मधु को क्षरित नहीं करता था? क्या तुम्हारे हृदय का ऊपरी भाग आर्द्र नहीं था अथवा क्या तुम्हारे अङ्ग चन्दन रस के जैसे शीतल स्पर्शवाले नहीं थे? (आशय यह है कि तुम्हारे सभी अङ्ग इस प्रकार के थे कि अग्नि उन्हें जला ही नहीं सकती थी। नेत्रों में अमृत भरा था, मुख स्मित का मधु बरसाता था, हृदय आर्द्र था और सारे अङ्ग चन्दनरस से लिपे जैसे थे।) न जाने किस अंग में पैर जमाकर अग्नि ने यह कर डाला? तुम क्रूर अग्नि के द्वारा पी ही ली गई। निस्सन्देह यह वज्र की बनी हुई कोई दूसरी ही आग होगी जिसका यह कार्य हुआ है। (साधारण आग की इतनी शक्ति ही नहीं थी कि तुम्हारे मधुर अंगों को जला सकती।)

फिर तृतीय अङ्क में भी स्मरण करते हैं—

'जिस समय सारे भवन चारों ओर से जलने लगे होंगे और भय के कारण सारी सखियाँ इधर उधर भागने लगी होंगी उस समय वह देवी (वासवदत्ता) घबरा गई होगी, उसकी गहरी श्वासें चलने लगी होंगी, वह काँपने लगी होगी और प्रतिपद गिर रही होगी। 'हाय नाथ !' यह बार बार कहती हुई विलाप कर रही होगी। वह बेचारी इसी प्रकार जल गई होगी। आग अब यद्यपि शान्त हो गई है किन्तु उस आग से हम आज भी जले जा रहे हैं।'

चतुर्थ अङ्क में पुनः स्मरण करते हैं—

'मेरे मन को देवी ने स्वीकार कर लिया है' यदि मैं सो गया तो निश्चित रूप से मैं देवी वासवदत्ता को स्वप्न में अवश्य देखूंगा और उसका नाम लेकर बड़-बड़ाने लगूँगा जिससे सुन्दर मुखवाली यह पद्मावती अवश्य व्यथित हो जावेगी, इस प्रकार यन्त्रणा के साथ जागते हुये ही जैसे-तैसे रात बीत गई। मैं दाक्षिण्य के द्वारा ऐसा मारा गया हूँ कि प्रियतमा मुझे स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होती।'

पञ्चम में जब समागम की प्रत्याशा उत्पन्न हो जाती है और करुणरस निवृत्त हो जाता है तथा शुद्ध विप्रलम्भ अंकुरित हो जाता है, तब उदयन कहते हैं—

'मुनि ने जो कुछ कहा है वह जब उसी रूपमें घटित हो जावेगा (सम्भवतः मुनि ने पुनःसम्मिलन की भविष्यवाणी की होगी।) अर्थात् जब मुनि के कथनानुसार मेरा वासवदत्ता से पुनः सम्मिलन हो जावेगा तब पुनः यह स्थिति आवेगी कि मैं अपराध करूँगा और मेरी प्रियतमा प्रयत्नपूर्वक अपने क्रोध को छिपाये हुये होगी। जब मैं कहूँगा कि 'प्रसन्न हो जाओ' तब वह मधुर स्वर में कहेगी कि 'मैं कुपित नहीं हूँ'। वह आँसुओं को पी गई होगी तथा उन आँसुओं से भरी हुई होगी और पुनः इस रूपमें स्थित होगी।' (कहीं कहीं 'समुद्भिन्नप्रीतिः नयनसलिलैः' यह पाठ भी देखा जाता है। इसका अर्थ है—नेत्रजल से उसका प्रेम प्रकट हो रहा होगा।)

षष्ठ अङ्क में भी राजा ने कहा है—(यहाँ पर भी लोचनकारने केवल प्रथम चरण ही उद्धृत किया है। बालप्रिया के अनुसार पूरा पाठ यह होगा)—

त्वत्सम्प्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः,
तन्मत्वाऽत्यजतः शरीरकमिदं नैवास्ति निस्स्नेहता।
आसन्नोऽवसरस्तवानुगमने जाता धृतिः किन्त्वयम्,
खेदो यच्च तवानुगं न हृदयं तस्मिन् क्षणे दारुणम्॥

'तुम्हारी प्राप्ति का लोभ दिखाकर मन्त्रियों ने मेरे प्राण बचाए। उसीको ठीक मान कर मैंने इस तुच्छ शरीर का परित्याग नहीं किया। अतः यह मेरी स्नेहहीनता नहीं कही जा सकती। जब तुम्हारे पीछे जाने का अवसर निकट आया तब मुझे धैर्य उत्पन्न हो गया क्योंकि उस समय मुझे तुम्हारे पुनः मिलने की सम्भावना हो गई थी)। किन्तु खेद की बात यह है कि मेरा यह दारुणहृदय उस समय तुम्हारा अनुगामी नहीं बन गया। (आशय यह है कि मैं तुम्हारे वियोग में मर नहीं गया यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि मुझे मन्त्रियों से

तुम्हारे पुनः सम्मिलन का आश्वासन प्राप्त हो गया था, किन्तु मेरा हृदय आश्वासन मिलने के समय तक रुका रहा, विदीर्ण नहीं हो गया।) इस प्रकार कथाप्रसंग में यद्यपि अंगी रस विच्छिन्न हो गया था, किन्तु कवि ने प्रत्येक अङ्क में उसका अनुसन्धान कर लिया है जिससे वह रस पाठकों की दृष्टि से ओझल नहीं होता।

रसानुकूल अलंकार योजना

अब अलङ्कार योजना को लीजिये। कुछ कवि इतने प्रतिभाशाली तथा कल्पनाशील होते हैं कि उनकी बुद्धि में अलङ्कार स्फुरित होते ही चले जाते हैं। नाटक इत्यादि प्रबन्धों की रसाभिव्यञ्जकता का यह एक अन्य निमित्त है कि कवि अलङ्कारयोजना में कितना ही समर्थ क्यों न हो उसे अलङ्कारयोजना करने में रस की अनुरूपता का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। समर्थ कवि निस्सन्देह कभी-कभी अपनी रचना करने में केवल अलङ्कारयोजना पर ही ध्यान केन्द्रित रखता है और उसी आधार पर प्रबन्ध लिख डालता है तथा रस की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। उनको उपदेश देने के लिये ही यह कहा गया है। (जो कवि स्वयं रस की दृष्टि से ही अलङ्कारों का निबन्धन करते हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं।) ऐसे भी कवि देखे जाते हैं जो अपने प्रबन्धकाव्यों में केवल अलंकारयोजना में ही आनन्द लेते हैं और रस की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं। जैसे स्वप्नवासवदत्तम् के इस कथन में—

'मेरे नेत्ररूपी दरवाजे पर पलकरूपी किवाड़ भली भाँति जड़े हुये थे। वह राजकुमारी सौन्दर्यरूपी ताडन से (उसे खोलकर) मेरे हृदयरूपी घर में प्रविष्ट हो गई।,

(यह कथन केवल रूपक के व्यसन से ही लिखा गया है। इसमें रसपरिपोष में सहायक केवल इतना अंश है कि 'राजकुमारी मेरे हृदयरूपी घर में नेत्र द्वार से प्रविष्ट हो गई'। शेष अलङ्कार अनावश्यक है। इस दोष से महाकवि भी बचते हुये नहीं दिखलाई देते। हिन्दी के कतिपय मूर्धन्य कवियों ने भी कहीं-कहीं रूपक को अनावश्यक रूप में इतना अधिक बढ़ा दिया है कि वह प्रकृत रस का सहायक न होकर अलङ्कार मात्र रह गया है। माघ, किरात इत्यादि में अलङ्कारों के व्यसन से ही प्रकृत कथा की उपेक्षा कर अप्रकृत पर्वतवर्णन इत्यादि का विस्तार किया गया है। नैषध में भी केवल उक्तिचमत्कार के मन्तव्य से ही कई स्थानों पर अनावश्यक विस्तार दिया गया है। ऐसे प्रबन्ध, रस की उपेक्षा के कारण, प्रशस्त नहीं कहे जा सकते।) ॥१४॥

किञ्च— **अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।**
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥१५॥

(अनु०) और भी—

'ध्वनि का अनुस्वानोपमात्मक जो उपभेद बतलाया गया है कुछ प्रबन्धों में वह भी इस (रसध्वनि) का भासित होता है' ॥१५॥

लो०—न केवलं प्रबन्धेन साक्षाद्व्यङ्ग्यो रसो यावत्पारम्पर्येणापीति दर्शयितुमुपक्रमते—**किञ्चेति**। अनुस्वानोपमः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च, यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः सः केषुचित्प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जकेषु सत्सु व्यङ्ग्यतया स्थितः सन्। **अस्येति**

रसादिध्वनेः प्रकृतस्य भासते व्यञ्जकतयेति शेषः। वृत्तिग्रन्थोऽप्येवमेव योज्यः। अथ वानुस्वानोपमः प्रभेद उदाहृतो यः प्रबन्धेषु भासते अस्यापि 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्' इत्युत्तरश्लोकेन कारिकावृत्त्योः सङ्गतिः।

(अनु०) प्रबन्ध से केवल साक्षात् रस व्यङ्ग्य नहीं होता अपितु परम्परा के द्वारा भी यह दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं—'किंच' यह। अनुस्वानोपम का अर्थ है शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल जो ध्वनि का उपभेद उदाहृत किया गया है वह निमित्तभूत कुछ व्यंजक प्रबन्धों के होते हुये व्यङ्ग्यरूप में स्थित। 'इसका' अर्थात् प्रकृत रसध्वनि का व्यंजक के रूप में भासित होता है। यहाँ पर 'व्यंजकतया' यह शेष है।

वृत्तिग्रन्थ की योजना भी इसी प्रकार करनी चाहिये। अथवा अनुस्वानोपम जो बतलाया हुआ प्रभेद कुछ प्रबन्धों में भासित होता है इसका भी 'द्योत्य कहीं-कहीं अलक्ष्य क्रम होता है' इस बाद वाले श्लोक से कारिका और वृत्ति की सङ्गति हो जाती है।

प्रबन्ध से अनुरणनात्मक ध्वनि के द्वारा रसव्यञ्जना

(ऊपर १४वीं कारिका तक व्यंजकों का परिचय दिया जा चुका। सर्वप्रथम अविवक्षित वाच्य के व्यंजक बतलाये गये, फिर विवक्षितान्यपरवाच्य संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के व्यंजक बतलाये गये और अन्त में असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसध्वनि के व्यंजक वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक बतला दिये गये। अब १५वीं कारिका में यह बतलाया गया है कि प्रबन्ध भी संल्लक्ष्यक्रम अनुरणनरूप व्यङ्ग्य का भी व्यंजक होता है। इसके बाद १६वीं कारिका में असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के व्यंजक बतलाये गये हैं। यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब १४वीं कारिका में रसध्वनि के व्यंजक बतलाये गये और १६वीं कारिका में भी रसध्वनि के व्यंजकों का ही निरूपण किया गया तो फिर १५वीं कारिका में संल्लक्ष्यक्रम के व्यंजकों का निरूपण करने में क्या तर्क है? अतः इसकी सङ्गति के लिये लोचनकार ने इस १५वीं कारिका को भी रसध्वनिविषयक ही माना है और यह दिखलाया है कि १४वीं कारिका तक प्रत्यक्ष रसव्यंजक लिखे गये हैं तथा १५वीं और सोलहवीं कारिकाओं में परम्परा के द्वारा व्यंजक दिखलाये गये हैं।) प्रबन्ध के द्वारा साक्षात् रसाभिव्यक्ति तो होती ही है परम्परा के द्वारा भी प्रबन्ध रस का अभिव्यंजक होता है इसी बात को दिखलाने के लिये आलोककार ने १५वीं कारिका का उपक्रम दिया है 'किंच'। जिसका अर्थ है केवल इतना ही नहीं किन्तु और भी अर्थात् प्रबन्ध साक्षात् ही रस का व्यंजक नहीं होता किन्तु परम्परा से भी होता है। इस पक्ष में कारिका का अर्थ इस प्रकार होगा—'अनुस्वानोपम' अर्थात् अनुरणनरूप संल्लक्ष्यक्रम शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल जो ध्वनि का प्रभेद कहा गया है वह निमित्तभूत व्यंजक प्रबन्धों के होते हुये व्यङ्ग्य के रूप में स्थित होकर 'इस' अर्थात् प्रकृत रसादि ध्वनि के व्यंजक के रूप में शोभित होता है। (इसको इस प्रकार समझिये—'प्रबन्धेषु' में निमित्तसप्तमी है अर्थात् प्रबन्ध शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनियों की व्यंजकता में निमित्त अर्थात् व्यंजक होते हैं। इस प्रकार संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनियाँ व्यङ्ग्य होती हैं। वे व्यङ्ग्यध्वनियाँ प्रकृत रसध्वनि की व्यंजक भी होती हैं। इस प्रकार प्रबन्ध से व्यक्त होकर संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनियाँ रस को ध्वनित करती हैं—यह अर्थ करने में 'ध्वनेः' और 'अस्य' इन दोनों

शब्दों का विशेषणविशेष्यभाव न मानकर पृथक्-पृथक् योजना करनी चाहिये और 'व्यङ्गचतया स्थितः' तथा 'व्यंजकतया' इन शब्दों का अध्याहार कर लेना चाहिये। इस कारिका का अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—'ध्वनेः अनुस्वानोपमात्मा यः प्रभेद उदाहृतः सः केषुचित् प्रबन्धेषु (अभिव्यंजननिमित्तेषु सत्सु) व्यङ्गचतया स्थितः अस्य (प्रकृतस्य रसादिध्वनेः) व्यंजकतया भासते।' इसी प्रकार वृत्ति ग्रन्थ की भी योजना करनी चाहिये। (वृत्तिग्रन्थ इस प्रकार है—'इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो अनुरणनरूप व्यङ्गच नामक दो प्रकार का प्रभेद कहा गया है वह भी कुछ प्रबन्धों में द्योतित होता है।' यहाँ 'प्रबन्धों में' को इस प्रकार कर लेना चाहिये—'प्रबन्धों को व्यंजक के रूप में निमित्त मान कर स्वयं व्यङ्गच होकर रस के व्यंजक के रूप में शोभित होता है।) अथवा इस कारिका को अग्रिम कारिका से मिलाकर अर्थ करना चाहिये—अग्रिम कारिका के इन शब्दों को कि 'अलक्ष्यक्रम व्यङ्गच होता है' इस कारिका में लाना चाहिये और अर्थ इस प्रकार करना चाहिये—'इस ध्वनि का जो बतलाया हुआ अनुस्वानोपम प्रभेद प्रबन्धों में शोभित होता है कहीं उसका भी व्यङ्गच अलक्ष्यक्रम हुआ करता है।' इस प्रकार अग्रिम कारिका से मिलाकर इस कारिका और वृत्ति की सङ्गति बैठानी चाहिये।

(ध्वन्या०) अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्गचोऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद्द्योतते। तद्यथा मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु। यथा वा ममैव कामदेवस्य सहचरसमागमे विषमबाणलीलायाम्।

यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते।

(अनु०) इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो अनुरणनरूप व्यङ्गच प्रभेद भी दो प्रकार का बतलाया गया है वह भी कुछ प्रबन्धों में द्योतित होता है। वह जैसे—मधुमथनविजय में पांचजन्य की उक्तियों में; अथवा मेरी ही विषमबाणलीला में कामदेव का सहचर से समागम होने पर।

और जैसे महाभारत में गृध्रगोमायुसंवाद इत्यादि में।

(लो०)—एतदुक्तं भवति–प्रबन्धेन कदाचिदनुरणरूपव्यङ्गचो ध्वनिः साक्षाद्व्यज्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति। यदि तु स्पष्टमेव व्याख्यायते ग्रन्थस्य पूर्वोत्तरस्यालक्ष्यक्रमविषयस्य मध्ये तदा ग्रन्थोऽयमसङ्गतः स्यात्। नीरसत्वं च पाञ्चजन्योक्त्यादीनामुक्तं स्यादित्यलम्।

लीलादाढा शुध्यूड्ढासअलमहिमण्डलसश्चिअ अज्ज।
कीस्मसुणालाहरतुज्जआइ अङ्गम्मि॥

इत्यादयः पाञ्चजन्योक्तयो रुक्मिणीविप्रलब्धवासुदेवाशयप्रतिभेदनाभिप्रायमभिव्यञ्जयन्ति। सोऽभिव्यक्तः प्रकृतरसस्वरूपपर्यवसायी।

सहचराः वसन्तयौवनमलयानिलादयस्तैः सह समागमे।

मिअवहण्डिअरोरोणिरङ्कुसो अविवेअरहिओ वि।
सविण वि तुमम्मि पुणोवन्ति अ अतन्ति पंमुसिम्मि॥

इत्यादयो यौवनस्योक्तयस्तत्तन्निजस्वभावव्यञ्जिकाः, स स्वभावः प्रकृतरस-पर्यवसायी ।

यथा चेति । श्मशानावतीर्णं पुत्रदाहार्थमुद्योगिनं जनं विप्रलब्धुं गृध्रो दिवा शवशरीरभक्षणार्थी शीघ्रमेवापसरत यूयमित्याह ।

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥

इत्याद्यवोचत् ।

गोमायुस्तु निशोदयावधि अमी तिष्ठन्तु, ततो गृध्रादपहृत्याहं भक्षयिष्यामी-त्यभिप्रायेणावोचत्—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मूहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं बालास्त्यक्ष्यध्वमविशङ्किताः ॥

इत्यादि । स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरस एव परिनिष्ठिततां प्राप्तः ॥१५॥

(अनु०) यहाँ पर यह बात कही गई है–प्रबन्ध से कदाचित् अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि साक्षात् व्यक्त होती है, वह तो रस इत्यादि ध्वनियों में पर्यवसित होती है । यदि इसकी स्पष्ट ही व्याख्या की जावे तो अलक्ष्यक्रमविषयक पूर्वोत्तर ग्रन्थ के मध्य में यह ग्रन्थ असङ्गत हो जावेगा और पाञ्चजन्य इत्यादि की उक्तियों का नीरसत्व भी कहा हुआ हो जावेगा बस इतना कहना पर्याप्त है ।

'लीला से दाढ के अग्रभाग में समस्त महीमण्डल को उठानेवाले तुम्हारे ही अङ्ग में आज मृणाल का आभरण भी क्यों गुरु हो रहा है ?'

इत्यादि पाञ्चजन्य की उक्तियाँ रुक्मिणी के द्वारा विप्रलब्ध भगवान् वासुदेव के आशय से प्रतिभेदनरूप अभिप्राय को अभिव्यक्त करती हैं । वह अभिव्यक्त होकर प्रकृत रस के स्वरूप में पर्यवसित होता है ।

सहचर हैं वसन्त यौवन मलयानिल इत्यादि । उनके साथ समागम में ।

'मैं मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाला, निरंकुश और विवेकरहित हो जाता हूँ । किन्तु तुम्हारी भक्ति को स्वप्न में भी स्मरण नहीं करता हूँ ।'

इत्यादि यौवन की उक्तियाँ अपने भिन्न-भिन्न स्वभावों की व्यञ्जना करनेवाली हैं । उस स्वभाव का पर्यवसान प्रकृत रस में होता है ।

'और जैसे' यह । श्मशान में आये हुये पुत्रदाह के लिये उद्योग करनेवाले व्यक्ति को ठगने के लिये दिन में शवशरीर के भक्षण करने की इच्छावाला गृध्र 'आप लोग शीघ्र चले जावें' यह कहता है ।

'गृध्र और शृगालों (आदि) से घिरे हुये कङ्कालों से घने, घोर और सब प्राणियों को भय देनेवाले इस श्मशान में स्थित होने की आवश्यकता नहीं है। कालधर्म (मरण) को प्राप्त हुआ कोई भी चाहे वह प्रिय हो या द्वेष्य यहाँ जीवित नहीं हुआ। प्राणियों की गति ही ऐसी है।'

इत्यादि कहा।

शृगाल ने तो 'ये निशा के उदयपर्यन्त स्थित रहें, तब गृध्र से छीनकर मैं खा लूँगा' इस अभिप्राय से कहा—

'हे मूर्खों! यह सूर्य स्थित है, इस समय स्नेह कर लो। यह मुहूर्त बहुत विघ्नों वाला है, सम्भवतः जी भी जावे। सोने के समान वर्णवाले, यौवन को न प्राप्त हुये इस बालक को हे बचपन करनेवालो! गृध्र के कहने से ही शङ्कारहित हो कर कैसे छोड़ दोगे?'

इत्यादि। और यह व्यक्त अभिप्राय शान्त रस में ही पूर्ण स्थिरता को प्राप्त हुआ है॥ १५॥

तारावती—यहाँ पर यह बात कही गई है कि प्रबन्ध से कदाचित् अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि साक्षात् व्यक्त होती है और उसका पर्यवसान रस इत्यादि की ध्वनि में होता है। यद्यपि यह कारिका का सीधा अर्थ नहीं है, कारिका का सीधा अर्थ केवल यह बतलाना है कि प्रबन्ध से संल्लक्ष्यक्रम की भी व्यंजना होती है, तथापि कारिका को तोड़कर तथा घुमा-फिरा कर यह अर्थ करना पड़ता है। वस्तुतः यह अर्थ करना सर्वथा अनिवार्य है। क्योंकि यथाश्रुत व्याख्या करने पर यह ग्रन्थ अलक्ष्यक्रम के प्रकरण के मध्य में पड़ जावेगा। पहले भी अलक्ष्यक्रम के व्यंजक बतलाये गये हैं और बाद की कारिका में भी वही प्रकरण चलेगा। बीच में संल्लक्ष्यक्रम का आ जाना असङ्गत हो जावेगा और पांचजन्य इत्यादि की उक्तियों का नीरसत्व सिद्ध हो जावेगा जो कि एक दोष होगा।

इस विषय में दीधितिकार की योजना की समीक्षा

[दीधितिकार ने उक्त लोचन का आशय लिखकर अपनी अरुचि प्रदर्शित की है। दीधितिकार का सार यह है—"कुछ लोग 'द्योत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचित्' को लक्ष्यक्रमपरक मानकर पुनरुक्ति की शंका करते हैं, पांचजन्य इत्यादि की उक्तियों में नीरसता आ जाने का दोष बतलाते हैं और अलक्ष्यक्रम के प्रकरण में संल्लक्ष्यक्रम के आ जाने का दोष भी बतलाते हैं तथा इन दोषों को दूर करने के लिये कारिका को परम्परा से अलक्ष्यक्रमपरक सिद्ध कर देते हैं। यहाँ पर विचार करना यह है कि अग्रिम कारिका में 'अलक्ष्यक्रमः' यही पाठ है, अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं आता। क्योंकि यह कारिका लक्ष्यक्रम के विषय में है और अगली कारिका अलक्ष्यक्रम के विषय में। पांचजन्य इत्यादि की उक्तियों में नीरसता भी प्रसक्त नहीं होती। क्योंकि वहाँ पर वस्तुरूप संल्लक्ष्यक्रम के कथन से रसरूप अलक्ष्यक्रम का प्रतिषेध नहीं हो जाता। प्रकरण की असङ्गति भी नहीं आती। क्योंकि रस प्रबन्धद्योत्य होता है, उसके बाद 'संलक्ष्यक्रम भी प्रबन्धद्योत्य होता है' इस कथन की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, अतः उसका कथन भी प्राकरणिक ही हो जाता है। अतः ग्रन्थ की अन्यथायोजना ठीक नहीं।

इसीलिये काव्यप्रकाश में प्रबन्ध की व्यंजकता में गृध्रगोमायु-संवाद का ही उदाहरण दिया गया है।"

दीधितिकार के उक्त कथन पर यदि विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि लोचन में पुनरुक्ति का दोष तो दिया ही नहीं गया है। दीधितिकार ने यह उल्लेख नहीं किया कि पुनरुक्ति की बात किसने कही है। इतना तो स्पष्ट ही है कि लोचन में कहीं भी पुनरुक्ति दोष नहीं बतलाया गया है। रही शेष दो दोषों की बात। उनमें सबसे बड़ी आपत्ति तो लोचन में यही उठाई गई है कि असंल्लक्ष्यक्रम के मध्य में यह प्रकरणान्तर कैसे हो गया ? इस पर दीधितिकार का उत्तर है कि प्रबन्ध की व्यंजकता का प्रकरण है अतः अप्राकरणिक होने का दोष नहीं आ सकता। किन्तु इस तृतीय उद्योत में इस रूप में प्रकरण नहीं चलाये गये हैं कि शब्द किनका व्यंजक होता है, वाक्य किनका व्यंजक होता है इत्यादि। अपितु प्रकरण इस प्रकार के हैं कि अविवक्षित वाच्य के व्यञ्जक कौन-कौन होते हैं इत्यादि। पहले अविवक्षित वाच्य के व्यञ्जक दिखलाये गये, फिर संल्लक्ष्यक्रम के और अब असंल्लक्ष्यक्रम रसध्वनि के व्यञ्जकों का प्रकरण १६वीं कारिका तक चलता है फिर १५वीं कारिका बीच में संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के व्यंजक बतलाने के लिये क्यों लिखी गई ? यह असङ्गति स्पष्ट है। पाञ्चजन्य इत्यादि की उक्तियों की नीरसता का जो दोष दिया गया है उसमें भी लोचनकार का आशय यही है कि वस्तुतः वहाँ पर भी रस विद्यमान होता ही है, अतः वहाँ पर व्यङ्ग्य वस्तु को रस का व्यञ्जक मान लेने से प्रकरण की असङ्गति जाती रहती है। अतः यहाँ पर लोचनकार की व्याख्या ही ठीक है कि १४वीं कारिका तक रस के उन व्यञ्जनों का उल्लेख किया गया जो रस को साक्षात् स्वतः व्यक्त कर देते हैं। अब १५वीं और १६वीं कारिका में ऐसे व्यञ्जक दिखलाये जा रहे हैं जो स्वयं वस्तु की व्यञ्जना करते हैं और वह व्यक्त हुई वस्तु रस की व्यञ्जक होती है। इस प्रकार ये तत्त्व साक्षात् नहीं अपितु परम्परा से रस के व्यञ्जक होते हैं। इनमें सुप् तिङ् वचन इत्यादि अनेक तत्त्व आ जाते हैं। किन्तु पहले प्रबन्ध की व्यञ्जकता का निरूपण इसलिए किया गया है कि साक्षात् रसव्यञ्जकों में अन्त में प्रबन्ध की व्यञ्जकता ही आई थी। अतः इस प्रकरण के उसी प्रबन्ध से प्रारम्भ करने में पूर्वापर की सङ्गति बैठ जाती है।]

मधुमथनविजय से उदाहरण

प्रबन्ध की परम्परा से आलोककार ने रसव्यञ्जकता के तीन उदाहरण दिये हैं—(१) मधुमथनविजय नामक काव्य में पाञ्चजन्य की उक्तियों में। (यहाँ पर लोचन में मधुमथनविजय का एक पद्य उद्धृत किया गया है जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

लीलादंष्ट्राग्रोद्धृतसकलमहीमण्डलस्यैवाद्य ।
कस्मान्मृणालाभरणमपि तव गुरु भवत्यङ्ग ॥)

मधुमथनविजय के प्रस्तुत पद्य का अर्थ यह है कि हे भगवान् आप ने (वाराहावतार में) खेल खेल में ही अपनी दाढ़ की नोक पर समस्त पृथ्वीमण्डल को धारण कर लिया। न जाने क्यों उन्हीं आप के लिये आज मृणाल का आभूषण भी भारी हो रहा है ?'

इस प्रबन्धगत पद्य से व्यक्त होता है कि भगवान् कृष्ण रुक्मिणी के वियोगी हैं उनकी रुक्मिणी को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा है। उसी अभिलाषा को यह वक्ता प्रकट कर

रहा है। यह अभिव्यक्त वस्तु है जो कि प्रकरणगत विभलम्भ श्रृंगार की व्यञ्जिका हो गई है।

विषमबाणलीला से उदाहरण

(२) दूसरा उदाहरण आनन्दवर्धन की लिखी हुई विषमबाणलीला से दिया गया है। इसमें कामदेव का अपने वसन्त, यौवन, मलयानिल इत्यादि सहचरों से मिलना दिखलाया गया है। यौवन की उक्ति यहाँ पर उद्धृत की गई है। इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

भवाम्यपहस्तितरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि।
स्वप्नेऽपि तव पुनर्भक्ति न प्रस्मरामि॥

'मैं मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाला हो जाता हूँ, निरंकुश हो जाता हूँ और विवेक-रहित भी हो जाता हूँ। और फिर स्वप्न में भी तुम्हारी (कामदेव की) भक्ति को विस्मृत नहीं करता हूँ।'

यहाँ पर यौवन की इन उक्तियों से यौवन के विभिन्न स्वभावों की अभिव्यञ्जना होती है जैसे यौवन के उत्कट होने पर लोकमर्यादा का सर्वथा प्रत्याख्यान कर कामदेव का ही अनुसरण किया जाता है। इत्यादि। (यह स्वभावव्यञ्जना वस्तुध्वनि कही जा सकती है।) इसका पर्यवसान प्रकृत श्रृंगार रस में होता है।

महाभारत से उदारण

(३) तीसरा उदाहरण महाभारत से दिया गया है। (यह उदाहरण काव्यप्रकाश में प्रबन्ध से वस्तुव्यञ्जना के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। यहाँ पर भी प्रबन्ध से रसपर्यवसायी वस्तुव्यञ्जना ही दिखलाई गई है। महाभारत में शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्मपर्व में गृध्र और गोमायु का संवाद आया है।) कुछ नागरिक एक मृत बालक के शव का विसर्जन करने आये हैं। (लोचन में 'जलाने आये हैं' यह लिखा है। यह ठीक नहीं है। एक तो छोटे बालकों के शव जलाये नहीं जाते दूसरे जला देने पर गृध्र या गोमायु को खाने की आशा ही क्या रह जावेगी? अतः विसर्जन करने आये हैं यही अर्थ करना चाहिये।) वे मोह के कारण उस बालक को जल्दी छोड़ नहीं रहे हैं। उनको देखकर एक गृध्र कह रहा है—

'इस श्मशान में गृध्र जैसे मांसाहारी भयानक पक्षी और सियार जैसे भयानक मांसाहारी पशु भरे पड़े हैं। चारों ओर हड्डियों के कंकाल बहुतायत से दिखलाई पड़ रहे हैं। यह स्थान बड़ा ही घोर और सब प्राणियों को भय देने वाला है। यहाँ तुम्हारा रहना अच्छा नहीं। संसार की गति ही ऐसी है। यहाँ जो कोई भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है चाहे वह कितना ही प्यारा अथवा कैसा ही द्वेष्य हो कभी भी पुनः जीवित नहीं हो सकता यह तो सभी प्राणियों की गति है। इसलिये कभी मोह में पड़कर अधिक शोक नहीं करना चाहिये। अत एव तुम भी संसार की इसी दशा को देखते हुए मोह छोड़कर लौट जाओ।'

इस प्रबन्ध में वर्ण्य विषय एकवस्तु है और उससे एक दूसरी वस्तु ध्वनित होती है कि गृध्र यह प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार ये लोग बालक के शव को छोड़कर जल्दी ही घर को लौट जायें तो मैं इसे खा लूँ। यदि मोह और शोक में कहीं इन लोगों को काफी देर हो गई और सूर्य अस्त हो गया तो मैं इस बालक को न खा सकूंगा क्योंकि मेरी गति

दिन में ही है; अतः रात होजाने पर यह शव मेरे हाथ से निकल जायेगा। इसीलिये वह उन सब व्यक्तियों को जल्दी ही घर लौट जाने की सम्मति दे रहा है।

(इसको सुन कर वे सब लोग लौटने के लिये उद्यत हो जाते हैं) तब सियार उनसे कहता है—

'तुम लोग तो हमें बड़े ही मूर्ख मालूम पड़ रहे हो। अभी तो यह सूर्य स्थित हैं (जब इतना दिन शेष है तब हिंसक वन्य पशुओं का भय ही क्या ?) एक बात और है—यह समय बहुत अधिक विघ्नों से भरा हुआ है। (यह समय ऐसा है जबकि बहुत से राक्षस भूत प्रेत पिशाच इत्यादि मारे मारे फिरते हैं। सम्भव है कि किसी राक्षस इत्यादि के आवेश के कारण इसकी मृत्यु हुई हो। यदि यह बात हो तो) यह भी सम्भव है कि इस अवसर के टल जाने के बाद (राक्षस इत्यादि की बाधा के शान्त हो जाने पर) यह जी ही उठे। देखो इस बालक का रंग कैसा सोने के समान चमचमा रहा है। (अभी इसका वर्ण बिलकुल नहीं बिगड़ा है और न इसके अन्दर कोई मृत्यु का चिह्न मालूम पड़ रहा है।) यह अभी बालक ही तो है! अभी इसकी जवानी भी तो नहीं आई है, कैसा सुन्दर बालक है! तुम लोग तो मुझे बिल्कुल मूर्ख मालूम पड़ रहे हो जो केवल गृध्र के कहने से ही ऐसे सुन्दर बालक को छोड़ कर चले जाना चाहते हो। और तुम्हें इसके छोड़ने से बिल्कुल शङ्का नहीं हो रही है!'

यह गोमायु का कथन भी एक वस्तु है। इससे एक दूसरी वस्तु ध्वनित होती है कि सियार दिन में तो उस बालक का मांस खा नहीं सकता क्योंकि उसे पड़ोस में ही स्थित गृध्र से भय है। वह यह चाहता है कि "यदि कहीं सूर्यास्त पर्यन्त शव के सम्बन्धी लोग रुक जावें तो रात हो जाने पर गृध्र को दिखाई ही न पड़ेगा और उस शव-मांस को खाने की गृध्र की कुछ भी शक्ति न रह जावेगी। तब मैं स्वच्छन्दतापूर्वक उसका मांस खा सकूंगा!" इसलिए वह उन मनुष्यों को श्मशान से लौटने से रोक रहा हैं और उनसे बालक के सौन्दर्य की प्रशंसा कर तथा उसके पुनः जीवित होने की सम्भावना प्रकट कर यही प्रयत्न कर रहा है कि वे इतने समय तक रुके रहें कि सूर्य अस्त हो जावे।

यह अभिप्राय व्यक्त होकर शान्त रस में ही परपूर्णता को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रबन्ध वस्तु की व्यञ्जना के द्वारा रस का व्यञ्जक हो जाता है ॥१५॥

(ध्वन्या०) सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥१६॥

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुब्विशेषैस्तिङ्विशेषैर्वचनविशेषैः सम्बन्धविशेषैः कारकशक्तिभिः कृद्विशेषैस्तद्धितविशेषैः समासैश्चेति। चशब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।

(अनु०) सुप्तिङ्वचन, सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित और समास से कहीं अलक्ष्यक्रम द्योत्य होता है ॥१६॥

ध्वनि की आत्मा अलक्ष्यक्रम रस इत्यादि सुप् की विशेषताओं से, तिङ् की विशेषताओं से, वचन की विशेषताओं से, कारकशक्तियों से, कृत्प्रत्यय की विशेषताओं से, तद्धित

की विशेषताओं से और समासों से (व्यक्त होता है।) 'च' शब्द से प्रयोग किये हुये निपात, उपसर्ग और काल इत्यादि से अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है।

(लो०)—एवमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य रसादिध्वनेर्यद्यपि वर्णेभ्यः प्रभृति प्रबन्धपर्यन्ते व्यञ्जकवर्गे निरूपिते न निरूपणीयान्तरमवशिष्यते तथापि, कविसहृदयानां शिक्षां दातुं पुनरपि सूक्ष्मदृशान्वयव्यतिरेकावाश्रित्य व्यञ्जकवर्गमाह—**सुप्तिङ्ङित्यादि**। वयं त्वित्थमेतदनन्तरं सवृत्तिकं वाक्यं बुध्यामहे। सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्र-भिप्रायादिरूपः अस्यापि सुबादिभिर्व्यक्तस्यानुस्वानोपमस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो द्योत्यः। **क्वचिदिति**। पूर्वकारिकया सह सम्मील्य सङ्गतिरिति। सर्वत्र हि सुबादीनामभिप्राय-विशेषाभिव्यञ्जकत्वमेव। उदाहरणे स त्वभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्वं विभावादिरूपता-द्वारेण रसादीन् व्यनक्ति।

एतदुक्तं भवति—वर्णादिभिः प्रबन्धान्तैः साक्षाद्वा रसोऽभिव्यज्यते विभावादि-प्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिव्यञ्जनद्वारेण परम्परयेति तत्र बन्धस्यैतत्परम्परया व्यञ्जकत्वं प्रसङ्गादादावुक्तम्। अधुना तु वर्णपदादीनामुच्यते इति। तेन वृत्तावपि 'अभिव्यज्यमानो दृश्यते' इति। व्यञ्जकत्वं दृश्यत इत्यादौ च वाक्यशेषोऽध्याहार्यः विभावादिव्यञ्जनद्वारतया पारम्पर्येणेत्येवंरूपः।

(अनु०) इस प्रकार अलक्ष्यक्रम व्यंग्य रस इत्यादि की ध्वनि के यद्यपि वर्णों से लेकर प्रबन्धपर्यन्त व्यञ्जकवर्ग के निरूपित कर दिये जाने पर अन्य कुछ निरूपण करने योग्य शेष नहीं रह जाता है तथापि कवि और सहृदयों को शिक्षा देने के लिये फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वयव्यतिरेक का आश्रय लेकर व्यञ्जकवर्ग को कहते हैं—'सुप् तिङ्' इत्यादि। हम तो इस के बाद इस प्रकार सवृत्तिक वाक्य को समझते हैं। 'सुप् इत्यादि के साथ जो अनुस्वानोपम (ध्वनि) वक्ता के अभिप्रायरूप में भासित होती है व्यक्त अनुस्वानोपम इस ध्वनि का भी अलक्ष्यक्रम द्योत्य होता है।' 'कहीं' यह। पूर्व कारिका से मिलाकर संगति होती है। सुप् इत्यादि का सर्वत्र अभिप्राय विशेष व्यञ्जकत्व ही होता है। उदाहरण में वह अभिव्यक्त अभिप्राय अपनी शक्ति के अनुसार विभाव इत्यादि की रूपता के द्वारा रस इत्यादि को व्यक्त करता है।

यहाँ यह कहा गया है—वर्ण आदि से प्रबन्धपर्यन्त के द्वारा विभाव इत्यादि के प्रति-पादन के माध्यम से या तो साक्षात् रस अभिव्यक्त होता है या विभाव इत्यादि की व्यञ्जना के द्वारा परम्परा से। उसमें प्रबन्ध का रस की परम्परा से व्यञ्जकत्व प्रसंगवश पहले कह दिया गया। इस समय तो वर्ण इत्यादि का कहा जा रहा है। इससे वृत्ति में भी 'अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है' 'व्यञ्जकत्व देखा जाता है' इत्यादि में 'विभाव इत्यादि के व्यञ्जन के माध्यम के रूप में परम्परा से' इस प्रकार के वाक्यशेष का अध्याहार कर लेना चाहिये।

रसध्वनि के व्यञ्जकों पर सूक्ष्म विचार

तारावती—प्रस्तुत ग्रन्थ के उपक्रम में ध्वनि का स्वरूप बतलाने की प्रतिज्ञा की थी। प्रथम उद्योत में विप्रतिपत्तियाँ, उनपर विचार और ध्वनि का सामान्य स्वरूप बतला दिया गया। द्वितीय उद्योत में व्यंग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनि के स्वरूप पर विचार किया गया। तृतीय

उद्योत में अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्यपरवाच्य, अनुरणनरूप तथा असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य इन सभी के व्यञ्जकों का निरूपण कर दिया गया और यह बतला दिया गया कि वर्णों से लेकर प्रबन्धपर्यन्त विभिन्न तत्त्व किस प्रकार असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य रसादिध्वनि के व्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार अब कुछ निरूपण करने योग्य नहीं रह गया तथापि कवियों और सहृदयों को शिक्षा देने के लिये व्यञ्जक वर्णों पर पुनः सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जा रहा है जिसमें अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया जावेगा। अर्थात् कोई विशेष तत्त्व किस प्रकार व्यञ्जक होता है और किस प्रकार व्यञ्जक नहीं होता—इसी आशय से यह १६ वीं कारिका लिखी गई है। इसका आशय यह है कि ध्वनि की आत्मा अलक्ष्यक्रम रस इत्यादि की अभिव्यक्ति कहीं-कहीं सुप् अर्थात् शब्दविभक्तियों, तिङ् अर्थात् क्रियाविभक्तियों, वचन की विशेषताओं, सम्बन्ध की विशेषताओं, कारकशक्तियों, कृत्प्रत्ययों, तद्धितप्रत्ययों और समासगत विशेषताओं के द्वारा भी होती है। कारिका में 'च' शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है कि विशेष रूप में प्रयोग किये जाने पर निपात, उपसर्ग और काल इत्यादि के द्वारा भी अलक्ष्यक्रम की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ पर लोचनकार ने कहा कि हम तो इसके बाद वृत्ति के सहित वाक्य को समझते हैं। इसका आशय यह है कि पिछली कारिका में इस कारिका को जोड़कर अर्थ करना चाहिये। पिछली कारिका की क्रिया 'भासते' के सुप् इत्यादि तृतीयान्त करण हैं और उस कारिका के 'अस्य ध्वनेः' इस शब्द का 'द्योत्यः' इस शब्द से सम्बन्ध हो जाता है इस प्रकार दोनों कारिकाओं का मिलाकर यह अर्थ होगा—कहा हुआ अनुस्वानोपमात्मक जो प्रभेद कुछ प्रबन्धों में तथा कहीं-कहीं सुप् इत्यादि के द्वारा भासित होता है इस ध्वनि का द्योत्य अलक्ष्यक्रम होता है। जहाँ तक इस कारिका का सम्बन्ध है इसका आशय यही है कि सुप् इत्यादि के द्वारा जो अनुस्वानोपम ध्वनि भासित होती है और जो वक्ता के अभिप्राय इत्यादि के रूप में होती है सुप् इत्यादि के द्वारा अभिव्यक्त अनुस्वानोपम इस ध्वनि का भी अलक्ष्यक्रम व्यंग्य द्योत्य होता है। आशय यह है कि सर्वत्र सुप् इत्यादि विशेष अभिप्राय के ही व्यञ्जक होते हैं। किन्तु प्रस्तुत कारिका के उदाहरण के क्षेत्र में वे स्थल आते हैं जहाँ विशेष प्रकार का अभिप्राय व्यक्त होकर अपनी सत्ता प्रकरण और आवश्यकता के अनुसार पहले विभाव इत्यादि रूपता को प्राप्त होता है। और फिर उसी विभावादिरूपता के द्वारा रस इत्यादि को व्यक्त करता है।

उक्त विवेचन का आशय यह है कि वर्ण इत्यादि से लेकर प्रबन्धपर्यन्त दूसरी अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है—कहीं तो विभाव इत्यादि का प्रतिपालन साक्षात् अभिधावृत्ति से ही होता है और वह विभावादिसंयोग रस को अभिव्यक्त करता है तथा कहीं वर्ण इत्यादि निमित्त व्यञ्जकों से विभाव इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है और अभिव्यक्त होकर विभाव इत्यादि रस को अभिव्यक्त करते हैं। प्रथम प्रकार की रसाभिव्यक्ति का विवेचन पहले किया जा चुका है कि किस प्रकार वर्ण इत्यादि से साक्षात्-रस की अभिव्यक्ति होती है। उस प्रकरण के अन्त में प्रबन्ध से रसाभिव्यंजकता का विवेचन किया गया था। अतः प्रकरण की समरसता बनाये रखने के लिये परम्परा से रसाभिव्यक्ति प्रकरण में पहले प्रबन्ध की ही अभिव्यञ्जकता दिखलाई गई। अब वर्ण और पद इत्यादि की परम्परा से रसव्यञ्जकता दिखलाई जा रही

है। अतः वृत्ति में भी जहाँ पर यह आया है कि 'अभिव्यक्त होते हुये देखा जाता है' वहाँ पर विभाव इत्यादि की अभिव्यञ्जना के द्वारा' यह जोड़ देना चाहिये और जहाँ पर यह आया है कि 'व्यञ्जकत्व देखा जाता है' वहाँ पर 'परम्परा के द्वारा' इस वाक्यशेष का अध्याहार कर लेना चाहिये।

(ध्वन्या०)—यथा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिक्-धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

अत्र हि श्लोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते। तत्र 'मे यदरय' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामभिव्यञ्जकत्वम्। 'तत्राप्यसौ तापस' इत्यत्र तद्धितनिपातयोः। 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र तिङ्कारक-शक्तीनाम्। 'धिक्-धिक् शक्रजितम्' इत्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणाम्। एवंविधस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति। यत्र हि व्यङ्ग्यावभासिनः पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भावस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया, किमुत यत्र तेषां बहूनां समवायः। यथात्रानन्तरोदितश्लोके। अत्र हि रावण इत्यस्मिन् पदेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्येन ध्वनिप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनरनन्तरोक्तानां व्यञ्जकप्रकाराणामुद्भासनम्। दृश्यन्ते च महात्मनां प्रतिभाविशेषभाजां बाहुल्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः।

(अनु०) जैसे—

'निस्सन्देह यह धिक्कार है कि मेरे शत्रु, उनमें भी यह तापस, वह भी यहीं राक्षस कुल को मारता है, आश्चर्य है कि रावण जीवित है। इन्द्रजित (मेघनाद) को धिक्कार है, प्रबोध को प्राप्त होनेवाले कुम्भकर्ण से भी क्या? स्वर्गरूपी छोटे से ग्राम को नष्ट करने में वृथा फूली हुई इन भुजाओं से भी क्या?'

निस्सन्देह इस श्लोक में अधिकता से इन सभी का स्फुट व्यञ्जकत्व दिखलाई देता है। उसमें 'मेरे शत्रु' इससे सुप् सम्बन्ध और वचन की अभिव्यञ्जकता है। 'उसमें भी यह तापस' इसमें तद्धित और निपात की। 'वह भी यहीं राक्षस कुल को मारता है, आश्चर्य है कि फिर भी रावण जीवित है' तहाँ तिङ् और कारक की शक्तियों की (व्यंजकता है।) 'इन्द्रजित को धिक्कार धिक्कार' इत्यादि आधे श्लोक में कृत्प्रत्यय तद्धित प्रत्यय समास और उपसर्गों की (व्यंजकता है।) व्यंजकों की अधिकता के सङ्घटित किये जाने पर इस प्रकार के काव्य की बन्धन की छाया सब को अतिक्रमण करनेवाली (होकर) प्रकट होती है। निस्सन्देह जहाँ व्यंग्य को अवभासित करनेवाले एक ही पद का आविर्भाव हो वहाँ पर भी काव्य में कोई अपूर्व बन्ध की छाया होती है, उसका तो कहना ही क्या जहाँ उन बहुतों का समूह हो। जैसा कि यहाँ अभी उदाहरण दिये श्लोक में। यहाँ निस्सन्देह 'रावण' इस पद में ध्वनि के

अवान्तर भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के द्वारा अलंकृत होने पर भी पुनः अभी कहे हुये व्यंजक-प्रकारों का भी उद्भासन होता है। विशेष प्रतिभा को प्राप्त करनेवाले महात्माओं के इस प्रकार के बन्धनप्रकार बहुत अधिक देखे जाते हैं।

(लो०)–**'ममारय' इति।** मम शत्रुसद्भावो नोचित इति सम्बन्धानौचित्यं क्रोध-विभावं व्यनक्ति अरय इति बहुवचनम्। तपो विद्यते यस्येति पौरुषकथाहीनत्वं तद्धितेन मत्वर्थीयेनाभिव्यक्तम्। तत्रापिशब्देन निपातसमुदायेनात्यन्तासम्भावनीयत्वम्। मत्क-र्तृका यदि जीवनक्रिया तदा हननक्रिया तावदनुचिता। तस्यां च स कर्ता अपिशब्देन मनुष्यमात्रकम्। **अत्रैवेति।** मदधिष्ठितो देशोऽधिकरणम्, निःशेषेण हन्यमानतया राक्षस-बलं च कर्मेति तदिदमसम्भाव्यमानमुपनतमिति पुरुषकारासम्पत्तिर्ध्वन्यते तिङ्कारक-शक्तिप्रतिपादकैश्च शब्दैः। रावण इति त्वर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वं पूर्वमेव व्याख्या-तम्। धिग्धिगिति निपातस्य स्वपौरुषानुस्मरणं प्रति व्यञ्जकत्वम्। ग्रामटिकेति स्वार्थिकतद्धितप्रयोगस्य स्त्रीप्रत्ययसहितस्याबहुमानास्पदत्वं प्रति, विलुण्ठनशब्दे विशब्दस्य निर्दयावस्कन्दनं प्रति व्यञ्जकत्वम्। वृथाशब्दस्य निपातस्य स्वात्मपौरुष-निन्दां प्रति व्यञ्जकता। भुजैरिति बहुवचनेन प्रत्युत भारमात्रमेतदिति व्यज्यते। तेन तिलशस्तिलशोऽपि विभज्यमानेऽत्र श्लोके सर्व एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किमन्यत्। एतदर्थप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति—**एवमिति।** एकस्य पदस्येति यदुक्तं तदुदाहरति—**यथात्रेति।**

(अनु०) 'मेरे शत्रु' यह। मेरे शत्रुओं का होना उचित नहीं है यह सम्बन्ध का अनौ-चित्य क्रोध के विभाव को अभिव्यक्त करता है 'अरयः' यह बहुवचन। 'तप विद्यमान है जिसका' यह पौरुष की बात-चीत का होना मत्वर्थीय तद्धित से व्यक्त हुआ।

'तत्रापि' (उसमें भी) इस निपातसमुदाय से अत्यन्त असम्भवता (प्रकट होती है।) यदि मेरी की हुई जीवन क्रिया तो हनन की क्रिया तो अनुचित है। उसमें भी वह कर्ता है—'भी' शब्द से केवल तुच्छ मनुष्य की (अभिव्यक्ति होती है) 'यहीं पर' यह।

मेरे द्वारा अधिष्ठित देश परिपूर्णरूप से मारे जाने का अधिकरण है। और 'राक्षस-बल' यह कर्म है इस प्रकार यह असम्भव बात प्राप्त हुई है इस प्रकार 'तिङ्' तथा कारकशक्ति प्रतिपादक शब्दों से पुरुषार्थ की असम्पत्ति ध्वनित होती है। 'रावण' इस अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यत्व की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। 'धिक् धिक्' इस निपात की (व्यंजकत्व) 'इन्द्र को जीत लिया' यह आख्यायिका ही है, उपपद समास से सहकृत स्वर्ग इत्यादि समास की स्वपौरुषानुसरण के प्रति व्यंजकता है। स्त्रीप्रत्यय के सहित 'ग्रामटिका' इस स्वार्थिक तद्धित प्रयोग की अबहुमानास्पदत्व के प्रति व्यंजकता है। 'विलुण्ठन' शब्द में 'वि' शब्द की विनष्ट करने के प्रति व्यंजकता है। निपात 'वृथा' शब्द की आत्मपौरुष निन्दा के प्रति व्यंजकता है। 'भुजाओं से' में बहुवचन के द्वारा व्यक्त होता है कि प्रत्युत ये भारमात्र ही हैं। इससे तिल तिल करके इस श्लोक के विभक्त करने पर सभी अंश व्यंजकत्व के रूप में शोभित होते हैं। अधिक कहने से क्या? इस अर्थ के दिखलाने का फल दिखलाते हैं—'इस प्रकार यह' 'एक पद का' जो यह कहा उसका उदाहरण दे रहे हैं—'जैसे यहाँ पर' यह।

सुप् इत्यादि की व्यञ्जकता का उदाहरण

यह उदाहरण हनुमन्नाटक के १४ वें अंक से लिया गया है। रामरावणयुद्ध चल रहा है। रावण वीर दर्प में उन्मत्त है। किन्तु राम के शौर्य को देखकर कह रहा है—

'यही तिरस्कार है कि मेरे शत्रु हों, उसमें भी यह तापस ? वह भी यहीं पर राक्षस कुल को मार रहा है, आश्चर्य है कि रावण जीवित है। इन्द्र को जीतनेवाले (मेघनाद) को धिक्कार है, प्रबोध को प्राप्त होनेवाले कुम्भकर्ण से भी क्या ? अथवा स्वर्ग जैसे तुच्छगाँव को नष्ट करने में वृथा फूली हुई इन भुजाओं से भी क्या।'

इस श्लोक में इन सभी का बहुत अधिक मात्रा में स्पष्ट ही व्यंजकत्व देखा जाता है। वह इस प्रकार—'मेरे शत्रु हों' में विभक्ति, सम्बन्ध और वचन अभिव्यंजक हैं। 'मेरे' एकवचनवाचक विभक्ति की व्यंजना है कि मैं जगत् का एक वीर हूँ, विश्वविजय के लिये मुझे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। 'मेरे' भी शत्रु बने रहें यह अद्भुत भी है और अनुचित भी। 'मेरे' में सम्बन्ध कारक है, इसका व्यङ्ग्यार्थ यह है कि मेरा कोई भी शत्रु विद्यमान रहे जिससे मेरा वध्य और घातक भाव का सम्बन्ध हो ऐसा सम्भव ही नहीं है क्योंकि मुझसे शत्रुता करके कभी कोई जीवित बचा ही नहीं। 'शत्रु हों' में बहुवचन का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि मेरे एक भी शत्रु का रह सकना आश्चर्यजनक है फिर बहुत से शत्रुओं का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार विभक्तिसम्बन्ध और वचनसम्बन्ध के अनौचित्य की व्यञ्जना करते हुये क्रोध के विभाव को व्यक्त करते हैं। 'उसमें भी यह तापस' यहां पर तद्धित और निपात व्यञ्जक हैं। 'तापस' में तद्धित अण् प्रत्यय और 'अपि' (भी) यह निपात है। तापस में अण् मत्वर्थीय है, अतः इसका अर्थ है कि तप जिसके अन्दर विद्यमान हो। इससे व्यञ्जना निकलती है कि ऐसे शत्रु जिनके पौरुष की बातचीत भी सम्भव न हो। मैं यदि जीवित हूँ तो शत्रुओं द्वारा मेरे वर्ग का संहार अनुचित है और उस संहार का कर्ता भी वह। यहाँ 'भी' शब्द की व्यञ्जना है केवल 'तुच्छ मनुष्य'। 'वह यहीं पर राक्षस कुल को मारता है और आश्चर्य है कि रावण जीवित है' यहाँ पर तिङ् और कारक शक्तियाँ व्यञ्जक हैं। 'मारता है' और जीवित है' की क्रियाविभक्तियाँ व्यञ्जक हैं, 'यहाँ पर' का अधिकरण कारक और 'राक्षस कुल को' का कर्म कारक ये कारक शक्तियाँ व्यञ्जक हैं। 'यहाँ पर' का अर्थ है जहाँ मैं विद्यमान हूँ और मेरा एकच्छत्र प्रभुत्व है। 'निहन्ति' में 'नि' उपसर्ग से व्यक्त होता है कि निश्शेष रूप में राक्षसों का संहार कर रहे हैं। 'राक्षसकुलम्' में कर्म कारक से व्यञ्जना निकलती है कि समस्त राक्षस वंश का संहार ही भगवान् राम की संहारक्रिया का लक्ष्य है। 'रावण' शब्द में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। अर्थात् रावण का स्वयं ही रावण कहना बाधित होकर अनुपम पराक्रमशालित्व इत्यादि गुणों को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार 'एव' 'जीव धातु' 'अहो' यह अव्यक्त ये भी व्यञ्जक हो सकते हैं। समष्टि में इसका व्यंग्यार्थ यह होगा कि रावण अद्वितीय पराक्रमी तथा समस्त जगद्विजेता है। यही आश्चर्य कि उस रावण का भी कोई शत्रु होकर बना रहे। यदि वह शत्रु अकेला हो तो भी कुछ समझ में आसकता है किन्तु बहुत बड़ी संख्या में शत्रु विद्यमान हों यह और भी आश्चर्य-

जनक है वे शत्रु भी यदि कहीं दूर प्रदेश में स्थित हों जहाँ रावण विद्यमान न हो तो भी कोई बात है किन्तु यहाँ ये राम इत्यादि शत्रु तो ऐसे प्रदेश में स्थित हैं जहाँ रावण विद्यमान ही नहीं है अपितु उसका पूर्णप्रभुत्व है फिर स्थित होते हुये यदि चुप रहें तो भी कुशल है किन्तु ये तो क्रियाशील ही नहीं किन्तु संहार कर रहे हैं; फिर किसी एक का मारा जाना भी बड़ी बात नहीं ये तो समस्त राक्षस वंश के विनाश पर ही उतारू हैं। शत्रु भी यदि कोई वीर हो तो भी एक बात है किन्तु यह तो बेचारा तपस्वी है। यदि परम पराक्रमी के रूप में प्रसिद्ध मैं मर गया होता और तब यह सब कुछ होता तो इतना बड़ा आश्चर्य नहीं होता किन्तु सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यही है कि रावण अब तक जीवित है। (केवल मेरा पराक्रम ही व्यर्थ नहीं हो रहा है अपितु दूसरे भी परमपराक्रमी महावीरों का पराक्रम व्यर्थ ही जा रहा है।) धिक्-धिक् इस निपात (तथा इसकी वीप्सा) से परम गर्हणीयता की व्यंजकता होती है। शक्रजित् अर्थात् शक्र को जीतनेवाला इस उपपद समास से व्यक्त होता है कि मेघनाद का शक्र को जीत लेना तो एक कल्पित कथा सी जान पड़ती है। (शक्र शब्द 'शक्' धातु से रम् प्रत्यय होकर बनता है। इसका अर्थ है जो शत्रुओं को जीतने में समर्थ हो') मेघनाद ने ऐसे शत्रु को भी अनायास ही जीत लिया अतः राम को जीतना तो उसके लिये बड़ी बात ही नहीं थी। किन्तु उस मेघनाद की शक्ति भी कुण्ठित हो गई। यह व्यञ्जना उपपद समास तथा उसके साथ क्विप् इस कृदन्त प्रत्यय से निकलती है। (प्रबोधितवता में 'प्र' उपसर्ग 'बुध' धातु से णिच् प्रत्यय होकर क्तवत् प्रत्यय होता है। 'प्र' का अर्थ है प्रकर्ष णिच् का अर्थ है प्रेरणा और क्तवत् का अर्थ है भूत काल। इससे व्यञ्जना निकलती है कि कुम्भकर्ण से बड़ी आशा थी; उन्हें जगाने के लिये बहुत अधिक उद्योग किया गया, वे जागे भी किन्तु उन्होंने कर क्या लिया। अब तो उनकी आशा और उठकर उनके पराक्रम सब अतीत की कथा बन गये हैं। मेघनाद और कुम्भकर्ण की आशा तो दूर की बात रही मैं ही क्या कर पाया। शत्रुजित् के क्विप् प्रत्ययान्त उपपद समास के साथ 'स्वर्ग ही ग्रामटिका' यह कर्मधारय समास भी व्यञ्जक है। ग्रामटिका में स्वार्थिक तद्धित प्रयोग है। ग्रामटिका में अल्प अर्थ में तद्धित 'टिकच्' प्रत्यय हो जाता है। इसका अर्थ है तुच्छ ग्राम) इससे व्यञ्जना निकलती है कि मैंने स्वर्ग को एक तुच्छ गांव के समान बड़ी ही सरलता से जीत लिया था और उसके अभिमान से मेरी भुजायें फूली हुई थीं; किन्तु यह सब अभिमान व्यर्थ ही था। जब से साधारण तपस्वी मेरे सामने ही मेरे वंश का नाश कर रहे हैं तब स्वर्ग जैसे तुच्छ ग्राम के जीत लेने का क्या दर्प। 'विलुण्ठन' शब्द से 'वि' उपसर्ग की व्यञ्जना है निर्दयता-पूर्वक नष्ट भ्रष्ट करना। 'वृथा' इस निपात की व्यञ्जना है अपने पौरुष की निन्दा। 'भुजाओं से' में बहुवचन से व्यक्त होता है इन में कोई शक्ति नहीं ये मेरी भुजायें तो भाररूप ही हैं। अधिक कहने की क्या आवश्यकता यदि इस पद्य को तिल-तिल करके तोड़ा जावे तो इसका सभी अंश व्यञ्जक के रूप में प्रकाशित होता है। (यहाँ पर प्रकृति, प्रत्यय, अव्यय इत्यादि प्रत्येक तत्त्व व्यञ्जक ही है। ऊपर दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।) यदि इस प्रकार के काव्य से सम्बन्ध व्यञ्जक बहुलता से संघटित किये जावें तो ऐसे काव्य में एक ऐसा उच्चकोटि का संघटना सौन्दर्य विद्यमान होगा जो कि सभी सौन्दर्यों का अतिक्रमण कर जावेगा। (क्योंकि

जब व्यञ्जकों की संख्या अधिक होगी तो व्यंग्यों की संख्या भी असीमित हो जावेगी। व्यंग्यों का सौष्ठव हो सौन्दर्य का एकमात्र निदान होता है।) यदि व्यंग्य को अवभासित करनेवाले किसी एकपद का प्रत्यक्षीकरण हो जावे तो वहाँ पर भी काव्य का संघटनासौन्दर्य प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है फिर जहाँ इस प्रकार के सौन्दर्याधायक व्यञ्जकों की भरमार हो और प्रत्येक पद तथा उस पद का प्रत्येक खण्ड नवीन चारुता लिये हुये हो वहाँ के सौन्दर्य का तो कहना ही क्या। उदाहरण के लिये अभी उद्धृत किये हुये 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि पद्य में प्रधान व्यंग्यार्थ है 'रावण' पद से अभिव्यक्त होनेवाला अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। (रावण' पद बाधित होकर धर्मान्तर परिणत 'रावण' को अभिव्यक्त करता है।) उस अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का सौन्दर्य उन समस्त व्यञ्जकों के व्यंग्यार्थों के द्वारा बट जाता है जिन पर पिछले पृष्ठों में विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

यथा महर्षेर्व्यासस्य—

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना॥

अत्र हि कृत्तद्धितवचनैरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः।

(अनु०) जैसे महर्षि व्यास का—

'जिसमें सुख अतिक्रान्त हो गये हैं और दारुण (दुःख) विपरीत रूप में उपस्थित हैं इस प्रकार के काल और कल कल (उत्तरोत्तर) अधिक पापियों के दिनों वाली गतयौवना पृथ्वी है।'

यहाँ पर निस्सन्देह कृत्प्रत्यय, तद्धितप्रत्यय और वचन से अलक्ष्यक्रमव्यंग्य और 'गतयौवना पृथिवी' से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि प्रकाशित की गई है।

(लो०)—अतिक्रान्तं न तु कदाचन वर्तमानतामवलम्बमानं सुखं येषु ते काला इति, सर्व एव न तु सुखं प्रति वर्तमानः स कोऽपि काललेश इत्यर्थः। प्रतीपान्युपस्थितानि वृत्तानि प्रत्यावर्तमानानि तथा दूरभावीन्यपि प्रत्युपस्थितानि निकटतया वर्तमानानि भवन्ति दारुणानि दुःखानि येषु ते। दुःखं बहुप्रकारमेव प्रतिवर्तमानाः सर्वे कालांशा इत्यनेन कालस्य तावन्निर्वेदमभिव्यञ्जयतः शान्तरसव्यञ्जकत्वम्। देशस्याप्याह—पृथिवी श्वः श्वः प्रातः प्रार्तदिनाद्दिनं पापीयदिवसाः पापानां सम्बन्धिनः पापिष्ठजनस्वामिका दिवसा यस्यां सा तथोक्ता। स्वभावत एव तावत्कालो दुःखमयः, तत्रापि पापिष्ठजनस्वामिकपृथिवीलक्षणदेशदौरात्म्याद्विशेषतो दुःखमय इत्यर्थः। तथा हि श्वः श्वः इति दिनाद्दिनं गतयौवना वृद्धस्त्रीवदसम्भाव्यमानसंभोगा गतयौवनतया हि यो यो दिवस आगच्छति स स पूर्वापेक्षया पापीयान् निकृष्टत्वात्। यदि वेयसुनन्तोऽयं शब्दो मुनिनैवं प्रयुक्तो णिजन्तो वा। **अत्यन्तेति।** सोऽपि प्रकारोऽस्यैवाङ्गतामेतीति भावः।

(अनु०) बीता हुआ, कभी वर्तमानता का अवलम्बन लेनेवाला नहीं है सुख जिनमें ऐसे काल, सभी (काल) सुख के प्रति वर्तमान कोई एक भी काल का लेश नहीं यह अर्थ है। विपरीत

रूप में उपस्थित बीते हुये और पुनः लौटकर आनेवाले तथा भविष्य में अति दूर होनेवाले भी प्रत्युपस्थित अर्थात् निकटता से वर्तमान हो जाते हैं दारुण अर्थात् दुःख जिनमें। सभी प्रकार के कालांश बहुत प्रकार के दुःखों को लौट रहे हैं इस कथन के द्वारा निर्वेद को अभिव्यक्त करनेवाले काल की शान्तरसव्यञ्जकता (सिद्ध हो जाती है)। देश की भी बतलाते हैं— पृथिवी कल-कल अर्थात् प्रातः-प्रातः अर्थात् एक दिन से दूसरे दिन पापीय दिनवाले अर्थात् अत्यन्त पापियों से सम्बन्धित जिसके दिनों के स्वामी हैं, इस प्रकार की हो गई है। स्वभाव से ही काल दुःखमय है उसमें भी अत्यन्त पापी लोगों के स्वामित्ववाले पृथ्वीरूप देश की दुरात्मता से विशेष रूप से दुःखमय (हो गया है) यह अर्थ है। वह इस प्रकार कल कल अर्थात् एक दिन से दूसरे दिन गतयौवना वृद्धा स्त्री के समान यौवन के गत हो जाने से जिसके सम्भोग की सम्भावना नहीं की जा सकती जो जो दिन आता है वह-वह पहले की अपेक्षा निकृष्ट होने के कारण अधिक पापवाला है। अथवा यह शब्द ईयसुन् अन्तवाला मुनि ने प्रयुक्त किया है अथवा णिजन्त है। 'अत्यन्त' यह। भाव यह है कि वह भी प्रकार इसी की अंगता को प्राप्त होता है।

दूसरा उदाहरण

तारावती—यह नहीं समझना चाहिये कि प्रत्येक पद को व्यञ्जक बनाकर कविता करना असम्भव है। विशेष प्रतिभाशाली महात्माओं के इस प्रकार के बन्धनप्रकार प्रायः देखे जाते हैं। एक उदाहरण लीजिये—महर्षि व्यास ने बुरे समय के आ जाने का वर्णन करते हुए हुये लिखा है—

'ये ऐसे समय हैं जब कि सुख व्यतीत हो चुका है, दारुण (दुःख) प्रतिकूल रूप में उपस्थित है, पृथिवी का यौवन व्यतीत हो चुका है और जो भी दिन आता है वह पहले की अपेक्षा अधिक पापियों से अधिकृत होता जाता है।'

यौवन किसी स्त्री का ही समाप्त होता है; पृथ्वी की यौवनसमाप्ति बाधित हो जाती है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है—उपभोग के अयोग्य होना। उससे व्यङ्ग्यार्थ के रूप में पृथिवीगत अनेक हीनतायें प्रतिभासित होती हैं। यौवन का अर्थ बिल्कुल छूट जाता है अतः यह अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि हुई। इस ध्वनि का सौन्दर्यप्रकर्ष कृत्प्रत्यय तद्धितप्रत्यय वचन के व्यङ्ग्यार्थों के द्वारा बढ़ जाता है तथा उनसे अलक्ष्यक्रम रसध्वनि आस्वादगोचर हो जाती है। (कृत्प्रत्यय तीन शब्दों में है—अतिक्रान्त, प्रत्युपस्थित और गत शब्दों में क्त प्रत्यय) अतिक्रान्त में क्तप्रत्यय भूतकालार्थक है इससे व्यञ्जना होती है कि यह काल ऐसा है जिसमें सुख सर्वथा व्यतीत हो गया है किसी प्रकार भी वर्तमान नहीं है! इससे काल की अत्यन्त भीषणता व्यक्त होती है। 'प्रत्युपस्थित' शब्द में भी भूतकालार्थक 'क्त' प्रत्यय है, इसकी व्यञ्जना यह है कि दारुण परिस्थितियाँ कुछ पहले से ही आई हुई हैं अतः उनके वर्तमान होने में किसी प्रकार की शङ्का नहीं रह गई। विगत भीषण परिस्थितियां लौट आई हैं और जिन भीषणताओं की बहुत समय बाद आने की सम्भावना थी वे अभी आ गई हैं और निकट ही वर्तमान रूप में मालूम पड़ती हैं। इस प्रकार क्त प्रत्यय से व्यक्त होता है कि एक तो इनका आना सन्दिग्ध नहीं रहा दूसरे इनका निराकरण भी अशक्य प्रतीत होता है। ('गत'

में क्त प्रत्यय से यही व्यक्त होता है कि पृथिवी का यौवन व्यतीत ही हो गया अब उसके पुनरावर्तन की कोई आशा नहीं। अतः पृथिवी निस्सार है और सर्वथा परित्याग के योग्य है।) तद्धित प्रत्यय 'पापीय' में 'छ' है इसका अर्थ है पापियों से सम्बन्ध रखनेवाले। इस 'छ' प्रत्ययसे व्यञ्जना निकलती है कि अब इन दोनों पर अधिकार पापियों का ही रह गया है। भले आदमियों की तो बात पूछनेवाला भी कोई नहीं। स्वभाव से ही काल दुःखमय है उसमें भी देशगत बुराई और अधिक बढ़ गई है कि पृथिवी के सभी शासक पापी ही हो गये हैं। अतः यह समय और अधिक दुःखदायक हो गया है। वह इस प्रकार कि जैसे किसी वृद्ध स्त्री का जो भी दिन आता है वह पिछले दिन की अपेक्षा उसे और अधिक यौवनशून्य बना देता है, उसके अन्दर आकर्षकता, सम्भोग की सम्भावना इत्यादि सभी कुछ प्रतिदिन क्षीण होते जाते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी का जो भी दिन बीत रहा है वह पहले की अपेक्षा अधिक निकृष्ट ही होता है जिससे न पृथिवी में कोई आकर्षण रह गया है और न वह सम्भोगयोग्य ही रह गई है। 'पापीय' में ईयसुन् प्रत्यय भी माना जा सकता है जिसका अर्थ होता है अपेक्षाकृत अधिक पापी। ऐसी दशा में यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इसका शुद्धरूप 'पापीयोदिवसाः' होगा, 'स' का लोप कैसे हो गया? इसका उत्तर यह है कि यह मुनि का प्रयोग है अतः 'स' का लोप आर्ष है। अथवा ईयसुन् प्रत्यय करके नामधातु का णिच् प्रत्यय कर दिया जावे। 'जो लोकों को 'पापीयः' बनाता है उसके लिये णिच् होकर क्रिया होगी 'पापीयति' फिर कर्त्ता में अच् प्रत्यय करके ति और णिच् का लोप करके 'पापीय' यह अदन्त शब्द बन सकता है इस प्रकार कृत्प्रत्यय और तद्धित प्रत्यय की व्यञ्जना दिखला दी गई। 'कालाः' में बहुवचन से व्यक्त होता है कि काल का कोई भी अंश सुखमय नहीं रहा सभी कालांश दारुण व्याधियों के देने वाले बन गये हैं। इस प्रकार प्रथम पंक्ति में काल की भीषणता बतलाई है और दूसरी पंक्ति में स्थान की अस्पृहणीयता। जब देश और काल दोनों विपरीत हैं तब ममत्व ही किससे किया जावे? इस प्रकार असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य शान्त रस यहाँ पर ध्वनित होता है और उसका अङ्ग बन गयी है 'गतयौवना' की अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यव्यञ्जना।

(ध्वन्या०)—एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते। सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

तालैः शिञ्जावलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे।
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः॥

तिङन्तस्य यथा—

अवसर रोउं च्चिअ णिम्मिआइं मा पुंस मे हअच्छीइं।
दंसणमेत्तुम्मत्तेहिं जेहिं हिअअं तुह ण णाअम्॥

(अनु०) इन सुप् इत्यादिकों का एक एक रूप में (पृथक् पृथक्) और समुदाय के रूप में व्यञ्जकत्व महाकवियों के प्रबन्धों में प्रायः देखा जाता है। सुबन्त का व्यञ्जकत्व जैसे—

'झङ्कार से परिपूर्ण वलयों से सुन्दर मालूम पड़नेवाली तालियों द्वारा मेरी प्रियतमा द्वारा नचाया हुआ तुम्हारा मित्र नीलकण्ठ दिवस के अन्त में जिसके ऊपर बैठता है।'

तिङन्त का जैसे—

'दूर हटो; रोने के लिये ही निर्मित मेरे इन हत नेत्रों को विकसित मत करो जिन्होंने दर्शनमात्र से ही उन्मत्त होकर तुम्हारे हृदय को भी नहीं जाना।'

(लो०)—**सुबन्तस्येति**। समुदितत्वे तूदाहरणं दत्तं व्यस्तत्वे चोच्यत इति भावः। तालैरिति बहुवचनमनेकविधं वैदग्ध्यं ध्वनत् विप्रलम्भोद्दीपकतामेति।

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुंसय हते अक्षिणी मे।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम्॥

उन्मत्तो हि न किञ्चिज्जानातीति न कस्याप्यत्रापराधः। दैवेनेत्थमेव निर्माणं कृतमिति। अपसर मा वृथा प्रयासं कार्षीः दैवस्य विपरिवर्तयितुमशक्यत्वादिति तिङन्तो व्यञ्जकः तदनुगृहीतानि पदान्तराण्यपीति भावः।

(अनु०) 'सुबन्त का' यह समुदित होने पर तो उदाहरण दे दिया गया, पृथक् होने पर दिया जा रहा है यह भाव है। 'तालैः' में बहुवचन अनेक प्रकार के वैदग्ध्य को ध्वनित करते हुये विप्रलम्भ की उद्दीपकता को प्राप्त होता है। (उदाहृत श्लोक की छाया संस्कृत में दी गई है। इसका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है।)

उन्मत्त निस्सन्देह कुछ नहीं जानता; अतः यहाँ पर किसी का अपराध नहीं है। दैव ने ही इस प्रकार का निर्माण किया है। 'हटो; व्यर्थ में प्रयास मत मरो; क्योंकि दैव का बदलना अशक्य है।' इस प्रकार तिङन्त व्यञ्जक है और उससे अनुगृहीत और पद भी व्यञ्जक हैं।

सुबन्त की व्यञ्जकता का उदाहरण

तारावती—प्रस्तुत कारिका में सुप् इत्यादि की व्यञ्जना बतलाई गई है। यह व्यञ्जकता दोनों प्रकार की हो सकती है—समुदित रूप में मिलकर सभी की एक साथ व्यञ्जकता और इनकी पृथक् व्यञ्जकता। सुप् इत्यादि की व्यञ्जकता के प्रायः दोनों रूप प्रबन्ध काव्यों में देखे जाते हैं। सामूहिक रूप में व्यञ्जकता के उदाहरण पिछले प्रकरण में दिये जा चुके हैं। अब पृथक् पृथक् तत्त्वों की व्यञ्जकता बतलाई जा रही है। सुबन्त की व्यञ्जकता का उदाहरण मेघदूत से दिया गया है। पूरा पद्य इस प्रकार है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टिः
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढ़वंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥

'यक्ष मेघ को अपने घर की पहिचान बतलाते हुये कह रहा है कि—(मेरे दरवाजे पर माधवी का मण्डप है जिसके चारों ओर कुरवक का घेरा बना हुआ है, उसके समीप ही लाल अशोक और वकुल के वृक्ष खड़े हैं।) उन दोनों बृक्षों के मध्य में सोने की वासयष्टि (एक प्रकार की छतरी जिस पर पालतू पक्षी रहा करते हैं।) है जिसका ऊपरी फलक स्फटिक मणि का बना हुआ है और नीचे की ओर प्रौढ वांसों के समान चमकने वाली मणियां जड़ी हुई हैं। दिन के व्यतीत होने पर (सायं काल में) तुम्हारा मित्र मयूर उस वासयष्टि

पर आकर बैठता है। यह वही मयूर है जिसको मेरी प्रियतमा तालियाँ बजा-बजाकर नचाया करती है जो तालियाँ झङ्कार करनेवाले वलयों से बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ती हैं।

यहाँ पर सुबन्तपद 'तालैः' तृतीया का बहुवचन है जिससे ध्वनित होता है कि 'मेरी प्रियतमा अनेक प्रकार से ताल बजा लेती है, वह विलास नृत्य और सङ्गीत में बहुत निपुण है।' यह व्यञ्जना आलम्बन के गुणों का स्मरण कराने का कारण विप्रलम्भ का उद्दीपन करती है। इस प्रकार सुबन्त से वस्तुव्यञ्जना के द्वारा रसध्वनि होती है।

तिङन्त से व्यञ्जना का उदाहरण

किसी नायक ने अपराध किया है; नायिका रो रही है, नायक उसे मनाना चाहता है; इस पर नायिका कहती है—

'तुम यहाँ से चले जाओ; भगवान् ने मेरी हतभागिनी आँखें रोने के लिये ही बनाई हैं अतः तुम इन्हें बढ़ाने की चेष्टा मत करो। ये आँखें तुम्हारे दर्शनमात्र से उन्मत्त हो गई और इन्होंने तुम्हारे हृदय को नहीं जान पाया।'

आशय यह है कि नायिका कह रही है कि मेरी आँखों का ऐसा भाग्य कहाँ कि अपने प्रियतम के तृप्तिकारक मुख के अवलोकन का आनन्द ले सकें। परमात्मा ने तो इनके भाग्य में रोना ही दिया है। सबसे बड़ा अपराध तो इनका यही था कि इन्होंने तुम्हारे बाह्य रूप को ही देखा और उन्मत्त हो गये; इन्होंने तुम्हारे कपटी हृदय को नहीं देखा।' जो उन्मत्त हो जाता है वह निस्सन्देह कुछ समझ ही नहीं पाता। अतः रूप पर उन्मत्त होकर मैंने जो कुछ किया उसमें अपराध किसका है? परमात्मा ने ही ऐसी रचना कर दी थी। यहाँ 'दूर हटो' यह क्रिया है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि 'तुम्हारा मुझे मनाने की चेष्टा करना व्यर्थ है; जब दैव ने ही ऐसा विधान कर दिया तो उसे बदल कौन सकता है? इस व्यंजना के द्वारा नायिका नायक से अपनी हृदयवेदना निवेदित कर उसके हृदय में सद्भावना जगाना चाहती है। इस प्रकार यहाँ तिङन्त व्यंजना है और उसके साथ दूसरे शब्द भी व्यंजक हैं। ('एव' (ही) शब्द से व्यंजना निकलती है कि तुम्हारी अनुयायिनी होने का यही फल मिला कि मुझे जीवन भर रोना पड़ेगा। 'हतभागी नेत्र' से सौभाग्य का अभाव और 'तुम्हारे हृदय को नहीं देखा' में हृदय शब्द से नायक की दुष्टता व्यक्त होती है।)

यथा वा—

मा पन्थं रुन्धीयो अवेहि वालअ अहोसि अहिरीयो।
अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो॥

सम्बन्धस्य यथा—

अण्णत्त वच्च वालअ ह्लाअन्ति किं मं पुलोएसि एअम्।
भो जाआभीरुआणं तडं विअण होई॥

कृतकप्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव। अवज्ञातिशये कः। समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोजने।

(अनु०) अथवा जैसे—

'अरे अप्रौढ बालक ! दूर हटो, मेरे मार्ग को मत रोको, आश्चर्य है कि तुम निर्लज्ज हो; हम परतन्त्र हैं क्योंकि हमें शून्य घर की रक्षा करनी है।'

सम्बन्ध का जैसे—

'हे बालक ! दूर जाओ। स्नान करती हुई मुझे देख रहे हो यह क्या बात है ? पत्नियों से डरनेवाले के लिए (यह) तट नहीं है।'

जहाँ 'क' का प्रयोग किया गया हो वहाँ प्राकृत में तद्धित के विषय में व्यञ्जकत्व कहा ही जाता है। अवज्ञा की अधिकता में 'क' प्रत्यय होता है। समासों का व्यञ्जकत्व वृत्ति के औचित्य के द्वारा विनियोजन में होता है।

(लो०)—मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अह्रीकः।
वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते॥

इत्यत्रापेहीति तिङन्तमिदं ध्वनति—त्वं तावदप्रौढो लोकमध्ये यदेवं प्रकाशयसि। अस्ति तु सङ्केतस्थानं शून्यगृहं तत्रैवागन्तव्यमिति।

'अन्यत्र व्रज बालक' अप्रौढबुद्धे स्नान्तीं मां किं प्रकर्षेणालोकयस्येतत्। भो इति सोल्लुण्ठमाह्वानम्। जायाभीरुकाणां सम्बन्धि तटमेव न भवति। अत्र जायातो ये भीरवस्तेषामेतत्स्थानमिति दूरापेतः सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धेनेर्ष्यातिशयः प्रच्छन्नकामिन्याभिव्यक्तः। **कृतकेति।** 'क'ग्रहणं तद्धितोपलक्षणार्थम्। कृतः कप्रत्ययप्रयोगो येषु काव्यवाक्येषु यथा जायाभीरुकाणामिति। ये ह्यरसज्ञा धर्मपत्नीषु प्रेमपरतन्त्रास्तेभ्यो कोऽन्यो जगति कुत्सितः स्यादिति कप्रत्ययोऽवज्ञातिशयद्योतकः। **समासानां चेति।** केवलानामेव व्यञ्जकत्वमावेद्यत इति सम्बन्धः।

(अनु०) (गाथा का अनुवाद वृत्ति के अनुवाद में दिया गया है।)

यहाँ पर 'दूर हटो' यह तिङन्त यह ध्वनित करता है—'तुम तो प्रौढ़ नहीं हो जो लोक के मध्य में इस प्रकार प्रकाशित करते हो। सूना घर संकेत स्थान तो है ही वहीं तुम्हें आ जाना चाहिए।'

'हे बालक ! अर्थात् अप्रौढ बुद्धिवाले अन्यत्र जाओ। स्नान करती हुई मुझको प्रकर्ष के साथ (घूर घूर कर) क्या देख रहे हो ? 'ओ' (अरे) यह सम्बोधन अपमान के सहित है। पत्नियों से डरनेवालों से सम्बन्धित तट ही नहीं होता। यहाँ पर 'जाया से जो डरे हुए हैं उनका यह स्थान यह सम्बन्ध बहुत दूर चला गया' इस सम्बन्ध से प्रच्छन्न कामिनी के द्वारा ईर्ष्या की अधिकता अभिव्यक्त की गई। 'कृतक' में क का ग्रहण तद्धित के उपलक्षण के लिए है। किया गया है 'क' प्रत्यय का प्रयोग जिन काव्यवाक्यों में जैसे 'जायाभीरुकाणाम्' में जो रसज्ञ नहीं हैं और धर्मपत्नियों के प्रेम के अधीन हैं उनसे अधिक कुत्सित कौन होगा ? इस प्रकार क प्रत्यय अवज्ञा की अधिकता का द्योतक है। 'समासों का' अर्थात् केवल (समासों) का व्यञ्जकत्व निवेदित किया जा रहा है।

तारावती—अथवा तिङन्त की व्यञ्जकता का दूसरा उदाहरण—

किसी नायक ने किसी नायिका को मार्ग में घेरा है। नायिका संकेतस्थल का निर्देश करती हुई कह रही है—

'तुम्हारी चेष्टायें तो बालकों जैसी हैं; तुम सामने से हट जाओ। तुम तो बिलकुल निर्लज्ज हो। लोग तुम्हारी चेष्टाओं को देख रहे हैं और तुम्हें लोकनिन्दा का भी भय नहीं लगता। मैं तुम्हारी तरह बेकार और स्वतन्त्र थोड़े ही हूँ। मेरा घर सूना पड़ा है और मुझे उसकी रखवाली करनी है।'

यहाँ पर दूर 'हट जाओ' यह तिङन्त (क्रिया) पद है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि—'तुम प्रौढ नहीं हो जो लोक में इस प्रकार प्रच्छन्न प्रेम को प्रकाशित कर रहे हो। मेरा घर सूना पड़ा है जो कि संकेत स्थान है वहीं आ जाना।'

सम्बन्ध की व्यञ्जकता का उदाहरण

कोई नायिका किसी विवाहित पुरुष से प्रेम करती है और वह नायक भी नायिका को चाहता है। किन्तु अपनी पत्नी के सामने वह उस नायिका से प्रेम करते हुए डरता है। नायिका चाहती है कि वह अपनी पत्नी की उपेक्षा कर और उसे अपमानित कर नायिका से प्रेम करे। इस समय नायिका सरोवर तट पर अकेले में स्नान कर रही है और नायक उसे देख रहा है। नायिका ताने के साथ कह रही है—

'अरे लड़के! (अप्रौढ बुद्धिवाले) कहीं और जाओ। मैं स्नान कर रही हूँ मुझे क्या देख रहे हो? जो लोग अपनी स्त्रियों से डरते हैं उनके लिए यह तट नहीं है।'

आशय यह है कि मैं ऐसा प्रेम पसन्द नहीं करती कि तुम वहाँ सामने तो डर जाओ और यहाँ छिप छिप कर मुझे देखो। यदि प्रेम करना है तो तुम्हें खुलकर प्रेम करना चाहिए। यहाँ पर 'भोः' (अरे) यह सम्बोधन का शब्द अपमानजनक रूप में प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर 'जो अपनी पत्नी से डरे हुए हैं उनका यह तट नहीं है' इसमें 'उनका तट' यह सम्बन्ध सर्वथा असम्भव है। (यदि तुम वहाँ नहीं बोलते तो यहाँ भी बात नहीं कर सकते।) इस प्रकार सम्बन्धषष्ठी से ईर्ष्या की अधिकता अभिव्यक्त होती है।

तद्धित की व्यञ्जकता का उदाहरण

प्राकृत भाषाओं में जहाँ 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है वहाँ तद्धित के विषय में व्यञ्जकता प्रसिद्ध ही है। 'क' प्रत्यय अधिक अनादर के अर्थ में होता है। 'क' का ग्रहण दूसरे तद्धित प्रत्ययों का उपलक्षण है। अर्थात् जिस प्रकार 'क' प्रत्यय व्यञ्जक हो सकता है उसी प्रकार अन्य तद्धित प्रत्यय भी व्यञ्जक हो सकते हैं। 'क' प्रत्यय का उदाहरण है—'जायाभीरुकाणाम्' यहाँ 'भीरु' शब्द से 'क' प्रत्यय किया गया है जो अवज्ञातिशय अर्थ में होता है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है कि जो रसज्ञ नहीं होते और धर्मपत्नी के प्रेम के अधीन होते हैं उनसे निकृष्ट संसार में और कौन हो सकता है? (यहाँ जाया शब्द का व्यङ्ग्यार्थ है कि तुम्हारी पत्नी में न सौन्दर्य है और न आकर्षण उससे सन्तान पैदा करने का उपयोग भले ही हो, सरसता और सहृदयता की आशा तो हो ही नहीं सकती। फिर भी तुम उससे डरते हो यह तुम्हारी हृदयहीनता है जो कि तुम मेरे रूपसौन्दर्य की आकर्षकता की भी उसके डर से

उपेक्षा कर देते हो। यही हीनता, अरसिकता और अज्ञान 'बालक' इस सम्बोधन से व्यक्त होते हैं। भय अनौचित्य की सीमा तक पहुँच गया है, जो बहुत ही बुरा है। अतः तुमसे यह आशा ही नहीं की जा सकती कि मैं तुमसे अपना सम्बन्ध करूँ और बाद में डर कर तुम मेरा साथ नहीं छोड़ जाओगे। ये सब व्यंजनायें कुत्सार्थक प्रत्यय तथा सम्बन्धानौचित्य के कारण निकलती हैं।)

समासवृत्ति की व्यञ्जकता

समास भी वृत्ति के औचित्य के साथ विनियुक्त करने पर व्यंजक होते हैं। यहाँ केवल समासों की व्यंजकता का ही कथन किया गया है। (यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों का निर्णय समास के आधार पर भी होता है। ये वृत्तियाँ वीर रौद्र शृंगार इत्यादि की व्यंजना करती हैं। इस प्रकार केवल समासों की व्यंजकता का पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका, अतः यहाँ पर उनके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।)

(ध्वन्या०)—निपातानां व्यञ्जकत्वं यथा—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुस्सहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपार्धरम्यैः॥

इत्यत्र चशब्दः। यथा वा—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्तिपक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

अत्र तुशब्दः।

निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम्।

(अनु०) निपातों का व्यञ्जकत्व जैसे—

'उस प्रियतमा से सुदुस्सह वियोग एकदम आ पड़ा और नवीन जलधरों के उदय से दिन भी आतपाभाव से रमणीय हो जावेंगे।'

यहाँ पर 'च' (और) शब्द। अथवा जैसे—

'बार बार अङ्गुलि से रोके हुए अधरोष्ठवाले, प्रतिषेध के अक्षरों की विक्लवता के कारण अभिराम, कन्धे की ओर घूमे हुए उस सुन्दर पक्ष्म-युक्त नेत्रोंवाली (शकुन्तला) के मुख को जैसे तैसे ऊपर को उठाया किन्तु चूम तो नहीं पाया।'

यहाँ पर 'तु' (तो) शब्द।

निपातों का प्रसिद्ध भी द्योतकत्व यहाँ पर रस की अपेक्षा से कहा गया है।

(लो०)—च **शब्द** इति जातावेकवचनम्। द्वौ च शब्दावेवमाहतुः—काकतालीयन्यायेन गण्डस्योपरि स्फोट इतिवत्तद्वियोगश्च वर्षासमयश्च सममुपनतौ एतदलं प्राणहरणाय। अत एव रम्यपदेन सुतरामुद्दीपनविभावत्वमुक्तम्।

तुशब्द इति। पश्चात्तापसूचकस्सन् तावन्मात्रपरिचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वनतीति भावः।

प्रसिद्धमपीति। वैयाकरणादिगृहेषु हि प्राक्प्रयोगस्वातन्त्र्यप्रयोगाभावात् षष्ठ्याद्यश्रवणाल्लिङ्गसंख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतका निपाता इत्युद्घोष्यत एवेति भावः।

(अनु०) 'च शब्द' यह। जाति में एकवचन है। दो 'च' शब्द यह कहते हैं—काकतालीय न्याय से फोड़े पर (दूसरा) फोड़ा इसके समान उसका वियोग और वर्षा समय एक साथ आये। यह प्राणहरण के लिए पर्याप्त है। अत एव 'रम्य' शब्द से उद्दीपन विभावत्व तो कह ही दिया गया।

'तु शब्द' यह, भाव यह है कि पश्चात्तापसूचक होते हुए केवल उतने परिचुम्बन की प्राप्ति से ही कृतकृत्यता हो जाती यह ध्वनित करता है।

'प्रसिद्ध भी' यह। भाव यह है वैयाकरणों के घरों में निस्सन्देह पहले प्रयोगस्वातन्त्र्य प्रयोग का अभाव, षष्ठी इत्यादि का आश्रयण और लिंगसंख्या का अभाव इन (कारणों) से वाचक की विलक्षणता से निपात द्योतक हैं यह घोषित किया ही जाता है।

निपात इत्यादि की व्यञ्जकता

तारावती—यहाँ तक उन व्यंजकों का परिचय दिया जा चुका जिनका उल्लेख कारिका में किया गया था। कारिका में 'च' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। अतः उससे निपात इत्यादि दूसरे तत्त्वों का भी उपादान हो जाता है। अब उनकी व्याख्या की जा रही है। निपातों की व्यंजकता का उदाहरण—

विक्रमोर्वशीय में राजा पुरूरवा उर्वशी के साथ गन्धमादन पर्वत पर विहार करने गये हैं। वहाँ गोत्रस्खलन के कारण उर्वशी रुष्ट होकर कुमारवन में चली गई जिसमें किसी भी स्त्री का जाना निषिद्ध था और उसके लिए यह नियम बना हुआ था कि यदि कोई स्त्री नियम का अतिक्रमण करके उस वन में चली जाय तो वह लता बन जाती है। उर्वशी भी लता बन गई। राजा उसके वियोग में विलाप करते हुए घूम रहे हैं वे उसी अवसर पर कह रहे हैं—

'उस प्रियतमा से यह अत्यन्त असह्य वियोग एकदम आ पड़ा और नवीन जलधरों के उदय से धूपरहित हो जाने के कारण दिन अधिक रमणीय हो जाने चाहिए।'

इस पद्य में दो बार 'च' शब्द आया है 'चोपनतः' 'भवितव्यं च' इन दोनों चकारों के लिए एक साथ ही वृत्ति में 'च शब्द' कहकर निर्देश किया गया है। यहाँ पर एकवचन जाति के अर्थ में हुआ है इससे एकवचन से दोनों चकारों का ग्रहण हो जाता है। 'च' यह निपात है। इन दोनों 'च' शब्दों से व्यंजना होती है—जैसा फोड़े पर दूसरा घाव हो जावे उसी प्रकार काकतालीय न्याय से अर्थात् संयोगवश प्रियतमा का वियोग और वर्षाकाल एक साथ आये हैं। इससे मेघों की अत्यन्त उद्दीपकता, उनसे मलिन दिवसों के यापन करने की कठिनता और विरहवेदना की असह्यता का उत्कर्ष ध्वनित होता है। आशय यह है यह संयोग हमारे प्राण लेने के लिए पर्याप्त है। (यदि कुछ व्यवधान से उद्दीपक मेघ आये होते तो उनको सह

लिया गया होता और वे अधिक पीड़ित नहीं करते ।) इसीलिए 'रम्य' शब्द से उद्दीपकता ठीक ठीक बतला दी गई है ।

निपात की व्यंजकता का दूसरा उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल से दिया गया है । राजा का शकुन्तला से एकान्त सम्मिलन हो चुका है । गौतमी के आ जाने से शकुन्तला राजा को छोड़ कर चली गई है तथा उनका सहवास नहीं हो सका है । राजा पश्चात्ताप करते हुए कह रहे हैं—

'शकुन्तला बार बार अपनी अंगुलियों से अपने अधरोष्ठ को छिपाने का प्रयत्न करती थी (जिससे मैं उसका चुम्बन न कर सकूँ । बार बार मना करने के जो शब्द उसके मुख से निकलते थे और जिनके कारण उसकी व्याकुलता अभिव्यक्त हो रही थी उनसे उसका मुख बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता था । चुम्बन को बचाने के लिये उसने अपना मुख कन्धे की ओर घुमा लिया था । उसके नेत्रलोमों से युक्त नेत्र बड़े ही सुन्दर प्रतीत हो रहे थे । मैंने उसके मुख को ऊपर को उठाया किन्तु चुम्बन तो नहीं कर पाया ।'

यहाँ पर 'तो' शब्द पश्चात्ताप का सूचक है और उससे ध्वनित होता है कि यदि और कुछ न सही उतना भर मुझे चुम्बन ही मिल जाता तो मैं कृतकृत्य हो जाता । ('चूम तो नहीं पाया' की व्यञ्जना यह है कि मैंने सभी कुछ प्रयत्न कर लिया किन्तु उसका चुम्बन नहीं ले सका, वस्तुतः उसका चुम्बन सरल नहीं है ।)

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वैयाकरणों के मत में निपातों का कोई अर्थ नहीं होता है । इन लोगों का मत है कि उपसर्ग और निपात किसी अर्थ के वाचक नहीं होते किन्तु द्योतक (व्यञ्जक) होते हैं । उदाहरण के लिये 'अनुभवति' में 'अनु' का कोई अर्थ नहीं है ।' 'भवति' में ही 'अनुभव' इत्यादि सभी अर्थ सन्निहित हैं । 'अनु' का प्रयोग उस सन्निहित अर्थ को अभिव्यक्तमात्र कर देता है । यही निपातों के विषय में भी कहा जा सकता है । वैयाकरण लोग इनके वाचक न होने के कई कारण बतलाते हैं—(१) वाचक शब्दों के प्रयोग का कोई नियम नहीं होता । 'घटम् आनय' 'आनय घटम्' इत्यादि किसी रूप में प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु 'प्र' इत्यादि उपसर्गों और 'च' इत्यादि निपातों का स्थान नियत होता है । उपसर्गों का प्रयोग नियमतः धातुओं के पहले ही होता है । (२) वाचक शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ करता है किन्तु उपसर्ग और निपातों का प्रयोग दूसरे शब्दों में जुड़कर ही होता है । 'प्र' 'अनु' इत्यादि का एकाकी होने पर कोई अर्थ नहीं होता और न इनका प्रयोग ही हो सकता है । (३) वाचक शब्दों के साथ सम्बन्ध इत्यादि में षष्ठी का प्रयोग होता है जैसे—'देवस्य पुत्रः' इत्यादि; किन्तु 'इव' इत्यादि निपातों के साथ सम्बन्ध इत्यादि में षष्ठी इत्यादि का भी प्रयोग नहीं होता । (४) वाचक शब्दों के लिंग संख्या इत्यादि का योग नहीं होता । इन कारणों से उपसर्गों और निपातों में अन्य वाचकों से विलक्षणता होती है । अतः उपसर्ग और निपात वाचक नहीं किन्तु द्योतक ही माने जाते हैं । फिर इनकी द्योतकता का पृथक् प्रतिपादन करने का क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि इनका द्योतकत्व वैयाकरणों में प्रसिद्ध है तथापि यहाँ पर पृथक् उल्लेख रस इत्यादि की दृष्टि से किया गया

है। आशय यह है कि उपसर्ग और निपात सामान्यतया द्योतक तो होते ही हैं वे रस इत्यादि के भी व्यञ्जक होते हैं।

(ध्वन्या०) उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखाङ्किताः॥

इत्यादौ। द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्रपदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोषः। यथा—'प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि समसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन्द्राग्जन्तून्' इत्यादौ। यथा वा 'मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्' इत्यादौ।

(अनु०) उपसर्गों की व्यञ्जकता जैसे—

'शुकों से युक्त कोटरों के मुख से गिरे हुये नीवार वृक्षों के नीचे (पड़े हैं)। कहीं इङ्गुदी के फलों को फोड़नेवाले चिकने उपल दिखलाई ही पड़ रहे हैं, विश्वास के उत्पन्न हो जाने से स्खलनरहित गतिवाले मृग शब्द को सहते हैं और जलों के आधार के मार्ग वल्कल शिखाओं के प्रवाह की रेखाओं से अंकित हैं)'

इत्यादि में। दो तीन उपसर्गों का एक पद में जो प्रयोग वह भी रसाभिव्यक्ति के अनुगुण होने से ही निर्दोष होता है। जैसे—'उत्तरीय की प्रभा के समान अन्धकार के प्रभ्रष्ट होने पर शीघ्र ही वीत आवरणवाले जन्तुओं को देखकर.........' इत्यादि में। अथवा जैसे 'मनुष्य की वृत्ति से ठीक आचरण करनेवाले को........' इत्यादि में।

(लो०)—प्रकर्षेण स्निग्धा इति प्रशब्दः प्रकर्षं द्योतयन्निङ्गुदीफलानां सरसत्वमाचक्षाण आश्रमस्य सौन्दर्यातिशयं ध्वनति। 'तापसस्य फलविषयोऽभिलाषातिरेको ध्वन्यते' इति त्वसत्। अभिज्ञानशाकुन्तले हि राज्ञ इयमुक्तिर्न तापसस्येत्यलम्। द्वित्राणामित्यनेनाधिक्यं निरस्यति। सम्यगुच्चैर्विशेषेणेक्षितत्वे भगवतः कृपातिशयोऽभिव्यक्तः।

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः।
योगीश्वरैरप्यसुबोधमीश त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः स्वतर्कैः॥

सम्यग्भूतमुपांशुकृत्वा आसमन्ताच्चरन्तमित्यनेन लोकानुजिघृक्षातिशयस्तत्तदाचरतः परमेश्वरस्य ध्वनितः।

(अनु०) 'प्रकर्ष के साथ स्निग्ध' इसमें 'प्र' शब्द प्रकर्ष को द्योतित करते हुये इङ्गुदी फलों की सरसता बतलाते हुये आश्रम के सौन्दर्य के आधिक्य को ध्वनित करता है। 'तापस की फलविषयक अभिलाषातिशयता को प्रकट करता है' यह कहना तो ठीक नहीं। अभिज्ञान-शाकुन्तल में यह राजा की उक्ति है तापस की नहीं बस इतना पर्याप्त है। 'दो तीन' कहने से अधिक का निराकरण करते हैं। ठीक रूप में अधिकता से विशेष रूप में देखने में भगवान् की कृपा की अधिकता अभिव्यक्त होती है।

'हे ईश ! अपनी सामान्य बुद्धि के आधार पर अनुमान करनेवाले मूर्ख लोग मनुष्य

वृत्ति में आचरण करनेवाले, योगीश्वरों के द्वारा भी सरलतापूर्वक न समझे जाने योग्य आपको अपने तर्कों से जानना चाहते हैं।'

ठीक रूप में छिपकर 'आ' अर्थात् चारों ओर से चरण (विचरण) करनेवाले इससे लोक के प्रति विभिन्न कार्यों को करनेवाले भगवान् के अनुग्रह की अतिशयता ध्वनित होती है।

उपसर्गों की व्यञ्जकता

तारावती—उपसर्गों की द्योतकता का उदाहरण—जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में मृगयाविहार के प्रसंग में राजा तपोवन के निकट जाकर अपने साथी को बतला रहे हैं कि यह प्रदेश बिना कहे तपोवन का प्रदेश ज्ञात हो रहा है।

वृक्षों के नीचे नीवार धान्यकण बिखरे पड़े हैं जिनको वृक्षों के कोटरों में बैठे हुये तोतों ने कुतर-कुतर कर खा डाला है। (मुनि लोग अपने जीवननिर्वाह के लिये नीवार बो लेते हैं। अतः नीवार-कण आश्रम के निकट ही सम्भव हैं।) कहीं-कहीं इङ्गुदी फल पीसनेवाले बहुत अधिक चिकने पत्थर दिखलाई पड़ रहे हैं। (मुनि लोग इङ्गुदी फलों को पीस पीस कर अपने तेल का काम चलाया करते हैं। वे इङ्गुदी फलों को तोड़ कर उनको पत्थर से पीस लेते हैं अतः इस प्रकार के चिकने पत्थर आश्रम के निकट ही मिल सकते हैं।) रथ का घर्घर रव हो रहा है किन्तु हिरणों को विश्वास हो गया है कि आश्रम के निकट उन्हें कोई मारेगा नहीं। अतः वे शब्द की परवाह नहीं करते तथा किसी भय के होने पर भी अपनी चाल में अन्तर नहीं भरने देते (भागते नहीं)। कहीं-कहीं जलाशय बने हैं, उन जलाशयों को जानेवाले मार्गों पर वल्कल वस्त्रों के छोर से निकली हुई जलधारा को रेखायें बनी हैं (जिससे ज्ञात होता है कि जलाशयों में स्नान कर मुनि लोग इन मार्गों से निकलते होंगे और उनके वल्कल-छोरों से जल बहता जाता होगा जिसकी रेखायें मार्गों में बन गई है। इन बातों से ज्ञात होता है कि हम आश्रम के निकट हैं।

यहाँ पर 'प्रस्निग्ध' शब्द में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है प्रकर्ष, इससे व्यञ्जना होती है कि यहाँ के इङ्गुदी फल बहुत ही चिकने हैं और उनमें तेल बहुत अधिक निकलता है जिससे उनके पीसनेवाले पत्थर डूब गये हैं। अतः यह स्थान बहुत ही सुन्दर है। कुछ लोगों ने यहाँ पर यह व्याख्या की है कि—'तपस्वी लोग विशेष फल की अभिलाषा से खूब तेल निकाल निकाल कर अपने बालों को चिकना किया करते हैं यह व्यञ्जना होती है।' किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं; क्योंकि अभिज्ञान शाकुन्तल में यह कथन राजा का है तपस्वी का नहीं। (आशय यह है कि 'प्र उपसर्ग आश्रम के प्रति अनुराग की अधिकता को व्यक्त करते हुये शान्तरस में पर्यवसित होता है।)

उपसर्ग इत्यादि की अनेकता की व्यञ्जना

कहीं कहीं एक ही पद में दो तीन उपसर्गों का प्रयोग देखा जाता है। यह प्रयोग भी दोषरहित तभी माना जा सकता है जब वह रसाभिव्यक्ति के अनुकूल होता है। जैसे सूर्यशतक में मयूर कवि ने सूर्य की प्रशंसा करते हुये लिखा है—'जब सूर्य ने देखा कि जो अन्धकार उत्तरीयवस्त्र के समान समस्त जन्तुओं को ढके हुये था वह एकदम हट गया और समस्त जन्तु आवरणरहित हो गये (तब उसने किरणों को तन्तुओं के रूप में फैलाकर उन सबको मानो आवरण दे दिया)।'

यहाँ पर 'देखकर' के लिये 'समुद्वीक्ष्य' का प्रयोग किया गया है। इसमें 'सम्' 'उत्' और 'वि' ये तीन उपसर्ग हैं; 'सम्' का अर्थ है भलीभाँति, 'उत्' का अर्थ है उच्चता के साथ और 'वि' का अर्थ है विशेषरूप से। इस प्रकार सूर्य के भलीभाँति, उच्चता-पूर्वक और विशेष रूप से प्राणियों को देखने में भगवान् सूर्य की कृपा की अधिकता व्यक्त होती है कि भगवान् सूर्य प्राणियों से इतना प्रेम करते हैं कि उन्होंने प्राणियों को बहुत ही ध्यान से देखा है। दूसरा उदाहरण—

'अपनी सामान्य बुद्धि से ही अनुमान करनेवाले मूर्ख लोग मनुष्य वृत्ति से विचरण करनेवाले योगीश्वरों के द्वारा भी भलीभाँति न जानने योग्य तुझ ईश को अपने तर्कों से जानना चाहते हैं।'

यहाँ पर विचरण के लिये 'समुपाचरन्तम्' यह प्रयोग किया गया है। 'सम्' का अर्थ है भलीभाँति, 'उप' का अर्थ है 'गुप्त रूप में' और 'आ' का अर्थ है चारों ओर। इससे ध्वनित होता है कि भगवान् व्यामोहरहित होकर लोककल्याण के लिये सर्वत्र विचरण करते हैं। वे जिस रूपमें विचरण करते हैं वह उनका रूप गुप्त अतः दुर्ज्ञेय होता है। इससे विभिन्न कार्यों को करनेवाले भगवान् की लोकानुग्रहेच्छा की अधिकता ध्वनित होती है।

(ध्वन्या०)—निपातानामपि तथैव। यथा 'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादौ। यथा वा—

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्ववपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति च
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते।
हा धिक्कष्टमहो क्व यामि शरणं तेषां जनानां कृते
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता॥

इत्यादौ।

(अनु०) निपातों का भी उसी प्रकार (व्यञ्जकत्व होता है)। जैसे 'अहो आश्चर्य है कि तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो।' इत्यादि में; अथवा जैसे—

'किसी ऊर्जित अर्थात् महत्त्वशाली व्यक्ति को देखने पर जो जीवित होते हैं, जो अपने शरीर में फूले नहीं समाते, जो प्रेम के साथ नाचने लगते हैं जिनके आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं जिनका शरीर रोमांचित होने लगता है—हाय, धिक्कार है कष्ट की बात है आश्चर्य की बात है कि सज्जनों के विरोधियों का पोषण करनेवाले दुष्ट दैव के द्वारा सर्वथा प्रलय को प्राप्त किये हुये उन (लोगों) के लिये मैं किसकी शरण जाऊँ ?'

इत्यादि में।

(लो०)—**तथैवेति।** रसव्यञ्जकत्वेन द्वित्राणामपि प्रयोगो निर्दोष इत्यर्थः। श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हा धिगिति च ध्वन्यते।

(अनु०) 'उसी प्रकार' यह। अर्थात् रस की व्यञ्जकता में दो तीन का भी प्रयोग निर्दोष होता है। 'अहो बत' यह और 'हा धिक्' यह श्लाघातिशय और निर्वेदातिशय को ध्वनित करता है।

निपातों की व्यञ्जकता

तारावती—जो बात उपसर्गों के विषय में कही गई है वह निपातों के विषय में भी लागू होती है। अर्थात् रसव्यञ्जक के रूप में यदि दो तीन उपसर्गों का प्रयोग किया जावे तो उसमें दोष नहीं होता। जैसे 'अहो बत ! तुम स्पृहणीय पराक्रमवाले हो।' यहाँ पर 'अहो' और 'बत' ये दो निपात प्रयुक्त किये गये हैं जिनसे प्रशंसा की अधिकता ध्वनित होती है। दूसरा उदाहरण—

'कुछ लोग इतने सज्जन होते हैं कि जब वे किसी ऊर्जस्वी गुणवान् व्यक्ति को देखते हैं तो जी उठते हैं, अपने अंगों में नहीं समाते, आनन्दित हो जाते हैं, उनके आनन्दाश्रु एकदम प्रवाहित होने लगते हैं और वे रोमाञ्चित हो जाते हैं; किन्तु धिक्कार है, अत्यन्त खेद की बात है कि तुष्ट दैव ऐसे लोगों का बिलकुल नाश कर देता है और सज्जनों से द्रोह करनेवालों को पुष्ट करता है। जब देव ही सज्जनों का घातक है तब हम उनके त्राण के लिये अतिरिक्त किस की शरण जावें ?'

यहाँ पर 'हा' धिक्' ये दो निपात एक साथ आये हैं; इनसे विधि के प्रति असूया और लोक की विपरीत प्रवृत्ति की निन्दा की व्यञ्जना से निर्वेद की अधिकता ध्वनित होती है।

(ध्वन्या०)—**पदपौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित्प्रयुज्यमानं शोभामावहति। यथा—**

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति॥

इत्यादौ।

(अनु०) पदपौनरुक्त्य तो कभी व्यंजकत्व की अपेक्षा से ही प्रयुक्त किया हुआ शोभा को धारण करता है। जैसे—

'जो कि वञ्चना में अपने मन को लगाये हुये कार्य की ओर उन्मुख दुष्ट लोग बहुत सी खुशामद की बातों से भरी हुई बनावटी बातें किया करते हैं उसको सज्जन लोग नहीं जानते ऐसा नहीं है अपितु जानते हैं किन्तु इसके प्रणय को व्यर्थ करने में समर्थ नहीं होते।'

इत्यादि में।

(लो०)—प्रसङ्गात्पौनरुक्त्यान्तरमपि व्यञ्जकमित्याह—**पदपौनरुक्त्यमिति**। पदग्रहणं वाक्यादेरपि यथासम्भवमुपलक्षणम्। **विदन्तीति**। त एव हि सर्वं विदन्ति सुतरामिति ध्वन्यते। वाक्यपौनरुक्त्यं यथा—'पश्य द्वीपादन्यस्मादपि' इति वचनान्तरं 'कः सन्देहः द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यनेनेप्सितप्राप्तिरविघ्नतैव ध्वन्यते 'किं किम् ? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' इत्यनेनामर्षातिशयः। 'सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी' इत्युन्मादातिशयः।

(अनु०) प्रसंगवश दूसरे व्यंजक पौनरुक्त्य को कहते हैं—'पदपौनरुक्त्य' यह। पदग्रहण यथासम्भव वाक्य इत्यादि का भी उपलक्षण है। 'जानते हैं'। 'वे ही सब भली भाँति जानते हैं' यह ध्वनित होता है। वाक्यपौनरुक्त्य जैसे—'देखो दूसरे द्वीप से भी' इन वचनों के बाद 'क्या

सन्देह है दूसरे द्वीप से भी' इससे इष्ट की विघ्नरहित ही प्राप्ति ध्वनित होती है। 'क्या मेरे जीवित रहते धार्तराष्ट्र स्वस्थ हों' इससे अमर्ष की अधिकता। 'समस्त पर्वतों के स्वामी! क्या तुमने सर्वाङ्गसुन्दरी को देखा है?' इससे उन्माद की अधिकता।

पदपौनरुक्त्य की व्यञ्जकता

तारावती—यहाँ पर यह बतलाया गया है कि सुप् तिङ् इत्यादि तो व्यंजक होते ही हैं कभी कभी एक साथ दो दो तीन उपसर्ग निपात इत्यादि आजाते हैं; उनका दो तीन बार प्रयोग भी व्यंजक हो सकता है। केवल कारिका में आये हुये तत्त्व ही दो बार कहे जाने पर व्यंजक नहीं होते अपितु शब्द इत्यादि भी व्यंजक हो जाते हैं। पुनरुक्ति भी व्यंजक हो सकती है इस प्रसंग से दूसरी पुनरुक्तियों की व्यंजकता का भी निर्देश किया जा रहा है कि यदि पदपौनरुक्त्य का व्यंजकत्व की दृष्टि से प्रयोग किया गया हो तभी वह शोभा को धारण करती है। (आशय यह है कि वैसे पुनरुक्ति तो दोष ही होती है, किन्तु यदि व्यंजकत्व की दृष्टि से उसका प्रयोग किया जावे तो वह रसापकर्ष के स्थान पर रसोत्कर्ष ही करती है। यही बात साहित्यदर्पण में बतलाये हुये विहित के अनुवाद इत्यादि स्थलों के विषय में कही जा सकती है।) पद के पौनरुक्त्य से व्यंजना का उदाहरण—

'दुष्ट लोग वञ्चना को अपने मन में रक्खे हुये और स्वार्थ साधन को ही अपना लक्ष्य समझते हुये जो कि चाटुकारिता से भरी हुई बहुत सी बनावटी बातें किया करते हैं उनको सज्जन लोग जान नहीं जाते ऐसा नहीं है, वे जान जाते हैं; किन्तु फिर भी (अपनी सज्जनता के कारण) उनमें इतनी शक्ति ही नहीं होती कि वे दुष्टों की अभ्यर्थना को व्यर्थ कर सकें।'

यहाँ पर 'नहीं जान जाते ऐसा नहीं' इस कथन से ही दृढता आ जाती है क्योंकि दो बार 'न' का प्रयोग प्रकृत अर्थ को दृढ कर देता है। तथापि पुनः 'जानते हैं' यह कह दिया गया है। इस पुनरुक्ति से व्यंजना निकलती है कि और कोई जाने या न जाने सज्जनों में इतनी निपुणता होती है कि ठीक ठीक तो वे ही जान पाते हैं।

वाक्य इत्यादि के पौनरुक्त्य की व्यञ्जकता

यहाँ पर 'पद-पौनरुक्त्य' यह उपलक्षणपरक है, इससे वाक्य इत्यादि के पौनरुक्त्य में भी व्यंजकता सिद्ध हो जाती है। वाक्य-पौनरुक्त्य में व्यंजकता का उदाहरण—(१) रत्नावली में सूत्रधार कहता है—'दूसरे द्वीप से भी, समुद्र के मध्य से भी, दिशा के छोर से भी अभिमत को लाकर अभिमुख विधाता उसे सङ्घटित कर देता है।' सूत्रधार के इस कथन को लेकर 'क्या सन्देह है? दूसरे द्वीप से भी' इत्यादि वाक्य को कहते हुये पात्रप्रवेश होता है। वाक्य के इस पौनरुक्त्य से ध्वनित होता है कि अभीष्ट की प्राप्ति विना विघ्न के ही हो जावेगी। (रत्नावली का प्रवहण भंग, पुनः व्यापारियों के हाथ में पड़ना, सागरिका के रूप में उदयन के अन्तःपुर में निवास इत्यादि ऐसी घटनायें थीं जिनको अनुकूल विधाता ने स्वयं सङ्घटित कर दिया और रत्नावली के रूप में अभीष्ट प्राप्ति होकर ही रही।) (२) वेणीसंहार में भीमसेन बार-बार यह वाक्य बोलते हैं कि 'मेरे जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हों।' इस वाक्य से भीमसेन के क्रोध की अधिकता ध्वनित होती है। (३) विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के लतारूप में परिणत हो जाने पर राजा पर्वत से पूछते हैं—'हे समस्त पर्वतों के स्वामी!

क्या तुमने इस वन के अन्दर मेरे द्वारा वियुक्त सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी को देखा है ?' 'देखा' की प्रतिध्वनि सुनकर फिर वही कहते हैं। यहाँ वाक्य का पुनः कहना राजा के उन्माद की अधिकता को ध्वनित करता है।

(ध्वन्या०) कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंङ्घ्या॥
[समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुल्लंघ्याः॥ इति छाया]

अत्र ह्यचिराद्भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते। अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रसवान्।

यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित्प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते। यथा—

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावगाहं दिवः
सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणामेताः घनाभाः घटाः।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः॥

अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः।

सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते श्लोके। अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादिशब्दप्रयोगो न कृतः।

अनया दिशा सहृदयैरन्योऽपि व्यञ्जकविशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः। एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्।

(अनु०) काल की व्यंजकता जैसे—

'सम और विषम में विशेषतारहित, चारों ओर मन्द मन्द विचरणवाले मार्ग क्षणभर में मनोरथों द्वारा भी अलंघनीय हो जावेंगे।'

यहाँ पर निस्सन्देह 'शीघ्र ही मार्ग हो जावेंगे' यहाँ पर 'हो जावेंगे' इस पद में कालविशेष का अभिधान करनेवाला रसपरिपोष हेतु प्रत्यय प्रकाशित होता है। निस्सन्देह यह गाथा का अर्थ प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार के विभाव के रूप में विभावित किये जाने पर रसवाला होता है।'

जिस प्रकार यहाँ पर प्रत्यय का अंश व्यंजक है उसी प्रकार कहीं प्रकृति का अंश भी देखा जाता है। जैसे—

'झुकी दीवालोंवाला वह घर और आकाश में अवकाश पानेवाला यह (विशाल) भवन। वह बुड्ढी गाय और ये बादलों के समान हाथियों की घटायें। वह तुच्छ मूसल का शब्द और यह स्त्रियों का मधुर संगीत। आश्चर्य है कि यह ब्राह्मण दिनों में ही इतनी बड़ी भूमिका पर पहुँचा दिया गया।'

यहाँ श्लोक में 'दिनों में ही' इस पद में प्रकृति का अंश भी द्योतक है।

और सर्वनामों का व्यंजकत्व जैसे अभी उदाहरण दिये हुए श्लोक में। यहाँ पर सर्वनामों के व्यंजकत्व को ही हृदय में रखकर कवि ने 'क्व' इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया।

इस दिशा से सहृदयों द्वारा और भी व्यंजक विशेष स्वयं समझ लिए जाने चाहिए। यह सब पद वाक्य और रचना द्वारा द्योतन की उक्ति से ही गतार्थ भी वैचित्र्य के साथ व्युत्पत्ति के लिए पुनः कहा गया।

(लो०)—**कालस्येति**। तिङन्तपदानुप्रविष्टस्यात्यर्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्यमिति भावः।

रसपरिपोषेति। उत्प्रेक्ष्यमाणो वर्षासमयः कम्पकारी किमुत वर्तमान इति ध्वन्यते। अंशांशिकप्रसङ्गादेवाह—**यथात्रेति**। दिवसार्थो ह्यत्रात्यन्तासम्भाव्यमानतामस्यार्थस्य ध्वनति।

सर्वनाम्नां चेति। प्रकृत्यंशस्य चेत्यर्थः। तेन प्रकृत्यंशेन संभूय सर्वनामव्यञ्जकं दृश्यत इत्युक्तं भवतीति न पौनरुक्त्यम्। तथाहि—तदिति पदं नतभित्तीत्येतत्प्रकृत्यंशसहायं समस्तामङ्गलनिधानभूतां मूषकाद्याकीर्णतां ध्वनति। तदिति हि केवलमुच्यमाने समुत्कर्षातिशयोऽपि सम्भाव्येत। न च नतभित्तिशब्देनाप्येते दौर्भाग्यायतनत्वसूचका विशेषा उक्ताः। एवं सा धेनुरित्यादावपि योज्यम्। एवंविधे च विषये स्मरणाद्याकारद्योतकता तच्छब्दस्य। न तु यच्छब्दसम्बद्धतेत्युक्तं प्राक्। अत एवात्र तदिदंशब्दादिना स्मृत्यनुभवयोरत्यन्तविरुद्धविषयतासूचनेनाश्चर्यविभावता योजिता। तदिदंशब्दाद्यभावे तु सर्वमसंगतं स्यादिति तदिदमंशयोरेव प्राणत्वं योज्यम्। एतच्च द्विशः सामस्त्यं त्रिशः सामस्त्यमिति व्यञ्जकमित्युपलक्षणपरम्। तेन लोष्टप्रस्तारन्यायेनानन्तवैचित्र्यमुक्तम्। यद्वक्ष्यत्यन्येऽपीति।

अतिविक्षिप्ततया शिष्यबुद्धिसमाधानं न भवेदित्यभिप्रायेण संक्षिपति—**एतच्चेति**। वितत्याभिधानेऽपि प्रयोजनं स्मारयति—**वैचित्र्येणेति**।

(अनु०) 'काल का' यह। भाव यह है कि तिङन्त पद में अनुप्रविष्ट, कारक काल संख्या वाच्य रूप अर्थकलाप के मध्य में भी अन्वय-व्यतिरेक से सूक्ष्म दृष्टि से भाग में रहनेवाले व्यंजकत्व का भी विचार करना चाहिए।

'रसपरिपोष' यह। उत्प्रेक्षा किया हुआ वर्षा समय कम्पन पैदा करनेवाला है वर्तमान का तो कहना ही क्या? यह ध्वनित किया जाता है।

अंशांशी के प्रसङ्ग से ही कहते हैं—'जैसे यहाँ'। दिवस का अर्थ यहाँ पर इस अर्थ की अत्यन्त असम्भाव्यमानता को बतलाता है।

'सर्वनामों का' यह। अर्थात् प्रकृति के अंश का भी। इससे प्रकृति अंश से मिलकर सर्वनाम व्यंजक देखा जाता है यह बात कही हुई हो जाती है अतः पुनरुक्ति दोष नहीं आता। वह इस प्रकार—'तत्' यह शब्द 'नतभित्ति' इस प्रकृति-अंश की सहायता के साथ समस्त

अमंगल के निधानरूप मूषक इत्यादि की आकीर्णता को ध्वनित करता है। केवल 'तत्' यह कहे जाने पर उत्कर्ष की अधिकता भी सम्भावित की जा सकती। 'नतभित्ति' शब्द से ही दौर्भाग्य की अधिकता की सूचक ये विशेषतायें नहीं कही गई होतीं। इसी प्रकार 'वह गाय' इत्यादि में भी योजना कर ली जानी चाहिए। और इस प्रकार के विषय में 'तत्' शब्द की स्मरण के आकार की द्योतकता होती है। यत्-शब्दसम्बद्धता नहीं होती यह पहले कहा जा चुका है। अत एव यहाँ पर 'तत्' 'इदम्' शब्द इत्यादि से स्मृति और अनुभव की अत्यन्त विरुद्धविषयता की सूचना के द्वारा आश्चर्य की विभावना योजित की गई है। 'तत्' और 'इदम्' इत्यादि शब्दों के अभाव में तो सब असङ्गत हो जाता, अतः 'तत्' और 'इदम्' शब्दों में ही प्राणत्व को योजना करनी चाहिए। और यह दो दो से समस्तता और तीन तीन से समस्तता यह उपलक्षणपरक है। इससे लोष्टप्रस्तारन्याय से अनन्त वैचित्र्य कहा गया है। जैसा कि कहेंगे कि 'अन्य भी' इत्यादि।

अत्यन्त विक्षिप्त (बिखरा हुआ) होने के कारण शिष्य-बुद्धि का समाधान नहीं होगा इस अभिप्राय से संक्षेप करते हैं—'और यह।' फैलाकर कहने में भी प्रयोजन का स्मरण कराते हैं—'वैचित्र्य से' यह।

काल की व्यञ्जकता

तारावती—तिङन्त के अर्थसमूह में कारक, काल, संख्या, उपग्रह (कर्तृवाच्यता कर्मवाच्यता) ये सब आ जाते हैं, तिङन्त पद के अन्दर इन सबका अनुप्रवेश हो जाता है। इनमें प्रत्येकपर यदि अन्वय और व्यतिरेक की दृष्टि से सूक्ष्मतया विचार किया जावे अर्थात् यह देखा जावे कि कौन अर्थ किस शब्द के होने पर व्यक्त होता है और उसके हटाने पर हट जाता है तो भागों में रहनेवाला व्यंजकत्व भी अनुभवगोचर हो जावेगा। उदाहरण के लिये काल की व्यंजकता को लीजिये। कोई नायक परदेश को जा रहा है, वर्षाकाल सन्निकट है। नायिका उससे कह रही है—

'शीघ्र ही वर्षाकाल आ जावेगा समान तथा ऊँचे नीचे सभी प्रदेश पानी भर जाने से एक जैसे हो जावेंगे। चारों ओर पिच्छलता आ जाने से इनमें सञ्चरण बहुत ही मन्द हो जावेगा। शीघ्र ही मार्ग मनोरथों के लिए भी दुर्लङ्घ्य हो जावेंगे।'

आशय यह है कि हे प्रियतम! आप तो परदेश जा रहे हैं, एक तो वर्षा का उद्दीपन काल आयेगा, दूसरे हमारे लिए सन्देश भेजना भी कठिन हो जावेगा। अतः मेरी प्राणरक्षा के लिए तुम्हें ऐसे समय में परदेश नहीं जाना चाहिए। यहाँ पर 'शीघ्र ही हो जावेगा' इस भविष्यत्काल का प्रयोग किया गया है यहाँ पर भविष्यत् में स्य प्रत्यय भविष्यत्काल का वाचक है। जिससे व्यंजना निकलती है 'जब मैं वर्षाकाल की कल्पना करती हूँ तब भी मेरा शरीर काँप उठता है फिर जब वर्षाकाल वर्तमान होगा तब मेरी क्या दशा होगी यह तो कहना ही कठिन है।' यह व्यंजना यहाँ पर रस की परम परिपोषक हो जाती है। जब हम इस गाथा के अर्थ को विप्रलम्भ शृङ्गार के विभाव के रूप में समझते हैं तब यह रसमय हो जाता है। इस प्रकार तिङन्त इत्यादि के अवान्तर भाग भी व्यंजक होते हैं।

प्रकृत्यंश की व्यञ्जकता

यहाँ प्रकरण अंशांशी की व्यंजकता का चल रहा है। इसी प्रसङ्ग में यह भी समझ लिया जाना चाहिए कि जिस प्रकार प्रत्यय रूप अंश व्यंजक होता है उसी प्रकार प्रकृतिरूप अंश भी व्यंजक हो सकता है अर्थात् पूरा पद तो व्यंजक होता ही है दोनों पदांश (प्रकृति और प्रत्यय) व्यंजक होते हैं। उदाहरण—

'आश्चर्य है कि यह ब्राह्मण (सुदामा कुछ) दिनों में ही इतना अधिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया गया। वह झुकी दीवारोंवाला घर और ये आकाश चूमनेवाले विशाल भवन, वह बुड्ढी गाय और ये हाथियों की घनघोर घटायें, वह मूसल का तुच्छ शब्द और यह स्त्रियों का ललित सङ्गीत। आश्चर्य है कि कितना बड़ा अन्तर हो गया है।'

यहाँ पर 'दिवसैः' शब्द की प्रकृति है 'दिवस'। इससे व्यंजना होती है कि इस ब्राह्मण को इतनी अधिक उन्नति करने में न वर्ष लगे न महीने। कुछ ही दिनों में यह सब हो गया। एक तो इतना बड़ा परिवर्तन ही आश्चर्यजनक है, दूसरी बात यह है कि यह सब दिनों में ही सम्पन्न हो जावे, वर्षों की तो बात ही दूर रही महीने भी न लगे यह तो सर्वथा अत्यन्त असम्भव है। इस प्रकार 'दिवस' इस प्रकृति (शब्द) का अर्थ वस्तु की अत्यन्त असम्भवनीयता को ध्वनित करता है।

सर्वनाम की व्यञ्जकता

सामान्य प्रकृतियों में तो व्यंजकता होती है, 'सर्वनाम' रूप प्रकृति में व्यंजकता विशेष रूप से होती है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब प्रकृतिरूप अंश में व्यंजकता बतला दी तब सर्वनाम में पृथग्भूत व्यंजकता बतलाने में पौनरुक्त्य दोष है। इसका उत्तर यह है कि सर्वनाम सामान्य प्रकृति से मिलकर (भी) व्यंजक होता है। (सामान्य सर्वनाम भी व्यंजक हो सकता है इसके उदाहरण अन्यत्र दिये गये हैं।) इसीलिये पौनरुक्त्य नहीं होता। उदाहरण के लिये प्रस्तुत 'तद्गेहं नतभित्ति' इत्यादि पद्य को ही लीजिये— 'वह घर' यहाँ 'वह' इस सर्वनाम से घर की जीर्ण-शीर्णता और बहुत ही निकृष्टता व्यक्त होती है। किन्तु केवल 'वह' की व्यंजना उत्कृष्टतापरक भी हो सकती है। इसीलिये 'नतभित्ति' (झुकी हुई दीवालोंवाला) इस शब्द का प्रयोग किया गया। अब इस 'नतभित्ति' शब्द के सहकार में 'तत्' की व्यंजना से दौर्भाग्यातिशय का ख्यापन हो जाता है। यदि केवल 'नतभित्ति' शब्द का प्रयोग किया गया होता 'तत्' यह सर्वनाम न होता तो उस घर के समस्त दौर्भाग्यों का आयतन होने की सूचना नहीं मिलती। इसी प्रकार 'वह गाय' 'मूसल की वह क्षुद्र ध्वनि' इत्यादि में भी समझा जाना चाहिये। 'यत्' और 'तत्' शब्द का नित्य सम्बन्ध हुआ करता है किन्तु 'ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती' में जैसा बतलाया जा चुका है ऐसे अवसरों पर 'तत्' शब्द को यत् शब्द की अपेक्षा नहीं होती अपितु 'तत्' शब्द स्मरण के आकार का द्योतक होता है। 'वह घर' 'वह गाय' 'वह क्षुद्र मूसलध्वनि' से सुदामा के अतीत दौर्भाग्य की अधिकता व्यक्त की गई और 'इदम्' शब्द अनुभव का वाचक है। 'यह

गगनचुम्बी भवन' 'यह हाथियों की घनघोर घटायें' 'यह रमणियों का कलमधुर संगीत' ये अनुभव गोचर हैं। स्मृति और अनुभव में अत्यन्त विरुद्ध विषयता को सूचित किया जा रहा है जिससे आश्चर्य के विभाव की योजना की गई है। यदि 'तत्' और 'इदम्' शब्द न होते तो सभी कुछ असंगत हो जाता। अतः यहाँ पर काव्य सौन्दर्य का प्राण यही 'तत्' और 'इदम्' अंश ही है। प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना इसी प्रकार करनी चाहिये। यहाँ पर प्रकृतियों और सर्वनामों को मिलाकर जो व्यंजकता दिखलाई गई है वह एक उपलक्षणपरक शब्द है जिससे निष्कर्ष निकलता है कि व्यंजकत्व में परिपूर्णता दो दो करके भी आ सकती है तीन तीन करके भी आ सकती है। यह तो सिद्ध ही है कि यहाँ पर कवि ने सर्वनामों का प्रयोग व्यंजक के रूप में किया है। यदि कवि का लक्ष्य सर्वनामों के द्वारा व्यंजना करना न होता तो कवि सर्वनामों का प्रयोग न कर वैषम्य दिखलाने के लिये—'कहाँ तो झुकी दीवालों वाला घर और कहाँ विशाल भवन' इस प्रकार 'कहाँ तो' इन शब्दों का प्रयोग करता। इनका प्रयोग न कर सर्वनामों का प्रयोग किया गया है इससे यही सिद्ध होता है कि कवि सर्वनाम का प्रयोग व्यंजक के रूप में कर रहा है और दो दो शब्द मिलकर पूर्ण व्यंजक बनते हैं। यदि इस प्रकार दो दो तीन तीन को मिलाकर व्यंजक माना जावे और एक दूसरे से उनके सांकर्य की विवेचना की जावे तो लोष्टप्रस्तार के द्वारा व्यंजकों की संख्या अनन्त हो जावेगी और उनकी विशेषताओं की भी कोई सीमा न रहेगी। अतः यहाँ मार्गमात्र दिखलाया गया है। समस्त व्यंजकों का उल्लेख सर्वथा असम्भव है। सहृदयों को चाहिये कि वे इसी प्रकार अन्य व्यंजकों की स्वयं कल्पना कर लें। यहाँ पर यह विषय बहुत ही बिखर गया है। अतः सम्भव है कि शिष्यों को कुछ व्यामोह हो जावे और वे ठीक रूप में उसको हृदयंगम न कर सकें इसीलिये अन्त में संक्षेप में बतला दिया गया है कि यह सब पद वाक्य और रचना के द्योतन के कथन से ही गतार्थ तथा अपनी विचित्रताओं के साथ ठीक रूप में समझ में आ जावे इसलिये पुनः कथन कर दिया गया। विचित्रता को समझाने के लिये ही पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया। (आशय यह है कि पिछली कारिकाओं में पद इत्यादि की व्यंजकता बतलाई जा चुकी थी। पद के अन्दर ही उसके विभिन्न अवयव सुप् तिङ् इत्यादि भी आ जाते हैं। किन्तु इतने से बात स्पष्ट नहीं होती थी अतः स्पष्ट करने के मन्तव्य से 'सुप्तिङ्' इत्यादि प्रस्तुत कारिका लिखी गई है।)

(ध्वन्या०) ननु चार्थसामर्थ्याक्षेप्या रसादय इत्युक्तम्, तथा च सुबादीनां व्यञ्जकत्ववैचित्र्यकथनमनन्वितमेव। उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकत्वोक्त्यवसरे। किञ्चार्थविशेषाक्षेप्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद्यथाप्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिज्ञानं विभज्योपयुज्यत एव। शब्दविशेषाणां चान्यत्र च चारुत्वं यद्विभागेनोपदर्शितं तदपि तेषां व्यञ्जकत्वेनावस्थितमित्यवगन्तव्यम्।

यत्रापि तत्सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठवं तेषां प्रवाहपतितानां तदेवाभ्यासादपोद्धृतानामप्यवभासत इत्यवसातव्यम्।

कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात्? अन्य एवासौ सहृदयसंवेद्य इति चेत् किमिदं सहृदयत्वं नाम? किं रसभावानपेक्षकाव्या-

श्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम् ? उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम् ? पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविधसहृदयव्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्वनियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्थापनसम्भवात्। द्वितीयस्मिस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्। वाचकत्वाश्रयाणान्तु प्रसाद एवार्थापेक्षायां तेषां विशेषः। अर्थानपेक्षायां त्वनुप्रासादिरेव।

(अनु०) (प्रश्न) यह कहा गया है कि रस इत्यादि अर्थसामर्थ्य से आक्षेप करने योग्य होते हैं। अतः सुप् इत्यादि का व्यञ्जकत्व वैचित्र्यकथन-अनुचित ही है। (उत्तर) इस (ग्रन्थ) में (ही) पदों के व्यञ्जकत्व के कथन के अवसर पर कहा गया है। (इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है।) दूसरी बात यह है कि रस इत्यादि के अर्थविशेष के द्वारा आक्षेप करने योग्य होने पर भी उन अर्थविशेषों के व्यञ्जक शब्दों के बिना न हो सकने के कारण जैसा दिखलाया गया है वैसे व्यञ्जकस्वरूप का परिज्ञान विभक्त करके उपयुक्त हो ही जाता है। और जो शब्दविशेषों का चारुत्व विभक्त करके अन्यत्र दिखलाया गया है वह भी उनके व्यञ्जकत्व से ही अवस्थित होता है—यह समझना चाहिये।

जहाँ पर वह इस समय प्रतिभासित नहीं होता वहाँ पर भी दूसरी व्यंजक रचना में जो सौष्ठव देखा गया प्रवाहपतित अपोद्धृत उन (शब्दों) का अभ्यासवश वही अवभासित होता है यह समझना चाहिये।

अन्यथा वाचकत्व के समान होने पर शब्दों की चारुताविषयक विशेषता क्या हो ? यदि कहो यह (विशेषता) और ही सहृदयसंवेद्य होती है तो यह सहृदयता क्या वस्तु है ? क्या रस और भाव की अपेक्षा न करते हुये काव्याश्रित संकेतविशेष का ज्ञान ? अथवा रसभावादिमय काव्यस्वरूप के परिज्ञान की निपुणता ? पहले पक्ष में उस प्रकार के सहृदयों द्वारा व्यवस्थापित शब्दविशेषों का चारुत्वनियम (सिद्ध) नहीं होगा। क्योंकि दूसरे संकेतों के द्वारा अन्यथा भी व्यवस्थापन की सम्भावना की जा सकती है। दूसरे पक्ष में तो रसज्ञता ही सहृदयत्व है। उस प्रकार के सहृदयों के द्वारा संवेद्य रसादि समर्पण का नैसर्गिक सामर्थ्य ही शब्दों की विशेषता होती है। इस प्रकार व्यंजकत्व के आश्रित ही उनका मुख्य चारुत्व होता है। वाचकत्व का आश्रय लेनेवाले उन शब्दों के अर्थ की अपेक्षा करने पर प्रसाद ही उनकी विशेषता है। अर्थ की अपेक्षा न करने पर तो अनुप्रास इत्यादि ही।

(लो०) **नन्विति**। पूर्वनिर्णीतमप्येतदविस्मरणार्थमधिकाभिधानार्थं चाक्षिप्तम्। **उक्तमत्रेति**। न वाचकत्वं ध्वनिव्यवहारोपयोगी येनावाचकस्य व्यञ्जकत्वं न स्यादिति प्रागेवोक्तम्। ननु न गीतादिवद्रसाभिव्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य तत्र व्यापारोऽस्त्येव; स च व्यञ्जनात्मैवेति भाव;। एतच्चास्माभिः प्रथमोद्योते निर्णीतचरम्। न चेदमस्माभिरपूर्वमुक्तमित्याह—**शब्दविशेषाणां चेति**। **अन्यत्रेति**। भामहविवरणे। **विभागेनेति**। स्रक्चन्दनादयः शब्दाः शृङ्गारे चारवो बीभत्से त्वचारव इति रसकृत एव विभागः। रसं प्रति च शब्दस्य व्यञ्जकत्वमेवेत्युक्तं प्राक्।

यत्रापीति। स्रक्चन्दनादिशब्दानां तदानीं शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वाभावेऽपि व्यञ्जकत्वशक्तेर्भूयसा दर्शनात्तदधिवाससुन्दरीभूतमर्थं प्रतिपादयितुं सामर्थ्यमस्ति। तथा हि—'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः 'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा। यथा वास्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य—

इन्दीवरद्युति यदा बिभृयान्न लक्ष्म
स्युर्विस्मयैकसुहृदोऽस्य यदा विलासाः।
स्यान्नाम पुण्यपरिणामवशात्तथापि
किं किं कपोलतलकोमलकान्तिरिन्दुः॥

अत्र हीन्दीवरविस्मयसुहृद्विलासनामपरिणामकोमलादयः शब्दाः शृङ्गाराभिव्यञ्जनदृष्टशक्तयोऽत्र परं सौन्दर्यमावहन्ति।

अवश्यं चैतदवगन्तव्यमित्याह—**कोऽन्यथेति।** असंवेद्यस्तावदसौ न नक्त इत्याशयेनाह—**सहृदयेति। पुनरिति।** अनियन्त्रितपुरुषेच्छायत्तो हि समयः कथं नियतः स्यात्।

मुख्यं चारुत्वमिति। विशेष इति पूर्वेण सम्बन्धः। **अर्थपेक्षायामिति।** वाच्यापेक्षायामित्यर्थः। **अनुप्रासादिरेवेति।** शब्दान्तरेण सह या रचना तदपेक्षोऽसौ विशेष इत्यर्थः। आदिग्रहणाच्छब्दगुणालङ्काराणां संग्रहः। अत एव रचनाया प्रसादेन चारुत्वेन चोपबृंहिता एव शब्दाः काव्ये योज्या इति तात्पर्यम्॥१५, १६॥

(अनु०) 'ननु' यह। पूर्वनिर्णीत भी यह विस्मरण न होने के लिये और अधिक कहने के लिये आक्षिप्त किया गया है। 'यहाँ यह कहा गया' वाचकत्व ध्वनिव्यवहार का उपयोगी नहीं है जिससे अवाचक का व्यंजकत्व न हो यह पहले ही कहा जा चुका है। भाव यह है गीत इत्यादि के समान शब्द के रसाभिव्यंजकत्व में भी वहाँ पर व्यापार नहीं ही होता ऐसा नहीं है और वह व्यंजनात्मक ही होता है। यह हमने प्रथम उद्योत में प्रायः निर्णीत ही कर दिया है। यह हमने कुछ अपूर्व नहीं कहा यह कहते हैं—'शब्द विशेषों का' यह। 'अन्यत्र' भामह विवरण में। 'विभाग से, स्रक् चन्दन इत्यादि शब्द शृंगार में सुन्दर और बीभत्स में असुन्दर होते हैं यह रसकृत विभाग ही है। रस के प्रति शब्द का व्यञ्जकत्व ही है यह पहले कहा जा चुका।

'जहाँ पर भी' यह। स्रक्चन्दन इत्यादि शब्दों का उस समय शृंगार इत्यादि के व्यंजकत्व के अभाव में भी व्यंजकत्व शक्ति के बहुत अधिक देखने से उसके अधिवास के कारण अधिक सुन्दरता को प्राप्त अर्थ को प्रतिपादित करने के लिये शक्ति है। वह इस प्रकार—'तटी तारं ताम्यति' यहाँ पर तट शब्द के पुंस्त्व और नपुंसकत्व का अनादर करके 'स्त्री यह नाम भी मधुर है' यह समझ कर सहृदयों के द्वारा स्त्रीत्व का ही आश्रय लिया गया। अथवा जैसे हमारे उपाध्याय विद्वत्कवि सहृदयचक्रवर्ती भट्टेन्दुराज का—

'यदि पुण्य-परिणामवश चन्द्र इन्दीवर के समान श्याम कान्तिवाले चिह्न को न धारण

करे, यदि इसके विलास एकमात्र मित्र बन जावें तथापि वह चन्द्रमा क्या कपोलतल के समान कोमल कान्तिवाला हो सकेगा ?'

यहाँ निस्सन्देह इन्दीवर, लक्ष्म, विस्मय, सुहृत्, विलास, नाम, परिणाम, कोमल इत्यादि शब्द जिनकी शक्ति शृङ्गार रसके अभिव्यंजन में देखी जा चुकी है यहाँ परम सौन्दर्य को धारण करते हैं।

और यह अवश्य ही समझा जाना चाहिये यह कहते हैं—'अन्यथा क्या।' असंवेद्य तो वह नहीं ठीक है इस आशय से कहते हैं—'सहृदय' इत्यादि 'पुनः' यह। पुरुष को अनियन्त्रित इच्छा के आधीन संकेत नियत कैसे हो सकता है।

'मुख्यचारुत्व' इसका सम्बन्ध पहले आये हुये विशेष शब्द से है। अर्थ की अपेक्षा में अर्थात् वाच्य की अपेक्षा में। 'अनुप्रासादि ही'। दूसरे शब्दों के साथ जो रचना उसकी दृष्टि से वह विशेषता है यह अर्थ है। 'आदि' शब्द के ग्रहण से शब्द गुण और अलङ्कारों का संग्रह हो जाता है। अत एव रचना के द्वारा प्रसाद और चारुत्व से उपबृंहित शब्दों की ही काव्य में योजना करनी चाहिये ॥१५, १६॥

वाचकत्व के अभाव में भी व्यञ्जकता का प्रतिपादन

तारावती—यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यंगचार्थ या तो अभिधेयार्थ-मूलक होता है या लक्षणार्थमूलक। लक्ष्यार्थ भी अभिधा की पुच्छभूत ही होती है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि रस इत्यादि जितने भी व्यंगचार्थ होते हैं उन सबका उद्गम सर्वदा वाच्यार्थ से ही होता है और वाच्यार्थ में ही रस इत्यादि का आक्षेप किया जा सकता है। इसका आशय यही है कि जहाँ कहीं वाच्यार्थ होगा वहीं व्यंजना हो सकेगी, जहाँ वाच्यार्थ नहीं होगा वहाँ व्यंजना हो ही नहीं सकेगी। अर्थ सम्पूर्ण पद का होता है उसके किसी अंश का नहीं। सुप् इत्यादि पदांश हैं पूर्ण पद नहीं। अतः जब सुप् इत्यादि में वाच्यार्थ ही नहीं होता तो उससे व्यंजना किस प्रकार हो सकती है और सुप् इत्यादि को रसाभिव्यंजक किस प्रकार माना जा सकता है ? प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि सुप् इत्यादि का व्यंजकत्व वैचित्र्य प्रतिपादन असंगत ही है। यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर पदों की व्यंजकता के निरूपण के अवसर पर दिया जा चुका है तथापि यहाँ पर प्रश्न दो मन्तव्यों से पुनः उठाया है। एक तो इस मन्तव्य से कि पाठक पहले कही हुई बात को भूल न जावे, दूसरे यह कि उसी प्रति-पादन में कुछ अधिक कहना है। (पदों की व्यंजकता के निरूपण के अवसर पर यह प्रश्न उठाया गया था कि वस्तुतः वाक्य सार्थक होते हैं, वाक्यगत पद उसी प्रकार निरर्थक होते हैं जिस प्रकार पदगत वर्ण निरर्थक होते हैं। अतः पदों की व्यंजकता सिद्ध नहीं होती।) वहाँ पर बतलाया जा चुका है कि व्यंजक होने के लिए वाचक होना अनिवार्य नहीं है। जिस प्रकार गीत इत्यादि रस के व्यञ्जक होते हैं उसी प्रकार (अर्थनिरपेक्ष) शब्द का व्यापार रसाभिव्यञ्जन में न हो ऐसी बात नहीं है। इसका निरूपण प्रथम उद्योत में ही किया जा चुका है। शब्द का व्यापार व्यञ्जना के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। जब केवल वर्ण माधुर्य इत्यादि गुणों की व्यञ्जना करते हैं तब केवल वर्णरूप सुप् इत्यादि रस की व्यंजना क्यों नहीं कर सकते ? दूसरी बात यह है कि कहीं कहीं अर्थविशेष के द्वारा भी रस इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है, वे वाच्यार्थविशेष किन्हीं विशेष शब्दों के द्वारा ही अभिहित किये जा

सकते हैं। जब तक उन विशेष शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता तब तक वे विशेष अर्थ भी निष्पन्न नहीं हो पाते और न रस इत्यादि की व्यंजना ही कर सकते हैं। इससे यह सिद्ध ही हो जाता है कि जहाँ अर्थ से रसादि की व्यंजना होती है वहाँ भी शब्द निमित्त अवश्य होता है। अतः शब्द को तोड़ कर उसके पृथक् पृथक् अवयवों में जो व्यंजक के स्वरूप (व्यञ्जकता) का परिज्ञान कराया गया है वह भी सङ्गत ही हो जाता है। यह बात हम कोई नई नहीं कह रहे हैं। भामह विवरण में (उद्भट) ने विशेष शब्दों की चारुता-अचारुता का निरूपण विभाग के साथ किया है (शब्द–खण्डों की चारुता-अचारुता का निरूपण किया है।) यह चारुता अचारुता का निरूपण तभी सङ्गत होता है जब कि शब्दों और शब्दखण्डों में व्यंजकता स्वीकार कर ली जावे। स्रक्, चन्दन इत्यादि शब्द शृङ्गार में चारु होते हैं और बीभत्स में अचारु होते हैं यह विभाजन रस की दृष्टि से ही किया जा सकता है। रस की दृष्टि से भी यह विभाजन तभी संगत हो सकता है जब कि अर्थनिरपेक्ष शब्द की व्यंजकता मान ली जावे। इन सबका विस्तार-पूर्वक निरूपण पहले किया जा चुका है। (आशय यही है कि जहाँ कहीं अर्थमूलक व्यंजना होती है वहाँ भी शब्द का सहकार अनिवार्य होता है और जहाँ शब्दमूलक व्यञ्जना होती है वहाँ तो शब्द में कारणता होती ही है।)

शृङ्गारेतर विषयों में शृङ्गारपरक वर्णों से चारुता निष्पादन

यहाँ पर एक प्रश्न यह भी विचारणीय है कि वहाँ तो ठीक है जहाँ शृंगारपरक रचना होती है। वहाँ शब्द शृङ्गार के व्यंजक होते हैं। किन्तु कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ शृंगार की अभिव्यंजना नहीं होती, किंतु शृङ्गारपरक शब्दों के प्रयोग से चारुता वहाँ पर भी आ जाती है। रसाभिव्यंजना वहाँ पर चारुता में निमित्त नहीं हो सकती तो फिर चारुता में निमित्त दूसरा तत्त्व क्या माना जा सकता है? वही तत्त्व शृंगार स्थल में भी क्यों निमित्त नहीं माना जा सकता? उसके लिये व्यंजना को निमित्त मानने की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि जहाँ इसकी अभिव्यक्ति नहीं होती वहाँ भी चारुता में हेतु व्यंजना ही होती है। होता ऐसा है कि हम प्रायः शृङ्गाररसमयी रचनायें पढ़ते रहते हैं और तदनुकूल रसाभिव्यंजनजन्य शब्द-सौष्ठव का आस्वादन करते रहते हैं। इससे हमारी अन्तरात्मा में एक भावना बन जाती है कि उन शब्दों में सौष्ठव विद्यमान है। यह सौष्ठव का परिज्ञान व्यंजना के कारण ही होता है। फिर जब हम किसी ऐसी रचना को देखते हैं जहाँ उन शब्दों से किसी विशेष प्रकार के रस की अभिव्यक्ति नहीं होती वहाँ अभ्यास, वासना और संस्कार-वश उन शब्दों में सौष्ठव की प्रतीति होती ही रहती है। अतः सिद्ध है कि व्यंजनाजन्य सौष्ठवप्रतीति ही संस्कार-वश उन स्थलों पर भी अवभासित होती रहती है जहाँ उन शब्दों से व्यंजना नहीं होती। उस अवभास में भी मूलभूत व्यंजना ही निमित्त होती है। उदाहरण के लिये तट शब्द पुंलिङ्ग भी है, स्त्रीलिंग भी और नपुंसकलिंग भी। 'तट' 'तटी' और 'तटम्' तीनों शब्दों का समानार्थक प्रयोग होता है। 'तटी अत्यधिक पीडित (विदीर्ण) हो रही है' यहाँ पर तट शब्द के पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का अनादर करके स्त्रीलिंग का प्रयोग किया गया है, कारण यह है कि 'स्त्री यह नाम भी मधुर होता है' इस उक्ति के आधार पर यद्यपि यहाँ पर माधुर्य की कोई अभिव्यंजना नहीं होती तथापि संस्कारवश तट शब्द के स्त्रीलिङ्ग

रूप में पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग की अपेक्षा कुछ विशेष सौष्ठव आ ही गया है। इसीलिये सहृदय कवि ने यहाँ पर स्त्रीलिंग रूप का ही प्रयोग किया है। दूसरा उदाहरण जैसे अभिनवगुप्त के उपाध्याय विद्वत्कवि सहृदयचक्रवर्ती उत्पल राजदेव का पद्य—

'जब चन्द्र इन्दीवर के समान कान्तिवाले चिह्न (कलङ्क) को न धारण करे, जब उसमें विस्मय के एकमात्र सहचर विलास भी उत्पन्न हो जावें तो भी पुण्य परिणाम वश वह चन्द्र क्या कपोलतल के समान कोमल कान्तिवाला हो सकता है ?'

यहाँ पर कलङ्क को इन्दीवरवत् बतलाया गया है। यद्यपि यहाँ कोई माधुर्यभाव की व्यंजना नहीं होती तथापि 'इन्दीवर' शब्द में संस्कार जन्य माधुर्याभिव्यंजनक्षमता विद्यमान है ही। उसी के कारण यहाँ पर सौष्ठव का प्रतिभास होता अवश्य है। इसी प्रकार लक्ष्य, विस्मय, सुहृत्, विलास, नाम, परिणाम, कोमल इत्यादि शब्दों के विषय में भी समझा जाना चाहिये। इनसे सौष्ठव का प्रतिभास इसीलिये होता है कि शृङ्गार रस क्षेत्र में इनकी माधुर्याभिव्यंजन की शक्ति देखी जा चुकी है। यह तो मानना ही पड़ेगा क्योंकि यदि यह नहीं माना जावेगा तो शब्दवाचकता तो सभी अर्थों में एक जैसी होती है फिर किसी विशेष अवसर पर किसी विशेष शब्द में विशेष चारुता के मानने का क्या आधार होगा ?

सहृदय संवेदनसिद्धि में व्यञ्जना की आवश्यकता

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि सौष्ठव के प्रतिभास के लिये व्यंजना को घसीटने से क्या लाभ ? यह कोई अन्य ही तत्त्व है जो कि सहृदयसंवेदनासिद्ध कहा जा सकता है (अर्थात् इस तत्त्व को सिद्ध करने के लिये कोई अन्य प्रमाण नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह अनिर्वाच्य होता है। इसके लिये तो यही कहा जा सकता है कि यह सहृदयसंवेद्य है।) इसके उत्तर में निवेदन है कि यहाँ पर पूर्वपक्षी ने दो शब्दों का प्रयोग किया है संवेदना और सहृदय। इनमें संवेदना पर तो हमें कोई आपत्ति नहीं। कोई भी सौष्ठव–सम्पादक तत्त्व असंवेद्य तो हो ही नहीं सकता। अब रही सहृदय की बात। आप सहृदय किसे कहते हैं ? क्या काव्यगत ऐसे विशेष संकेत का समझना ही सहृदयत्व कहलाता है जिसमें रस भाव इत्यादि की कोई अपेक्षा न हो ? अथवा रसादिमय काव्यस्वरूप के परिज्ञान की निपुणता ही सहृदयत्व की प्रयोजिका होती है ? (सहृदय शब्द के ये ही अभिप्राय सम्भव हैं।) यदि प्रथम पक्ष के अनुसार यह मानें कि सहृदय बनने के लिये रस, भाव इत्यादि के परिज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं होती; काव्य के शब्द नवीन अर्थ देते हैं उन अर्थों को पहिचानना ही सहृदयत्व है तो इस पर मेरा कहना यह है—कि यदि रस इत्यादि से अनभिज्ञ को ही सहृदय माना जावेगा तो उनके द्वारा शब्दों की जो भी व्यवस्था की जावेगी कि अमुक शब्द चारु है अमुक शब्द अचारु है वह व्यवस्था नियमित नहीं हो सकेगी क्योंकि दूसरे सहृदय आकर दूसरे प्रकार की व्यवस्था कर देंगे। आशय यह है कि यदि व्यक्तियों की इच्छा को ही नियामक माना जावेगा तो संसार में एक प्रकार के तो व्यक्ति होते नहीं और न उनकी इच्छायें ही नियन्त्रित होती हैं। अतः एक ही शब्द को कुछ लोग चारु कहेंगे दूसरे लोग अचारु। ऐसी दशा में कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी अतः यह मानना ही पड़ेगा कि चारुता का नियामक वस्तुतः रस इत्यादि ही होता है क्योंकि वही अद्वितीय आस्वाद का प्रवर्तक होता है। अतः रस की

दृष्टि से जो भी व्यवस्था की जावेगी वह स्थिर हो जावेगी, उसमें मनमानी व्यवस्था के लिये अवसर नहीं रहेगा। यदि रसभावादि दृष्टि सहृदयता की व्यवस्थापक मानी जाती है तो सहृदयता का अर्थ ही हुआ रसज्ञता। अतः 'सहृदयसंवेद्य शब्दाविशेष' का अर्थ यह हुआ कि—रस और भाव इत्यादि को समर्पण करने की स्वाभाविक शक्ति ही शब्दों की विशेषता होती है जिसको सहृदय ही परख पाते हैं। अतः मुख्य चारुता व्यंजकत्व पर ही अवलम्बित होती है। यदि शब्दों को वाचकता तक ही सीमित रखना हो तो उनकी दो परिस्थितियाँ हो सकती हैं एक तो अर्थ की अपेक्षा करते हुये चारुता का निरूपण किया जावे दूसरे अर्थ की अपेक्षा न करते हुये चारुता का निरूपण किया जावे। यदि अर्थ की अपेक्षा करते हुये चारुता का निरूपण करना ही तो उसकी सबसे बड़ी विशेषता प्रसाद गुण ही होगी अर्थात् वहाँ शब्द-प्रयोग का मन्तव्य अपना अभिप्राय दूसरे को समझा देना मात्र होता है। यह प्रयोजन जिस शब्द के प्रयोग से सबसे अधिक सिद्ध हो जावे वही शब्द उस अर्थ के प्रति विशिष्ट माना जावेगा और शब्द की सबसे बड़ी विशेषता मानी जावेगी अर्थ का एकदम प्रत्यायन करा देना। यह विशेषता आपेक्षिक ही मानी जा सकती है—यदि वही अर्थ दूसरे शब्दों से कहे जाने पर उतनी शीघ्रता से अर्थ न प्रकट करे तो जिन शब्दों से अर्थ एक दम प्रकट हो जावे उन शब्दों में अर्थ को प्रकट करने की विशेषता ही मानी जावेगी। यदि सौष्ठव का प्रत्यायन वाच्यार्थ की दृष्टि से न करना हो तो शब्दों का सौष्ठव अनुप्रास इत्यादि की संज्ञा का अधिकारी होगा। इसमें भी आपेक्षिक सौष्ठव ही रहता है। यदि दूसरे शब्दों का उसी अर्थ में प्रयोग करने पर अनुप्रास इत्यादि की निष्पत्ति न हो तो अनुप्रास निष्पादन ही प्रयुक्त शब्दों की विशेषता होगी। अनुप्रास आदि में आदि शब्द से शब्दगुणों और शब्दालङ्कारों का संग्रह हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिये जो रचना प्रसाद और चारुता के द्वारा उपवृंहित हो। (सारांश यह है कि मुख्य रूप में व्यंजना की दृष्टि से सौष्ठवपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना चाहिये यदि व्यंजनाजन्य सौष्ठव अपेक्षित न हो तो वाच्यार्थ की दृष्टि से अथवा स्वयं वाचक शब्द की दृष्टि के सौष्ठव पर विचार कर शब्दों का प्रयोग करना चाहिये।) ॥ १५, १६ ॥

(ध्वन्या०)—एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमभिधाय तेषामेव विरोधिरूपं लक्षयितुमिदमुपक्रम्यते—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥१७॥

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धनं प्रत्याहतमना कविर्विरोधपरिहारे परं यत्नमादधीत। अन्यथा त्वस्यरसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ् न सम्पद्यते।

(अनु०) इस प्रकार रस इत्यादि के व्यंजकों को कह कर उन्हीं के विरोधियों के स्वरूप को बतलाने के लिये उपक्रम किया जा रहा है—

'प्रबन्ध अथवा मुक्तक में रस इत्यादि के निबन्धन की इच्छा करने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को विधियों के परिहार में यत्न करना चाहिये।'

प्रबन्ध अथवा मुक्तक में भी रसभावनिबन्धन के प्रति आहत मन वाला कवि विरोध-परिहार में परम प्रयत्न को भली भाँति धारण करे। नहीं तो इसका एक भी श्लोक रसमय सम्पन्न नहीं होता।

(लो०)—रसादीनां यद्व्यञ्जकं वर्णपदादिप्रबन्धान्तं तस्य स्वरूपमभिधायेति सम्बन्धः। **उपक्रम्यत इति**। विरोधिनामपि लक्षणकरणे प्रयोजनमुच्यते शक्यहानत्वं अनया नाम कारिकया। लक्षणं तु विरोधिरससम्बन्धीत्यादिना भविष्यतीत्यर्थः।

(अनु०) रस इत्यादिकों का जो व्यंजक-वर्ण, पद से लेकर प्रबन्धपर्यन्त उसका स्वरूप कह कर यह सम्बन्ध है। 'उपक्रम किया जा रहा है' यह। इस कारिका से विरोधियों के भी लक्षण करने में शक्यहानरूप प्रयोजन बतलाया जा रहा है। लक्षण तो 'विरोधिरससम्बन्धि इत्यादि से हो जावेगा यह अर्थ है।

रसविरोध का उपक्रम

तारावती—ऊपर १६ वीं कारिकापर्यन्त व्यंजक तत्त्वों पर विचार किया गया और यह बतला दिया गया कि ध्वनि के विभिन्न भेद वर्ण से लेकर प्रबन्धपर्यन्त किस किस रूप में अभिव्यक्त होते हैं। १८ वीं कारिका से इस बात पर विचार किया जावेगा कि रसविरोध किसे कहते हैं १८ वीं और १९ वीं कारिकाओं में रसविरोध के स्वरूप पर विचार किया जावेगा। प्रस्तुत १७ वीं कारिका में यह विचार किया गया है कि यहाँ पर रसविरोध का प्रकरण लिखने का प्रयोजन क्या है? वस्तुतः इस प्रकरण का प्रयोजन यही है कि पाठकगण यह समझ जावें कि जो रसविरोधी तत्त्व हैं उनका परिहार भी सम्भव है। इसीलिये सर्वप्रथम विरोधस्थलों को दिखलाकर बाद में परिहास का प्रकार दिखलाया गया है। प्रस्तुत कारिका में कहा गया है कि चाहे जिस प्रकार की रचना में प्रवृत्त हो चाहे वह प्रबन्धकाव्य लिख रहा हो चाहे मुक्तक यदि उसके मन में रस निबन्धन की कामना विद्यमान है तो उसे इस बात के लिये अत्यन्त सावधान तथा जागरूक रहना चाहिये कि उसके अभीप्सित रस में विरोधी रस का रंचमात्र भी समावेश न हो पावे। यदि वह यह ध्यान नहीं रक्खेगा तो उसका एक पद्य भी रसमय नहीं हो सकेगा ॥१७॥

(ध्वन्या०)—**कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानी-त्युच्यते—**

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
बिस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥१९॥

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भवनीयः। तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने। वरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथा-

भिरनुनये। विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने।

(अनु०) फिर वे विरोधी हैं कौन जो यत्नपूर्वक कवि के परिहरणीय हैं यह कहा जा रहा है—

'विरोधी रस सम्बन्धी विभाव इत्यादि का परिग्रह अन्वित भी अन्य वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन, बिना अवसर विच्छेद और बिना अवसर के प्रकाशन, परिपोष को प्राप्त भी (रस) का बार-बार दीपन और वृत्तियों का अनौचित्य रस विरोध के लिये होता है।।१८, १९।।

प्रस्तुत रस की दृष्टि से विरोधी जो रस उसके सम्बन्धी विभाव भाव और अनुभावों का परिग्रह रसविरोध के हेतु के रूप में सम्भावित किया जाना चाहिये। उसमें विरोधी रस के विभाव का परिग्रह जैसे शान्त रस के विभावों में उसके विभाव के रूप में निरूपित किये जाने पर बाद में ही शृङ्गार इत्यादि का विभाव वर्णन करने में। विरोधी रस के भावों के परिग्रह का उदाहरण जैसे प्रिय के प्रति प्रणय कलह में कुपित कामिनियों के विषय में वैराग्य की बातचीत से अनुनय करने में। विरोधी रस के अनुभावों के परिग्रह का उदाहरण जैसे प्रणय कुपित तथा प्रसन्न न होनेवाली नायिका के विषय में कोपावेशविवश नायक के रौद्र रस के अनुभावों के वर्णन करने में।

(लो०) ननु 'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः' इति यदुक्तं तत एव व्यतिरेकमुखेनैतदप्यवगंस्यते, मैवम्; व्यतिरेकेण हि तदभावमात्रं प्रतीयते न तु तद्विरुद्धम्। तदभावमात्रं च न तथा दूषकं यथा तद्विरुद्धम्। पथ्यानुपयोगो हि न तथा व्याधिं जनयति यद्वदपथ्योपयोगः। तदाह—**यत्नत इति**। विभावेत्यादिना श्लोकेन यदुक्तं तद्विरुद्धं विरोधीत्यादिनार्धश्लोकेनाह। इतिवृत्तेत्यादिना श्लोकद्वयेन यदुक्तं तद्विरुद्धं विस्तरेणेत्यर्धश्लोकेनाह। उद्दीपनेत्यर्धश्लोकोक्तस्य विरुद्धं अकाण्ड इत्यर्धश्लोकेन। रसस्येत्यर्धश्लोकोक्तस्य विरुद्धं **परिपोषं गतस्ये**त्यर्धश्लोकेन। 'अलंकृतीनामित्यनेन यदुक्तं तद्विरुद्धमन्यदपि च विरुद्धं वृत्त्यनौचित्यमित्यनेन। एतत्क्रमेण व्याचष्टे—**प्रस्तुतरसापेक्षये**त्यादिना। हास्यशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयो रौद्रकरुणयोर्भयानकबीभत्सयोर्न विभावविरोध इत्यभिप्रायेण शान्तशृङ्गारावुपन्यस्तौ, प्रशमरागयोर्विरोधात्। विरोधिनो रसस्य यो भावो व्यभिचारी तस्य परिग्रहः, विरोधिनस्तु यः स्थायी स्थायितया तत्परिग्रहोऽसम्भवनीय एव तदनुत्थानप्रसङ्गात्। व्यभिचारितया तु परिग्रहो भवत्येव। अत एव सामान्येन भावग्रहणम्। **वैराग्यकथाभिरिति**। वैराग्यशब्देन निर्वेदः शान्तस्य यः स्थायी स उक्तः। यथा 'प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषम्' इत्याद्युपक्रम्यार्थान्तरन्यासो 'न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः' इति। मनागपि निर्वेदानुप्रवेशे सति रतेर्विच्छेदः। ज्ञातविषयसतत्त्वो हि जीवितसर्वस्वाभिमानं कथं भजेत। न हि ज्ञातशुक्तिकारजततत्त्वस्तदुपादेयधियं भजते ऋते संवृतिमात्रात्। कथाभिरिति बहुवचनं शान्तरसस्य व्यभिचारिणो धृतिमतिप्रभृतीन् संगृह्णाति।

(अनु०) (प्रश्न) 'विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः' यह जो कहा गया। उसी से व्यतिरेक मुख से यह भी ज्ञात हो जावेगा। (उत्तर) ऐसा नहीं। व्यतिरेक से उसका अभावमात्र प्रतीत होता है विरुद्ध नहीं। केवल उसका अभाव वैसा दूषक नहीं है जैसा विरुद्ध। पथ्य का अनुपयोग उतना व्याधि को नहीं उत्पन्न करता जितना अपथ्य का उपयोग। वह कहते हैं—'यत्न से' 'विभावभावानुभाव' इत्यादि श्लोक से जो कहा गया उसका विरोधी 'विरोधि' इत्यादि आधे श्लोक से कहते हैं। 'इतिवृत्ति' इत्यादि दो श्लोकों में जो कहा गया उसके विरुद्ध 'विस्तरेण—' इस आधे श्लोक से कहते हैं। 'उद्दीपन' इत्यादि आधे श्लोक में कहे हुये का विरुद्ध 'अकाण्ड' इस आधे श्लोक से। 'रसस्य' इस आधे श्लोक में कहे हुये के विरुद्ध 'परिपोषं गतस्य' इस आधे श्लोक के द्वारा। 'अलंकृतीनाम्' इस श्लोक से जो कहा गया उसके विरुद्ध तथा और भी विरुद्ध 'वृत्यनौचित्य' इसके द्वारा। इसकी क्रमशः व्याख्या की जा रही है—'प्रस्तुत रस की अपेक्षा इत्यादि के द्वारा। हास्य और शृङ्गार का, वीर और अद्भुत का रौद्र और करुण का भयानक और बीभत्स का विभावविरोध नहीं है इस अभिप्राय से शान्त और शृङ्गार को उपन्यस्त किया गया है क्योंकि प्रशम और राग का विरोध है। विरोधी रस का जो भाव अर्थात् व्यभिचारी उसका परिग्रह; विरोधी का जो स्थायी, स्थायी के रूप में उसका परिग्रह ही असम्भव है क्योंकि उसके उत्थान का प्रसंग ही नहीं आता। व्यभिचारी के रूप में तो उसका परिग्रह हो ही जाता है। इसीलिये सामान्यतया भाव शब्द का उपादान किया गया है 'वैराग्य की बातों के द्वारा' यहाँ वैराग्य शब्द से शान्त का जो स्थायी निर्वेद वह कहा गया है। जैसे—'प्रसन्नता में वर्तमान होओ, आनन्द प्रकट करो और क्रोध छोड़ दो' यह उपक्रम करके—'हे मुग्धे! बीता हुआ कालहरिण पुनः आने में समर्थ नहीं होता।' यहाँ थोड़े भी निर्वेद के अनुप्रवेश में रति का विच्छेद हो जाता है। विषयों के वास्तविक तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति निस्सन्देह जीवितसर्वस्व के अभिमान को किस प्रकार प्राप्त होवे। शुक्ति और रजत के तत्त्व को जाननेवाला एकमात्र संवृति को छोड़कर उसके उपादान की बुद्धि को प्राप्त नहीं होता। 'कथाभिः' का बहुवचन शान्त रस के व्यभिचारी धृति, मति इत्यादि का संग्रह कर लेता है।

रसाभिव्यञ्जक तत्त्वों का विलोम और विरोधी तत्त्व

तारावती—अब इस विषय में विचार किया जा रहा है कि जिन विरोधियों का परित्याग करना कवि का कर्तव्य है वे विरोधी हैं कौन? वस्तुतः प्रबन्ध की रसाभिव्यंजकता के अवसर पर विस्तारपूर्वक उन तत्त्वों पर विचार किया जा चुका है जो रस के अभिव्यंजक होते हैं। इससे अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि उन तत्त्वों का अभाव रसविरोधी होता है। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब पूर्वोक्त तत्त्वों के व्यतिरेक के द्वारा ही विरोधी तत्त्व भी अवगत हो सकते हैं तब पृथक् रूप में विरोधियों का प्रकरण लिखने की क्या आवश्यकता? किन्तु इसका उत्तर स्पष्ट है। व्यतिरेक से अनुकूल का अभाव ही व्यक्त होता है स्वतन्त्र विरोधियों का समावेश व्यतिरेक में नहीं होता। दोष दोनों प्रकार से उत्पन्न होता है अनुकूल परिस्थितियों का प्रयोग न करने से और विरोधियों का समावेश करने से। किन्तु अनुकूल के समावेश न करने से दोष इतना तीव्र नहीं होता जितना विपरीत परिस्थितियों के प्रयोग

से। पथ्य का अनुपयोग व्याधि को उतना अधिक नहीं बढ़ाता जितना कुपथ्य का सेवन। इसलिये यहाँ पर कहा गया है कि विरोधियों के परिहार में बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इस दिशा में बहुत अधिक जागरूक रहना चाहिये। पहले १० से १४ तक कारिकाओं में बतलाया जा चुका है कि रस के व्यंजक कौन से तत्त्व होते हैं। उनके प्रतिकूल तत्त्व स्वभावतः रसविरोधी होते हैं। उनको क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिये—(१) (क) घटित या कल्पित कथाशरीर का इस रूप में सम्पादन करना कि उसमें विभाव, भाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के औचित्य से सौष्ठव आ गया हो रस का व्यंजक होता है। (ख) इसके प्रतिकूल विरोधी रस से सम्बद्ध विभाव इत्यादि का ग्रहण करना रसविरोधी होता है। (२) (क) इतिवृत्तवश आई हुई प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर कल्पना से मध्य में ऐसी कथा का उन्नयन कर लेना जो रस के अनुकूल हो तथा केवल शास्त्रस्थिति-सम्पादन की इच्छा से न हो अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि तथा सन्ध्यंगों की संघटना रसाभिव्यंजक होती है। (ख) इसके प्रतिकूल सम्बद्ध भी किसी अन्य वस्तु का अत्यन्त विस्तार से वर्णन करना प्रकृत रस का उपघातक होता है। (३) (क) मध्य में अवसर के अनुकूल उद्दीपन और प्रशमन रस के व्यंजक होते हैं। (ख) इसके प्रतिकूल बिना अवसर के विच्छेद और बिना अवसर के प्रकाशन रस के विरोधी होते हैं। (४) (क) जिस अंगी रस का विश्राम प्रसक्त हो गया उसका अनुसंधान करते चलना रस-साधना में उपकारक होता है। (ख) इसके प्रतिकूल परिपोषक को प्राप्त भी रस का बार-बार उद्दीपन रसविरोधी होता है। (५) (क) अलंकारों की रसानुरूप योजना रस के लिये सात्म्य होती है। (ख) इसके प्रतिकूल वृत्तियों का अनौचित्य रसविरोधी होता है। प्रस्तुत प्रकरण में इन पाँचों की यथाक्रम व्याख्या की जावेगी।

रसविरोध पर सामान्य दृष्टिपात

[प्रस्तुत प्रकरण को समझने के लिये रस-विरोध पर संक्षिप्त प्रकाश डाल लेना आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं कुछ अविरोधी। साहित्यदर्पण में विरोधी रसों का इस प्रकार परिगणन किया गया है—(१) शृङ्गार रस के विरोधी होते हैं करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक। (२) करुण के विरोधी होते हैं हास्य और शृंगार। (३) वीर रस का विरोध भयानक और शान्त के साथ होता हैं। (४) वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक के साथ शान्त का विरोध होता है। (५) हास्य के विरोधी भयानक और करुण होते हैं। (६) रौद्र के विरोधी हास्य शृङ्गार और भयानक रस होते हैं (७) भयानक के विरोधी शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त होते हैं। (८) बीभत्स का विरोधी शृङ्गार होता है। इनके विरोध और अविरोध की व्यवस्था पर भी आचार्यों ने विचार किया है। पण्डितराज ने लिखा है कि विरोध दो प्रकार का होता है—स्थितिविरोध और ज्ञानविरोध। साहित्यदर्पणकार ने विरोध और अविरोध की व्यवस्था पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—'रसों के विरोध और अविरोध की अवस्था तीन प्रकार की होती है—(१) किन्हीं दो रसों का विरोध आलम्बन की एकता में होता है अर्थात् एक ही व्यक्ति के प्रति विरोधी रसों का प्रतिपादन दूषित होता है, यदि विभिन्न व्यक्तियों के प्रति उन रसों का प्रतिपादन किया जावे तो दोष नहीं होता। (२) जैसे वीर और शृङ्गार आलम्बन की

एकता में विरोधी होते हैं। जिस व्यक्ति के प्रति रति हो और उसी को जीतने तथा पराभूत करने की इच्छा का वर्णन किया जावे यह विरोध होगा। किन्तु सीता के प्रति रति और रावण के प्रति विजय की इच्छा का वर्णन तो हो ही सकता है। (२ किन्हीं दो रसों का विरोध आश्रय की एकता में होता है अर्थात् एक ही व्यक्ति के हृदय में दो विरोधी भावों का वर्णन दूषित होता है। जैसे एक ही व्यक्ति में उत्साह और भय इन दोनों तत्त्वों का वर्णन दूषित होता है किन्तु राम में उत्साह और रावण में भय का वर्णन दूषित नहीं होता। (३) किन्हीं दो रसों का विरोध नैरन्तर्य में होता है। वीर और शृङ्गार का विरोध आलम्बन की एकता में होता है। इसी प्रकार सम्भोग शृङ्गार का विरोध हास्य, रौद्र और बीभत्स से तथा विप्रलम्भ का विरोध वीर करुण और रौद्र से आलम्बन की एकता में ही होता है। वीर और भयानक का विरोध आलम्बन की एकता में और आश्रय की एकता में होता है। शान्त और शृङ्गार का विरोध नैरन्तर्य और विभाव की एकता में होता है। बीभत्स अद्भुत और रौद्र से, शृङ्गार का अद्भुत से और भयानक का बीभत्स से विरोध तीनों प्रकार से होता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।]

अब रसविरोध की प्रथम स्थिति पर विचार कीजिये—जहाँ प्रस्तुत रस की दृष्टि से विरोधी रस के उपकरणों का उपादान किया जावे वहाँ पर रसविरोध होता है। (रसगंगाधरकार का कहना है कि रसविरोध शब्द में रस का अर्थ है उसकी उपाधि स्थायी भाव क्योंकि रस तो सामाजिक की चित्तवृत्ति में होता है नायक इत्यादि में नहीं होता। दूसरी बात यह है कि रस अद्वितीयानन्दमय होता है, उसमें विरोध असम्भव है। विरोध के विषय में रसगंगाधरकार का कहना है कि यदि प्रकृत रस के विरोधी रसांगों का निबन्धन किया जावेगा तो विरोधी प्रकृत रसका बाध कर लेगा अथवा दोनों उसी प्रकार नष्ट हो जावेंगे जैसे सुन्द और उपसुन्द परस्पर लड़कर दोनों नष्ट हो गये।) रस के उपकरण तीन होते हैं विभाव, भाव, और अनुभाव। विरोधी रस से सम्बद्ध इन तीनों का उपादान नहीं करना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि शान्त रस के विभावों का शान्तरस के विभावों के रूप में ही वर्णन किया गया हो और उसके तत्काल बाद शृंगार रस के विभावों का वर्णन प्रारम्भ कर दिया जावे तो विरोधी रस के विभाव परिग्रह का दोष होगा। (पहले बतलाया जा चुका है कि हास्य और शृङ्गार, वीर और अद्भुत, रौद्र और करुण, भयानक और बीभत्स इनके विभावों का विरोध नहीं होता। इन रसों का विरोध तभी होता है जब एक ही आलम्बन के प्रति दोनों भाव हों। यदि हास्य और शृङ्गार के पृथक्-पृथक् आलम्बनों का एक साथ वर्णन किया जावेगा तो दोष नहीं होगा। एक में रौद्र और दूसरों में करुण का होना तो स्वाभाविक ही है।) इसीलिए यहाँ पर विभाव विरोध में शान्त और शृङ्गार का उदाहरण दिया गया है। शम और रति एक दूसरे के विरोधी होते हैं। शम का वर्णन करते-करते यदि कोई कवि रति के विभावों का उपादान कर ले तो यह दोष ही होगा। यह तो हुई विरोधी रस के विभावों के उपादान की बात। अब विरोधी रस के उपादान को लीजिए—भाव शब्द का अर्थ है व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव। यहाँ पर भाव शब्द से तात्पर्य व्यभिचारी भाव से ही है स्थायी भाव से नहीं। क्योंकि यदि विरोधी रस के स्थायी भाव का उपादान किया

जावेगा और उसका परिपोष भी स्थायी भाव के ही रूप में किया जावेगा तो प्रकृत रस तो समाप्त ही हो जावेगा और उसके स्थान पर विरोधी रस सत्ता में आ जावेगा। अतः विरोधी रस के सञ्चारी भावों का उपादान दोष होता है। यदि स्थायी भावों का भी उपादान व्यभिचारी भावों के रूप में किया जावेगा तो उनका उपादान भी दोष होगा। इसीलिए सामान्यतया भावों के विरोधी होने की बात कह दी गई है। उदाहरण के लिए प्रणयकुपिता नायिकाओं को मनाने के लिए कोई वैराग्य की कथायें करने लगे। वैराग्य (निर्वेद) यद्यपि शान्त रस का स्थायी भाव है किन्तु जब मानिनी के अनुनय के प्रसंग में उसका उपादान किया जावेगा तब वह व्यभिचारी भाव के रूप में आवेगा। उदाहरण के लिए चन्द्रकवि के निम्नलिखित पद्य को लीजिये—

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषं,
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं,
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः॥

(प्रसन्नता में वर्तमान होओ, आनन्द प्रकट करो, क्रोध छोड़ दो, हे प्रिये मेरे सूखते हुए अंगों को तुम्हारे वचन अमृत के समान सीचने लगें, सुखों के निधान अपने मुख को अभिमुख स्थापित करो, हे मुग्धे! गया हुआ कालरूपी हरिण पुनः आ ही नहीं सकता।)

यहाँ मानिनी के प्रसादन के लिए उक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन्तु अन्तिम पंक्ति में जो अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया गया है वह शान्तरसपरक है। इस प्रकार शृंगार के भाव के अन्दर शम का संचारी के रूप में उपादान कर दिया गया है जो कि शृङ्गार का विरोधी है। अतः यह दोष है। (यदि शृंगार में निर्वेद का थोड़ा सा भी प्रवेश कर दिया जावे तो रति का तो विच्छेद हो ही जाता है क्योंकि जिस व्यक्ति को संसार की नश्वरता का पता है जो विषय वासनाओं की अकिंचित्करता तथा तुच्छता जान लेगा वह विषयों के सेवन में क्यों प्रवृत्त होगा? जो समस्त स्थावर जंगम जगत् को ब्रह्ममय जानता है वह अपने प्रेमी को जीवित सर्वस्व कैसे मान सकता है जबकि माया का संवरण विद्यमान हो? वेदान्त में केवल ब्रह्मतत्त्व ही सत्य माना जाता है, जगत् उसी प्रकार मिथ्या माना जाता है जैसे स्वप्न में देखे हुए दृश्य मिथ्या होते हैं और जिस प्रकार जाग जाने के बाद स्वप्न का बाध हो जाता है उसी प्रकार जगत् रूप दीर्घ स्वप्न का बाध ब्रह्मज्ञान से हो जाता है। सत्य ब्रह्म में मिथ्या जगत् की प्रतीति मायाजन्य होती है। इसके लिए अधिकतर दो दृष्टान्त दिये जाते हैं—रज्जु में सर्प का भान और शुक्ति में रजत का भान। जो व्यक्ति रजत को जानता है जब वह रजत की चमक शुक्ति में देखता है तब अज्ञान के कारण शुक्ति को रजत कहने लगता है और सत्य रूप में तब तक शुक्ति को रजत ही कहता जाता है जब तक उसे सत्य ज्ञान नहीं करा दिया जाता। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का सत्य रूप में भान होता है। इस भान में कारण है माया। माया की दो शक्तियाँ होती हैं आवरण और विक्षेप। आवरणशक्ति के द्वारा वास्तविक तत्त्व संवृत हो जाता है और विक्षेपशक्ति के द्वारा मिथ्या तत्त्व प्रतिभासित होने

लगता है। जब तक शुक्ति का वास्तविक तत्त्व आवृत अथवा संवृत न हो जावे और विशेष शक्ति से उसमें रजत का भान न होने लगे तब तक कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसको शुक्ति और रजत दोनों का ज्ञान हो शुक्ति की ओर रजत बुद्धि से अपना हाथ बढ़ा ही नहीं सकता। इसी प्रकार जब तक ब्रह्मतत्त्व का संवरण और जगत् तत्त्व का विक्षेप न हो जावे तब तक जगत् को सत्य मानकर व्यवहार के लिए कोई व्यक्ति उसका उपादान कर ही नहीं सकता। यही बात प्रस्तुत प्रसंग में समझी जानी चाहिए। जो व्यक्ति संसार की असारता को समझता है वह किसी अन्य व्यक्ति को तब तक अपना जीवितसर्वस्व कैसे मान सकता है जब तक उसकी असारता-बुद्धि का संवरण और जीवितसर्वस्व भावना का स्फुरण न हो जावे। ऐसी दशा में उक्त प्रसंग सदोष ही कहा जावेगा। 'कथाओं के द्वारा' इस बहुवचन से धृति मति इत्यादि दूसरे संचारियों का समावेश हो जाता है। विरोधी रस के अनुभावों के उपादान में भी दोष होता है। जैसे यदि नायक के प्रयत्न करने पर भी प्रणयकुपिता मानिनी प्रसन्न न हो तो नायक कोप के आवेश से विवश होकर नायिका को मारने पीटने लगे। मारना पीटना रौद्र रस का अनुभाव है। रौद्र रस श्रृंगार का विरोधी है। अतः श्रृंगार में रौद्र के अनुभाव का वर्णन दोष होगा।

(ध्वन्या०) **अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत्प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विशेषेण कथनम्। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद्वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने।**

(अनु०) यह दूसरा रसभंगहेतु है कि प्रस्तुत रस की अपेक्षा किसी न किसी प्रकार अन्वित भी अन्य वस्तु का विशेष रूप में कथन करना। जैसे किसी नायक के विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन के उपक्रम होने पर यमक इत्यादि की अलंकारों की रसिकता के कारण बहुत बड़े प्रबन्ध के द्वारा पर्वत इत्यादि के वर्णन में।

(लो०)—नन्वन्यदनुन्मत्तः कथं वर्णयेत्, किमुत विस्तरत इत्याह—**कथञ्चिदन्वितस्येति।**

(अनु०) अनुन्मत्त कौन व्यक्ति अन्य का वर्णन करेगा, विस्तार से तो कहना ही क्या? इसपर कहते हैं—किसी प्रकार अन्वित।

विप्रकृष्ट वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन

तारावती—रसभंग का दूसरा हेतु यह होता है कि कोई वस्तु प्रकृत वस्तु से संबद्ध तो है किन्तु उनका सम्बन्ध बहुत ही कठिनाई से स्थापित किया जा सकता है। प्रकृत रस की अपेक्षा उस वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना दोष माना जाता है और उससे रसभंग हो जाता है। जो वस्तु सर्वथा असम्बद्ध है उसका वर्णन तो कोई उन्मत्त व्यक्ति ही करेगा किन्तु सम्बद्ध वस्तु का भी अधिक विस्तार से वर्णन दोष ही होता है। (सिंगभूपाल ने अंग रस को अंगी रस से अधिक महत्त्व देने में रसाभास माना है। शारदातनय इत्यादि दूसरे आचार्यों की भी कुछ ऐसी ही सम्मति है। काव्यप्रकाशकारने भी रसदोष-प्रकरण में 'अंगिनोऽननुसन्धानम्'...... तथा 'अनंगस्याभिधानम्'—ये दोष माने हैं। साहित्यदर्पणकारने भी रसदोष लिखा है—'अंगिनोऽननुसन्धानमनङ्गस्य च कीर्तनम्'। रसगंगाधर में इस तत्त्व का कई खण्डों में प्रतिपादन

किया गया है—'समान बलवाले, अधिक बलवाले या प्रतिकूल रसों का निबन्धन प्रकृत रस का विरोधी होने से दोष होता है।' 'इसी प्रकार अप्रधान प्रतिनायक इत्यादि के नाना प्रकार के चरित्रों का और अनेक प्रकार की सम्पत्ति का नायक के उन तत्त्वों की अपेक्षा अधिक का वर्णन नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने पर वर्णन के लिये अभीष्ट नायक का उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा और तत्प्रयुक्त रसपरिपोष भी नहीं हो सकेगा। अतः प्रतिनायक के चरित्र का उतना ही वर्णन करना चाहिए जितना नायक के चरित्रोत्कर्ष में सहायक हो। यदि प्रतिनायक का अधिक उत्कर्ष दिखला दिया जावेगा तो किसी विषबाण से शवर द्वारा महाराज के मारे जाने के समान नायक का विजय सांयोगिक ही रह जावेगा और प्रतिनायक का चरित्र नायक के उत्कर्ष में हेतुभूत नहीं हो सकेगा।' इसी प्रकार 'प्रकृत रस की अनुपकारक वस्तु का भी वर्णन प्रकृत रस के विराम में हेतु होने के कारण दोष होता है।') जैसे किसी नायक के विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन प्रारम्भ किया गया हो और कवि यमक इत्यादि अलंकारों का विशेष प्रेमी होने के कारण उस विप्रलम्भ का वर्णन छोड़कर पर्वत इत्यादि का वर्णन करने लगे। (विप्रलम्भ शृंगार में पर्वत इत्यादि की रमणीयता भी उद्दीपन विभाव के अन्दर आ सकती है। यदि कवि इतने ही सम्बन्ध को लेकर विप्रलम्भ शृंगार को छोड़कर पर्वत इत्यादि वर्णन में प्रवृत्त हो जावे तो वह दोष ही होगा। पहले कहा जा चुका है यमक इत्यादि का निबन्धन विप्रलम्भ शृंगार में विशेष रूप से विघ्न उत्पन्न करता है अप्रकृत-वर्णन के उदाहरण के रूप में किरातार्जुनीय का वह प्रकरण उपस्थित किया जा सकता है—जब अर्जुन तपस्या करने जाते हैं और उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए किन्नर, गन्धर्व और अप्सरायें भेजी जाती हैं। कवि वर्णन के प्रलोभन में पड़कर पर्वत, ऋतु, जलक्रीडा इत्यादि के वर्णन में ऐसा लगता है कि प्रकृत वर्णन दृष्टि से सर्वथा तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार शिशुपालवध में भगवान् कृष्ण युधिष्ठिर के यज्ञ में भाग लेने जा रहे हैं जहाँ उन्हें शिशुपाल का वध करना है। कवि वर्णन के व्यामोह में इतना अधिक पड़ जाता है कि कृष्ण के मार्गवर्णन के प्रसंग में रैवतक पर्वत, षड् ऋतु, जलक्रीडा, सन्ध्या, रात्रि, प्रभात इत्यादि के वर्णन में आठ, नौ सर्ग लगा देता है तथा पाठक सर्वथा भूल जाता है कि कथा कहाँ जा रही है। इस प्रकार के वर्णन सर्वथा सदोष होते हैं। अप्रासंगिक का थोड़ा बहुत वर्णन सह्य हो सकता है किन्तु इतना अधिक विस्तार अनुचित ही कहा जावेगा।)

(ध्वन्या०) अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्तिः रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम्। तत्रानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृंगारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने। अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तविविधवीरसङ्क्षये कल्पसङ्क्षयकल्पे सङ्ग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने। न चैवंविधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं

युक्तम्। इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक्—'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः' इत्यादिना।

अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन।

(अनु०) यह दूसरा रसभंग समझा जाना चाहिए कि विना अवसर रस का विच्छेद और विना अवसर प्रकाशन। उनमें विना अवसर इसका विराम जैसे किसी नायक के किसी स्पृहणीय समागम वाली नायिका के साथ श्रृङ्गार के बहुत बड़ी परिपोष पदवी को प्राप्त हो जाने पर और परस्पर अनुराग के विदित हो जाने पर समागमोपाय की चिन्ता के योग्य व्यवहार को छोड़कर स्वतन्त्ररूप में दूसरे व्यापारों का वर्णन करने में। बिना अवसर के रस का प्रकाशन जैसे जिस संग्राम में अनेक वीरों का संक्षय प्रारम्भ हो गया हो और जो कल्पनाश के समान उपस्थित हो उस संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर रामदेव के समान भी किसी नायक का, जिसका विप्रलम्भ श्रृङ्गार प्रारम्भ न किया हो, किसी उचित निमित्त के बिना ही श्रृङ्गार में प्रवेश के वर्णन में। इस प्रकार के विषयों में कथापुरुष का दैवव्यामोहितत्व परिहार ठीक नहीं है क्योंकि कवि का प्रवृत्तिनिमित्त प्रधानतया रसबन्धन ही होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इतिवृत्तवर्णन तो उसका उपायमात्र है—जैसे 'प्रकाश की इच्छा करनेवाला व्यक्ति दीपशिखा में यत्नवान् होता है' इत्यादि के द्वारा।

और इसलिये केवल इतिवृत्तवर्णन की प्रधानता होने पर अङ्गाङ्गि-भाव-रहित रसभाव के निबन्धन के द्वारा कवियों के इस प्रकार के स्खलित हो जाते हैं इसलिये रसभाव इत्यादि रूप व्यंग्यतात्पर्य ही इनका उचित है इसीलिये हमने यत्न आरम्भ किया है, केवल ध्वनि-प्रतिपादन के आग्रह से नहीं।

(लो०) **व्यापारान्तरस्येति।** यथा वत्सराजचरिते चतुर्थेऽङ्के—रत्नावलीनामधेयमप्यगृह्णतो विजयवर्मवृत्तान्तवर्णने। अपि तावदिति शब्दाभ्यां दुर्योधनादेस्तद्वर्णनं दूरापास्तमिति वेणीसंहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्वनति। अत एव वक्ष्यति 'दैवव्यामोहितत्वम्' इति। पूर्वं तु सन्ध्यङ्गाभिप्रायेण प्रत्युदाहरणमुक्तम्। कथापुरुषस्येति प्रतिनायकस्येति यावत्।

अत एव चेति। यतो रसबन्ध एव मुख्यः कविव्यापारविषयः इतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्ये सति यदङ्गाङ्गिभावरहितानामविचारितगुणप्रधानभावानां रसभावानां निबन्धनं तन्निमित्तानि स्खलितानि सर्वे दोषा इत्यर्थः। न **ध्वनिप्रतिपादनमात्रेति।** व्यङ्ग्योऽर्थो भवतु मा वा भूत् कस्तत्राभिनिवेशः? काकदन्तपरीक्षाप्रायमेव तत्स्यादिति भावः।

(अनु०) 'दूसरे व्यापार का'। जैसे वत्सराज चरित चतुर्थ अंक में रत्नावली का नाम भी न लेने वाले विजयवर्मा के वृत्तान्त वर्णन में। 'अपि तावत्' इन शब्दों से दुर्योधन इत्यादि का वह वर्णन दूर से ही परित्यक्त है इस प्रकार वेणीसंहार का द्वितीय अंक ही उदाहरण के रूप

में ध्वनित करता है। इसीलिए कहेंगे—'दैवव्यामोहितत्व'। पहले तो सन्ध्यङ्ग के अभिप्राय से प्रत्युदाहरण दे दिया। 'कथापुरुष का' अर्थात् प्रतिनायक का।

'इसीलिये' यह। क्योंकि रसबन्धन ही कवि के व्यापार का मुख्य विषय है। इतिवृत्तमात्र वर्णन के प्रधान होने पर जो अङ्गाङ्गिभावरहित अर्थात् गौण और प्रधान भाव का बिना विचार किये हुये रसों और भावों का निबन्धन तन्निमित्त स्खलित ही सब दोष (होते हैं) यह अर्थ है। 'ध्वनिप्रतिपादनमात्र' यह। व्यंग्य अर्थ हो या न हो उसमें क्या अभिनिवेश ? वह काकदन्तपरीक्षा के समान ही होगा यह भाव है।

अकाण्ड विच्छेद

तारावती—रसभंग का तीसरा हेतु यह होता है कि रस को ऐसे स्थान पर छोड़ देना जहाँ उसका छोड़ना उचित न हो और पाठक को रसविच्छेदजन्य अतृप्ति तथा खेद का अनुभव होता रहे। इसी प्रकार रस का ऐसे स्थान पर प्रकाशित करना जहाँ उसका प्रकाशन उचित न हो दोष ही कहा जावेगा। (काव्यप्रकाश—'अकाण्डे प्रथनच्छेदौ'। साहित्यदर्पण—'अकाण्डे प्रथनच्छेदौ'। रसगंगाधर—'विभिन्नरसों का प्रस्तावना के अयोग्य स्थान पर प्रस्ताव और विच्छेद के अयोग्य स्थान पर विच्छेद। जैसे सन्ध्यावन्दन देवयजन इत्यादि धर्म वर्णन के प्रसंग में किसी कामिनी के साथ किसी कामुक के अनुरागवर्णन में और जैसे—महायुद्ध में दुर्भट प्रतिभटों के उपस्थित होने पर और मर्मभेदी वचनों के बोलने पर नायक का सन्ध्यावन्दन करना इत्यादि'।) विना अवसर के रसविराम का उदाहरण जैसे—यदि किसी नायक के हृदय में किसी नायिका के समागम की स्पृहा उत्पन्न हो गई हो, शृंगार रसपरिपोष पदवी को प्राप्त हो गया हो और एक दूसरे का अनुराग प्रकट हो चुका हो क्योंकि रति के उभयनिष्ठ हुए बिना शृंगार का पूर्ण परिपोष कहा ही नहीं जा सकता। आशय यह है कि शृंगार रस पूर्वराग के रूप में स्थित हो ऐसी दशा में उचित व्यवहार यही हो सकता है कि समागम-उपाय सोचा जावे—दूतीसम्प्रेषण, पत्रलेखन, संकेत-निर्धारण इत्यादि की चेष्टा की जावे—किन्तु इसके प्रतिकूल यदि कोई कवि इन व्यवहारों को छोड़कर दूसरे कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे तो यह दोष होगा। जैसे 'तापसवत्सराज' में रत्नावली और उदयन के पूर्वराग उत्पन्न हो जाने के बाद चतुर्थ अङ्क में विजयवर्मा के वृत्तान्त का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है, विजयवर्मा रत्नावली का नाम तक नहीं लेते इस प्रकार प्रकृत रस में उदयन और रत्नावली के अनुराग का अतिक्रमण कर तथा उसको बीच में ही छोड़कर दूसरे कार्यव्यापारों का वर्णन प्रारम्भ कर दिया गया है। यह बिना अवसर के रस को छोड़ देने में दोष की व्याख्या की गई है।

बिना अवसर के विस्तार

दूसरा दोष तब होता है जब रस का बिना अवसर के विस्तार किया जाता है। उदाहरण के लिए जबकि महासमर का प्रारम्भ हो चुका हो, अनेक वीरों का संक्षय भी प्रवृत्त हो और प्रलय का दृश्य उपस्थित हो उस समय नायक की शृंगार चेष्टाओं का वर्णन किया जाने लगे तो यह शृंगार का बिना अवसर विस्तार अत्यन्त अनुचित होगा। फिर नायक चाहे रामदेव के समान ही क्यों न हो यदि उसके विप्रलम्भ शृङ्गार का उपक्रम नहीं किया गया होगा और शृङ्गार चेष्टाओं का कोई कारण भी

उपस्थित नहीं होगा तो उस दशा में उस नायक का शृङ्गार चेष्टाओं का वर्णन सर्वथा अनुचित ही कहा जावेगा। 'रामदेव जैसे का भी' यहाँ पर 'भी' कहने का आशय यह है कि भगवान् राम के लिए युद्ध तो एक साधारण सी बात है; उनके भ्रुकुटि-विलास से ही सारी सृष्टि का लय हो सकता है। उनके लिए युद्ध की चिन्ता क्या ? अतः युद्ध की विभीषिका से चिन्तित होना और आमोद प्रमोद में न पड़ना उनके लिए कोई अनिवार्य बात नहीं। किन्तु उन राम के विषय में भी यदि महान् वीरों के संक्षय के अवसर पर शृङ्गारक्रीडा का वर्णन किया जावे तो वह भी अनुचित ही होगा। फिर दुर्योधन इत्यादि के विषय में तो कहना ही क्या ? उनके विषय में शृङ्गार का विस्तार तो अनुचित होगा ही। वेणीसंहार के द्वितीय अंक में दुर्योधन का शृङ्गारप्रथन इसी का उदाहरण है।' 'रामदेव जैसे का भी' कहने से उसी उदाहरण की व्यंजना होती है। हाँ यदि विप्रलम्भ का उपक्रम हो या शृङ्गारप्रथन का कोई निमित्त उपस्थित हो तो इस प्रकार के वर्णन का अनौचित्य दूर हो सकता है। यहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस प्रकार के विषय में प्रतिनायक के शृङ्गार-बिस्तार के द्वारा लेखक का मन्तव्य यह व्यक्त करना होता है कि 'प्रतिनायक की बुद्धि ही दैववश मारी गई थी, अतः ऐसे अवसरों पर भी जब कि उसे सतर्क होकर चलना चाहिए था वह व्यर्थ की शृङ्गार चेष्टाओं में लगा हुआ था, फिर उसका विनाश क्यों न होता ?' किन्तु यह समाधान ठीक नहीं, क्योंकि कवि का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त रसबन्धन ही होता है यही कहना ठीक है। इतिवृत्तवर्णन तो एक उपायमात्र होता है जैसा कि प्रथम उद्योत में कहा जा चुका है—'जिस प्रकार आलोक का इच्छुक व्यक्ति दीपशिखा में यत्नवान् होता है।.....' इत्यादि। वेणीसंहार के द्वितीय अंक में दुर्योधन के शृङ्गारप्रथन का उदाहरण पहले भी आ चुका है किन्तु यहाँ पर सन्ध्यंग की पूर्ति के लिए कथा-भाग के समावेश को अनुचित बतलाने के उदाहरण के रूप में दुर्योधन और भानुमती के शृङ्गारप्रथन का उल्लेख किया गया था और यहाँ पर बिना अवसर के शृंगारप्रथन के प्रसंग में 'रामदेव जैसे का भी' इस 'भी' शब्द से उसकी व्यंजना की गई है। अतः विषयभेद होने से यहाँ पर पुनरुक्ति नहीं है। यहाँ पर 'कथापुरुष का दैवव्यामोहितत्व' में कथापुरुष का अभिप्राय है प्रतिनायक, प्रधान नायक नहीं; क्योंकि प्रधान नायक तो सफलता की ओर ही अग्रसर होता है उसका दैवव्या-मोहित होकर कार्य विगाड़ लेना उचित नहीं।

रसनिबन्धन ही कवि का प्रधान कार्य क्षेत्र होता है। यदि कवि ऐसा काव्य लिख रहा है जिसमें केवल इतिवृत्त की प्रधानता हो तो वह कभी कभी अपने काव्य को ग्राह्य बनाने के मन्तव्य से उसमें रसभाव इत्यादि की संयोजना करता चलता है—उस निबन्धन में न वह अनुबन्ध रसभावों के अङ्गाङ्गिभाव का ध्यान रखता है और न उनके गौण तथा प्रधान होने की ही कोई परवा करता है। इस कारण रसभावनिबन्धन के क्षेत्र में पद पद पर उसके प्रमाद-स्खलित होते हैं और वे ही सब दोष हो जाते हैं। अतः समस्त प्रबन्धों का तात्पर्य एकमात्र रस और भाव इत्यादि ही होना चाहिये और उसमें आनेवाले दोषों को बचाना चाहिये यह दिखाने के लिये ही हमने प्रस्तुत प्रकरण प्रारम्भ किया है, हमारा अभिनिवेश केवल ध्वनि का प्रतिपादन करना ही नहीं है। आशय यह है कि यहाँ पर कोई प्रस्तुत प्रकरण को ध्वनि से

असम्बद्ध कहकर अप्रासंगिकता का दोषारोपण कर सकता है। उस पर आनन्दवर्धन का कहना है कि इस प्रकरण को लिखने का हमारा मन्तव्य उन त्रुटियों की ओर संकेत करना है जो रसभावनिबन्धन में प्रायः कवियों से हो जाती हैं। इसका ध्वनि से भी सम्बन्ध है। किन्तु केवल ध्वनि का प्रतिपादन ही प्रस्तुत प्रकरण का मन्तव्य नहीं है। आशय यह है कि उस प्रकार के इतिवृत्तात्मक काव्य में ध्वनि हो या न हो इसमें हमारा क्या आग्रह ? वह तो काकदन्त परीक्षा के समान सर्वथा व्यर्थ ही है।

(ध्वन्या०) पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत्परिपोषङ्गतस्यापि रसस्य पौनः पुन्येन दीपनम्। उपयुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते।

(अनु०) फिर यह दूसरा रसभंग हेतु समझ लिया जाना चाहिये जो कि परिपोष को प्राप्त भी रस का पुनः पुनः दीपन। निस्सन्देह अपनी सामग्री से परिपोष को प्राप्त होनेवाला उपयुक्त रस बार-बार परामर्श किये जाने पर अत्यन्त मलिनकुसुम के समान कल्पित होता है।

पुनः पुनः दीपन

तारावती—दूसरा रसभङ्गहेतु यह समझा जाना चाहिये कि कोई रस विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों की उचित सामग्री के बल पर पूर्णतया परिपोष को प्राप्त हो गया हो फिर भी उसका पुनः पुनः दीपन किया जावे। यदि किसी उचित रस के परिपुष्ट हो जाने के बाद उसका उपभोग किया जा रहा हो और उस समय उसका बार-बार परामर्श किया जावे तो मसले हुये पुष्पों के समान उसमें मलिनता आ जाती है। जैसे कुमारसम्भव में रतिविलाप के अवसर पर कवि बार बार कहता चलता है कि 'रति विलाप करने लगी' 'रति छाती पीट कर रोने लगी' इत्यादि। इस प्रकार बार बार मसलने से पुष्प के समान रस मलिन पड़ जाता है और सहृदयों को उस ओर से विराग हो जाता है।

(ध्वन्या०) तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाषकथने। यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः। एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम्।

परिकरश्लोकाश्चात्र—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥
पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा॥
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः॥ इति।

(अनु०)—उसी प्रकार वृत्ति अर्थात् व्यवहार का जो अनौचित्य वह भी रसभङ्गहेतु ही होता है जैसे किसी नायक के प्रति किसी नायिका का उचित भङ्गिमा के बिना स्वयं सम्भोग की अभिलाषा के कथन करने में। अथवा भरतप्रसिद्ध कैशिकी इत्यादि वृत्तियों या दूसरे आलङ्कारिकों में प्रसिद्ध उपनागरिका इत्यादि का जो अनौचित्य अर्थात् अविषय में योजना वह भी रसभङ्गहेतु ही होता है। इस प्रकार इन रसविरोधियों और इसी दिशा में स्वयं कल्पित किये हुये दूसरे (रसविरोधों) का परिहार करने में अच्छे कवियों को सावधान रहना चाहिये।

और यहाँ परिकर श्लोक हैं—

'अच्छे कवियों के मुख्य व्यापार विषय रस इत्यादि होते हैं। उनके निबन्धन में उनको सर्वदा अप्रमत्त होना चाहिये।'

'जो नीरस प्रबन्ध वह कवि का महान् अपशब्द है। इससे वह दूसरों के द्वारा न याद किये जाते लक्षणवाला अकवि ही होता।'

'कीर्ति को प्राप्त करनेवाले पुराने कवि (यदि) विशृङ्खल वाणीवाले (हो गये हों) तो उनका सहारा लेकर मनीषी को यह नीति नहीं छोड़नी चाहिये।'

'वाल्मीकि व्यास प्रभृति जो प्रख्यात कवीश्वर हो गये हैं हमने उनके अभिप्राय से बाह्य यह मार्ग नहीं दिखलाया है।'

(लो०)—वृत्त्यनौचित्यमेव चेति बहुधा व्याचष्टे **तदपीत्यनेन** चशब्दं कारिकागतं व्याचष्टे। रसभङ्गहेतुरेव इत्यनेनैवकारस्य कारिकागतस्य भिन्नक्रमत्वमुक्तं। रसस्य विरोधायैवेत्यर्थः। **नायकं प्रतीति**। नायकस्य हि धीरोदात्तादिभेदभिन्नस्य सर्वथा वीररसानुवेधेन भवितव्यमिति तं प्रति कातरपुरुषोचितमधैर्ययोजनं दुष्टमेव।

तेषामिति रसादीनाम् **तैरिति** सुकविभिः। **सोऽपशब्द** इति दुर्यश इत्यर्थः। ननु कालिदासः परिपोषं गतस्यापि करुणस्य रतिविलासेषु पौनःपुन्येन दीपनमकार्षीत्, तत्कोऽयं रसविरोधिनां परिहारनिर्बन्ध इत्याशङ्क्याह—**पूर्व इति**।

न हि वशिष्ठादिभिः कथञ्चिद्यदि स्मृतिमार्गस्त्यक्तस्तद्वयमपि तथा त्यजामः। अचिन्त्यहेतुकत्वादुपरिचरितानामिति भावः। 'इति' शब्देन परिकरश्लोकसमाप्तिं सूचयति॥१९॥

(अनु०) 'वृत्त्यनौचित्य भी' इसकी बहुधा व्याख्या की है। 'वह भी' से कारिका में आये हुये 'च' शब्द की व्याख्या करते हैं। 'रसभङ्गहेतु ही' इसके द्वारा कारिका में आये हुये 'एव' शब्द का भिन्नक्रमत्व कहा गया है। अर्थात् रस के विरोध के लिये ही। 'नायक के प्रति' धीरोदात्तादिभेद से भिन्न नायक में निस्सन्देह वीररसानुवेध ही होना चाहिये अतः उसके प्रति कातर पुरुष के योग्य अधैर्य की योजना दूषित ही है।

'उनका' अर्थात् रस इत्यादि का। 'उनके द्वारा' अर्थात् अच्छे कवियों के द्वारा। 'वह अपशब्द है' अर्थात् अपयश है। (प्रश्न) कालिदास ने परिपोष को प्राप्त हुये भी करुण रस का रतिविलापों में पुनः पुनः दीपन किया है तो यह रसविरोधियों का परिहार का आग्रह कौन ? यह शङ्का कर के कहते हैं—'पहले के' यह।

किसी न किसी प्रकार वशिष्ठ इत्यादि ने यदि स्मृतिमार्ग छोड़ दिया तो उन्हीं के समान हम भी छोड़ें। क्योंकि ऊपर के चरित्रों का हेतु समझ में नहीं आता। यह भाव है। इति शब्द से परिकर श्लोकों की समाप्ति को सूचना देते हैं।

वृत्तियों का औचित्य

तारावती—वृत्ति का अनौचित्य एक दूसरा तत्त्व है जो रसभंग में हेतु ही होता है। वृत्ति के अनौचित्य के यहाँ पर तीन अर्थ हैं—१–वृत्ति अर्थात् व्यवहार का अनौचित्य। उदाहरण के लिये सामान्यतया कोई नायिका किसी पुरुष के सामने अपनी सम्भोग की अभिलाषा शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं करती। प्रेमप्रवृत्ति सर्वप्रथम शब्दों द्वारा प्रकट करना पुरुष का काम है। यदि नायिका प्रेम प्रकट करना चाहती है तो वह विलासचेष्टाओं और संकेतों के द्वारा अपना कार्य पूरा करती है। इस सामान्य व्यवहार का अतिक्रमण कर यदि किसी नायक के प्रति नायिका के सम्भोगाभिलाष का कथन कराया जावे और संकेतों तथा विलासचेष्टाओं का माध्यम न स्वीकार किया जावे तो यह व्यवहार का अनौचित्य होगा। २–इस विषय का दूसरा उदाहरण यह हो सकता है कि नायक के धीरोदात्त इत्यादि भेद किये गये हैं; धीरोदात्तता इत्यादि नायक में तभी आती है जब कि उसके अन्दर वीररस का अनुवेध हो इसके प्रतिकूल यदि धीरोदात्त इत्यादि में कातर पुरुष के योग्य अधैर्य दिखलाया जावे तो वह व्यवहार का अनौचित्य होगा और वह दोष ही होगा। २–भरत मुनि ने जिन कैशिकी इत्यादि वृत्तियों का उल्लेख किया है उनकी यथास्थान योजना रसाभिव्यक्ति में हेतु होती है। किन्तु इसके प्रतिकूल उनका अनौचित्य रसभङ्ग में हेतु होता है। अनौचित्य का यहाँ पर अर्थ है जहाँ कैशिकी इत्यादि वृत्तियों की योजना नहीं की जानी चाहिये वहाँ उनकी योजना करना। ३–उद्भट इत्यादि दूसरे आलङ्कारिकों ने जिन उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों का निरूपण किया है उनकी अविषय में योजना भी रसभङ्ग में हेतु होती है। (वृत्तियों का विस्तृत परिचय ३३वीं कारिका की व्याख्या में दिया जावेगा।) १९वीं कारिका का उत्तरार्ध इस प्रकार है—'रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव वा' यहाँ पर 'एव' शब्द 'वृत्त्यनौचित्य' के बाद जुड़ा है। किन्तु व्याख्या करने में इसकी योजना 'विरोधाय' के साथ कर ली जानी चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कारिकाओं में कहे हुये तत्त्व रसविरोध के लिये ही होते हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिये आनन्दवर्धन ने 'एव' शब्द को 'सभङ्गहेतुः' के साथ लगाया है। इस प्रकार जिन विरोधी तत्त्वों का उल्लेख प्रस्तुत कारिकाओं में किया गया है उनका परित्याग करने के लिये अच्छे कवियों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसी दिशा में दूसरे रसविरोधियों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये और उनका परिहार करने की भी चेष्टा करनी चाहिये। इस विषय में निम्नलिखित कतिपय परिकर श्लोक भी प्रसिद्ध हैं—

'अच्छे कवियों का मुख्य व्यापार विषय रस इत्यादि ही होते हैं अर्थात् सत्कवियों की क्रियाशीलता का सबसे बड़ा फल यही है कि रस इत्यादि की अभिव्यक्ति हो जावे। अतः उन अच्छे कवियों का सबसे बड़ा कर्तव्य यही है कि रस इत्यादि के निबन्धन में कभी प्रमाद न करें।'

'रसरहित प्रबन्धरचना कवि का बहुत बड़ा अपशब्द है अर्थात् कवि का सबसे बड़ा

अपयश यही है कि रसहीन प्रबन्ध की रचना करे। ('नीरस प्रबन्ध कवि का सबसे बड़ा अपयश है' इस वाक्य में 'आयुर्घृतम्' के समान जन्यजनक भाव में लक्षणा है अर्थात् नीरस काव्य कवि के अपयश का सबसे बड़ा जनक होता है।) इससे तो अच्छा यही है कि वह कवि ही न बने जिससे उसके नाम को कोई याद ही न करे।' (यदि नीरस काव्य लिखनेवाले कवि का कोई नाम लेगा तो उसकी निन्दा ही करेगा। अतः अच्छा तो यही है कि वह कवि ही न बने और न कोई उसका नाम ही स्मरण करे।)

(प्रश्न) कालिदास ने रतिविलापों में परिपोष को प्राप्त भी करुण-रस का पुनः पुनः दीपन किया है। इस प्रकार महाकवियों के भी ये रस-दोष देखे ही जाते हैं। (वेणीसंहार इत्यादि के दोष दिखलाये ही जा चुके हैं।) फिर आज-कल के कवियों पर यह अधिक जोर क्यों दिया जा रहा है कि रसविरोध का परिहार करना ही चाहिये? जब महाकवि भी इस प्रकार की त्रुटियाँ करते हैं तब आजकल के सामान्य कवियों से यदि ऐसी ही भूलें हों तो क्या आश्चर्य?

(उत्तर) 'पुराने कवियों की वाणी स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्त होती थी; उनको यश प्राप्त हो गया था। अतः यदि उनसे कहीं भूल हो गई हो तो उसका सहारा लेकर किसी मनीषी को रसविरोध की परिहारसम्बन्धिनी इस नीति का परित्याग नहीं करना चाहिये।'

आशय यह है महाकवियों की त्रुटियाँ उनकी महत्ता में ही ढँक जाती हैं। उनका सहारा लेकर साधारण व्यक्ति यदि वैसी भूलें करने लगे तो उसको त्राण प्राप्त नहीं हो सकता। (महाभाष्यकार ने भी लिखा है कि मूर्ख व्यक्ति अशुद्ध शब्द बोलकर दूषित हो जाता है। किन्तु जो विशेष विद्वान् होता है उसको अपनी विद्वत्ता का सहारा मिल जाता है और पाठकों का ध्यान महापण्डितों की सामान्य त्रुटियों की ओर नहीं जाता।) उदाहरण के लिये वशिष्ठ इत्यादि धर्मशास्त्र के महान् आचार्य तथा प्रतिष्ठित ऋषि थे। यदि उन्होंने कही धर्म-मार्ग की अवहेलना कर दी हो तो साधारण जन का यह कर्तव्य नहीं है कि उन महान् ऋषियों का निदर्शन लेकर धर्म-मार्ग का परित्याग करने लगे। महान् लोगों के चरित्र लोकोत्तर होते हैं। सामान्य व्यक्ति उनके हेतु की कल्पना भी नहीं कर सकता। अतः उनके अनुकरण पर न तो नीति-मार्ग का ही परित्याग करना चाहिये और न कला-जगत् में निश्चित सिद्धान्तों और मान्यताओं का ही अतिक्रमण करना चाहिये।'

(प्रश्न) रसविरोध तथा रसदोष के विषय में आपने जो मान्यतायें स्थापित की हैं उनमें प्रमाण क्या है? क्या आपके कथन से ही इन मान्यताओं पर विश्वास कर बन्धन स्वीकार कर लिया जावे?

उत्तर—'बहुत से प्रख्यात कवीश्वर साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित हैं जिनमें व्यास और वाल्मीकि मुख्य हैं। उनके काव्यों का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमने जो मान्यतायें निर्धारित की हैं वे सब इन मूर्धन्य कवियों को मान्य हैं और उनका अभिप्राय भी इन मान्यताओं के पक्ष में ही है। अतः हमने कोई बात मनमानी नहीं कही है' ॥१९॥

(ध्वन्या०) विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥२०॥

स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोषा।

बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति नान्यथा। तथा च तेषां युक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते। अङ्गभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते।

अङ्गभावप्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा। तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्। तेषाञ्च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्। तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्। आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः।

(अनु०) 'विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ हो जाने पर तो बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त विरोधियों की उक्ति दोषरहित होती है' ॥२०॥

विवक्षित रस के अपनी सामग्री से परिपोष को प्राप्त हो जाने पर विरोधियों की अर्थात् विरोधी रसाङ्गों की बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त होने पर उक्ति दोषरहित होती है।

विरोधियों का बाध्यत्व अभिभव के शक्य होने पर ही होता है; अन्यथा नहीं। अत एव उनका कथन प्रस्तुत रस के परिपोष के लिये ही हो जाता है। अङ्गभाव को प्राप्त होने पर उनका विरोध ही निवृत्त हो जाता है।

उनकी अङ्गभावप्राप्ति या तो स्वाभाविक होती है या आरोपकृत होती है। उसमें जिनकी नैसर्गिक (अङ्गभावप्राप्ति) होती है उनकी उक्ति में तो अविरोध ही होता है। जैसे विप्रलम्भ शृङ्गार में उसके अङ्ग व्याधि इत्यादि का। और उन (व्याधि आदि) का उस (शृङ्गार) के अङ्गों का ही अदोष होता है अतदङ्गों का नहीं। तदङ्गता के सम्भव होने पर भी मरण का उपन्यास ठीक नहीं। क्योंकि आश्रय के विच्छेद में रस का सर्वथा विच्छेद प्रसक्त हो जाता है।

(लो०) एवं विरोधिनां परिहारे सामान्येनोक्ते प्रतिप्रसवं नियतविषयमाह—**विवक्षित इति**। **बाध्यानामिति**। बाध्यत्वाभिप्रायेणाङ्गत्वाभिप्रायेण वेत्यर्थः। **अच्छला** निर्दोषेत्यर्थः। बाध्यत्वाभिप्रायं व्याचष्टे—**बाध्यत्वं हीति**।

अङ्गभावाभिप्रायमुभयथा व्याचष्टे, तत्र प्रथमं स्वभाविकप्रकारं निरूपयति—**तदङ्गानामिति**। निरपेक्षभावतया सापेक्षभावविप्रलम्भशृङ्गारविरोधिन्यपि करुणे ये व्याध्यादयस्सर्वथाङ्गत्वेन दृष्टाः **तेषामिति**। ते हि करुणे भवन्त्येव त एव च भवन्तीति। शृंगारे तु भवन्त्येव नापि त एवेति। **अतदङ्गानामिति**। यथालस्यौग्र्यजुगुप्सानामित्यर्थः। **तदङ्गत्वे चेति**। 'सर्वं एव शृङ्गारे व्यभिचारिण' इत्युक्तत्वादिति भावः। आश्रयस्य स्त्रीपुरुषान्यतरस्याधिष्ठानस्यापाये रतिरेवोच्छिद्येत तस्या जीवितसर्वस्वाभिमानरूपत्वेनोभयाधिष्ठानत्वात्।

(अनु०) इस प्रकार सामान्य रूप में विरोधियों के परिहार कह दिये जाने पर निश्चित विषयवाले प्रतिप्रसव (विपरीतनिर्दोषिता) कहते हैं—विवक्षित इत्यादि। 'बाध्यानाम्' यह। अर्थात् बाध्यत्व के अभिप्राय से अथवा अङ्गत्व के अभिप्राय से। अच्छला का अर्थ है निर्दोष।

बाध्यत्व के अभिप्राय की व्याख्या करते हैं—'बाध्यत्वं हि' इत्यादि।

अङ्गभाव के अभिप्राय को दो प्रकार से कहते हैं, उसमें प्रथम स्वाभाविक प्रकार का निरूपण करते हैं—'उसके अंगों का' यह। सापेक्ष भाव में होनेवाले विप्रलम्भ शृङ्गार के निरपेक्ष भाव में होने के कारण विरोधी भी करुण में जो व्याधि इत्यादि सर्वथा अंग के रूप में देखे गये हैं उनका यह (आशय है)। वे निस्सन्देह करुण में होते ही हैं और वे ही होते हैं। शृङ्गार में तो होते ही हैं और वे ही नहीं (होते)। 'अतदङ्गानाम्' इति। अर्थात् जैसे आलस्य औग्र्य और जुगुप्सा का।' और उसके अङ्गों 'का' यह। भाव यह है कि क्योंकि यह कहा गया है कि 'शृंगार में भी व्यभिचारी होते हैं। आश्रय का अर्थात् अधिष्ठानरूप स्त्री पुरुष दो में एक का विनाश हो जाने पर रति ही उच्छिन्न हो जावे। क्योंकि वह (रति) जीवितसर्व-स्वाभिमानरूप होने के कारण उभयनिष्ठ होती है।

विरोध परिहार का उपक्रम

तारावती—ऊपर रसविरोधी तत्त्वों का उल्लेख सामान्यरूप में किया जा चुका। अब उन तत्त्वों का परिचय दिया जावेगा जिनमें विरोधी तत्त्व विरोधी न रहकर पोषक के रूप में परिणत हो जाते हैं—

'कवि जिस रस की अभिव्यक्ति करना चाहता है यदि वह रस प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया हो और उसका विरोधी रस या तो बाध्य रूप में आवे अथवा विवक्षित रस का अङ्ग बन कर आवे तो इस प्रकार के विरोधी रस का उपादान सदोष नहीं कहा जा सकता' ॥२०॥

विरोध परिहार की शर्तें

रस की विभाव इत्यादि सामग्री रस का पोषक तत्त्व होती है। विरोधी रस के उपादान में विरोध को दूर करने की पहली शर्त यह है कि मुख्य रस की सामग्री में किसी प्रकार की कमी न रह जावे और उस सामग्री से मुख्य रस का पूर्णरूप में परिपोष हो जावे। दूसरी शर्त यह है कि मुख्य रस के जिस विरोधी रस का उपादान किया गया हो वह अपनी दुर्बलता के कारण बाध्य हो जावे अर्थात् मुख्य रस अपने विरोधी को अपनी दुर्बलता के कारण अपनी शक्ति से दबा ले अथवा विरोधी रस मुख्य रस का अङ्ग बन जावे ऐसी दशा में विरोधी रस तथा उसके अङ्गों का उपादान दोष नहीं होता। कोई भी रस अपने विरोधियों का बाध तो तभी कर सकता है जब उसमें इतनी शक्ति हो कि वह विरोधी को दबा सके, अन्यथा एक रस दूसरे का बाध नहीं कर सकता। एक रस में दूसरे को दबाने की शक्ति तभी आती है जब दबानेवाले रस की सामग्री पूर्ण हो और वह परिपोष को प्राप्त हो गया हो तथा दबने वाले रस की सामग्री न्यून हो और वह परिपोष को भी न प्राप्त हुआ हो। इस प्रकार जब मुख्य रस अमुख्य रस को दबा लेता है तब अमुख्य रस मुख्य रस का परिपोषक ही हो जाता है। (जैसे शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही किसी नायक की वास्तविक शोभा होती है उसी प्रकार विरोधी रस को दबा कर अपने आधीन कर लेने से ही मुख्य रस की शोभा बढ़ती है और इस प्रकार वह परिपुष्ट होता है।) यह तो हुई बाध्य होनेपर विरोधी रस के समावेश में निर्दोषिता की बात। कोई विरोधी रस मुख्य रस का पोषक उस समय भी हो जाता है जब कि वह मुख्य

रस का अङ्ग बन जावे। इस प्रकार भी विरोधी रस के समावेश में दोष-राहित्य आ जाता है। एक रस दूसरे का अङ्ग दो रूपों में बनता है या तो उसमें अंग बन जाने की स्वाभाविक योग्यता हो या उस पर अङ्गभाव का आरोप कर दिया जावे। उसमें जो रस या उसके अंग स्वाभाविक रूप में अंग हो जाते हैं उनके कथन में तो विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। उदाहरण के लिये काव्यशास्त्र में निर्वेद इत्यादि ३३ सञ्चारी माने जाते हैं। उनमें २९ सञ्चारी तो श्रृङ्गार रस में हो ही सकते हैं, उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा ये चार सञ्चारी परवर्ती आचार्यों के मत में श्रृङ्गार में नहीं होते। भरत ने केवल तीन सञ्चारियों का श्रृंगार में निषेध किया है आलस्य औग्रच और जुगुप्सा। भरत ने मरण का निषेध श्रृङ्गार में नहीं किया है। इस प्रकार तीन या चार सञ्चारी श्रृंगार में नहीं होते शेष २९ सञ्चारी श्रृंगार में होते हैं। श्रृंगार का विरोधी है करुण।

(ध्वन्या०) करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत्, न; तस्याप्रस्तुतत्वात्, प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु करुणरसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोधः। श्रृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तावदोषो यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति॥

यथा वा पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीयमुनिकुमारोपदेशवर्णने।

(अनु०) यदि कहो कि इस प्रकार के विषय में करुण का परिपोष हो जावेगा तो ऐसा नहीं होगा; क्योंकि वह प्रस्तुत नहीं है और प्रस्तुत का विच्छेद हो चुका है। जहाँ करुण का ही काव्यार्थत्व हो वहाँ विरोध नहीं होता। अथवा श्रृंगार में मरण के शीघ्र ही प्रत्यावर्तन सम्भव होने पर कदाचित् उपनिबन्धन अत्यन्त विरोधी नहीं होता। अधिक समय में प्रत्यावर्तन होने पर उसका मध्य में प्रवाहविच्छेद हो ही जाता है अतः रसबन्ध को प्रधान बनाकर चलनेवाले कवि के द्वारा इस प्रकार के इतिवृत्त का उपनिबन्धन छोड़ ही दिया जाना चाहिये।

उसमें विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ हो जाने पर विरोधी रसांगों के बाध्यत्व के रूप में कथन में अदोष जैसे—

'कहाँ तो दुष्कृत्य और कहाँ शशधर (चन्द्र) का वंश ? एक बार वह पुनः दिखलाई पड़ जाती ? हमारा शास्त्र तो दोषों की शान्ति के लिये होना चाहिये ! आश्चर्य है कि उसका मुख क्रोध में भी कमनीय प्रतीत होता है। कल्मषरहित कुशल बुद्धिवाले क्या कहेंगे ? वह तो

स्वप्न में भी दुर्लभ है। हे चित्त ! स्वस्थ हो जाओ। न जाने कौन धन्य युवक उसका अधर-पान करेगा !'

अथवा जैसे महाश्वेता के प्रति निर्भर अनुराग के प्रारम्भ होने पर पुण्डरीक के लिये दूसरे मुनिकुमार के उपदेशवर्णन में।

(लो०) **प्रस्तुतस्येति**। विप्रलम्भस्येत्यर्थः। **काव्यार्थत्वमिति**। प्रस्तुतत्वमित्यर्थः। नन्वेवं सर्व एव व्यभिचारिण इति विघटितमित्याशङ्क्याह—**शृङ्गारे वेति**। अदीर्घ-काले यदि मरणे विश्रान्तिपदबन्ध एव नोत्पद्यते तत्रास्य व्यभिचारित्वम्। **कदाचि-दिति**। यत्र तादृशीं भङ्गिं घटयितुं सुकवेः कौशलं भवति यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्या सरय्वो-
देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकचतुरया संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥

अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य। अत एव सुकविना मरणे पदबन्धमात्रं न कृतम्। अनूद्यमानत्वेनैवोपनिबन्धनात्। पदबन्धनिवेशे तु सर्वथा शोकोदय एवापरि-मितकालप्रत्यापत्तिलाभेऽपि।

अथ दूरपरामर्शकसहृदयसामाजिकाभिप्रायेण मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तेरङ्ग-तोच्यते, हन्त तापसवत्सराजेऽपि यौगन्धरायणादिनीतिमार्गाकर्णनसंस्कृतमतीनाम् वासवदत्तामरणबुद्धेरेवाभावात् करुणस्य नामापि न स्यादित्यलमवान्तरेण बहुना। तस्माद्दीर्घकालताऽत्र पदबन्धलाभ एवेति मन्तव्यम्। एवं नैसर्गिकाङ्गता व्याख्याता। समारोपितत्वे तद्विपरीतेत्यर्थलब्धत्वात् स्वकण्ठेन न व्याख्याता।

एवं प्रकारत्रयं व्याख्याय क्रमेणोदाहरति-**तत्रेत्यादिना**। **क्वाकार्यमिति**। वितर्क औत्सुक्येन, मतिः स्मृत्या, शंका दैन्येन, धृतिश्चिन्तया च बाध्यते। एतच्च द्वितीयोद्योतारम्भ एवोक्तमस्माभिः।

द्वितीयेति। विपक्षीभूतवैराग्यविभावाद्यवधारणेऽपि ह्यशक्यविच्छेदत्वे न दार्ढ्य-मेवानुरागस्योक्तं भवतीति भावः।

(अनु०) 'प्रस्तुत का' यह। अर्थात् विप्रलम्भ का। 'काव्यार्थत्व' यह। अर्थात् प्रस्तुतत्व। (प्रश्न) इस प्रकार सभी व्यभिचारी होते हैं यह बात कट जाती है यह शङ्का करके कहते हैं—'अथवा शृङ्गार में' यह। अदीर्घ कालवाले मरण में जहाँ विश्राम शब्द का प्रयोग ही सिद्ध नहीं होता वहाँ यह व्यभिचारी होता है। 'कदाचित्' यह। यदि उस प्रकार की भंगिमा को घटित करने का कवि का कौशल होता है। जैसे—

'जाह्नवी और सरयू के जल-सम्मिलन से उत्पन्न तीर्थ में शरीर त्यागने से अमर गणना के आलेख्य को शीघ्र ही प्राप्त होकर पहले आकार की अपेक्षा अधिक चतुर कान्ता से संगत होकर वे (अज) नन्दन के अन्दर लीलागारों में रमण करने लगे।

यहाँ पर स्पष्ट ही मरण रति का अंग हो रहा है। इसीलिये कवि ने मरण में पद-बन्धनमात्र (भी) नहीं किया। क्योंकि अनुवाद के रूप में ही उसका उपनिबन्धन किया गया है।

पदबन्ध के निवेश में तो अत्यन्त परिमित काल में ही पुनः प्राप्त हो जाने पर भी सर्वथा शोक का उदय ही हो जावेगा।

यदि दूर का परामर्श करनेवाले सहृदय सामाजिकों के अभिप्राय से मरण की अदीर्घ-कालीन प्रत्यापत्ति का अंग होना स्वीकार किया जाता है तब तो 'तापसवत्सराज' में भी यौगन्धरायण इत्यादि के नीतिमार्ग को सुनने से संस्कृत बुद्धिवाले (सहृदयों) में वासवदत्ता के मरण की बुद्धि न होने से करुण का तो नाम भी नहीं होगा। बस! अवान्तर अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता? अतः यहाँ दीर्घकालता तो पदबन्ध के लाभ में ही समझी जानी चाहिये। इस प्रकार नैसर्गिक अंगता की व्याख्या की गई। समारोपित होने पर उसके विपरीत होती है; अतः अर्थ प्राप्त होने के कारण स्वकण्ठ से व्याख्या नहीं की।

इस भाँति तीनों प्रकारों की व्याख्या करके क्रमशः उदाहरण देते हैं—

'वहाँ पर' इत्यादि के द्वारा। 'कहां तो अकार्य' यहाँ वितर्क औत्सुक्य से, मति स्मृति से, शंका दैन्य से और धृति चिन्ता से बाधित की जाती है। और यह हमने द्वितीय उद्योत के आरम्भ में ही कह दिया है।

'द्वितीय' यह। भाव यह है कि विपक्ष रूप में स्थित वैराग्य के विभाव इत्यादि के अवधारण में भी विच्छेद के अशक्य होने से अनुराग की दृढता ही कही हुई होती है।

शृंगार में करुण रस के संचारी भावों के समावेश पर विचार

तारावती—आलम्बन के एक होने पर शृंगार और करुण का विरोध होता है। करुण रस के व्यभिचारी भाव निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता इत्यादि होते हैं। इस प्रकार व्याधि इत्यादि सञ्चारियों की स्थिति दो प्रकार की हो गई—एक तो व्याधि-इत्यादि शृंगार के सञ्चारी भाव के रूप में आते हैं दूसरे ये शृङ्गार के विरोधी करुण में आते हैं। शृङ्गार और करुण का विरोध है इसमें तो सन्देह हो ही नहीं सकता। क्योंकि शृङ्गार रस (विप्रलम्भ शृङ्गार) सापेक्ष भाव में होता है और करुण निरपेक्ष भाव में। आशय यह है कि जहाँ आलम्बन के विद्यमान होने का निश्चय होने से पुनर्मिलन की अपेक्षा बनी रहे वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है और जहाँ मरण के निश्चय होने से पुनर्मिलन की अपेक्षा समाप्त हो जावे वहाँ करुण होता है। सापेक्ष भाव और निरपेक्ष भाव में विरोध होता है। अत एव करुण के व्यभिचारी भाव व्याधि इत्यादि शृङ्गार के विरोधी सिद्ध हुये। इन व्याधि इत्यादि सञ्चारियों का प्रयोग शृङ्गार में भी होता ही है (क्योंकि व्याधि इत्यादि को तो काम दशाओं में गिनाया गया है।) अतः शृङ्गार रस के अंग के रूप में यदि व्याधि इत्यादि का प्रयोग किया जाता है तो दोष नहीं होता। इसके प्रतिकूल यदि (इन व्याधि इत्यादि का करुण के अंग के रूप में अथवा) उन उग्रता इत्यादि सञ्चारियों का, जो शृङ्गार के अंग नहीं बन सकते, उपनिबन्धन किया जाता है तो वह दोष होता है। क्योंकि व्याधि इत्यादि के विषय में ये नियम बनाये जा सकते हैं—(१) व्याधि इत्यादि करुण में होते ही हैं। (२) करुण में व्याधि इत्यादि ही होते हैं। (३) शृङ्गार में व्याधि इत्यादि होते ही हैं और (४) शृङ्गार में केवल व्याधि इत्यादि ही नहीं होते। इस प्रकार यदि शृङ्गार के अंग के रूप में व्याधि इत्यादि विरोधी

करुण के अंगों का उपनिबन्धन किया जाता है तो वह दोष नहीं होता। यदि व्याधि इत्यादि का करुण के अंग में उपनिबन्धन किया जाता है या उग्रता इत्यादि शृङ्गारविरोधी अंगों का उपनिबन्धन किया जाता है तो वह दोष होता है। एक सिद्धान्त यह भी है कि शृङ्गार में सभी व्यभिचारी होते हैं। (शृङ्गार में उग्रता आलस्य, जुगुप्सा और इस सञ्चारियों का निषेध किया गया है। आलम्बन के प्रति उग्रता निषिद्ध है, किन्तु सपत्नी के प्रति उग्रता शृङ्गार का पोषण ही करती है। आलस्य प्रेम-व्यवहार में निषिद्ध है, किन्तु रति-जन्य आलस्य शृङ्गार का पोषक होता है। आलम्बन के प्रति जुगुप्सा निषिद्ध है, किन्तु प्रतिनायक अथवा सपत्नी के प्रति जुगुप्सा दूषित नहीं होती। इस प्रकार प्रायः सभी सञ्चारी शृङ्गार के सम्बन्ध में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।)

शृङ्गार में मरण के वर्णन पर विचार

उक्त प्रकार से यदि विरोधी उग्रता इत्यादि सञ्चारियों का शृङ्गार में उपादान सम्भव हो तो भी मरण का उपन्यास श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जब आश्रय ही नहीं रहेगा तब शृङ्गार का तो अत्यन्त विच्छेद हो जावेगा। अतः मरण का वर्णन शृङ्गार की किसी भी अवस्था में अनुकूल नहीं पड़ता। शृङ्गार का स्थायी भाव है रति, रति तभी होती है तब स्त्री पुरुष दोनों एक दूसरे को जीवनसर्वस्व मानने लगें। इस प्रकार रति उभय-निष्ठ होती है। अतः रति के आश्रय स्त्री पुरुष दोनों होते हैं। यदि इनमें एक का भी मरण हो गया तो रति ही उच्छिन्न हो जावेगी। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि शृङ्गार का न सही, मरण के बाद करुण का तो परिपोष हो जावेगा। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार के प्रकरण में सहृदयों की प्रवृत्ति शृङ्गार का आस्वादन करने के लिये होती है करुण के आस्वादन के लिये नहीं। अतः प्रस्तुत शृङ्गार रस ही है करुण नहीं। प्रस्तुत का विच्छेद दोष होगा ही। जहाँ पर करुण ही प्रस्तुत होता है तथा वही काव्यप्रवृत्ति का प्रयोजक होता है तथा उसी का आस्वादन करने के लिये सहृदयों को प्रवृत्त किया जाता है वहाँ मरण का वर्णन सदोष नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर पूछा जा सकता है कि जब मरण का वर्णन शृङ्गार में निषिद्ध ही है तब यह कहने का क्या आशय कि शृङ्गार में सभी सञ्चारी होते हैं? इसका उत्तर यह है कि विशेष अवस्थाओं में मरण भी शृङ्गार का पोषक होता है। यदि मरण के बाद शीघ्र ही पुनःसम्मिलन की सम्भावना उत्पन्न हो जावे तो कदाचित् उसका उपनिबन्धन अधिक सदोष नहीं माना जा सकता। मरण के बाद पुनः प्रत्यापत्ति का वर्णन इतना शीघ्र होना चाहिये कि पाठकों और दर्शकों की बुद्धि में रति का विच्छेद न होने पावे और न उनके हृदय में शृङ्गार की प्रतीति ही विश्रान्त हो सके। किन्तु इसमें शर्त यह है कि कवि के अन्दर इतनी कुशलता होनी चाहिये कि वह वस्तु की सङ्घटना ऐसे रूप में कर दे जिससे शृङ्गार की बुद्धि का विच्छेद न होने पावे। उदाहरण के लिये रघुवंश में अज की मृत्यु का वर्णन करते हुये महाकवि कालिदास ने लिखा है कि अपने दीर्घ रोग से परितप्त होकर अज ने प्रायोपवेशन प्रारम्भ कर दिया तब—

'जहाँ पर भगवती जाह्नवी और सरयू जैसी पवित्र नदियों का जल एक दूसरे से मिलता है और इसीलिये जहाँ पर तीर्थ बन गया है वहाँ पर शरीर का न्यास करने से अज

को शीघ्र ही अमरों में गणना प्राप्त हो गई। उधर इन्दुमती भी अपने लौकिक रूप से अधिक सुन्दर रूप धारण कर वहाँ आई। अपनी उस प्रेयसी से मिलकर अज, नन्दन उद्यान के अन्दर बने हुये क्रीडागृहों में विहार करने लगे।'

यहाँ पर अज की मृत्यु उनके प्रेयसीसम्मिलन और सम्भोग शृङ्गार में हेतु होने से रति का अङ्ग है यह बात स्पष्ट ही है। यहाँ पर ध्यान देनेवाली बात यह है कि आठ वर्ष पूर्व इन्दुमती की मृत्यु हो चुकी है और प्रियतमा के शोक में अज का विलाप करुणरसपरक ही है। क्योंकि परस्पर जीवितसर्वस्व माननेवालों में एक की तो मृत्यु हो चुकी है। अतः दूसरे को भी जीवितसर्वस्व होने का अधिकारी कोई दिखलाई नहीं देता। अत एव अष्टम सर्ग का अजविलाप सर्वथा करुणरसपरक ही है। उसी शोक से अभिभूत होकर अज भी रोगग्रस्त हो जाते हैं और अन्त में व्याधि के अचिकित्स्य हो जाने पर अपने पुत्र दशरथ को राज्य-भार सौंप कर अनशन करते हुए प्राणों का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार यह सारा वर्णन विप्रलम्भ-शृङ्गारपरक न होकर करुणरसपरक ही है। किन्तु मरने के पहले लिखा गया है है कि यद्यपि अज का वह रोग वैद्यों से असाध्य तथा प्राणान्त में हेतु था तथापि प्रियतमा के पीछे जाने में शीघ्रता कराने के कारण अज ने उस रोग को लाभ ही समझा।' इन शब्दों के द्वारा कालिदास ने मरण के द्वारा सम्मिलन की आशा प्रत्युज्जीवित कर दी है। इसके बाद ही अज की मृत्यु और उसके बाद प्रियतमा के साहचर्य की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण यह है कि जहाँ दो में किसी एक की मृत्यु हो जाने पर आलम्बनविच्छेद हो जाने से रसविच्छेद की सम्भावना उत्पन्न हो जावे वहाँ प्रत्युज्जीवन के भी तत्काल दिखला दिये जाने पर रसविच्छेद नहीं होता। इस प्रकरण में रघुवंश का जो पद्य उदाहृत किया गया है वह ठीक नहीं बैठता। क्योंकि एक की मृत्यु तो बहुत पहले हो चुकी है, यहाँ दूसरे की मृत्यु के बाद स्वर्ग में दोनों के पुनः समागम का वर्णन किया गया है। अतः करुण के बाद शृङ्गार के तत्त्व दिखलाए हैं। पर आचार्य का अभिप्राय केवल इतना ही है कि मरण भी शृङ्गार का उपकरण हो सकता है। इसी का यह उदाहरण है, सम्पूर्ण प्रकरण का उदाहरण नहीं। इस प्रकरण का ठीक उदाहरण होगा कादम्बरी का महाश्वेतावृत्तान्त। महाश्वेता कपिञ्जल की अभ्यर्थना पर अपने प्रियतम पुण्डरीक से मिलने चलती है; पुण्डरीक का वियोगव्यथा से देहावसान हो चुका है। महाश्वेता का विप्रलम्भ भली-भाँति करुणरूपता धारण नहीं कर सका है कि इतने में ही चन्द्र-मण्डल से एक व्यक्ति निकल कर पुण्डरीक के शव को उठा ले जाता है और आकाशवाणी हो जाती है कि महाश्वेता का पुण्डरीक से इसी शरीर में सम्मिलन होगा। इस आकाशवाणी के बाद विदेशगमन के समान पुनः सम्मिलन की आशा में विप्रलम्भ सुरक्षित रहता है। (कतिपय आचार्यों ने इस प्रकार को पृथक् ही करुणविप्रलम्भ की संज्ञा प्रदान की है।) मरण को शृङ्गार रस का अङ्ग बनाने के मन्तव्य से ही महाकवि कालिदास ने ऐसे किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया जिससे मरण की स्पष्ट प्रतीति हो और शृङ्गार की बुद्धि का विच्छेद हो जावे। यहाँ पर मरण के लिए 'देहन्यास' शब्द का प्रयोग किया गया है जो कि मरण का अनुवादमात्र है। अनुवाद के रूप में मरण का उल्लेख इसीलिए किया गया है कि शृङ्गारा-नुकूल बुद्धि का व्यवच्छेद न होने पावे। यदि मरणपरक किसी ऐसे पदबन्ध का प्रयोग कर

दिया जाता है जिससे बुद्धि का व्यवच्छेद हो जाने की सम्भावना हो तब चाहे कितना ही शीघ्र प्रत्युज्जीवन का वर्णन कर दिया जावे किन्तु शोक का उदय तो हो ही जाता है। यदि प्रत्युज्जीवन का बहुत समय बाद वर्णन किया जाता है तो बीच में शृङ्गार रस के प्रवाह का विच्छेद हो ही जाता है। अतः यदि कवि प्रधान रूप में शृङ्गाररस बन्ध के लिए प्रवृत्त हुआ हो तो उसे ऐसे इतिवृत्त का परित्याग ही करना चाहिए जिससे शृङ्गार रस की भावना के विच्छिन्न होने की सम्भावना हो। यहाँ पर प्रवाहविच्छेद होने देने का आशय यही है कि कवि को किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे प्रसङ्गागत रसबुद्धि विच्छिन्न हो जावे। कुछ लोगों ने अदीर्घकाल प्रत्यापत्ति इत्यादि ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की है—'मरण की प्रत्यापत्ति में जहाँ शीघ्र ही प्रत्युज्जीवन की सम्भावना होती है वहाँ मरण शृङ्गार का अङ्ग बन जाता है और यह शीघ्र ही प्रत्युज्जीवन की सम्भावना सामाजिक की दृष्टि से होती है। सहृदय सामाजिक दूर की बात को समझ लेता है। अतः वर्णन इस प्रकार का होना चाहिए कि सहृदय सामाजिक की शृङ्गाररसानुकूल बुद्धि में विच्छेद न होने पावे और उसे मरण के बाद शीघ्र ही पुनरुज्जीवन की सम्भावना अवभासित हो जावे।' किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है तापसवत्सराज में यौगन्धरायण के नीतिमार्ग को सहृदय पाठक सुनते ही हैं और पाठकों की बुद्धि उससे संस्कृत हो ही जाती है। अतः पाठकों को यह ज्ञात ही रहता है कि अभी वासवदत्ता मरी नहीं है—राजा मिथ्या प्रचार पर विश्वास करने के कारण भ्रम में है। अतः वहाँ पर करुण का नाम भी नहीं होगा। किन्तु पाठक करुण रस का आस्वादन करते ही हैं। बस इतना इस मान्यता के प्रतिकूल कहना काफी है। अधिक आवान्तर वस्तु के विस्तार की क्या आवश्यकता ? अत यहाँ पर निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है जिनसे बुद्धि-विच्छेद हो सके तब बुद्धिविच्छेद हो जाता है और जब ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता तब बुद्धिविच्छेद नहीं होता। अतः दीर्घकालता कवि की वाणी पर आधारित होती है समय पर नहीं। इस प्रकार इस बात की व्याख्या की जा चुकी कि जो रस या रसाङ्ग विरोधी रस में भी होते हैं और प्रकृत रस के परिपोषक हो सकते हैं उनको किस प्रकार प्रकृत रस का अङ्ग बनाया जाता है। दूसरे प्रकार के वे रस या रसाङ्ग होते हैं जो प्रकृत रस में कभी आते ही नहीं। वे सर्वदा प्रकृत रस के विरोधी ही होते हैं। उनको भी कवि अपनी वाणी की कुशलता से प्रकृत रस का अङ्ग बना देता है। इस विषय में कुछ अधिक कहना नहीं है। जो कुछ स्वाभाविक रसांगों की अंगता के विषय में कहा गया है उसके विपरीत सर्वथा विरुद्ध रसांगों के विषय में समझना चाहिए। (स्वाभाविक रसांगों के विषय में कहा गया था कि वे प्रकृत रस के अंग होकर ही उसका पोषण करते हैं। इसके विपरीत आरोपित रसांगों के विषय में कहा जा सकता है कि वे विरोधी रस के रसांग होकर ही प्रकृत रस का परिपोष करते हैं।)

(ध्वन्या०)—स्वाभाविक्यामङ्गभावप्राप्तावदोषो यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

इत्यादौ। समारोपितायामप्यविरोधो यथा 'पाण्डुक्षामम्' इत्यादौ। यथा वा 'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादौ।

(अनु०) स्वाभाविक अङ्गभावप्राप्ति में अदोष जैसे—

'मेघरूपी भुजङ्गम से उत्पन्न विष (जलरूपी गरल) वियोगिनियों के लिये चक्कर, अरति, आलस्यपूर्ण हृदयता, चेतना ज्ञान का अभाव, मूर्च्छा, अन्धकार (मोह) शरीर का अवसाद और मरण उत्पन्न करता है।'

इत्यादि में। समारोपित अङ्गता में भी अविरोध जैसे—'पाण्डुक्षामं वदनम्' इत्यादि में। अथवा जैसे 'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादि में।

(लो०)—**समारोपितायामिति।** अङ्गभावप्राप्ताविति भावः।

पाण्डुक्षामं वक्त्रं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥

अत्र करुणोचितो व्याधिः श्लेषभङ्ग्या स्थापितः। कोपादिपि बध्वेति हन्यत इति रौद्रानुभावानां रूपकबलादारोपितानां तदनिर्वाहादेवाङ्गत्वम्। तच्च पूर्वमेवोक्तं 'नातिनिर्वहणैषिता' इत्यत्रान्तरे।

(अनु०) समारोपिता में। 'अंगभाव प्राप्ति में' इतना शेष है।

'हे सखि तुम्हारा पांडु और क्षीण मुख, सरस हृदय और अलस शरीर तुम्हारे हृदय के अन्दर असाध्य रोग की सूचना देते हैं।'

यहाँ करुण के योग्य व्याधि श्लेष की भङ्गिमा से स्थापित की गई है। 'कोप से' यह 'बाँधकर' यह और 'मारा जाता हूँ' यह इन रूपकों के बल पर आरोपित अनुभावों का रूपक के निर्वहण करने से अंगत्व हो जाता है। वह पहले ही कहा गया है 'अत्यन्त निर्वहण की इच्छा न होना' इसके बीच में।

विरोधी रस की प्रकृत रस पोषकता के तीन रूप

तारावती—इस प्रकार किसी विरोधी रस या रसांग के प्रकृत रस के पोषक होने के तीन रूप हो सकते हैं—(१) यदि विरोधी का बाध कर दिया जावे, (२) यदि कोई तत्त्व विरोधी रस में सम्भव हो और प्रकृत रस में भी सम्भव हो तो उस तत्त्व का विरोध के अंग के रूप में उपादान न कर प्रकृत रस के अंग के रूप में ही उपादान किया जावे और (३) सर्वथा विरोधी रस-तत्त्व का प्रकृत रस पर आरोपकर उसे प्रकृत रस का अंग बना दिया जावे। अब क्रमशः इन तीनों के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

उक्त तीनों रूपों के साथ यह शर्त अनिवार्य है कि प्रकृत रस का पूर्ण परिपाक हो जाना चाहिए। तभी वह या तो दूसरे रस का बाध करता है या उसे अपना अंग बनाता है। (१) जब विरोधी रस बाध्य रूप में निबद्ध किया जाता है उसका उदाहरण जैसे 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः.........' इत्यादि पद्य जो कि द्वितीय उद्योत में भावशवलता के उदाहरण के रूप में लोचन में उद्धृत किया जा चुका है और वहीं उसकी व्याख्या भी की जा चुकी है। वहाँ पर प्रकृत रस श्रृङ्गार है। उसके व्यभिचारी भाव औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य तथा चिन्ता की अभिव्यक्ति होती है। साथ ही श्रृंगार के विरोधी शान्त रस के व्यभिचारी वितर्क, मति, शंका, और धृति की भी अभिव्यक्ति होती है। वितर्क का बाध औत्सुक्य द्वारा होता है।

इसी प्रकार मति का स्मृति के द्वारा, शङ्का का दैन्य के द्वारा और धृति का चिन्ता के द्वारा बाध हो जाता है। पर्यवसान में चिन्ता में ही विश्रान्ति होती है। इस प्रकार शृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक हो जाता है। विरोधी रस के व्यभिचारी वितर्क इत्यादि का सर्वथा बाध हो जाता है। अतः (विजित शत्रु के समान) वे व्यभिचारी (विजेता) शृङ्गार को पुष्ट ही करते हैं। अथवा दूसरा उदाहरण जैसे कादम्बरी में अच्छोद सरोवर के निकट महाश्वेता को पुण्डरीक का प्रथम दर्शन हो गया और पुण्डरीक ने सुगन्धित मञ्जरी तथा महाश्वेता ने एकावली एक दूसरे को प्रणय-निवेदन के संकेत के रूप में प्रदान कर दी। यहीं से परस्पर सहृदय सर्वस्वाभिमान रूप रति दोनों के हृदयों में जाग्रत हो गई। पुण्डरीक की विरहवेदनाके अपनोदन के मन्तव्य से उसके सहचर कपिञ्जल ने वैराग्य का उपदेश दिया। वह वैराग्य का उपदेश शृंगार के प्रसंग में आया था। यह विरोधी रस का समावेश था। किन्तु उस विरोधी रस का बाध कर शृंगार ही प्रमुख बन गया और वह विरोधी रस (शान्त) शृंगार के परिपोषक के रूप में ही परिणत हो गया। शान्त रस की शृंगार-परिपोषक के रूप में परिणति इस प्रकार हुई कि उससे यह सिद्ध हो गया कि यद्यपि विरोधी वैराग्य के विभाव इत्यादि का अवधारण किया गया तथापि अनुराग इतना दृढ़ था कि वैराग्य की कथाओं से भी उसका उपशम नहीं हो सका। इस प्रकार अनुराग की दृढ़ता को सिद्ध करना ही शान्त रस के उपादान का प्रयोजन है। अतः यहाँ पर शान्त का शृंगार में समावेश दोष नहीं अपितु गुण ही है।

(२) स्वाभाविक रूप में अंगभाव प्राप्ति में दोष न होने का उदाहरण जैसे—

'जलदरूपी भुजंगम से उद्भूत विष (जल और गरल) वियोगिनियों के लिये बलात् चक्कर, अरति, हृदय में आलस्य, चेष्टाशून्यता, अन्धकार, शरीरका टूटना और मरण उत्पन्न कर रहा है।'

उद्दीपन होने के कारण वर्षा का जल वियोगिनियों के लिये सर्प-विष जैसा ही है। जल की वर्षा करनेवाले काले बादल काले सांपों के समान हैं। विष शब्द के दो अर्थ हैं ही जल और गरल। अतः बादलों से छोड़ा हुआ जल सर्पों से छोड़े हुये विष के समान है। जिस प्रकार सर्पों के विष के प्रभाव से चक्कर आने लगते हैं, संसार की सारी वस्तुयें अच्छी नहीं लगतीं, शरीर ढीला पड़ जाता है, चेष्टा शक्ति जाती रहती है, मूर्छा आने लगती है, शरीर टूटने लगता है, आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। यही सब बातें वर्षा में वियोगिनियों के लिये होती हैं। यहाँ पर प्रस्तुत रस है विप्रलम्भ शृंगार। उसके विरोधी करुण के अंगभ्रमि इत्यादि हैं। किन्तु ये भ्रमि इत्यादि विप्रलम्भ के भी स्वाभाविक रूप में अंग बनने की क्षमता रखतें हैं। अत एव कवि ने इसको स्वाभाविक रूप में ही विप्रलम्भ का अंग बना दिया है।

(३) तीसरा प्रकार है ऐसे विरोधियों का प्रकृत पर आरोपकर उनको अंगरूपता प्रदान करना जो स्वाभाविक रूप में अंग नहीं बन सकते। इसका उदाहरण—

हे सखि! तुम्हारा मुख पीला तथा क्षीण पड़ गया है; हृदय सरलता से भरा हुआ है और शरीर आलस्य से परिपूर्ण है, ये सब बातें बतलाती हैं कि तुम्हारे हृदय के अन्दर ऐसा रोग घुस गया है जिसकी चिकित्सा दूसरे ही शरीर में सम्भव है।

यहाँ पर रोग का अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाना, मुख का पीला पड़ जाना इत्यादि विरोधी रस करुण के अंग हैं और अर्थ श्लेष की भंगिमा से अर्थात् ऐसे अनुभावों से जो उभयत्र सम्भव हैं इनका आरोप शृङ्गार पर किया गया है। आरोप कर देने से इनका विरोध जाता रहा है। (यह उदाहरण काव्यप्रकाश में भी आया है। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि चेहरे का पीलापन इत्यादि करुण के ही अंग (अनुभाव) नहीं होते अपितु शृङ्गार के भी अंग हो सकते हैं। अतः इनका कथन विरुद्ध नहीं माना जा सकता। काव्यप्रकाशकार का यह मत समीचीन ही प्रतीत होता है क्योंकि भरत ने भी व्याधि को केवल करुण का ही नहीं अपितु शृङ्गार का भी अंग माना है। सम्भवतः इसी अरुचि के कारण ध्वनिकार ने दूसरा उदाहरण दिया है।) दूसरा उदाहरण जैसे—'कोपात्कोमललोलबाहुलतिका' इत्यादि। इस पद्य की विस्तृत व्याख्या पहले की जा चुकी है। वहाँ पर यह कहा गया था कि वही अलङ्कार रस का पोषक होता है जिसके निर्वहण की इच्छा दृष्टिगत न हो रही हो। इसी मान्यता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत पद्य को उद्धृत किया गया था यहाँ पर इसको उद्धृत करने का आशय यह है कि 'कोप से' 'बाँध कर' और 'मारा जाता है' ये ऐसे तत्त्व हैं जो शृङ्गार में नहीं अपितु उसके विरोधी रौद्र में ही सम्भव हैं। इसमें बाहुलतिका पर बंधनपाशों का आरोप किया गया है; किन्तु बधू इत्यादि पर व्याध इत्यादि का आरोप नहीं किया गया। रूपक के अनिर्व्यूढ रहने से रौद्र का पूर्ण परिपाक नहीं हो सका है। इसके प्रतिकूल प्रकृत शृङ्गार का पूरा परिपाक हो गया है। इसलिये शृङ्गार का अंग होकर ही रूपक आया है और रूपक के बलपर विरोधी का प्रकृत पर आरोप करने का यह ठीक उदाहरण है।

(ध्वन्या०) इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं तस्यामपि न दोषः। यथोक्तम्—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादौ। कथं तत्र विरोध इति चेत्—द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात्। अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्-उच्यते। विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं नानुवादे।

यथा—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः॥

इत्यादौ। अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनूद्यमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति। श्लोके ह्यस्मिन्नीर्ष्याविप्रलम्भशृङ्गारकरुणवस्तुनोर्न विधीयमानत्वम्। त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वात्तदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात्।

(अनु०) और यह अङ्गभावप्राप्ति दूसरी है जो कि आधिकारिक होने से किसी एक प्रधान वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों या दो भावों की अंगभावप्राप्ति हो जाती है उसमें भी दोष नहीं होता। जैसा कि कहा गया है—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में। यदि कहो कि वहाँ अविरोध कैसे होता है तो (इसका उत्तर यह है कि) क्योंकि उन दोनों को अन्यपरक के रूप में ही व्यवस्थित किया जाता है। यदि कहो अन्यपरक होने पर भी विरोधियों की

विरोधनिवृत्ति किस प्रकार होती है तो उस पर कहते हैं—विरुद्धों का समावेश विधि में दुष्ट होता है अनुवाद में नहीं।

जैसे—'आओ, जाओ, गिरो, उठो, कहो, चुप रहो इस प्रकार आशारूपी ग्रह से ग्रस्त याचकों के साथ धनी लोग क्रीडा करते हैं।'

इत्यादि में। यहाँ निस्सन्देह विधि और निषेध के अनुवादरूप होने के कारण विरोध नहीं है उसी प्रकार यहाँ पर भी हो जावेगा। निस्सन्देह इस श्लोक में ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण इन दो वस्तुओं का विधीयमानत्व नहीं है। क्योंकि त्रिपुरारि के प्रभावातिशय के वाक्यार्थ होने के कारण उसके अङ्ग के रूप में उन दोनों की व्यवस्था होती है।

(लो०) **अन्येति**। चतुर्थोऽयं प्रकार इत्यर्थः। पूर्वं हि विरोधिनः प्रस्तुतरसान्तरेऽङ्गतोक्ता, अधुना तु द्वयोर्विरोधिनोर्वस्त्वन्तरेऽङ्गभाव इति शेषः। **क्षिप्त इति**। व्याख्यातमेतत्—'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' इत्यत्र। नन्वन्यपरत्वेऽपि स्वभावो न निवर्तते, स्वभावकृत एव च विरोध इत्यभिप्रायेणाह—**अन्यपरत्वेऽपीति**। **विरोधिनोरिति**। तत्स्वभावयोरिति हेतुत्वाभिप्रायेण विशेषणम्। **उच्यत इति**। अयं भावः—सामग्रीविशेषपतितत्वेन भावानां विरोधाविरोधौ न स्वभावमात्रनिबन्धनौ शीतोष्णयोरपि विरोधाभावात्। **विधाविति**। तदेव कुरु मा कार्षीरिति यथा। विधिशब्देनात्रैकदा प्राधान्यमुच्यते। अत एवातिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति न गृह्णन्तीति विरुद्धविधिर्विकल्पपर्यवसायीति वाक्यविदः। **अनुवाद इति**। अङ्गतायामित्यर्थः।

क्रीडाङ्गत्वेन ह्यत्र विरुद्धानामर्थानामभिधानमिति राजनिकटव्यवस्थिताततायिद्वयन्यायेन विरुद्धानामप्यन्यमुखप्रेक्षितापरतन्त्रीकृतानां श्रौतेन क्रमेण स्वात्मपरामर्शेऽप्यविश्राम्यताम्, का कथा परस्पररूपचिन्तायां येन विरोधः स्यात्। केवलं विरुद्धत्वादरुणाधिकरणस्थित्या यो वाक्यीय एषां पाश्चात्यः सम्बन्धः सम्भाव्यते स विघटताम्।

(अनु०) 'अन्या' यह। अर्थात् यह चौथा प्रकार है। पहले निस्सदेह विरोधी की प्रस्तुत दूसरे रस में अङ्गता कही गई, अब तो दोनों विरोधियों का दूसरी वस्तु में अंगभाव बतलाया जा रहा है' यह शेष है। 'क्षिप्त' यह। इसकी व्याख्या 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे.........' इस कारिका में की जा चुकी है। 'अन्यपरत्व में भी स्वभाव निवृत्त नहीं होता और विरोध स्वभावकृत ही होता है' इस अभिप्राय से प्रश्न करके कहते हैं—'अन्यपरत्व में भी' इत्यादि। 'विरोधियों का' यह। विरुद्ध स्वभाववालों का इस हेतुत्व के अभिप्राय से विशेषण है। 'कहा जा रहा है' यह। भाव यह है कि विशेष सामग्री में पड़े हुए भावों का ही विरोध या अविरोध होता है; केवल स्वभाव के ही आधीन नहीं होता। क्योंकि शीत और उष्ण का भी विरोध नहीं होता। 'विधि' में यह। जैसे 'वही करो' इसमें। विधि शब्द से यहाँ पर एकसमय प्रधानता कही जा रही है अत एव अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण करते हैं नहीं ग्रहण करते हैं यह विरुद्धविधि विकल्प में पर्यवसित होती है यह वाक्यज्ञों का मत है। 'अनुवाद में यह'। अर्थात् अंगता में।

यहाँ पर निस्सन्देह क्रीडा के अंग के रूप में विरुद्ध भी अर्थों का अभिधान किया गया है इस प्रकार राजा के निकट बैठे हुये दो आततायियों के न्याय से विरुद्ध भी अन्यमुखप्रेक्षी

होने के कारण परतन्त्र किये हुये श्रुतिक्रम से अपने परामर्श में भी विश्राम न पानेवाले (तत्त्वों का क्रीडा में अंग के रूप में अन्वय होता है।) परस्पर रूप चिन्ता के विषय में तो कहना ही क्या जिससे विरोध हो। विरुद्ध होने के कारण केवल अरुणाधिकरणस्थिति से जो इसके बाद वाक्यीय सम्बन्ध की सम्भावना की जाती है वह विघटित हो जावेगी।

विरोधी रसों का प्रकृत रस में समावेश

तारावती—ऊपर उन तीन प्रकारों का वर्णन किया जा चुका जिनमें एक विरोधी रस दूसरे प्रकृत रस का अङ्ग हो सकता है और उस विरोधी का प्रकृत के साथ सन्निवेश दूषित नहीं माना जाता। इनके अतिरिक्त एक चौथा प्रकार और होता है। पूर्वोक्त तीन प्रकारों से इस चौथे प्रकार में भेद यह होता है कि पूर्वोक्त तीन प्रकारों में विरोधी रस प्रकृत का पोषक किस प्रकार होता है यह दिखलाया गया है। इस चौथे प्रकार में यह दिखलाया जा रहा है कि दो परस्पर विरोधी रस प्रकृत रस में सन्निविष्ट किस प्रकार होते हैं। वह प्रकार यह है कि यदि आधिकारिक होने के कारण एक वाक्यार्थ (रस) प्रधान हो और परस्पर विरोधी दो रस या भाव उस एक आधिकारिक की ही पुष्टि कर रहे हों तो उन दोनों के अङ्गरूपता धारण करने में भी कोई दोष नहीं होता। आशय यह है कि विरोधमूलकदोष तो तभी हो सकता है जब दो विरोधी परस्पर सम्बद्ध हों। जहाँ विरोधियों का परस्पर सम्बन्ध ही नहीं होता, उनमें प्रत्येक किसी दूसरे को पुष्ट करता है वहाँ न तो उनका विरोध ही होता है और न विरोध-मूलक दोष ही वहाँ पर होता है। जब दोनों पृथक् प्रस्तुत रस का परिपोषण कर देते हैं फिर यदि वे सम्बद्ध भी होते हैं तो भी उनका विरोध अकिञ्चित्कर होता है। यह तो हो ही सकता है कि दो विरोधी राजा किसी तीसरे अपने से बड़े राजा के हितसाधक हों। उदाहरण के लिए 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि अमरुक के पद्य को लीजिए। इसकी व्याख्या 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे—' इस कारिका में की जा चुकी है। यहाँ पर प्रधानीभूत वाक्यार्थ है—त्रिपुरारि का प्रभावातिशय और उसके अङ्ग हैं करुण तथा शृङ्गार। ये दोनों परस्पर विरोधी रस हैं किन्तु दोनों ही भगवान् शंकर के प्रभाव की अधिकता को ख्यापित करने में सहयोग देते हैं अतः दोनों का परस्पर समावेश दूषित नहीं माना जा सकता। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो सर्वथा विरोधी होते हैं उनके विरोध की निवृत्ति हो ही किस प्रकार सकती है? इसका उत्तर यह है कि उक्त स्थल पर विरोधी रस स्वतन्त्र नहीं होते अतः वे अपने विरोध का निर्वाह भी नहीं कर सकते। वे अन्य परक होते हैं और स्वयं विरोधी होते हुए भी विरोध का पालन नहीं कर सकते और दोनों ही स्वामी का कार्य बनाते ही हैं। इस पर यह पूछा जा सकता है कि विरोधी अनुचर अपने स्वामी का ही कार्य बनाते हैं, स्वयं तो मित्र नहीं बन जाते। अन्यपरक होते हुए भी किसी का स्वभाव तो कहीं नहीं चला जाता। विरोध में कारण तो स्वभाव ही होता है। ऐसी दशा में उनकी विरोधनिवृत्ति की बात करना कैसे संगत हो सकता है? यहाँ पर मूल में जो 'विरोधिनोः' यह विशेषण दिया गया है उसका अर्थ है विरोधी स्वभाववाला होना। यह विशेषण हेतुगर्भित है। अर्थात् क्योंकि उनका स्वभाव ही विरोध रखना है फिर वे अन्यपरक होकर भी विरोध का परित्याग कैसे कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि विधि में विरोधी का समावेश दूषित होता है, अनुवाद में नहीं। इसको इस

प्रकार समझिये—यह समझना ठीक नहीं है कि दो विरोधियों के विरोध का आधार केवल स्वभाव ही होता है। दो वस्तुओं का विरोध या अविरोध स्वभाव के आधार पर भी होता है और विशेष प्रकार की सामग्री में पड़ना भी उनके विरोध या अविरोध का आधार होता है। उदाहरण के लिए शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श में परस्पर विरोध है। यह स्वाभाविक विरोध इस रूप में होता है कि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श दोनों एक अधिकरण में नहीं रह सकते। इसी प्रकार शीतस्पर्श या उष्णस्पर्श द्रव्यत्व के साथ या रूप इत्यादि गुणों के साथ एक अधिकरण में रह सकता है यह उनका स्वाभाविक अविरोध है। इसी प्रकार शीतस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य में उष्णस्पर्श की उत्पत्ति प्रतिबद्ध हो जाती है यह उनका द्रव्यविशेष में सन्निविष्ट होने से विरोध का उदाहरण है। इसी प्रकार शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का सामग्री सन्निवेश-जन्य अविरोध वहाँ पर हो सकता है जो द्रव्य शीत तथा उष्ण दोनों प्रकार के उपकरणों से बनाया जाता हो। आशय यही है कि भावों का विरोध या अविरोध सामग्रीविशेष से संयुक्त होने के कारण होता है, शीत और उष्ण के समान केवल स्वभाव से ही उनका विरोध या अविरोध नहीं होता। वाक्य में दो भाग होते हैं—एक तो ज्ञात तत्त्व जिनके विषय में कोई बात कही जाती है, उसे वाक्य का उद्देश्य अथवा अनुवाद भाग कहते हैं। दूसरा अंश होता है अज्ञात अंश जो कि बतलाया जाता है, उसे विधि अंश अथवा विधेय अंश कहते हैं। विधेय में विरोधियों का समावेश दूषित होता है उद्देश्य में नहीं। क्योंकि दो विरोधी कार्य एक साथ किये ही नहीं जा सकते किन्तु दो विरोधियों से सम्बन्ध रखने वाला कोई अन्य कार्य तो किया ही जा सकता है। उदाहरण के लिए—'यह कार्य करो' 'मत करो' इन दो विरोधी आदेशों का पालन नहीं किया जा सकता क्योंकि इन दोनों में विधेय में ही विरोध है। किन्तु विधेय में विरोध के विषय में इतना और समझ लेना चाहिए कि विरोधी विधेयों का समावेश वहीं पर दूषित होता है जहाँ एक ही स्थान पर एक ही समय में दो विरोधियों की प्रधानता बतलाई जाती है। यदि कहीं शास्त्र में इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध तत्त्वों का एक साथ विधान होता है तो उनका एक ही में समावेश नहीं हो सकता अपितु उनका पर्यवसान विकल्प में होता है। उदाहरण के लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ का विधान स्वर्ग के उद्देश्य से किया गया है। ज्योतिष्टोम में १२ स्तोत्र आते हैं। इस स्तोत्रों का विभिन्न क्रम से गान किया जाता है। अन्त में जो स्तोत्र आता है उसी के आधार पर ज्योतिष्टोम का भेद किया जाता है। इस भाँति ज्योतिष्टोम चार प्रकार का हो जाता है—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। ज्योतिष्टोम यज्ञों में सोम को रखने लिये जिस पात्र को काम में लाया जाता है उसे 'षोडशी' कहते हैं। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में लिखा हुआ है कि—'अतिरात्र (नामक ज्योतिष्टोम के प्रकार) में षोडशी को ग्रहण करता है।' फिर लिखा है कि—'अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नहीं करता है।' इस प्रकार अतिरात्र के विषय में दो विरुद्ध विधान पाये जाते हैं। शास्त्र-विधि व्यर्थ तो हो ही नहीं सकती। अतः दोनों की चरितार्थता के लिये विकल्प में अर्थ का पर्यवसान हो जाता है। दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। अतः विकल्पपरक अर्थ करना पड़ता है। आशय यह है कि अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण न करने

का दोष नहीं होता। क्योंकि न ग्रहण करने की विधि भी मौजूद है। इस प्रकार विधेय में दो विरोधियों की समान कोटि की प्रधानता दूषित होती है।

ऊपर विधेय में दो विरोधियों के समावेश में सदोषता का परिचय दिया गया है। अब उद्देश्य में विरोधियों के समावेश में दोष नहीं होता यह बतलाया जा रहा है। निम्नलिखित उदाहरण लीजिये—

'आशा रूपी ग्रह से ग्रस्त याचकों से धनी लोग इस प्रकार क्रीड़ा करते हैं कि—आओ-जाओ, उठो गिरो, बोलो—चुप रहो इत्यादि।' आशय यह है कि धनी लोगों का याचकों को अपनी क्रीडा का साधन बनाना एक सामान्य स्वभाव होता है। कभी वे उनसे कहते हैं आओ, कभी जाओ, कभी कहते हैं उठो और कभी कहते हैं गिरो, कभी कहते हैं बोलो और कभी कहते हैं चुप रहो। यह सब उनका खिलवाड़ ही होता है। वे जैसा चाहते हैं वैसी ही आज्ञा देते हैं और चूँकि याचक आशारूपी ग्रह से ग्रसे हुये होते हैं, अतः जैसा कुछ उनसे कहा जाता है वैसा उन्हें पालन करना पड़ता है।

यहाँ पर 'आओ', 'जाओ' 'गिरो' 'उठो' 'बोलो' 'चुप रहो' ये सब परस्पर विरुद्धार्थक शब्द हैं। किन्तु ये सब अनुवाद ही हैं क्योंकि धनियों की भाषा का इनमें अनुवाद किया गया है। विधेय है क्रीडा करना। क्रीडारूप विधेय के ये सब परस्पर विरोधी तत्त्व अंग बनकर आये हैं। अतः विरोधियों का एकत्र समावेश यहाँ पर दोष नहीं है। यह ऐसे ही होता है जैसे दो विरोधी एक दूसरे के प्राण लेने पर उतारू हों किन्तु जब वे राजा के निकट पहुँचते हैं तब एक दूसरे के साथ चुपचाप बैठ जाते हैं, वहाँ वे अन्यमुखप्रेक्षी होते हैं इसीलिये उनकी स्वतन्त्रता जाती रहती है। इसी प्रकार यहाँ पर भी 'आओ' 'जाओ' इत्यादि परस्पर विरोधी तत्त्व 'क्रीडा' रूप विधेय के मुखप्रेक्षी हैं। अतः ये उसके आधीन ही हो गये हैं। जब हम इनको सुनते हैं तब सुनने के क्रम से ही इनके अर्थ का परामर्श होता जाता है। किन्तु क्योंकि ये दूसरे अर्थ के साधक के रूप में आये हैं, अतः इनका विश्राम अपने शाब्दिक अर्थ में ही नहीं होता अपितु ये क्रीडा का अंग बन जाते हैं। इनके परस्पर स्वभाव चिन्तन का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः इनका विरोध भी नहीं होता। क्योंकि विरोध तो तभी होता है जब परस्पर स्वरूप का चिन्तन किया जावे। केवल इतना अन्तर अवश्य पड़ जाता है कि साधारण वाक्यों में समस्त उद्देश्य पहले तो विधेय का प्रतिपादन करते हैं और बाद में स्वयं परस्पर संयुक्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिये ज्योतिष्टोम प्रकरण में अरुणाधिकरण आता है। वहाँ एक श्रुति-वाक्य है—'अरुणा, पिङ्गाक्षी, एक वर्षवाली के द्वारा सोमको खरीदता है।' अर्थात् सोम को एक वर्ष की गाय से खरीदना चाहिये। जिसका रंग लाल हो और आँखें पीली हों। मीमांसकों के मत में शाब्दबोध में भावना प्रधान रहती है। 'अरुणया' 'पिङ्गाक्ष्या' और 'एकहायन्या' इन तीनों शब्दों में करण में तृतीया है। अतः क्रमरूप आख्यात (क्रिया) जन्य भावना के साथ इनका अन्वय करण के रूप में पृथक्-पृथक् होता है। बाद में इनका परस्पर भी सम्बन्ध हो जाता है। 'अरुणा' और 'पिङ्गाक्षी' ये गुण हैं और 'एकहायनी' यह द्रव्य। द्रव्य और गुण का विरोध नहीं होता। अतः इन सब के पृथक्-पृथक् क्रम रूप भावना

से सम्बन्ध होने पर भी परस्पर अन्वय हो जाता है और उसका अर्थ यह निकल आता है जो एक वर्ष की गाय लाल हो तथा पीले नेत्रों वाली हो उससे सोमलता के क्रय की भावना करनी चाहिये। यह तो वहाँ पर होता है जहाँ पृथक्-पृथक् सम्बद्ध होनेवाले अनुवाद रूप शब्द एक-दूसरे के विरोधी नहीं होते। यह बात ऐसे स्थलपर लागू नहीं होती जहाँ भावना के सम्बद्ध तत्त्व परस्पर विरुद्ध होते हैं। वहाँ पर वे तत्त्व पृथक्-पृथक् भावना से तो सम्बद्ध होते हैं किन्तु उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। यही बात यहाँ पर भी होती है कि आओ जाओ इत्यादि विरोधी क्रीडारूप भावना से अन्वित हो जाते हैं किन्तु बाद में उनका परस्पर अन्वय नहीं होता केवल इतना ही अन्तर पड़ता है वैसे दो विरोधियों द्वारा एक ही भावना को पुष्ट करने में कोई विरोध नहीं।

(ध्वन्या०) **न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात् वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते। यैर्वा साक्षात् काव्यार्थता रसादीनां नाभ्युपगम्यते तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या। तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः। यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तुसहकारिणो विधीयमानांशाद्भावविशेषप्रतीतिरुत्पद्यते ततश्च न कश्चिद्विरोधः। दृश्यते हि विरुद्धोभयसहकारिणः कारणात्कार्यविशेषोत्पत्तिः। विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहकारित्वम्। एवंविधविरुद्धपदार्थविषयः कथमभिनयः प्रयोक्तव्य इति चेत्—अनूद्यमानैवंविधवाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति। एवंविध्यनुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद्विरोधः।**

(अनु०) रसों में विधि और अनुवाद का व्यवहार नहीं होता यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन (रसादिकों) को वाक्यार्थ के रूप में माना गया है। वाच्यार्थ के और वाच्य के जो विधि और अनुवाद उनका उस (वाच्य) के द्वारा आक्षिप्त होनेवाले रसों के विषय में निवारण कौन कर सकता है? अथवा जो लोग रस इत्यादिकों की साक्षात् काव्यार्थता को स्वीकार नहीं कर सकते हैं उनको रसों की तन्निमित्तता (वाच्यनिमित्तता) अवश्य माननी पड़ेगी तथापि यहाँ पर श्लोक में विरोध नहीं है क्योंकि भावविशेष की प्रतीति ऐसे विधीयमानांश से उत्पन्न होती है जिसमें अनुवाद किये जानेवाले अङ्गों को निमित्त मानकर उत्पन्न होनेवाली दोनों प्रकार की रसवस्तु सहकारी के रूप में रहती है। निस्सन्देह दोनों विरोधी सहकारी कारणों से कार्यविशेष की उत्पत्ति देखी है। एक कारण का विरुद्धफलोत्पादन में हेतु बनना विरुद्ध होता है; दोनों विरोधियों का सहकारी होना विरुद्ध नहीं होता। यदि कहो कि इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थों के विषय में अभिनय का प्रयोग कैसे किया जावे तो अनुवाद किये जानेवाले इस प्रकार के वाच्य के विषय में जो बात होगी वह यहाँ भी हो जावेगी। इस विधि और अनुवाद के आश्रय से यहाँ विरोध परिहार हो गया।

(लो०) ननु प्रधानतया यद्वाच्यं तत्र विधिः। अप्रधानत्वेन तु वाच्येऽनुवादः। न च रसस्य वाच्यत्वं त्वयैव सोढमित्याशङ्कमानः परिहरति—**न चेति**। प्रधानाप्रधानत्वमात्रकृतौ विध्यनुवादौ। तौ च व्यङ्ग्यतायामपि भवत एवेति भावः। मुख्यतया

च रस एव काव्यवाक्यार्थं इत्युक्तम् । तेनामुख्यतया यत्र सोऽर्थस्तत्रानूद्यमानत्वं रसस्यापि युक्तम् । यदि वानूद्यमानविभावादिसमाक्षिप्तत्वाद्रसस्यानूद्यमानता तदाह—**वाक्यार्थस्येति** । यदि वा माभूदनूद्यमानतया विरुद्धयो रसयोः समावेशः, सहकारितया तु भविष्यतीति सर्वथा विरुद्धयोर्युक्तियुक्तोऽङ्गाङ्गिभावो नात्र प्रयासः कश्चिदिति दर्शयति **यैवेति । तन्निमित्ततेति** । काव्यार्थो विभावादिर्निमित्तं येषां रसादीनां ते तथा तेषां भावस्तत्ता । अनूद्यमाना ये हस्तक्षेपादयो रसाङ्गभूता विभावादयस्तन्निमित्तं यदुभयं करुणविप्रलम्भात्मकं रसवस्तु रससजातीयं तत्सहकारि यस्य विधीयमानस्य शाम्भवशरवह्निजनितदुरितदाहलक्षणस्य तस्माद्भावविशेषे प्रेयोलङ्कारविषये भगवत्प्रभावातिशयलक्षणे प्रतीतिरितिसङ्गतिः । विरुद्धं यदुभयं वारितेजोगतं शीतोष्णं तत्सहकारि यस्य तण्डुलादेः कारणस्य तस्मात्कार्यविशेषस्य कोमलभक्तकरणलक्षणस्योत्पत्तिर्दृश्यते । सर्वत्र हीत्थमेव कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरादौ नान्यथा ।

ननु विरोधस्तर्हि सर्वत्राकिञ्चित्करः स्यादित्याशङ्क्याह—**विरुद्धफलेति** । तथा चाहुः—'नोपादानं विरुद्धस्य' इति । नन्वभिनेयार्थे काव्ये यदीदृशं वाक्यं भवेत्तदा यदि समस्ताभिनयः क्रियते तदा विरुद्धार्थविषयः कथं युगपदभिनयः कर्तुं शक्य इत्याशयेनाशङ्कमान आह—**एवमिति** । एतत्परिहरति—**अनूद्यमानेति** । अनूद्यमानमेवंविधं विरुद्धाकारं वाच्यं यत्र तादृशो विषयः 'एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ' इत्यादिस्तत्र या वार्ता सात्रापीति ।

एतदुक्तं भवति—'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादौ प्राधान्येन भीतविप्लुतादि दृष्ट्युपपादनक्रमेण प्राकरणिकस्तावदर्थः प्रदर्शयितव्यः । यद्यप्यत्र करुणोऽपि पराङ्गमेव तथापि विप्रलम्भापेक्षया तस्य तावन्निकटं प्राकरणिकत्वं महेश्वरप्रभावं प्रति सोपयोगत्वात् । विप्रलम्भस्य तु कामीवेत्युत्प्रेक्षोपमाबलेनायातस्य दूरत्वात् । एवञ्च सास्रुनेत्रोत्पलाभिरत्यन्तं प्राधान्येन करुणोपयोगाभिनयक्रमेण लेशतस्तु विप्रलम्भस्य करुणेन सादृश्यात्सूचनां कृत्वा । कामीवेत्यत्र यद्यपि प्रणयकोपोचितोऽभिनयः कृतस्तथापि ततः प्रतीयमानोऽप्यसौ विप्रलम्भः समनन्तराभिनीयमाने स दहतु दुरितमित्यादौ सारोपाभिनयसमर्पितो यो भगवत्प्रभावस्तत्राङ्गतायां पर्यवस्यतीति न कश्चिद्विरोधः । एवं विरोधपरिहारमुपसंहरति—**एवमिति** ।

(अनु०) प्रधानतया जो वाच्य हो वहाँ विधि होती है । अप्रधानरूप में वाच्य में अनुवाद होता है । रस का वाच्यत्व तो तुमने ही सहन नहीं किया, यह शङ्का कर उत्तर देते हैं—

'ऐसा नहीं' यह । विधि और अनुवाद प्रधान और अप्रधान मात्र से सम्पन्न किये जाते हैं और वे व्यंगयता में होते ही हैं यह भाव है । यह कहा गया है कि मुख्य रूप में रस ही काव्य वाक्यार्थ होता है । इससे अमुख्य रूप में जहाँ वह अर्थ हो वहाँ रस की अनुवादरूपता होती है । वह कहते हैं—'वाक्यार्थ का' यह । अथवा अनुवाद रूप में विरुद्ध रसों का समावेश न हो सहकारी के रूप में तो हो जावेगा इस प्रकार विरुद्धों का अंगागिभाव सर्वथा उचित ही है; इस विषय में कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं यह दिखलाते हैं—'अथवा जिनके द्वारा' यह 'तन्निमित्तता' यह । 'वे' अर्थात् काव्यार्थ विभाव इत्यादि निमित्त हैं जिन रसादिकों के वे उस प्रकार के अर्थात् 'तन्निमित्त' होते हैं । उनकी भाववाचक संज्ञा है तन्निमित्तता ।

'अनूद्यमानांग·······प्रतीतिः' इसका आशय यह है कि) अनूद्यमान जो हस्तक्षेप इत्यादि रसांगभूत विभावादि तन्निमित्तक जो करुण विप्रलम्भात्मक उभय रूप रसवस्तु अर्थात् रससजातीय वह सहकारी (होता है) शंकरजी की शराग्नि से उत्पन्न दुरितदाहरूप जिस विधीयमान का उससे भाव विशेष में अर्थात् भगवत्प्रभावातिशय रूप प्रेयोलंकार के विषय में प्रीति होती है यह संगति है। विरुद्ध जो उभयात्मक जल तथा तेजगत शीतोष्ण वे सहकारी होते हैं जिस तण्डुलादि कारण के उससे कोमल भात के करण रूप कार्य विशेष की उत्पत्ति होती है। सर्वत्र बीजाङ्कुर इत्यादि में इसी प्रकार का कार्य-कारण भाव होता है; अन्यथा नहीं।

(प्रश्न) तो विरोध सर्वत्र अकिञ्चित्कर होगा यह शङ्का करके (उत्तर रूप में) कहते हैं—'विरुद्ध फल इत्यादि'। इसीलिये कहते हैं—(प्रश्न) अभिनयार्थक काव्य में इस प्रकार का वाच्य हो तब यदि समस्ताभिनय किया जावे तो विरुद्ध विषय का एक साथ किस प्रकार अभिनय किया जा सकता है यह शङ्का करते हुये कहते हैं—'इस प्रकार' यह। इसका परिहार करते हैं—'अनूद्यमान' यह। अनुवाद किया जानेवाला विरुद्ध आकार का इस प्रकार का वाच्य जहाँ पर हो उस का 'आओ, जाओ, गिरो, उठो' इत्यादि जो विषय उसमें जो बात (होती है) वह यहाँ पर भी (हो जावेगी।)

यह कहा गया है—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में प्रधानतया भयभीत के भागने इत्यादि के उपपादनक्रम से प्राकरणिक अर्थ दिखलाया जाना चाहिये। यद्यपि यहाँ पर करुण भी परांग ही है तथापि विप्रलम्भ की अपेक्षा उसकी प्राकरणिकता निकट है क्योंकि महेश्वर के प्रभाव के प्रति उसका उपयोग होता है और 'कामी के समान' इस उत्प्रेक्षा और उपमा के वल पर आया हुआ विप्रलम्भ तो दूर है। इस प्रकार 'सास्रुनेत्रोत्पलाभिः' यहाँ तक प्रधानतया करुण के उपयोगी अभिनय के क्रम से और करुण के सादृश्य के कारण लेशमात्र विप्रलम्भ की सूचना करके (अभिनय किया गया है।) यद्यपि 'कामी के समान' यहाँ पर प्रणयकोप के योग्य अभिनय किया गया गया है तथापि उससे प्रतीयमान भी यह विप्रलम्भ शीघ्र बाद में ही 'वह पाप को जलावे' इसके अभिनय किये जाने पर जोरदार अभिनय से समर्पित जो भगवान का प्रभाव उसकी अंगता में पर्यवसित होता है। इस प्रकार कोई विरोध नहीं है। इस विरोध-परिहार का उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार' यह।

रस के विषय में विधि और अनुवाद शब्दों का आशय

तारावती—(प्रश्न) विधि और अनुवाद (उद्देश्य और विधेय) ये दोनों शब्द वाक्यार्थ बोध में प्रयुक्त किये जाते हैं और इनका विशेष प्रयोग मीमांसा दर्शन में होता है। जो प्रधान रूप में वाच्य हो उसे विधि कहते हैं और जो अप्रधान रूप में वाच्य हो उसे अनुवाद कहते हैं। विधि और अनुवाद की यही परिभाषा है। आप स्वयं ही इस बात को सहन नहीं करते कि रस कभी भी वाच्य हो सकता है। जब रस कभी वाच्य होता ही नहीं तब रस में विधि और अनुवाद शब्दों का प्रयोग कहाँ उचित कहा जा सकता है? ये दोनों शब्द वाच्यार्थविषयक ही हैं। (उत्तर) विधि और अनुवाद का प्रयोजक तत्त्व केवल यही है कि उनमें प्रधानता और अप्रधानता का विचार किया जावे और जो प्रधान हो उसे विधि तथा जो अप्रधान हो उसे अनुवाद कह दिया जावे। विधि और अनुवाद होने के लिये ऐसा कोई नियम नहीं है कि ये दोनों वाच्य में ही होते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वाच्य न होने से रसों के विषय में विधि और अनुवाद इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वाक्यार्थ दोनों हो सकते

हैं—वाच्यार्थ भी और व्यङ्ग्यार्थ भी। यदि वाच्यार्थ के विषय में विधि और अनुवाद का प्रयोग किया जा सकता है तो व्यङ्ग्यार्थ रस के विषय में भी वह प्रयोग क्यों नहीं हो सकता? यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि मुख्य रूप में रस ही वाक्य का अर्थ होता है क्योंकि तात्पर्य का पर्यवसान रस में ही होता है। अतः यह ठीक ही है कि जहाँ रसरूप पर्यवसित अर्थ मुख्य न हो वहाँ रस भी अनुवादरूपता को धारण कर सकता है यह उचित ही है। आशय यह है कि रस भी वाक्यार्थ होता है अतः रस के विषय में भी गौण मुख्य यह व्यवहार अथवा विधि और अनुवाद यह व्यवहार उचित ही कहा जा सकता है। (यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यह बात सर्वसम्मत नहीं है कि काव्यवाक्यों द्वारा रसों का ही प्रतिपादन होता है और इसीलिये रस ही मुख्य वाक्यार्थ होते हैं ऐसी दशा में रसों के विषय में विधि और अनुवाद के प्रतिपादन की क्या व्यवस्था होगी? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये पक्षान्तरों की व्याख्या की जा रही है।) अथवा यहाँ पर यह समझना चाहिये कि रसों का आक्षेप विभाव इत्यादि से होता है। यदि विभाव इत्यादि अनुचित हों तो रसों को अनूदित मानने में भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। जब रसों का आक्षेप वाक्यार्थ और वाच्य के द्वारा होता है तब उन आक्षेप करनेवाले तत्त्वों में जो विधि और अनुवादरूपता रहती है वह यदि आक्षेप्य रस इत्यादि में भी आ जावे तो उसका निवारण कौन कर लेगा? (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि 'चकार' अर्थात् 'वाक्यार्थ और वाच्य' में 'और' का प्रयोग प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है क्योंकि उसके अर्थ का यहाँ पर अन्वय नहीं होता अतः उस 'और' की विवक्षा नहीं होती। सम्भवतः दीधितिकार का मन्तव्य यहाँ पर यह है कि वाक्यार्थ या तो रस हो सकता है या वाच्यार्थ। रस से यहाँ अभिप्राय हो ही नहीं सकता क्योंकि यहाँ पर रस के आक्षेप करनेवाले तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। यदि वाच्यार्थ ही यहाँ पर अभिप्रेत है तो वाक्यार्थ ही वाच्य होता है। अतः वाक्यार्थ और वाच्य कहने का क्या अभिप्राय? किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि न तो वाच्य केवल वाक्यार्थ ही होता है और न केवल वाक्यार्थ रस का आक्षेप करनेवाला होता है वाच्य पदार्थ के द्वारा भी रस का अक्षेप हो ही जाता है। यहाँ पर आचार्य का मन्तव्य यही है कि रस का आक्षेप चाहे वाक्यार्थ के द्वारा हुआ हो चाहे किसी दूसरे वाच्यार्थ के द्वारा, आक्षेपक तत्त्वों में रहनेवाला विधि और अनुवाद का व्यवहार रस के विषय में भी घटित हो ही सकता है।) अथवा यदि आप इस बात को नहीं मानना चाहते कि अनुवादरूप होने के कारण विरुद्ध रसों का समावेश दूषित नहीं होता तो न मानिये, यह तो आप मानेंगे ही कि सहकारी होने के कारण रस के विषय में विधि और अनुवाद इन शब्दों का व्यवहार अनुचित नहीं कहा जा सकता। अतः सर्वथा विरुद्धों का अंगागिभाव उचित ही है इस विषय में प्रयास (जवरदस्ती) कोई नहीं किया जा रहा है। जो लोग यह नहीं मानते कि रस साक्षात् काव्यार्थ होते हैं वे इतना मानेंगे ही कि साक्षात् काव्यार्थ विभाव इत्यादि वाच्यार्थ ही होते हैं और उन वाच्यार्थों द्वारा रस इत्यादि का आक्षेप होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि उनको इतना तो मानना पड़ेगा कि काव्यार्थ विभाव इत्यादि रस में निमित्त होते हैं। ऐसी दशा में भी प्रस्तुत पद्य 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में कोई विरोध नहीं आता। इस पद्य में त्रिपुरासुर आलम्बन

है, त्रिपुर-युवतियाँ आश्रय हैं और उनके द्वारा हाथ से क्षिप्त कर देना इत्यादि अनुभाव हैं। ये जो रसांगभूत विभाव इत्यादि हैं उनको निमित्त मानकर करुण और विप्रलम्भ इन दोनों रसों की अभिव्यक्ति होती है। ये दोनों ही रसरूप वस्तु हैं अर्थात् ध्वनिरूप पूर्ण रस नहीं अपितु दूसरे तत्त्व को पुष्ट करनेवाले रस-सजातीय तत्त्व हैं। शम्भु की शराग्नि से जो दूषित-दाह होता है वही विधीयमान अंश है। उस विधीयमान अंश के ये दोनों करुण और विप्रलम्भ रस सहकारी हो जाते हैं। उस विधीयमान अंश से एक विशेष भाव में, जोकि भगवान् के प्रभावातिशय रूप में प्रेयोलङ्कार कहा जा सकता है, प्रतीति हो जाती है। यही इस ग्रन्थ की संगति है आशय यह है कि हस्तक्षेप इत्यादि वाच्यसामग्री से करुण और विप्रलम्भ इन दोनों की मिश्रित प्रतीति होती है जो कि भगवान् के प्रभावातिशय को पुष्ट करने के कारण उसकी सहकारिणी है। भगवान् का प्रभावातिशय प्रेयोङ्कार के क्षेत्र में आ जाता है। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है—'लोचनकार ने जिस प्रेयोलङ्कार को समझा है वह यहाँ पर नहीं होता, क्योंकि शिवविषयक रति भाव की ही यहाँ सभी ओर से प्रधानता है और प्रेयोलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ भाव अप्रधान हो। किन्तु यदि अलंकार में ही पक्षपात हो तो शृङ्गार और करुण के अंग होने के कारण रसवत् अलङ्कार का निर्णय कर लिया जावे।' यहाँ पर निवेदन यह है कि लोचनकार ने कविगत शिवविषयक रतिभाव को प्रेयोलङ्कार नहीं कहा है और शिवविषयक रति प्रेयोलंकार हो भी नहीं सकती क्योंकि वह तो ध्वनि रूप में स्थित है। करुण और विप्रलम्भ के द्वारा शङ्कर जी के प्रभावातिशय की पुष्टि होती है और प्रभावातिशय के द्वारा कविगत रतिभाव की। इस प्रकार प्रभावातिशय (शिव जी का उत्साह जो भावरूप में स्थित है) अपरांग होकर प्रेयोलङ्कार बन गया है इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं हो सकती। यह भी ठीक ही है कि करुण और विप्रलम्भ ये दोनों रसवत् अलङ्कार हो गये हैं।) दो विरोधी सहकारी कारणों से विशेष कार्य की उत्पत्ति देखी ही जाती है। उदाहरण के लिये जल शीतस्पर्शवाला होता है और अग्नि उष्णस्पर्शवाली। दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं किन्तु दोनों ही मिलकर सहकारी कारण बनकर भात पकाने का काम करते हैं और उनसे कोमल भात पक जाना रूप विशेष कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार बीज के उगाने के लिये शीतल जल और भूमिगत उष्णता दोनों का सहकार अपेक्षित होता है यही बात सभी कार्य-कारण भावों के विषय में समझी जानी चाहिये। प्रस्तुत पद्य में भी विरोधी करुण और विप्रलम्भ सहकारी बनकर शिव के प्रभावातिशय रूप कार्य को पुष्ट करते हैं।

विरोध के स्थलों का निरूपण

(प्रश्न) इस प्रकार का परिहार तो सर्वत्र सम्भव है फिर विरोध कहाँ रह गया? विरोध तो सर्वत्र इसी प्रकार अकिञ्चित्कर हो जावेगा। (उत्तर) कारण का विरोध वहाँ पर आवेगा जहाँ एक ही कारण एक ही साथ दो विरोधी फलों को उत्पन्न करें। दो विरोधियों का सहकार विरोधी नहीं माना जाता। आशय यह है कि एक ही वस्तु एक ही साथ दो विरोधियों को जन्म नहीं देती जैसे जल एक ही साथ शीत और उष्ण इन दोनों फलों को उत्पन्न नहीं कर सकता। किन्तु दो विरोधी तत्त्व एक ही कार्य के सहयोगी तो हो ही सकते

हैं। यही बात 'विरुद्ध का उपादान.....' इत्यादि में कही गई है। (लोचनकार ने यहाँ पर 'नोपादानं विरुद्धस्य.....' केवल इतना ही अंश उद्धृत किया है। पूरी कारिका का पता नहीं है। सम्भवतः इस कारिका का अर्थ यही होगा कि सहकारी के रूप में विरोधियों का उपादान सदोष नहीं होता।) (प्रश्न) यदि इस प्रकार का वाक्य किसी ऐसे काव्य में आवे जो अभिनय के मन्तव्य से लिखा गया हो और उस समस्त वाक्य का अभिनय करना हो तो एक साथ ही दो विरोधियों का अभिनय कैसे किया जा सकेगा ? (उत्तर) वाच्य में जब दो विरोधी तत्त्व उद्देश्य रूप में आ जाते हैं उनका भी तो अभिनय किया ही जाता है। जैसे 'आओ, जाओ, उठो, गिरो', इत्यादि वाक्य में उद्देश्य रूप में दो-दो विरोधी तत्त्व आये हैं। अभिनय तो इनका भी किया ही जाता है। वहाँ जो बात अभिनय के लिये होती है वही यहाँ पर भी हो सकती है।

विरोधियों के अभिनय पर विचार

ऊपर अभिनय के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह है––यदि 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि पद्य का अभिनय करना हो तो सर्वप्रथम भीत और विप्लुत दृष्टि के उपपादन के द्वारा प्राकरणिक अर्थ का अभिनय किया जाना चाहिये। यहाँ पर वस्तु का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—(१) शङ्कर जी के प्रभावातिशय से परिपुष्ट कविगत शङ्करविषयक रति (भक्ति) भाव। (२) शङ्कर जी के प्रभाव को पुष्ट करनेवाला त्रिपुरयुवतियों का करुण रस, (३) 'कामीव' इस उपमा के बल पर आया हुआ शृङ्गार रस। शङ्कर जी का प्रभावातिशय सर्व प्रमुख है, और करुण तथा शृङ्गार दोनों गौण हैं, क्योंकि दोनों ही शङ्कर जी के प्रभावातिशय को पुष्ट करनेवाले होने के कारण अपरांग हो गये हैं। किन्तु इन दोनों में विप्रलम्भ शृङ्गार की अपेक्षा करुण शङ्कर जी के प्रभावातिशय के अधिक निकट पड़ता है क्योंकि उसका उपयोग शङ्कर जी के प्रभावातिशय के द्योतन में अधिक होता है, अतः प्राकरणिकता उसमें अधिक है। शृङ्गार तो बहुत दूर है क्योंकि उसका शंकर जी के प्रभावातिशय में बहुत ही कम उपयोग होता है, 'कामी के समान' इस उपमा के बल पर ही उसका उपादान हुआ है, अतः प्राकरणिक अर्थ को चमत्कारपूर्ण बनाने में ही उसका उपयोग है, मुख्यार्थ को परिपुष्ट करने में उसका उपयोग नहीं है। अतः जब प्रस्तुत पद्य का अभिनय किया जावेगा तब 'सास्रुनेत्रोत्पलाभिः' यहाँ तक करुण रस का उपयोगी अभिनय ही किया जावेगा और साथ-साथ बहुत थोड़े रूप में विप्रलम्भ से करुण के सादृश्य की सूचना भी दी जावेगी। (दो विरोधियों का एक साथ अभिनय सम्भव नहीं है, अतः पहले करुण का अभिनय किया जावेगा और बाद में विप्रलम्भ की सूचना दी जावेगी।) 'कामी के समान' यहाँ पर यद्यपि प्रणयकोप के लिये उचित अभिनय किया गया है तथापि उससे जिस विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति होती है वह मुख्य नहीं हो पाता अपितु 'वह शंकर की शराग्नि आपके पापों को जला डाले' इस वाक्य से जो बहुत ही जोरदार अभिनय होता है और उससे शंकर जी के जिस प्रभावातिशय का समर्थन होता है उसमें विप्रलम्भ अंग बनकर पर्यवसित होता है। इस प्रकार विधि और अनुवाद का आश्रय लेने से अर्थात् यह मान लेने से कि दो विधियों का विरोध ही दूषित होता है, दो उद्देश्यों का जो एक ही विधि को पुष्ट कर रहे हों विरोध दूषित नहीं होता, यहाँ पर विरोध का परिहार हो जाता है।

(ध्वन्या०)—किञ्च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित्प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशय-निमित्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्तिकत्वात्तद्विरोधविधायिना न कश्चिद्दोषः। तस्माद्वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी रसविरोधीति वक्तुं न्याय्यः, न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित्।

(अनु०) और भी—अभिनन्दनीय उदयवाले किसी नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके विरोधियों का जो करुण रस वह परीक्षकों के वैक्लव्य का आधान नहीं करता अपितु अतिशय प्रीति का निमित्त बन जाता है। अतः उस विरोध करनेवाले तत्त्व की शक्ति के कुण्ठित हो जाने से कोई दोष नहीं होता। इसलिये वाक्यार्थ रूप में स्थित रस या भाव का विरोधी रसविरोधी होता है यह कहना न्याय्य है; अंगभूत किसी का (विरोधी कहना) ठीक नहीं।

(लो०)—विषयान्तरे तु प्रकारान्तरेण विरोधपरिहारमाह—**किञ्चेति**। परीक्ष-काणामिति सामाजिकानां विवेकशालिनाम्। **न वैक्लव्यमिति**। न तादृशे विषये चित्त-द्रुतिरुत्पद्यते करुणास्वादविश्रान्त्यभावात्। किन्तु वीरस्य योऽसौ क्रोधो व्यभिचारितां प्रतिपद्यते तत्फलरूपोऽसौ करुणरसः स्वकारणाभिव्यञ्जनद्वारेण वीरास्वादातिशय एव पर्यवस्यति। यथोक्तम्—'रौद्रस्य चैव यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः' इति। तदाह—**प्रीत्यतिशयेति**। अत्रोदाहरणम्—

कुरवक कुचाघातक्रीडासुखेन वियुज्यसे
वकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम्।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-
मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः॥

भावस्य वेति। तस्मिन् रसे स्थायिनः प्रधानभूतस्य व्यभिचारिणो वा यथा विप्रलम्भश्रृङ्गार औत्सुक्यस्य।

(अनु०) विषयान्तर में तो प्रकारान्तर से विरोध परिहार बतलाते हैं—'और भी' यह। परीक्षकों का अर्थात् विवेकशाली सामाजिकों का 'वैक्लव्य नहीं' यह। उस प्रकार के विषय में चित्तद्रुति उत्पन्न नहीं होती क्योंकि करुण के आस्वाद में विश्रान्ति नहीं होती। किन्तु जो यह क्रोध वीररस के व्यभिचारी भाव का रूप धारण करता है उसका फलरूप यह करुण रस अपने कारण के अभिव्यंजन के द्वारा वीररस के आस्वाद की अधिकता में ही पर्यवसित होता है। जैसा कहा गया है—'और रौद्र का जो कर्म है वह करुण रस समझा जाना चाहिये।' वही कहते हैं—'प्रीति की अधिकता' यह। यहाँ उदाहरण—

'हे कुरवक ? कुचाघात के क्रीडासुख से वियुक्त हो रहे हो, हे वकुलवृक्ष ? मुखासव के सेचन का तुम्हें स्मरण करना होगा। हे अशोक ? चरणघटना शून्य होकर सशोकता को प्राप्त होंगे। इस प्रकार जिसके पुर-त्याग के अवसर पर स्त्रियाँ कह रही थीं।'

'अथवा भाव का'। उस रस में प्रधान स्थायी या प्रधानभूत व्यभिचारी का जैसे विप्रलम्भ में औत्सुक्य का।

विरोध परिहार के अन्य प्रकार

तारावती—ऊपर जो विरोध-परिहार के प्रकार बतलाये गये हैं उनसे भिन्न एक दूसरा प्रकार भी विरोध-परिहार का है—यदि किसी नायक का उदय हो चुका हो और उसके उस उदय का अभिनन्दन करना हो तो उसके प्रभाव की अधिकता का वर्णन किया जाता है यदि उसके साथ ही उसके विरोधी राजाओं के करुण रस का वर्णन किया जावे तो उनसे न तो विवेकशील पाठक ही उद्विग्न होंगे और न आलोचक ही उसे अनुचित बतलावेंगे। कारण यह है कि अनौचित्य वहीं पर होता है तथा पाठकों को वैक्लव्य वहीं पर उत्पन्न होता है जहाँ चित्तवृत्ति की दशा परस्पर विरुद्ध हो। उदाहरण के लिये करुण रस में चित्तवृत्ति में द्रवणशीलता उत्पन्न होती है और रौद्र में चित्तवृत्ति दीप्त हो जाती है। दीप्ति और द्रवणशीलता दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः दोनों रूप एक साथ चित्तवृत्ति में कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। अब यदि किसी नायक के उदय का अभिनन्दन करना है और उसके लिये उसके विरोधियों के करुण रस का उपादान किया गया है तो इस प्रकार के विषय में अर्थ की परिसमाप्ति करुण रस में नहीं होती क्योंकि करुण रस ऐसे स्थान पर साध्य बन कर नहीं अपितु साधन बनकर ही आता है। ऐसी दशा में चित्त में द्रवणशीलता ही उत्पन्न नहीं हो पाती जिससे विरोध की सम्भावना की जा सके। अपितु होता यह है कि ऐसे स्थान पर पाठकों का पूरा ध्यान नायक के उत्कर्ष में ही केन्द्रित रहता है और उनके अन्दर प्रतिपक्षी से सहानुभूति ही उत्पन्न नहीं हो पाती जिससे उनका हृदय प्रतिपक्षियों के प्रति द्रवित हो ही नहीं पाता। वहाँ पर प्रतिपक्षियों का उपादान तो आलम्बन के रूप में ही होता है आश्रय के रूप में नहीं। अतः उनके भाव से तादात्म्य का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ पर नायक वीर रस का आश्रय होता है। युद्धवीर में क्रोध व्यभिचारी के रूप में आता है। क्रोध का फल ही शोक होता है। आचार्यों की ऐसी ही मान्यता है। कहा गया है कि—रौद्र का जो कर्म (फल) होता है वही करुण रस समझा जाना चाहिये। नायकों की क्रोधपूर्ण चेष्टाओं का ही यह फल होता है कि उनके शत्रुओं की दशा कारुणिक हो जाती है। इस प्रकार ऐसे स्थल पर करुण रस अपने कारणों की (रौद्र रस की) अभिव्यंजना करते हुये वीररस में पर्यवसित हो जाता है। इस प्रकार करुण रस वीर के पोषण में आनन्द का कारण बन जाता है। अतः करुण की शक्ति से कुण्ठित हो जाने के कारण उस विरोधी का विधान करनेवाले रस में कोई दोष नहीं आता। एक उदाहरण लीजिये—

'किसी राजा ने शत्रुओं को पराजित कर दिया है। शत्रु अपनी प्रियतमाओं को लेकर अपनी राजधानी से भाग खड़े हुये हैं। उस समय शत्रुओं की स्त्रियाँ करुणापूर्ण स्वर में कहती हैं कि—हे कुरवक ? अभी तक तुम हमारे स्तनों के आघात की क्रीडा का आनन्द लिया करते थे, अब वह आनन्द तुम्हें कहाँ मिलेगा ? हे वकुल वृक्ष ? अब तुम हमारे मुखासब के सेवन का स्मरण किया करना। हे अशोक ? अब तुम्हें हमारे चरणों के प्रहार का सुख नहीं मिल सकेगा, अतः तुम अशोक नहीं रह सकोगे अपि तु सशोक हो जाओगे।' (ये कविसमयख्यातियाँ हैं कि अशोक सौभाग्यवती स्त्रियों के चरणाघात से फूलता है; कुरवक आलिंगन से और वकुल मुख का कुल्ला मारने से खिलता है।)

यहाँ पर कुचाघात इत्यादि से शृङ्गार की व्यंजना होती है, वह शत्रुओं की करुणा का पोषक होकर उसका अंग बन जाता है। मुख्य वर्ण्य विषय है राजा का प्रभावातिशय। उस प्रभावातिशय को शत्रुओं की करुणा पुष्ट करती है। इस प्रकार विरोधियों का परस्पर सम्मिलन पाठकों के हृदय में विक्षोभ उत्पन्न नहीं करता अपितु प्राकरणिक अर्थ की शोभा बढ़ाता है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि वाक्यार्थरूप में स्थित चाहे रस हो चाहें भाव हो और वह भाव भी चाहे उस रस का स्थायी भाव हो चाहें प्रधानभूत व्यभिचारी हो उसका अर्थात् प्रधान रस का विरोधी ही वास्तविक विरोधी होता है यही कहना ठीक है जैसे यदि विप्रलम्भ शृङ्गार में औत्सुक्य प्रधानीभूत व्यभिचारी भाव हो तो उसका विरोधी वास्तविक विरोधी कहा जावेगा। किन्तु यदि कोई रस या कोई भाव अंग रूप में स्थित हो तो उसका विरोधी होना अकिञ्चित्कर होता है।

(ध्वन्या०) अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित्करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति। यथा—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

इत्यादौ। तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम्। तस्माद्यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः।

इत्थं च—

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिवलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव॥

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम्।

एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभिः समावेशासमावेशयोर्विषयविभागो दर्शितः।

(अनु०) अथवा वाक्यार्थरूप में स्थित किसी करुण रस के विषय का उस प्रकार की शृङ्गार वस्तु के साथ विशेष भङ्गिमा का आश्रय लेकर जो संयोजना की जाती है वह रस परिपोष के लिये ही होती है। क्योंकि स्वभावतः मधुर पदार्थ शोचनीयता को प्राप्त होकर इस प्रकार पुरानी अवस्था में होनेवाले तथा स्मरण किये जाते हुये विलासों से शोक के आवेश को अधिक उत्पन्न करते हैं।

जैसे—'यह वह रसना को ऊपर खींचनेवाला, स्थूलस्तनों का भली-भाँति मर्दन करनेवाला, नाभि, ऊरु तथा जंघाओं का स्पर्श करनेवाला और नींवी को खोलनेवाला हाथ है।'

इत्यादि में । अतः यहाँ पर त्रिपुरयुवतियों से शङ्कर की शराग्नि ने वैसा ही व्यवहार किया जैसा पहले अपराध में आर्द्रकामी किया करता था । इस प्रकार भी निर्विरोधता है ही । इसलिये यहाँ जैसे-जैसे निरूपण किया जाता है वैसे-वैसे दोष का अभाव सिद्ध हो जाता है ।

और इस प्रकार—

'घायल कोमल उंगलियों से प्रवाहित होनेवाले रक्त से भरे हुये अतः महावर लगाये हुये के समान पैरों से दर्भ-परिपूर्ण स्थलियों को पार करती हुई, प्रवहमान अश्रुओं से धुले हुये मुखवाली, डरी हुई अतः अपने हाथों को प्रियतमों के हाथों में पकड़ाये हुये तुम्हारे वैरियों की स्त्रियाँ इस समय दावाग्नि के चारों ओर घूम रही हैं मानों उनके विवाह सन्निहित हों ।'

इत्यादि सभी का निर्विरोधत्व समझा जाना चाहिये ।

इस प्रकार रसादिकों का विरोधी रसादिकों के साथ समावेश और असमावेश का विषय-विभाग दिखला दिया गया ।

(लो०) अधुना पूर्वस्मिन्नेव श्लोके क्षिप्त इत्यादौ प्रकारान्तरेण विरोधं परिहरति—**अथवेति** । अयं चात्रभावः—पूर्वं विप्रलम्भकरुणयोरन्यत्राङ्गभावगमनान्निर्विरोधत्व-मुक्तम् । अधुना तु स विप्रलम्भः करुणस्यैवाङ्गतां प्रतिपन्नः कथं विरोधीति व्यवस्थाप्यते—तथाहि करुणो रसो नामेष्टजनविनिपातादेर्विभावादित्युक्तम् । इष्टता च नाम रमणीयतामूला । ततश्च कामीवार्द्रापराध इत्युत्प्रेक्षयेदमुक्तम् । शाम्भवशरवह्निचेष्टि-तावलोकने प्राक्तनप्रणयकलहवृत्तान्तः स्मर्यमाण इदानीं विध्वस्ततया शोकविभावतां प्रतिपद्यते । तदाह—**भङ्गिविशेषेति** । अग्राम्यतया विभावानुभावादिरूपताप्रापणया ग्राम्योक्तिरहितयेत्यर्थः ।

अत्रैव दृष्टान्तमाह—**यथा अयमिति** । अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि निपतितं बाहुं दृष्ट्वा तत्कान्तानामेतदनुशोचनम् । रसनां मेखलां सम्भोगावसरेषूर्ध्वं कर्षतीति रसनोत्कर्षी ।

अमुना विरोधोद्धरणप्रकारेण बहुतरं लक्ष्यमुपपादितं भवतीत्यभिप्रायेणाह—**इत्थं चेति** । होमाग्निधूमकृतं वाष्पाम्बु यदि वा बन्धुगृहत्यागदुःखोद्भवम् । भयं कुमारीजनोचितः साध्वसः । एवमियताङ्गभावं प्राप्तानामुक्तिरच्छलेति कारिकाभागोप-योगि निरूपितमित्युपसंहरति—**एवमिति** । तावद्ग्रहणेन वक्तव्यान्तरमप्यस्तीति सूचयति ॥२०॥

(अनु०) इस समय तो 'क्षिप्त' इत्यादि पहले श्लोक में ही प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं—'अथवा' इत्यादि । यहाँ पर यह भाव है—पहले अन्यत्र अंगभाव को प्राप्त होने के कारण विप्रलम्भ और करुण का निर्विरोधत्व कहा गया । इस समय तो वह विप्रलम्भ करुण की अंगता को प्राप्त होनेवाला विरोधी कैसे यह व्यवस्थापित किया जा रहा है । वह इस प्रकार—यह कहा गया है कि करुण रस इष्टजनों के विनिपात इत्यादि विभाव से होता है और इष्टता तो रमणीयता से ही उद्भूत होती है । इससे 'कामीवार्द्रापराध' इस उत्प्रेक्षा से यह कहा गया है—शङ्कर जी की शराग्नि की चेष्टाओं के अवलोकन से पुराना प्रणयकलह का वृत्तान्त

स्मरण किया जाता हुआ इस समय विध्वस्त हो जाने के कारण शोकविभावता को प्राप्त हो जाता है। वह कहते हैं--'विशेष भंगिमा के द्वारा' यह। आग्राम्य विभाव अनुभाव इत्यादि की प्राप्ति के साथ ग्राम्योक्ति रहित।

इसी विषय में दृष्टान्त कहते हैं—'जैसे यह।' यहाँ पर युद्धभूमि में पड़ी हुई भूरिश्रवा की बाहु को देखकर उनकी कान्ताओं का यह अनुशोचन है। सम्भोग के अवसरों पर रसना अर्थात् मेखला को ऊपर को खींचनेवाला रसनोत्कर्षी।

उस विरोधोद्धरण के प्रकार से बहुत अधिक लक्ष्य उपपादित हो जाते हैं इस अभिप्राय से कहते हैं--'और इस प्रकार'। होमाग्नि के धूम से उत्पन्न अश्रुजल या बन्धुगृहत्याग के दुःख से उत्पन्न भय का अर्थ है कुमारीजनोचित साध्वस। इस प्रकार इतने से 'अंगभाव को प्राप्त होनेवालों की उक्ति छलरहित होती है' इस कारिका भाग का उपयोगी निरूपण कर दिया गया यह उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार'। तावत् शब्द से सूचित करते हैं कि और भी कुछ कहना हैं ॥२०॥

तारावती--ऊपर यह दिखलाया जा चुका है कि 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इस पद्य में विरोधी का समावेश सदोष नहीं होता अब यह दिखला रहे हैं कि उसी पद्य में विरोधपरिहार दूसरे प्रकार से भी सम्भव है और केवल दोष-परिहार ही नहीं अपितु उसमें गुणरूपता भी आ सकती है। पहले यह बतलाया गया था कि प्रस्तुत पद्य में विप्रलम्भ और करुण दोनों ही एक तीसरी रसवस्तु शंकरविषयक भक्तिभाव का पोषण करते हैं अतः परांग होने के कारण दोनों का परस्पर विरोध नहीं होता। अब यह सिद्ध किया जा रहा है कि विप्रलम्भ स्वयं करुण का अंग बन गया है अतः उनके विरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यदि करुण रस का विषय वाक्यार्थ हो गया हो अर्थात् वाक्यरचना में करुण रस को प्रधानता प्राप्त हो गई हो और उस प्रकार की विरोधी शृङ्गारवस्तु के साथ उसकी संयोजना विशेष भंगिमा के साथ की जावे तो वह विरोधियों की सहसंयोजना रसपरिपोषक ही होती है रसविरोधी नहीं। इसको इस प्रकार समझिये---करुण रस का विभाव अर्थात् कारण होता है इष्टजनविनिपात, क्योंकि इष्टजनविनिपात से ही करुण रस सम्भव होता है यह बात कही जा चुकी है और इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। वस्तु तभी इष्ट बनती है जब उसमें रमणीयता विद्यमान होती है। क्योंकि रमणीयता ही किसी वस्तु को इष्ट बनानेवाली होती है। सामान्यतया जब हम किसी भी वस्तु की दुर्गति देखते हैं तो हमें दुःख होता ही है, किन्तु यदि वह वस्तु रमणीय भी हो तो हमारा दुःख और अधिक बढ़ जाता है कि जो पदार्थ स्वभाव से ही मधुर था वह कैसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गया? इस प्रकार जितना ही हम उसकी पुरानी गौरव-पूर्ण आनन्ददायक दशा का स्मरण करते हैं उतना ही हमारा शोकावेश अधिकाधिक बढ़ता चला जाता है। इस प्रकार विरोधी होते हुये भी शृंगार की व्यतीत हुई आनन्दमय दशा का स्मरण शोक को बढ़ाता ही है किन्तु शर्त यह है कि उसकी संयोजना नवीन भंगिमा के साथ करुण के परिपोषक के रूप में की गई हो! यह परिपोषकता शृंगार रस में तब आती है जब वर्णन में ग्राम्यता व आने पावे, शृंगार रस करुण के विभाव अनुभाव इत्यादि रूपों में परिणत हो जावे और उसमें ग्राम्य उक्तियों का अभाव हो। एक उदाहरण---महाभारत के स्त्रीपर्व में

हताहत सैनिकों को आलम्बन मानकर शोक का वर्णन किया गया है। शोक का पूर्ण परिपाक स्त्रीपर्व में ही होता है। भूरिश्रवा की स्त्रियाँ अपने मरे हुये पति का कटा हुआ हाथ देखती हैं और विलाप करती हुई कहती हैं—

'यह वही हाथ है जो सहवास के लिये हमारी रसना को ऊपर उठाया करता था, जो हमारे स्थूल स्तनों का विमर्दन किया करता था और हमारी नाभि ऊरु तजा जङ्घाओं का स्पर्श किया करता था।'

यहाँ पर करुण के प्रसंग में शृंगार काल की सम्भोगचेष्टाओं का वर्णन किया गया है। ये चेष्टायें करुण का अंग बन गई हैं क्योंकि शोक को अधिक तीव्रता प्रदान कर देती हैं : इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' में 'मानो अपराध में आर्द्र कामी हो' इस उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया गया है। इस उत्प्रेक्षा से भी शोक की भावना अधिक तीव्र हो जाती है। जब उन त्रिपुर-युवतियों ने शंकर जी के बाण की अग्नि का उपद्रव देखा तब उन्हें अपने पूर्वानुभूत प्रियतम समागम का स्मरण हो आया। कहाँ तो उनके प्रियतमों की वह चाटुकारिता जब कि अपनी प्रियतमाओं से तिरस्कृत होकर भी वे उनकी चाटुकारिता ही करते थे और कहाँ उनकी यह दुर्दशा। वैसे भी किसी की दुर्दशा करुणाभाव ही जागृत करती है; किन्तु जब यह ज्ञात होता है कि दुर्दशा-ग्रस्त व्यक्ति पहले कितना आनन्दपूर्ण सम्पन्न जीवन व्यतीत करता था और अब उसके समस्त आनन्द समाप्त हो गये तब करुणाभाव और अधिक तीव्र हो जाता है। इस प्रकार जितना अधिक निरूपण किया जावे उतना ही प्रस्तुत पद्य निर्दोष ही सिद्ध होता है।

यह विरोध का उद्धार केवल एक ही पद्य में नही किया जा सकता। अनेक लक्ष्य ऐसे हो सकते हैं जहाँ इस प्रकार विरोध का उद्धार किया जा सकता है। एक और उदाहरण लीजिये—

किसी राजा ने अपने समस्त शत्रुओं को विच्छिन्न कर दिया है। वे शत्रु अपनी प्रियतमाओं को लेकर जंगल को भाग गये हैं। उस समय का वर्णन करते हुये कवि कहता है कि—वे शत्रुस्त्रियाँ दावाग्नि के चारों ओर घूम रही हैं उस समय ऐसा मालूम पड़ता है मानों उनका पुनः विवाह हो रहा हो। (विवाह में अग्नि की परिक्रमा की ही जाती है।) वे ऐसे स्थलों को पार कर रही हैं जहाँ कुश बिखरे हुये हैं। कुशों से उनके पैर लाल हो गये हैं तब उनकी ऐसी शोभा हो गई है मानों उनके महावर लगाया गया है। (विवाह में भी कुश बिछा-कर उन पर भंवरों में पैर रक्खे जाते हैं और पैरों में महावर लगाया जाता है।) उन पर जो आपत्ति पड़ी है उसके कारण उनके आँसू बह रहे हैं जिससे उनके मुख धुल गये हैं। (विवाह में भी एक तो होम के धुयें के कारण कुमारियों के आँसू बहते हैं दूसरे उन्हें अपने बन्धुजनों के परित्याग का दुःख होता है उससे भी उनके आँसू बहते हैं।) वे डरी हुई हैं क्योंकि राज-महलों को छोड़कर पहले पहल उन्हें वनों के भयावह दृश्यों का साक्षात्कार हुआ है। (विवाह में भी कुमारियों का स्वभाव ही डरना होता है। पहले पहल अपने प्रियतमों के सम्पर्क में उन्हें भय का अनुभव होता है।) उन्होंने अपने हाथ अपने पतियों के हाथों में दे दिये हैं

क्योंकि वनों में बिना हाथ का सहारा लिये चलना उनके लिवे अशक्य है। (विवाह में भी पतियों के हाथ में वधुओं का हाथ दिया जाता है।) इस प्रकार दावाग्निरूपी विवाह-होमाग्नि के चारों ओर शत्रुस्त्रियाँ घूम रही हैं।

वहाँ पर राजाओं और उनकी पत्नियों का करुण रस अङ्गी है। उस करुण रस को पुष्ट करनेवाला है उनका विवाहोत्सव के समय का आनन्द का स्मरण। ऐसे अवसरों पर सर्वत्र ही निर्विरोध को समझ लेना चाहिये। इस प्रकार रस इत्यादि का विरोधी रस इत्यादि के साथ समावेश और असमावेश का विषय-विभाग तो दिखला दिया गया। 'तो' का अर्थ है कि इस विषय में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है ॥२०॥

(ध्वन्या०)—**इदानीं तेषामेकप्रबन्धनिवेशने न्याय्यो यः क्रमस्तं प्रतिपादयितुमुच्यते—**

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥२१॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतयाङ्गाङ्गिभावेन बहवो-रसा उपनिबध्यन्त इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां छायातिशययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद्विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन निवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः।

(अनु०) इस समय उनके एक प्रबन्ध में निविष्ट करने में जो उचित क्रम है उसके प्रतिपादन के लिये कहते हैं—

'प्रबन्धों का नाना रस निबन्धन प्रसिद्ध होने पर भी उनका उत्कर्ष चाहनेवाले के द्वारा एक रस अंग बना दिया जाना चाहिये' ॥२१॥

प्रबन्धों में अर्थात् महाकाव्य इत्यादि में अथवा नाटक इत्यादि में बिखरे हुये रूप में अङ्गाङ्गि भाव से बहुत से रसों का उपनिबन्धन किया जाता है इस प्रसिद्धि के होते हुये भी जो प्रबन्धों की छाया की अधिकता का योग चाहता है उसके द्वारा उन रसों में अन्यतम किसी विवक्षित रस को अङ्गी के रूप में सन्निविष्ट कर दिया जाना चाहिये यह अधिक उचित-मार्ग है।

(लो०) तदेवावतारयति—**इदानीमित्यादिना**। तेषां रसानां क्रम इति योजना। **प्रसिद्धेऽपीति**। भरतमुनिप्रभृतिभिर्निरूपितेऽपीत्यर्थः। तेषामिति प्रबन्धानाम्। महाकाव्यादिष्वित्यादिशब्दः प्रकारे। अनभिनेयान् भेदानाह, द्वितीयस्त्वभिनेयान्। **विप्रकीर्णतयेति**। नायकप्रतिनायकपताकाप्रकरीनायकादिनिष्ठयेत्यर्थः। अङ्गाङ्गिभावेनेत्येकनायकनिष्ठत्वेन। **युक्ततर इति**। यद्यपि समवकारादौ पर्यायबन्धादौ च नैकस्याङ्गित्वं तथापि नायुक्तता तस्याप्येवंविधो यः प्रबन्धः तद्यथा नाटकं महाकाव्यं वा तदुत्कृष्टतरमिति तरशब्दार्थः।

(अनु०) वही अवतारित करते हैं—'इस समय' इत्यादि के द्वारा। उन रसों का क्रम यह योजना है। 'प्रसिद्ध होने पर भी' यह। अर्थात् भरतमुनि इत्यादि के द्वारा निरूपित होने

पर भी । उनका अर्थात् प्रबन्धों का। 'महाकाव्य इत्यादि में' यहाँ आदि शब्द प्रकारवाचक है। अनभिनेय भेदों को कहता है; द्वितीय तो अभिनेयों को । 'विप्रकीर्ण रूप में' यह । अर्थात् नायक, पताका और प्रकरी नायक इत्यादि में रहने के कारण । अङ्गाङ्गिभाव के द्वारा अर्थात् एकनायकनिष्ठ होने के कारण । 'अधिक उचित' यह । यद्यपि समवकार इत्यादि में और पर्यायबन्ध इत्यादि में एक का अङ्गित्व नहीं होता तथापि उसकी भी अयुक्तता नहीं होती इस प्रकार का जो प्रबन्ध होता है जैसे नाटक या महाकाव्य वह अधिक उत्कृष्ट होता है यह तर शब्द का अर्थ है ।।२१।।

रस को अंगी बनाने का निर्देश

तारावती—ऊपर की कारिका की वृत्ति में 'तावत्' शब्द का प्रयोग कर यह सङ्केत किया गया था कि इस विषय में और भी कुछ कहना शेष है। वह क्या है ? इसी प्रश्न का उत्तर २१ वीं कारिका से दिया जा रहा है। इस कारिका में यह दिखलाया गया है कि यदि कई रस किसी एक प्रबन्ध में आ जावें तो उनके एक में सन्निविष्ट करने का क्रम क्या होना चाहिये ? कारिका का आशय यह है—'यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि प्रबन्धों में अनेक रसों का निबन्धन किया जाता है तथापि यदि कवि अपने प्रबन्ध को उत्कृष्ट बनाना चाहे तो उसका कर्तव्य है कि वह एक रस को अंगी रस बना दे।'

'प्रसिद्ध है' कहने का आशय यह है कि भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने इस बात का निरूपण किया है (और काव्य-परम्परा के परिशीलन से भी यही तथ्य प्रकट होता है।) कि चाहे काव्य अभिनेय न हो जैसे महाकाव्य इत्यादि और चाहे अभिनेय हो जैसे नाटक इत्यादि, सभी प्रकार के काव्यों में अनेक रस आते हैं वे समस्त रस समस्त काव्य में व्याप्त होते हैं और उनमें कोई अंगी होते हैं तथा कोई अंग। कोई रस नायकगत होता है कोई प्रतिनायक गत, कोई पताका (व्यापक प्रासंगिक इतिवृत्त) के नायक से सम्बद्ध होता है और कोई प्रकरी (प्रदेशस्थ प्रासंगिक इतिवृत्त) के नायक से सम्बद्ध। आशय यह है कि एक नायक में रहने-वाला कोई रस अपने नायक की सत्ता के अनुसार ही महत्त्व को प्राप्त होता हैं। यदि प्रधान नायक गत (आधिकारिक कथावस्तु के नायक गत) होता है तो अंगी होता है नहीं तो अंग। यह सब प्रसिद्ध है तथापि यदि कवि की कामना हो कि उसका काव्य अत्यन्त रमणीयताशाली हो तो उसे उन समस्त रसों में किसी एक अभीष्ट रस को अंगी अवश्य बना देना चाहिये यही अधिक अच्छा मार्ग है। 'अधिक अच्छा' कहने का आशय यह है कि ऐसे भी काव्य होते हैं जिनमें किसी एक रस की प्रधानता नहीं होती। उदाहरण के लिये श्रव्य काव्य में पर्याय-बन्ध और दृश्य काव्यों में समवकार ऐसे ही काव्य होते हैं जिनमें विभिन्न रस बिखरे हुये होते हैं और उनमे किसी एक को अंगी के रूप में यदि प्रतिष्ठित न किया जावे तो कुछ अनु-चित नहीं होता तथापि नाटक या महाकाव्य में एक रस को अंगी बनाना अधिक समीचीन होता है ।।२१।।

(ध्वन्या०)—**ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्येदमुच्यते—**

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥२२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलप्रबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति।

(अनु०) परिपोष को प्राप्त होनेवाले बहुत से दूसरे रसों के होते हुये भी एक का अङ्गी होना विरुद्ध क्यों नहीं होता ? यह शङ्का कर कह रहे हैं—

'प्रस्तुत रस का जो दूसरे रसों के साथ समावेश वह स्थायी के रूप में अवभासित होनेवाले इस रस के अङ्गीभाव को नष्ट नहीं करता ॥२२॥

प्रबन्ध में पहले ही प्रस्तुत तथा बार-बार अनुसन्धान किये जाने के कारण स्थायी जो रस उस समस्त प्रबन्ध में व्यापक रस का अन्तरालवर्ती दूसरे रसों के साथ जो समावेश वह उसकी अंगिता को उपहत नहीं करता ॥

(लो०)—**नन्विति**। स्वयं लब्धपरिपोषत्वे कथमङ्गत्वम् ? अलब्धपरिपौषत्वे वा कथं रसत्वमिति रसत्वमङ्गत्वं चान्योन्यविरुद्धं तेषां चाङ्गत्वायोगे कथमेकस्याङ्गित्वमुक्तमिति भावः। **रसान्तरेति**। प्रस्तुतस्य समस्तेतिवृत्तव्यापिनस्तत एव विततव्याप्तिकत्वेनाङ्गिभावोचितस्य रसान्तरैरितिवृत्तवशायातत्वेन परिमितकथाशकलव्यापिभिर्यः समावेशः समुपबृंहणं स तस्य स्थायित्वेनेतिवृत्तव्यापितया भासमानस्य नाङ्गितामुपहन्ति, अङ्गितां पोषयत्येवेत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—अङ्गभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादिसामग्र्या स्वावस्थायां यद्यपि लब्धपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव न परितुष्य विश्राम्यति किन्तु चमत्कारान्तरमनुधावति। सर्वत्रैवाङ्गाङ्गिभावेऽयमेवोदन्तः। यथाह तत्रभवान्—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥ इति ॥२२॥

(अनु०) 'ननु' यह। स्वयं परिपोष को प्राप्त होने पर अंगत्व कैसे ? अथवा परिपोष को न प्राप्त होने पर रसत्व कैसे ? इस प्रकार रसत्व और अंगित्व के सिद्ध न होने पर कैसे एक का अंगी होना कहा गया है ? यह प्रश्न का भाव है।

'रसान्तर' यह। प्रस्तुत तथा समस्त इतिवृत्त में व्यापक और इसीलिये विस्तृत व्याप्तिवाला होने के कारण अंगी होने के अधिकारी (किसी) रस के इतिवृत्त वश आने के कारण परिमित कथाखण्डों में व्याप्त दूसरे रसों के साथ जो समावेश अर्थात् उसका अभिवर्धन वह उस स्थायी होने से इतिवृत्त में व्यापक होने के कारण शोभित होनेवाले (रस) की मुख्यता को उपहत नहीं करता अर्थात् अंगिता को पुष्ट ही करता है।

यह कहा गया है—अंगभूत भी दूसरे रस अपनी विभाव इत्यादि की सामग्री से अपनी अवस्था में यद्यपि परिपोष को प्राप्त होकर चमत्कारगोचरता को प्राप्त कर लेते हैं

तथापि वह चमत्कार उतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु दूसरे चमत्कार की ओर दौड़ता है। अङ्गाङ्गिभाव में सर्वत्र यही घटना होती है। जैसा कि श्रीमान् जी ने कहा है—

'गुण अपना संस्कार करके प्रधान को प्राप्त हो जाता है, और प्रधान के उपकार करने में अधिकता में वर्तमान होता है' यह ॥२२॥

रस के अंगांगी भाव का औचित्य

तारावती—(प्रश्न) रस की परिभाषा करते हुये आचार्यों ने लिखा है कि रस उसे कहते हैं जो वेद्यान्तरस्पर्शशून्य हो अर्थात् जिसके आस्वादन के अवसर पर अन्य सभी प्रकार के संवेदनीय पदार्थों का तिरोभाव हो जावे जो स्वप्रकाशानन्द चिन्मय हो और जिसका स्वरूप अखण्ड हो उसे रस कहते हैं। रस की इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर उनका अंगांगिभाव तो दूर रहा उनका एक साथ समावेश भी कठिन प्रतीत होता है, वह न तो दूसरे का अंग ही हो सकता है और न अंगी ही। यदि स्वसामग्रीसमवधान में ही उसका परिपोष हुआ है तो वह अंग किस प्रकार हो सकता है? यदि उसका परिपोष दोष नहीं हो गया है तो वह रस ही किस प्रकार कहा जा सकता है? इस प्रकार अनेक रसों के परिपुष्ट हो जाने पर एक को ही अंगी कह देना क्यों सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है? आशय यह है कि रस कभी अंग नहीं हो सकता और अंग कभी रस नहीं हो सकता। रसत्व और अंगत्व परस्पर विरुद्ध हैं। जब अंगत्व रस में आही नही सकता तो कोई एक अंगी भी कैसे हो सकता है? (उत्तर)—

'प्रस्तुत रस स्थायी के रूप में अवभासित होता है (और वही अंगीरस कहा जाता है।) यदि उसमें (प्रसंगवश) अन्यरसों का समावेश हो जावे तो उसके अंगी होने में कोई उपघात नहीं होता।

आशय यह है कि वही रस काव्य में अङ्गीरस का रूप धारण करता है जो नाटक के बीज के साथ ही सर्वप्रथम उपस्थित हो और काव्य जितना ही आगे बढ़ता जावे वह रस भी साथ साथ परिपोष को प्राप्त होता रहे तथा उसका बार बार अनुसन्धान भी कर लिया जाता रहे। इस प्रकार के रस को हम काव्य का स्थायी रस कह सकते हैं; क्योंकि यह रस समस्त प्रबन्ध में व्याप्त होता है और प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त स्थिर बना रहता है। बीच बीच में और रस भी आते रहते हैं। उनका समावेश इस व्यापक रस में होता चलता है। अन्य रसों से मिल जाने के कारण उसकी अंगिता (प्रधानता) नष्ट नहीं होती। सारांश यह है कि किसी रस को समस्त इतिवृत्त में व्याप्त होने के ही कारण अंगी होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इतिवृत्त में कोई एक ही कथा हो ऐसा तो कोई नियम नहीं है। मुख्य कथा एक होती है और उसके साथ छोटी-छोटी कथाओं के खण्ड गुंथे हुये से चलते रहते हैं। उन छोटी छोटी कथाओं में स्वतन्त्र रसों की सत्ता विद्यमान रहती है। इस प्रकार वे छोटे-छोटे रस उसी व्यापक रस को बढ़ाते हैं और वह व्यापक रूप में ही बढ़ता चला जाता है। उसकी अंगिता नष्ट नहीं होती अपितु पुष्ट ही होती है।

यहाँ पर जो कुछ कहा गया है उस सबका सार यही है कि खण्ड रसों की विभाव इत्यादि सामग्री भी पूर्ण होती है और उनका परिपोष भी अपनी अवस्था से हो ही जाता है तथा वे भी चमत्कार-गोचरता को प्राप्त हो ही जाते हैं। किन्तु वह चमत्कार अपने स्वरूप में ही नहीं रुक जाता अपितु दूसरे (प्रधान रस के) चमत्कार की ओर दौड़ता है। अंगांगिभाव में सर्वत्र यही बात लागू होती है। यही बात निम्नलिखित कारिका में कही गई है:—

'गौण (तत्व) अपने संस्कार कर लेने के बाद प्रधान को प्राप्त हो जाता है और प्रधान के बहुत बड़े उपकार में वर्तमान हो जाता है ॥'

इस प्रकार गौण रसों का प्रधान रस में समावेश दूषित नहीं कहा जा सकता और उनका विरोध भी अकिञ्चित्कर हो जाता है ॥२२॥

(ध्वन्या०) **एतदेवोपपादयितुमुच्यते—**

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत्कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित्। प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते।

(अनु०)—इसी को सिद्ध करने के लिये कह रहे हैं—

'जिस प्रकार प्रबन्ध के एक व्यापक कार्य का विधान किया जाता है उसी प्रकार रस की विधि में भी विरोध नहीं होता ॥२३॥

जिस प्रकार सन्धि इत्यादि से युक्त प्रबन्ध-शरीर के अन्ततक जानेवाले व्यापक कार्य की कल्पना की जाती है और ऐसा नहीं होता कि उसका साङ्कर्य दूसरे कार्यों से न हो। यह भी नहीं होता कि उनके द्वारा सङ्कीर्ण हो जाने पर भी उसकी प्रधानता जाती रहती हो। उसीप्रकार सन्निवेश किये जाने पर रस का भी कोई विरोध नहीं होता। इसके प्रतिकूल उदय हुये विवेकवाले अनुसन्धान करनेवाले सहृदयों का उस प्रकार के विषय में अत्यन्त आनन्द प्रवृत्त हो जाता है।

(लो०)—**उपपादयितुमिति**। दृष्टान्तस्य समुचितस्य निरूपणेनेति भावः। न्यायेन चैतदेवोपपद्यते। कार्यं हि तावदेकमेवाधिकारिकं व्यापकं प्रासङ्गिककार्यान्तरोपक्रियमाणमवश्यमङ्गीकार्यम्। तत्पृष्ठवर्तिनीनां नायकचित्तवृत्तीनां तद्बलादेवाङ्गाङ्गिभावः प्रवाहपतित इति किमत्रापूर्वमिति तात्पर्यम्। तथेति व्यापितया। यदि वा एवकारो भिन्नक्रमः, तथैव तेनैव प्रकारेण कार्याङ्गाङ्गिभावरूपेण रसानामपि बलादेवासावापततीत्यर्थः। तथा च वृत्तौ वक्ष्यति 'तथैवे'ति।

कार्यमिति। 'स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति' इति लक्षितं बीजम्। बीजात्प्रभृति प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणं यावत्समाप्तिबन्धं स तु विन्दुः'। इति बिन्दुरूपयार्थप्रकृत्या निर्वहणपर्यन्तं व्याप्नोति तदाह—**अनुयायीति**। अनेन बीजं

विन्दुश्चेत्यर्थप्रकृती सङ्गृहीते। **कार्यान्तरैरिति**। 'आगर्भादाविमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते' इति प्रासङ्गिकं यत्पताकालक्षणार्थप्रकृतिनिष्ठं कार्यं यानि च ततोऽप्यूनव्याप्तितया प्रकरीलक्षणानि कार्याणि तैरित्येवं पञ्चानामर्थप्रकृतीनां वाक्यैकवाक्यतया निवेश उक्तः। **तथाविध इति**। यथा तापसवत्सराजे। एवमनेन श्लोकेनाङ्गाङ्गितायां दृष्टान्तनिरूपणमितिवृत्तबलापतितत्वं च रसाङ्गाङ्गिभावस्येति द्वयं निरूपितम्। वृत्तिग्रन्थोऽप्युभयाभिप्रायेणैव नेयः ॥२३॥

(अनु०) 'उपपादन करने के लिये' यह। भाव यह है कि समुचित दृष्टान्त के निरूपण के द्वारा। और न्याय से यही उपन्न होता है। कार्य तो निस्सन्देह एक आधिकारिक ही प्रासङ्गिक दूसरे कार्यों से उपकार किया जाता हुआ अवश्य अंगीकृत किया जाना चाहिये। उसकी पृष्ठवर्तिनी नायक की चित्तवृत्तियों का उसके बल से ही अङ्गाङ्गिभाव प्रवाह से प्राप्त हुआ है अतः इसमें अपूर्व क्या है? यह तात्पर्य है। 'उस प्रकार' अर्थात् व्यापक रूप में। अथवा 'एव' शब्द क्रमभेद से लगाया जाना चाहिये। 'उसी ही प्रकार' अर्थात् कार्य के अङ्गाङ्गिभाव के रूप में ही रसों का भी वह बलपूर्वक आ जाता है। अतः वृत्ति में कहेंगे—'तथैव' यह।

'कार्य यह'। जो थोड़ी मात्रा में समुद्दिष्ट होकर बहुत प्रकार से फैलता है' यह वीज लक्षित किया गया। बीज से लेकर प्रयोजनों के विच्छिन्न हो जाने पर जो समाप्तिपर्यन्त अविच्छेद का कारण हो वह तो बिन्दु होता है। इस बिन्दुरूप अर्थ प्रकृति से निर्वहण पर्यन्त व्यास कर लेता है—वह कहते हैं—'अनुयायी' यह। इससे बीज और बिन्दु इन दो अर्थप्रकृतियों का संग्रह हो गया। 'दूसरे कार्यों से' यह। 'गर्भ तक या विमर्श तक पताका निबृत्त हो जाती है' इस प्रकार 'पताकारूप जो अर्थप्रकृति में रहनेवाला कार्य और जो उससे कम व्याप्तिवाला होने के कारण प्रकरी रूप कार्य उनके द्वारा' इस प्रकार पाँचो ही अर्थप्रकृतियों का वाक्यैकवाक्यता के रूप में निवेश कहा गया है। 'उस प्रकार का' यह। जैसे तापसवत्सराज में। इस प्रकार इस श्लोक के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव में दृष्टान्त निरूपण तथा रस के अङ्गाङ्गिभाव में इतिवृत्त के बलपर आना इन दोनों का निरूपण किया गया है। वृत्ति ग्रन्थ की योजना भी इसीप्रकार करनी चाहिये ॥२३॥

नाट्य वस्तु की संक्षिप्त रूपरेखा

तारावती—२२ वीं कारिका में जो बात कही गई है उसको सिद्ध करने के लिये २३ वीं कारिका में एक समुचित दृष्टान्त का निरूपण किया गया है। कारिका का आशय यह है :—

"जिस प्रकार प्रबन्ध के एक व्यापक कार्य का विधान किया जाता है वही प्रकार रस की विधि में भी अपनाया जा सकता है उसमें कोई विरोध नहीं होता।"

प्रस्तुत कारिका का आशय ठीक रूप में समझने के लिये यह आवश्यक है कि नाट्यवस्तु-विधान की संक्षिप्त रूपरेखा समझ ली जानी चाहिये। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रत्येक काव्य का एक फल होता है। उस फल पर स्वामित्व अधिकार कहलाता है। उस अधिकार को लेकर चलनेवाली कथावस्तु को आधिकारिक कथावस्तु कहते हैं। प्रासङ्गिक कथावस्तु का उपादान आधिकारिक के उपकार के लिये ही होता

है। आधिकारिक कथावस्तु समस्त प्रबन्ध में व्याप्त होती है और प्रासङ्गिक काव्य के थोड़े भाग में। प्रबन्धनिर्वाह के लिये ५ कार्यावस्थाओं, ५ अर्थप्रकृतियों और पाँच सन्धियों पर विचार किया जाता है। ५. कार्यावस्थायें होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम। पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य, तथा पाँच सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। इन सन्धियों में प्रत्येक के अनेक अङ्ग भी होते हैं। इन समस्त तत्त्वों के लक्षण और सन्ध्यङ्गों के लक्षण तथा परिभाषायें नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक दी गई हैं। इस कारिका का आशय यह है—इस विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि सन्धि इत्यादि से युक्त कथाशरीर में एक व्यापक कार्य स्वीकार करना अनिवार्य है जो कि प्रबन्ध के अन्त तक चला जाता है। आधिकारिक नाट्यवस्तु का प्रवर्तक होता है बीज। बीज की परिभाषा की गई है—'जो बहुत ही थोड़ी मात्रा में उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया हो और नाट्यवस्तु में बहुत प्रकार से व्याप्त हो जावे उसे बीज कहते हैं।' जैसे छोटे से बीज से विशाल वटवृक्ष तैय्यार हो जाता है उसी प्रकार छोटे से नाट्यबीज से कथानक का विशाल कलेवर तैय्यार हो जाता है। जैसे रत्नावली में 'द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यादि कथन नाट्यबीज है। बीज को लेकर वस्तु जब आगे बढ़ती है तब कथासूत्र के प्रवाह में पड़कर कोई ऐसा स्थल आ जाता है जहाँ कथा-प्रयोजन विच्छिन्न होता हुआ सा दिखलाई पड़ने लगता है। उस समय कोई ऐसा तत्त्व आ जाता है जो उस वस्तु को और आगे बढ़ा देता है तथा वस्तु को अन्त तक अग्रसर करता रहता है, उस तत्त्व को बिन्दु कहते हैं। बिन्दु का कार्य कथावस्तु में विच्छेद न उत्पन्न होने देना है। इस प्रकार आधिकारिक कथावस्तु बीज और बिन्दु इन दो अर्थप्रकृतियों के सहयोग से प्रारम्भ से अन्त तक चली जाती है। (कार्य के विषय में पहले ही बतलाया जा चुका है कि वह एक व्यापक तत्त्व होता है जो प्रारम्भ से अन्त तक चलता रहता है और अन्त में जहाँ बीज का फल से योग होता है वहाँ दर्शकों और पाठकों को कार्य की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।) इस प्रकार बीज, बिन्दु और कार्य इन तीन अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध आधिकारिक कथावस्तु से होता है और उसमें बीज तथा बिन्दु के सहयोग से अनुयायी कार्य व्यापक रूप में कल्पित कर लिया जाता है। यह तो हुई आधिकारिक वस्तु की बात। वह आधिकारिक वस्तु प्रासङ्गिक वस्तु से साङ्कर्य को न प्राप्त होती हो ऐसा नहीं होता आशय यह है कि आधिकारिक वस्तु के कार्य के साथ अन्य कार्य भी आते ही हैं। ये कार्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो ऐसे कार्य जो आधिकारिक कार्य के साथ कुछ दूर तक चलते हैं और उन्हें पताका नाम से अभिहित किया जाता है और दूसरे वे कार्य जो किसी एक देश में आकर वहीं समाप्त हो जाते हैं। उन्हें प्रकरी कहते हैं। पताका या तो गर्भसन्धि तक चलती है या फिर अधिक से अधिक विमर्शसन्धि पर्यन्त जाती है। उसके बाद निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार विस्तृत पताका या स्वल्प देश गत प्रकरी को बीज बिन्दु इत्यादि से मिलाकर कथाशरीर का निष्पादन होता है। इस प्रकार मुख्यवस्तु के साथ प्रासंगिक वस्तु के सन्निवेश से मुख्य-वस्तु का प्राधान्य समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार मुख्य (अंगी) रस में अप्रधान रसों का समावेश करने में कोई विरोध

नहीं होता। इसके प्रतिकूल कहा जा सकता है कि जो सहृदय विवेकशील हैं और ठीक रूप में अंगी का अनुसन्धान करते हैं उन सहृदयों को दूसरे रसों से सङ्कीर्ण मुख्य रस के आस्वादन में प्रमोद की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है। जैसे तापसवत्सराज में। (इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।) इस कारिका में दो बातें कही गई हैं—(१) इतिवृत्ति के दृष्टान्त से यह सिद्ध किया गया है कि जिस प्रकार इतिवृत्त में मुख्य वस्तु के साथ अमुख्य वस्तु का समावेश दूषित नहीं होता और न मुख्य वस्तु की मुख्यता को ही व्याघात लगता है उसी प्रकार अमुख्य रसों के समावेश से मुख्य रस की न तो मुख्यता नष्ट होती है और न किसी प्रकार का विरोध आता है। (२) मुख्य इतिवृत्त का रस मुख्य रस होता है और अमुख्य इतिवृत्त का रस अमुख्य होता है। अतः उनका अंगागिभाव असंगत नहीं माना जा सकता। वृत्ति ग्रन्थ की योजना भी इन्हीं दो दृष्टिकोणों से की जानी चाहिये॥

(ध्वन्या०)—ननु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा वीरशृङ्गारयोः शृङ्गारहास्ययो रौद्रशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयोर्वीररौद्रयो रौद्रकरुणयोः शृङ्गाराद्भुतयोर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः, तेषां तु कथं भवेद्येषां परस्परं बाध्यबाधकभावः ? यथा शृङ्गारबीभत्सयोर्वीरभयानकयोः शान्तरौद्रयोः शान्तशृङ्गारयोर्वा।

इत्याशङ्क्येदमुच्यते—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता॥२४॥

(अनु०)—(प्रश्न) जिन रसों का परस्पर अविरोध है जैसे वीर शृङ्गार का शृंगार हास्य का, शृंगार रौद्र का, वीर अद्भुत का, वीर रौद्रका, रौद्र करुण का अथवा शृंगार और अद्भुत का, उनमें अंगांगि भाव हो उनका तो कैसे हो जिनका परस्पर बाध्यबाधक भाव है जैसे शृंगार वीभत्स का, वीर भयानक का, शान्त रौद्र का अथवा शान्त-शृङ्गार का ?

यह आशंका करके यह कहा जा रहा है—

'दूसरे अङ्गीरस में अविरोधी या विरोधी रस को परिपोष को नहीं प्राप्त कराना चाहिये। इससे अविरोधिता होती है' ॥२४॥

(लो०)—शृङ्गारेण वीरस्याविरोधो युद्धनयपराक्रमादिना कन्यारत्नलाभादौ। हास्यस्य तु स्पष्टमेव तदङ्गत्वम् हास्यस्य स्वयमपुरुषार्थस्वभावत्वेऽपि समधिकतररञ्जनोत्पादनेन शृङ्गाराङ्गतयैव तथात्वम्। रौद्रस्यापि तेन कथञ्चिदविरोधः। यथोक्तम्—'शृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते' तैरिति रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैरित्यर्थः। केवलं नायिकाविषयमौग्र्यं तत्र परिहर्तव्यम्। असम्भाव्यपृथिवीसम्मार्जनादिजनितविस्मयतया तु वीराद्भुतयोः समावेशः। यथाह मुनिः—'वीरस्य चैव यत्कर्म सोद्भुतः' इति। वीररौद्रयोर्धीरोद्धते भीमसेनादौ समावेशः क्रोधोत्साहयोरविरोधात्। रौद्रकरुणयोरपि मुनिनैवोक्तः—'रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।' शृंगाराद्भुतयोरिति। यथा रत्नावल्यामैन्द्रजालिकदर्शने। शृंगारवीभत्सयोरिति। ययोर्हि परस्परमुन्मूलनात्मकतयैवोद्भवस्तत्र कोऽङ्गाङ्गिभावः ? आलम्बननिमग्नरूपतया च रतिरुत्तिष्ठति ततः पलायमानरूपतया जगुप्सेति समानाश्रयत्वेन

तयोरन्योन्यसंस्कारोन्मूलनत्वम्। भयोत्साहावप्येवमेव विरुद्धौ वाच्यौ। शान्तस्यापि तत्त्वज्ञानसमुत्थितसमस्तसंसारविषयनिर्वेदप्राणत्वेन सर्वतो निरीहस्वभावस्य विषयासक्तिजीविताभ्यां रतिक्रोधाभ्यां विरोध एव।

अविरोधी विरोधी वेति। वाग्रहणस्यायमभिप्रायः—अङ्गरसापेक्षया यस्य रसान्तरस्योत्कर्षो निबध्यते तदा तदविरुद्धोऽपि रसो निबद्धश्चोद्यावहः। अथ तु युक्त्याङ्गिनि रसेऽङ्गभावतानयेनोपपत्तिर्घटते तद्विरुद्धोऽपि रसो वक्ष्यमाणेन विषयभेदादियोजनेनोपनिबध्यमानो न दोषावह इति विरोधाविरोधावकिञ्चित्करौ। विनिवेशनप्रकार एव त्ववधातव्यमिति।

(अनु०) शृंगार से वीर का अविरोध युद्धनय पराक्रम इत्यादि के द्वारा कन्यारत्न लाभ इत्यादि में। हास्य का तो उसका अंग होना स्पष्ट ही है। हास्य के स्वयं अपुरुषार्थ स्वभाव होते हुये भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक रञ्जन के उत्पादक होने के कारण शृङ्गार के अंग के रूप में ही पुरुषार्थ स्वरूप प्राप्ति होती है। रौद्र का भी किसी प्रकार उससे अविरोध होता है। जैसे कहा गया है—'उनके द्वारा बलात् शृङ्गार का सेवन किया जाता है। उनके द्वारा अर्थात् रौद्र प्रकृतिवाले राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्यों द्वारा, वहाँ पर केवल नायिकाविषयक औद्धत्य का परित्याग कर दिया जाना चाहिये। असम्भव पृथिवी सम्मार्जन इत्यादि से उत्पन्न विस्मय के कारण तो वीर और अद्‌भुत का समावेश होता है। जैसा कि मुनि ने कहा है—'वीर का जो कर्म वह अद्‌भुत' यह। वीर रौद्र का धीरोद्धत भीमसेन इत्यादि में समावेश होता है, क्योंकि क्रोध और उत्साह का विरोध नहीं होता। रौद्र और करुण का भी मुनि ने ही कहा है—'रौद्र का ही जो कर्म वह करुण रस समझा जाना चाहिये।'

'शृङ्गार और अद्‌भुत का' यह। जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के दर्शन में। 'शृङ्गार और वीभत्स का' यह। निस्सन्देह जिनका उद्भव परस्पर उन्मूलनात्मक रूप में ही होता है उसमें क्या अगांगिभाव ? आलम्बन में निमग्न रूप में रति का उत्थान होता है और उससे पलायन रूप में जुगुप्सा का उत्थान होता है इस प्रकार समानाश्रयत्व वे एक दूसरे के संस्कार का उन्मूलन करनेवाले होते हैं। इसी प्रकार भय और उत्साह के विरोध को भी कहना चाहिये। शान्त भी तत्त्वज्ञानजन्य समस्त संसार के विषयों से विराग ही प्राण होने के कारण चारों ओर से निरीह स्वभाववाला होता है उसका (उन) रति और क्रोध से विरोध ही होता है जिनका जीवन ही है विषयासक्ति।

'विरोधी अथवा अविरोधी' यह। वा ग्रहण का यह अभिप्राय है—अंगीरस की अपेक्षा जिस दूसरे रस का उत्कर्ष निबद्ध किया जाता है तब निबद्ध किया हुआ उसका अविरुद्ध रस भी प्रश्न उठानेवाला होता है। और यदि युक्तिपूर्वक अंगीरस में अंगभाव की प्राप्ति के द्वारा उपपत्ति घटित होती है तो विरुद्ध भी रस आगे कहे जाने योग्य विषयभेद इत्यादि की योजना के द्वारा उपनिबद्ध किया हुआ दोषावह नहीं होता, इस प्रकार विरोध और अविरोध अकिञ्चित्कर होते हैं। विनिवेशन के प्रकार में ही तो ध्यान देना चाहिये।

अविरोधी रसों का विवेचन

तारावती—ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका कि दो रसों का अंगांगिभाव सम्भव है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कुछ रस तो ऐसे हैं जिनका एक में सन्निवेश सम्भव है और कुछ रस ऐसे हैं जिनका परस्पर सन्निवेश सम्भव नहीं है। जिन रसों का परस्पर सन्निवेश सम्भव है उन रसों का तो अंगांगिभाव बन जाता है। किन्तु जिनका परस्पर सन्निवेश सम्भव नहीं है उनका अंगांगिभाव कैसे बनेगा ? आचार्यों के कथन के अनुसार कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं कुछ अविरोधी। वीर और शृंगार परस्पर अविरोधी रस होते हैं। (वीर का आलम्बन होता है विजेतव्य व्यक्ति और शृंगार का आलम्बन होता है प्रेम-पात्र व्यक्ति। एक ही व्यक्ति को आलम्बन मानकर वीर शृङ्गार दोनों की निष्पत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि जिससे प्रेम करने की इच्छा हो उसी पर विजय प्राप्त करने की कामना नहीं हो सकती। किन्तु यदि आलम्बन भेद हो तो दोनों रसों में विरोध नहीं होता।) जब कन्यारत्न का लाभ युद्ध नीति अथवा पराक्रम के द्वारा होता है तो शृङ्गार का वीर से विरोध नहीं होता। (रुक्मिणी की प्राप्ति युद्ध के द्वारा हुई थी, वासवदत्ता को उदयन ने यौगन्धरायण के नीतिजन्य उत्साह से प्राप्त किया था और राक्षस विधि से कन्यापहरण में पराक्रमजन्य उत्साह से कन्या प्राप्ति होती है।) हास्य तो स्पष्ट रूप में ही शृंगार का अंग होता है। (मुनि ने शृंगार की प्रकृति को ही हास्य कहा है।) समस्त रसों में आश्रय के उपनिबन्धन का अनिवार्य नियम है अर्थात् रसों में यह अवश्य ही दिखलाया जाता है कि अमुक भाव किस में उद्भूत हुआ। यदि शकुन्तला के प्रति रति का वर्णन किया जावेगा तो उस रति का आश्रय दुष्यन्त है यह अवश्य दिखलाया जावेगा। किन्तु हास्य रस में हास्य की परिस्थिति (आलम्बन-मात्र) का चित्रण किया जाता है। यह अनिवार्यतया नहीं दिखलाया जाता कि उसका आश्रय कौन है अर्थात् उस परिस्थिति से हँसी किसको आई। (उसका आश्रय या तो समस्त सहृदय होते हैं या सहृदयों द्वारा कल्पित कोई व्यक्ति) तथापि हास्य रस में यह विशेषता होती है कि वह अनुरञ्जन बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न करता है और इस प्रकार शृंगार रस के हर्ष को अधिकाधिक तीव्र करता जाता है। अतः हास्य को शृङ्गार का अंग होकर ही आश्रय प्राप्त होता है। अतः उसी रूप में हास्य के अवयवों की पूर्ति होती है और उसे रसरूपता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार हास्य और शृङ्गार का भी परस्पर विरोध नहीं है। रौद्र और शृङ्गार परस्पर विरोधी कहे जाते हैं। किन्तु उनका अविरोध भी किसी न किसी रूप में स्थापित किया जा सकता है। भरत ने कहा है कि राक्षस दानव और उद्धत स्वभाववाले मनुष्य शृङ्गार का सेवन बलपूर्वक किया करते हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना पड़ता है कि जिस नायिका के प्रति उनमें प्रेमप्रवृत्ति दिखलाई जाती है उस नायिका के प्रति क्रोध और उग्रता नहीं दिखलानी पड़ती। प्रेम में व्याघात डालनेवालों तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति उनकी उग्रता का वर्णन किया जाता है। शृङ्गार एक ऐसा रस है जो सभी के लिये हृद्य होता है। अतएव जहाँ दानव इत्यादि के उद्धत स्वभाव का वर्णन होता है वहाँ साथ ही यदि किसी सुन्दरी से उसकी प्रेमलीला का भी वर्णन किया जावे तो किसी न किसी प्रकार शृङ्गार और रौद्र का परस्पर समावेश हो सकता है। वीर और अद्भुत भी परस्पर विरोधी नहीं होते।

क्योंकि जहाँ वीरों के असम्भव कृत्यों का वर्णन किया जाता है वहाँ वीर और अद्भुत का परस्पर समावेश हो जाता है। मुनि ने कहा ही है कि वीर का जो कर्म वही अद्भुत होता है। धीरोद्धत स्वभाववाले भीमसेन इत्यादि में वीर और रौद्र का समावेश हो सकता है क्योंकि क्रोध और उत्साह दोनों का विरोध तो है ही नहीं। रौद्र और करुण भी विरोधी नहीं होते क्योंकि इनके सम्बन्ध को भी मुनि ने ही बतलाया है—'रौद्र का ही जो कर्म होता है उसी को करुण रस समझा जाना चाहिये।' हाँ आश्रय की एकता में दोनों का विरोध होता है। यदि एक में क्रोध हो और उसके विरोधी दूसरे व्यक्ति में करुण हो तो कोई विरोध नहीं होता। श्रृंगार और अद्भुत भी परस्पर विरुद्ध नहीं होते। उदाहरण के लिये रत्नावली नाटिका में राजा और सागरिका का सम्मिलन ऐन्द्रजालिक की अद्भुत क्रियाओं के द्वारा हुआ है और उसी के द्वारा सागरिका से वासवदत्ता की ईर्ष्या-निवृत्ति हुई है। अतः श्रृङ्गार और अद्भुत भी परस्पर अविरोधी होते हैं।

विरोधी रसों का विवेचन

ऊपर उन रसों का दिग्दर्शन कराया गया है जिनका परस्पर मिल सकना सम्भव होता है और जो एक दूसरे के विरोधी नहीं होते। इसके प्रतिकूल कुछ रस ऐसे भी होते हैं जिनकी उत्पत्ति या सत्ता ही एक दूसरे को उन्मूलित करनेवाली होती है। उदाहरण के लिये श्रृङ्गार और बीभत्स को लीजिये। श्रृंगार का स्थायी भाव है रति और बीभत्स का स्थायी भाव है जुगुप्सा। रति का तो उत्थान ही तब होता है जब आश्रय का मन आलम्बन के प्रति ललकने लगता है और उसी में गड़ जाता है। इसके प्रतिकूल जुगुप्सा का उदय तभी होता है जब आश्रय आलम्बन की ओर से दूर भागने के लिये आतुर हो जाता है। इस प्रकार शृंगार बीभत्स के संस्कारों का उन्मूलन करता है और बीभत्स श्रृंगार के संस्कारों का उन्मूलन करता है। अतः एक ही आश्रय में एक साथ उन दोनों का कथन संगत नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार भय में आलम्बन से भागने की प्रवृत्ति होती है और उत्साह में आलम्बन को अभिभूत करने के लिये उसकी ओर बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। अतः दोनों विरोधी हैं और दोनों का एक साथ उपादान ठीक नहीं कहा जा सकता। शान्तरस का प्राण होता है निर्वेद जो कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है और संसार के समस्त विषयों से पृथक् होने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। अतः सभी ओर से स्वभाव का इच्छारहित हो जाना ही शान्त रस है। इसके प्रतिकूल रति का जीवन है विषयों में आसक्ति। क्रोध भी विषयासक्ति से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि जब विषयों के प्रति तीव्र अनुराग होता है तभी विघ्न डालनेवालों के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ करता है। इस प्रकार विषयों के प्रति विराग और विषयों के प्रति अनुरक्ति इन दोनों में स्वाभाविक विरोध होने के कारण शान्तरस स्वाभाविक रूप में श्रृंगार और रौद्र का विरोधी है।

यह पूर्वपक्ष का प्रश्न है। इसका आशय यह है कि रस का विरोध दो प्रकार का होता है—एक तो सामानाधिकरण्य का बिरोध और दूसरा उन्मूल्य-उन्मूलक रूप में विरोध। सामानाधिकरण्य का विरोध कहीं आलम्बन की एकता में होता है, कहीं आश्रय की एकता में

और कहीं अधिकरण की एकता में। अतः जिन परिस्थितियों से विरोध होता है उनसे भिन्न परिस्थितियों में न तो विरोध होता है और न उनका एक साथ वर्णन दूषित ही कहा जा सकता है। किन्तु जिनका उन्मूल्य-उन्मूलक भाव में विरोध होता है उनका विरोध तो आत्यन्तिक होता है अतः उनका एकत्र समावेश दूषित क्यों नहीं होता? इसी प्रश्न का उत्तर २४वीं कारिका में दिया गया है। कारिका का आशय यह है कि—

'यदि किसी प्रकरण में कोई एक अंगी रस विद्यमान हो तो उसके साथ कोई भी दूसरा रस आ सकता है चाहे वह विरोधी हो चाहे अविरोधी। किन्तु शर्त यह है कि दूसरे रस को पूर्णरूप में पुष्ट नहीं करना चाहिए। यदि अंगी रस पूर्णरूप से पुष्ट कर दिया जाता है और दूसरा रस पुष्ट नहीं किया जाता तो विरोध नहीं होता ॥२४॥

(ध्वन्या०) अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः। तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः। उत्कर्षसाम्येऽपि तयोर्विरोधासम्भवात्।

यथा—

एकन्तो रुअइ पिआ अण्णन्तो समरतूरणिग्घोसो।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअ हिअअम् ॥

यथा वा—

कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात् ॥

इत्यत्र।

(अनु०) अंगी दूसरे रस शृंगार इत्यादि के प्रबन्ध व्यंग्य होने पर अविरोधी या विरोधी रस परिपोष को नहीं प्राप्त किया जाना चाहिये। उसमें अविरोधी रस का अंगी रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिये यह परिपोष का पहला परिहार है; क्योंकि उत्कर्ष साम्य में भी उनका विरोध असम्भव होता है।

जैसे—

'एक ओर प्रिया रो रही है दूसरी ओर युद्धवाद्यों का शब्द हो रहा है। प्रेम तथा युद्धरस से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है।'

अथवा जैसे—

'मोतियों की माला को गले से उतारकर रुद्राक्षमाला के समान घुमाती हुई, मेखला के सूत्र से सर्पराज के द्वारा पर्यङ्कबन्ध बनाकर मिथ्यामन्त्र जप से फड़कनेवाले अधरपुट के द्वारा गूढ़ हास को व्यक्त करती हुई सन्ध्या की असूया से पशुपति को हँसनेवाली वहाँ देखी हुई देवी (पार्वती) आपलोगों की रक्षा करें।'

यहाँ पर।

(लो०) अङ्गिनीति सप्तम्यनादरे। अंगिनं रसविशेषमनादृत्य न्यक्कृत्यांगभूतो न पोषयितव्य इत्यर्थः। **अविरोधतेति**। निर्दोषतेत्यर्थः। परिपोषपरिहारे त्रीन् प्रकारानाह–तत्रेत्यादिना तृतीय इत्यन्तेन। ननु न्यूनत्वं कर्तव्यमितिवाच्ये आधिक्यस्य का सम्भावना येनोक्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्याशङ्कयाह—**उत्कर्ष साम्य** इति।

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम्॥

इतिच्छाया। रोदिति प्रियेत्यतो रत्युत्कर्षः। समरतूर्येति भटस्येति चोत्साहोत्कर्षः। दोलायितमिति तयोरन्यूनाधिकतया साम्यमुक्तम्।

एतच्च मुक्तकविषयमेव भवति न तु प्रबन्धविषयमिति केचिदाहुस्तच्चासत्; आधिकारिकेष्वितिवृत्तेषु त्रिवर्गफलसमप्राधान्यस्य सम्भवात्। तथाहि रत्नावल्यां सचिवायत्तसिद्धित्वाभिप्रायेण पृथिवीराज्यलाभ आधिकारिकं फलं कन्यारत्नलाभः प्रासङ्गिकं फलं नायकाभिप्रायेण तु विपर्यय इतिस्थिते मन्त्रिबुद्धौ च स्वाम्यमात्यबुद्धयेकत्वात्फलमिति नीत्या एकीक्रियमाणायां समप्राधान्यमेव पर्यवस्यति। **यथोक्तम्—'कवेः प्रयत्नान्नेतॄणां युक्तानाम्'** इत्यलमवान्तरेण बहुना।

(अनु०) 'अंगिनि' में अनादर में सप्तमी है। अर्थात् अंगी रस विशेष का अनादर करके अर्थात् नीचे गिराकर अंगभूत को पुष्ट नहीं करना चाहिये। 'अविरोधिता' अर्थात् निर्दोषता। परिपोष परिहार में तीन प्रकारों को कहते हैं—'उसमें' इत्यादि से 'तृतीय' यहाँ तक। 'निस्सन्देह न्यूनत्व करना चाहिये इस कथन के उचित होने पर आधिक्य की सम्भावना जिससे कहा गया है कि आधिक्य नहीं करना चाहिये ?' यह शंका करके कहते हैं—'उत्कर्ष साम्य में' इत्यादि।

'एकतो रोदिति' यह छाया है। 'प्रिया रोती है' 'इससे रति का उत्कर्ष' 'समरतूर्य' इससे और 'भट' इससे उत्साह का उत्कर्ष। 'दोलायमान' इससे उन दोनों की न न्यूनता न अधिकता इससे साम्य कहा गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि यह मुक्तकविषय में ही होता है प्रबन्ध विषय में नहीं—यह ठीक नहीं है; क्योंकि आधिकारिक इतिवृत्तों में त्रिवर्ग फल का समप्राधान्य सम्भव है। वह इस प्रकार—रत्नावली में सचिवायत्त सिद्धित्व के अभिप्राय से पृथिवी राज्य का लाभ आधिकारिक फल है और कन्यारत्नलाभ प्रासङ्गिक फल है; नायक के अभिप्राय से तो विपरीत है ऐसी स्थिति में 'स्वामी और मन्त्री की बुद्धि की एकता से ही फल होता है' इस नीति से मन्त्री की बुद्धि के एक किये जाने पर समप्राधान्य में ही पर्यवसान होता है। जैसा कि कहा गया है—'कवि के प्रयत्न से काम में लगे हुये नेताओं का' इत्यादि—बस अधिक अवान्तर की आवश्यकता नहीं।

युक्तिपूर्वक रसविरोध के परिहार का निर्देश

तारावती—सारांश यह है कि श्रृङ्गार इत्यादि रस यदि प्रबन्ध के द्वारा व्यंग्य हो रहे हों तो अविरोधी या विरोधी किसी दूसरे रस को पुष्ट नहीं करना चाहिये। 'या' कहने का

आशय यह है कि यदि अंगी रस के सामने किसी ऐसे दूसरे रस को अधिक उत्कृष्ट बना दिया जाता है जो विरोधी नहीं है तो वह भी एक दोष ही होगा और सहृदयों के अंगुलि-निर्देश का विषय बन जायेगा। इसके प्रतिकूल यदि अंगी रस के साथ किसी ऐसे रस को लाया जाता है जो उसका विरोधी है—किन्तु वह रस एक तो पुष्ट नहीं किया जाता; दूसरे युक्तिपूर्वक उसके अन्दर अंगरूपता की सिद्धि सङ्घटित कर दी जाती है तो उनका एक साथ निबन्धन सदोष नहीं होता और विरोध अकिञ्चित्कर हो जाता है। विरोध परिहार के उपाय आगे चलकर बतलाये जायेंगे। उन्हीं का आश्रय लेकर विरोधियों का परस्पर सङ्घटन करना चाहिये। आशय यह है कि निवेशन के प्रकार के प्रति ही जागरूक रहना चाहिये। यदि निपुणतापूर्वक किन्हीं भी दो रसों का एक साथ सङ्घटन कर दिया जाये तो दोष नहीं रह जाता। कारिका में 'अंगिनि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें सप्तमी विभक्ति है। यहाँ पर सप्तमी अनादर के अर्थ में हुई है। आशय यह है कि विशेष प्रकार के अंगी को अनादरपूर्वक दबाकर तथा तिरस्कृत करके ऐसे रस को पुष्ट नहीं करना चाहिये जो अंग-मात्र हो।

विरोध परिहार के तीन प्रकारों की व्याख्या

दो रसों के परस्पर समावेश में दोष किस प्रकार नहीं आता और उनके विरोध का परिहार किस प्रकार हो जाता है? अब इस पर विचार किया जा रहा है। विरोधनिवृत्ति के तीन प्रकार हो सकते हैं। (१) पहला प्रकार यह है—यदि अविरोधी रस को किसी अंगी रस के साथ कहना हो तो उस अविरोधी रस को प्रस्तुत रस के सामने बहुत अधिक नहीं बढ़ाना चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि आचार्य ने यहाँ यह नहीं कहा कि अंगीरस की अपेक्षा अविरोधी रस न्यून होना चाहिये। यदि न्यून होना कहा गया होता तो अधिक की सम्भावना ही क्या रह जाती। किन्तु न्यून न कहने का कारण यह है कि यदि रस विरोधी न हो तो उसको अंगीरस के समकक्ष समान उत्कर्षवाला बना देने में भी विरोध नहीं होता। जैसे—

'कोई वीर व्यक्ति युद्ध के लिये प्रस्थान कर रहा है—एक ओर वियोगजन्य पीड़ा से उसकी प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध के ढोल इत्यादि बाजे बज रहे हैं जिनका शब्द वीर के कानों में पड़ रहा है। एक ओर प्रियतमा का स्नेह है और दूसरी ओर युद्ध का आनन्द हृदय में उमड़ रहा है। इस प्रकार वीर का हृदय झूले पर झूल-सा रहा है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि प्रियतमा के प्रेम का स्वागत किया जाय या युद्ध का आनन्द लिया जाय।'

वह प्रियतमा है; केवल पत्नी नहीं। उसका रुदन रति को बढ़ा रहा है जिसके लिये 'स्नेह' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह रति श्रृंगार रस का स्थायी भाव है। युद्ध वाद्य तथा अपने 'भट' होने की भावना से उसके अन्दर उत्साह का उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है। जो कि वीर रस का स्थायीभाव है। रति का आलम्बन प्रियतमा है और उत्साह का आलम्बन शत्रु। अतः आलम्बनभेद होने से ये दोनों वीर और श्रृंगार 'विरोधी रस' नहीं हैं। वीर एक ओर निश्चय नहीं कर पा रहा है। उसका हृदय दोनों ओर झूल-सा रहा है। झूले की पैंग दोनों ओर बराबर जाती है। अतः वीर और श्रृंगार दोनों की प्रधानता एक सी ही है। दोनों के समावेश में कोई विरोध नहीं है।

दूसरा उदाहरण—

एक बार सन्ध्या प्रमदा की आकृति बनाकर भगवान् शंकर के पास आई और शंकर जी ने उसे स्वीकार किया। इस पर भगवती पार्वती को ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उन्होंने शंकर जी की हँसी उड़ाई। उसी का इस पद्य में वर्णन है। 'पार्वती ने अपने कण्ठ से हार को उतार कर उसे रुद्राक्ष माला के वलय के समान घुमाना प्रारम्भ कर दिया। पर्यङ्कबन्ध (वीरासन) बाँध लिया (जिसमें दाहिना पैर बायें ऊरु पर रक्खा जाता है और बायाँ पैर दाहिने ऊरु पर रक्खा जाता है।) इस पर्यङ्कबन्ध में शंकर जी के नागराज का कार्य उन्होंने मेखला के सूत्र से चलाया। उस समय वे शंकरजी के जप का अनुकरण करने के लिये ओठों को फड़का रहीं थी और जप के लिये वे किसी मन्त्र का उच्चारण नहीं कर रही थीं अपितु मिथ्या ही जप करती हुई जान पड़ रही थीं। उनके ओठों में गुप्तरूप से हँसी छिपी हुई थी जो ओठों के काँपने से कुछ-कुछ प्रकट हो रही थी। इस प्रकार देवी पार्वती सन्ध्या की असूया से पशुपति की हँसी उड़ा रही थीं। अपने भक्तों के द्वारा इस रूप में देखी हुई देवी आप सब लोगों की रक्षा करें।'

(यहाँ पर सन्ध्या के प्रति असूया शंकर के प्रति पार्वती के रतिभाव को अभिव्यक्त करती है। इस रतिभाव ने विभाव, अनुभाव, और सञ्चारीभाव के संयोग से श्रृंगार-रस का रूप धारण कर लिया है। साथ ही शंकर जी की सन्ध्योपासनकालिक चेष्टाओं के अनुकरण तथा अधरपुट में हास की अभिव्यक्ति से हास्य रस भी व्यक्त होता है। यहाँ हास्य और श्रृङ्गार दोनों समान बलवाले हैं। शंकर जी का सन्ध्यानुरागविषयक अनुकरण ईर्ष्या को पुष्ट करता है जोकि रतिभाव का पोषक है। साथ ही प्रेम की अधिकता शंकर जी की हँसी उड़ाने में पर्यवसित हुई है। अतः दोनों रस श्रृंगार और हास्य एक दूसरे के पोषक हैं। अतः समान बलवाले होते हुये भी सदोष नहीं माने जा सकते। दीधितिकार ने लिखा है कि अक्ष-माला जप इत्यादि से शान्तरस की अभिव्यक्ति होती है। अतः शान्त और श्रृङ्गार का एकत्र समावेश है। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि एक तो इस पद्य में पार्वती का वैराग्य व्यक्त नहीं होता। शान्तरस की चेष्टाओं का अनुकरण हास्य को ही अभिव्यक्त करता है। दूसरी बात यह है कि शान्त और श्रृंगार एक दूसरे के विरोधी रस हैं। प्रस्तुत प्रकरण अवि-रोधी रसों के समबल होने पर एकत्र समावेश की व्याख्या करनेवाला है। अतः शान्तरस को मानने में प्रकरण की संगति भी नहीं लगती। बालप्रिया में हास्यरस ही माना गया है और वही ठीक है।)

कुछ आचार्यों ने लिखा है कि यह नियम मुक्तक के विषय में ही लागू होता है प्रबन्ध के विषय में नहीं। किन्तु यह ठीक नहीं है। प्रबन्ध काव्य में भी दो रसों का प्राधान्य सम-कोटि का हो सकता है। प्रबन्धकाव्यों में आधिकारिक वस्तु का फल ही प्रधान फल कहा जाता है उसी को उद्देश्य मानकर प्रबन्ध काव्य प्रवृत्त होता है। काव्य का फल हो सकता है धर्म अर्थ और काम इन तीनों में किसी एक दो या तीन का साधन। अतः यह असम्भव

नहीं है कि किसी प्रबन्ध काव्य के दो उद्देश्य हों और दोनों की प्रधानता समान कोटि की हो। उदाहरण के लिये रत्नावली में कथावस्तु के बढ़ने का एक मात्र यही निमित्त है कि यौगन्धरायण मन्त्री ने रत्नावली को सागरिका के रूप में राजा के अन्तःपुर में रक्खा है। नीतिशास्त्र के अनुसार सिद्धियाँ तीन प्रकार की होती हैं—मन्त्री के दृष्टिकोण से, राजा के दृष्टिकोण से और दोनों के दृष्टिकोण से। रत्नावली में यौगन्धरायण का दृष्टिकोण है पृथिवी-राज्य की प्राप्ति। यही मन्त्री की दृष्टि से आधिकारिक फल है और कन्यारत्न का लाभ प्रासंगिक फल है। अतः पृथिवीराज्य प्राप्ति के लिये सचेष्ट होने के कारण यौगन्धरायण का उत्साह अभिव्यक्त होता है जो वीर रस पर्यवसायी है। दूसरी ओर नायक उदयन के दृष्टि-कोण से कन्यारत्न की प्राप्ति आधिकारिक फल है और पृथिवीराज्य लाभ प्रासंगिक फल। अतः उदयन का शृङ्गार रस अभिव्यक्त होता है। नीति यह है कि फल वही कहा जा सकता है जिसमें स्वामी और अमात्य दोनों की बुद्धि एक ही हो। जब यौगन्धरायण और उदयन दोनों की बुद्धि को एक किया जाता है तब यौगन्धरायण के उत्साह और उदयन की रति दोनों की प्रधानता समान ही सिद्ध होती है। अतः दो अविरोधी रसों का समकोटिक होना प्रबन्ध में भी सम्भव है, केवल मुक्तक में नहीं।

(ध्वन्या०) अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम्, निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः।

(अनु०) अंगीरस के विरोधी व्यभिचारियों का निवेशन करना अथवा निवेशन करने पर शीघ्र ही अंगीरस के व्यभिचारियों की अनुवृत्ति करना यह दूसरा (प्रकार है)।

(लो०) एवं प्रथमं निरूप्य द्वितीयमाह—**अङ्गीति**। **अनिवेशनमिति**। अङ्गभूते रस इति शेषः। नन्वेवं नासौ परिपुष्टो भवेदित्याशङ्क्य मतान्तरमाह—**निवेशने वेति**। अत एव वा ग्रहणमुत्तरपक्षदाढर्यं सूचयति न विकल्पम्। तथा चैक एवायं प्रकारः। अन्यथा द्वौ स्याताम् अङ्गिनो रसस्य यो व्यभिचारी तस्यानुवृत्तिरनुसन्धानम्। यथा—'कोपात्कोमललोल' इति श्लोकेऽङ्गिभूतायां रतावङ्गत्वेन यः क्रोध उपनिबद्ध-स्तत्र 'बद्ध्वा दृढम्' इत्यमर्षस्य निवेशितस्य क्षिप्रमेव रुदत्येति च रत्युचितेर्ष्यौत्सुक्य-हर्षानुसन्धानम्।

(अनु०) इस प्रकार प्रथम प्रकार का निरूपण कर दूसरे को कहते हैं—'अंगी रस' इत्यादि। 'न निविष्ट करना' यहाँ पर अंगभूत रस में यह शेष है। फिर तो निस्सन्देह यह परि-पुष्ट नहीं होगा यह शंका करके दूसरा मत कहते हैं—'अथवा निवेशन में' यह। इसीलिये 'वा' ग्रहण उत्तर पक्ष की दृढ़ता को सूचित करता है विकल्प को नहीं। अत एव यह एक ही प्रकार है नहीं तो दो हो जायें। अंगीरस का जो व्यभिचारी उसकी अनुवृत्ति अर्थात् अनुसन्धान जैसे 'कोपात्कोमललोल.....' इस श्लोक में अङ्गीभूत रति में अंगभूत जिस क्रोध का उप-निबन्धन किया गया था उसमें 'बाँध कर' 'दृढ़ता से' इन शब्दों से निवेशित अमर्ष का शीघ्र ही 'रोती हुई के द्वारा' इससे और 'हँसते हुये' इससे रति के योग्य ईर्ष्या औत्सुक्य और हर्ष का अनुसन्धान किया गया है।

तारावती——रसों के एक में सन्निवेश होने पर दोष होने का दूसरा प्रकार यह होता है——यदि अंगी रस के विरुद्ध किसी अन्य रस को काव्य में सन्निविष्ट किया जावे तो अंगीरस के विरोधी व्यभिचारियों का बहुत अधिकता से निवेश नहीं करना चाहिये और यदि विरोधी व्यभिचारियों का सन्निवेश अनिवार्य ही हो जावे तो उनका उपादान कर उन्हें ऐसा रूप दे देना चाहिये कि वे शीघ्र ही अंगी रस के व्यभिचारियों का अनुवर्तन करने लगें। यह दूसरा प्रकार है जो कि अंगी रस के साथ किसी अंग रस के प्रयोग में दिया जा सकता है। इस द्वितीय प्रकार के दो खण्ड हैं (१) अंगी रस से विरुद्ध व्यभिचारियों का प्रचुरता से सन्निवेश करना ही नहीं चाहिये और (२) सन्निवेश कर देने पर शीघ्र ही उन्हें अंगीरस के व्यभिचारियों का अनुयायी बना देना चाहिये। इस दूसरे खण्ड के उत्थापन का कारण यह है कि पहले खण्ड के अनुसार यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि विरोधी रस के व्यभिचारियों का सम्यक् उपादान नहीं किया जायेगा तो विरोधी रस का परिपोष किस प्रकार हो सकेगा? यदि विरोधी रस का परिपोष न हुआ तो उस अपरिपुष्ट अविकसित अवस्था को रस की संज्ञा ही किस प्रकार प्राप्त हो सकेगी? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिये द्वितीय खण्ड को स्वीकार किया गया है जिसका आशय यह है कि यदि विरोधी रस को पुष्ट करने के लिये व्यभिचारियों का उपादान अपरिहार्य ही हो जाये तो उनका उपादान करना तो चाहिये किन्तु उन व्यभिचारियों को मुख्य रस के व्यभिचारियों का अनुयायी अवश्य बना देना चाहिए। अतएव यहाँ पर द्वितीय खण्ड के उल्लेख के लिये जिस 'अथवा' शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अर्थ वैकल्पिक पक्ष को सूचित करना नहीं है जैसा कि अथवा शब्द का प्रायः अर्थ हुआ करता है अपितु उसका आशय है कि 'अच्छा तो यही है कि विरोधियों के व्यभिचारियों का उपादान किया ही न जाये। परन्तु यदि करना अनिवार्य ही हो तो उसे मुख्य रस की अपेक्षा गौण तथा मुख्य रस का पोषक बना देना चाहिये।' अतः दोनों खण्डों को मिलाकर यह एक ही प्रकार है। परिपोष की संगति भी इसीप्रकार हो जाती है। अंग रस का परिपोष निषिद्ध नहीं है अपितु रस-संज्ञा के लिये उसका परिपोष आवश्यक ही है, उसके परिपोष के लिये यदि विरोधी व्यभिचारियों के उपादान की आवश्यकता पड़े तो निस्संकोच भाव से उनका उपादान करना चाहिए। किन्तु तत्काल ही अंगीरस के अनुकूल व्यभिचारियों का परिशीलन कर लेना चाहिए। यह है मुख्य पक्ष इस प्रकार इस पक्ष के दो तत्त्व हैं विरोधियों का उपादान न करना और उपादान करके अंगी का अनुवर्तन कर लेना। इन दोनों में दूसरा तत्त्व (विरोधियों का उपादान करके अंगी का अनुसरण कर लेना) मुख्य पक्ष है। यदि 'अथवा' शब्द विकल्प-परक माना जायेगा तो ये पृथक्-पृथक् दो प्रकार हो जायेंगे। अंगी के व्यभिचारी की अनुवृत्ति का आशय यह है यदि विरोधी गौण रस का अधिक विस्तार हो रहा हो और उससे अंगी रस दृष्टि से ओझल होता जा रहा हो तो अंगी रस के व्यभिचारियों का बीच-बीच में इस प्रकार स्मरण कर लेना चाहिये कि विरोधी रस के व्यभिचारी उस मुख्य रस का अनुवर्तन करते हुये ही जान पड़ें और पाठकों या दर्शकों को मुख्य रस की प्रतीति भी हो जाये। उदाहरण के लिये——'कोपात्कोमललोलबाहु——' इत्यादि पद्य को लीजिये। इस पद्य

का अंगीरस है श्रृंगार। नायक के अपराध के प्रमाणित होजाने के कारण नायिका को क्रोध आगया है जो रौद्र रस का स्थायी भाव है। रौद्र को पुष्ट करने के लिये उसके 'बांध कर' 'पाश' 'मजबूती से' इन अनुभावों का उपादान किया गया है। जिससे क्रोध के व्यभिचारी अमर्ष की प्रतीति होती है। रौद्र श्रृङ्गार का विरोधी है। अतः अंगी शृंगार का कवि ने तत्काल परिशीलन कर लिया है और उसी निमित्त 'नायिका रो रही थी' 'नायक हँस रहा था' इन अनुभावों का उल्लेख कर दिया है। ये अनुभाव रति के व्यभिचारी ईर्ष्या, औत्सुक्य और हर्ष का अनुसन्धान करते हैं और अमर्ष रति के इन व्यभिचारियों का अनुयायी बन गया है। (यहाँ पर 'नन्वेवं नासौ परितुष्टो भवेत्' यही पाठ सभी पुस्तकों में पाया जाता है। रस का परितुष्ट होना कोई स्वाभाविक बात नहीं जान पड़ती। अतः यहाँ पर 'परिपुष्टो भवेत्' यह पाठ किर लिया गया है। यदि 'परितुष्टो भवेत्' यही पाठ माना जावे तो भी आशय वही होगा। रस का परितोष उसका परिपोष ही है। इस दशा में यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग माना जावेगा।)

(ध्वन्या०) अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः। अनया दिशा अन्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः।

(अनु०) परिपोष का प्राप्त भी अंगभूत रस का अंग के रूप में पुनः पुनः पर्यवेक्षण यह तीसरा प्रकार है। इसी दिशा से अन्य प्रकारों की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिये।

(लो०) तृतीयं प्रकारमाह—**अङ्गत्वेनेति**। अत्र च तापसवत्सराजे वत्सराजस्य पद्मावतीविषयः सम्भोगश्रृंगार उदाहरणीकर्तव्यः। **अन्येऽपीति**। विभावानुभावानां चापि उत्कर्षो न कर्तव्योऽङ्गिरसविरोधिनां निवेशनमेव वा न कार्यम्, कृतमपि चाङ्गिरसविभावानुभावैरुपबृंहणीयम्। परिपोषिता अपि विरुद्धरसविभावानुभावा अङ्गत्वं प्रति जागरयितव्या इत्यादि स्वयं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्।

(अनु०) तृतीय प्रकार को कहते हैं—अंगत्व के रूप में यह और यहाँ पर तापसवत्सराज में वत्सराज के पद्मावतीविषयक सम्भोग शृंगार का उदाहरण देना चाहिये। 'दूसरे भी' यह। विभावों और अनुभावों का उत्कर्ष नहीं करना चाहिये अथवा अंगीरस के विरोधियों का निवेश ही नहीं करना चाहिये, किये हुये को भी अंगीरस के विभाव अनुभाव इत्यादि के द्वारा बढ़ा दिया जाना चाहिये। परिपोषित किये हुये भी विरुद्ध रस के विभाव और अनुभावों को अंगत्व के प्रति जागृत कर देना चाहिये इत्यादि की कल्पना स्वयं कर लेना चाहिये।

तारावती—अब तृतीय प्रकार को बतलाते हैं—यदि अंगीरस कोई अन्य हो और किसी अन्य रस को उसके अंग के रूप में अभिव्यक्त किया जा रहा हो तथा उस अंग (अप्रधान) रस को पूर्ण रूप से परिपुष्ट भी कर दिया हो तो वह रस अंग है इस तथ्य की ओर परिशीलकों का ध्यान बार-बार आकृष्ट करते चलना चाहिए। यदि इस नियम का पालन किया जाता है तो एक रस में दूसरे का समावेश सदोष नहीं माना जाता। उदाहरण के लिए तापसवत्सराज में अंगी रस है उदयन का वासवदत्ता के प्रति श्रृंगार। वासवदत्ता के मरण के समाचार के बाद उदयन परिस्थितियों से प्रभावित होकर पद्मावती से विवाह कर लेते हैं। पद्मावती को आलम्बन मानकर उदयन के सम्भोग श्रृंगार का वर्णन अंगी रस वासवदत्ता और उदयन के प्रेम

का अंग बन गया है। पद्मावती के साथ सम्भोग शृंगार वर्णन पूर्ण रूप से परिपुष्ट हो गया है किन्तु कवि बीच-बीच में उदयन की वियोग-वेदना का वर्णन करता चलता है जिससे वासवदत्ता के प्रति रतिभाव भी परिशीलक की दृष्टि से सर्वथा ओझल नहीं होता। ऐसी दशा में अंग रस का परिपोष भी दूषित नहीं माना जा सकता।

(ध्वन्या०)—**विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया। यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य शृङ्गारे वा शान्तस्य। परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमितिचेत्—उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति। अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्तव्यः, स्वतस्तु सम्भवी परिपोषः केन वार्यते।**

एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छताऽप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्यनेन प्रकारेणाविरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः।

एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारीभवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव ॥२४॥

(अनु०) विरोधी तो किसी रस की अंगी रस की अपेक्षा न्यूनता कर देनी चाहिए। जैसे शान्त के अंगी होने पर शृंगार की अथवा शृंगार में शान्त की। यदि कहो कि परिपोषरहित रस का रसत्व कैसा? तो यहाँ यह कहा गया है कि अंगीरस की अपेक्षा। निस्सन्देह अंगीरस का जितना परिपोष है उतना उसका नहीं करना चाहिए। स्वतः सम्भवी परिपोष तो किसके द्वारा मना किया जा सकता है।

बहुत रसोंवाले प्रबन्धों में एक रस का यह आपेक्षिक प्रकर्षयोगित्व रसों के अंगांगिभाव को न मानने वालों के द्वारा भी खण्डित नहीं किया जा सकता; अतः इस प्रकार से प्रबन्धों में अविरोधी और विरोधी रसों के अंगांगिभाव के द्वारा समावेश करने में विरोध न हो।

यह सब उनके मत से कहा गया है कि जिनका सिद्धान्त है कि रस दूसरे रस का व्यभिचारी होता है। दूसरे मत में तो रसों के स्थायीभाव औपचारिक रूप में रस शब्द से अभिहित किये गये हैं। उनका अंगत्व तो निर्विरोध ही है।

(लो०)—एवं विरोध्यविरोधिसाधारणप्रकारमभिधाय विरोधिविषयासाधारणदोषपरिहारप्रकारगतत्वेनैव विशेषान्तरमप्याह—**विरोधिन इति। सम्भवीति।** प्रधानाविरोधित्वेनेतिशेषः।

एतच्चेति। उपकार्योपकारकभावो रसानां नास्ति स्वचमत्कारविश्रान्तत्वात्; अन्यथा रसत्वायोगात्। तदभावे च कथमङ्गितेत्यपि येषां मतं तैरपि कस्यचिद्रसस्य प्रकृष्टत्वं भूयः प्रबन्धव्यापकत्वमन्येषां चाल्पप्रबन्धानुगामित्वमभ्युपगन्तव्यमिति वृत्तसङ्घटनाया एवान्यथानुपपत्तेः, भूयः प्रबन्धव्यापकस्य च रसस्य रसान्तरैर्यदि न काचित्सङ्गतिस्तदितिवृत्तस्यापि न स्यात्ससंगतिश्चेदयमेवोपकार्योपकारकभावः। न

च चमत्कारविश्रान्तेर्विरोधः कश्चिदिति समनन्तरमेवोक्तम् । तदाह—**अनभ्युपगच्छतापीति**। शब्दमात्रेणासौ नाभ्युपगच्छति । अकाम एवाभ्युपगमयितव्य इतिभावः।

अन्यस्तु व्याचष्ठे—एतच्चापेक्षिकमित्यादिग्रन्थो द्वितीयमतमभिप्रेत्य यत्र रसानामुपकार्योपकारकता नास्ति तत्रापि हि भूयो वृत्तव्याप्यत्वमेवांगित्वमिति । एतच्चासत्; एवं हि एतच्च सर्वमिति सर्वशब्देन य उपसंहार एकपक्षविषयः मतान्तरेऽपीत्यादिना च यो द्वितीयपक्षोपक्रमः सोऽतीव दुःश्लिष्ट इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह बहुना संलापेन।

येषामिति भावाध्यायसमाप्तावस्ति श्लोकः—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ।। इति ।

तत्रोक्तक्रमेणाधिकारिकेतिवृत्तव्यापिका चित्तवृत्तिरवश्यमेव स्थायित्वेन भाति प्रासंगिकवृत्तान्तगामिनी तु व्यभिचारितयेति रस्यमानता समये स्थायिव्यभिचारिभावस्य न कश्चिद्विरोध इति केचिद्व्याचचक्षिरे । तथा च भागुरिरपि किं रसानामपि स्थायिसञ्चारितास्तीत्याक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद्बाढमस्तीति ।

अन्ये तु स्थायितया पठितस्यापि रसस्य रसान्तरे व्यभिचारित्वमस्ति । यथा क्रोधस्य वीरे व्यभिचारितया पठितस्यापि स्थायित्वमेव रसान्तरे, यथा तत्त्वज्ञाननिर्वेदभावकस्य निर्वेदस्य शान्ते, व्यभिचारिणो वा सत एव व्यभिचार्यन्तरापेक्षया स्थायित्वमेव, यथा विक्रमोर्वश्यामुन्मादस्य चतुर्थेऽङ्के इतीयन्तमर्थमवबोधयितुमयं श्लोकः बहूनां चित्तवृत्तिरूपाणां भावानां मध्ये यस्य बहुलं रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः। स च रसो रसीकरणयोग्यः; शेषास्तु सञ्चारिण इति व्याचक्षते न तु रसानां स्थायिसञ्चारिभावेनांगतोक्तेति । अत एवान्ये रसस्थायीति षष्ठ्या सप्तम्या द्वितीयया वाश्रितादिषु गमिगम्यादीनामिति समासं पठन्ति । तदाह—**मतान्तरेऽपीति । रसशब्देनेति** । 'रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य यः' इत्यादि प्राक्तनकारिकानिविष्टेनेत्यर्थः ।।२४।।

(अनु०) इस प्रकार विरोधी और अविरोधी में सर्वसाधारण प्रकार को कहकर विरोधी विषयक असाधारण दोष के परिहार प्रकार के सम्बन्ध में ही दूसरी विशेषता भी कहते हैं— 'विरोधी का' यह । 'सम्भवी यह' । यहाँ पर प्रधान के अविरोधी के रूप में यह शेष है ।

अपने चमत्कार में विश्राम्त होने के कारण रसों का उपकार्योपकारक भाव नहीं होता नहीं तो रसत्व होना ही न बने और उसके अभाव में अंगिता कैसी ? यह भी जिनका मत है उन्हें भी किसी रस का प्रकृष्टत्व अर्थात् अधिक प्रबन्ध में व्यापकत्व और दूसरों का थोड़े प्रबन्ध का अनुगामित्व मानना पड़ेगा क्योंकि नहीं तो इतिवृत्त की संघटना ही सिद्ध नहीं होती । अधिक प्रबन्ध में व्यापक रस की यदि अन्य रसों से कोई संगति नहीं होती तो इतिवृत्ति की भी कोई संगति नहीं होगी यदि ऐसा मानो तो यही उपकार्योपकारक भाव होता है। चमत्कार विश्रान्ति से कोई विरोध नहीं होता यह अभी कहा गया है । यह कहते

हैं—'न मानने वालों के द्वारा भी' यह। वह केवल शब्द से नहीं मानता। आशय यह है कि बिना ही इच्छा के उनको स्वीकार कराया जाना चाहिए।

दूसरे ने तो कहा—'यह आपेक्षिक—'इत्यादि ग्रन्थ द्वितीय मत लेकर (लिखा गया है) कि 'जहाँ रसों की उपकार्योपकारता नहीं होगी वहाँ अधिक कथानक में व्याप्त होना ही अंगित्व होता है' यह। यह ठीक नहीं है—ऐसे तो एक पक्ष के विषय में 'यह सब' इत्यादि जो उपसंहार किया गया है और दूसरे मत में इत्यादि के द्वारा जो द्वितीय पक्ष का उपक्रम किया गया है उसकी योजना बहुत कठिन हो जायेगी; बस, अपने पूर्व वंशवालों के साथ अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं।

'जिनका' यह। भावाध्याय की समाप्ति में श्लोक है—

'एकत्र बहुतों में जिसका रूप बहुत हो वह स्थायी रस माना जाना चाहिए। शेष संचारी माने जाते हैं।'

उसमें उक्त क्रम से आधिकारिक इतिवृत्त में व्यापक चित्तवृत्ति अवश्य ही स्थायी रूप में शोभित होती है और प्रासंगिकवृत्त में रहने वाली तो व्यभिचारी रूप में इस प्रकार रसास्वादन में समय के स्थायी और व्यभिचारी भाव का कोई विरोध नहीं होता यह कुछ लोगों ने व्याख्या की है। उसी प्रकार भागुरि ने 'क्या रसों की स्थायीरूपता और संचारीरूपता होती है ?' यह आक्षेप करके स्वीकृति के द्वारा ही उत्तर दिया है—'हाँ निसन्देह है।' यह।

दूसरे लोग तो (कहते हैं)—'स्थायी के रूप में पठित भी रस का रसान्तर में व्यभिचारित्व होता है जैसे वीर में व्यभिचारी के रूप में पढ़े हुए भी क्रोध का दूसरे रूप में रस में स्थायित्व होता ही है। जैसे तत्वज्ञान विभाव वाले निर्वेद का शान्त में अथवा विद्यमान भी व्यभिचारी का दूसरे व्यभिचारी की अपेक्षा स्थायित्व ही (होता है) जैसे विक्रमोर्वशीय में चौथे अंक में उन्माद का इस इतने अर्थ का बोध कराने के लिए यह श्लोक है। बहुत से चित्तवृत्ति रूप भावों के मध्य में जिसका जैसा अधिक रूप उपलब्ध होता है वह स्थायी भाव होता है और वह रस अर्थात् आस्वादन के योग्य होता है। शेष तो संचारी होते हैं यह व्याख्या करते हैं; रसों का स्थायी और संचारी भाव के द्वारा अंगांगी भाव नहीं कहा गया है' यह। अत एव दूसरे लोग रसस्थायी इसमें षष्ठी सप्तमी अथवा द्वितीया के द्वारा 'द्वितीयाश्रितातीत.......' इत्यादि में 'गम्यादिकों का.....' इससे समास हो जाता है यह पढ़ते हैं। वह कहते हैं—'मतान्तर में भी' यह अर्थात् 'प्रस्तुत रस का रसान्तर में समावेश.....' इत्यादि प्राक्तन कारिका में निविष्ट रस शब्द के द्वारा ।।२४।।

दो रसों के परस्पर समावेश के अन्य प्रकार

तारावती—ऊपर तीन प्रकार बतलाये गये हैं जिनसे दो रसों का एकत्र समावेश दूषित नहीं होता। ये प्रकार केवल दिग्दर्शन मात्र हैं। इन्हीं का अनुसरण कर दूसरे प्रकारों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। संक्षेप में जिन दूसरे प्रकारों की कल्पना की जा सकती है उनमें कुछ ये हैं—(१) अंगीरस से भिन्न किसी दूसरे रस के विभावों और अनुभावों में उत्कर्ष नहीं आने देना

चाहिए। (२) अथवा अंगी रस के विरोधी रस से सम्बद्ध विभावों और अनुभावों का विनिवेश करना नहीं चाहिए। (३) यदि विरोधी रस के विभावों और अनुभावों का सन्निवेश किया गया हो तो उनका पोषण अंगी रस के विभावों और अनुभावों के द्वारा कर देना चाहिए। (४) विरुद्ध रस के जिन विभावों और अनुभावों को परिपुष्ट भी कर दिया हो उन्हें भी जागरूक कर देना चाहिए कि वे कहीं अपने अप्रधान रूप को छोड़कर प्रधान न बन जायें। इसी भाँति के दूसरे प्रकारों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए और उनका संगमन उदाहरणों में भी कर लेना चाहिए।

रसों के अङ्गाङ्गी भाव के द्वारा विरोध परिहार

ऊपर दो रसों के परस्पर सन्निवेश के जो प्रकार बतलाये गये हैं वे सामान्यतया विरोधियों और अविरोधियों में एक समान लागू होते हैं। किन्तु विरोधी रसों की संयोजना कुछ विलक्षण अवश्य होती है। दोष परिहार के साधारण नियमों के साथ उनके कुछ असाधारण परिहार प्रकार अवश्य होते हैं। उदाहरण के रूप में एक दूसरी विशेषता भी बतलाई जा रही है—यदि किसी अंगी रस के साथ अंगरूप में किसी विरोधी रस को सन्निविष्ट करना हो तो अंगी रस की अपेक्षा विरोधी रस को कुछ न्यून अवश्य कर देना चाहिए। जैसे यदि शान्त रस अंगी हो और श्रृंगार रस को उसका अंग बनाना हो तो श्रृंगार को शान्त रस से कुछ न्यून कर देना चाहिए और यदि श्रृंगार अंगी हो तो उसकी अपेक्षा शान्त को कुछ न्यून कर देना चाहिए। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि रस स्वप्रकाशानन्द चिन्मय तथा वेद्यान्तर स्पर्श शून्य होता है। रस का अर्थ है रसन या आस्वादन। किसी भी तत्त्व में रसनीयता तभी उत्पन्न होती है। जब उसका पूर्ण परिपाक हो जाता है। यदि उसमें थोड़ी सी न्यूनता रह जाती है तो न तो उसमें रसनीयता ही उत्पन्न होती है और न उसे रस ही कहा जा सकता है। फिर उसको रस ही मानकर हम कैसे कह सकते हैं कि एक रस का दूसरे में समावेश हुआ? इसका उत्तर यह है कि हमने यह नहीं कहा कि उसके परिपोष में कमी रखनी चाहिए किन्तु हमने यह कहा कि अंगी रस की अपेक्षा उसे कम रखना चाहिए। जितना परिपोष अंगी रस का करना चाहिए उतना अंग या अप्रधान रस का परिपोष नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि उसका परिपोष स्वतः हो रहा हो और उससे अंगी का विरोध न हो रहा हो तो उसके परिपोष को कौन रोक सकता है? कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि रस अखंड चर्वणात्मक शुद्धचिन्मयानन्द स्वरूप होता है तथा उसमें अंगाङ्गिभाव की कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि कोई भी रस तभी रस कहलाने का अधिकारी होता है जब उसमें स्वमात्रविश्रान्त चमत्कार विद्यमान हो। यदि उसे अपने चमत्कार के लिए अपने क्षेत्र से भिन्न किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा हुई तो न तो उसमें आनन्द देने की शक्ति ही उत्पन्न हो सकती है और न उसे रस की संज्ञा प्राप्त हो सकती है। ऐसी दशा में यह कहना किसी प्रकार भी संगत नहीं हो सकता कि रस में अंगांगिभाव होता है। आशय यह है कि कतिपय आचार्य रस को अखण्ड चर्वणात्मक स्वमात्रविश्रान्त चमत्कारपरक मानते हैं उनके मत में रस की कोटियाँ होती ही

नहीं। उनको भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जिन प्रबन्धों में अनेक रसों का उपादान किया जाता है उनमें कोई रस अधिक प्रबन्ध को घेरता है और दूसरा कम प्रदेश में ही समाप्त हो जाता है। जो रस अधिक प्रबन्ध में व्यापक होता है वह अधिक उत्कृष्ट माना जाता है और जो कम प्रदेश को व्याप्त करता है वह कम महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार आपेक्षिक महत्त्व योग का तो प्रतिवाद रस की अखण्डता और अंगागिभाव के असम्भव मानने वाले भी नहीं कर सकते। क्योंकि अनेक रसोंवाले प्रबन्ध में किसी कथानक का विस्तृत होना और किसी का अल्प होना अनुभव सिद्ध ही है और यदि उन कथानकों को एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध माना जायेगा तो इतिवृत्त की संघटना भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। यह तो उनको भी मानना ही पड़ेगा कि जो विभिन्न इतिवृत्त एक प्रबन्ध में गुंथे हुए हैं वे एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं। उनमें एक दूसरे का उपकार्योपकारक भाव विद्यमान है। अधिक प्रबन्ध में व्यापक इतिवृत्त उपकार्य है और कम देश में व्यापक इतिवृत्त उपकारक है। जिस तर्क के आधार पर इतिवृत्तों का उपकार्योपकारक भाव माना जाता है उसी तर्क के आधार पर उनसे अभिव्यक्त होने वाले रसों का भी उपकार्योपकारक भाव माना जा सकता है। यदि रसों में उपकार्योपकारक भाव नहीं माना जायेगा तो वह इतिवृत्तों में भी सिद्ध नहीं हो सकेगा और इतिवृत्त के विभिन्न खण्ड विशृङ्खल हो जायेंगे। चाहे इसे आप उपकार्योपकारक भाव कहें या अंगांगिभाव, इतिवृत्त और प्रबन्ध दोनों में यह सिद्ध हो ही जाता है। किसी एक रस में चमत्कार का विश्राम हो जाना या उस रस का स्वतः पर्यवसित होना कोई ऐसी बात नहीं है जो इस मान्यता में विरोध उत्पन्न करे। कोई रस स्वतः पर्यवसित और चमत्कारविश्रान्त होकर भी दूसरे रस का अंग हो सकता है यह अभी सिद्ध किया जा चुका है। जो लोग रसों के अंगांगिभाव नहीं मानते उनका यह शाब्दिक विरोध ही है वस्तुतः आन्तरिक विरोध नहीं। अतः उनसे यह उनके न चाहने पर भी तर्क के आधार पर स्वीकृत करा लेना चाहिए।

कुछ लोगों ने इस वृत्तिग्रन्थ की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। वृत्तिग्रन्थ में यहाँ पर दो मत दिखलाये गये हैं—(१) रसों का उपकार्योपकारक भाव होता है और (२) रस शब्द का यहाँ पर अर्थ है स्थायीभाव तथा स्थायीभाव में श्रेणीविभाजन हो सकता है। उसी को मानकर रसों के उपकार्योपकारक भाव की व्याख्या की जा सकती है। इन लोगों का कहना है कि प्रस्तुत वृत्ति-ग्रन्थ द्वितीय मत को मानकर लिखा गया है कि जहाँ रसों का उपकार्योपकारक भाव नहीं होता वहाँ भी उसे अंगी कहने लगते हैं जो अधिक कथानक में व्याप्त हो। यह इन लोगों की व्याख्या ठीक नहीं है। ये हमारे पूर्ववंशज हैं अतः इनसे हम (अभिनवगुप्त) अधिक विवाद तो नहीं करेंगे। हाँ इतना अवश्य कहेंगे कि इस प्रकरण को द्वितीय मत में लगाने से इस ग्रन्थ की संगति नहीं बैठती। वृत्तिकार ने प्रस्तुत वाक्य को लिखकर इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए लिखा है "यह सब 'रस दूसरे रस का व्यभिचारी होता है' इस मत को मान कर लिखा गया।" यहाँ पर सब शब्द का प्रयोग ही सिद्ध करता है कि इसके पहले जो कुछ लिखा गया है वह प्रथम मत को मानकर ही लिखा गया है। उसके बाद लिखा है कि 'दूसरे मत में भी.....'। यदि उक्त कथन द्वितीय मत से सम्बद्ध माना जायेगा तो सारा कथन

अस्त-व्यस्त हो जायेगा। अतः उक्त कथन प्रथम मत से सम्बद्ध ही माना जाना जाना चाहिए।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह उन लोगों का मत दृष्टिगत रखते हुये कहा गया है जो यह मानते हैं कि एक रस दूसरे में व्यभिचारी होता है। अर्थात् जिस प्रकार किसी रस की निष्पत्ति में स्थायीभाव का परिपोष संचारियों के द्वारा होता है इसी प्रकार किसी एक रस को अन्य दूसरे रस पुष्ट किया करते हैं। नाट्यशास्त्र में भावाध्याय की समाप्ति में एक श्लोक आया है जिसका आशय यह है—

'जहाँ बहुत से रस मिले हुये हों उन रसों में जिस भाव का रूप बहुत अधिक व्यापक हो वह रस स्थायी होता है, शेष रस व्यभिचारी होते हैं।'

भावाध्याय में जो क्रम बतलाया गया है उस पर विचार करने से अवगत होता है कि किसी प्रबन्ध काव्य में कोई एक चित्तवृत्ति ऐसी होती है जो समस्त प्रबन्ध में व्याप्त रहती है और आधिकारिक इतिवृत्त की चित्तवृत्ति कही जाती है। ऐसी चित्तवृत्ति स्थायी-रूप में आभासित होने के कारण स्थायी चित्तवृत्ति कही जाती है और प्रासंगिक इतिवृत्त में रहनेवाली चित्तवृत्ति व्यभिचरित अथवा परिवर्तित होनेवाली होती है। अतः वह चित्तवृत्ति व्यभिचारिणी चित्तवृत्ति कही जाती है। आधिकारिक इतिवृत्त से सम्बन्ध रखनेवाली चित्तवृत्ति उपकरणों के संयोग से परिपोष को प्राप्त होकर स्थायी रस का रूप धारण कर लेती है और प्रासंगिक इतिवृत्त से सम्बद्ध चित्तवृत्ति व्यभिचारी रस का रूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार आस्वादन के अवसर पर स्थायीभाव का संचारियों से कोई विरोध नहीं होता अपितु संचारियों से स्थायी की पुष्टि ही होती है उसी प्रकार स्थायी रस की पुष्टि संचारी रसों से हो जाती है। आचार्य भागुरि ने भी प्रश्न उठाया है कि क्या रसों में स्थायी और संचारी की व्यवस्था होती है? इसका उत्तर उन्होंने स्वीकृतिपरक दिया है तथा कहा है कि रसों में यह अवश्य मानना पड़ता है कि कुछ रस स्थायी होते हैं और कुछ संचारी।

'बहूनां समवेतानां''''''संचारिणो मताः' इस श्लोक की एक व्याख्या ऊपर दी गई है। दूसरे लोग उस व्याख्या को नहीं मानते। वे कहते हैं कि इस पद्य में यह सिद्धान्त माना गया है कि एक स्थान पर जो रस स्थायी के रूप में स्वीकृत किया जाता है वही अन्यत्र व्यभिचारी हो जाता है। भरत मुनि ने भावों की संख्या कुल ४९ बतलाई है। उनमें केवल ८ स्थायीभाव बतलाये गये हैं। वस्तुतः वे ८ स्थायीभाव सर्वदा स्थायी ही रहें ऐसा नहीं होता। जो भाव एक स्थान पर स्थायी होता है वही अन्यत्र व्यभिचारी भी हो सकता है और जो एक स्थान पर व्यभिचारी होता है वह दूसरे रस में स्थायी हो सकता है। उदाहरण के लिये वीर रस में क्रोध व्यभिचारी के रूप में आता है और वही रौद्र रस में स्थायी बन जाता है। निर्वेद को संचारियों में गिनाया गया है। यह भाव अनेक रसों में संचारी होता भी है। किन्तु यही भाव उस समय स्थायी बन जाता है जब तत्त्वज्ञान को विभाव बनाकर शान्त रस की निष्पत्ति की जाती है। यह तो हुई प्रसिद्ध रसों की बात। जो भाव शास्त्रीय ग्रन्थों में स्थायी की श्रेणी में नहीं रक्खे गये हैं केवल संचारी ही होते हैं वे भी जब इतिवृत्त

में व्यापक रूप धारण कर लेते हैं तब वे स्थायी भाव ही हो जाते हैं चाहे वे शास्त्रीय ग्रन्थों में स्थायी के रूप में परिगणित न भी किये गये हों। उदाहरण के लिये विक्रमोर्वशीय के चौथे अङ्क में जब कि रुष्ट होकर उर्वशी ललनाओं के निषिद्ध उपवन में प्रविष्ट होकर शाप के अनुसार लता बन जाती है तब उसके वियोग में पीड़ित पुरूरवा उन्मत्त हो उठते हैं और कभी नदी को कभी मेघों को अपनी प्रेयसी के रूप में देखने लगते हैं। यह उन्माद इतना तीव्र हो गया है कि सामान्य संचारी न रहकर स्थायी बन गया है। इस प्रकार सामान्य संचारी भी बहुप्रबन्धव्यापी बन कर स्थायी बन जाते हैं। इसी अर्थ को कहने के लिये यह कारिका 'बहूनां समवेतानां..... संचारिणो मताः' लिखी गई है। इस प्रकार इस कारिका का अर्थ यह होगा— 'जहाँ बहुत से समवेत हों' का अर्थ है जहाँ बहुत सी चित्तवृत्तियाँ जिनका पारिभाषिक शब्द है 'भाव' एक साथ मिली हुई हों उन चित्तवृत्तियों में जिस चित्तवृत्ति का स्वरूप अन्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक और विस्तृत हो उसे स्थायी भाव कहते हैं। वही रस होता है अर्थात् रसन या आस्वादन की योग्यता उसी में होती है। शेष संचारी होते हैं। आशय यह है कि इस भावाध्याय की कारिका में रसों का एक दूसरे के प्रति स्थायित्व और संचारित्व नहीं बतलाया गया है अपि तु यह बतलाया गया है कि भावों में कौन स्थायी होता है और कौन संचारी।

(भावाध्याय की प्रस्तुत कारिका 'बहूनां.........मताः' में यह स्पष्ट नहीं है कि यह कारिका रसों की परस्पर स्थायिता और सञ्चारिता का प्रतिपादन करती है या भावों में कौन सा भाव स्थायी होता है यह बतलाती है। कारिका की प्रथम पंक्ति में न रस शब्द का उपादान किया है और न स्थायी का। किन्तु द्वितीय पंक्ति में 'स रसस्थायी' यह आया है। 'रसस्थायी' शब्द का सन्धि विच्छेद दो प्रकार से किया जा सकता है (१) 'रसः + स्थायी' इसमें 'खर्परे शरि' इससे विसर्गों का लोप हो जाता है। (२) 'रस स्थायी' दोनों शब्दों में समास मानकर मध्यवर्तिनी विभक्ति का लोप हो गया है। यदि पहले सन्धिविच्छेद को मानकर 'रसः' और 'स्थायी' ये दो स्वतन्त्र शब्द माने जायें तो इनकी योजना दो प्रकार से हो सकती है—'जहाँ कई एक मिले हुये हों वहाँ जिसका रूप अधिक हो वह रस (स रसः) स्थायी होता है और शेष सञ्चारी होते हैं। यह योजना उन लोगों के मत में है जो रसों का परस्पर उपकार्योपकारक भाव मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि रसों में भी कोई स्थायी और कोई सञ्चारी हुआ करते हैं। दूसरे प्रकार की योजना यह होगी—'कई एक समवेत (भावों) में जिसका रूप अधिक होता है वह भाव स्थायी होता है (सः स्थायी) और वही रस बनता है, अन्य भाव सञ्चारी होते हैं।' यह योजना उन लोगों के मत में है जो यह मानते हैं कि रस अखण्ड चर्वणात्मक होता है उसमें परस्पर उपकार्योपकारक भाव नहीं होता।)

जो लोग 'रसस्थायी' में रस शब्द को स्वतन्त्र न मानकर समासगर्भित मानते हैं उनके मत में तीन प्रकार की व्युत्पत्ति हो सकती है (१) 'रस का स्थायी' यहाँ षष्ठी समास है। (२) 'रस में स्थायी' यहाँ 'सप्तमी' इस योग विभाग से समास किया गया है और (३) 'रसं स्थायी—'रस के प्रति स्थायी' यहाँ द्वितीया-तत्पुरुष 'आश्रितादिषु गमिगम्यादीनामुप-

संख्यानम्' इस वार्तिक से हो जाता है। इन तीनों मतों में रस का स्यायी कहकर रस शब्द से स्थायी भाव के ग्रहण की ओर संकेत किया गया है। अतएव 'रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः' इस कारिका में जो रस शब्द आया है उसकी व्याख्या ये लोग यह कह कर करते हैं कि यहाँ पर रसशब्द का अर्थ है स्यायी भाव। इस प्रकार इस मत में विरोधी रसों के समावेश का अर्थ है विरोधी स्थायी भावों का परस्पर समावेश। स्थायीभावों के परस्पर उपकार्योपकारक भाव में कोई विरोध आता ही नहीं। अतः इस मत में कोई अनुपपत्ति है ही नहीं। इस प्रकार यहाँ ये तीन मत हैं। (आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त प्रथम मत से सहमत प्रतीत होते हैं क्योंकि एक तो इन्होंने प्रथम मत का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है और उसी के आधार पर अपने निष्कर्ष भी निकाले हैं, दूसरी बात यह है कि 'मतान्तरे तु' तथा अभिनवगुप्त ने 'अन्ये तु' में 'तु' शब्द के द्वारा उक्त मतों से अपनी अरुचि प्रकट की है। अतः इन आचार्यों के मत का सार यह है कि स्वतन्त्र रसों का स्वतः परिपोष तो होता ही है किन्तु वे रस किसी प्रबन्ध में दूसरे रस का अंग भी हो सकते हैं) ॥२४॥

(ध्वन्या०)—एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते—

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
सविभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥२५॥

ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी। तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः। तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत्सुतरामुद्योतिता भवति। एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम् ॥२५॥

(अनु०) इस प्रकार अविरोधियों और विरोधियों का प्रबन्धस्थ अंगी रस के साथ समावेश करने में साधारण अविरोध का उपाय प्रतिपादित कर विरोधी के विषय में ही उसको प्रतिपादित करने के लिये यह कहा जा रहा है—

'जो एक आश्रय में विरोध रखनेवाला स्थायी का विरोधी हो वह विभिन्न आश्रयवाला बना दिया जाना चाहिये उसके परिपोष में भी दोष नहीं होता' ॥२५॥

दो प्रकार का विरोधी होता है ऐकाधिकरण्य विरोधी और नैरन्तर्य विरोधी। उसमें प्रबन्धस्थ स्थायी अङ्गीरस के साथ औचित्य की दृष्टि से विरुद्ध एक आश्रयवाला जो विरोधी, जैसे वीर भयानक, वह विभिन्न आश्रयवाला किया जाना चाहिये। उस वीर का जो आश्रय कथानायक उसके विपक्ष के विषय में सन्निविष्ट किया जाना चाहिये। ऐसा होने पर उस विरोधी का भी जो परिपोष वह निर्दोष होता है। विपक्ष के विषय में भय के अतिशय वर्णन करने में नायक की नय प्रराक्रम इत्यादि की सम्पत्ति बहुत अधिक प्रकाशित हो जाती है। यह मेरे अर्जुनचरित में अर्जुन के पाताल अवतरण के प्रसङ्ग में विशदतापूर्वक दिखलाया गया है।।२५॥

(लो०)—अथ साधारणं प्रकारमुपसंहरन्नसाधारणमासूत्रयति—**एवमिति**। तमित्यविरोधोपायम्। विरुद्धेति विशेषणं हेतुगर्भम्। यस्तु स्थायी स्थाय्यन्तरेणासंभाव्यमानैकाश्रयत्वाविरोधी भवेद्यथोत्साहेन भयं स विभिन्नाश्रयत्वेन नायकविपक्षादिगामित्वेन कार्यः। **तस्येति**। तस्य विरोधिनोऽपि तथाकृतस्य तथानिबद्धस्य परिपुष्टतायाः प्रत्युत निर्दोषता नायकोत्कर्षाधानात्। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। एवमेव वृत्तावपि व्याख्यानात्।

ऐकाधिकरण्यमेकाश्रयेण सम्बन्धमात्रम्, तेन विरोधी यथा—भयेनोत्साहः, एकाश्रयत्वेऽपि सम्भवति कश्चिन्निरन्तत्वेन निर्व्यवधानेन विरोधी यथा रत्या निर्वेदः। **प्रदर्शितमिति**। 'समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनो महानुपप्लवोऽभवत्पुरे पुरन्दरद्विषाम्' इत्यादिना ॥२५॥

(अनु०) अब साधारण प्रकार का उपसंहार करते हुये असाधारण को सूत्रबद्ध कर रहे हैं—'इस प्रकार' इत्यादि। 'उसको' अर्थात् अविरोधोपाय को। विरुद्ध यह हेतुगर्भित विशेषण है। जो स्थायी दूसरे स्थायी के साथ एकाश्रय के असम्भावित होने के कारण विरोधी हो जैसे उत्साह से भय उसे विपक्षाश्रयत्व के रूप में नायक के विपक्षादिगत रूप में करदेना चाहिये। 'उसके' तथाकृत अर्थात् उस प्रकार निबद्ध उस विरोधी की परिपुष्टता की भी प्रस्तुत निर्दोषता ही होती है क्योंकि उससे नायक के उत्कर्ष का आधान होता है। आशय यह है कि अपरिपोषण तो दोष ही होता है। 'अपि' शब्द भिन्नक्रमवाला है। ऐसी ही वृत्ति में भी व्याख्या की गई है।

ऐकाधिकरण्य अर्थात् एक आश्रय से सम्बन्धमात्र। उससे विरोधी जैसे—भय से उत्साह। एकाश्रयत्व के सम्भव होते हुये भी कोई निरन्तरत्व के द्वारा अर्थात् व्यवधानराहित्य के द्वारा विरोधी (होता है) जैसे रति से निर्वेद। दिखलाया गया है' यह 'अर्जुन की भयावह धनुर्ध्वनि के उठने पर इन्द्र-शत्रुओं के नगर में महान् उपद्रव उठ खड़ा हुआ।' इत्यादि के द्वारा ॥२५॥

एकाश्रय के विभिन्नाश्रय कर देने से विरोध परिहार

तारावती—२४ वीं कारिका में यह सिद्ध किया गया है कि अंगी रस के साथ अन्य रसों का समावेश होता है तथा यह भी दिखलाया गया है कि एक रस में दूसरे के समावेश के प्रकार कौन से हैं। वहाँ जो प्रकार बतलाये गये हैं वे सामान्य प्रकार हैं और विरोधियों तथा अविरोधियों के अंगी रस में सन्निविष्ट होने की साधारण व्याख्या करते हैं। अब इस पच्चीसवीं कारिका में यह दिखलाया जा रहा है कि विरोधी रस के अंगी में सन्निविष्ट होने के विशिष्ट नियम क्या हैं? यह कहने की आवश्यकता इसलिये पड़ जाती है कि अविरोधी रसों का किसी रस में सन्निविष्ट होना एक साधारण बात है, किन्तु विरोधी के विषय में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि उसका विरोध परिहार किस प्रकार होता है और वह अंगी का अंग किस प्रकार बनता है?

सामान्यतया विरोध दो प्रकार का हो सकता है एक तो दो रसों का एक ही अधिकरण में रहने पर विरोध होना, दूसरे एक के तत्काल बाद दूसरे के आ जाने पर विरोध

होना। (एक ही अधिकरण में विरोध दो प्रकार का होता है—एक ही आलम्बन के प्रति दो विरुद्ध रसों का होना और एक ही आश्रय में दो विरुद्ध रसों का होना। जैसे प्रेम और उत्साह दोनों का एक ही आलम्बन नहीं हो सकता। यह सम्भव नहीं कि जिसके प्रति रति हो उसी को विजय करने की आकांक्षा भी विद्यमान हो। इसी प्रकार उत्साह और भय दोनों का आश्रय एक नहीं हो सकता। यह सम्भव नहीं कि जो व्यक्ति शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये उत्साहित भी हो और शत्रु से डरे भी।) प्रस्तुत कारिका प्रथम प्रकार के विरोध के निराकरण का प्रकार बतलाती है अर्थात् इसमें यह बतलाया गया है कि एक ही अधिकरण में विरोध होने पर उसका परिहार किस प्रकार करना चाहिये—

'जो रस एक आश्रय में होने के कारण एक दूसरे के विरोधी हों उनमें स्थायी रस को तो उसी रूप में रहने देना चाहिये किन्तु उसके विरोधी रस के आश्रय को बदल देना चाहिये। आश्रय के बदल देने पर यदि विरोधी रस का परिपोष भी कर दिया जाए तो भी कोई दोष नहीं होता" ॥२५॥

आशय यह है कि एक रस के स्थायी भाव का यदि दूसरे रस के स्थायी भाव के साथ एक आश्रय में रहना किसी प्रकार भी सम्भव न हो और इस कारण उन दोनों रसों में परस्पर विरोध हो जैसे भय और उत्साह एक ही व्यक्ति में रह ही नहीं सकते इसीलिये दोनों परस्पर विरोधी हैं ऐसी परिस्थिति में उनके आश्रय को बदल देना चाहिये। मान लो यदि कथानायक में वीर रस का परिपोष हुआ है तो उसके शत्रु में भय दिखला दिया जाना चाहिये। ऐसी दशा में यदि भय का परिपोष भी कर दिया जाता है तो शत्रु का भय नायक के उत्साह का पोषक ही होता है और नायक में उत्साह के आधान करने के कारण उसमें दोष तो नहीं होता अपि तु गुण हो जाता है। इसके प्रतिकूल उसका पुष्ट न करना ही दोष होता है।

कारिका में 'अपि' शब्द 'पोषे' के साथ आया है 'तस्य पोषेऽप्यदोषता'। किन्तु इस अपि शब्द का क्रम बदलकर 'तस्य' के साथ लगाना चाहिये—'तस्यापि पोषे'। अर्थात् उस विरोधी के भी परिपोष में। वृत्तिकार ने यही व्याख्या की है। (किन्तु इसकी कारिका के ठीक क्रम में योजना अधिक संगत प्रतीत होती है। इसका आशय यह हो जाता है कि 'यदि विरोधी को पुष्ट भी कर दिया जाए तो भी दोष नहीं होता।' यही अर्थ अधिक संगत है।)

ऐकाधिकरण्य का अर्थ है एक आश्रय से सम्बन्ध होना। भय और उत्साह का एक आश्रय में सहभाव दूषित होता है। किन्तु उनके आश्रय को बदल देने से उनका विरोध जाता रहता है। उदाहरण के लिए आनन्दवर्धन के लिखे हुये अर्जुनचरित में अर्जुन पाताल-विजय के लिये जाते हैं। वहाँ पर कहा गया है कि 'जब किरीटधारी अर्जुन के धनुष की ध्वनि भयानक रूप में उठने लगी तब इन्द्र के शत्रुओं के नगर में बहुत बड़ा कोलाहल मच गया।' इस प्रसंग में अर्जुन का वीर रस दिखलाया गया है और शत्रुओं का भय दिखलाया गया है। इस प्रकार एक आश्रय में जिन रसों का मिल सकना असम्भव हो उनको विभिन्न

आश्रयों में रख देने से काम चल जाता है। वहाँ दोष का ही निराकरण नहीं हो जाता अपितु कभी-कभी प्रकृत रस का परिपोष भी हो जाता है ॥२५॥

(ध्वन्या०)—**एवमेकाधिकरण्यविरोधिनः प्रबन्धस्थेन स्थायिना रसेनाङ्गभावगमने निर्विरोधित्वं यथा तथा दर्शितम्। द्वितीयस्य तु तत्प्रतिपादयितुमुच्यते—**

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा ॥२६॥

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधी नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्धे निवेशयितव्यः। यथा शान्तशृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ।

(अनु०) इस प्रकार प्रबन्धस्थ स्थायी रस के साथ एकाधिकरण्य विरोधी (रस) के अङ्गभाव को प्राप्त होने में जिस प्रकार निर्विरोधित्व होता है वह दिखला दिया गया। दूसरे का तो निर्विरोधित्व प्रतिपादन करने के लिये कहा जा रहा है—

'एकाश्रयत्व में निर्दोष और नैरन्तर्य में विरोधवाला रस बुद्धिमान् के द्वारा अन्य रस के व्यवधान के साथ व्यक्त किया जाना चाहिये' ॥२६॥

फिर जो एकाधिकरणत्व में निर्विरोध और नैरन्तर्य में जो विरोधी हो वह रसान्तर के व्यवधान के साथ प्रबन्ध में निविष्ट किया जाना चाहिये। जैसे शान्त और शृङ्गार नागानन्द में निविष्ट किये गये हैं।

(लो०) **द्वितीयस्येति**। नैरन्तर्यविरोधिनः। **तदिति**। निर्विरोधित्वम्। एकाश्रयत्वेन निमित्तेन यो निर्दोषः न विरोधी किन्तु निरन्तरत्वेन निमित्तेन विरोधमेति स तथाविधविरुद्धरसद्वयाविरुद्धेन रसान्तरेण मध्ये निवेशितेन युक्तः कार्य इति कारिकार्थः। प्रबन्ध इति बाहुल्यापेक्षं, मुक्तकेऽपि कदाचिदेवं भवेदपि। यद्वक्ष्यति—'एकवाक्यस्थयोरपि' इति।

यथेति। तत्र हि 'रागस्यास्पदमित्यवैमि नहि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः' इत्यादिनोपक्षेपात्प्रभृति परार्थशरीरवितरणात्मकनिर्वहणपर्यन्तः शान्तो रसस्तस्य विरुद्धो मलयवतीविषयः शृङ्गारस्तदुभयाविरुद्धमद्भुतमुत्तरीकृत्य क्रमप्रसरसम्भवाभिप्रायेण कविना निबद्धः 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इति। एतदर्थमेव 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादि नीरसप्रायमप्यत्र निबद्धमद्भुतरसपरिपोषकतयात्यन्तसरसतावहमिति 'निर्दोषदर्शनाः कन्यकाः' इति च क्रमप्रसरो निबद्धः। यथाहुः—'चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः सांख्याः पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनेति'। अनन्तरं च निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गागतो यः शेखरकवृत्तान्तोदितहास्यरसोपकृतः शृङ्गारस्तस्य विरुद्धो यो वैराग्यशमपोषको नागीयकलेवरास्थिजालावलोकनादिवृत्तान्तः स मित्रावसोः प्रविष्टस्य मलयवतीनिर्गमनकारिणः 'संसर्पद्भिः समन्तात्' इत्यादिकाव्योपनिबद्धक्रोधव्यभिचार्युपकृतवीररसान्तरितो निवेशितः।

(अनु०) 'द्वितीय का' अर्थात् नैरन्तर्यविरोधी का। 'वह' अर्थात् निर्विरोधित्व। एकाश्रयत्व निमित्त से जो निर्दोष अर्थात् विरोधी नहीं किन्तु निरन्तरत्व निमित्त से विरोध को प्राप्त होता है उसको उस प्रकार के दोनों विरोधी रसों के अविरुद्ध तथा मध्य में निवेशित किये हुये अन्य रस से युक्त कर दिया जाना चाहिये यह कारिका का अर्थ है। 'प्रबन्ध में' यह

बाहुल्य की अपेक्षा से कहा गया है। मुक्तक में भी कभी ऐसा हो भी जाए। जैसा कि कहेंगे—'एक वाक्य में स्थित भी दो का·····' इत्यादि।

'जैसे' यह। वहाँ पर निस्सन्देह 'राग का स्थान है यह जानता हूँ, मुझे यह ध्वंस होनेवाला है यह विश्वास न हो ऐसा नहीं' इत्यादि के द्वारा उपक्षेप से लेकर दूसरे के लिये शरीरदान रूप निर्वहण पर्यन्त शान्त रस है; उसके विरुद्ध मलयवतीविषयक श्रृङ्गार है उन दोनों के अविरुद्ध मलयवती के अनुराग को मध्य में रखकर क्रमिक प्रसार की सम्भावना के अभिप्राय से कवि ने निबद्ध किया है—'आश्चर्यजनक गीत, आश्चर्यजनक वाद्य' इसके द्वारा। इसी निमित्त 'व्यञ्जन धातु के द्वारा अभिव्यक्ति' इत्यादि प्रायः नीरस ही निबद्ध किया गया है जो कि अद्भुत रस का परिपोषक होने के कारण अत्यन्त सरसता का सम्पादक है; इस प्रकार 'कन्यायें निर्दोष दर्शनवाली होती हैं' इसके द्वारा क्रमप्रसर का निबन्धन किया गया है। जैसाकि कहा गया है—'सांख्य लोग चित्तवृत्ति के प्रसर के विवेचन को ही धन समझते हैं—यह निमित्त-नैमित्तिक के प्रसंग से पुरुषार्थहेतुक होता है।' इसके बाद निमित्त-नैमित्तिक प्रसंग से आया हुआ जो कि शेखरक वृत्तान्त से अभिव्यक्त हास्यरस से उपकृत होनेवाला श्रृङ्गार रस है उसके विरुद्ध जो वैराग्य और शम का पोषक नागों के शरीर के अस्थिजाल के अवलोकन इत्यादि का वृत्तान्त वह मलयवती के निर्गमन करनेवाले प्रविष्ट हुये मित्रावसु के 'चारों ओर विचरणशील विभावों के द्वारा इत्यादि' वचनों से उपनिबद्ध क्रोध व्यभिचारी से उपकृत वीररस को मध्य में करके निविष्ट किया गया है।

नैरन्तर्य में रसान्तर व्यवधान का निर्देश

तारावती—२५ वीं कारिका मे ऐसे रसों के विरोध परिहार का उपाय बतलाया गया है जिनका एक आश्रय में मिल सकना असम्भव हो। अब दूसरे प्रकार का विरोध लीजिये—कतिपय रस ऐसे होते हैं जिनका एक आश्रय में रहना तो विरुद्ध नहीं होता किन्तु एक के तत्काल बाद दूसरे रस के आ जाने में विरोध होता है। जैसे रति और वैराग्य का विरोध। ये दोनों भाव किसी व्यक्ति में एक साथ नहीं रह सकते। किन्तु कालान्तर में तो एक के बाद दूसरा भाव आया ही करता है। इस प्रकार इन रसों का एक साथ वर्णन करना ही विरुद्ध है क्योंकि वैराग्य रति से उपहत हो जाता है और रति वैराग्य से। एक के बाद दूसरे रस पर एकदम आ जाने से पाठक की मनोवृत्ति उसके आस्वादन के लिए सन्नद्ध नहीं रहती। ऐसे अवसरों पर क्या करना चाहिये यह इस २६ वीं कारिका में बतलाया गया है—

'जिन रसों का एक आश्रय में होना तो दूषित नहीं होता किन्तु उनकी निरन्तरता विरोध उत्पन्न करनेवाली होती है—बुद्धिमान् कवि को चाहिए कि ऐसे रसों की व्यञ्जना किसी अन्य रस को बीच रख कर करें॥२६॥

आशय यह है कि जिन रसों के विरोध का निमित्त ही उनका एक साथ आना है उन रसों का विरोध तभी दूर होता है जब उन दोनों के बीच में कोई ऐसा तीसरा रस रख दिया जाए जो दोनों का विरोधी न हो और दो दो से मेल खा सके। यह बात अधिकतर प्रबन्ध काव्यों में ही होती है क्योंकि प्रबन्ध काव्यों में ही इतना अवकाश होता है कि अनेक रसों का परिपोष हो सके। किन्तु मुक्तक में यह बात बिल्कुल सम्भव न हो ऐसी बात नहीं है। अग्रिम

कारिका में यही दिखलाया जायगा कि एक वाक्य में भी दो रसों के मध्य मे तीसरा रख देने से उनका विरोध जाता रहता है।

इस विषय में नागानन्द का उदाहरण

यहाँ पर उदाहरण के रूप में नागानन्द में शान्त और श्रृंगार का अद्‌भुत को मध्य में रखकर मिलना बतलाया गया है। अभिनवगुप्त ने नागानन्द की प्रायः सम्पूर्ण कथा पर प्रकाश डाला है। अतः यहाँ पर नागानन्द का कथानक समझ लेना आवश्यक है। नागानन्द की वस्तु बौद्ध साहित्य से सम्बद्ध है और बृहत्कथा से ली गई है। विद्याधरों का युवराज जीमूतवाहन स्वभावतः उदासीन है और अपने पिताजी का राज्य इत्यादि सभी कुछ छोड़ देता है तथा अपने घर के कल्पवृक्ष को भी दानकर माता-पिता की सेवा को ही परम कर्तव्य मानकर माता-पिता के साथ तपोवन को जाता है। विदूषक के साथ जब वह मलय पर्वत पर किसी निवासोपयोगी स्थान की खोज में जाता है तब उसे वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य आकर्षित कर लेता है। वहीं वह गीतध्वनि सुनता है और संगीत की शास्त्रीय विशेषताओं पर ऐसा मुग्ध हो जाता है कि उस संगीत का अनुसरण करते हुये देवमन्दिर की ओर जाता है जहाँ मलयवती अपनी चेटी के साथ भगवती गौरी की प्रार्थना में गाना गा रही है। मलयवती का रूप और भी आकर्षक है और जीमूतवाहन उसपर एकदम रीझ जाता है। चेटी के साथ वार्तालाप में यह प्रकट हो जाता है कि मलयवती एक कन्या है। अतः कन्याओं को देखना बुरा नहीं होता यह समझकर जीमूतवाहन को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है। मलयवती अपनी चेटी से अपने स्वप्न की कथा कहती है कि गौरी ने उन्हें स्वप्न में विद्याधर चक्रवर्ती को पति के रूप में प्रदान किया है। इस पर जीमूतवाहन और विदूषक मलयवती के सामने आ जाते हैं और दोनों का परस्पर अनुराग व्यक्त हो जाता है। इसी समय मलयवती को एक तापस घर को बुला ले जाता है। दोनों एक दूसरे के वियोग में दुःखी हैं। संयोगवश जिस समय चेटी के साथ मलयवती प्रच्छन्नरूप में सुन रही होती है उस समय जीमूतवाहन विदूषक से अपने प्रेम का वर्णन करते हैं और स्मृति से अपनी प्रेमिका का चित्र बनाते हैं। मलयवती निश्चय नहीं कर पाती कि यह प्रेमिका स्वयं वही है या कोई और। इसी समय मित्रावसु आकर अपनी बहन मलयवती के विवाह का प्रस्ताव जीमूतवाहन से करते हैं। जीमूतवाहन को यह पता नहीं है कि उनका प्रेम वस्तुतः मलयवती से ही है। अतः जीमूतवाहन अपने अन्य प्रेम की बात कहकर मलयवती के प्रेम को ठुकरा देते हैं और विदूषक के निर्देश पर मित्रावसु जीमूतवाहन के माता-पिता से जीमूतवाहन के विवाह की अभ्यर्थना करने चले जाते हैं। मलयवती निराश होकर फाँसी लगाकर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाती है। तब चेटी के चिल्लाने पर जीमूतवाहन उसे छुड़ाने जाते हैं जहाँ दोनों का परिचय होता है और राजा अपने प्रेम का प्रमाण अपने बनाये हुये चित्र के द्वारा देते हैं। फिर गुरुजनों की अनुमति से दोनों का विवाह हो जाता है। यहाँ पर दोनों के श्रृंगार का विस्तार किया गया है। विदूषक को वहाँ की स्त्रियां उपहास के रूप में कई सुगन्धित रंगों से रंग देती हैं। सुगन्धि की ओर आकृष्ट होकर भौंरे विदूषक की ओर आने लगते हैं। तब विदूषक भागने के लिये स्त्रियों के वस्त्र पहनकर और घूँघट काढ़कर चलता है। शेखरक और

दास शराब के नशे में चूर होकर विदूषक को अपनी प्रेयसी समझ कर शृङ्गार चेष्टायें करते हैं जब कि विट की प्रेयसी आकर दोनों को खूब बनाती है। यहाँ हास्य का पुट मिल जाता है।

जिस समय जीमूतवाहन मलयवती के प्रेम में मस्त हैं उसी समय मित्रावसु आ जाते हैं और मलयवती वहाँ से चली जाती है। मित्रावसु सूचना देते हैं कि मतंग ने विद्याधरों का राज्य छीन लिया है और जीमूतवाहन से युद्ध की आज्ञा मागते हैं। जीमूतवाहन को राज्य छिन जाने की प्रसन्नता ही होती है। किन्तु मित्रावसु क्रोध से भरे हुये हैं अतः जीमूतवाहन समय टाल देते हैं।

जीमूतवाहन समुद्रतट पर घूमने जाते हैं और वहाँ नागों के कङ्काल देखकर अपना शरीर देकर भी नागों की रक्षा करने का निश्चय कर लेते हैं। उधर शंखचूड़ अपनी पारी में गरुड़ के भोज्य के रूप में उपस्थित होता है। जीमूतवाहन सब रहस्य जानकर अपने प्राण देने के लिये उद्यत हो जाता है और जब शंखचूड दक्षिण गोकर्ण की परिक्रमा करने जाता है तब तक जीमूतवाहन अपना शरीर गरुड को अर्पित कर देते हैं। गरुड उनको लेकर उड़ जाता है। शंखचूड़ भी उनका अनुसरण करता है तथा जीमूतवाहन के माता-पिता और उनकी पत्नी मलयवती भी उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ गरुड़ जीमूतवाहन को लिये उपस्थित है। किन्तु जीमूतवाहन अन्त समय में स्वजनों से मिलकर दिवंगत हो जाते हैं। गरुड़ पश्चात्ताप से आक्रान्त होकर प्रत्युज्जीवन के लिये अमृत लेने चले जाते हैं उसी समय गौरी आकर अपने कमण्डल के जल से जीमूतवाहन को जीवित कर देती हैं। उधर गरुड़ अमृत वर्षा के द्वारा अस्थिशेष नागों को जिला देते हैं और फिर कभी नागवंश का संहार न करने का व्रत लेते हैं।

इस नाटक में निम्नलिखित रसों का उपादान किया गया है :—

१—सर्वस्वदान कर पितृचरण सेवा में तत्परता और परार्थ जीवन का उत्सर्ग इसमें जीमूतवाहन के शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है।

२—मलयवती की संगीतपटुता में अद्भुत रस निष्पन्न होता है।

३—जीमूतवाहन और मलयवती की प्रणयलीला में शृंगार रस है।

४—शेखरक के वृत्तान्त में हास्य रस है।

५—मित्रावसु द्वारा युद्ध की प्रेरणा में वीर रस है। जिसमें क्रोध सञ्चारी के रूप में सन्निहित है।

६—माता पिता और मलयवती के विलाप तथा शंखचूड और उसकी माता के संवाद में करुण रस है।

यहाँ अंगी रस शान्तरस है। क्योंकि अंगी रस वही होता है जिसका उपक्षेप नाट्य-बीज के रूप में किया गया हो तथा जो निर्वहण में विद्यमान हो। उपक्षेप मुखसन्धि का पहला सन्ध्यंग है और इसमें बीज का उपन्यास किया जाता है। इस उपक्षेप में जीमूतवाहन कहते हैं—

'मैं जानता हूँ कि यौवन राग का प्रमुख स्थान है। यह विनश्वर है यह मुझे न मालूम हो ऐसा भी नहीं है। यह कौन नहीं जानता कि यौवन कर्तव्याकर्तव्यविवेचन में अक्षम होता है। किन्तु यदि मेरा यह निन्दनीय यौवन भी इसी प्रकार माता-पिता की सेवा करते हुये व्यतीत हो जाए तो यह अभीष्ट फल को प्रदान करनेवाला ही होगा।'

यहाँ यौवन की गर्हणा वैराग्यपरक है। इस प्रकार नाट्य का बीज शान्त पर्यवसायी ही है। निर्वहण में दूसरे के लिए जीवन का उत्सर्ग दिखलाया गया है जो कि वैराग्यपरक ही है। इस प्रकार बीज और फल दोनों वैराग्यपर्यवसायी हैं। अतः शान्तरस अङ्गी है। शान्त-रस के बाद जिस रस का सर्वाधिक विस्तार हुआ है वह है शृङ्गार। यह रस प्रथम तीन अंकों में व्याप्त है। किन्तु शान्त और शृङ्गार दोनों विरोधी रस हैं। शान्त से एकदम शृङ्गार पर जाना एक दोष हो जाता है। इसीलिये कवि ने "क्या ही सुन्दर गीत है क्या ही सुन्दर वाद्य है?" कह कर अद्भुत रस को बीच में निबद्ध कर दिया है। इसीलिये 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना—' इत्यादि के द्वारा संगीत की शास्त्रीय विशेषताओं का उल्लेख किया गया है जो न तो प्रासंगिक ही है और न सरस ही। किन्तु उसका उपयोग यही है कि बीच में अद्भुत रस की निष्पत्ति कर दी जाए। यह अद्भुत रस न तो शृङ्गार का विरोधी है न शान्त का। अतः बीच में आकर दोनों को जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है जिससे संगीत शास्त्र की नीरस भी शास्त्रीयता सरस हो उठती है। क्रमशः जीमूतवाहन मन्दिर की ओर जाते हैं और यह जानकर कि संगीतपरायणा युवती एक कन्या है उनके हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है कि कन्याओं को देखना अनुचित नहीं होता! इस प्रकार उनकी तीव्र शान्तरसमयी चित्तवृत्ति में पहले आश्चर्य का प्रसार होता है फिर कन्या के सम्मिलन की उत्कण्ठा और उसके बाद शृङ्गार रस। यहाँ इस क्रमिक प्रसार के लिये ही मध्य में अद्भुत रस को लाया गया है।

यहाँ पर चित्त के प्रसार को समझाने के लिये अभिनव गुप्त ने सांख्य शास्त्र के दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है—चित्तवृत्ति का प्रसार और लिङ्गशरीर का अनेक रूप धारण करना। अतः इन दोनों तत्त्वों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है—

सांख्य शास्त्र के अनुसार दो तत्त्व होते हैं पुरुष और प्रकृति। पुरुष चेतन होता है और प्रकृति में कियाशीलता है। पुरुष में क्रियाशीलता नहीं होती और प्रकृति में चेतना नहीं होती। किन्तु जिस प्रकार एक दूसरे के सामने रक्खे हुये दो दर्पणों में एक दूसरे की प्रति-च्छाया संक्रान्त हो जाती है उसीप्रकार पुरुष और प्रकृति की निकटता से एक दूसरे के धर्मों का संक्रमण एक दूसरे में प्रतीत हो जाता है जिससे पुरुष क्रियाशील और प्रकृति चेतन प्रतीत होने लगती है।

प्रकृति में तीन गुण होते हैं सत्त्व, रज और तम। सत्त्व का कार्य है प्रकाशित होना, रज का काम है क्रियाशील होना और तम का काम है स्थिरता। प्रारम्भ में तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है और प्रकृति में तीनों गुण विद्यमान रहते हुये भी पूर्ण क्रियाशील नहीं

रहते। उस अवस्था को मूल प्रकृति कहा जाता है। यह किसी से उत्पन्न नहीं होती किन्तु अनेक तत्वों को जन्म देनेवाली होती है। यह केवल प्रकृति ही कही जाती है। अदृष्ट इत्यादि के प्रभाव से रजोगुण की क्रियाशीलता के कारण सत्त्वगुण प्रकाश में आ जाता है तब उसे महत्तत्व या बुद्धि की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। बुद्धि में जब रजोगुण का अंश तीव्र हो जाता है तब अहङ्कार या विभाजक तत्त्व का आविर्भाव होता है। इसी क्रम से अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चतन्मात्राओं से स्थूलभूत तथा ११ इन्द्रियों का आविर्भाव होता है। महत् से पञ्चतन्मात्राओं तक समस्त तत्त्व अपने परवर्तियों की प्रकृति हैं और पूर्ववर्तियों की विकृति। ११ इन्द्रियाँ और स्थूल भूत केवल विकृति हैं, और प्रकृति किसी भी तत्त्व की नहीं। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति। इस प्रकार सांख्याभिमत पदार्थ चार प्रकार के होते हैं। साख्य के मत में सत्कार्य-वाद माना जाता है।

बाह्येन्द्रियाँ विषय को ग्रहणकर अन्तःकरण को समर्पित करती हैं। उन विषयों के प्रभाव से अन्तःकरण की जो परिणामवृत्तियाँ उद्भूत होती हैं उन सबके समूह को चित्त कहते हैं। अन्तः करण के दो धर्म होते हैं प्रत्यय और संस्कार। प्रख्या और प्रवृत्ति को प्रत्यय कहते हैं और स्थिति को संस्कार। प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति, इन तीनों में पांच-पांच वृत्तियां होती हैं। प्रख्या की ५ बृत्तियाँ होती हैं—प्रमाण, स्मृति, प्रवृत्ति-विज्ञान, विकल्प और विपर्यय। चित्त की भी प्रवृत्तियाँ ५ प्रकार की होती हैं—संकल्प, कल्पन, कृति, विकल्पन और विपर्यस्त चेष्टा। स्थिति रूप संस्कार के ५ प्रकार हैं—प्रमाण संस्कार, स्मृति संस्कार, प्रवृत्तिसंस्कार, विकल्पसंस्कार और विपर्यासंस्कार। इस प्रकार चित्तवृत्ति का प्रसार ही प्रमाणादि समस्त तत्त्वों को आवृत कर लेता है (चित्तप्रवृत्ति के प्रमाणादि रूप में प्रसार की विस्तृत व्याख्या के लिये देखिये—स्वामी हरिहरानन्द आरण्य कृत सांख्यतत्त्वालोक) इसीलिये अभिनव गुप्त ने लिखा है कि सांख्यों का धन चित्तवृत्ति के प्रसार की व्याख्या करना ही है। इसलिये चित्तवृत्ति का निरोध ही योग माना गया है।

पुरुष की योगप्राप्ति और निर्वाणप्राप्ति के निमित्त प्रकृति सचेष्ट होकर उसके लिये एक लिङ्गशरीर की रचना करती है। इस लिङ्गशरीर में महत् (बुद्धि), अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रायें और ११ इन्द्रियाँ ये मिलाकर १८ पदार्थ होते हैं और इसमें ८ भावों की अधिवासना होती है। वे ८ भाव हैं—धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य। यह लिङ्गशरीर सूक्ष्म होता है और भोग तथा अपवर्ग के लिये पुरुष को आवेष्टित किये रहता है। किन्तु यह लिङ्गशरीर तब तक अकिञ्चित्कर होता है जब तक स्थूल भूतों से बने हुये शरीर से इसका संयोग नहीं हो जाता। जिस प्रकार नट अनेक भूमिकायें करने के लिये कभी परशुराम, कभी अजात शत्रु कभी वत्सराज बन जाता है उसीप्रकार यह लिंगशरीर भी अनेक योनियों में भटकता फिरता है। स्थूल भौतिक शरीरों के नष्ट हो जाने पर भी इस लिगशरीर का नाश नहीं होता और यह अपने कर्मों के अनुसार शरीरान्तर में प्रवेश करता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक ज्ञान के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध नहीं हो जाता जो कि अपवर्ग की एक आवश्यक शर्त है। यही सांख्य के सिद्धान्तों का सार है। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने सांख्य की निम्नलिखित कारिका उद्धृत की है—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते नित्यम्॥

[पुरुष के प्रयोजन (भोग और अपवर्ग) को निमित्त मानकर बना हुआ यह लिङ्ग-शरीर निमित्त (धर्म इत्यादि) और नैमित्तिक (भौतिक शरीर) के प्रसंग से प्रकृति की व्यापकता के कारण नट के समान अनेक रूपों को धारण कर व्यवहार करता है।]

नागानन्द में उसी क्रमिक चित्तवृत्ति के प्रसार के कारण शान्त से अद्भुत पर होती हुई चित्तवृत्ति शृङ्गार पर आती है फिर निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्ग से ही शेखरक, विदूषक और नवमालिका विषयक हास्यरस उपस्थित होता है। यह हास्य प्रस्तुत शृङ्गार का विरोधी नहीं है, अपि तु शृंगार की भावना की अभिवृद्धि ही करता है। इस हास्यरस से उपकृत होकर नायक-नायिका का शृंगार रस पुष्ट हो जाता है। (किन्तु वह शृंगार रस है अङ्ग ही क्योंकि पहले सिद्ध किया जा चुका है कि नागानन्द में शान्तरस ही अंगी है। नायक का नवीन परिणय इस शान्त की भावना को अधिक महत्वपूर्ण बना देता है।) अब कवि को शृङ्गार से पुनः शान्त पर आना है। एकदम आया नहीं जा सकता क्योंकि दोनों का नैरन्तर्य विरोधी तथा सदोष माना जाता है। इसीलिये कवि ने जिस प्रकार पहले शान्त शृङ्गार पर आने के लिये बीच में अद्भुत रस को रख दिया था उसी प्रकार शृंगार से पुनः शान्त पर आने के लिये कवि ने बीच में वीर रस को सन्निविष्ट कर दिया है। जब मित्रावसु आते हैं तब मलयवती चली जाती है जिससे शृङ्गार में विराम लग जाता है। मित्रावसु युद्ध का प्रस्ताव करते हुये कहते हैं—

संसर्पद्भिः समन्तात् कृतसकलवियन्मध्ययानैर्विमानैः
कुर्वाणाः प्रावृषीव स्थगितरविरुचः श्यामतां वासरस्य।
एते याताश्च सद्यस्तववचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः
सिद्धश्चोद्वृत्तशत्रुक्षणभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यम्॥

[चारों ओर से विचरणशील तथा समस्त आकाश में गमन करनेवाले विमानों से वर्षा काल के समान सूर्य के प्रकाश को रोककर दिन को काला करते हुये ये सिद्ध तुम्हारे वचनों को प्राप्तकर यहाँ से युद्ध के लिये प्रस्थान करें और तुम्हारा अपना राज्य उद्धत शत्रुओं के क्षणिक भय के दूर हो जाने से नम्र राजाओंवाला बन जाए।]

इसके बाद मित्रावसु अकेले ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने का उत्साह दिखलाते हैं। यह उत्साह क्रोध से मिला हुआ है। क्रोध वीररस का संचारी भाव है। इस वीररस को बीच में डालकर कवि अनायास ही शृङ्गार से शान्त पर पहुँच जाता है। इस प्रकार किसी तटस्थ रस को दो विरोधियों के मध्य में डाल देने से दोनों विरोधियों का विरोध मिट जाता है।

(ध्वन्या०) **शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्—**

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(अनु०) और तृष्णाक्षय सुख का जो परिपोष उस लक्षणवाला शान्तरस प्रतीत ही होता है। इसीलिये कहा गया है—

'लोक में जो कामना का सुख है जो दिव्य महान् सुख है, ये तृष्णाक्षय सुख की षोडशी कला के भी अधिकारी नही।'

(लो०)—ननु नास्त्येव शान्तो रसः तस्य तु स्थाय्येव नोपदिष्टो मुनिनेत्याशङ्क्याह—**शान्तश्चेति**। तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषो रस्यमानता कृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः। **प्रतीयत एवेति**। स्वानुभवेनापि निवृत्तभोजनाद्यशेषविषयेच्छाप्रसरत्वकाले सम्भाव्यत एव।

अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते। तृष्णासद्भावस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात्। पर्युदासे त्वस्मत्पक्ष एवायम्।

अन्ये तु—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते॥

इति भरतवाक्यं दृष्टवन्तः सर्वरससामान्यस्वभावं शान्तमाचक्षाणा अनुपजातचित्तवृत्तिविशेषान्तररूपं शान्तस्य स्थायीभावं मन्यन्ते। एतच्च नातीवास्मत्पक्षाद्दूरम्। प्रागभावप्रध्वंसाभावकृतस्तु विशेषः। युक्तश्च प्रध्वंस एव तृष्णानाम्। यथोक्तम्—'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति।

प्रतीयत एवेति। मुनिनाप्यङ्गीक्रियत एव 'क्वचिच्छम' इति वदता। न च तदीया पर्यन्तावस्था वर्णनीया येन सर्वचेष्टोपरमादनुभवाभावेनाप्रतीयमानता स्यात्। शृङ्गारादेरपि फलभूमाववर्णनीयतैव पूर्वभूमौ तु 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' इति सूत्रद्वयनीत्या चित्राकारा यमनियमादिचेष्टा राजधुरोद्वहनादिलक्षणा वा शान्तस्यापि जनकादेर्दृष्टैवेत्यनुभावसद्भावाद्यमनियमादिमध्यसम्भाव्यमानभूयो व्यभिचारिसद्भावाच्च प्रतीयत एव।

(अनु०) 'निस्सन्देह शान्त तो है ही नहीं; उसका तो स्थायी ही मुनि के द्वारा उपदिष्ट नहीं किया गया है' यह शंका करके कहते हैं—'और शान्त'। तृष्णाओं का अर्थात् विषयाभिलाषों का क्षय अर्थात् सभी ओर से निवृत्तिरूप निर्वेद वही सुख, स्थायीभूत उसका जो आस्वादनीयता से उत्पन्न परिपोष वही जिसका लक्षण (लक्षित करानेवाला) हो वह शान्तरस होता है। 'प्रतीत ही होता है'। भोजन इत्यादि समस्त विषयों की इच्छाओं के प्रसार की निवृत्ति के काल में सम्भावित ही किया जाता है।

दूसरे लोग तो सब चित्तवृत्तियों का प्रशम ही इसका स्थायी है यह मानते हैं। क्योंकि सद्भाव के प्रसज्यप्रतिषेध रूप होने पर चित्तवृत्ति के अभाव से भावत्व ही सिद्ध नहीं होता। पर्युदास में तो यह हमारा ही पक्ष है। और लोग तो—

'अपने-अपने निमित्त को प्राप्तकर शान्त से भाव प्रवृत्त होता है फिर निमित्त के अपाय में शान्त में ही प्रलीन हो जाता है।'

इस भरतवाक्य को देखे हुये सर्वरससामान्य स्वभाववाले शान्त को कहते हुये दूसरी चित्तवृत्ति की विशेषता की अनुत्पत्ति को शान्तरस का स्थायी भाव मानते हैं। यह हमारे पक्ष से बहुत दूर नहीं है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की उत्पन्न की हुई विशेषता तो है। तृष्णाओं का प्रध्वंस ही उचित है। जैसा कहा गया है—'वीतराग का जन्म न देखने से।' यह।

'प्रतीत होता ही है'। 'कहीं शम' यह कहते हुये मुनि के द्वारा भी अंगीकृत किया ही गया है। उसकी पर्यन्तावस्था तो नहीं वर्णनीय है जिससे समस्त चेष्टाओं के उपरम से अनुभव के अभाव से ही अप्रतीयमानता हो। शृंगार इत्यादि भी फलभूमि में अवर्णनीय ही होते हैं पूर्वभूमि में तो '(निरोध) संस्कार से उसकी प्रशान्तवाहिता होती है; उसके छिद्रों में संस्कारों से दूसरे प्रत्यय होते हैं' इन दो सूत्रों की नीति से विचित्र प्रकार की यम नियम इत्यादि चेष्टा अथवा राजधुरोद्वहन इत्यादि की चेष्टा शान्तजनक की भी देखी ही गई है। अतः अनुभावों के होने से और यम नियम इत्यादि के मध्य में सम्भावित अनेक व्यभिचारियों के योग से प्रतीत होता ही है।

शान्तरसविषयक प्रश्नोत्तर

तारावती—(प्रश्न) ऊपर शान्त और शृङ्गार के नैरन्तर्य विरोध का उदाहरण दिया गया है। यह तभी सङ्गत हो सकता है जब दोनों रसों की सत्ता स्वीकार कर ली जाए। शान्त नाम का तो कोई रस ही नहीं है। भरतमुनि ने रसों के प्रसङ्ग में शान्तरस के स्थायी भाव का उल्लेख ही नहीं किया है। फिर शान्त और शृङ्गार के विरोध का उदाहरण कैसे सङ्गत हो सकता है? (उत्तर) शान्तरस की प्रतीति होती ही है उसका अपलाप किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। जहाँ पर तृष्णाक्षय के सुख का परिपोष हो वहीं पर शान्तरस हुआ करता है। यही शान्तरस का लक्षण है। विषयाभिलाष से चारों ओर से निवृत्त हो जाना ही निर्वेद या वैराग्य कहलाता है। उस निर्वेद में एक अभूतपूर्व आनन्द आया करता है। यह निर्वेद रूप आनन्द ही शान्तरस का स्थायी भाव है। जब उसका परिपोष आस्वाद में हेतु हो जाता है तभी शान्तरस कहा जाता है। यही शान्तरस का लक्षण है। इसका अनुभव एक साधारण व्यक्ति को भी हुआ करता है। जब मनुष्य की पूर्ण तृप्ति हो जाती है और उसकी भोजन इत्यादि सभी विषयों की ओर से इच्छा जाती रहती है उस समय उसे एक अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ करता है। इसीप्रकार तृष्णाक्षय के सुख में भी एक अभूतपूर्व आनन्द की प्रतीति होती है। यही आनन्द शान्तरस का स्थायी भाव होता है। यह बात कही भी गई है:—

'लोक में कामना से जो सुख प्राप्त होता है और जो स्वर्गीय महान् सुख होता है, वे दोनों प्रकार के सुख तृष्णाक्षय से उत्पन्न होनेवाले सुख का सोलहवाँ भाग भी नहीं होते।'

कतिपय आचार्यों का मत है कि सब प्रकार की चित्तवृत्ति का प्रशम ही शान्तरस का स्थायी भाव होता है। यहाँ पर मुझे यह पूछना है कि 'चितवृत्ति के न होने' में जो 'न' का प्रयोग किया गया है उसका क्या अर्थ है, निषेधवाचक 'न' के दो अर्थ हुआ करते हैं—(१) प्रसज्यप्रतिषेध, यह प्रतिषेध वहाँ पर होता है जहाँ 'न' क्रिया के साथ लगता है, जैसे 'यहाँ पुरुष नहीं है' इस वाक्य में क्रिया के साथ 'न' लगा हुआ है और इसका अर्थ यह हो जाता है कि 'न' यहाँ पुरुष है और न तत्सदृश कोई अन्य।' (२) पर्युदास-प्रतिषेध, जहाँ संज्ञा के साथ 'न' जुड़ता है जैसे—यहाँ 'अपुरुष है' इसका अर्थ है कि यहाँ पुरुष नहीं है किन्तु तत्सम कोटि का कोई व्यक्ति विद्यमान है। अब प्रश्न यह है कि चित्तवृत्ति के निषेध में प्रसज्यप्रतिषेध है या पर्युदासप्रतिषेध। यदि आप प्रसज्यप्रतिषेध मानते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप किसी प्रकार की चित्तवृत्ति मानते ही नहीं। इस प्रकार आप तृष्णा की सत्ता का सर्वतोभावेन अभाव मान लेते हैं। ऐसी दशा में अभाव किसी प्रकार के भाव के अन्तर्गत किस प्रकार आ सकता है? अतः अभाव को स्थायी भाव कहना वदतोव्याघात दोष है। यदि आप पर्युदासप्रतिषेध मानते हैं तो इसका अर्थ होता है कि तृष्णा से भिन्न तत्सदृश किसी अन्य प्रकार की चित्तवृत्ति। ऐसी दशा में मेरा ही पक्ष सिद्ध हो जाता है। क्योंकि हम निर्वेद एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति मानते हैं और तृष्णाक्षय को शान्त का लक्षण स्वीकार करते हैं। पर्युदासप्रतिषेध का यही अर्थ है।

दूसरे लोग कहते हैं कि शान्त एक सामान्य प्रकार की प्राकृत चित्तवृत्ति होती है और रति इत्यादि वैकृत चित्तवृत्तियाँ हैं। यही बात भरतमुनि ने छठे अध्याय के अन्तिम भाग में कही है :—

'रति इत्यादि विकृत भाव होते हैं और शान्त उनको प्रकृति होता है विकार प्रकृति से ही उत्पन्न होता है और प्रकृति में ही लीन हो जाता है।'

'अपने-अपने कारणों को लेकर शान्त से ही दूसरे भावों का जन्म होता है और जब कारण जाता रहता है तब वह भाव शान्त में ही लीन हो जाता है।'

इस भरतवाक्य का सहारा लेनेवालों का मत है कि शान्त सभी रसों के मूल में रहता है, सभी रसों की शान्तावस्था ही शान्त रस कहलाती है। अत एव शान्त रस का स्थायी भाव वही चित्तवृत्ति होती है जिसमें किसी अन्य प्रकार की चित्तवृत्ति की विशेषता का आविर्भाव न हुआ हो। यह सिद्धान्त भी लगभग वही है जिसे मैं मानता हूँ। विशिष्ट भावनाओं का अभाव ही हम दोनों के मत में शान्तरस का प्रयोजक होता है अन्तर केवल यह है कि मेरे मत से तृष्णा का प्रध्वंसाभाव (नष्ट होने के बाद का अभाव) शान्त-रस कहलाता है और इन लोगों के मत से तृष्णा का प्रागभाव (उत्पत्ति के पहले का अभाव) शान्तरस कहलाता है। उचित यही है कि तृष्णा का प्रध्वंसाभाव ही शान्तरस माना जाए। न्यायसूत्रकार ने तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में कहा है कि 'वीतराग का जन्म नहीं देखा जाता।' वीतराग का यही आशय है कि जिसकी तृष्णा का प्रध्वंस हो गया हो।

'शान्तरस की प्रतीति होती ही है' कहने का आशय यह है कि विषयों से पूर्ण तृप्ति के बाद उनके परित्याग में उसी प्रकार का आनन्द आता है जिस प्रकार भोजन से तृप्त होने के बाद एक प्रकार के आनन्द का अनुभव हुआ करता है। यह तृप्ति जन्य आह्लाद सर्वजनानुभव सिद्ध है। साथ ही इस प्रतीति का यह भी अर्थ हो सकता है कि भरत मुनि ने भी इसे अंगीकार किया है। मुनि ने कहा है कि 'कहीं कहीं भावों का प्रशम भी होता है।' (शान्त रस के पक्ष, विपक्ष, सिद्धान्त पक्ष तथा उसके स्थायीभाव पर अभिनव भारती में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अतः वहीं देखना चाहिमें।) कुछ लोगों का कहना यह है कि शान्तरस में जब कि चेष्टाओं का उपरम हो जाता है तब न तो उसकी प्रतीति ही होती है और न उसका अभिनय ही सम्भव है। इस विषय में मुझे यह कहना है कि शान्तरस की इतनी पर्यन्तावस्था का वर्णन करना ही नहीं चाहिये जिससे सभी प्रकार की चेष्टाओं का उपरम हो जाए और अनुभावों के अभाव में उसकी प्रतीति ही न हो सके। शान्तरस की ही पर्यन्तावस्था का वर्णन करना निषिद्ध नहीं है अपितु श्रृंगार इत्यादि दूसरे रसों की पर्यन्तावस्था का वर्णन भी निषिद्ध ही है। यदि श्रृंगार की फलभूमि का वर्णन किया जाए तो सुरत का ही वर्णन होगा जो कि साहित्य में कभी समीचीन नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार रौद्र की पर्यन्तावस्था हत्या है जो कि शास्त्र में निषिद्ध मानी जाती है। पूर्वभूमि में किसी भी रस का वर्णन अनुचित नहीं होता और यही बात शान्तरस के विषय में भी लागू होती है। और शान्तरस में भी पूर्व भूमि में चेष्टायें सर्वथा समाप्त नहीं हो जातीं। इस विषय में योग के दो सूत्रों का उल्लेख असङ्गत न होगा। योगदर्शन के तृतीय पाद का एक सूत्र है—'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इसका आशय यह है—'जब चित्तवृत्ति की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमिकायें समाप्त हो जाती हैं तब व्युत्थान रूप (सांसारिक) ज्ञानों का अवसर ही नहीं रहता। उस समय निरोध संस्कार से चित्तवृत्ति का प्रवाह प्रशान्त भाव की ओर चल देता है।' चतुर्थ पाद में एक दूसरा सूत्र और है—'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।' इसका आशय यह है कि जिस समय जीव समाधि में स्थित हो जाता है उस समय भी बीच बीच में कुछ ऐसे विघ्न स्वरूप अवसर आते रहते हैं जिनमें दूसरे प्रकार के प्रत्ययों का आविर्भाव होता रहता है और उसमें पुराने संस्कार कारण होते हैं। आशय यह है कि समाधि की दशा में आने से पहले जिन व्युत्थान रूप ज्ञानों का अनुभव किया था उनसे संस्कार बन जाते हैं। वे संस्कार समाधि में आने पर भी पीछा नहीं छोड़ते। बीच बीच में विघ्न उपस्थित होते रहते हैं और उन अवसरों पर पुराने संस्कारों के बल पर व्युत्थानात्मक ज्ञानों का उद्रेक होता ही रहता है। यह शान्तरस की पूर्व भूमि का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्त रस की पूर्वावस्था में भी चेष्टायें होती ही हैं। (शान्तरस के उत्पन्न हो जाने पर भी विषयों में अभ्यस्त हमारी मनोवृत्तियाँ उसी प्रकार की भावनाओं का अनुभव करने लगती हैं। केवल उनका विषय बदल जाता है। लौकिक अनुभूति में भौतिक वस्तुओं के प्रति मन में ललक रहती है, किन्तु वैराग्य के उत्पन्न हो जाने पर लौकिक वस्तुओं से वैमुख्य उत्पन्न हो जाता है तथा उसके स्थान पर मनोवृत्तियाँ परमात्मतत्त्व की ओर उन्मुख हो जाती हैं।) यही बात जनक इत्यादि के अन्दर भी देखी जाती है। उनकी भी

समाधि अवस्था में यम नियम इत्यादि की चेष्टायें और व्युत्थान काल में राज्य के भार का वहन करना प्रसिद्ध ही है। इस अनुभव के बल पर कहा जा सकता है कि यम नियम इत्यादि के मध्य में बहुत से व्यभिचारियों की सम्भावना की जा सकती है। अत एव शान्तरस की प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(ध्वन्या०)--यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावतासावलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शक्यः।

(अनु०) यदि कहो कि उस (शान्त) की सर्वजनानुभवगोचरता नहीं होती तो इतने से ही अलोकसामान्य महानुभावों की विशेष प्रकार की उस चित्तवृत्ति का परित्याग किया जा सकता है।

(लो०)—ननु न प्रतीयते नास्य विभावाः सन्तीति चेत् न; प्रतीयत एव तावदसौ तस्य च भवितव्यमेव प्राक्तनकुशलपरिपाकपरमेश्वरानुग्रहाध्यात्मरहस्यशास्त्रवीतरागपरिशीलनादिभिर्विभावैरितीयतैव विभावानुभावव्यभिचारिसद्भावः स्थायी च दर्शितः।

ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद्रस्यमानतैव नोपपन्ना। क एवमाह स नास्तीति, यतः प्रतीयत एवेत्युक्तम्।

ननु प्रतीयते सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसत्वाच्च्यवतामिति तदाह—**इति नामेति।**

(अनु०) निस्सन्देह नहीं प्रतीत होता है (क्योंकि) इसके विभाव नहीं होते यदि यह कहो तो (ऐसा) नहीं (क्योंकि) यह तो प्रतीत ही होता है और उसके पुराने शुभ कर्मों का परिपाक, परमेश्वरानुग्रह, अध्यात्म रहस्य शास्त्र, वीतरागपरिशीलनादि विभावादि होने ही चाहिये। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की सत्ता और स्थायी दिखलाया गया है। (प्रश्न) निस्सन्देह वहाँ पर हृदय संवाद के अभाव से रस्यमानता ही सिद्ध नहीं होती। (उत्तर) कौन ऐसा कहता है कि वह नहीं होती क्योंकि प्रतीत होती ही है ऐसा कहा जा चुका है।

"निस्सन्देह प्रतीत होता है (किन्तु) सभी की प्रशंसा का स्थान नहीं होता" तो वीतरागों को शृंगार प्रशंसनीय नहीं होता अतः वह भी रसत्व से च्युत हो जाए, यह कह रहे हैं—'यदि नाम—' इत्यादि।

तारावती—(प्रश्न) हम आपके इस तर्क से तो सहमत हो सकते हैं कि व्युत्थान काल की मनोवृत्तियाँ प्रशान्त अवस्था में भी होती हैं। हम यह भी मान सकते हैं कि उन मनोवृत्तियों की संवाहिका चेष्टायें (अनुभाव) भी सम्भव हैं। किन्तु केवल सञ्चारी भाव और अनुभावों से ही रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं होती। उसमें विभाव का भी योग अपेक्षित होता है। यदि कहीं विभाव का उपादान नहीं भी किया जाता है तो भी उसका आक्षेप करके ही रसनिष्पत्ति होती है। किन्तु शान्त के विभाव सम्भव ही नहीं हैं। अतः वहाँ पर रसनिष्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? (उत्तर) शान्त रस की प्रतीति होती है यह तो दिखलाया ही जा चुका। पुराने

शुभ कर्मों का परिपाक, परमेश्वर का अनुग्रह, अध्यात्म शास्त्र के रहस्य का परिशीलन वीतरागों का संसर्ग इत्यादि उसके विभाव भी होते ही हैं। इस प्रकार विभाव अनुभाव के संयोग की सम्भावना और स्थायी भाव यह समस्त सामग्री दिखलाई जा चुकी। इस प्रकार शान्त रस की प्रतिष्ठा में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

(ध्वन्या०)—**न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कारप्रशमैकरूपतया स्थितेः। तयोश्चैवंविधसद्भावेऽपि यद्यैक्यं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः।**

दयावीरादीनां च चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तपसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीररसप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद्विरोधः। तदेवमस्ति शान्तो रसः। तस्य चाविरुद्धरसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम्। यथा प्रदर्शिते विषये॥२६॥

(अनु०) वीर में भी उसका अन्तर्भाव करना उचित नहीं है। क्योंकि उसकी व्यवस्था अभिमानमयत्व के रूप में की गई है और इसकी स्थिति अहङ्कारप्रशम की एकरूपता के साथ होती है। उन दोनों की इस प्रकार की विशेषता के होते हुये भी यदि एकता की कल्पना की जाती हैं तो वीर और रौद्र की भी वही बात होगी।

दयावीर इत्यादि विशेष चित्तवृत्तियों का अहङ्काररहितत्व के कारण शान्तरस का प्रभेदत्व होता हैं अन्यथा वीररसप्रभेदत्व होता है, यह व्यवस्था किये जाने पर कोई विरोध नहीं होता। तो इस प्रकार शान्तरस है। और उसके अविरुद्ध रस के व्यवधान के द्वारा प्रबन्ध में विरोधीरस के समावेश के होने पर भी निर्विरोधत्व ही होता है। जैसा कि प्रदर्शित विषय में॥२६॥

(लो०)—ननु धर्मप्रधानोऽसौ वीर एवेति सम्भावयमान आह—**न चेति**। तस्येति वीरस्य। **अभिमानमयत्वेनेति**। उत्साहो ह्यहमेवंविध इत्येवं प्राण इत्यर्थः। **अस्य चेति**। शान्तस्य। **तयोश्चेति**। ईहामयत्वनिरीहामयत्वाभ्यामत्यन्तविरुद्धयोरपीति चशब्दार्थः। वीररौद्रयोस्त्वत्यन्तविरोधोऽपि नास्ति। समानं रूपं च धर्मार्थकामार्जनोपयोगित्वम्।

नन्वेवं दयावीरो धर्मवीरो वा नासौ कश्चित्, शान्तस्यैवेदं नामान्तरकारणम्। तथा हि मुनिः—

> दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
> रसवीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधसम्मितम्॥

इत्यागमपुरस्सरं त्रैविध्यमेवाभ्यधात्। तदाह—**दयावीरादीनां चेत्यादि** ग्रहणेन। विषयजुगुप्सारूपत्वाद्बीभत्सेऽन्तर्भावः शङ्क्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति, पर्यन्तनिर्वाहे तस्यामूलत एव विच्छेदात्। आधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो न निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकारः तच्चेहास्माभिर्न पर्यालोचितं प्रसङ्गान्तरात्। मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चास्म-

दुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं वहुना ॥२६॥

(अनु०) निस्सन्देह धर्मप्रधान वह वीररस ही है यह सम्भावना करते हुये कहते हैं—'और नहीं' यह। उसका अर्थात् वीर का। 'अभिमानमयत्व के द्वारा' यह निस्सन्देह उत्साह का प्राण ही यह है कि मैं इस प्रकार का हूँ। 'और इसका' अर्थात् शान्त का 'और उन दोनों का' यह। 'और' शब्द का अर्थ है उन दोनों के इच्छा से युक्तत्व और इच्छारहितत्व के द्वारा अत्यन्त विरोधी होते हुये भी वीर और रौद्र इन दोनों का तो अत्यन्त विरोध भी नहीं है। और समानरूपत्व, धर्म, अर्थ और काम के अर्जन की उपयोगिता है।

निस्सन्देह इस प्रकार दया-वीर, धर्म-वीर अथवा दान-वीर यह कुछ नहीं है। शान्त का ही यह दूसरा नामकरण है। ऐसा। निस्सन्देह मुनि कहते हैं—

'ब्रह्मा जी ने दानवीर, धर्मवीर और उसी प्रकार युद्धवीर इन तीन विधाओं में विभक्त वीररस को कहा है।

इस प्रकार आगम के साथ तीन प्रकार ही कहे हैं। वही कहते हैं—दयावीर इत्यादि का इसमें आदिग्रहण से (धर्मवीर और दानवीर ले लिये जाते हैं) विषयों के जुगुप्सारूप होने से बीभत्स में इसके अन्तर्भाव की शङ्का की जाती है। वह तो इसकी व्यभिचारिणी होती है स्थायिता को प्राप्त नहीं होती। पर्यन्तनिर्वाह में तो उसका मूल से ही विच्छेद हो जाता है। चन्द्रिकाकार ने कहा है कि आधिकारिक रूप में शान्तरस को निबद्ध नहीं करना चाहिये। हमने यहाँ पर उसकी पर्यालोचना नहीं की क्योंकि वह दूसरा प्रसङ्ग था। और यह मोक्षफल-वाला होने से परम पुरुषार्थनिष्ट होने के कारण सब रसों से सर्वाधिक प्रधान है। इसके पूर्व-पक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष का हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने काव्यकौतुक में और हमने उसके विव-रण में बहुत अधिक निर्णय किया है, बस इतना कहना पर्याप्त है।

तारावती—(प्रश्न) परिशीलकों के हृदय का सन्तुलन और वस्तु से सामञ्जस्य रसा-स्वादन का मूल है। शान्त रस परिशीलन करनेवालों के हृदय से मेल खाता ही नहीं, अत एव उसका आस्वादन किस प्रकार सङ्गत कहा जा सकता है? (उत्तर) कौन कहता है कि शान्तरस हृदय से मेल नहीं खाता ? जब उसका प्रतीत होना सिद्ध हो चुका है तब उसका सहृदयों द्वारा आस्वादन स्वतः उपपन्न हो जाता है।

(प्रश्न) यह तो मैं मान सकता हूँ कि शान्तरस प्रतीतिगोचर होता है। किन्तु सभी लोगों की प्रशंसा का पात्र नहीं होता और न सभी लोगों के हृदयों से उसका सामञ्जस्य ही होता है। इसीलिये उसकी रसनीयता सन्देहास्पद हो जाती है। (उत्तर) यह कोई तर्क नहीं कि जो रस सभी के लिये हृद्य हो वही रस कहा जाता है। शृङ्गार भी तो वीतराग व्यक्तियों के आस्वादन और आदर का हेतु नहीं होता। तो क्या इसी आधार पर शृंगार भी रसत्व से च्युत हो जायेगा। शान्तरस सभी व्यक्तियों के अनुभवगोचर नहीं होता तो केवल इतने से ही अलोकसामान्य महानुभावों की एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति का खण्डन नहीं किया जा सकता।

(प्रश्न) शान्तरस का धर्मवीर में अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता ? (उत्तर) शान्तरस और धर्मवीर इन दोनों प्रकार की चित्तवृत्तियों में स्पष्ट-रूप में अन्तर है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। यह व्यवस्थित ही किया जा चुका है कि उत्साह अभिमानमय होता है। वस्तुतः उत्साह का प्राण ही अपनी महत्ता को स्वीकार करना है। जब तक अपनी शक्ति का अभिमान और शत्रु के अपमान की चेतना नहीं होती उत्साह का जन्म ही नहीं हो सकता। इसके प्रतिकूल शान्तरस में अभिमान का प्रशम ही उसका एकमात्र स्वरूप होता है। इस प्रकार धर्मवीर ईहामय होता है और शान्तरस ईहारहित। इस प्रकार इनमें महान् वैषम्य है; अतः इन दोनों को एक माना ही नहीं जा सकता। यदि कोई व्यक्ति इनके एक मानने का दुराग्रह करता ही चला जाय तो कहना होगा कि युद्धवीर तथा रौद्र में तो इतना भी अन्तर नहीं है; फिर युद्धवीर और रौद्र को एक मानना तो और भी अधिक युक्तियुक्त नहीं होगा। इनकी समानरूपता का आशय यही है कि धर्म अर्थ और काम के उपार्जन की उपयोगिता का समान होना। इस दृष्टि से युद्धवीर और रौद्र दोनों की उपयोगिता एक जैसी है। धर्मवीर और शान्त में तो इस दृष्टि से भेद भी किया जा सकता है कि धर्मवीर में अभिमान की परिपुष्टि भी उसका उपयोग हो सकती है किन्तु शान्तरस में शुद्ध धर्मोपार्जन का ही उपयोग होता है। अतः जिस तर्क के आधार पर युद्धवीर और रौद्र एक नहीं माने जा सकते उसी तर्क के आधारपर धर्मवीर और शान्त भी एक नहीं हो सकते।

(प्रश्न) भरतमुनि ने वीररस के उपभेदों का परिगणन करते हुये लिखा है—

'ब्रह्मा जी ने वीररस के तीन भेद बतलाये हैं–दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर।'

इस कारिका में केवल तीन प्रकार का ही वीररस बतलाया गया है और उसमें भी आगम की सम्मति दी गई है कि यह कथन ब्रह्मा जी का है। इन भेदों में दयावीर को सम्मिलित नहीं किया गया है। अत एव या तो दयावीर को ही शान्तरस की संज्ञा प्रदान की जा सकती है अथवा दयावीर धर्मवीर और दानवीर को अलग न मानकर शान्तरस स्वीकार किया जा सकता है और इन तीनों को शान्तरस का ही भेद माना जा सकता है। पृथक् रूप में शान्तरस को मानने की क्या आवश्यकता ? (उत्तर) दयावीर इत्यादि शान्तरस के प्रभेद उस समय होते हैं जब उनमें सब प्रकार के अहङ्कार का अभाव हो। यदि उनमें उत्साह के साथ अहङ्कार का भी समावेश किया जाता है तो वे सब वीररस के ही प्रभेद माने जाते हैं। ऐसी व्यवस्था करने में किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती। (मूल में 'दयावीरादीनां च....' यह पाठ आया है। इस प्रतीक को लेकर अभिनवगुप्त ने लिखा है—'दयावीरादीनाञ्चेत्यादिग्रहणेन।' इस 'आदिग्रहणेन' के बाद विराम लगा दिया गया है। स्पष्ट ही है कि यह वाक्य पूरा नहीं होता। ज्ञात होता है कि यहाँ पर 'दानवीरधर्मवीरयोर्ग्रहणम्' यह छूट गया है। यही मानकर उक्त व्याख्या की गई है और यह मान्यता बालप्रिया इत्यादि टीकाकारों को भी अभिमत है।)

कुछ लोग शान्तरस का अन्तर्भाव बीभत्सरस में करते हैं। क्योंकि शान्तरस में भी विषयों की ओर से घृणा होती ही है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं। क्योंकि घृणा शान्तरस में स्थायी भाव नहीं हो सकती अपितु व्यभिचारी भाव ही होती है। जिस समय शान्तरस का पर्यन्त निर्वाह किया जाता है उस समय घृणा का मूल से ही विच्छेद हो जाता है। (शान्तरस के विषय में और भी अनेक प्रश्न उठाये जा सकते हैं। इसका विस्तृत विवेचन प्रकरणानुकूल अभिनव भारती में किया गया है। वहाँ रति इत्यादि प्रत्येक स्थायी भाव में शान्तरस का अन्तर्भाव क्यों नहीं होता यह दिखलाया गया है।) इसी से सम्बद्ध मत चन्द्रिकाकार का भी है। उनका मत है कि शान्तरस का उपनिबन्धन आधिकारिक रस के रूप में नहीं करना चाहिये। किन्तु अभिनव गुप्त का कहना है कि यह इस विषय का प्रकरण नहीं है। अतः यहाँ पर उसका विवेचन नहीं किया जा रहा है। इस विषय में अभिनव गुप्त के उपाध्याय भट्टतौत ने अपने काव्यकौतुक नामक ग्रन्थ में पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष का विस्तृत विवेजन किया है। अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थपर विवरण लिखा है जिसमें उन्होंने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। यहाँ उसके विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि शान्तरस का फल मोक्ष होता है जो कि सबसे बड़ा फल है। अत एव इस रस की निष्ठा पुरुषार्थ में भी सबसे अधिक होनी चाहिये। इस प्रकार यह रस सभी अन्य रसों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रधान माना जा सकता है।

इस प्रकार शान्तरस सिद्ध हो जाता है। यदि उसको अविरोधी रसों के व्यवधान के द्वारा विरोधी रसों के साथ रक्खा जाय तो उनका परस्पर विरोध जाता रहता है ॥२६॥

(ध्वन्या०)—एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥२७॥

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धयोर्विरोधिता निवर्तते इत्यत्र न काचिद्भ्रान्तिः। यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते। यथा—

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिः वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन्॥

इत्यादौ। अत्र हि श्रृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी ॥२७॥

(अनु०) इसी को स्थिर करने के लिये यह कहा जा रहा है—

'दूसरे रस से अन्तरित, एक वाक्यस्थ भी दो रसों के समावेश में विरोधी भाव जाता रहता है' ॥२७॥

दूसरे रस से व्यवहित एक प्रबन्धस्थ (दो रसों) की विरोधिता निवृत्त हो जाती है इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं है। क्योंकि उक्त नीति से एक वाक्यस्थ भी दो रसों की विरुद्धता निवृत्त हो जाती है। जैसे—

'उस समय पर विमानपर्यङ्कतल में विराजमान वीर लोग जिनकी बाहुओं के मध्य-भाग नवीन पारिजात की माला की रज से सुवासित हो रहे थे, जिनकी भुजाओं के आन्तरिक भाग का आलिङ्गन देवताओं की स्त्रियाँ कर रहीं थी और जिनके ऊपर चन्दन जल से सिंचे हुये सुगन्धित कल्पलता के वस्त्रों से पंखा किया जा रहा था, कौतूहल से आविष्ट होने के कारण समरभूमि मे पड़े हुये अपने ऐसे शरीरों को देख रहे थे जो कि पृथ्वी की धूल से सने हुये थे, शृगालियाँ जिनके शरीर का गाढ आलिङ्गन कर रहीं थी, मांसाहारी पक्षियों के खून से सने हुये पंखों से जिन पर हवा की जा रही थी और ललनायें अंगुलियों से जिनकी ओर संकेत कर रहीं थीं।'

इत्यादि में। यहाँ पर निस्सन्देह शृङ्गार और बीभत्स का अथवा उसके अंगों का वीररस के व्यवधान से समावेश विरोधी नहीं है ॥२७॥

(लो०) **स्थिरीकर्तुमिति**। शिष्यबुद्धावित्यर्थः। अपिशब्देन प्रबन्धविषयतया सिद्धोऽयमर्थ इति दर्शयति—**भूरेण्विति**। विशेषणैरतीव दूरापेतत्वमसम्भावनास्पदमुक्तम्। स्वदेहानित्यत्वेन देहत्वाभिमानादेव तादात्म्यसम्भावनानिष्पत्तेरेकाश्रयत्वमस्ति अन्यथा विभिन्नविषयत्वात्को विरोधः। ननु वीर एवात्र रसो न शृङ्गारो न बीभत्सः किन्तु रतिजुगुप्से हि वीरं प्रति व्यभिचारीभूते। भवत्वेवम्, तथापि प्रकृतोदाहरणता तावदुपपन्ना। तदाह—**तदङ्गयोर्वेति**। तयोरङ्गे तत्स्थायिभावावित्यर्थः। **वीररसेति**। 'वीराः स्वदेहान्' इत्यादिना तदीयोत्साहाद्यवगत्या कर्तृकर्मणोः समस्तवाक्यार्थानुयायितया प्रतीतिरिति मध्यपाठाभावेऽपि सुतरां वीरस्य व्यवधायकतेतिभावः ॥२७॥

(अनु०) 'स्थिर करने के लिये' यह। अर्थात् शिष्यबुद्धि में। अपिशब्द से प्रबन्ध-विषयता के रूप में यह अर्थ सिद्ध है यह दिखलाते हैं 'भूरेणु.....' इत्यादि। विशेषणों के द्वारा अत्यन्त दूरी होना (और एकता का) असम्भावनास्पदत्व कहा गया है। 'अपनी देहों को' इससे देहत्व के अभिमान से ही तादात्म्य की सम्भावना की निष्पत्ति से ही एकाश्रयत्व होता है, नहीं तो विभिन्न विषय होने से क्या विरोध हो ? (प्रश्न) निस्सन्देह यह वीररस ही है न शृङ्गार न बीभत्स; किन्तु रति और जुगुप्सा वीर के प्रति व्यभिचारी भाव हो गये हैं। हो ऐसा, तथापि प्रकृत का उदाहरण होना तो सिद्ध ही हो जाता है। वह कहते हैं—'अथवा उसके दोनों अंगों का'। उन दोनों के अङ्ग अर्थात् उनके स्थायीभाव। 'वीररस' यह। भाव यह है कि 'वीर अपनी देहों को' इत्यादि के द्वारा उसके उत्साह की प्रतीति से मध्य में पाठ न होने पर भी वीररस की तो व्यवधायकता (असंदिग्ध रूप में) विद्यमान है ही ॥२७॥

तारावती—२६ वीं कारिका में बतलाया गया है कि अविरोधी रस को बीच में रख देने से दो विरोधी रसों का विरोध मिट जाता है। अब शिष्यों की बुद्धि में उसी बातको ठीक रूप में जमा देने के लिये इस कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि यह सिद्धान्त बहुत ही स्थिरता तथा निश्चय के साथ लागू होता है। कारिका का भाव यह है—

'यदि दो विरोधी रस एक ही वाक्य में स्थित हों तो भी किसी अन्य रसको बीच में रख देने से उनका विरोध जाता रहता है।'

प्रायः देखा जाता है कि यदि दो विरोधी दूर दूर रहें तो न तो उनका विरोध अधिक तीव्र हो पाता है और न वे एक दूसरे को हानि ही पहुँचा सकते हैं। इसके प्रतिकूल जब वे एक दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं तो उनका विरोध भी तीव्र हो जाता है और एक दूसरे को हानि पहुँचाने की उनकी क्षमता भी बढ़ जाती है। प्रबन्ध का कलेवर विशाल होता है। उसमें यदि दो विरोधी बने भी रहें तो भी एक दूसरे को इतनी क्षति नहीं पहुँचा सकते। मुक्तक में केवल एक वाक्य होता है। यदि उसमें दो विरोधी एक साथ आ जाएँ तो वे एक दूसरे के अधिक हानिकर हो सकते हैं। बीच में एक तीसरे रस को रख देना एक ऐसा तत्त्व है जो एक वाक्य में आनेवाले दो रसों के विरोध को मिटा देता है। फिर यदि प्रबन्ध में दो विरोधियों के मध्य में एक तीसरे रस के आ जाने से उनका विरोध जाता रहे तो आश्चर्य ही क्या? एक वाक्य में भी विरोध मिट जाता है यह कहने से प्रबन्ध में विरोध मिट जाता है यह बात तो स्वतः सिद्ध हो गई। एक वाक्य में विरोधनिवृत्ति का उदाहरण—

'युद्ध भूमि में अपने प्राण देकर वीर लोग देवत्व को प्राप्त हो गये हैं, वे देवशरीर में विमानों पर चढ़कर आकाश में पहुँच गये हैं और वहाँ से कौतूहल के साथ अपने मृत शरीरों को देख रहें हैं जो कि युद्धभूमि में पड़े हुये हैं। उनके शव पृथ्वी की धूल से सने हुये हैं जबकि उनके देवशरीरों में गले में पारिजात की मालायें हैं और उन देवपुष्पों की रज उनके वक्षस्थल को सुवासित बना रही है। उनके शवों में सियारियाँ बुरी भाँति चिपटी हुई हैं जबकि देवशरीरों में उनकी भुजाओं के मध्यभाग का आलिङ्गन देवों की अङ्गनायें कर रही हैं। उनके शवों पर मांसाहारी पक्षी अपने खून से सने हुये पंखों को फड़फड़ा कर हवा कर रहें हैं जबकि उनके देवशरीरों पर कल्पलता के बने हुये रेशमी वस्त्रों से वायु की जा रही है जिन पर चन्दन का जल छिड़का हुआ है और वे वस्त्र सुगन्धित हो गये हैं। उस समय उनके शवों की ओर देवसुन्दरियाँ सङ्केत कर रही हैं कि यह तुम्हारा शरीर पड़ा है और वे उसे कौतूहल तथा उत्कण्ठा से देख रहे हैं।'

यहाँ पर 'वीराः' में कर्ता कारक है और 'स्वदेहान्' में कर्मकारक, सभी पद्यों में प्रथमान्त तो कर्ता के विशेषण हैं और द्वितीयान्त कर्म के। इन विशेषणों से सिद्ध होता है कि दोनों का साम्य बहुत ही दूरवर्ती है और यह विश्वास करना असम्भव हो जाता है कि वस्तुतः दोनों एक ही हैं। शव के वर्णन में बीभत्स रस का परिपाक होता है और देवशरीरों के वर्णन मे श्रृङ्गार रस का, दोनों एक दूसरे के विरोधी रस हैं। इन दोनों विरोधी रसों के मध्य में वीररस का व्यवधान हो जाता है। अत एव यहाँ पर दोनों विरोधी रसों का एक साथ सन्निवेश दूषित नहीं कहा जा सकता। (प्रश्न) यहाँ पर बीभत्स का विभाव है शव और श्रृङ्गार का विभाव है देवशरीर इस प्रकार विभावभेद होने के कारण दोनों का विरोध सङ्गत ही नहीं होता। फिर वीररस को बीच में रखने से विरोध-निवृत्ति होती है यह कथन किस प्रकार सङ्गत कहा जा सकता है? (उत्तर) यहाँ पर विशेषणों द्वारा यह व्यक्त हो

रहा है कि उनकी दोनों दशाओं में इतना पार्थक्य था कि दोनों की एकता ही असम्भव प्रतीत हो रही थी। किन्तु वीर लोग देख रहे थे कि 'ये मेरे शरीर हैं।' इस देहत्वाभिमान से ही उन स्वर्गत वीरों का उन शरीरों के साथ तादात्म्य सिद्ध हो रहा था। अर्थात् वे वीर उन शरीरों को ही अपना स्वरूप समझ रहे थे, इसीलिये उन्हें दोनों दशाओं में विरोध मालूम पड़ रहा था। अन्यथा शरीरों के पृथक् होने पर विषयभेद में विरोध की शङ्का ही निर्मूल हो जाती। (प्रश्न) यहाँ पर एकमात्र वीररस की ही सत्ता मानी जानी चाहिये, शृङ्गार और बीभत्स ये दोनों वीररस के ही पोषक हैं; ये किस प्रकार स्वतन्त्र रस माने जा सकते हैं? (उत्तर) मेरा यहाँ पर यह मन्तव्य नहीं है कि ये दोनों रस स्वतन्त्र हैं। चाहे हम इन्हें स्वतन्त्र रसों की दृष्टि से देखें और चाहे वीररस का व्यभिचारी भाव मानें, दोनों अवस्थाओं में यह उदाहरण तो अनुपपन्न हो ही नहीं सकता। यह तो सिद्ध ही हो जाता है कि किसी तटस्थ रस को मध्य में रख देने से दो विरोधी रसों का विरोध जाता रहता है। स्वतन्त्र रस मानने पर तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। वीररस का अङ्ग मानने पर शृंगार और बीभत्स के स्थायीभाव रति और जुगुप्सा के एक साथ समाविष्ट होने का यह उदाहरण हो सकता है।

वीररस के समावेश की इस प्रकार की व्याख्या का सार यह है—इस पद्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'वे वीर....युद्धभूमि में पड़े हुये....अपने शरीरों को देख रहे थे।' इन शब्दों से वीरों के उत्साह इत्यादि की प्रतीति होती है। इससे वीररस पुष्ट हो जाता है। शेष पद्यखण्डों में देह के विशेषणों से बीभत्सरस व्यक्त होता है और दिव्य शरीरों के वर्णन से शृंगाररस व्यक्त होता है। 'वीर' देखना क्रिया का कर्ता है और 'देह' कर्म। कर्ता और कर्म के विशेषण समस्त वाक्य में बिखरे हैं जिनसे क्रमशः शृंगार और बीभत्स की अभिव्यक्ति होती है। जब उनके वैषम्य के कारण का विश्लेषण किया जाता है तब उनका उत्साहरूप वीररस सामने आ जाता है। इस प्रकार यद्यपि वीररस का मध्य में उपादान किया नहीं गया है किन्तु मध्य में उसका आस्वादन करते हुये ही हम शृंगार और बीभत्स का आस्वादन कर सकते हैं। अत एव इनका विरोध दोष के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। कालिदास ने निम्नलिखित एक ही पद्य में वीररस को मध्य में रखकर शृंगार और बीभत्स की योजना की है:—

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमांगः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
वामांगसंसक्तसुरांगनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श॥

(इन्दुमती के विवाह के बाद अज उन्हें लेकर अपनी राजधानी की ओर आ रहे हैं मार्ग में शत्रुओं ने घेर लिया है। उस समय जो महान् संहार हुआ उसका वर्णन करते हुये कवि कहता है कि—'किसी का मस्तक शत्रु की कृपाण से कट गया था, वह तत्काल विमान के प्रभुत्व को प्राप्त हो गया। उस समय उसके वामांग में देवांगना सुशोभित हो रही थी और वह भूमि पर नाचते हुये अपने कबन्ध को देख रहा था।) ॥२७॥

(ध्वन्या०) विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत्।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो ह्यसौ ॥२८॥

यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्धेऽन्यत्र च निरूपये-त्सहृदयः; विशेषतस्तु शृङ्गारे। स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधी समावेशं न सहते ॥२८॥

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥२९।

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवाज्ञानविषयता भवति। शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधान-भूतः ॥२९॥

(अनु०) 'सर्वत्र इसी प्रकार विरोध और अविरोध का निरूपण करना चाहिये और विशेषरूप से शृंगार में क्योंकि यह सुकुमारतम होता है' ॥२८॥

यथोक्त लक्षणों का अनुसरण करते हुये समस्त रसों के विषय में प्रबन्ध में और अन्यत्र विरोध और अविरोध का निरूपण करना चाहिये। विशेष रूप से तो शृंगार में। निस्सन्देह उसके रतिपरिपोषात्मक होने से तथा रति का भंग थोड़े निमित्त से भी सम्भव होने के कारण वह (शृंगार रस) सुकुमारतम होता है अर्थात् सभी रसों से थोड़ा भी विरोधी समावेश नहीं सह सकता ॥२८॥

'सत्कवि उसी रस में अवधान की अतिशयतावाला हो। निस्सन्देह उसमें प्रमाद शीघ्र ही उपलक्षित हो जाता है' ॥२९॥

सभी ही रसों की अपेक्षा सौकुमार्य की अधिकता से युक्त उसी रस में कवि अवधान-वान् अर्थात् प्रयत्नवान् हो। निस्सन्देह उसमें प्रमाद करनेवाले उस (कवि) की सहृदयों के मध्य में शीघ्र ही अज्ञानविषयता हो जाती है। शृङ्गार रस निस्सन्देह संसारियों के लिये नियम से अनुभव विषय होने के कारण सब रसों की अपेक्षा कमनीय होने से प्रधानभूत होता है ॥२९॥

(लो०) **अन्यत्र चेति।** मुक्तकादौ। स हि शृङ्गारः सुकुमारतम इति सम्बन्धः। सुकुमारस्तावद्रसजातीयः ततोऽपि करुणस्ततोऽपि शृङ्गार इति तमप्रत्ययः ॥२८-२९॥

(अनु०) 'और अन्यत्र' यह। मुक्तक इत्यादि में। सम्बन्ध इस प्रकार होता है—वह शृङ्गार निस्सन्देह सुकुमारतम होता है। इसका कोई भी जातीय सुकुमार होता है। उससे भी करुण और उससे भी शृङ्गार, इसलिये तम प्रत्यय किया गया है ॥२८-२९॥

रसविरोध की दृष्टि से शृङ्गार रस में विशेष सावधानता की आवश्यकता

तारावती—२८वीं और २९वीं कारिकाओं तथा उनकी वृत्ति का सार इस प्रकार है—

विरोध और अविरोध के लक्षण ऊपर बतला दिये गये हैं किसी भी सहृदय व्यक्ति को उन्हीं का आश्रय लेकर सभी रसों में विरोध और अविरोध का निरूपण कर लेना चाहिये फिर ये रस चाहे प्रबन्धगत हों चाहे मुक्तकगत। यह बात शृङ्गार के विषय में विशेष ध्यान

रखनी चाहिये। कारण यह है कि श्रृंगार रस की आत्मा रति का परिपोष ही है और रति स्वल्पतम विरोधी कारण के उपस्थित होते ही भंग हो जाती है। इसीलिये रति सबसे अधिक सुकुमार मानी जाती है। कहा जाता है कि यों तो रसत्व जाति ही सुकुमार होती है; किन्तु उसमें भी करुण रस अधिक सुकुमार होता है और करुण से भी श्रृंगार रस अधिक सुकुमार होता है। दूसरे रस विरोधी को कुछ न कुछ तो सहन कर लेते हैं किन्तु श्रृंगाररस थोड़े से भी विरोधी को सहन नहीं कर सकता।

२९ वीं कारिका में कहा गया है कि सभी रसों की अपेक्षा अधिक सुकुमारता धारण करनेवाले उस श्रृंगाररस में कवि को विशेष ध्यान रखना चाहिये। अर्थात् श्रृंगार की रचना करने के अवसर पर प्रयत्नपूर्वक विरोध और अविरोध को समझ लेना चाहिये। उसमें प्रमाद करनेवाला कवि शीघ्र ही सहृदयों के बीच अपमान तथा उपहास का पात्र बन जाता है। निस्सन्देह श्रृंगार रस सभी सांसारिक व्यक्तियों के लिये नियमपूर्वक अनुभव का विषय बनता है। इसीलिए वह सभी रसों की अपेक्षा अधिक कमनीय होता है तथा अधिक प्रधान माना जाता है ।।२८-२९।।

(ध्वन्या०)—एवञ्च सति—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ।।३०।।

श्रृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः श्रृङ्गाराङ्गानां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति यावद्विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। श्रृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशं गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।

(अनु०) ऐसा होने पर—

'अथवा विनेयों को उन्मुख करने के निमित्त काव्यशोभा के लिये ही उसके अंगों का उसके विरुद्ध रस से स्पर्श दूषित नहीं होता' ।।३०।।

श्रृङ्गार के अंगों का जो श्रृंगारविरोधी रस से स्पर्श वह न केवल अविरोध लक्षण के योग होने पर दूषित नहीं होता अपितु विनेयों को उन्मुख करने के लिये काव्यशोभा-सम्पादन के निमित्त किये जाने पर भी दूषित नहीं होता। श्रृङ्गाररस के अंगों से उन्मुख किये हुये होकर निस्सन्देह विनेय लोग विनय के उपदेशों को सुखपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। मुनियों ने निस्सन्देह सदाचारोपदेशरूप नाटक गोष्ठी विनेयजनों के हित के लिये ही अवतारित की है।

(लो०)—**एवञ्चेति**। यतोऽसौ सर्वसंवादीत्यर्थः। **तदिति**। श्रृङ्गारस्य विरुद्धा ये शान्तादयस्तेष्वपि तदङ्गानां श्रृङ्गाराङ्गानां सम्बन्धी स्पर्शो न दुष्टः। तथा भङ्ग्या रसान्तरगता अपि विभावानुभावाद्या वर्णनीया यया श्रृङ्गाराङ्गभावमुपागमन्।

यथा ममैव स्तोत्रे—

त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद्विलीयापि विलीयते मे ।।

इत्यत्र शान्तविभावानुभावानामपि शृङ्गारभंग्या निरूपणम् । विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थं नैव दुष्यतीति सम्बन्धः । वाग्रहणेन पक्षान्तरमुच्यते—**न केवलमिति** । वाशब्दस्यैतद्व्याख्यानम् । अविरोधलक्षणं परिपोषपरिहारादि पूर्वोक्तम् । विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थमपि वा विरुद्धरससमावेशः न केवलं पूर्वोक्तैः प्रकारैः, न तु काव्यशोभा विनेयोन्मुखीकरणमन्तरेणास्ते व्यवधानाव्यवधाने अपि केचित् लभ्येते यथान्यैर्व्याख्याते । **सुखमिति** । रञ्जनापुरःसरमित्यर्थः । ननु काव्यं क्रीडारूपं क्व च वेदादिगोचरा उपदेशकथा इत्याशङ्क्याह—**सदाचारेति** । **मुनिभिरिति** । भरतादिभिरित्यर्थः । एतच्च प्रभुमित्रसम्मितेभ्यः शास्त्रेतिहासेभ्यः प्रीतिपूर्वकं जायासम्मितत्वेन नाट्यकाव्यगतं व्युत्पत्तिकारित्वं पूर्वमेव निरूपितमस्माभिरिति न पुनरुक्तभयादिह लिखितम् ।

(अनु०) 'और ऐसा होने पर यह । अर्थात् क्योंकि यह सर्वसंवादी है । 'तत्' यह । शृंगार के विरोधी जो शान्त इत्यादि उसके अंगों का अर्थात् शृंगार के अंगों से सम्बद्ध स्पर्श दूषित नहीं होता । दूसरे रसों को प्राप्त भी विभाव अनुभाव इत्यादि उस भंगिमा के साथ वर्णन किये जाने चाहिये जिससे वे शृंगार के अंगभाव को प्राप्त हो जाएँ ।

जैसे मेरे ही स्तोत्र में—

'वह प्रगाढ वियोग से संतप्त चन्द्रकान्तमणि की बनी हुई आकृतिवाली पुतली के समान मेरी चेतना तुम प्राणेश्वर चन्द्रचूड का सहसा स्पर्श करती हुई विलीन होकर भी विलीन हो रही है ।'

यहाँ पर शान्त के विभावानुभावों का शृंगार भंगिमा से निरूपण किया गया है । यहाँ सम्बन्ध इस प्रकार है—विनेयों को उन्मुख करने के लिये जो काव्यशोभा उसके लिये दूषित नहीं होती । 'वा' ग्रहण से पक्षान्तर कहा गया है । उसी की व्याख्या करते हैं—'न केवल' यह । यह व्याख्या वा शब्द की है । अविरोध लक्षण परिपोष परिहार इत्यादि पहले कहा गया है 'अथवा विनेयों को उन्मुख करने के लिये जो काव्यशोभा उसके लिये भी विरुद्धरससमावेश (दूषित नहीं होता) केवल पूर्वोक्त प्रकारों से ही नहीं । काव्यशोभा विनेयों के उन्मुखीकरण के बिना नहीं होती । कोई व्यवधान और अव्यवधान भी उपलब्ध होते हैं जैसी कि दूसरों ने व्याख्या की है । 'सुखपूर्वक' यह । अर्थात् अनुरंजन के साथ । कहाँ तो क्रीडारूप काव्य और कहाँ वेदादिगोचर उपदेश कथा ?' यह शंका करके कहते हैं—'सदाचार इत्यादि' । 'मुनियों के द्वारा' यह । अर्थात् भरत इत्यादि के द्वारा । प्रभुमित्रसम्मित शास्त्र और इतिहासों की अपेक्षा प्रीतिपूर्वक जायासम्मित होने के कारण यह काव्यनाट्य-गत व्युत्पत्तिकारित्व हमने पहले ही निरूपित कर दिया है यहाँ पुनरुक्ति के भय से नहीं लिखा ।

अन्य रसों में शृङ्गार का समावेश

तारावती—पिछली कारिका में बतलाया गया था कि शृंगार मधुरतम और सुकुमारतम होता है । उसमें किसी भी दूसरे विरोधी रस का स्पर्श उसे मलिन बना देता है और उसके विरोध अविरोध में थोड़ी सी असावधानी करने से कवि उपहासास्पद बन जाता है । अब इस कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि शृंगार में तो किसी विरोधी रस का स्पर्श दूषित होता है

किन्तु किसी भी विरोधी या अविरोधी रस में शृंगार का स्पर्श उस रस को अधिक हृद्य बना देता है :—

'(विरोध परिहार के जो उपाय पहले बतलाये गये हैं उनके अतिरिक्त एक यह बात भी है कि) यदि कवि का मन्तव्य सहृदयों को अपनी ओर उन्मुख करना हो और इसके लिये कवि काव्यशोभा का आधान करना चाहे तो इसी मन्तव्य से शृंगाररस के अंगों का अपने विरोधी रस से स्पर्श दूषित नहीं कहा जा सकता ॥३०॥

आशय यह है कि शृंगार रस ही एक ऐसा रस है जो सभी व्यक्तियों के अन्तःकरणों से मेल खाता है। यह मनुष्य जाति के लिये ही नहीं पशु-पक्षियों तक के लिये हृद्य होता है। अतः इसकी ओर सर्वसाधारण की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप में ही हो जाती है। वैराग्य, कर्तव्य इत्यादि दूसरे तत्त्वों की ओर अवलेप के कारण राजपुत्रादिकों की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप में नहीं होती। अतः यदि उनको पहले शृंगार रस की ओर आकर्षित कर लिया जाय और वे शृंगार का आस्वादन करने की बुद्धि से हो किसी काव्यशोभा की ओर उन्मुख हों तो उस माध्यम से उन्हें विनय के उपदेश देना सरल हो जाता है। (यह उसी प्रकार होता है जैसे कड़ुई दवा को शहद इत्यादि किसी मधुर वस्तु से मिलाकर खिला दिया जाय।) कहने का सारांश यह है कि अन्य रसों के विभावानुभावादिकों का वर्णन ऐसी भंगिमा से करना चाहिये कि जिससे वे शृंगार के अंगभाव को प्राप्त हो सकें। एक उदाहरण लीजिये। शृंगार और शान्त दोनों सर्वथा विरोधी रस हैं। किन्तु अभिनवगुप्त ने अपने शङ्कर-स्तोत्र में शान्त का वर्णन शृंगार की भंगिमा के साथ किया है। अभिनवगुप्त ने लिखा है—

'मेरी चेतना चन्द्रकान्तमणि से बनी हुई पुतली जैसी रूपवती तरुणी के समान है; आप चन्द्र को अपने चूड़ा में धारण किये हुये हैं और आप उसके प्राणेश्वर हैं। आपके प्रगाढ वियोग से वह नितान्त सन्तप्त है और सहसा आपका संस्पर्श प्राप्तकर विलीन होती हुई भी पुनः विलीन हो जाती है।'

यहाँ पर कवि का आशय यह है कि जिस प्रकार कोई तरुणी अपने प्रियतम के वियोग में सांसारिक सन्तापों का अनुभव करती रहती है, फिर जब संयोगवश उसे अपने प्रियतम का संस्पर्श हो जाता है तब वह आनन्दातिरेक से अपने को भूल सी जाती है और प्रियतम में ही लीन हो जाती है; उसी प्रकार कवि की चेतना भी शिवरूपी प्रियतम से वियुक्त होकर ससारिक संतापों का अनुभव करती है और जब थोड़ा बहुत शङ्कर जी का संपर्स्श कर पाती है तब वह अपने को भी विस्मृत कर देती है और शङ्कर जी में ही लीन हो जाती है। 'विलीन होकर भी विलीन हो जाती है' का नायिका के पक्ष में अर्थ है कि नायिका का हृदय अपने प्रियतम के स्मरणमात्र से सर्वदा द्रवित हो जाता है जिससे नायिका प्रियतममय हो जाती है। शङ्कर जी के पक्ष में इसका अर्थ यह है कि मेरी चेतना प्रायः सर्वदा ही आप में विलीन रहती है; किन्तु उस समय तन्मयता इतनी अधिक नहीं आती कि मैं ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद भूल जाऊँ। किन्तु जब मेरी चेतना किञ्चित् भी आपका सान्निध्य प्राप्त करती है तब वह अपने को सर्वथा आप में खो देती है। यहाँ पर शान्तरस के विभावों और अनुभावों का निरूपण शृंगार की भंगिमा से किया गया है।

यहाँ पर 'वा' शब्द की योजना कुछ जटिल है। 'विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा' में 'वा' शब्द की प्रत्यक्ष योजना इस प्रकार मालूम पड़ती है कि 'विनेयों को उन्मुख करने के लिये अथवा काव्यशोभा से लिये।' किन्तु इस योजना में एक आपत्ति यह है कि सहृदयों का उन्मुखीकरण और काव्यशोभा ये दो पृथक् प्रयोजन हो जाते हैं। वह काव्यशोभा कैसी जिसकी ओर सहृदय उन्मुख न हों और सहृदयों के उन्मुखीकरण के अतिरिक्त काव्यशोभा का दूसरा प्रयोजन ही क्या ? अतः ये दोनों प्रयोजन एक ही होने चाहिये कि 'सहृदयों को उन्मुख करने के लिये जिस काव्यशोभा का सम्पादन किया जाता है...' इत्यादि। अतः लोचनकार ने इस 'वा' शब्द को इस प्रकार संयोजित किया है—'वा' शब्द का सम्बन्ध पिछले प्रकरण से है। यह शब्द पिछले प्रकरण का पक्षान्तर उपस्थित करता है। पहले यह बतलाया गया है कि वे कौन सी अवस्थायें हैं जिनसे दो विरोधी रसों का विरोध निवृत्त हो जाता है। 'वा' ग्रहण का आशय यह है किसी रस का परिपोष न करना इत्यादि पुराने तत्त्व ही विरोधनिवृत्ति में कारण नहीं होते अपितु एक और तत्त्व ऐसा है जो विरोध को निवृत्त कर देता है और वह यह है कि यदि अन्य रसों के साथ शृंगार की योजना कर दी जाय तो विरोध नहीं आता किन्तु शर्त यह है कि शृंगार की योजना काव्य की शोभा में कारण हो और काव्य की शोभा सहृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने में कारण हो। यदि यह बात पूरी हो जाती है तो शृंगार की अन्य रसों के साथ योजना सदोष नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर लोचन के 'व्यवधानाव्यवधाने अपि केचित् लभ्येते यथान्यैर्व्याख्याते' इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं है सम्भवतः इनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—विरोधपरिहार के पिछले प्रकरण में बतलाया गया था कि दो विरोधी रसों का यदि किसी तीसरे अविरोधी रस से व्यवधान हो जाता है तो विरोध का परिहार हो ही जाता है अव्यवधान में भी विरोध-परिहार होते देखा है व्यवधान और अव्यवधान दोनों प्रकार के काव्य देखे जाते हैं। व्यवधान की व्याख्या पहले की जा चुकी है। अव्यवधान में किस प्रकार विरोधपरिहार होता है यह कारिका में कहा गया है। यह व्याख्या अन्य आचार्यों ने की है जो लोचनकार के अनुसार बहुत असंगत नहीं है। किन्तु पूर्णरूप से इसका समर्थन भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस कारिका में 'वा' शब्द पिछले पूरे प्रकरण की ओर संकेत करता है। उसमें केवल व्यवधान में विरोधपरिहार की बात नहीं कही गई है अपितु अनेक और तत्त्व भी दिखलाये गये हैं। सहृदय सुखपूर्वक विनय के उपदेशों को ग्रहण कर लेते हैं' यहाँ सुखपूर्वक का अर्थ है अनुरञ्जन के साथ।

(ध्वन्या०) किञ्च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिगमत्वात्तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः।

(अनु०) और भी श्रृंगार के सकलजन-मनोहर और अभिराम होने से काव्य में उसके अङ्गों का समावेश शोभातिशय को पुष्ट करता है इस प्रकार से भी विरोधी रस में श्रृंगार के अङ्गों का समावेश नहीं होता। इससे—

'सचमुच रामायें मनोहर होती हैं; सचमुच विभूतियाँ रमणीय होती हैं; किन्तु जीवन मत्त अङ्गनाओं के अपाङ्गभङ्ग के समान चञ्चल होता है।'

इत्यादि रस में रस विरोध का दोष नहीं होता ॥३०॥

(लो०)—ननु श्रृङ्गाराङ्गताभङ्ग्या यद्विभावादिनिरूपणमेतावतैव किं विनेयोन्मुखीकारः ? न; अस्ति प्रकारान्तरं, तदाह—**किञ्चेति। शोभातिशयमिति।** अलङ्कारविशेषमुपमाप्रभृति पुष्यति सुन्दरीकरोतीत्यर्थः। यथोक्तम्—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इति। **मत्तांगनेति।** अत्र हि शान्तविभावे सर्वस्यानित्यत्वे वर्ण्यमाने न कस्यचिद्विभावस्य श्रृङ्गारभङ्ग्या निबन्धः कृतः किन्तु सत्यमिति परहृदयानुप्रवेशेनोक्तम्, न खल्वलीकवैराग्यकौतुकरुचिं प्रकटयामः, अपितु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं चलमिति, तत्र मत्तांगनापांगभंगस्य श्रृङ्गारं प्रति सम्भाव्यमानविभावानुभावत्वेनांगस्य लोलतायामुपमानतोक्तेति प्रियतमाकटाक्षो हि सर्वस्याभिलषणीय इति च तत्प्रीत्या प्रवृत्तिमान् गुडजिह्विकया प्रसक्तानुप्रसक्तवस्तुसंवेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यति विनेयः ॥३०॥

(अनु०) (प्रश्न) श्रृंगारता की भंगिमा से जो विभावादि निरूपण, क्या इतने से ही विनेयों का उन्मुखीकरण होता है ? (उत्तर) नहीं प्रकारान्तर है। वह कहते हैं—'और भी' यह। 'शोभातिशय' यह। अर्थात् अलङ्कार विशेष उपमा प्रभृति को पुष्ट करता है अर्थात् सुन्दर कर देता है। जैसे कहा गया है—काव्यशोभा के करने वाले धर्म गुण होते हैं और उसके अतिशय में हेतु अलङ्कार होते हैं। 'मत्तांगना' यह। यहाँ निस्सन्देह शान्त के विभाव सभी के अनित्यत्व के वर्णनीय होने पर किसी विभाव का श्रृंगार की भंगिमा के साथ निबन्धन नहीं किया गया है, किन्तु सचमुच इन शब्दों से परहृदयानुप्रवेश के द्वारा कहा गया है कि हम निस्सन्देह अलीक वैराग्य कौतुक की रुचि प्रकट नहीं कर रहे हैं अपितु जिसके लिये सब कुछ चाहा जाता है यह वही चञ्चल है। उसमें मत्तांगनापांगभंग की श्रृंगार के प्रति विभाव और अनुभावता की सम्भावना किये जाने से इसके अंग की चञ्चलता में उपमानता कही गई है और उस प्रकार प्रियतमा-कटाक्ष निस्सन्देह सभी का अभिलषणीय है इससे उसके प्रेम से प्रवृत्तिवाला विनेय गुडजिह्विका से प्रसक्त और अनुप्रसक्त वस्तु के संवेदन के द्वारा वैराग्य में पर्यवसित होता है ॥३०॥

काव्य का जाया सम्मितत्व

तारावती—(प्रश्न) काव्य तो क्रीड़ा रूप होता है और उपदेशकथा वेदादि सच्छास्त्रों से गृहीत होती है। अत एव इन दोनों का सम्बन्ध हो ही किस प्रकार सकता है ? (उत्तर) भरत इत्यादि मुनियों ने काव्यगोष्ठी विनेयजनों के हित के लिये ही प्रवर्तित की थी और उसका प्रयोजन था विनेय व्यक्तियों को सदाचार का उपदेश। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि नाट्य और काव्य का उपदेश जायासम्मित होता है। यह प्रभुसम्मित और

मित्रसम्मित शास्त्र और इतिहास की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह आनन्द के साथ व्युत्पत्ति को उत्पन्न करता है। यह विषय विस्तारपूर्वक पहले ही समझाया जा चुका है। अतः यहाँ पुनः उसका विवेचन पुनरुक्त मात्र होता। अत एव इस वास्तविकता को उसी प्रकरण में समझना चाहिये।

(प्रश्न) क्या काव्य में श्रृंगार के द्वारा विनेयों का उन्मुखीकरण इसी प्रकार सम्भव है कि विभाव और अनुभाव का निरूपण श्रृंगार के अंगों की भंगिमा के साथ किया जाय या और भी कोई उपाय सम्भव है? (उत्तर) इसके लिये एक उपाय और है श्रृंगार रस सभी प्रकार के व्यक्तियों के मन को हरण करने वाला होता है। अत एव काव्य में उसके अंगों का समावेश उपमाप्रभृति अलंकार विशेषों को भी पुष्ट कर देता है। यहाँ पर 'शोभातिशयं पुष्यति' इस वाक्य का प्रयोग किया गया है। शोभातिशय शब्द का अर्थ है अलंकार। कहा भी गया है कि काव्यशोभाकारक धर्मों को गुण कहा जाता है और उस शोभा को अधिक बढ़ानेवाले (अतिशय करनेवाले) धर्मों को अलंकार माना जाता है। श्रृंगार रस अलंकार को अधिक सुन्दर बना देता है जिससे काव्य की सुन्दरता बढ़ जाती है। इस रूप में भी विरोधी रस में श्रृंगार के अंग का समावेश विरोधी नहीं माना जा सकता। आशय यह है कि यदि विरोधी रस में श्रृंगार के अंग का समावेश विभाव, अनुभाव इत्यादि के रूप में न हो तो अलंकार के रूप में हो सकता है। इससे भी काव्य की शोभा बढ़ जाती है और रसास्वादन में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता। अत एव—

'यह सच है कि रमणियाँ भी मनोरमा होती हैं और सम्पत्तियाँ भी रमणीय होती हैं, किन्तु जीवन तो मतवाली ललनाओं के अपांगभंग (कटाक्ष-पात) की भाँति हो क्षणभंगुर होता है।'

यहाँ पर सभी की अनित्यता का वर्णन करना है जो कि शान्तरस का विभाव है। इसमें काव्यशोभा का आधान करने के लिये श्रृंगाररस की किसी भी भंगिमा का समावेश नहीं किया गया है। अपितु 'यह सच है·······रमणीय होती हैं' यह आधा वाक्य दूसरे के हृदय में अनुप्रविष्ट होकर कहा गया है। आशय यह है कि शान्तरस के विरोध में कोई रसिक व्यक्ति जो कुछ कह सकता है उसको शान्तरस के समर्थक ने पहले ही मान लिया और इस प्रकार अपने विरोधी के हृदय में प्रविष्ट हो गया। उसका कहना है कि जिन वस्तुओं में तुम रमणीयता के दर्शन करते हो उन्हें मैं भी अरमणीय नहीं कहता। मैं तुम्हारे अन्दर झूठे वैराग्य के कौतूहल की रुचि उत्पन्न करना नहीं चाहता। किन्तु ये रमणीय वस्तुयें जिस जीवन के लिये चाही जाती हैं वह जीवन ही स्थिर नहीं है, तब इसकी रमणीयता किस काम आएगी। यहाँ पर रमणियों और विभूतियों की अस्थिरता के लिए उपमा दी गई है मतवाली ललनाओं के कटाक्षपात की। इस उपमा को देखकर एकदम सम्भावना हो जाती है कि यहाँ पर अलङ्कार के विभाव नायक और नायिका का वर्णन किया गया होगा। मतवाली ललनाओं के कटाक्ष को कौन नहीं चाहेगा ? अत एव कटाक्ष के अनुराग से कोई विनेय व्यक्ति इस सूक्ति को ओर प्रवृत्त होगा और प्रसंग प्राप्त तथा उससे अनुगत वस्तु अनित्यता के ज्ञान के द्वारा वैराग्य में उसी प्रकार उसकी भावनाओं का पर्यवसान

हो जाएगा जिस प्रकार कोई रोगी गुड़ के संयोग से किसी कटु औषधि को ग्रहण कर लेता है। अत एव इस प्रकार के पद्यों में रसविरोध का दोष नहीं होता ॥३०॥

(ध्वन्या०) विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः ।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन् मुह्यति न क्वचित् ॥३१॥

इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदाभासानां परस्परं विरोधस्याविरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन् न क्वचिन्मुह्यति ।

(अनु०) इस प्रकार सुकवि रस इत्यादि के अविरोध और विरोध के विषय को जान कर काव्य करते हुये कभी मोहित नहीं होता ॥३१॥

इस प्रकार अर्थात् अभी अनन्तर कहे हुये प्रकार से रस इत्यादि के अर्थात् रस भाव तथा उनके अभ्यास के परस्पर विरोध और अविरोध के विषय को जानकर सुकवि अर्थात् काव्य के विषय में प्रतिभा की अतिशयता से युक्त काव्य करते हुये कहीं व्यामोह में नहीं पड़ता ॥३१॥

(लो०) तदेतदुपसंहरन् अस्योक्तस्य प्रकरणस्य फलमाह—विज्ञायेत्थमिति ॥३१॥

(अनु०) अतः इसका उपसंहार करते हुये इस प्रकरण का फल कहते हे—'इस प्रकार जानकर' यह ॥३१॥

रसविरोध का उपसंहार

तारावती—३०वीं कारिका तक रसों के परस्पर सम्बन्ध तथा उनके एक में समावेश के प्रकार पर विचार किया गया। ३१वीं कारिका इस प्रकरण का उपसंहार है। इसमें कहा गया है कि :—

'यदि कवि काव्यरचना के अवसर पर उक्त व्यवस्था का ध्यान रखता है तो वह अपनी काव्य क्रिया में कभी व्यामोह को प्राप्त नहीं होता ॥३१॥

रस इत्यादि में इत्यादि का अर्थ है रस, भाव, रसाभास और भावाभास, इनके परस्पर विरोध और अविरोध के विषय इसी पिछले प्रकरण में बतलाये जा चुके हैं। जब कोई अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति इनको समझकर काव्य रचना करता है तो उसमें त्रुटियाँ नहीं होतीं ॥३१॥

(ध्वन्या०) एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरूपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्यवाचकनिरूपणस्यापि तद्विषयस्य तत्प्रतिपाद्यते—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥३२॥

वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादिविषयेणौचित्येन यद्योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म । अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थी कृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम् ॥३२॥

(अनु०) इस प्रकार रस इत्यादि में विरोध और अविरोध निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन करके तद्विषयक व्यंजक वाच्यवाचक-निरूपण को भी वह प्रतिपादित कर रहे हैं—

'रस इत्यादि विषयक औचित्य के साथ वाच्यों और वाचकों की जो योजना यह महाकवि का मुख्य कर्म है' ।।३२।।

वाच्यों का अर्थात् इतिवृत्तिविशेषों का और वाचकों का अर्थात् तद्विषयकों (इतिवृत्त-विषयकों) का रसादि विषयक औचित्य के साथ जो योजन यह महाकवि का मुख्य कर्म है। यही महाकवि का मुख्य व्यापार है जो कि रस इत्यादि को ही मुख्यरूप में काव्यार्थ बनाकर उसकी व्यंजना के अनुरूप शब्दों और अर्थों का उपनिबन्धन ।।३२।।

(लो०) रसादिषु रसादिविषये व्यञ्जकानि यानि वाच्यानि विभावादीनि वाचकानि सुप्तिङादीनि तेषां यन्निरूपणं तस्येति। तद्विषयस्येति। रसादिविषयस्य। तदिति उपयोगित्वम्। **मुख्यमिति**। आलोकार्थी इत्यत्र यदुक्तं तदेवोपसंहृतम्। महाकवेरिति सिद्धवत्फलनिरूपणम् एवं हि महाकवित्वं नान्यथेत्यर्थः। इतिवृत्तविशेषाणामिति। इतिवृत्तं हि प्रबन्धवाच्यं तस्य विशेषाः प्रागुक्ताः—'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः विधिः कथाशरीरस्य' इत्यादिना। **काव्यार्थीकृत्येति**। अन्यथा लौकिकशास्त्रीयवाक्यार्थेभ्यः कः काव्यार्थस्य विशेषः? एतच्च निर्णीतमाद्योद्योते–काव्यस्यात्मा स एवार्थः इत्यत्रान्तरे ।।३२।।

(अनु०) रसादिकों में अर्थात् रस इत्यादि के विषय में व्यंजक जो वाच्य विभाव इत्यादि और वाचक जो सुप्तिङ् इत्यादि उनका जो निरूपण उसका। तद्विषय का अर्थात् रस इत्यादि विषय का। वह अर्थात् उपयोगित्व। 'मुख्य' यह। 'आलोकार्थी' यहाँ पर जो कहा गया था उसी का उपसंहार कर दिया गया। 'महाकवि का' यह। यहाँ सिद्ध के समान फल का निरूपण है। निस्सन्देह इस प्रकार महाकवित्व होता है अन्यथा नहीं 'इतिवृत्त विशेषों का' इतिवृत्त निस्सन्देह प्रबन्धवाच्य होता है उसकी विशेषतायें पहले की गई हैं—भावानुभावसञ्चार्यौचित्य चारुणः। विधिः कथा शरीरस्य' इत्यादि के द्वारा। 'काव्यार्थ करके' यह। अन्यथा लौकिक और शास्त्रीय वाक्यार्थों से काव्यार्थ की क्या विशेषता। यह प्रथम उद्योत में 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इस कारिका के बीच में निरूपित किया गया है।

रसप्रकरण में वाच्यवाचक की आवश्यकता और औचित्य का निर्देश

तारावती—ऊपर यह बतला दिया गया कि रस इत्यादि के विषय में विरोध और अविरोध के निरूपण करने का उपयोग क्या है। रस के व्यंग्य स्वरूप के विषय में उतना निरूपण कर देने के बाद स्वभावतः उसके व्यञ्जक रूप पर विचार करने का प्रश्न सामने आ जाता है। व्यञ्जक दो होते हैं—वाच्य और वाचक। वाच्य और वाचक की योजना पर ३३ वीं कारिका में संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा। इस ३२ वीं कारिका में यह दिखलाया जा रहा है कि रस इत्यादि के विषय और वाचक के निरूपण का उपयोग क्या है? यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि रस इत्यादि के विषय में वाच्य तो विभाव इत्यादि होते हैं और वाचक सुप् तिङ् (शब्द इत्यादि) होते हैं। इनके निरूपण का क्या उपयोग है यह इस कारिका मे बतलाया गया है। कारिका का आशय यह है—

'कवि का सर्वाधिक प्रधान कर्म है ऐसे वाच्य और वाचक की योजना करना जिसमें रस इत्यादि को दृष्टिगत रखते हुए औचित्य का पूरा निर्वाह किया गया हो।'

वाच्य का अर्थ है विशेष प्रकार के काव्यानुकूल इतिवृत्त की विशेषतायें और वाचक का अर्थ है उस इतिवृतविषयक शब्दों की योजना जिसमें रसादिविषयक औचित्य का ध्यान रक्खा गया हो। यह महाकवि का सर्वप्रमुख कर्तव्य है। यहाँ पर शब्द और अर्थ की योजना कवि का प्रमुख कर्तव्य बतलाया गया है। उससे यह भ्रम हो सकता है कि यहाँ पर-रस की अपेक्षा शब्द और अर्थ को प्रधानता दे दी गई है। अतः यहाँ पर शब्द और अर्थ तथा रस इनके महत्त्व के तारतम्य को समझ लेना चाहिये। प्रथम उद्योत में कहा गया है कि व्यंग्यार्थ के लिये उत्सुक कवि वाच्यार्थ का उसी प्रकार आदर करता है जैसे—आलोक का इच्छुक व्यक्ति दीपशिखा के लिये प्रयत्नवान् होता है। क्योंकि दीपशिखा आलोक का उपाय है और वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का उपाय है। अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिये महत्त्व तो होता ही है। यहाँ इन दोनों के महत्त्व का तारतम्य है। इस प्रकार 'आलोकार्थी....' इत्यादि प्रथम उद्योत की कारिका में जो बात कही गई थी उसी का उपसंहार यहाँ पर कर दिया गया। 'महाकवि का मुख्य कर्म है' इस वाक्य में महाकवि शब्द का प्रयोग सिद्ध हुये तत्त्व के फल का निरूपण है। आशय यह है कि कोई भी व्यक्ति महाकवि तभी हो सकता है जब वह रसानुग्रहण के औचित्य का पालन करते हुये शब्द और अर्थ का प्रयोग करे। औचित्य युक्त शब्दार्थ का प्रयोग कारण है और महाकवि होना कार्य। पहले शब्दार्थ का प्रयोग किया जायेगा बाद में महाकवित्व का पद प्राप्त होगा। किन्तु यहाँ पर उचित शब्दार्थ प्रयोग की सम्भावना में ही महाकवित्व को सिद्ध मानकर कह दिया गया है कि महाकवि को उचित शब्दार्थ का प्रयोग करना चाहिये। यहाँ वाच्य का अर्थ किया गया है इतिवृत्तविशेष। इतिवृत्त यह प्रबन्ध का वाच्य होता है। उसकी विशेषता पहले बतला दी गई है (देखें—तृतीय उद्योत की कारिका १० से १४ तक की व्याख्या) सारांश यह है कि महाकवि का मुख्य व्यापार यही है कि रस इत्यादि को ही काव्यार्थ मानकर उसकी अभिव्यञ्जना के अनुकूल शब्द और अर्थ का उपनिबन्धन करे। रस इत्यादि को काव्यार्थ बनाने का आशय यही है कि रस का होना ही काव्यवाक्यों की सबसे बड़ी विशेषता है। नहीं तो लौकिक तथा शास्त्रीय वाक्यों से काव्य का भेद ही क्या रहे। इसका निर्णय तो प्रथम उद्योत की ५ वीं कारिका में ही कर दिया गया कि 'वही रसादि रूप अर्थ काव्य की आत्मा है' ॥३२॥

(ध्वन्या०) एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्या एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥३३॥

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः। वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिता कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च्छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोः जीवभूताः इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

(अनु०) और यह रसादि तात्पर्य से काव्यनिबन्ध भरत इत्यादि में भी सुप्रसिद्ध ही है यह प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

'रस इत्यादि के अनुगुणत्व के साथ जो औचित्यवाला शब्द और अर्थ का व्यवहार वे ये दो वृत्तियाँ स्थित हैं' ॥३३॥

व्यवहार निस्सन्देह 'वृत्ति' यह कहा जाता है। उसमें रसानुगुण औचित्यवाला वाच्याश्रय जो व्यवहार वे ये कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ हैं। और वाचकाश्रय उपनागरिका इत्यादि हैं! वृत्तियाँ निस्सन्देह रस इत्यादि के तात्पर्य से सन्निवेशित की हुई काव्य और नाट्य की कोई विचित्र छाया को उत्पन्न करती हैं। रस इत्यादि निस्सन्देह उन दोनों के जीवनभूत हैं। इतिवृत्त इत्यादि तो शरीर ही हैं।

(लो०)—**एतच्चेति**। यदस्माभिरुक्तमित्यर्थः। भरतादावित्यादिग्रहणादलङ्कार-शास्त्रेषु परुषाद्या वृत्तय इत्युक्तं भवति। **द्वयोरपि तयोरिति**। वृत्तिलक्षणयोर्व्यवहार-योरित्यर्थः। **जीवभूता इति**। 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति ब्रुवाणेन मुनिना रसोचितेति-वृत्तसमाश्रयणोपदेशेन रसस्यैव जीवितत्वमुक्तम्। भामहादिभिश्च—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥

इत्यादिना रसोपयोगजीवितः शब्दवृत्तिलक्षणो व्यवहार उक्तः। **शरीरभूत-मिति**। 'इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरम्' इति मुनिः। नाट्यं च रस एवेत्युक्तं प्राक्।

(अनु०) 'और यह' यह। अर्थात् जो हम लोगों ने कहा है। भरत इत्यादि में इत्यादि शब्द से अलङ्कार शास्त्रों में परुषा इत्यादि वृत्तियाँ होती हैं यह बात कही गई है। 'उन दोनों का' अर्थात् वृत्तिलक्षण दोनों व्यवहारों का। 'जीव भूत' यह। 'वृत्तियाँ काव्य की माताएँ होती हैं' कहनेवाले मुनि ने रस के लिये उपयुक्त इतिवृत्त के आश्रय लेने का उपदेश देने के द्वारा रस का ही जीवितत्व कहा है। भामह इत्यादि ने भी—

'स्वादु काव्यरस से मिश्रित वाक्यार्थ का उपयोग करते हैं। पहले शहद को चाटकर कड़ई दवा पी लेते हैं।'

इत्यादि के द्वारा शब्दवृत्ति लक्षणवाला ऐसा व्यवहार बतलाया है जिसका जीवन रस ही है। 'शरीरभूत' यह। मुनि ने कहा है। 'इतिवृत्त नाट्य का शरीर होता है।' यह हम पहले ही कह चुके कि नाट्य तो रस ही होता है।

इस प्रसङ्ग में द्विविध वृत्तियों का निरूपण

तारावती—रस इत्यादि के तात्पर्य से वाच्य और वाचक की योजना कोई कपोलकल्पित सिद्धान्त नहीं है। इस को तो भरत इत्यादि आचार्यों ने भी मान्यता दी है। अतः यह सिद्धान्त परम्परानुमोदित ही है। यही बात इस ३३ वीं कारिका में कही गई है :—

'अर्थ और शब्द का इस रूप में व्यवहार करना कि उसमें रस के अनुगुण होने का सर्वथा ध्यान रखा गया हो और औचित्य का भी पालन किया गया हो, वृत्ति कहलाता है। ये वृत्तियाँ दो रूपों में स्थित हैं' ॥३३॥

(वृत्तियों के विषय में कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रकाश प्रस्तुत उद्योत की ४६ वीं और ४७ वीं कारिका में डाला जायगा। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि आनन्दवर्धन से पहले नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र ये दो पृथक्-पृथक् शास्त्र थे। जहाँ आनन्दवर्धन को काव्यशास्त्र की अनेक नवीन दिशाओं के उन्मीलन का श्रेय प्राप्त है वहाँ उनका एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह भी है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों के एकीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया। वृत्तियों के विषय में भी आनन्दवर्धन के पहले दो प्रकार की वृत्तियाँ चल रही थीं एक तो भरत की नाट्यवृत्तियाँ जिनमें कैशिकी इत्यादि आती थीं और दूसरी उद्भट इत्यादि की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ जो कि काव्यवृत्तियाँ कही जा सकती थीं। इनके साथ ही काव्य में वैदर्भी इत्यादि रीतियाँ भी चल रही थीं। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इन काव्यरीतियों को रसोचित शब्दव्यवहार कहकर वृत्तियों से इनके अद्वैत की स्थापना की। इसीलिये आगे चलकर मम्मट को कहने का अवसर प्राप्त हुआ कि—'केषांचिदेताः वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः' और पण्डितराज का 'वैदर्भी वृत्ति' शब्द का प्रयोग उपपन्न हो सका। सारांश यह है कि आनन्दवर्धन के पहले वृत्तियाँ दो प्रकार की थीं कैशिकी इत्यादि नाटचवृत्तियाँ और उपनागरिका इत्यादि काव्यवृत्तियाँ।)

'वृत्ति' शब्द 'वृत्' धातु से संज्ञा में क्तिन् प्रत्यय होकर बना है। इसका अर्थ है वर्तन करना या व्यवहार करना। काव्य के पक्ष में व्यवहार दो प्रकार का हो सकता है—अर्थ का व्यवहार और शब्द का व्यवहार। यदि अर्थ का व्यवहार रसानुगुण तथा औचित्ययुक्त हो तो उसे कैशिकी इत्यादि नाटचवृत्तियों में अन्तर्भूत कर दिया जाता है और यदि शब्दव्यवहार रसानुगुण तथा औचित्यवान् हो तो उसे उद्भट इत्यादि की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों में सन्निविष्ट कर दिया जाता है। (यहाँ पर नाटचवृत्ति और काव्य-वृत्ति दोनों के एकीकरण के लिये आनन्दवर्धन ने नाटचवृत्तियों को अर्थवृत्ति कहा है और काव्यवृत्तियों को शब्दवृत्ति। इस मान्यता का आधार यह है कि भरत ने वृत्तियों में सभी प्रकार के अनुभावों और चेष्टाओं को सन्निविष्ट किया है। ये अनुभाव और चेष्टायें अर्थ से ही सम्बन्ध रखती हैं। अतः आनन्दवर्धन का यह मानना कि नाटचवृत्तियाँ वस्तुतः अर्थवृत्तियाँ हैं, ठीक ही है। काव्यवृत्तियों का व्यवहार अधिकतर वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग में किया जाता है जिसमें कोमल, कठोर इत्यादि वर्णों के आधार पर वृत्तियों का निरूपण किया जाता है। अतः यह स्पष्ट ही है कि ये शब्दवृत्तियाँ हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने नाटच और काव्यवृत्तियों का सफल तथा सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है।) शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के व्यवहारों का नाटच और काव्य दोनों में यदि रस इत्यादि के तात्पर्य से सन्निवेश किया जाता है तो दोनों की एक अनिवर्चनीय छाया उत्पन्न हो जाती है। आशय यह है कि दोनों वृत्तियाँ नाटच और काव्य दोनों में समान रूप से उपयोगिनी होती हैं, ऐसा नहीं है कि कोई एक प्रकार की वृत्ति नाटच के लिये ही उपयोगी हो और दूसरे प्रकार की काव्य के लिये ही। दोनों प्रकार की वृत्तियों का जीवन रस ही है। इतिवृत्त तो केवल शरीरस्थानीय ही होते हैं। मुनि ने लिखा है कि वृत्तियों की माता काव्य (कविता) ही है। मुनि ने यह भी कहा है कि इतिवृत्त नाटच

का शरीर होता है और ऐसे इतिवृत्त का आश्रय लेने का उपदेश दिया है जो रस के लिये उपयुक्त हो। नाटच या अभिनय वस्तुतः रस ही होता है यह पहले समझाया जा चुका है। इस प्रकार भरत मुनि का मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है, रस उसका जीवन है और वृत्तियों को आश्रय देनेवाला काव्य ही होता है। जो बात भरत मुनि ने कही है वह भामह के इस कथन से भी सिद्ध होती है—

'जिस प्रकार पहले शहद को चाटकर कड़ुई औषधि पी ली जाती है उसी प्रकार स्वादिष्ट काव्यरस से भलीभाँति मिले हुये वाक्यार्थ का उपभोग करते हैं।'

इससे भी यही सिद्ध होता है कि भामह शब्दवृत्तिरूप व्यवहार का जीवन रस के उपयोग को ही मानते हैं। इस प्रकार नाटचशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों से सिद्ध हो जाता है कि रस जीवन है और इतिवृत्त शरीर।

(ध्वन्या०)—**अत्र केचिदाहुः—'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तः न तु जीवशरीरव्यवहारः। रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते न तु रसादिभिः पृथग्भूतम्' इति। अत्रोच्यते—यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरम्। एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन्। न चैवम्, तथा चैतत्प्रतिपादितमेव प्रथमोद्योते।**

(अनु०) यहाँ कुछ लोग कहते हैं—'रसादिकों का इतिवृत्त के साथ गुण-गुणी व्यवहार उचित है, जीव-शरीर व्यवहार नहीं। क्योंकि वाच्य निस्सन्देह रसादिमय ही प्रतिभासित होता है रसादिकों से पृथग्भूत नहीं, यह। यहाँ पर कहा जा रहा है—यदि रसादिमय ही वाच्य होता है जैसे गौरत्वमय शरीर, ऐसी दशा में जैसे शरीर के प्रतिभासित होने पर नियम से ही सभी के लिये गौरत्व प्रतिभासित होता है उसी प्रकार वाच्य के साथ ही रस इत्यादि भी सहृदय और असहृदय सभी के लिए प्रतिभासित होने लगें। ऐसा है नहीं, वैसे यह प्रथम उद्योत में ही प्रतिपादित कर दिया गया।

(लो०)—**गुणगुणिव्यवहार इति।** अत्यन्तसम्मिश्रतया प्रतिभासनाद्धर्मधर्मिव्यवहारो युक्तः। **न त्विति।** क्रमस्यासंवेदनादिति भावः। **प्रथमेति।** 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते' इत्यादिना प्रतिपादितमदः।

(अनु०) 'गुण-गुणि व्यवहार' यह। अत्यन्त सम्मिश्रित रूप में प्रतिभासित होने के कारण धर्मधर्मी व्यवहार उचित है। 'नतु' यह। भाव यह है कि क्रम के असंवेदन के कारण। 'प्रथम' यह। 'शब्दार्थ-शासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते' के द्वारा उसका प्रतिपादन कर दिया गया।

इतिवृत्त और रस का सम्बन्ध

तारावती—यहाँ पर यह एक विवाद उठ खड़ा हुआ है कि इतिवृत्त और रस का क्या सम्बन्ध है। दो प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं (१) गुण और गुणी का सम्बन्ध अथवा धर्म और धर्मी का सम्बन्ध, तथा (२) जीव और शरीर का सम्बन्ध। आलोककार ने जीव और शरीर का सम्बन्ध माना है। इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि काव्य के इतिवृत्त और रस में शरीर और जीव का सम्बन्ध मानना उचित नहीं। क्योंकि शरीर पहले होता

है और जीव का प्रवेश उसमें बाद में होता है। इसके अतिरिक्त एक समय ऐसा भी होता है जब शरीर तो होता है किन्तु जीव नहीं होता। इस प्रकार जीव से पृथक् शरीर रह सकता है और उसमें एक क्रम होता है कि पहले शरीर और बाद में जीव। किन्तु रस के प्रसङ्ग में ऐसा नहीं होता। न उसमें पौर्वापर्य क्रम होता है और न पृथग्भाव। काव्य में वाच्य प्रतीति सर्वदा रसादिमय ही होती है। रसादि से व्यतिरिक्त वाच्य की प्रतीति कभी नहीं होती। अतः जीव और शरीर का व्यवहार ठीक नहीं। अब दूसरे सम्बन्ध को लीजिये—रस गुण अथवा धर्म है और इतिवृत्त गुणी अथवा धर्मी है। यही सम्बन्ध ठीक जँचता है। गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं रहता और धर्म कभी धर्मी से पृथक् नहीं रहता। इनकी प्रतीति अत्यन्त सम्मिलित रूप में ही होती है। यही बात रस के विषय में लागू होती है। अत्यन्तसम्मिश्रतारूप धर्म इनके अन्दर विद्यमान है जिससे ये गुण और गुणी अथवा सम्बन्ध और सम्बन्धी कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। (सिद्धान्ती) इस पर मेरा निवेदन यह है कि यदि आप इतिवृत्त को गुणी मानते हैं और रस को गुण मानते हैं, क्योंकि वाच्य सर्वदा रसादिमय ही होता है, तो जिस प्रकार शरीर के प्रतिभासित होनेपर नियमपूर्वक गौरत्व इत्यादि गुणों की प्रतीति अवश्य होती है उसी प्रकार वाच्य के प्रतिभासित होने के साथ ही रस भी अवश्य ही प्रतिभासित होना चाहिये। उसमें यह नियम नहीं होना चाहिये कि रस की प्रतीति केवल सहृदयों को ही होती है असहृदयों को नहीं होती। गुण और गुणी की प्रतीति सभी व्यक्तियों को चाहे वे सहृदय हों चाहे असहृदय, एक जैसी होती है। किन्तु रस और इतिवृत्त की प्रतीति सभी को एक जैसी नहीं होती। इस बात का प्रतिपादन प्रथम उद्योत में किया जा चुका है—'उस रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान केवल शब्दानुशासन और अर्थानुशासन के ज्ञान से ही नहीं होता उसका परिज्ञान तो काव्यार्थतत्त्ववेत्ता ही कर सकते हैं।'

(ध्वन्या०)—स्यान्मतं, रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषतः संवेद्यं वाच्यानां रसादिरूपत्वमिति। नैवम्; यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपानतिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते तथा रसादीनामपि विभावानुभावादिरूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव लक्ष्येत। न चैवम्, न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात्क्रमोऽवश्यंभावी। स तु लाघवान्न प्रकाश्यते 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादयः' इत्युक्तम्।

(अनु०) रत्नों के जात्यत्व के समान प्रतिपत्तिविशेष के आधार पर यदि वाच्यों का रसादिमयत्व आपका अभिमत हो तो ऐसा नहीं। क्योंकि जैसे जात्यत्व के रूप में प्रतिभासित होनेवाले रत्न में उसका रत्नस्वरूपानतिरिक्तत्व ही लक्षित होता है उसी प्रकार रसादिकों का भी विभावानुभावादि वाच्यानतिरिक्तत्व ही लक्षित हो। किन्तु ऐसा होता नहीं। किसी के लिए यह अवगम नहीं होता कि विभावानुभाव व्यभिचारी ही रस होते हैं और इसीलिए विभाव इत्यादि की प्रतीति से अविनाभाविनी रस इत्यादि की प्रतीति होती है। इस प्रकार उन दोनों प्रतीतियों के कार्यकारण भाव के द्वारा व्यवस्थित किये जाने से क्रम अवश्यंभावी है।

यह लाघव के कारण प्रकाशित नहीं होता अतः रस इत्यादि अलक्ष्यक्रम होते हुये ही व्यङ्ग्य होते हैं यह कहा गया है !

(लो०)—ननु यद्यस्य धर्मरूपं तत्तत्प्रतिभाने सर्वस्य नियमेन भातीत्यनैकान्तिकमेतत्। माणिक्यधर्मो हि जात्यत्वलक्षणो विशेषो न तत्प्रतिभासेऽपि सर्वस्य नियमेन भातीत्याशङ्कते—**स्यादिति**। एतत्परिहरति—**नैवमिति**। एतदुक्तं भवति—अत्यन्तोन्मग्नस्वभावत्वे सति तद्धर्मत्वादिति विशेषणमस्माभिः कृतम्। उन्मग्नरूपता च न रूपवज्जात्यत्वस्य, अत्यन्तलीनस्वभावत्वात्। रसादीनां चोन्मग्नतास्त्येवेत्येव केचिदेतं ग्रन्थमनैषुः।

अस्मद्गुरवस्त्वाहुः—अत्रोच्यत इत्यनेनेदमुच्यते—यदि रसादयो वाच्यानां धर्मास्तथा सति द्वौ पक्षौ रूपादिसदृशा वा स्युर्माणिक्यगतजात्यत्वसदृशा वा। न तावत्प्रथमः पक्षः, सर्वान् प्रति तथानवभासात्। नापि द्वितीयः, जात्यत्ववदनतिरिक्तत्वेनाप्रकाशनात्। एष च हेतुराद्येऽपि पक्षे सङ्गच्छत एव। तदाह—स्यान्मतमित्यादिना न चैवमित्यन्तेन। एतदेव समर्थयति—न **हीति**। **अत एव चेति**। यतो न वाच्यधर्मत्वेन रसादीनां प्रतीतिः, यतश्च तत्प्रतीतौ वाच्यप्रतीतिः सर्वथानुपयोगिनी तत एव हेतोः क्रमेणावश्यं भाव्यं सहभूतयोरुपकारायोगात्। स तु सहृदयभावनाभ्यासान्न लक्ष्यते अन्यथा तु लक्ष्येतापीत्युक्तं प्राक्। यस्यापि प्रतीतिविशेषात्मैव रस इत्युक्तिः प्राक्तस्यापि व्यपदेशिवत्त्वाद्रसादीनां प्रतीतिरित्येवमन्यत्र।

(अनु०) निस्सन्देह जो जिसका धर्मरूप होता है वह उसके प्रतिभान में सभी के लिये नियमतः प्रतीत ही होता है यह अनैकान्तिक है। जात्यत्वलक्षण माणिक्य धर्मविशेष उसके प्रतिभास में भी सभी के लिये नियमपूर्वक प्रतीत नहीं होता यह शङ्का कर रहे हैं—'स्यात् मतम्' इत्यादि। इसका परिहार करते हैं—ऐसा नहीं यह। यहाँ यह कहा गया है—हमने 'अत्यन्त उन्मग्न स्वभाववाला होते हुये उसका धर्म होने के कारण यह विशेषण किया है। और उन्मग्नरूपता तो अत्यन्त लीन स्वभाववाला होने से रूप के समान जात्यत्व की नहीं होती। और रस इत्यादिकों की उन्मग्नता है ही—कुछ लोगों ने इस ग्रन्थ को इस प्रकार लगाया है।

हमारे गुरु लोग तो कहते हैं—'अत्रोच्यते' इस प्रकरण के द्वारा यह कहा जा रहा है—यदि रस इत्यादि वाच्यों के धर्म हैं तो ऐसा होने पर दो पक्ष हैं या तो रूप इत्यादि के सदृश हो या माणिक्यगत जात्यत्व के सदृश हो। प्रथम पक्ष तो नहीं हो सकता क्योंकि सबके प्रति वैसा अवभास नहीं होता। द्वितीय भी नहीं क्योंकि जात्यत्व के समान अनतिरिक्त रूप में प्रकाशन नहीं होता। और यह हेतु प्रथम पक्ष में भी सङ्गत हो जाता है। इसी का समर्थन करते हैं-'नहि' इत्यादि। 'और इसीलिये' यह। क्योंकि वाच्यधर्म के रूप में रस इत्यादि की प्रतीति नहीं होती और क्योंकि उसकी प्रतीति में वाच्यप्रतीति सर्वथा अनुपयोगिनी नहीं होती इसी हेतु से क्रम अवश्य होना चाहिये, क्योंकि साथ में होनेवालों का उपकार का योग होता ही नहीं। वह सहृदय भावना के अभ्यास के कारण लक्षित नहीं होता अन्यथा लक्षित भी हो

यह पहले कहा गया है जिसकी पहले की यह उक्ति है कि प्रतीतिविशेषात्मक ही रस होता है उसके भी मत में व्यपदेशिवद्भाव से (भेदारोप) से रस इत्यादि की प्रतीति कही जाती है। ऐसा ही अन्यत्र भी (समझना चाहिये)।

तारावतो—(प्रश्न) गुणी के साथ गुण का अथवा धर्मी के साथ धर्म का अवश्य ही भान होता है इस हेतु में अनैकान्तिक सव्यभिचार हेत्वाभास है। गुण दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे गुण होते हैं जिनका भान गुणी के साथ अवश्य होता है जैसे गौरवर्ण का भान शरीर के साथ अवश्य होता है। दूसरे वे गुण होते हैं जिनका भान गुणी के साथ अनिवार्य रूप से अवश्य ही नहीं होता। जैसे माणिक्य का एक विशेष प्रकार का धर्म होता है जात्यत्व। इस धर्म के होने पर माणिक्य में उत्कृष्टता आ जाती है। माणिक्य के प्रतिभास होने पर उसके देखनेवाले सभी व्यक्ति उस जात्यत्व धर्म को नहीं जान पाते। उस धर्म को विशेष प्रकार के देखनेवाले ही जान पाते हैं। इसी प्रकार वाच्य के धर्म रस इत्यादि की प्रतीति सभी वाच्यार्थाभिज्ञ व्यक्तियों को नहीं होती। उसे विशेष प्रकार के प्रतिपत्ता (सहृदय) व्यक्ति ही जान पाते हैं। इस प्रकार इनका धर्मी और धर्म का सम्बन्ध ही ठीक है शरीर और जीव का सम्बन्ध ठीक नहीं। (उत्तर) किसी भी तत्त्व के गुण दो प्रकार के होते हैं एक तो उन्मग्न स्वभाववाले और दूसरे निमग्न स्वभाववाले। उन्मग्न स्वभाववाले गुण केवल उसी द्रव्य में नहीं रहते जब-कि निमग्न स्वभाववाले गुण केवल उसी द्रव्य में रहते हैं। जैसे गौरत्व इत्यादि ऐसे गुण हैं जो पुरुष में भी रहते हैं और अन्यत्र भी। अतः ये उन्मग्न स्वभाववाले गुण कहे जा सकते हैं। इसके प्रतिकूल जात्यत्व ऐसा गुण है जो रत्न को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, अतः यह निम-ग्नस्वभाववाला गुण है। जब हम यह कहते हैं कि गुणी के प्रतीत होने पर गुण की प्रतीति आवश्यक होती है तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि उन्मग्न स्वभाववाले गुण द्रव्य के साथ अवश्य प्रतीत होते हैं। गौरत्व उन्मग्न स्वभाववाला होता है, अतः द्रव्य के साथ उसकी प्रतीति निश्चित ही है। जात्यत्व अत्यन्त लीन स्वभाववाला होता है जो रत्न से भिन्न अन्यत्र रहता ही नहीं। अतः रत्न की प्रतीति के साथ जात्यत्व की प्रतीति अपरिहार्य नहीं है। अत एव गौरत्व और जात्यत्व दोनों धर्मों में भेद हो गया। रस गौरत्व के समान उन्मग्न-स्वभाववाला ही है। यदि रस जात्यत्व के समान इतिवृत्त का स्वरूपानतिरिक्त धर्म होता तो वह भी विभाव अनुभाव इत्यादि वाच्य से अव्यतिरिक्त ही प्रतीत होता। किन्तु ऐसा होता नहीं है। विभावादि वाच्य से सर्वथा भिन्न ही प्रतीत होते हैं। अत एव यदि रस और इतिवृत्त का धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध माना जायगा तो उसमें यह बात सिद्ध न हो सकेगी कि रसानु-भूति केवल सहृदयों को ही होती है। अतः मानना पड़ेगा कि वाच्यार्थ सदा रसादिमय ही होता है, यह सिद्धान्त ठीक नहीं। अत एव इनके सम्बन्ध को जीव और शरीर का सम्बन्ध मानना ही ठीक नहीं है। यह है कुछ लोगों के मत में इस ग्रन्थ की व्याख्या।

'इसपर मेरा निवेदन है''''मानना ठीक है' इस सन्दर्भ की व्याख्या आचार्य अभिनव-गुप्त के गुरुओं ने इस प्रकार की है—'यदि रस इत्यादि वाच्य के धर्म माने जायेंगे तो वे या तो रूप इत्यादि के समान होंगे या माणिक्य के जात्यत्व गुण के समान। रूप इत्यादि के

समान हो ही नहीं सकते क्योंकि ऐसी दशा में उसकी प्रतीति सबको होने लगेगी । माणिक्य-गत जात्यत्व के समान भी नहीं हो सकते क्योंकि उनका प्रकाशन जात्यत्व के समान अनतिरिक्त या अभिन्नरूप में नहीं होता। अनतिरिक्त रूप में प्रकाशित न होना एक ऐसा हेतु है जो रस को दोनों प्रकार के धर्मों से पृथक् सिद्ध कर देता है। जिस प्रकार जात्यत्व माणिक्य से भिन्न नहीं रहता उसी प्रकार गौरत्व भी स्वाश्रय द्रव्य से पृथक् नहीं रहता। किन्तु रस इत्यादि का विभावानुभाव इत्यादि से वही अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार रस का इतिवृत्त से गुण-गुणी भाव या धर्म-धर्मी भाव सम्भव नहीं है। अत एव इनका जीव और शरीर का सम्बन्ध मानना ही ठीक है।

रसप्रतीति में क्रमकल्पना पर विचार

ऊपर जो जीव-शरीर व्यवहार स्वीकार किया गया है इसमें सबसे बड़ी अनुपपत्ति यही शेष रह जाती है कि शरीर कभी जीव से पृथग्भूत भी रहता है। शरीर पहले होता है और जीव बाद में उसमें प्रवेश करता है। यह पौर्वापर्य क्रम रस और इतिवृत्त में नहीं होता। रस और इतिवृत्त का प्रतिभास सर्वदा समकालिक ही होता है। अतः इनका जीव-शरीर व्यवहार ठीक नहीं है। इसका उत्तर यह है कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि विभाव इत्यादि का रस इत्यादि से अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है। यह कोई नहीं समझता कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव ही रस होते हैं। किन्तु रस इत्यादि की प्रतीति विभाव इत्यादि की प्रतीति के बिना हो भी नहीं सकती। अत एव हम उनमें गुण-गुणीभाव अथवा धर्म-धर्मीभाव न मानकर कार्य-कारणभाव सम्बन्ध ही मानेंगे। कार्य-कारण भाव में क्रम मानना अनिवार्य है अतः रस और इतिवृत्त में भी क्रम मानना ही पड़ेगा। सारांश यह है कि क्रम मानने में दो बहुत ही सबल तर्क विद्यमान हैं—एक तो रस इत्यादि की प्रतीति वाच्यधर्मत्व के रूप में होती है और दूसरे रस इत्यादि की प्रतीति में वाच्य की प्रतीति का सर्वथा अनुपयोग नहीं होता। अतः क्रम मानना ही पड़ेगा क्योंकि जो तत्त्व एक साथ होते हैं उनमें न तो कार्यकारण भाव होता है और न उपकार्योपकारक भाव। यदि हम वाच्य और व्यंग्य का उपकार्योपकारक भाव मानेंगे तो पौर्वापर्यक्रम मानने के लिये बाध्य हो जायेंगे। यह दूसरी बात है कि जिन लोगों ने सहृदय-भावना का अभ्यास किया है उनके उस अभ्यास के कारण वाच्य के बाद व्यंग्य की इतनी शीघ्रता से प्रतीति होती है कि वे जान ही नहीं पाते कि उन दोनों तत्त्वों में कोई पौर्वापर्य क्रम है। उन्हें तो वाच्य और व्यंग्य दोनों एक साथ होते हुये दिखलाई देते हैं। जिन्होंने सहृदयता की भावना का अभ्यास नहीं किया है यदि वे सरस काव्य पढ़ें तो उन्हें पहले वाच्य की और फिर व्यंग्य की प्रतीति हो भी सकती है। (कभी-कभी तो ऐसे व्यक्ति केवल वाच्यार्थ समझ पाते हैं और रसानुभूति के लिये उनका ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता पड़ जाती है।) इन सब बातों की व्याख्या प्रथम तथा द्वितीय उद्योत में की जा चुकी है। जो लोग कहते हैं कि विशेष प्रकार की प्रतीति ही रस की आत्मा है अर्थात् वे लोग प्रतीति को ही रस कहते हैं उनके मत में 'रस की प्रतीति' यह भेदमूलक शब्द संगत नहीं होता। अतः उनके मत में व्यपदेशिवद्भाव से 'रस की प्रतीति' यह संगत हो जाता है। एक ही वस्तु में भेद का आरोप करके सम्बन्ध कारक का प्रयोग

करना व्यपदेशिवद्भाव कहलाता है। जैसे राहु एक राक्षस के सिर को ही कहते हैं। किन्तु आरोपित भेद को लेकर 'राहु का सिर' इस शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। इसी प्रकार रस की प्रतीति के विषय में भी समझना चाहिये।

(ध्वन्या०) **ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति। किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः।**

(अनु०) (प्रश्न) शब्द ही प्रकरण इत्यादि से संयुक्त होकर वाच्य और व्यङ्ग्य की एक साथ ही प्रतीति उत्पन्न कर देता है क्रमकल्पना की क्या आवश्यकता? शब्द की वाच्यप्रतीति का परामर्श ही व्यञ्जकत्व में निबन्धन नहीं है। इस प्रकार—गीत इत्यादि शब्दों से भी रस की अभिव्यक्ति होती है। उनमें बीच में वाच्य का परामर्श नहीं होता।

(लो०)—ननु भवन्तु वाच्यादतिरिक्ता रसादयस्तत्रापि क्रमो न लक्ष्यत इति तावत्त्वयैवोक्तम्। तत्कल्पने च प्रमाणं नास्ति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिमन्तरेण रसप्रतीत्युदयस्य पदविरहितस्वरालापगीतादौ शब्दमात्रोपयोगकृतस्य दर्शनात्। ततश्चैकयैव सामग्र्या सहैव वाच्यं व्यङ्ग्याभिमतं च रसादि भातीतिवचनव्यञ्जनव्यापारद्वयेन न किञ्चिदिति तदाह—**नन्विति**। यत्रापि गीतशब्दानामर्थोऽस्ति तत्रापि तत्प्रतीतिरनुपयोगिनी ग्रामरागानुसारेणापहस्तितवाच्यानुसारतया रसोदयदर्शनात्। न चापि सा सर्वत्र भवन्ती दृश्यते, तदेतदाह—**न चेति**। तेषामिति गीतादिशब्दानाम्। आदिशब्देन वाद्यविलपितशब्दादयो निर्दिष्टाः।

(अनु०) (प्रश्न) वाच्य से अतिरिक्त रस इत्यादि हों, वहाँ पर भी क्रम लक्षित नहीं होतो यह तो तुमने ही कहा है। और उसकी कल्पना में प्रमाण (भी) नहीं है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से अर्थप्रतीति के बिना ही पद से रहित स्वर आलाप गीत इत्यादि में शब्द-मात्र से उपकृत रस इत्यादि की प्रतीति देखी जाती है। इससे एक ही सामग्री से साथ ही व्यंग्याभिमत वाच्य रसादि शोभित होते हैं; अतः वचन और व्यञ्जन इन दो व्यापारों से कोई प्रयोजन नहीं। वही कहते हैं—'ननु' इत्यादि। जहाँ पर भी गीत-शब्दों का अर्थ होता है वहाँ पर भी उनकी प्रतीति अनुपयोगिनी होती है क्योंकि ग्रामराग के अनुसरण से वाच्यार्थ प्रतीति का तिरस्कार करके रसोदय देखा जाता है। वह (वाच्य प्रतीति) सर्वत्र होती हुई देखी भी नहीं जाती। यह वही कहते हैं—'और नहीं'। उनका अर्थात् गीत इत्यादि शब्दों का। आदि शब्द से वाद्य विलपित इत्यादि शब्द निर्दिष्ट किये गये हैं।

तारावती—(प्रश्न) यह मान भी लें कि रस इत्यादि वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त होते हैं, किन्तु फिर भी आपने ही कहा है कि वाच्यार्थ और रसादि की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होते। ऐसी दशा में क्रम की कल्पना करने में ही क्या प्रमाण है? यदि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर परीक्षा की जाय तो सिद्ध होगा कि रस में क्रम का मानना आवश्यक नहीं है। अन्वय इस प्रकार होगा—'रस इत्यादि के होने पर क्रम अवश्य होता है' और व्यतिरेक इस प्रकार

होगा—'क्रम के न होने पर रस इत्यादि नहीं होते।' कभी-कभी देखा जाता है जहाँ पर अर्थ की प्रतीति नहीं भी होती अथवा जहाँ पद भी नहीं होते वहाँ पर केवल स्वरालाप और गीत इत्यादि के द्वारा केवल शब्द के ही उपयोग से रस की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार जहाँ वाच्यार्थ बिल्कुल नहीं होता वहाँ भी रसानुभूति देखी जाती है। इस प्रकार एक ही सामग्री से एक साथ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के लिये अभिमत रस इत्यादि प्रतीत हो जाते हैं। फिर अभिधा और व्यञ्जना इन दो व्यापारों की पृथक् सत्ता मानने की भी क्या आवश्यकता? जिस सामग्री से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों की प्रतीति होती है वह है प्रकरणादि से अवच्छिन्न शब्द। यह आप कह ही नहीं सकते कि वाच्यप्रतीति का परामर्श ही व्यञ्जना में निमित्त होता है। यह अभी सिद्ध किया जा चुका है कि गीत, वाद्य, विलाप इत्यादि शब्दों से भी रसाभिव्यक्ति देखी जाती है जिनमें वाच्यार्थ बिल्कुल नहीं होता। इसके अतिरिक्त जहाँ पर गीत इत्यादि के शब्दों का अर्थ भी हो वहाँ पर भी उन अर्थों की प्रतीति का कोई उपयोग नहीं होता क्योंकि ग्रामराग के अनुसार वहाँ पर वाच्यार्थ के अपहरण का अनुसरण करते हुये रसाभिव्यक्ति देखी जाती है। सारांश यह है कि व्यंग्यार्थप्रतीति में वाच्यार्थप्रतीति सर्वदा अनिवार्य नहीं होती। अतः क्रमकल्पना में कोई प्रमाण नहीं (उत्तर) इस विषय में हमारा कहना यह है कि यह तो हम मानते ही हैं कि प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न होकर शब्द व्यञ्जक होते हैं। यह तो हमने प्रथम उद्योत की १३ वीं कारिका ('यत्रार्थः शब्दो वा—') में दिखला ही दिया है। किन्तु शब्दों का व्यञ्जकत्व दो प्रकार का होता है—कभी-कभी तो स्वरूपविशेष-निबन्धन होता है और कभी वाचकशक्ति-निबन्धन। गीत इत्यादि में स्वरूप-निबन्धन रसनिष्पत्ति होती है और काव्य में वाचकशक्ति-निबन्धन। यदि काव्य में भी अर्थबोध के अभाव में ही गीत इत्यादि के समान रसनिष्पत्ति मान ली जाय तो वहाँ भी प्रथम प्रकार की अर्थात् स्वरूपनिबन्धन रसनिष्पत्ति ही मानी जायेगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है। वाचक-शक्तिनिबन्धन व्यंग्यार्थबोध के लिये वाचकशक्ति वाच्यार्थ में ही रहती है। अत एव पहले वाच्यार्थप्रतीति मानना ही उचित है। क्योंकि जब इतना सिद्ध हो गया कि व्यंग्यार्थ-प्रतीति वाचक-शक्ति निबन्धन होती है तब यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि कारणभूत वाच्यार्थ के बाद ही कार्यभूत व्यंग्यार्थ की निष्पत्ति होती है।

(ध्वन्या०) अत्रापि ब्रूमः—प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतदस्माकम्। किन्तु तद् व्यञ्जकत्वं तेषां कदाचित्स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचिद्वाचकशक्तिनिबन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न तर्हि वाचकशक्तिनिबन्धनम्। अथ तन्निबन्धनं तन्नियमेनैव वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्ग्यप्रतीतेः प्राप्तमेव।

स तु क्रमो यदि लाघवान्न लक्ष्यते तत्किं क्रियते। यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दमात्रसाध्या रसादिप्रतीतिः स्यात्तदनवधारितः प्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तॄणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्। सहभावे च वाच्यप्रतीतेरनुपयोगः, उपयोगे वा न सहभावः। येषामपि स्वरूपविशेष-

प्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः। तत्तु शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यमनन्यसाध्यतत्फलघटनास्वाशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविलक्षणे रसादौ न प्रतीयते।

(अनु०) हम यहाँ पर भी कहते हैं—यह तो हमारा अनुमत ही है कि प्रकरण इत्यादि की विशेषता के साथ शब्दों का व्यञ्जकत्व होता है। किन्तु वह उनका व्यञ्जकत्व कदाचित् स्वरूप विशेष के आधार पर होता है कदाचित् वाचक शक्ति के आधार पर। उसमें जिनका वाचक शक्ति के आधार पर होता है उनकी वह बात यदि वाच्यप्रतीति के बिना ही स्वरूपप्रतीति से ही हो जाय तो वह वाचकशक्ति के आधार पर नहीं होती। यदि वाचकशक्तिनिबन्धन होती है तो नियम से ही व्यंग्यप्रतीति की उत्तरकालता वाच्यप्रतीति की अपेक्षा प्राप्त हो जाती है।

यदि वह क्रम लाघव के कारण लक्षित न हो तो क्या किया जाय। और यदि वाच्यप्रतीति के बिना ही प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न शब्दमात्र से ही रस इत्यादि की प्रतीति साध्य हो तो प्रकरण इत्यादि का अवधारण न करनेवाले और स्वयं वाचकभाव में अव्युत्पन्न प्रतिपत्ताओं की वह (रसादिप्रतीति) काव्यश्रवणमात्र से ही हो जाय। और सहभाव में वाच्यप्रतीति का उपयोग नहीं होता और उपयोग होने पर सहभाव नहीं होता। जिनका स्वरूपविशेष प्रतीतिनिमित्त भी व्यञ्जकत्व होता है उनका भी स्वरूपप्रतीति और व्यंग्यप्रतीति का नियमानुसार होनेवाला क्रम है। वह शब्द का क्रिया-पौर्वापर्य दूसरे को सिद्ध न करनेवाली, शीघ्र ही भावित करनेवाली, उसके फलवाली संघटनाओं में वाच्य के अविरोधी तथा दूसरे अभिधेयों से विलक्षण रसादि में प्रतीत नहीं होता।

(लो०) **अनुमतमिति**। 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति ह्यवोचामेवेति भावः। **न तर्हीति**। ततश्च गीतवदेवार्थावगमं विनैव रसावभासः स्यात्काव्यशब्देभ्यः। न चैवमिति वाचकशक्तिरपि तत्रापेक्षणीया। सा वाच्यनिष्ठैवेति प्राग्वाच्ये प्रतिपत्तिरित्यभ्युपगन्तव्यम्। तदाह—**अथेति**। तदिति वाचकशक्तिः। **वाच्यवाचकभावेति**। सैव वाचकशक्तिरित्युच्यते।

एतदुक्तं भवति—मा भूद्वाच्यं रसादिव्यञ्जकम्, अस्तु शब्दादेव तत्प्रतीतिस्तथापि तेन स्ववाचकशक्तिस्तस्यां कर्तव्यायां सहकारितयावश्यापेक्षणीयेत्यायातं वाच्यप्रतीतेः पूर्वभावित्वमिति।

ननु गीतशब्दवदेव वाचकशक्तिरत्राप्यनुपयोगिनी। यत्तु क्वचिच्छ्रुतेऽपि काव्ये रसप्रतीतिर्न भवति तत्रोचितः प्रकरणावगमादिः सहकारी नास्तीत्याशङ्क्याह—**यदि-चेति**। प्रकरणावगमो हि क उच्यते? किं वाक्यान्तरसहायत्वम्? अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिवाच्यम्। उभयपरिज्ञानेऽपि न भवति प्रकृतवाक्यार्थावेदने रसोदयः। **स्वयमिति**। प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद् येषां व्याख्यातमितिभावः। न चान्वयव्यतिरेकवतीं वाच्यप्रतीतिमपह्नुत्यादृष्टसद्भावाभावौ शरणत्वेनाश्रितौ मात्सर्यादधिकं किञ्चित्पुष्णीत इत्यभिप्रायः।

नन्वस्तु वाच्यप्रतीतेरुपयोगः क्रमाश्रयेण किं प्रयोजनम्, सहभावमात्रमेव ह्यु पयोग एकसामग्र्यधीनतालक्षणमित्याशङ्क्याह—**सहेति**। एवं ह्युपयोग इति अनुपकारके संज्ञाकरणमात्रं वस्तुशून्यं स्यादिति भावः। उपकारिणो हि पूर्वभावितेति त्वयाप्यङ्गीकृतमित्याह—**येषामिति**। तद्दृष्टान्तेनैव वयं वाच्यप्रतीतेरपि पूर्वभावितां समर्थयिष्याम इति भावः। ननु संश्चेत्क्रमः किं न लक्ष्यते इत्याशङ्क्याह—**तत्त्विति**। क्रियापौर्वापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह—**क्रिये इति**। क्रिये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती यदि वाभिधाव्यापारो व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वननव्यापारश्चेति क्रिये तयोः पौर्वापर्यं न प्रतीयते। क्वेत्याह—रसादौ विषये। कीदृशि? अभिधेयान्तरात्तदभिधेयविशेषाद्विलक्षणे सर्वथैवानभिधेये; अनेन भवितव्यं तावत्क्रमेणेत्युक्तम्। तथा वाच्येनाविरोधिनि, विरोधिनि तु लक्ष्यत एवेत्यर्थः। कुतो न लक्ष्यत इति निमित्तसप्तमीनिर्दिष्टं हेत्वन्तरगर्भं हेतुमाह—**आशुभाविनीष्विति**। अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु घटनाः पूर्वं माधुर्यादिलक्षणाः प्रतिपादिताः गुणनिरूपणावसरे ताश्च तत्फलाः रसादिप्रतीतिः फलं यासाम्। तथा अनन्यत्तदेव साध्यं यासाम्। न ह्योजोघटनायाः करुणादिप्रतीतिः साध्या।

एतदुक्तं भवति—यतो गुणवति काव्येऽसङ्कीर्णविषयतया संघटना प्रयुक्ता ततः क्रमो न लक्ष्यते। ननु भवत्वेवं संघटनायां स्थितिः क्रमस्तु किं न लक्ष्यते अत आह—आशुभाविनीषु वाच्यप्रतीतिकालप्रतीक्षणेन विनैव झटित्येव ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वादं विदधतीत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—संघटनाव्यङ्ग्यत्वाद्रसादीनामनुपयुक्तेऽप्यर्थविज्ञाने पूर्वमेवोचितसंघटनाश्रवण एव यत आसूत्रितो रसास्वादस्तेन वाच्यप्रतीत्युत्तरकालभवेन परिस्फुटास्वादयुक्तोऽपि पश्चादुत्पन्नत्वेन न भाति। अभ्यस्ते हि विषयेऽविनाभावप्रतीतिक्रम इत्थमेव न लक्ष्यते। अभ्यासो ह्ययमेव यत्प्रणिधानादिनापि विनैव संस्कारस्य बलवत्त्वात्सदैव प्रबुभुत्सुतया अवस्थापनमित्येवं यत्र धूमस्तत्राग्निरिति हृदयस्थितत्वाद्व्याप्तेः पक्षधर्मताज्ञानमात्रमेवोपयोगि भवतीति परामर्शस्थानमाक्रामति। झटित्युत्पन्ने हि धूमज्ञाने तद्व्याप्तिस्मृत्युपकृते तद्विजातीयप्रणिधानानुसरणादिप्रतीत्यन्तरानुप्रवेशविरहादाशुभाविन्यामग्निप्रतीतौ क्रमो न लक्ष्यते तद्वदिहापि। यदि तु वाच्यविरोधी रसो न स्यादुचिता च घटना न भवेत्तल्लक्ष्यैतैव क्रम इति।

चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे—तस्य शब्दस्य फलं तद्वा फलं वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यात्मकं तस्य घटना निष्पादना यतोऽनन्यसाध्या शब्दव्यापारैकजन्येति। न चात्रार्थसतत्त्वं व्याख्याने किञ्चिदुत्पश्याम इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।

(अनु०) 'अनुमत ही है' यह। भाव यह है कि हमने यह कहा ही है—'जहाँ अर्थ अथवा शब्द' इत्यादि। 'तो नहीं·····' इत्यादि। तो गीत के समान ही अर्थावगम के बिना ही काव्यशब्दों से रस का अवभास हो जाय। ऐसा होता नहीं अतः वाचक शक्ति भी उसमें अपेक्षणीय

होती है और वह वाच्यनिष्ठा ही होती है। अतः पहले वाच्य में प्रतिपत्ति होती है यह समझना चाहिये वह कहते हैं—'यदि' यह। वह अर्थात् वाचक शक्ति। 'वाच्य-वाचक भाव' यह। वही वाचक शक्ति होती है यह कहा जाता है।

यह कहा गया है—वाच्य रसादिव्यञ्जक न हो, शब्द से ही उसकी प्रतीति हो; तथापि उस (शब्द) के द्वारा उस (रसप्रतीति) के किये जाने योग्य होने पर अपनी वाचक शक्ति सहकारिता के रूप में अपेक्षित की जाती है। अतः वाच्यप्रतीति का पूर्वभावित्व आ गया।

निस्सन्देह गीत शब्द के समान ही वाचक शक्ति यहाँ पर भी अनुपयोगिनी है, और जो कि कहीं सुने हुये काव्य में भी रसप्रतीति नहीं होती है वहाँ उचित प्रकरणावगम इत्यादि सहकारी नहीं है' यह आशंका करके कहते हैं—'यदि च' इत्यादि। निस्सन्देह प्रकरणावगम कौन कहा जाता है ?' क्या-वाक्यान्तरसहायत्व अथवा दूसरे वाक्यों का सम्बन्धी वाक्य ? दोनों के परिज्ञान में भी प्रकृत वाक्यार्थ के न समझने पर रस का उदय नहीं होता। 'स्वयम्' यह। भाव यह है कि जिनके सामने केवल प्रकरण की ही किसी दूसरे ने व्याख्या कर दी। अन्वय-व्यतिरेकवाली वाच्यप्रतीति को छिपाकर शरण के रूप में आश्रित किये हुये अदृष्ट की सत्ता और उसका अभाव मात्सर्य से अधिक कुछ पुष्ट नहीं ही करते हैं, यह अभिप्राय है।

'निस्सन्देह वाच्यप्रतीति का उपयोग हो—क्रम के आश्रय से क्या प्रयोजन ? एक सामग्री के आधीन होना इस लक्षणवाला सहभावमात्र ही उपयोग हो' यह शङ्का करके कहते हैं—'सहभाव में' इत्यादि। भाव यह है कि इस प्रकार निस्सन्देह अनुपकारक में उपयोग यह केवल संज्ञा करना ही वस्तुशून्य हो जायेगा। 'उपकारी का तो प्रथम होना तुमने भी अङ्गीकृत कर लिया' यह कहते हैं—'जिनका यह'। भाव यह है कि उसके दृष्टान्त से ही हम वाच्यप्रतीति की पूर्वभाविता का भी समर्थन कर देंगे। निस्सन्देह होता हुआ क्रम लक्षित क्यों नहीं होता ?' यह शङ्का करके कहते हैं—'वह तो' यह। क्रियापौर्वापर्य इससे क्रम के स्वरूप को कहते हैं—'जो दो किये जाते हैं' यह। दो क्रियायें अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति अथवा अभिधाव्यापार और व्यञ्जना इस दूसरे नामवाला ध्वननव्यापार ये दोनों क्रियायें उन दोनों का पौर्वापर्य प्रतीत नहीं होता। 'कहाँ पर' ? यह कहते हैं—रस इत्यादि विषय होने पर। किस प्रकार के ? अभिधेयान्तर से अर्थात् विशेष प्रकार के अभिधेय से विलक्षण अर्थात् सर्वथा अभिधान के अयोग्य—इससे क्रम तो होना ही चाहिये यह कह दिया गया। उस प्रकार वाच्य के अविरोधी में (क्रम लक्षित नहीं होता) अर्थात् विरोधी में तो लक्षित होता ही है। क्यों नहीं लक्षित होता ? इसके लिये निमित्त सप्तमी के द्वारा निर्दिष्ट एक ऐसा हेतु बतला रहे हैं जिसमें दूसरा हेतु गर्भित है—'आशुभाविनीषु' यह। अनन्यसाध्य तत्फल घटनाओं में' अर्थात् माधुर्य इत्यादि लक्षणवाली घटनायें पहले ही गुण-निरूपण के अवसर पर प्रतिपादित कर दी गई। वे उस फलवाली होती हैं अर्थात् जिनका रसादि की प्रतीति ही फल होता है इस प्रकार की होती हैं—तथा अनन्यसाध्य अर्थात् वही है साध्य जिनका इस प्रकार की होती हैं। ओजोघटना की साध्य करुणादि की प्रतीति नहीं होती।

यह बात कही गई है—क्योंकि गुणवान् काव्य में असङ्कीर्ण विषय के रूप में संघटना प्रयुक्त की गई है, उससे क्रम लक्षित नहीं होता। (प्रश्न) संघटना में ऐसी स्थिति हो, क्रम क्यों लक्षित नहीं होता? (उत्तर) अतः कहते हैं—'आशुभाविनीषु' वाच्यप्रतीति काल की प्रतीक्षा बिना ही शीघ्र ही रसादिकों को भावित कर देते हैं अर्थात् आस्वाद को उत्पन्न कर देते हैं।

यह बात कही गई है—रस इत्यादि के सङ्घटना द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण अर्थ विज्ञान का उपयोग न होने पर भी पहले ही अभ्यस्त सङ्घटना के सुनने में ही जो कि रसास्वाद कुछ स्फुरित हो जाता है वह उसी कारण से वाच्यप्रतीति के उत्तर काल में होनेवाले परिस्कुट आस्वाद से युक्त होते हुये भी पश्चात् उत्पन्न हुये के रूप में प्रतीत नहीं होता। अभ्यस्त विषय में निस्सन्देह अनिवार्य साहचर्य का प्रतीति क्रम इसी प्रकार लक्षित नहीं होता। अभ्यास यही होता है कि प्रणिधान इत्यादि के बिना ही संस्कार के बलवान् होने के कारण सदैव प्रतीत होने की इच्छा से स्थापित किया जाना। इस प्रकार जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है इस व्याप्ति के हृदय में स्थित होने के कारण पक्षधर्मता का ज्ञान ही उपयोगी होता है, अतः पक्षधर्मता के स्थान का अतिक्रमण कर जाता है। उसकी व्याप्ति की स्मृति के द्वारा उपकृत धूम ज्ञान के शीघ्र उद्भूत होने पर उसके विजातीय के प्रणिधान के अनुसरण इत्यादि की प्रतीति के अन्तः प्रवेश के बिना ही शीघ्र होनेवाली अग्रिम प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। उसी प्रकार यहाँ पर भी। यदि रस वाच्य का अविरोधी न हो और उचित सङ्घटना भी न हो तो क्रम लक्षित ही हो जाये।

चन्द्रिकाकारने तो 'पढ़े हुए को ही पुनः पढ़ता है' इस न्याय से गजनिमीलिका के ढंग से व्याख्या की है—'उसका अर्थात् शब्द का फल अथवा वही अर्थात् वाच्य-व्यङ्ग्य-प्रतीत्यात्मक फल; उसकी घटना अर्थात् निष्पादन करना क्योंकि अनन्यसाध्य होती है अर्थात् केवल शब्दव्यापारमात्र से जन्य होती है' यह। इस व्याख्या में हमें अर्थ की कोई संगति दिखलाई नहीं पड़ती, बस अपने पूर्व वंश्यों के साथ अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं।

तारावती—यहाँ पर आशय यह है कि यदि आप वाच्य को रसप्रतीति का अनिवार्य हेतु नहीं मानना चाहते तो न मानिये शब्द को ही रसप्रतीति का हेतु मान लीजिये। फिर भी शब्द गीत इत्यादि में तो स्वरूप से ही रसाभिव्यंञ्जन कर देता है किन्तु काव्य में उसे इस क्रिया में अपनी वाचक शक्ति की अपेक्षा अवश्य होती है। ऐसी दशा में भी वाच्यप्रतीति का पहले होना सिद्ध हो गया।

रसादिप्रतीति के पहले वाच्यार्थप्रतीति भी होती है। यह दूसरी बात है कि हम शब्द सुनते जाते हैं उनका वाच्यार्थ समझते जाते हैं और उनसे रसास्वादन करते जाते हैं। इस समस्त क्रिया में एक पौर्वापर्य क्रम रहता है। किन्तु वह क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि हमें मालूम पड़ने लगता है कि मानों सारी क्रियायें एक साथ हो रही हैं उनमें कोई क्रम है ही नहीं। आशय यह है कि शब्दों के सुनने के बाद ही अर्थ की प्रतीति होती है और अर्थ की प्रतीति के बाद ही रसानुभूति होती है। किन्तु वह क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि विचारक

और विवेचक तो उसे लक्षित कर पाते हैं; साधारण स्थिति में उसकी प्रतीति नहीं होती। यदि सर्व साधारण व्यक्ति किसी तत्त्व को न समझ पायें तो उसका चारा ही क्या? उससे किसी प्रमाणप्रतिपन्न वस्तु का अपलाप तो नहीं हो सकता।

(प्रश्न) जिस प्रकार गाने रोने इत्यादि के शब्दों से रसाभिव्यक्ति हो जाती है और उनमें वाचकशक्ति की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार अन्यत्र भी वाचकशक्ति के उपयोग के बिना ही शब्दों से ही रसानुभूति हो सकती है उसमें वाचकशक्तिका उपयोग मानने की क्या आवश्यकता। (उत्तर) वाचकशक्ति के उपयोग के बिना ही यदि शब्दमात्र से ही आप रसानुभूति मानेंगे तो आप के मत में जिन्होंने वाच्य-वाचकभाव की व्युत्पत्ति नहीं कर पाई है इस प्रकार के परिशीलकों को भी रसानुभूति होने लगेगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है। रसानुभूति केवल शब्द सुनने से ही नहीं होती अपितु अर्थ समझने से होती है। अतः वाच्यार्थ रसानुभूति का कारण अवश्य है। (पूर्वपक्ष) जहाँ काव्य को सुनने पर भी रसप्रतीति नहीं होती वहाँ यही समझा जाता है कि वहाँ पर प्रकरण इत्यादि का उचित ज्ञान नहीं होता। प्रकरण का ज्ञान रसानुभूति में सहकारी अवश्य होता है। सहकारी के अभाव में रसानुभूति का न होना स्वाभाविक ही है। (उत्तर) प्रकरण के ज्ञान से आप का क्या अभिप्राय है? इसके केवल दो ही अभिप्राय सम्भव हैं—जिस वाक्य से रसानुभूति हो रही है उससे सम्बन्धित दूसरे वाक्यों का ज्ञान होना प्रकरणज्ञान कहलाता है अथवा प्रकृत वाक्यार्थ से सम्बद्ध दूसरे वाक्यों का अर्थ जानना प्रकरण ज्ञान कहलाता है। आप चाहे जो पक्ष मानें, चाहे आप यह स्वीकार करें कि प्रकृत वाक्य से सम्बद्ध दूसरे वाक्यों का ज्ञान होने पर प्रकरणज्ञान का होना कहा जाता है अथवा आप यह मानें कि प्रकृत वाक्य से सम्बन्धित दूसरे वाक्यों के सम्बन्धित वाच्यार्थ का ज्ञान ही प्रकरणज्ञान कहा जाता है, दोनों अवस्थाओं में प्रकरणज्ञानमात्र से तब तक रसानुभूति नहीं होती जब तक प्रकृत वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो जाता। (गीत में यह जान लेने मात्र से ही कि गीत शृंगारविषयक है या वीरविषयक, रसानुभूति हो जाती है। उसमें वाक्यार्थ-ज्ञान न होने पर भी स्वर ताल और लय से ही रसानुभूति हो जाती है। किन्तु काव्य में वाक्यार्थज्ञान का होना रसानुभूति के लिये अनिवार्य है। उसमें केवल प्रकरणज्ञान से काम नहीं चलता!) जिन्होंने प्रकरणज्ञान तो कर लिया है किन्तु वाच्यवाचक भाव की व्युत्पत्ति जिन्हें नहीं है उनको काव्य सुनकर रसानुभूति नहीं होती। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि केवल प्रकरणज्ञान रसानुभूति के लिये पर्याप्त नहीं है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति प्रकरणमात्र ही समझा दे और काव्य सुनाने लगे तो जो व्यक्ति उस काव्य की भाषा को नहीं समझता उसे कभी भी रसास्वादन नहीं हो सकेगा। किन्तु आपके मत में प्रकरणज्ञान होने पर वाच्यार्थ-प्रतीति न होने में भी रसास्वादन होना चाहिये।

[यहाँ पर आनन्दवर्धन का आशय यही प्रतीत होता है कि यदि वाच्यार्थज्ञान के अभाव में भी प्रकरणज्ञान से ही रसानुभूति मानी जायेगी तो जिनको केवल प्रकरण का ज्ञान है और वे स्वयं वाच्यार्थ को नहीं समझते उन्हें भी रसास्वादन होने लगेगा जोकि लोकसिद्ध तथ्य नहीं है। इस आशय के अनुसार पाठ यही होना चाहिये—'तदवधारितप्रकरणानां वाच्य-

वाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तॄणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्' किन्तु इस मूल पाठ में एक 'न' और बढ़ गया है और 'अवधारित' के स्थान 'अनवधारित पाठ हो गया है। इससे अर्थ करने में भी श्रम हो गया है और प्रश्नोत्तर भी सङ्गत नहीं होते। किन्तु एक तो यह पाठ सभी पुस्तकों में पाया जाता है दूसरे बालप्रिया को छोड़कर सभी टीकाकारों ने यही पाठ माना है। यहाँ तक कि अभिनवगुप्त को भी यही पाठ मिला था। अतः ज्ञात होता है कि यह भूल या तो स्वयं अभिनवगुप्त की होगी या उनके तत्काल परवर्ती किसी लेखक की। दीधितिकार ने इसकी योजना इस प्रकार लगाई है—'आप प्रकरण को रसानुभूति का कारण मानते हैं। इससे आप का आशय यही सिद्ध होता है कि किसी प्रसङ्ग में प्रकरण का होना ही आपके मत में पर्याप्त है। अब यदि एक व्यक्ति ने प्रकरण को समझ भी नहीं पाया और अर्थ भी स्वयं उसकी समझ में नहीं आया है तो भी उसे रसानुभूति हो जानी चाहिये क्योंकि प्रकरण तो वहाँ पर विद्यमान है ही और आपके मत में प्रकरण ही कारण है प्रकरणज्ञान नहीं। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है इसका तो पूर्वपक्षी तत्काल यह कहकर खण्डन कर सकता है कि मैं प्रकरण को नहीं प्रकरणज्ञान को कारण मानता हूँ। अतः इससे तो सिद्धान्त का अभिमत सिद्ध नहीं होता कि केवल प्रकरणज्ञान से नहीं अपि तु वाच्यार्थज्ञान से रसानुभूति होती है। अभिनवगुप्त ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'जिस व्यक्ति ने स्वयं प्रकरण को भी समझ नहीं पाया और वाच्य-वाचकभाव की व्युत्पत्ति उसे है ही नहीं, उसे भी यदि कोई दूसरा व्यक्ति प्रकरण समझा दे तो रसानुभूति हो जानी चाहिये।' यह व्याख्या कुछ ठीक मालूम पड़ती है। क्योंकि ग्रन्थकार के 'स्वयं' शब्द की इस प्रकार की योजना सरलता से की जा सकती है और 'स्वयं' का यह अर्थ भी हो सकता है। इसका आशय भी यह हो सकता है कि मान लीजिये किसी ऐसी भाषा का काव्य पढ़ा जा रहा है जिसको श्रोता स्वयं नहीं समझता और उसे प्रकरण का भी ज्ञान नहीं है; उसे यदि कोई दूसरा व्यक्ति यह समझा दे कि यहाँ पर अमुक के प्रेम की चर्चा की जा रही है तो भी काव्य सुनकर उसे रसानुभूति नहीं हो सकेगी। किन्तु सबसे अच्छा तो यही है कि 'अवधारितप्रकरणानाम्' यही पाठ माना जाय।

'रसप्रतीति के होने में वाच्यप्रतीति होती है'। यह अन्वय और 'वाच्यप्रतीति के अभाव में रसप्रतीति का अभाव होता है' यह व्यतिरेक विद्यमान है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों के मिल जाने से रसप्रतीति की कार्यरूपता और वाच्यप्रतीति की कारणरूपता सिद्ध हो जाती है। फिर भी आप उसे छिपा रहे हैं और किसी अदृष्ट तत्त्व के अन्वय-व्यतिरेक को सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि आप जो कुछ कहते हैं वह सब द्वेष बुद्धि तथा पक्षपात से पूर्ण है और आप का प्रतिपादन पूर्वाग्रहग्रस्त है। इसके अतिरिक्त और कुछ सिद्ध नहीं होता। (सम्भवतः अभिनवगुप्त के समसामयिक कतिपय विद्वान् किसी अदृष्ट तत्त्व की कल्पनाकर उसे रसास्वादन का कारण मानते होंगे और वाच्यप्रतीति की कारणता का निषेध करते होंगे। उन्हीं पर यह कटाक्ष किया गया है।)

इस विषय में पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि 'हम इतना तो मान सकते हैं कि रस-

प्रतीति में वाच्यप्रतीति का उपयोग होता है। किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि दोनों प्रतीतियाँ क्रमिक रूप में होती हैं और वाच्यप्रतीति पहले होती है तथा रसप्रतीति बाद में होती है। यदि पूछा जाय कि वाच्यप्रतीति का उपयोग किस प्रकार का होता है तो हम यही कहेंगे कि साथ-साथ उसका प्रतिभास होना ही उसका एकमात्र उपयोग है। जब हम किसी नाटक को देखते हैं या काव्य सुनते हैं तो हमें रसास्वादन तो होता ही है उसके साथ-साथ हम उस प्रकरण का वाच्यार्थ भी समझते जाते हैं, यही वाच्यप्रतीति का उपयोग है। दोनों की प्रतीति एक साथ होती है, अतः क्रम मानना ठीक नहीं।' इसका उत्तर यह है कि यदि एक कार्य के लिये किसी वस्तु का उपयोग किया जाता है तो उपयुक्त की जानेवाली वस्तु का पहले होना अनिवार्य होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि उपयोग में आनेवाली वस्तु अपने द्वारा निर्मित वस्तु के साथ ही उत्पन्न हो। जब वह वस्तु पहले होगी ही नहीं तो उपकार कैसे करेगी? यदि निर्माण में उपकार नहीं करेगी तो 'उपयोग' इस नामकरण का क्या मन्तव्य होगा और उस शब्द के प्रयोग का लक्ष्य क्या होगा? प्रत्येक शब्द से किसी वस्तु का बोध होता है किन्तु उपकार न करने पर उपयोग शब्द से किसी वस्तु का बोध नहीं होगा? अत एव साथ होना मानने पर वाच्यप्रतीति का उपयोगी होना सिद्ध नहीं होगा और उपयोगी होना मानने पर सहभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह तो प्रतिपक्षी भी मानता है कि उपकारक तत्त्व पहले होता है और उपकार्य बाद में। उदाहरण के लिये गीत इत्यादि के शब्द अपने स्वरूप से ही व्यञ्जक होते हैं, उनके अर्थ रस इत्यादि के व्यञ्जक नहीं होते। प्रतिपक्षी भी यह स्वीकार करता है कि रसानुभूति में निमित्त गीत इत्यादि के शब्दों को स्वरूपप्रतीति पहले होती है और रसप्रतीति बाद में। हम भी उसी दृष्टान्त के आधार पर कह सकते हैं कि जहाँ काव्य में वाच्यप्रतीति के आधार पर रसाभिव्यक्ति होती है वहाँ पर वाच्यप्रतीति पहले होती है क्योंकि वह निमित्त है और व्यङ्ग्य रसानुभूति बाद में होती है, क्योंकि वह नैमित्तिक है।

ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि काव्य में रसानुभूति में वाच्यप्रतीति निमित्त होती है तथा यह भी बतलाया जा चुका है कि रसानुभूति के पहले वाच्यप्रतीति अनिवार्य है। किन्तु इस पौर्वापर्य क्रम में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यदि उनमें पौर्वापर्य क्रम विद्यमान है तो वह लक्षित क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का उत्तर 'तत्तु........न प्रतीयते' इस वाक्य में दिया गया है। यदि इस वाक्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसमें क्रम के लक्षित न होने के पाँच कारण बतलाये गये हैं—(१) सङ्घटनायें दूसरी संघटनाओं से असङ्कीर्ण रहकर ही अर्थात् दूसरी संघटनाओं की परवा न करते हुये रसादि को अभिव्यक्त करती हैं। (२) संघटनाओं का एकमात्र फल रसादि का प्रत्यायन ही होता है। (३) संघटनाओं की क्रिया अत्यन्त क्षिप्र होती है वह वाच्य वृत्ति की अपेक्षा नहीं करती। (४) वाच्यार्थ का रसादि से कोई विरोध नहीं होता और (५) रस इत्यादि दूसरे अभिधेयार्थों से इस रूप में विलक्षण होते हैं कि उनका प्रत्यायन कभी भी अभिधावृत्ति का विषय नहीं हो सकता। अब उक्त वाक्य को ले लीजिये—'तत्तु शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यम्' इस वाक्य-खण्ड से क्रम का स्वरूप बतलाया गया है। 'क्रिया' शब्द की

व्युत्पत्ति होगी—'क्रियेते इति क्रिये' अर्थात् शब्द के जो दो करणीय हों उन्हें दो क्रियायें कहते हैं। शब्द के दो करणीय होते हैं—एक तो अभिधाव्यापार और दूसरे ध्वननव्यापार जिसका दूसरा पर्याय व्यञ्जनाव्यापार भी है। इन दोनों क्रियाओं का पौर्वापर्य अर्थात् क्रम लक्षित नहीं होता। 'रसादौ' इस विशेष्य से बतलाया गया है कि रस इत्यादि के विषय में ही क्रम लक्षित नहीं होता। 'रसादौ' के विशेषण दिये गये हैं—'अभिधेयान्तरविलक्षणे' और 'वाच्येन अविरोधिनि'। प्रथम विशेषण के द्वारा क्रम न लक्षित होने का उपर्युक्त ५ वाँ हेतु निर्दिष्ट किया गया है कि रस इत्यादि अन्य अभिधेयार्थों से विलक्षण होते हैं। विलक्षणता यही होती है कि अन्य अभिधेय अभिधावृत्ति से कहे जा सकते हैं किन्तु रसानुभूति अभिधावृत्ति से कही नहीं जा सकती। अतः दोनों में भेद होने के कारण क्रम तो होना ही चाहिये। (किन्तु दोनों की कोटियाँ भिन्न ही हैं। एक अभिधेय होता है दूसरा नहीं। अतः भिन्न कोटियोंवाले दो ज्ञानों में क्रम लक्षित नहीं होता। यदि एक ही प्रकार के दो ज्ञान हों अर्थात् या तो दोनों अभिधेय हों या दोनों अनभिधेय हों तो क्रम लक्षित होना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि जब हम एक ज्ञान के बाद उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान करना चाहेंगे तो पहले ज्ञान का उपसंहार हो जायेगा और उसके स्थान पर दूसरे ज्ञान की प्रतीति होगी। इसके प्रतिकूल विभिन्न प्रकार की प्रतीतियों में विभिन्न तत्त्वों का उपयोग होगा। उदाहरण के लिये वाच्य-प्रतीति मस्तिष्क के द्वारा होगी और रसानुभूति हृदय के द्वारा। अतः दोनों एक दूसरे से इतनी अव्यवहित हो सकती हैं कि उनसे क्रम की प्रतीति का न होना ही स्वाभाविक है।) 'रसादौ का' दूसरा विशेषण है—'वाच्येन अविरोधिनि' इसका आशय यह है कि रसानुभूति सर्वदा वाच्य के अनुकूल ही होती है विरुद्ध कभी नहीं होती। यदि वाच्यार्थ श्रृंगार परक होगा तो श्रृंगार की अनुभूति होगी और यदि वाच्यार्थ रौद्रपरक होगा तो रौद्ररसानुभूति होगी। जब दोनों प्रतीतियाँ एक ही दिशा में उद्भूत होनेवाली हैं तब उनमें क्रम लक्षित ही नहीं हो सकता। यदि दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हों तो दोनों का क्रम लक्षित होना अनिवार्य हो जाय। इस प्रकार इस विशेषण के द्वारा ऊपर बतलाये हुये चौथे हेतु की ओर संकेत किया गया है। 'आशुभाविनीषु' में निमित्त में सप्तमी है अतः यह शब्द हेतु का प्रत्यायक हो जाता है। इसका एक दूसरा विशेषण शब्द दिया गया है 'अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु' यह भी हेतुवाचक सप्तमी परक ही है। इस प्रकार 'आशुभाविनीषु' की निमित्तसप्तमी दूसरे हेतु से गर्भित हेतु को प्रकट करती है। 'अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु' में 'अनन्यसाध्य' और 'तत्फल' इन दोनों शब्दों में बहुव्रीहि समास है और ये दोनों शब्द घटना के विशेषण हैं। घटनाओं का निरूपण पहले किया जा चुका है कि कुछ घटनाएँ माधुर्य लक्षणवाली होती हैं कुछ परुष लक्षणवाली। वे घटनायें 'तत्फल' होती हैं अर्थात् उनका फल रसादि की प्रतीति ही होता है। वे घटनायें अनन्यसाध्य होती हैं अर्थात् उन घटनाओं का साध्य उनका अपना निश्चित साध्य ही होता है; किन्तु कोई अन्य साध्य नहीं। उदाहरण के लिये ओजोघटना के लिये रौद्ररस साध्यरूप में निश्चित है। उसका साध्य करुणरस कभी नहीं हो सकता।

आशय यह है कि काव्य में माधुर्य इत्यादि गुण तो रहते ही हैं। उस काव्य में जिन

माधुर्य इत्यादि गुणोंवाली संघटना का प्रयोग किया जाता है उसका फल रसादि प्रतीति ही होता है और उस संघटना से अपने निश्चित विषय के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रसाभिव्यञ्जना नहीं की जा सकती। इसीलिये क्रम लक्षित नहीं होता। प्रश्न किया जा सकता है कि क्रम के लक्षित किये जाने न किये जाने से संघटना का क्या सम्बन्ध ? घटनाओं की जो स्थिति आप मानते हैं वह माना करें क्रम क्यों लक्षित नहीं होता ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये 'आशुभाविनीषु' यह विशेषण दिया गया है। 'भाविनी' का अर्थ है 'भावन करना है शील जिसका'। अतः आशुभाविनी का अर्थ हुआ कि संघटनायें वाच्यप्रतीति काल की अपेक्षा किये बिना ही शीघ्र ही रस इत्यादि को भावित कर देती हैं अर्थात् उसके आस्वादन का विधान कर देती हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है—यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि संघटनायें भी रस की अभिव्यञ्जना करती हैं। संघटना का अर्थ है विशेष प्रकार की रसानुकूल वर्णसंयोजना जैसे कोमल योजना से श्रृंगारादि रसों की व्यञ्जना होती है और कठोर योजना से रौद्र इत्यादि रसों की व्यञ्जना होती है। वर्ण रसाभिव्यञ्जन करने में अर्थ ज्ञान की अपेक्षा नहीं करते। जब हम किसी सुमधुर काव्य को सुनते हैं तो अर्थ को बिना ही समझे उस काव्य के सुनते ही हमारे हृदयों में रस कुछ स्फुरित हो जाता है। बाद में हमें अर्थ की प्रतीति होती है और तब रस का आस्वाद परिपुष्ट रूप में परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार काव्यश्रवण में वाच्यप्रतीति से पहले ही कुछ स्फुरित होकर रस वाच्य-प्रतीति के बाद में परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है। अतः पहले से बाद तक प्राप्त रहने के कारण यह प्रतीत नहीं होता कि रसास्वादन बाद में हुआ है। इसलिये संघटना द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण क्रम लक्षित नहीं होता। यह केवल इसी एक विषय में नहीं समस्त अभ्यस्त विषयों में ऐसा ही होता है। जिन विषयों की अविनाभाव प्रतीति होती है उनमें भी अभ्यास हो जाने पर क्रम लक्षित नहीं होता। अविनाभाव का अर्थ है व्याप्तिज्ञान। जहाँ कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के बिना नहीं हो सकती वहाँ न हो सकनेवाली वस्तु को देखकर जिसके बिना वह नहीं हो सकती उसका अनुमान लगा लिया जाता है। यही व्याप्तिग्रह है। उदाहरण के लिये धूम कभी भी अग्नि के बिना नहीं हो सकता। अतः धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान करना अविनाभाव प्रतीति है। यह व्याप्तिग्रह इस प्रकार होता है कि कोई परिशीलक कई बार जलती हुई आग से धुँआ उठते हुये देखता है; वह जब कभी आग जलाता है उसे धुआँ अवश्य दिखलाई देता है। इसके अतिरिक्त वह सरोवर इत्यादि को भी देखता है और वहाँ आग नहीं देखता तथा वहाँ धुआँ भी नहीं देखता। इस प्रकार महानस इत्यादि पक्षों और सरोवर इत्यादि विपक्षों को बार बार देखकर वह इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है।' यही व्याप्तिग्रह है। इस व्याप्ति को अपने हृदय में लिये हुये जब वह किसी ऐसे स्थानपर पहुँचता है जहाँ किसी झोपड़ी से उसे धुआँ उठता हुआ दिखलाई देता है। तब उसे सर्वप्रथम व्याप्ति का स्मरण होता है कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। न्यायदर्शन में 'प्रणिधान निबन्धाभ्यासलिंग' इत्यादि लम्बे सूत्र में स्मरण के हेतुओं

का परिगणन कराया गया है। उन्हीं से उसे व्याप्ति का स्मरण होता है और फिर 'झोपड़ी धुआँवाली है जो कि सर्वदा अग्नि का सहचारी है' यह वितर्क उत्पन्न होता है। इस व्याप्ति स्मरण और वितर्क को परामर्श कहते हैं। उससे यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि झोपड़ी में अग्नि है। इस ज्ञान को अनुमान ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार लिंग (धुआं) से साध्य (अग्नि) का अनुमान करने में एक क्रम होता है। किन्तु जब बार-बार धुयें से अग्नि का अनुमान किया जा चुका होता है तो उसका इतना अधिक अभ्यास हो जाता है कि धुआं को देखते ही अग्नि का बोध हो जाता है और प्रधान इत्यादि स्मरण हेतु, व्याप्ति स्मृति, परामर्श इत्यादि का क्रम लक्षित ही नहीं होता। अभ्यास का अर्थ ही यह है कि किसी ज्ञान की पुनः पुनः अभ्यावृत्ति से संस्कार इतने बलवान् हो जायँ कि प्रणिधान इत्यादि स्मरण हेतुओं का बिना ही अनुसरण किये हुये सर्वदा वह तत्त्व अपने को ज्ञात कर देने की इच्छा करते हुये ही अवस्थित रहे। आशय यह है कि अभ्यस्त व्यक्ति धुयें को देखकर इतनी सरलता और शीघ्रता से आग को जान जाता है मानों धूम को स्वयं इस बात की आकांक्षा बनी रहती है कि अभ्यस्त व्यक्ति हमें देखते ही आग को जान ले। जिस स्थान पर किसी वस्तु का अनुमान लगाया जाता है उसे पक्ष कहते हैं; वह तत्त्व जिसको देखकर अनुमान लगाया जाता है हेतु या पक्ष-धर्म कहलाता है। उसकी भाववाचक संज्ञा ही पक्षधर्मता है। जैसे यदि पर्वत में धुयें को देखकर अग्नि का अनुमान लगाना हो तो पर्वत पक्ष होगा; धूम पक्षधर्म या हेतु होगा और धूमत्व को पक्षधर्मता की संज्ञा प्राप्त होगी। पूर्ण अभ्यास कर लेने पर व्याप्ति तो हृदय में स्थित ही रहती है। साध्य (अग्नि) का अनुमान लगाने में केवल पक्षधर्मता (धूमत्व) का ही उपयोग होता है। ऐसा अनुमान परामर्श के स्थान का अतिक्रमण कर जाता है। धूमज्ञान व्याप्तिस्मृति से उपकृत ही रहता है; उस धूमज्ञान के शीघ्र उत्पन्न होने पर उन दोनों (पक्षधर्मता और व्याप्तिज्ञान) से विजातीय प्रणिधान के अनुसरण इत्यादि की प्रतीति के अन्दर आये बिना ही अग्नि की प्रतीति एकदम हो जाती हैं और वहाँ पर क्रम लक्षित नहीं होता। वही बात यहाँ पर भी होती है कि अधिक अभ्यस्त हो जाने से वाच्यप्रतीति हो जाती है और क्रम लक्षित नहीं होता। यह तो हुई शीघ्र प्रतीति की बात। क्रम न लक्षित किये जा सकने का एक कारण यह भी है कि जैसी वाच्यप्रतीति होती है वैसी ही रसप्रतीति भी होती है। दोनों का विरोध नहीं होता यदि वाच्य से अविरोधी रस न हो और संघटना भी प्रस्तुत रस के विपरीत हो तो क्रम लक्षित हो जाय।

चन्द्रिकाकार ने 'अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु' इस शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'तत्फल' अर्थात् उस (शब्द) का फल (तत्पुरुष समास) अथवा 'वह फल' (कर्मधारय समास) दोनों अवस्थाओं में फल हुआ वाच्य-व्यङ्ग्यप्रतीतिरूप। उस वाच्य-व्यंग्य-प्रतीतिरूप फल की घटना अर्थात् निष्पादन अन्य से साध्य नहीं होता अर्थात् केवल शब्दव्यापार से उत्पन्न होता है। आशय यह है कि वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति केवल शब्द से ही होती है, उसका साधन और कोई नहीं होता। इस व्याख्या का खण्डन करते हुये अभिनवगुप्त ने लिखा है कि चन्द्रिकाकार की यह व्याख्या मक्षिका के स्थान में मक्षिका जैसी

है। (चन्द्रिकाकार पर आक्षेप करने के लिये अभिनवगुप्त ने दो शब्दों का प्रयोग किया है—'पठितमनुपठति' और 'गजनिमीलिका'। 'पठितमनुपठति' का अर्थ यह है कि चन्द्रिकाकार ने जो शब्द जिस प्रकार देखे उनकी वैसी ही व्याख्या कर दी। यह विचार करने की चेष्टा नहीं की कि क्या प्रस्तुत प्रकरण में सीधा सीधा अर्थ ठीक रहेगा ? 'गजनिमीलिका' का भी यही अर्थ है कि जैसे हाथी केवल सामने ही देखता है इधर-उधर ध्यान नहीं देता उसी प्रकार चन्द्रिकाकार ने भी सीधा-सीधा अर्थ कर दिया प्रकरण पर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी।) चन्द्रिकाकार ने अर्थ यह किया है कि 'उस शब्द का फल अथवा वह वाच्यव्यंग्य-प्रतीत्यात्मक फल उसकी संघटना शब्दव्यापारमात्रजन्य है। अन्य से उसका उद्भव नहीं होता। इस व्याख्या में यह समझ में नहीं आता कि प्रस्तुत प्रकरण तो वाच्य और व्यंग्य के पौर्वापर्यप्रतीति के विषय में है। इस प्रकरण में इस कथन का क्या उपयोग कि शब्द से ही वाच्य और व्यंग्य प्रतीतियाँ होती हैं। अतः इस वाक्य की वही व्याख्या करनी चाहिये जैसी कि ऊपर ५ प्रकारों के निर्देश के द्वारा बतलाई गई है। अभिनवगुप्त ने लिखा है कि बस इतना पर्याप्त है। हम अपने वंश के अपने पूर्वजों से अधिक विवाद करना उचित नहीं समझते। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रिकाकार अभिनवगुप्त के ही पूर्व वंशज थे।

(ध्वन्या०) **क्वचित्तु लक्ष्यत एव। यथानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिषु। तत्रापि कथमिति चेदुच्यते—अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ तावदभिधेयस्य तत्सामर्थ्याक्षिप्तस्य चार्थस्याभिधेयान्तरविलक्षणतयात्यन्तविलक्षणे ये प्रतीती तयोरशक्यनिह्नवो निमित्तनिमित्तिभाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम्। यथा प्रथमोद्योते प्रतीयमानार्थसिद्ध्यर्थमुदाहृतासु गाथासु। तथाविधे च विषये वाच्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्तविलक्षणत्वाद्यैव एकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्।**

(अनु०) कहीं तो लक्षित ही होता है। जैसे अनुरणनरूप व्यंग्य की प्रतीतियों में। यदि कहो 'वहाँ भी कैसे ?' तो कहा जा रहा है—अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि में अभिधेय के तथा उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थ के दूसरे अभिधेयों से अत्यन्त विलक्षण होने के कारण अत्यन्त विलक्षण जो दो प्रतीतियाँ उनके निमित्तनिमित्तिभाव का छिपाया जाना असम्भव है। अतः उनका पौर्वापर्य स्फुट ही है। जैसे प्रथम उद्योत में प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिये उदाहृत की हुई गाथाओं में। और उस प्रकार के विषय में वाच्य और व्यंग्य के अत्यन्त विलक्षण होने के कारण एक की जो प्रतीति है वही दूसरे की भी है यह नहीं कहा जा सकता।

(लो०)—यत्र तु सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्वं नास्ति तत्र लक्ष्यत एवेत्याह—**क्वचित्त्विति**। तुल्ये व्यङ्ग्यत्वे कुतो भेद इत्याशङ्क्ते—**तत्रापीति। स्फुटमेवेति।**

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः॥

इति हि पूर्वं वर्णसङ्घटनादिकं नास्य व्यञ्जकत्वेनोक्तमितिभावः। **गाथास्विति।** भम धम्मिअ इत्यादिकासु। ताश्च तत्रैव व्याख्याताः।

(अनु०) जहाँ पर सङ्घटनाव्यंग्यत्व नहीं होता वहाँ पर तो लक्षित होता ही है यह कहते हैं—'कहीं तो' यह। व्यंग्यत्व के तुल्य होते हुये भेद क्यों ? यह शङ्का करते हैं—'वहाँ पर भी' यह। स्फुट ही है यह—

अविवक्षित वाच्य को और उससे भिन्न अनुरणनरूप व्यंग्य की पद-वाक्यप्रकाश्यता होती है।'

भाव यह है कि इस प्रकार पहले वर्णसङ्घटना इत्यादि को उसके व्यञ्जकत्व के रूप में नहीं कहा। गाथाओं में—'भम धम्मिअ' इत्यादि में। उनकी वहीं व्याख्या की गई है।

रसप्रतीति में क्रम की संल्लक्ष्यता

तारावती—किन्तु यह क्रम सर्वत्र असंल्लक्ष्य ही बना रहे यह बात नहीं है। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में क्रम में लक्षित न होने का सबसे बड़ा कारण यह बतलाया गया है कि वह ध्वनि संघटना के द्वारा व्यक्त होती है। सङ्घटना के द्वारा कुछ परिस्फुट होकर बाद में वाच्यार्थ के द्वारा उसकी पूर्ति होती है। अतः वाच्यार्थ के दोनों ओर व्यापक रहने के कारण वाच्यार्थ की प्राथमिकता और व्यंग्यार्थ की उत्तरकालिकता की प्रतीति नहीं होती। इसके प्रतिकूल जिस ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिये वर्णसङ्घटना अपेक्षित नहीं होती उस ध्वनि में व्यंग्य और वाच्य अर्थों की प्रतीति में क्रम अवश्य लक्षित होता है क्योंकि उनमें वाच्यार्थ ही कारण होता है। जैसे अनुरणनरूप व्यंग्य में क्रम की प्रतीति होती है। अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि के जो व्यंजक 'अविवक्षितवाच्यस्य' (३-१) इत्यादि कारिकाओं में गिनाये गये हैं उनमें वर्णसङ्घटना को ध्वनि का व्यञ्जक नहीं माना गया है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि जब दोनों ही व्यंग्यार्थ होते हैं तब यह भेद कैसा कि रस इत्यादि की व्यञ्जना में क्रम लक्षित नहीं होता और अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि में लक्षित हो जाता है ? जब दोनों व्यंग्यार्थ हैं तो या तो दोनों में क्रम लक्षित होना चाहिये या दोनों में नहीं होना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि संल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य दो प्रकार का माना जाता है अर्थशक्तिमूलक और शब्दशक्तिमूलक। अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनि में अभिधेयार्थ और उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त दोनों ही साधारण अभिधेयार्थ से कुछ विलक्षण होते हैं। साधारण अभिधेयार्थ में किसी व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति नहीं होती जब कि व्यंजक अभिधेयार्थ में अर्थान्तर को अभिव्यक्त करने की शक्ति होती है। यह तो हुई वाच्यार्थ की विलक्षणता। व्यंग्यार्थ तो वाच्यार्थ की अपेक्षा सर्वथा विलक्षण होता ही है। इस प्रकार जो दो अत्यन्त विलक्षण प्रतीतियाँ होती हैं उनमें एक (वाच्यार्थ) तो निमित्त होता है और दूसरा (व्यंग्यार्थ) निमित्ती अर्थात् कार्य होता है। उनका यह निमित्त-निमित्तभाव छिपाया नहीं जा सकता।

उदाहरण के लिये प्रथम उद्योत में प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिये जिन गाथाओं का उद्धरण दिया गया था उनको ले लीजिये। उस प्रकार के विषय में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण होते हैं। यदि वाच्यार्थ विधिपरक होता है तो व्यंग्यार्थ निषेध-परक। यदि वाच्यार्थ निषेधपरक होता है तो व्यंग्यार्थ विधिपरक, यदि वाच्यार्थ विधिपरक होता है तो निषेधार्थ अनुभयपरक। इस प्रकार की विलक्षणता वहाँ पर दिखलाई जा चुकी है। अत एव आप यह तो नहीं कह सकते कि जो एक की प्रतीति होती है वही दूसरे की भी

होती है। इस प्रकार प्रतीतियों की विलक्षणता और कार्य-कारण भाव सम्बन्ध इन दोनों हेतुओं से क्रम संलक्षित होना स्वाभाविक हो जाता है।

(ध्वन्या०) **शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये तु ध्वनौ—**

'गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु' इत्यादावर्थद्वयप्रतीतौ शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीतिरुपमावाचकपदविरहे सत्यर्थसामर्थ्यादाक्षिप्तेति तत्रापि सुलक्षमभिधेयव्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीत्योः पौर्वापर्यम्।

पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपदस्योभयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकपदमन्तरेण योजनमशाब्दमप्यर्थादवस्थितमित्यत्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्तालङ्कारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वापर्यम्। आर्थ्यपि च प्रतिपत्तिस्तथाविधे विषये उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थ्यप्रसावितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते।

(अनु०) शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि में तो—

'पवित्रों में सर्वोत्कृष्ट सूर्य किरणें और गायें आप में अपरिमित प्रेम पैदा करें।'

इत्यादि में दो अर्थों की प्रतीति के शाब्दिक होने पर (भी) उपमावाचक पद के अभाव में दो अर्थों की उपमानोपमेयभाव प्रतीति अर्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त कर ली गई है अतः वहाँ पर भी अभिधेय और व्यंग्यालङ्कार प्रतीतियों का पौर्वापर्य भलीभाँति सरलता से लक्षित किया जा सकता है।

पदप्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यंग्य ध्वनि में भी दोनों अर्थों के सम्बन्ध के योग्य विशेषण पद की योजना (किसी) योजक पद के अभाव में भी शब्दरहित होते हुये भी अर्थ से ही अवस्थित होती है; अतः यहाँ पर भी पहले के समान ही अभिधेय तथा उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त अलङ्कारमात्र प्रतीतियों का पौर्वापर्य ठीक रूप में स्थित ही है। आर्थी प्रतीति भी इस प्रकार के विषय में दोनों अर्थों के सम्बन्ध के योग्य शब्दसामर्थ्य से प्रसूत की गई है, अतः शब्दशक्तिमूला की कल्पना की जाती है।

(लो०)—**शाब्द्यामिति।** शाब्द्यामपीत्यर्थः। उपमावाचकं यथेवादि। **अर्थसामर्थ्यादिति।** वाक्यार्थसामर्थ्यादिति यावत्।

एवं वाक्यप्रकाशशब्दशक्तिमूलं विचार्य पदप्रकाशं विचारयति—**पदप्रकाशेति। विशेषणपदस्येति।** जड इत्यस्य। **योजकमिति।** कूप इति च अहमिति चोभयसमानाधिकरणतया संवलनम्। अभिधेयं च तत्सामर्थ्याक्षिप्तं च तयोरलङ्कारमात्रयोः। ये प्रतीती तयोः पौर्वापर्यक्रमः सुस्थितं सुलक्षितमित्यर्थः मात्रग्रहणेन रसप्रतीतिस्तत्राप्यलक्ष्यक्रमैवेति दर्शयति। नन्वेवमार्थत्वं शब्दशक्तिमूलत्वं चेति विरुद्धमित्याशङ्क्याह—**आर्थ्यपीति।** नात्र विरोधः कश्चिदितिभावः। एतच्च वितत्य पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते।

(अनु०) 'शाब्दी में' यह। अर्थात् शाब्दी में भी। उपमा वाचक यथा इव इत्यादि। 'अर्थ-सामर्थ्य से' यह। अर्थात् वाक्यार्थ सामर्थ्य से।

इस प्रकार वाक्यप्रकाश्य शब्दशक्तिमूल का विचार करके पदप्रकाश का विचार करते हैं—'पदप्रकाश' यह। 'विशेषण पद का' यह। 'जड' इसका। 'योजक' यह। 'कूप' यह और 'मैं' यह इन दोनों के समानाधिकरण के रूप में संमिलन। अभिधेय और उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त उन दोनों का (अर्थात्) केवल दो अलङ्कारों का। जो दो प्रतीतियाँ उनका पौर्वापर्य क्रम। सुस्थित है अर्थात् भली भाँति लक्षित किया गया है। मात्र ग्रहण से यह दिखलाते हैं कि रस प्रतीति वहाँ पर भी अलक्ष्य क्रम ही होती है। 'निस्सन्देह इस प्रकार आर्थत्व और शब्दशक्तिमूलत्व विरुद्ध है यह शङ्का करके कहते हैं—'आर्थी भी' यह। भाव यह है कि यहाँ कोई विरोध नहीं है। यह विस्तारपूर्वक पहले बतलाया गया है अतः पुनः नहीं कहा जा रहा है।

तारावती—अब शब्दशक्तिमूलानुरणन रूप व्यंग्यध्वनि को ले लीजिये—इसके दो भेद बतलाये गये थे वाक्यप्रकाश और पदप्रकाश। द्वितीय उद्योत में वाक्यप्रकाश शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण दिया गया था—'दत्तानन्दाः''''प्रीतिमुत्पादयन्तु'। वहाँ पर दो अर्थ होते हैं—सूर्यकिरणपरक अर्थ और धेनुपरक अर्थ। सूर्यकिरणपरक अर्थ प्राकरणिक होने से वाच्यार्थ है और धेनुपरक अर्थ व्यंग्यार्थ है। यहाँ पर दोनों अर्थों की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक है। इसके बाद दोनों अर्थों की असम्बद्धार्थकता का निवारण करने के लिये 'किरणों के समान गायें' इस उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। इस कल्पना में कोई ऐसा शब्द सहायक नहीं होता जो कि उपमावाचक कहा जा सके। आशय यह है कि यहाँ पर इव इत्यादि कोई ऐसा शब्द नहीं आया है जो कि उपमावाचक माना जाता है। केवल अर्थसामर्थ्य से ही उपमा का आक्षेप कर लिया जाता है। यद्यपि वहाँ पर प्रथम और द्वितीय अर्थों की प्रतीति ज्येष्ठ और कनिष्ठ की उत्पत्ति के समान होती है और उनमें कार्यकारण भाव के अभाव में पौर्वापर्य की कल्पना नहीं की जा सकती तथापि इन दोनों अर्थों की प्रतीति उपमा की कल्पना में कारण अवश्य होती है। अत एव अभिधेय और व्यंग्य अर्थों की प्रतीति में तथा उपमालङ्कार की प्रतीति में कार्यकारण भाव सम्बन्ध होने से पौर्वापर्य क्रम लक्षित अवश्य होता है।

ऊपर वाक्यप्रकाश शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में क्रम के संलक्षित होने की व्याख्या की गई है, अब पदप्रकाश शब्दशक्तिमूलक को लीजिये—जहाँ पर शब्द शक्ति के आधार पर अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि होती है वहाँ पर कोई एक ऐसा विशेषण विद्यमान होता है जिसमें दोनों अर्थों से सम्बन्ध करने की योग्यता होती है। वहाँ पर कोई ऐसा योजक पद नहीं होता जो दोनों में संयोग उत्पन्न करे। इस प्रकार बिना ही शब्द के अर्थ सामर्थ्य से वहाँ पर उन दोनों अर्थों की योजना की जाती है। इस प्रकार वाक्यप्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के समान वाच्यार्थ और उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त केवल अलङ्कार की प्रतीति में पौर्वापर्यक्रम सरलता पूर्वक लक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए इसी उद्योत के 'प्रातुं धनैः''''''''कृतोऽहम्' इस पद्य को ले लीजिए। यहाँ पर 'जड' यह विशेषण कूप के साथ भी लगता है और मैं के साथ भी। क्योंकि 'जडः' में प्रथमा है और 'कूपः' तथा 'अहम्' के साथ उसका सामानाधिकरण्य है। यहाँ पर कोई 'यथा' 'वा' 'इव' इत्यादि वाचकशब्द विद्यमान

नहीं है। फिर भी अर्थसामर्थ्य से उपमालङ्कार की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ उपमा की प्रतीति में पौर्वापर्यक्रम भली-भाँति लक्षित होता है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि ऐसे स्थान पर किसी रस की भी ध्वनि होती है तो वह असंल्लक्ष्यक्रम ही रहता है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिये 'केवल अलङ्कार' में 'केवल' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे 'प्रातुं धनै·······कृतोऽहम्' इस पद्य से ही उपमालङ्कार की ध्वनि तो संल्लक्ष्यक्रम है किन्तु उससे अभिव्यक्त होनेवाला करुण रस असंल्लक्ष्यक्रम ही रहता है।

(प्रश्न) 'गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु' इस शाब्दी वाक्यव्यञ्जना में और 'प्रातुं धनै·······कृतोऽहम्' इस शाब्दी पदव्यञ्जना में व्यंग्यार्थप्रीति को शब्दशक्तिमूलक कहा गया है, दूसरी ओर आप कहते हैं कि यहाँ पर अर्थ सामर्थ्य से अलङ्कार का आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं। यदि अर्थ शक्ति से उपमा की व्यञ्जना होती है तो यह उपमा शब्दशक्तिमूलक कैसे हुई ? यदि शब्दशक्तिमूलक है तो अर्थसामर्थ्य से आक्षेप का क्या अर्थ ? अर्थ शक्ति से आक्षेप और शब्दशक्तिमूलकता इनमें विरोध क्यों नहीं ? (उत्तर) इस प्रकार के विषय में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनमें दोनों प्रकार के (वाच्य और व्यङ्ग्य) अर्थों से सम्बन्ध रखने की योग्यता हो। जब एक प्रकार का अभिधेय अर्थ प्रकरणादिवश नियन्त्रित हो जाता है तब शब्दसामर्थ्य से दूसरा भी अर्थ ले लिया जाता है और उसी शब्दसामर्थ्य से आर्थी प्रतीति भी प्रतिप्रसूत हो जाती है। अत एव वहाँ पर व्यंग्यार्थप्रतीति शब्दशक्तिमूलक कही जाती है। आशय यह है कि अर्थसामर्थ्य का पुनरुज्जीवन शब्दशक्ति के बल पर ही होता है। अतः अर्थसामर्थ्य से आक्षेप और शब्दशक्तिमूलकता इन दोनों कथनों में परस्पर कोई विरोध नहीं। इस विषय की पहले शब्दशक्तिमूलक ध्वनि-निरूपण के प्रकरण में पर्याप्त व्याख्या की जा चुकी है, अतः यहाँ विशेष विवेचन अपेक्षित नहीं है।

(ध्वन्या०) अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धस्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्वकमेवार्थान्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः। तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सहव्यङ्ग्यस्य क्रमप्रतीतिविचारो न कृतः। तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावान्नियमभावी क्रमः। स तूक्तयुक्त्या क्वचिल्लक्ष्यते क्वचिन्न लक्ष्यते।

(अनु०) अविवक्षितावाच्यध्वनि का प्रकाशन तो अपने प्रसिद्ध विषय के वैमुख्य की प्रतीति के साथ ही होता है; अतः क्रम नियम से ही होनेवाला है। उसमें वाच्य के अविवक्षित होने के कारण ही वाच्य के साथ व्यंग्य के क्रम की प्रतीति का विचार नहीं किया गया। अत एव अभिधान और अभिधेय की प्रतीति के समान वाच्य और व्यंग्य की प्रतीतियों का निमित्त-निमित्तिभाव होने से नियमानुसार क्रम होनेवाला है। वह उक्त युक्ति से कहीं लक्षित होता है कहीं लक्षित नहीं होता।

(लो०)—**स्वविषयेति।** अन्धशब्दादेरुपहतचक्षुष्कादिः स्वो विषयः, तत्र यद्वैमुख्यमनादर इत्यर्थः। विचारो न कृत इति नामधेयनिरूपणद्वारेणेति शेषः। सहभावस्य

शङ्कितुमत्रायुक्तत्वादितिभावः। एवं रसादयः कैशिक्यादीनामितिवृत्तभागरूपाणां वृत्तीनां जीवितमुपनागरिकाद्यानाञ्च सर्वस्यास्योभयस्यापि वृत्तिव्यवहारस्य रसादिनियन्त्रितविषयत्वादिति यत्प्रस्तुतं तत्प्रसङ्गेन रसादीनां वाच्यातिरिक्तत्वं समर्थयितुं क्रमो विचारित इत्येतदुपसंहरति—**तस्मादिति**। अभिधानस्य शब्दरूपस्य पूर्वं प्रतीतिस्ततोऽभिधेयस्य। यदाह तत्र भवान्—

'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते' इत्यादि। 'अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते।' इत्यत्रापि चाविनाभाववत् समयस्याभ्यस्तत्वात् क्रमो न लक्ष्येतापि।

(अनु०) 'अपने विषय' यह। अन्ध शब्द इत्यादि का फूटी हुई आँखोंवाला इत्यादि अपना विषय है, उसमें जो वैमुख्य अर्थात् अनादर यह अर्थ है। 'विचार नहीं किया गया' यह। यहाँ पर यह शेष है—'नामधेय निरूपण के द्वारा'। भाव यह है—क्योंकि यहाँ पर सहभाव की शङ्का करना उचित नहीं है। इस प्रकार इतिवृत्तभागरूप कैशिकी इत्यादि वृत्तियों के और उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों के जीवन रस इत्यादि होते हैं। क्योंकि दोनों प्रकार के इस सभी वृत्तिव्यवहार के विषय रस से नियन्त्रित होते हैं। इस प्रकार जो प्रस्तुत था उसके प्रसङ्ग से रस इत्यादि के वाच्यातिरिक्तत्व का समर्थन करने के लिये क्रम का विचार किया गया यह उपसंहार कर रहे हैं—'अत एव' इत्यादि। शब्दरूप अभिधान की पहले प्रतीति होती है तब अभिधेय की। जैसा कि श्रीमान् जी ने कहा है—

'विषयत्व को बिना प्राप्त हुये शब्दों से अर्थ का प्रकाशन नहीं होता' इत्यादि। 'इससे रूप के अनिर्ज्ञात होने से क्या कहा? यह कहा जाता है।' यहाँ पर भी अविनाभाव के समान संकेत के अभ्यस्त हो जाने से क्रम लक्षित ही न हो।

तारावती—यह तो हुई विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की बात। अब अविवक्षितवाच्य ध्वनि को ले लीजिये—इस ध्वनि में दूसरे अर्थ का प्रकाशन स्वविषयवैमुख्य की प्रतीति के द्वारा हुआ करता है। आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनियों में पहले तो अपने विषय (वाच्यार्थ) की प्रतीति होती है, फिर उसका बाध होता है जिसमें अपने विषय (वाच्यार्थ) से विमुख हो जाना पड़ता है, तब लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है और बाद में व्यञ्जनाजन्य बोध होता है। जैसे 'निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' में अन्ध शब्द का अर्थ है नेत्रहीन। शीशा नेत्रहीन हो ही नहीं सकता। अत एव वाच्यार्थ का बाध हो जाता है। फिर मलिनरूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है और तब कहीं अतिशयतारूप व्यंग्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में नियम से ही एक प्रकार का क्रम अवश्य विद्यमान रहता है जो कि लक्षित भी किया जा सकता है। (प्रश्न) जब कि यहाँ पर क्रम अवश्य लक्षित होता है तब आप इस भेद को संल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेदों में क्यों नहीं रखते? (उत्तर) यदि वाच्यार्थ अभिमत और विवक्षित हो तब तो उसके साथ व्यंग्यार्थ का विचार करना ठीक हो सकता है, किन्तु जब वाच्यार्थ विवक्षित ही नहीं तब उसके साथ व्यंग्यार्थ के क्रम का न तो विचार ही किया जा सकता है और न उसके आधार पर नामकरण ही किया जा सकता

है। आशय यह है कि क्रम होता तो प्रत्येक व्यंग्यार्थ प्रकाशन में है। किन्तु वह कहीं लक्षित होता है कहीं नहीं।

(प्रश्न) रस इत्यादि को वृत्तियों का जीवन बतलाने के लिये प्रकरण का उपक्रम किया गया था और उपसंहार 'कहीं वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित होता है कहीं नहीं होता' यह कहकर किया गया। इस उपक्रम और उपसंहार की संगति किस प्रकार बैठती है? (उत्तर) प्रस्तुत प्रकरण यह दिखलाने के लिये उठाया गया है कि वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—कैशिकी इत्यादि अर्थवृत्तियाँ जो इतिवृत्त भाग रूप होती हैं और उपनागरिका इत्यादि शब्द वृत्तियाँ। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का जीवन रस इत्यादि ही होते हैं। इस प्रकार इस समस्त वृत्तिव्यवहार का नियन्त्रण रस इत्यादि के द्वारा ही होता है। इसीलिये वृत्तियों का जीवन रस माना जाता है। यही प्रस्तुत प्रकरण है। इस प्रकरण में प्रसंगवश यह दिखलाया गया कि रस इत्यादि वाच्य से भिन्न होते हैं। इसी बात का समर्थन करने के लिये वाच्य और व्यंग्य के क्रम पर विचार कर लिया गया। इस प्रकार यहाँ पर उपक्रम और उपसंहार का कोई विरोध नहीं।

ऐसा तो प्रायः होता है कि कार्य कारण का क्रम अधिक अभ्यस्त हो जाने पर प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिये अभिधान और अभिधेय को ले लीजिये। शब्द अभिधान होता है उसकी प्रथम प्रतीति होती है और अभिधेय (वाच्यार्थ) की प्रतीति बाद में, क्योंकि शब्द और अर्थ का निमित्त-निमित्तिभाव सम्बन्ध होता है। (इनमें भी एक क्रम होता है। पहले बालक वृद्ध व्यवहार में शब्द को सुनता है, फिर अवापोद्वाप से उसका अर्थ समझता है और तब प्रत्यभिज्ञा के बल पर अर्थबोध करता है। किन्तु जब अनेकशः व्यवहार के कारण उसे किसी अर्थ का पूर्ण ज्ञान होता है तब बिना ही क्रमप्रतीति के वह अर्थ को समझता जाता है।) शब्द और अर्थ के क्रम के विषय में भगवान् भर्तृहरि जी ने कहा है—'जब तक शब्द श्रावण इत्यादि ज्ञान-विषय को प्राप्त नहीं हो जाते तब तक वे अर्थ का प्रकाशन नहीं कर सकते।' इसके बाद भर्तृहरि जी ने इसका प्रतिपादन करते हुये लिखा है—'इसीलिए शब्द के रूप-ज्ञान न होने पर लोग पूछा करते हैं कि आपने क्या कहा?' इस प्रकार जैसे अविनाभाव सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति ज्ञान में क्रम होते हुये भी अधिक अभ्यस्त हो जाने के कारण लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार संकेतज्ञान भी अधिक अभ्यस्त हो जाने के कारण लक्षित नहीं होता। यही दशा वाच्य और व्यंग्य की है कि इनमें एक क्रम अवश्य विद्यमान रहता है किन्तु जब विशेष अभ्यास हो जाता है तब उसकी प्रतीति नहीं होती।

(ध्वन्या०) तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद्ब्रूयात्–किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम? व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम्? नहि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य। व्यङ्ग्यत्वं व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम्।

ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता तत्सिद्ध्यधीना

च व्यञ्जकसिद्धिरिति कः पर्यनुयोगावसरः। सत्यमेवैतत्; प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद्व्यपदिश्यते? यत्र च प्राधान्येनानवस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्वाद्वाक्यस्य। अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः। किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया? तस्मात्तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः। या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रम्, पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः।

(अनु०) वह इस प्रकार व्यंजक मुख से ध्वनि के प्रकारों के निरूपित कर दिये जाने पर कोई कहे—यह व्यंजकत्व क्या है? क्या व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन? अर्थ का व्यञ्जकत्व और व्यङ्ग्यत्व (बनता) ही नहीं। व्यङ्ग्यत्व व्यञ्जकत्व की सिद्धि के आधीन होता है और व्यङ्ग्य की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय होने से अव्यवस्था हो जायेगी।

(प्रश्न) वाच्यव्यतिरिक्त वस्तु की सिद्धि का प्रतिपादन तो पहले ही कर दिया; उसकी सिद्धि के आधीन व्यञ्जक की सिद्धि है तो परिप्रश्न का अवसर ही क्या? (उत्तर) यह सच ही है। पहले कही हुई युक्तियों से वाच्य-व्यतिरिक्त वस्तु की सिद्धि की गई। वह अर्थ तो व्यङ्ग्य के रूप में ही क्यों व्यपदेश (नाम) को प्राप्त होता है। और जहाँ पर प्राधान्य के रूप में अवस्थान नहीं होता वहाँ इसका नामकरण वाच्य के रूप में ही करना उचित है क्योंकि वहाँ पर वाचकत्व तत्परक है। अतः उसको प्रकाशित करनेवाले वाक्य का वाचकत्व ही व्यापार है। उसके दूसरे व्यापार की कल्पना की क्या आवश्यकता? इससे तात्पर्यविषयक जो अर्थ होता है वह मुख्य रूप में वाच्य होता है। और जो बीच में उस प्रकार के विषय में दूसरे वाच्य की प्रतीति होती है वह उस प्रतीति का केवल उपाय उसी प्रकार होती है जिस प्रकार पदार्थप्रतीति वाक्यार्थप्रतीति का उपायमात्र होती है।

(लो०) उद्योतारम्भे यदुक्तं व्यञ्जनमुखेन ध्वनेः स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति तदिदानीमुपसंहरन् व्यञ्जकभावं प्रथमोद्योते समर्थितमपि शिष्याणामेकप्रघट्टकेन हृदि निवेशयितुं पूर्वपक्षमाह—**तदेवमिति**। **कश्चिदिति**। मीमांसकादिः। **किमिदमिति**। वक्ष्यमाणश्चोदकस्याभिप्रायः।

प्रागेवेति। प्रथमोद्योते अभाववादनिराकरणे। अतश्च न व्यञ्जकसिद्ध्या तत्सिद्धिर्येनान्योन्याश्रयः शङ्क्येत, अपि तु हेत्वन्तरैस्तस्य साधितत्वादिति भावः। तदाह—**तत्सिद्धीति**।

स त्विति। अस्त्वसौ द्वितीयोऽर्थः, तस्य यदि व्यङ्ग्य इति नाम कृतम्, वाच्य इत्यपि कस्मान्न क्रियते? व्यङ्ग्य इति वाच्याभिमतस्यापि कस्मान्न क्रियते? अवगम्यमानत्वेन हि शब्दार्थत्वं तदेव वाचकत्वम्। अभिधा हि यत्पर्यन्ता तत्रैवाभिधायकत्वमुचितम्, तत्पर्यन्तता च प्रधानीभूते तस्मिन्नर्थे—इति मूर्धाभिषिक्तं ध्वनेर्यद्रूपं

निरूपितं तत्रैवाभिधाव्यापारेण भवितुं युक्तम्। तदाह—**यत्र चेति। तत्प्रकाशिन इति**। तद्व्यङ्ग्याभिमतं प्रकाशयत्यवश्यं तद्वाच्यं तस्येति।

उपायमात्रमित्यनेन साधारण्योक्त्या भाट्टं प्राभाकरं वैयाकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति। भाट्टमते हि—

वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥

इति शब्दावगतैः पदार्थैस्तात्पर्येण योऽर्थ उत्थाप्यते स एव वाक्यार्थः। स एव च वाच्य इति। प्राभाकरदर्शनेऽपि दीर्घदीर्घो व्यापारो निमित्तिनि वाक्यार्थे, पदार्थानां तु निमित्तभावः पारमार्थिक एव। वैयाकरणानां तु सोऽपारमार्थिक इति विशेषः। एतच्चास्माभिः प्रथमोद्योत एव वितत्य निर्णीतमिति न पुनरायस्यते ग्रन्थयोजनैव तु क्रियते। तदेतन्मतत्रयं पूर्वपक्षे योज्यम्।

(अनु०) उद्योत के प्रारम्भ में जो कहा गया था कि 'व्यंजकमुख से ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है' यह उसका इस समय उपसंहार करते हुये प्रथम उद्योत में समर्थित भी व्यंजकभाव को शिष्यों के हृदय में एक प्रघट्टक के द्वारा निविष्ट करने के लिये पूर्वपक्ष को कहते हैं—'वह इस प्रकार' यह। 'कोई' यह। मीमांसक इत्यादि। 'यह क्या' यह। आगे कहा जानेवाला पूर्वपक्षी--प्रश्नकर्ता का अभिप्राय है।

'पहले ही' यह। प्रथम उद्योत में अभाववाद के निराकरण में। और इसीलिये व्यंजक की सिद्धि से उसकी सिद्धि नहीं होती जिससे अन्योन्याश्रय की आशङ्का की जाय, अपितु क्योंकि दूसरे हेतुओं से उसे सिद्ध कर दिया गया है यह भाव है। वही कहते हैं—'उसकी सिद्धि' यह।

'वह तो' यह। यह द्वितीय अर्थ हो। उसका यदि व्यञ्जक यह नाम किया गया है तो वाच्य यह भी क्यों नहीं किया जाता? व्यङ्ग्य यह वाच्याभिमत का भी क्यों नहीं किया जाता? अवगत होने के साथ जो शब्द का अर्थ वही निस्सन्देह वाचकत्व होता है। जिस पर्यन्त अभिधा हो वही अभिधायकत्व उचित होता है। उसका पर्यन्त होना तो उस अर्थ के प्रधान होने पर होता है; इस प्रकार ध्वनि का जो रूप मूर्धाभिषिक्त रूप में निरूपित किया गया था उसी में अभिधाव्यापार का होना उचित है। वही कहते हैं—'जहाँ पर' यह। 'उसको प्रकाशित करनेवाला' यह। जो वाच्य उस व्यङ्ग्याभिमत को अवश्य प्रकाशित करे उसका यह (अर्थ है)।

'उपायमात्र' इसके द्वारा साधारण उक्ति से भाट्ट, प्राभाकर और वैय्याकरण के पूर्वपक्ष को सूचित करता है। निस्सन्देह भाट्टमत में—

'वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये ही उनकी प्रवृत्ति में अविनाभाव सम्बन्ध से प्राप्त पदार्थ का प्रतिपादन पाक में काष्ठों की ज्वाला के समान होता है।'

इस प्रकार शब्दों के द्वारा अवगत पदार्थों से तात्पर्य के रूप में जो अर्थ उत्थापित किया जाता है वही वाक्यार्थ होता है और वही वाच्य होता है। प्राभाकर दर्शन में भी

नैमित्तिक वाक्यार्थ में दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता है और पदार्थों का निमित्तभाव तो पारमार्थिक ही होता है। वैय्याकरणों के मत में तो वह अपारमार्थिक होता है यह विशेषता है। यह हमने प्रथम उद्योत में ही विस्तारपूर्वक निर्णय कर दिया था। अतः पुनः कष्ट नहीं उठाया जा रहा है; केवल ग्रन्थयोजना की जा रही है। इस प्रकार इन तीनों मतों की योजना पूर्वपक्ष में की जानी चाहिये।

व्यञ्जनावृत्ति पर पुनः विचार का उपक्रम

तारावती—प्रस्तुत (तृतीय) उद्योत के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की गई थी कि इस उद्योत में व्यंजना के रूप में ध्वनि का निरूपण किया जायगा। वह लगभग पूरी हो गई। अब उस प्रकरण का उपसंहार करते हुये व्यञ्जना की स्थापना की जा रही है। यद्यपि यह कार्य तो प्रथम उद्योत में ही किया जा चुका है तथापि शिष्यबुद्धिवैशद्य और विपक्षमुखमुद्रण के लिये उसका फिर एक बार समर्थन उचित प्रतीत होता है जिससे एक प्रघट्टक में ही सारी वस्तु शिष्यों की बुद्धि में सन्निविष्ट हो जाय। सर्व प्रथम यहाँ पर पूर्वपक्ष की स्थापना की जा रही है। अतः यहाँ पर जो कुछ कहा जा रहा है वह इस प्रकरण को उठानेवाले प्रेरक व्यक्ति की ओर से ही समझा जाना चाहिये।

व्यञ्जनाविषयक विप्रतिपत्ति

कतिपय दार्शनिक विचारधारायें इस प्रकार की हैं कि जो ऐसे अवसरों पर व्यञ्जनाव्यापार को स्वीकार नहीं करती। इसमें मीमांसक और वैय्याकरण मुख्य हैं। वे लोग कह सकते हैं कि आपने यहाँ पर व्यञ्जकत्व के द्वारा ध्वनि का निरूपण तो कर दिया, किन्तु इस पर प्रकाश नहीं डाला कि व्यञ्जकत्व क्या वस्तु है? क्या आप व्यञ्जकत्व की परिभाषा यह करते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करना (व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करनेवाला तत्त्व) व्यञ्जक कहलाता है? यदि आप व्यञ्जकत्व की यह परिभाषा मानेंगे तो न तो अर्थ का व्यञ्जकत्व ही सिद्ध हो सकेगा और न व्यङ्ग्यत्व ही। क्योंकि जब व्यङ्ग्यार्थ का पहले ज्ञान हो जायगा तभी व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करनेवाला तत्त्व व्यञ्जक कहला सकेगा। इस प्रकार व्यञ्जक की परिभाषा के अनुसार यदि पहले व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान नहीं हो जायेगा तो व्यंजक का ज्ञान हो ही न सकेगा। तब प्रश्न उठेगा कि व्यंगय किसे कहते हैं और व्यंग्य की परिभाषा यह की जायेगी कि व्यंजक शब्दों से उत्पन्न बोध के विषय को व्यंग्य कहते हैं। इस प्रकार व्यंग्य को समझने के लिये पहले व्यंजक को समझना अनिवार्य हो जायेगा। व्यंजक की सिद्धि व्यंग्य के आधीन और व्यंग्य की सिद्धि व्यंजक के आधीन, यह अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा। शास्त्र का नियम है कि अन्योन्याश्रय दोष जहाँ होता है वहाँ उसे शास्त्रीय मान्यता प्राप्त नहीं होती तथा दोनों का ही परित्याग कर दिया जाता है। अतः यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष आ जाने से न तो व्यंजकत्व ही सिद्ध हो सकेगा न व्यंग्यत्व ही। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह सिद्ध कर दिया कि व्यंजकत्व का स्वरूपनिरूपण ही असम्भव है फिर उसके रूपमें ध्वनि के विवेचन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु पूर्वपक्षी को यह शङ्का है कि कहीं उसकी मान्यता का प्रत्याख्यान सिद्धान्ती एक दूसरे रूप में न कर दे। अतः वह सिद्धान्ती के सम्भावित उत्तर की कल्पना-

करके उसका निराकरण कर रहा है—इस पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम उद्योत में अभाववाद के निराकरण के अवसर पर व्यंग्य की सत्ता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है। अतः व्यंग्य की सिद्धि में व्यंजक की सिद्धि की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। क्योंकि व्यंग्य तो पहले ही सिद्ध है। उस व्यंग्य के आधीन व्यंजक सिद्ध हो सकता है। अतः कोई दोष नहीं। इस सम्भावित कथन पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यह तो ठीक ही है कि पहले इसकी सिद्धि की जा चुकी है। हमें इसमें विवाद नहीं कि वाच्य से भिन्न दूसरा और अर्थ होता है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उसका नामकरण 'व्यंग्य' होना चाहिये इसमें आपके पास क्या प्रमाण है ? हम उसे व्यंग्य तभी कहेंगे जब व्यंजना नामक अतिरिक्त व्यापार सिद्ध हो जाय। उस व्यंजनाव्यापार को तो आपने सिद्ध ही नहीं किया, फिर आप उस वाच्यातिरिक्त अर्थ को व्यंग्य यह नाम दे किस प्रकार सकते हैं ? यदि आप मनमाना नाम रखने के लिये स्वतन्त्र हैं तो जिसे आप व्यंग्य कहते हैं उसे हम वाच्य कह सकते हैं अथवा जिसे आप वाच्य कहते हैं उसे हम व्यंग्य कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों अर्थों को वाच्य कहने में तर्क भी अधिक है, क्योंकि वाचकत्व की परिभाषा यही तो है कि किन्हीं शब्दों का ऐसा अर्थ हो जो कि तत्त्व का बोध करा सके। जिस तत्त्व का बोध कराया जाता है उसी तत्त्व को वाच्य की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। उचित यही है कि अभिधा का प्रसार जहाँ तक हो उसी अर्थ को अभिधेयार्थ माना जाय और उस क्रिया को अभिधान क्रिया कहा जाय। आशय यह है कि अभिधायकत्व उसे ही कहेंगे जो शब्दप्रयोग से अन्तिम बोध होगा। अन्तिम बोध तो प्रधानीभूत तात्पर्य में ही होता है। अतः अभिधा का प्रसार वहाँ तक हो जाता है जो शब्द का अन्तिम अभिप्रेत अर्थ होता है। इस प्रकार जिस अर्थ को आप ध्वनि नाम से मूर्धाभिषिक्त करते हैं और जिसको आप ध्वनि का स्वरूप घोषित करते हैं वह और कुछ नहीं वाक्य का तात्पर्य मात्र है और उस अर्थ के प्रत्यायन के लिये भी अभिधाव्यापार ही पर्याप्त है पृथक् रूप में व्यंजनाव्यापार को मानने की क्या आवश्यकता ? आशय यह है कि जहाँ वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ प्रधान रूप में स्थित हो वहाँ भी उसे वाच्य का नाम देना ही उचित है क्योंकि वाच्य का तात्पर्य उसी अर्थ में होता है। अत एव जिस शब्दव्यापार का आश्रय लेकर उस अर्थ का प्रकाशन किया जाता है उसे वाचकत्व या अभिधाव्यापार कहना ही ठीक है। उसके लिये पृथग्भूत एक दूसरे व्यंजना व्यापार को मानने की क्या आवश्यकता ? इस प्रकार तात्पर्यविषयक जो अर्थ होता है मुख्यरूप में वही वाच्य कहा जाता है। जहाँ पर दो अर्थों की प्रतीति होती है वहाँ एक अर्थ तो अन्तिम होता है और दूसरा अर्थ मध्यवर्ती होता है। वह अन्तिम अर्थ की प्रतीति का एक उपाय-मात्र होता है। (जहाँ पर व्यंग्याभिमत अर्थ अन्तिम तात्पर्य का विषय होता है वहाँ वाच्यार्थमात्र मध्यवर्ती होकर व्यंग्याभिमत अर्थ का उपाय हो जाता है और जहाँ व्यंग्यार्थ गौण तथा वाच्यार्थ मुख्य होता है वहाँ व्यंग्यार्थ मध्यवर्ती होकर वाच्यार्थ का उपाय हो जाता है।) यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पद का अर्थ-वाक्य के अर्थ का उपाय हुआ करता है।

ऊपर बतलाया गया है कि जिस प्रकार पदार्थ वाक्यार्थ का उपाय होता है उसी

प्रकार वाच्यार्थ भी अन्तिम तात्पर्यार्थ का उपाय होता है। यहाँ पर यह नहीं बतलाया गया है कि प्रस्तुत पूर्वपक्ष किन लोगों के मत में हैं; किन्तु सामान्य रूप में उपाय का प्रतिपादन करने से यह संकेत मिलता है कि यह पूर्वपक्ष भाट्ट, प्राभाकर और वैय्याकरणों के मत के अनुसार प्रतिपादित किया गया है। इन तीनों मतों में पदार्थ वाक्यार्थ का उपाय ही माना जाता है। श्लोक वार्तिक के वाक्याधिकरण में इस विषय में लिखा है :—

'जिस प्रकार जलते हुये काष्ठों का मुख्य प्रयोजन पाक को तैय्यार कर देना ही है; किन्तु ज्वाला के अभाव में काष्ठ कभी भी पाक तैय्यार करने में समर्थ नहीं हो सकते, अतः ज्वाला का पाकक्रिया में अविनाभाव सम्बन्ध है जिसको नान्तरीयक हेतु कहते हैं—अर्थात् ज्वाला के बिना काष्ठ पाक तैय्यार नहीं कर सकता—इसीलिये मध्य में ज्वाला की कल्पना कर ली जाती है और यह मान लिया जाता है कि काष्ठ ज्वाला में हेतु है तथा ज्वाला पाक में। वस्तुतः काष्ठ का मुख्य प्रयोजन पाक ही है। इसी प्रकार अर्थबोध के लिये उच्चारण किये हुये शब्दों का मुख्य फल होता है वाच्यार्थ बोध करना। किन्तु बिना शब्दार्थ के वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता; इसीलिये मध्य में शब्दार्थ की कल्पना कर ली जाती है और पदार्थ का प्रतिपादन किया जाता है।'

कुमारिलभट्ट के कथन का आशय

यह है कुमारिल भट्ट के अनुयायियों का कथन। इसका आशय यह है कि शब्दों से जिन अर्थों का अवगमन होता है वे अर्थ पदार्थ कहलाते हैं; वे मध्यवर्ती अर्थ होते हैं और तात्पर्य के रूप में एक नये अर्थ को उठाने में कारण बनते हैं। इस प्रकार जो नया अर्थ उठाया जाता है वही वाक्यार्थ कहलाता है और वही वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार पद प्रयोग का मुख्य प्रयोजन वाच्यार्थज्ञापन होता है किन्तु अन्तरालवर्ती पदार्थ उसके सहायक या उपायमात्र होते हैं। यह है भट्टमतानुयायियों की मान्यता। प्राभाकर दर्शन में भी 'सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो व्यापारः' का सिद्धान्त माना जाता है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार बाण का व्यापार सन्धान के बाद गात्रापघात और प्राणापहरण रूप में आगे-आगे बढ़ता जाता है; प्राणापहरण ही उसका मुख्य प्रयोजन होता है; गात्रापघात इत्यादि मध्यवर्ती क्रियायें उसका उपायमात्र होती हैं उसी प्रकार पद, पदार्थ और वाक्यार्थ के विषय में भी समझना चाहिये। वाक्यार्थ नैमित्तिक होता है और पदार्थ निमित्त-मात्र। इस प्रकार प्राभाकर दर्शन में भी पदार्थ का वाक्यार्थ से उपायमात्र का सम्बन्ध माना जाता है। वैय्याकरण दर्शन में भी इसी प्रकार की मान्यता है। अन्तर केवल यह है कि प्राभाकर दर्शन में कार्यान्वित में शक्ति मानी जाती है, अत एव उसमें पृथक् रूप में तात्पर्य-वृत्ति के मानने की आवश्यकता नहीं होती और अन्तरालवर्ती पदार्थ तात्त्विक माने जाते हैं। किन्तु वैय्याकरण इन अन्तरालवर्ती अर्थों को उसी प्रकार अतात्त्विक मानते हैं जिस प्रकार वेदान्त में अविद्या कल्पित घट पट इत्यादि समस्त पदार्थ अतात्त्विक ही माने जाते हैं। वेदान्त उन सबको ब्रह्मरूप ही मानता है। उसी प्रकार वैय्याकरण उन अन्तरालवर्ती पदार्थों को असत्य मानकर सभी को स्फोट (शब्द ब्रह्म) रूप ही मानते हैं। उनके मत में जिस प्रकार 'घट' में प्रत्येक वर्ण का कोई अर्थ नहीं होता उसी प्रकार 'घट लाओ' में प्रत्येक शब्द का कोई अर्थ नहीं। उनका अर्थ मानना केवल

अविद्याकल्पित है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम उद्योत में किया जा चुका है। अतः यहाँ पर ग्रन्थयोजना के लिये संकेतमात्र कर दिया गया है। सारांश यह है कि पूर्वपक्ष भाट्ट, प्राभाकर और वैय्याकरण इन तीनों के मत में सामान्यरूप में स्थापित किया गया है।

(ध्वन्या०)—**अत्रोच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमनहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा ? न तावदविशेषः, यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव। तथाहि—वाचकत्वलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः गमकत्वलक्षणस्त्वर्थान्तर-वषियः। न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्ग्ययोरपह्नोतुं शक्यः, एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन।**

वाच्यो ह्यार्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी। यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात्तदार्थान्तरत्वव्यवहार एव न स्यात्। तस्माद्विषयभेदस्तावत्तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः।

(अनु०) यहाँ कहा जा रहा है—जहाँ शब्द अपने अर्थ को कहते हुये अर्थान्तर का अवगमन कराता है वहाँ जो उसका अपने अर्थ का कहना और जो दूसरे अर्थ के अवगमन का हेतु होना उन दोनों में (कोई) विशेषता (भेद) नहीं है या है ? यह नहीं कि भेद नहीं है क्योंकि वे दोनों व्यापार भिन्न विषयवाले और भिन्न रूपवाले प्रतीत होते हैं। वह इसप्रकार—शब्द का वाचकत्व रूप व्यापार अपने अर्थ के विषय में होता है और गमकत्वरूप व्यापार दूसरे अर्थ के विषय में होता है। वाच्य और व्यङ्ग्य का अपना और पराया यह व्यवहार छिपाया हीं नही जा सकता क्योंकि एक की प्रतीति सम्बन्धी के रूप में होती है और दूसरे की सम्बन्धी के सम्बन्धी के रूप में।

निस्सन्देह वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी होता है और उससे भिन्न तो अभिधेय सामर्थ्य से आक्षिप्त सम्बन्धि-सम्बन्धी होता है। यदि उसका साक्षात् स्वसम्बन्धित्व हो तो अर्थान्तरत्व व्यवहार नहीं ही हो। अत एव उन दोनों व्यापारों का विषयभेद तो सु-प्रसिद्ध है।

(लो०) अत्रेति पूर्वपक्षे—**उच्यत इति** सिद्धान्तः। वाचकत्वं गमकत्वं चेति स्वरूपतो भेदः स्वार्थेऽर्थान्तरे क्रमेणेति विषयतः। ननु तस्माच्चेदसौ गम्यतेऽर्थः कथं तर्ह्युच्यतेऽर्थान्तरमिति। नो चेत्स तस्य न कश्चिदिति को विषयार्थ इत्याशङ्क्याह—**न चेति।**

न स्यादिति। एवकारो भिन्नक्रमः, नैव स्यादित्यर्थः। यावता न साक्षात्सम्बन्धि-त्वं तेन युक्त एवार्थान्तरव्यवहार इति विषयभेद उक्तः।

(अनु०) यहाँ पर अर्थात् पूर्वपक्ष में। 'कहा जा रहा है' अर्थात् सिद्धान्त। वाचकत्व और गमकत्व यह स्वरूप से भेद है और क्रमशः स्वार्थ में तथा अर्थान्तर में यह विषय से (भेद है)।

यदि उसे अर्थ अवगत होता है तो अर्थान्तर क्यों कहा जाता है। नहीं तो वह उसका कुछ नहीं होता तो विषय का क्या अर्थ ? यह शङ्का करके कहते हैं—न च इत्यादि।

'नहीं' यह। (यहाँ) 'एव' का प्रयोग भेद से होता है; अर्थात् नहीं ही हो। जिससे कि साक्षात् सम्बन्धित्व नहीं होता उससे अर्थान्तरत्व का व्यवहार उचित ही है। यह विषय-भेद बतलाया गया।

पूर्वपक्ष की स्थापना और स्वमत स्थापना

तारावती—अब सिद्धान्तपक्षी अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये पूर्वपक्ष की आलोचना कर रहा है—यहाँ पर मुझे यह कहना है कि जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को कहते हुये दूसरे अर्थ का अवगम करता है वहाँ दो अर्थ हो जाते हैं एक स्वार्थ और दूसरा अर्थान्तर। वहाँ पर स्वार्थ और अर्थान्तर दोनों को प्रकट करने में शब्द के जो दो व्यापार होते हैं उनमें आप अभेद (व्यापार की एकात्मकता) मानते हैं या भेद (विभिन्नरूपता)। यह आप कह ही नहीं सकते उनमें व्यापार की एकात्मकता होती है क्योंकि दोनों व्यापारों के विषयों में भी भेद होता है और रूप में भी भेद होता है तथा दोनों में भेद की प्रतीति प्रकट रूप में होती है। शब्द पहले स्वार्थ को प्रकट करता है फिर अर्थान्तर को, इस प्रकार इनकी प्रतीति भिन्न कालों में क्रम से होती है, अतः दोनों का विषयभेद मानना अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार एक व्यापार को वाचकत्व (अभिधा) कहते हैं दूसरे को व्यञ्जकत्व (व्यञ्जना)। यह इनके रूप में भेद हो गया। विषय और रूप दोनों में भेद होने के कारण हम इन दोनों व्यापारों को अभिन्न नहीं मान सकते। (प्रश्न) यदि आप यह मानते हैं कि शब्द से ही दूसरा अर्थ अवगत होता है तो आप उसे अर्थान्तर (दूसरा अर्थ) क्यों कहते हैं; वह तो शब्द का अपना ही अर्थ है—अर्थान्तर कैसे हुआ ? यदि आप यह मानते हैं कि वह अर्थ शब्द का नहीं है तो शब्द से उसका सम्बन्ध ही क्या ? ऐसी दशा में उस अर्थ को शब्द का विषयार्थ मानना तो और भी दूर की बात हो गई। जब शब्द से उसका सम्बन्ध ही नहीं तो उसको शब्द का विषयार्थ मानना किस प्रकार संगत हो सकता है ? (उत्तर) इस बात को तो आप अस्वीकार कर ही नहीं सकते और न आप उसे छिपा ही सकते हैं कि वाच्यार्थ शब्द का अपना अर्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ अर्थान्तर होता है। कारण यह है कि वाच्यार्थ तो शब्द से साक्षात् सम्बद्ध होता है और व्यङ्ग्यार्थ परम्परा से सम्बद्ध होता है—व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बद्ध होता है और वाच्यार्थ शब्द से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शब्द से नहीं होता इसीलिये वह शब्द का साक्षात् अर्थ न कहा जाकर अर्थान्तर कहलाता है। वह शब्द का विषय इसलिये कहा जाता है कि परम्परा से उसका सम्बन्ध शब्द से होता तो है ही। सारांश यह है कि वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी होता है और व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर सम्बन्धी का सम्बन्धी हो जाता है। यह तो ठीक ही है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ भी शब्द का साक्षात् सम्बन्धी होता तो अर्थान्तर कहा ही नहीं जाता। यहाँ पर 'व्यवहार एव न स्यात्' में 'एव' शब्द व्यवहार के साथ जुड़ा है किन्तु उसका अन्वय क्रम को बदल कर 'न' के साथ होता है। अतः यहाँ अर्थ होगा—कि यदि व्यङ्ग्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी हो तो उसके लिये अर्थान्तर का व्यवहार नहीं ही हो। अतः विषयभेद तो प्रसिद्ध ही है।

(ध्वन्या०)—रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव। नहि यैवाभिधानशक्तिः सैवागमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गतिशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात्। अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः। तथाहि—'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादिश्लोके चेष्टाविशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव।

तस्माद्भिन्नविषयत्वाद्भिन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य तत्तयोः स्पष्ट एव भेदः। विशेषश्चेन्न तर्हीदानीमवगमनीयस्याभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव न वाच्यत्वेन। प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता।

(अनु०) रूपभेद भी प्रसिद्ध ही है। जो अभिधानशक्ति है वही अवगमनशक्ति नहीं ही है। क्योंकि आवाचक भी गीत शब्द की रस इत्यादि लक्षणवाली अर्थ की प्रतीति देखी जाती है और शब्द से रहित भी चेष्टा इत्यादि की अर्थ विशेष प्रकाशन की प्रसिद्धि है ही। वह इस प्रकार—व्रीडायोगान्नतवदनया इत्यादि श्लोक में सुकवि ने विशेष प्रकार की चेष्टा को अर्थविशेष के प्रकाशन के रूप में प्रदर्शित किया है।

इसलिये विषयभेद होने से और रूपभेद होने से शब्द का जो अपने अर्थ का कहना और दूसरे अर्थ के अवगमन का हेतु होना, उन दोनों में स्पष्ट ही भेद है। यदि भेद है तो अब अवगमनीय अभिधेय सामर्थ्याक्षिप्त अर्थान्तर के लिये वाच्यत्व का नाम नहीं दिया जा सकता। हम लोग उसकी शब्दव्यापारगोचरता तो चाहते हैं। वह तो व्यङ्ग्यत्व के रूप में ही हो सकती है वाच्यत्व के रूप में नहीं। क्योंकि दूसरे प्रसिद्ध अभिधान के सम्बन्ध के योग्य होने के कारण उस अर्थान्तर की प्रतीति का जो अपने अर्थ को कहनेवाले दूसरे शब्द से विषय किया जाना है उसमें प्रकाशन की युक्ति ही ठीक है।

(लो०) ननु भिन्नेऽपि विषये अक्षशब्दादेर्बह्वर्थस्य एक एवाभिधालक्षणो व्यापार इत्याशङ्क्य रूपभेदमुपपादयति—**रूपभेदोऽपीति**। प्रसिद्धिमेव दर्शयति—**न हीति**। विप्रतिपन्नं प्रतिहेतुमाह—**अवाचकस्यापीति**—यदेव वाचकत्वं तदेव गमकत्वं यदि स्यादवाचकस्य गमकत्वमपि न स्यात्, गमकत्वेनैव वाचकत्वमपि न स्यात्। न चैतदुभयमपि गीतशब्दे शब्दव्यतिरिक्ते चाधोवक्त्रत्वकुचकम्पनवाष्पावेशादौ तस्यावाचकस्याप्यवगमकारित्वदर्शनादवगमकारिणोऽप्यवाचकत्वेन प्रसिद्धत्वादिति तात्पर्यम्।

एतदुपसंहरति—**तस्माद्भिन्नेति। न तर्हीति**। वाच्यत्वं ह्यभिधाव्यापारविषयता न तु व्यापारमात्रविषयता, तथात्वे तु सिद्धसाधनमित्येतदाह—**शब्दव्यापारेति**।

ननु गीतादौ माभूद्वाचकत्वमिह त्वर्थान्तरेऽपि शब्दस्य वाचकत्वमेवोच्यते किं हि तद्वाचकत्वं सङ्कोच्यत इत्याशङ्क्याह—**प्रसिद्धेति**।

शब्दान्तरेण तस्यार्थान्तरस्य यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता न वाचकत्वोक्तिः शब्दस्य, नापि वाच्यतोक्तिरर्थस्य तत्र युक्ता। वाचकत्वं हि

समयवशादव्यवधानेन प्रतिपादकत्वं यथा तस्यैव शब्दस्य स्वार्थे, तदाह—**स्वार्थाभिधायिनेति।** वाच्यत्वं हि समयबलेन निर्व्यवधानं प्रतिपाद्यत्वं यथा तस्यैवार्थस्य शब्दान्तरं प्रति तदाह—**प्रसिद्धेति।** प्रसिद्धेन वाचकतयाभिधानान्तरेण यः सम्बन्धो वाच्यत्वं तदेव तत्र वा यद्योग्यत्वं तेनोपलक्षितस्य। न चैवं विधं वाचकत्वमर्थं प्रति शब्दस्येहास्ति, नापि तं शब्दं प्रति तस्यार्थस्योक्तरूपं वाच्यत्वम्। यदि नास्ति तर्हि तस्य विषयीकरणमुक्तमित्याशङ्क्याह—**प्रतीतेरिति।** अथ च प्रतीयते सोऽर्थो न च वाच्यवाचकव्यापारेणेति विलक्षण एवासौ व्यापार इति यावत्।

(अनु०) 'निस्सन्देह भिन्न विषय में बहुत अर्थोंवाले अक्ष शब्द इत्यादि का एक ही अभिधारूप व्यापार होता है' यह शङ्का करके रूपभेद का उपादान कर रहे हैं—यदि जो वाचकत्व है वही गमकत्व हो तो अवाचक का गमकत्व भी न हो और गमकत्व होने पर वाचकत्व नहीं है ऐसा भी न हो। यह दोनों ही बात है क्योंकि गीत शब्द में तथा शब्दरहित मुख के झुकने, स्तनों के कम्पन, वाष्प के आवेश इत्यादि में उस अवाचक का भी अवगमकारित्व देखा जाता है अतः अवगमकारित्व की भी अवाचकत्व के रूप में प्रसिद्धि है।

इसका उपसंहार करते हैं—'इसलिये.........' इत्यादि। 'तो नहीं' यह—वाचकत्व निस्सन्देह अभिधाव्यापार की विषयता को कहते हैं समस्त व्यापारों की विषयता को नहीं। ऐसा होने पर तो यह सिद्ध का साधन ही है यह कहते हैं—'शब्द व्यापार' इत्यादि। 'गीत इत्यादि में वाचकत्व न हो यहाँ पर तो अर्थान्तर में भी शब्दवाचकत्व ही कहा जाता है। उस वाचकत्व का सङ्कोच क्यों किया जा रहा है? यह शङ्का करके उत्तर देते हैं—प्रसिद्ध यह।

दूसरे शब्द के द्वारा जो दूसरे अर्थ का विषय बनाया जाना उसमें शब्द की प्रकाशन की उक्ति ही ठीक है न तो शब्द की वाचकत्व की उक्ति ठीक है और न अर्थ की वाचकत्व की उक्ति। सङ्केतवश अव्यवधान रूप में प्रतिपादन करना निस्सन्देह वाचकत्व है जैसे उसी शब्द का अपने स्वार्थ में, वही कहते हैं—'अपने अर्थ को कहनेवाले के द्वारा' यह। वाच्यत्व निस्सन्देह सङ्केत के बल पर व्यवधान रहित प्रतिपादित होने को कहते हैं जैसे उसी अर्थ का दूसरे शब्द के प्रति। वही कहते हैं—'प्रसिद्ध' यह। वाचक के रूप में प्रसिद्ध दूसरे अभिधान के साथ जो सम्बन्ध अर्थात् वाचकत्व वही या उसी में जो योग्यता उस योग्यता के द्वारा उपलक्षित (अर्थान्तर की प्रतीति)। निस्सन्देह यहाँ पर शब्द का इस प्रकार का अर्थ के प्रति वाचकत्व नहीं है, नहीं ही उस शब्द के प्रति उस अर्थ का कहे हुये रूपवाला वाच्यत्व है। 'यदि नहीं है तो क्यों उसका विषयीकरण कहा गया है' यह शङ्का करके कहते हैं—'प्रतीति का' यह। यदि वह अर्थ प्रतीत होता है किन्तु वाच्य-वाचक व्यापार के द्वारा नहीं तो विलक्षण ही वह व्यापार है यह सब का सार है।

तारावती—(प्रश्न) जहाँ द्वयर्थक या अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ दो या अनेक अर्थों का शब्द से साक्षात् सम्बन्ध होता है। जैसे 'अक्ष' शब्द के इन्द्रिय इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं। ऐसे स्थलों पर एक ही व्यापार से काम चल सकता है और उसे अभिधाव्यापार की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। फिर व्यापारभेद मानने की क्या आवश्य-

कता ? (उत्तर) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के व्यापारों में केवल विषय भेद ही नहीं होता इनका रूपभेद भी होता है। और वह रूपभेद भी सुप्रसिद्ध ही है। यदि अभिधाव्यापार और व्यञ्जनाव्यापार दोनों एक ही वस्तु होते तो जहाँ वाचकत्व विद्यमान न होता वहाँ व्यञ्जना भी नहीं हो सकती और यदि व्यञ्जना व्यापार होता तो यह कहा ही नहीं जा सकता वहाँ पर अभिधा व्यापार नहीं है। किन्तु ये दोनों बातें ही नहीं होतीं। जहाँ वाचकत्व नहीं होता वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार हो सकता है और जहाँ व्यञ्जनाव्यापार होता है वहाँ अवश्य ही अभिधा हो ऐसा नहीं होता। उदाहरण के लिये गीत नृत्य इत्यादि शब्दों में अभिधा-व्यापार नहीं होता और न उनमें वाच्यार्थ ही होता है, फिर भी उनसे रस इत्यादि रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति देखी जाती है। केवल इतना ही नहीं अपितु जहाँ शब्द भी नहीं होता वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार देखा जाता है। उदाहरण के लिये 'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादि पद्य में नायिका का मुख नीचा हो जाना, स्तनों का काँपने लगना, आँसुओं का आवेश इत्यादि शब्द नहीं हैं; केवल चेष्टायें ही हैं किन्तु इनसे भी विशेष अर्थ की व्यञ्जना होती ही है। इस प्रकार जहाँ शब्द होता है किन्तु वाचकत्व नहीं होता वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार देखा जाता है और जहाँ शब्द भी नहीं होता केवल चेष्टायें ही होती हैं वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार देखा जाता है। अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि व्यञ्जनाव्यापार न तो अभिधाव्यापार का पर्याय है और न इनका अनिवार्य साहचर्य ही है। इस प्रकार व्यञ्जना और अभिधा का विषय-भेद भी है और रूपभेद भी। अतः शब्द का अपना अर्थ प्रकट करना और अर्थान्तर के अवगम में हेतु होना इन दोनों तत्त्वों में स्पष्ट भेद है। अब दूसरे पक्ष को लीजिये कि आप स्वार्थ और अर्थान्तर के प्रत्यायन की क्रियाओं को भिन्न मानते हैं। ऐसी दशा में आप यह नहीं कह सकते कि जिस द्वितीय अर्थ का अवगमन कराया जाता है और जिसका आक्षेप अभिधेय के सामर्थ्य से होता है उसको वाच्य की संज्ञा ही प्राप्त होती है। क्योंकि अभिधा-व्यापार का जो विषय होता है उसको ही वाच्य की संज्ञा प्राप्त होती है, सभी व्यापारों के विषय को वाच्य नहीं कह सकते। यदि इतनी बात स्वीकार कर ली जाती है कि जिस अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे वाच्य की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती तो सिद्धान्तपक्षी का पूर्वपक्ष से कोई विरोध नहीं रह जाता। फिर तो पूर्वपक्षी उसी बात को सिद्ध करने लगता है जो कि सिद्धान्तपक्ष की मान्यता है। यह तो सिद्धान्तपक्ष में भी स्वीकार किया जाता है कि जिस अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह शब्द के व्यापार का ही विषय होता है अर्थात् अर्थान्तर की प्रतीति में शब्द का व्यापार ही निमित्त होता है वह शब्दव्यापार अभिधा से भिन्न होता है इतना मान लेने पर पूर्वपक्ष की दृष्टि से भी सिद्धान्ती का अभिमत व्यञ्जना व्यापार सिद्ध हो जाता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि शब्द से प्रतीत होनेवाले अर्थान्तर को व्यङ्ग्यत्व की ही संज्ञा प्राप्त होना चाहिये वाच्यत्व की नहीं। (प्रश्न) आपने गीत इत्यादि में वाचकत्व के अभाव में भी व्यङ्ग्यत्व को सिद्धकर वाचकत्व और व्यञ्जकत्व का विभेद प्रतिपादित किया है। इस पर निवेदन यह है कि जहाँ वाचकत्व बिलकुल नहीं होता उसकी बात जाने दीजिये। किन्तु जहाँ वाचकत्व होता है वहाँ अर्थान्तर में भी आप वाचकत्व ही क्यों

नहीं मानते ? वहाँ पर व्यञ्जकत्व स्वीकार करने से क्या लाभ ? (उत्तर) गीत इत्यादि में वाचकत्व के अभाव में भी व्यञ्जकत्व होता है केवल यही हेतु नहीं है जिससे हम वाचकत्व के साथ आनेवाले अर्थान्तर में व्यञ्जकत्व स्वीकार करते है। किन्तु इसका एक दूसरा भी हेतु है—व्यञ्जनाव्यापार के द्वारा जिस अर्थान्तर की प्रतीति करना हमें अभीष्ट है वह अर्थान्तर दूसरे शब्दों से भी अभिहित किया जा सकता है। (उदाहरण के लिये 'गङ्गायां घोषः' को लीजिये। यहाँ पर गङ्गा शब्द के प्रयोग से तट में लक्षणा होती है और उससे शैत्य और पावनत्व की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार जन्य है। इस प्रकार शैत्य पावनत्व रूप व्यञ्जना जन्य बोध में 'शैत्य' और 'पावनत्व' रूप शब्दों के द्वारा अभिहित किये जाने की भी योग्यता विद्यमान है। आशय यह है कि शैत्य पावनत्व का प्रत्यायन दो प्रकार से हो सकता है, एक तो शैत्य पावनत्व इत्यादि शब्दों के प्रयोग के द्वारा और दूसरे इन शब्दों या इनके समानार्थक शब्दों का प्रयोग न करते हुये 'गङ्गा' शब्द के प्रयोग के द्वारा ही उनका प्रत्यायन कराया जा सकता है।) इस प्रकार जहाँ पर अन्य शब्द के द्वारा अन्य अर्थ को विषय बनाया जाता है (जैसे उक्त उदाहरण में 'गङ्गा' शब्द के द्वारा शैत्य और पावनत्व को विषय बनाया गया है।) वहाँ पर न तो शब्द को वाचकत्व का पद प्राप्त हो सकता है और न अर्थ को वाच्यत्व का पद दिया जाना ही उचित है। इस क्रिया को प्रकाशन का पद देना ही उचित है। क्योंकि वाचकत्व का यही अर्थ है कि जहाँ किसी अर्थ को बिना बीच में लाये सङ्केत के बल पर प्रत्यक्ष रूप में किसी अर्थका प्रतिपादन कर दिया जाय इस प्रकार के अभिधायक शब्द को वाचक कहते हैं। जैसे उसी (व्यञ्जक) शब्द का अपने अर्थ में प्रयोग। (गङ्गा शब्द का अपना एक स्वतन्त्र प्रवाहपरक अर्थ है। इस अर्थ के प्रत्यायन में मध्य में किसी अन्य अर्थ को नहीं लाना पड़ता। अतः प्रवाह अर्थ के कथन में गंगा शब्द वाचक है।) इसी प्रकार वाच्यत्व की परिभाषा यह है कि बीच में किसी दूसरे अर्थ को बिना लाये हुये केवल सङ्केत के बलपर जो अर्थ प्रतिपादित कर दिया जाता है उसे वाच्य कहते हैं (जैसे शैत्य और पावन इन अर्थों का प्रत्यायन कराने के लिये गंगा से भिन्न साक्षात् शैत्य और पावन शब्द। इन शब्दों के प्रति शैत्य और पावनत्व अर्थों की वाच्यता कही जायगी।) आशय यह है कि व्यञ्जक शब्द का अपना एक स्वतन्त्र अर्थ भी होता है। वही उसका वाच्यार्थ कहा जाता है। व्यङ्ग्यार्थ की भी एक स्वतन्त्र सत्ता होती है जोकि उस शब्द से भिन्न दूसरे शब्दों से अभिहित की जा सकती है। (गंगा का स्वतन्त्र अर्थ होता है और शैत्य पावनत्व इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों का अभिधान गंगा से भिन्न अन्य शैत्य पावनत्व इत्यादि शब्दों से भी किया जा सकता है।) वाचक और वाच्य की यह परिभाषा मान लेने पर न तो इस प्रकार का वाच्यत्व गंगा शब्द में आता है और न इस प्रकार का वाच्यत्व शैत्य पावनत्व इत्यादि अर्थों में आता है। किन्तु उस वाच्यभिन्न अर्थ में किसी अन्य प्रसिद्ध शब्द के द्वारा कहे जाने की योग्यता होती है और शब्द अपने पृथक् अर्थ को कहा करता है। इस प्रकार अन्य प्रतीति को जहाँ अन्य शब्द का विषय बनाया जाता है वहाँ वाच्य-वाचक शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है। यहाँ पर यह पूछा जा सकता है जब वह अर्थ उस शब्द का वाच्य ही नहीं है तब उस अर्थ को उस शब्द का विषय बनाया ही किस प्रकार जा सकता है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये आलोककार ने

'प्रतीतेः' इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति तो होती है। उसका प्रतिवाद किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। प्रतीति होना ही उसकी सत्ता और उसके शब्द का विषय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। वह अर्थ प्रतीति-गोचर तो होता ही है, किन्तु उसकी प्रतीति वाच्य-वाचक व्यापार के द्वारा होती नहीं अतः उसके लिये विलक्षण व्यापार ही मानना पड़ेगा।

(ध्वन्या०) न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीति-रसत्यैवेति कैश्चिद्विद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थ-योर्घटतदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथाहि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम्। तेषां तदाविभक्ततयो-पलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः, नहि व्यङ्ग्ये प्रतीय-माने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्माद्घट-प्रदीपन्यायस्तयोः, यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। यत्तु प्रथमोद्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तं तदुपायमात्रात् साम्यविवक्षया।

(अनु०) वाच्य और व्यंग्य का पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय नहीं ही है। क्योंकि कुछ विद्वानों ने 'पदार्थप्रतीति असत्य ही है' यह सिद्धान्त माना है। जो इसके असत्यत्व को नहीं भी मानते हैं उनको वाक्यार्थ और पदार्थ का घट तथा उसके उपादान कारण का न्याय स्वीकार करना चाहिये। जैसे घट के बन जाने पर उसके उपादान कारणों की पृथक् रूप में उपलब्धि नहीं होती उसी प्रकार वाक्य या उसके अर्थ के प्रतीत हो जाने पर पदों तथा उसके अर्थों का। उनकी उस समय विभक्त रूप में उपलब्धि होने पर वाक्यार्थबुद्धि ही दूर हो जाय। यह वाच्य और व्यंग्य का न्याय नहीं है। व्यंग्य के प्रतीत होने पर वाच्यबुद्धि दूर नहीं होती। क्योंकि उसका प्रकाशन वाच्य के अवभास के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से होता है। इससे उनका घट-प्रदीप न्याय है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति के उत्पन्न हो जाने पर प्रदीप-प्रकाश निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार व्यंग्य प्रतीति में वाच्य का अवभास (निवृत्त नहीं होता)। जो प्रथम उद्योत में 'जैसे पदार्थ के द्वारा' इत्यादि कहा वह उपायमात्र से साम्यविवक्षा के आधार पर।

(लो०) नन्वेवं माभूद्वाचकशक्तिस्तथापि तात्पर्यशक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। कैश्चिदिति वैयाकरणैः। यैरपीति भट्टप्रभृतिभिः। तमेव न्यायं व्याचष्टे—**यथा हीति**। **तदुपादानकारणानामिति**। समवायिकारणानि कपालानि अनयोक्त्या निरूपि-तानि। सौगतकापालिकमते तु यद्यप्युपादातव्यघटकाले उपादानानां न सत्ता एकत्र क्षणस्थायित्वेन परत्र तिरोभूतत्वेन तथापि पृथक्तया नास्त्युपालम्भ इतीयत्यंशे दृष्टान्तः। **दूरीभवेदिति**। अर्थैकत्वस्याभावादिति भावः।

एवं पदार्थवाक्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं प्रकृते विषये निराकृत्याभिमतां प्रकाशशक्तिं साधयितुं तदुचितं प्रदीपघटन्यायं प्रकृते योजयन्नाह—**तस्मादिति**।

यतोऽसौ पदार्थवाक्यार्थन्यायो नेह युक्तस्तस्मात्। प्रकृतं न्यायं व्याकरणपूर्वकं दार्ष्टान्तिके योजयति—**यथैव हीति**। ननु पूर्वमुक्तम्—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः स प्रतीयते।
वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

इति तत्कथं स एव न्याय इह यत्नेन निराकृत इत्याशङ्क्याह—**यत्त्विति**। **तदिति**। न तु सर्वथा साम्येनेत्यर्थः।

(अनु०) 'निस्सन्देह इस प्रकार वाचकशक्ति न हो तथापि तात्पर्यशक्ति हो जायगी, यह शंका कर के कहते हैं—'**न च**' इत्यादि। कुछ लोगों के द्वारा। यह–अर्थात् वैय्याकरणों के द्वारा। और जिनके द्वारा भी यह अर्थात् भट्ट इत्यादिकों के द्वारा। उसी न्याय की व्याख्या कर रहे हैं—'यथाहि' यह। 'उसके उपादान कारणों का' यह। इस उक्ति के द्वारा समवायि कारण कपाल इत्यादि का निरूपण किया गया है। सौगत और कापालिक के मत में तो यद्यपि उपादान किये जाने योग्य घटकाल में उपादानों की सत्ता नहीं होती क्योंकि एक स्थान पर क्षणस्थायित्व होता है और दूसरे स्थानपर तिरोभाव हो जाता है तथापि पृथक् रूप में उपलब्धि नहीं होती। बस इतने ही अंश में दृष्टान्त है। 'दूर हो जाये' यह। आशय यह है कि अर्थ की एकता के अभाव के कारण।

इस प्रकार तात्पर्यशक्तिसाधक पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय का प्रकृत विषय में निराकरण कर अभिमत प्रकाशशक्ति को सिद्ध करने के लिये प्रदीप-घट न्याय की योजना प्रकृत में करते हुए कहते हैं—'उससे' यह। क्योंकि यह पदार्थवाक्यार्थ न्याय यहाँ पर उपयुक्त नहीं है इसलिये। प्रकृत न्याय की योजना विवरणपूर्वक दार्ष्टान्तिक में की जा रही है—'निस्सन्देह जैसे' यह। (प्रश्न) निस्सन्देह पहले कहा गया था—

'जैसे पदार्थ के द्वारा उस वाक्यार्थ को प्रतीति होती है। उसी प्रकार उस वस्तु की प्रतीति वाक्यार्थपूर्वक होती है।' यह

अतः किस प्रकार वही न्याय यहाँ पर प्रयत्नपूर्वक निराकृत किया गया? यह शङ्का करके कहते हैं—'जो तो' यह। 'वह' यह। अर्थात् सर्वथा साम्य के द्वारा नहीं।

तात्पर्यवृत्ति से निर्वाह न हो सकने का प्रतिपादन

तारावती—ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि शैत्य पावनत्व इत्यादि अर्थों की गङ्गा इत्यादि शब्दों से प्रतिपत्ति के लिये अभिधाव्यापार से भिन्न कोई अन्य व्यापार मानना पड़ेगा। इतना मान लेने पर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उस व्यापार को व्यंजनाव्यापार ही क्यों कहा जाना चाहिये? जिस प्रकार शब्दों के अर्थों से भिन्न तथा उन से गतार्थ न होनेवाले वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तात्पर्यवृत्ति मानकर काम चल जाता है उसी प्रकार तात्पर्यवृत्ति से ही शैत्य पावनत्व की प्रतीति भी हो जायगी। उसके लिये पृथक् वृत्ति की कल्पना व्यर्थ है। किन्तु इस विषय में कहा जा सकता है कि यहाँ पर पदार्थ और वाक्यार्थ की पद्धति लागू नहीं हो सकती। कारण यह है कि पदार्थ और वाक्यार्थ के विषय में सभी दार्शनिकों की एक जैसी सम्मति नहीं है। (केवल अभिहितान्वयवादी मीमांसक ही तात्पर्यवृत्ति स्वीकार

करते हैं, अन्विताभिधानवादी मीमांसक उसे मानते ही नहीं ।) वैय्याकरण लोग पदार्थप्रतीति को सर्वथा असत्य मानते हैं । (वैय्याकरण अखण्ड स्फोट को ही सत्य मानते हैं । उनके मत में वर्ण पद इत्यादि समस्त भेदकल्पना असत्य ही है । पद में वर्ण भिन्न नहीं होते, वर्णों में अवयव भिन्न नहीं होते और वाक्य में पदों की भेदकल्पना भी प्रमाणप्रतिपन्न नहीं है ।' यह है वैय्याकरणों के मत का सार ।) इनके अनुसार जब पद पदार्थ कल्पना ही ठीक नहीं तब उसका अनुसरण कर व्यञ्जना की तात्पर्य में गतार्थता स्वीकार ही किस प्रकार की जा सकती है ! कुछ आचार्य वैय्याकरणों के इस मिथ्यात्ववाद को नहीं मानते उनके मत में पद-पदार्थ कल्पना सत्य है । किन्तु उनके मत में उसकी व्याख्या इस प्रकार करनी होगी—वाक्य अथवा वाक्यार्थ कार्य है और पद अथवा पदार्थ कारण हैं । यहाँ पर कारण शब्द का अर्थ है उपादान अथवा समवायि कारण । कार्यकारण के लिये यह सामान्य नियम है कि समवायि कारण की प्रतीति पहले तो होती रहती है किन्तु जब कार्य बन चुकता है तब कारण की प्रतीति समाप्त हो जाती है । जैसे घट में समवायिकरण मिट्टी है । जब तक घट नहीं बनता तब तक तो मिट्टी की प्रतीति होती रहती है किन्तु जब घट बन चुकता है तब मिट्टी की पृथक् उपलब्धि नहीं होती । यही बात पद-पदार्थ तथा वाक्य-वाक्यार्थ के विषय में भी कही जा सकती है । पद-पदार्थ की प्रतीति पहले होती रहती है किन्तु वाक्य-वाक्यार्थ के निष्पन्न हो जाने पर पद-पदार्थ बुद्धि जाती रहती है । वाक्यार्थबोध के समय पद-पदार्थ बुद्धि के तिरोहित हो जाने का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वाक्य की परिभाषा की गई है कि वाक्य उसे कहते हैं जिसमें एक अर्थ हो । यदि वाक्यार्थबोध काल में पदार्थबोध बना रहेगा तो वाक्य की यह परिभाषा घटेगी किस प्रकार ? ऐसी दशा में उसको वाक्य या वाक्यार्थ कहना ही असंगत हो जायगा । ऐसी दशा में यह मानना ही पड़ेगा कि कार्य-कारण भाव के समान (घट तथा मृत्तिका के समान) वाक्य और वाक्यार्थबोध में भी पद और पदार्थ का ज्ञान समाप्त हो जाता है । यह तो हुई मीमांसकों के अनुसार व्याख्या । बौद्ध लोग क्षणिकतावादी होते हैं । उनके मत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण पर बदलता रहता है । इस प्रकार क्षणस्थायी होने के कारण कार्योत्पत्ति काल में समवायि कारण की सत्ता शेष ही नहीं रह जाती । इसी प्रकार (सांख्यों और) कापालिकों के मत में कार्योत्पत्ति होने पर कारणसत्ता तिरोहित हो जाती है । ऐसी दशा में कार्यप्रतीति काल में कारणप्रतीति तिरोहित हो जाती है । आशय यह है कि चाहे हम वैय्याकरणों के अनुसार पदार्थकल्पना को असत्य मानें, चाहे मीमांसकों के अनुसार कार्य-कारण भाव मानकर कार्यप्रतीति काल में कारण की अप्रतीति मानें, चाहे बौद्धों के अनुसार कारण के क्षणस्थायी होने से कार्यप्रतीति काल में कारण की असत्ता स्वीकार करें अथवा कापालिकों के अनुसार कार्य में कारण का तिरोधान मानें इतना तो निश्चित ही है कि किसी भी सिद्धान्त के अनुसार वाक्यार्थबोधकाल में पदार्थबोध नहीं होता । इसके प्रतिकूल वाच्य और व्यंग्य ये दोनों अर्थ एक साथ प्रतीतिगोचर होते हैं । व्यंग्य के प्रतीतिगोचर होने के समय वाच्यबुद्धि दूर नहीं हो जाती; अपितु व्यंग्य प्रतीति का यह अनिवार्य तत्त्व है कि उसकी प्रतीति वाच्यप्रतीति के साथ ही होती है । इसी अन्तर के कारण व्यंग्य और वाच्य

की प्रतीतियों के विषय में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय लागू नहीं हो सकता। अतः उस विषय में किसी अन्य न्याय का अन्वेषण करना होगा क्योंकि पदार्थवाक्यार्थ न्याय के निराकरण के साथ तात्पर्यशक्ति के द्वारा निर्वाह हो सकने का तो प्रश्न ही जाता रहा। अत एव कहना होगा कि वाच्य और व्यंग्य के विषय में प्रदीप-घटन्याय लागू होगा। प्रदीप घट को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता रहता है। पहले प्रदीप स्वयं प्रकाशित होता है और बाद में घट को प्रकाशित करदेता है। घट के प्रकाशित हो जाने के बाद प्रदीप का प्रकाशित होना समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार अभिधेयार्थ प्रकाश के समान पहले प्रकाशित होता है; फिर जिस प्रकार प्रकाश घट को प्रकाशित करता है उसी प्रकार अभिधेयार्थ व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करता है। बाद में जैसे घट के प्रकाशित हो जाने से प्रदीप प्रकाश निवृत्त नहीं हो जाता उसी प्रकार व्यंग्यार्थ प्रकाशन के बाद वाच्यार्थ निवृत्त नहीं हो जाता किन्तु दोनों ही साथ-साथ प्रतीतिगोचर होते रहते हैं। आशय यह है कि चाहे हम व्याकरण दर्शन के अनुसार यह मानें कि पद-पदार्थ कल्पना असत्य है; चाहे मीमांसकों के अनुसार कार्यकारणभाव सम्बन्ध मानें, चाहे बौद्धों के अनुसार क्षणिकताबाद अंगीकार करें और चाहे कापलिकों के मत का अनुसरण करते हुये कार्योत्पत्ति के बाद कारण का तिरोभाव मान लें, प्रत्येक अवस्था में पद-पदार्थ और वाक्य-वाक्यार्थ की समसामयिक सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती जबकि वाच्यार्थ और व्यंग्चार्थ दोनों का समसामयिक होना अनिवार्य है। इसीलिये वाच्यार्थ और व्यंग्चार्थ के विषय में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय नहीं लागू हो सकता। इस विषय में यही कहना होगा कि वाच्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रकाशित होता है; क्योंकि प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों एक साथ रह सकते हैं।

(ध्वन्या०)—नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते, तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्; नैष दोषः; गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यङ्ग्यस्य हि क्वचित्प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनभावः क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः। तत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव, वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्देक्ष्यते।। तस्मात् स्थितमेतत्—व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वम् अपितु व्यङ्ग्यत्वमेव।

(अनु०) (प्रश्न) निस्सन्देह इस प्रकार वाक्य का एक साथ दो अर्थों से युक्त होना सिद्ध हुआ, उसके होने पर उसकी वाक्यता ही विघटित हो गई क्योंकि उसका लक्षण एक अर्थ का होना है। (उत्तर) यह दोष नहीं है क्योंकि उन दोनों की व्यवस्था गौण और प्रधान-भाव से हो जाती है कहीं व्यङ्ग्य की प्रधानता होती है और वाच्य की गौणरूपता होती है; कहीं वाच्य का प्राधान्य होता है और दूसरे की गौणरूपता होती है। उसमें व्यङ्ग्य की प्रधानता में ध्वनि (होती है) यह कहा ही गया है। वाच्य प्राधान्य में तो प्रकारान्तर का निर्देश किया जायगा। इससे यह स्थित है—काव्य के व्यङ्ग्यपरक होने पर भी व्यङ्ग्य की अभिधेयरूपता नहीं होती अपितु व्यंग्यरूपता ही होती है।

(लो०)—**एवमिति**। प्रदीपघटवद्युगपदुभयावभासप्रकारेणेत्यर्थः। **तस्या इति**

वाक्यतायाः। ऐकार्थ्यलक्षणमर्थैकत्वाद्धि वाक्यमेकमित्युक्तम्। सकृत् श्रुतो ही शब्दो यत्रैव समयस्मृतिं करोति स चेदनेनैवावगमितः तद्विरम्य व्यापाराभावात् समय-स्मरणानां बहूनां युगपदयोगात्कोऽर्थभेदस्यावसरः। पुनः श्रुतस्तु स्मृतो वापि नासा-वितिभावः। तयोरिति वाच्यव्यङ्ग्ययोः। **तत्रेति**। उभयोः प्रकारयोर्मध्याद्यदा प्रथमः प्रकार इत्यर्थः। प्रकारान्तरमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यसंज्ञितम्। व्यङ्ग्यत्वमेवेति प्रकाश्यत्व-मेवेत्यर्थः।

(अनु०) 'इस प्रकार' यह। अर्थात् प्रदीपघट के समान एक साथ दोनों अवभास के प्रकार के द्वारा। 'उसके' अर्थात् वाक्यता के। 'ऐकार्थ्य लक्षण का आशय यह है कि अर्थ की एकता में वाक्य होता है यह कहा गया है। निस्सन्देह एक बार सुना हुआ शब्द जिस किसी स्थान पर सङ्केत स्मरण करता है यदि वह इसी के द्वारा अवगत करा दिया जाय तो विरत होकर व्यापार न होने के कारण बहुत से सङ्केत स्मरणों का एक साथ होना सम्भव न होने से अर्थ-भेद का अवसर ही क्या? भाव यह है कि यह पुनः सुना हुआ या स्मरण किया हुआ नहीं है। 'उन दोनों का' अर्थात् वाच्य और व्यंग्य का। 'वहाँ पर' यह। अर्थात् जहाँ पर दोनों प्रकारों के बीच में पहला प्रकार है। 'दूसरा प्रकार' यह। अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य नामक। व्यंग्यत्व ही अर्थात् प्रकाश्यत्व ही।

पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय तथा प्रदीप-घट न्याय

तारावती—(प्रश्न) प्रथम उद्योत में व्यंग्याभिव्यक्ति के लिये पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय की उपमा दी गई थी। वहाँ पर कहा गया था—

'जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार व्यंग्यवस्तु की प्रतिपत्ति वाक्यार्थपूर्वक होती है किन्तु यहाँ पर प्रयत्नपूर्वक यह सिद्ध कर दिया गया कि वाच्य व्यंग्य के विषय में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय लागू नहीं होता। इस पूर्वापरविरोध की संगति किस प्रकार बैठ सकती है' (उत्तर) (उपमा केवल साधर्म्य में होती है। उसमें वैधर्म्य नहीं लिया जाता।) प्रथम उद्योत की उक्त कारिका में उपमान और उपमेय का साधर्म्य केवल इतना ही है कि एक अर्थ की प्रतीति में दूसरा अर्थ उपाय हो सकता है। इतने साम्य के आधार पर ही प्रथम उद्योत में पदार्थ-वाक्यार्थ की उपमा दे दी गई थी, पूर्ण साम्य के आधार पर नहीं।

(प्रश्न) जब आप घट और प्रदीप की उपमा देते हैं और उसके द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि दोनों अर्थों की प्रतीति एक ही काल में होती है तब उस वाक्य की वाक्यता ही जाती रहती है। कारण यह है कि आचार्यों ने वाक्य की यही परिभाषा की है जिसका एक अर्थ हो उसे वाक्य कहते हैं। जैमिनि सूत्र में वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' अर्थात् यदि विभक्त करने पर उसके पदरूप अवयव परस्पर साकांक्ष हों और समस्त पदसमूह का एक अर्थ हो तो उसे वाक्य कहते हैं। (प्रतिप्रश्न) जब वाक्य के लिये आप एक अर्थ का होना अनिवार्य मानते हैं तब ऐसे स्थलों की क्या व्यवस्था होगी जहाँ श्लेष के कारण एक वाक्य के दो अर्थ हो जाते हैं? (समाधान) ऐसे अवसरों पर भी वाक्य एकार्थक ही रहता है। दोनों अर्थों को मिलाकर एक-

रूपता स्थापित कर दी जाती है। वह इस प्रकार समझिये—मानलीजिये किसी शब्द का एक बार उच्चारण किया गया है, यदि वह शब्द एक से अधिक अनेक अर्थों का वाचक है। एक से भिन्न अनेक अर्थ लसी शब्द से ही निकलते हैं और उन अर्थों में उस शब्द का संकेत-स्मरण भी होता है। अब प्रश्न यह है कि उस एक शब्द से ही अनेक संकेतित अर्थ निकल किस प्रकार सकते हैं? क्या एक के बाद दूसरा इस क्रम से वे अर्थ निकलते हैं या सब एक साथ ही निकलते हैं? क्रमशः अर्थ निकल नहीं सकते क्योंकि शास्त्र का नियम है कि शब्द की क्रिया रुक-रुक कर नहीं होती। एक अर्थ का प्रत्यायन कराकर अभिधा व्यापार समाप्त हो जाता है—उसका पुनरुजीवन हो ही नहीं सकता। सब अर्थों का अभिधान एक साथ भी नहीं हो सकता क्योंकि अर्थ के अभिधान के लिये संकेतस्मरण एक अनिवार्य तत्त्व है। अनेक अर्थों का एक साथ बुद्धि में उपारूढ हो सकना असम्भव है। अत एव दोनों ही प्रकार से अर्थभेद की कल्पना सर्वथा असंगत है। शब्द न तो बार-बार सुना गया है और न उसका स्मरण ही बार-बार किया गया है जिससे अनेकार्थता का प्रश्न उठे। अत एव वाक्य की यह परिभाषा असन्दिग्ध है कि एक अर्थ में पर्यवसित होनेवाले पदसमूह को वाक्य कहते हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि किसी पद समूह के दो अर्थ हो गये हों एक वाच्यार्थ और दूसरा व्यंग्यार्थ, वहाँ पर वाक्य का यह लक्षण किस प्रकार घट सकता है कि जहाँ एक अर्थ होता है उसे वाक्य कहते हैं। (उत्तर) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की व्यवस्था गौण और मुख्य रूप में कर दी जाती है। एक अर्थ को गौण मान लिया जाता है और दूसरे को प्रधान। इस प्रकार एक ही अर्थ मुख्य होने के कारण वाक्य की परिभाषा ठीक रूप में घट जाती है। कहीं-कहीं व्यंग्य प्रधान होता है और वाच्य गौण होता है। कहीं-कहीं वाच्य प्रधान होता है और व्यङ्ग्य गौण होता है। यह विस्तार पूर्वक बतलाया जा चुका है कि जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य प्रधान होता है उसे ध्वनि कहते हैं। इसके प्रतिकूल जहाँ व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य प्रधान होता है उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। इस बात का निर्देश आगे चलकर किया जायगा। इस समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि शब्द व्यंग्यपरक भी हो (और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के अनुसार उसे ही वाच्य संज्ञा प्राप्त होनेवाली हो) फिर भी वहाँ पर व्यंग्यार्थ अभिधावृत्ति से गतार्थ नहीं होता अपितु उसके लिये व्यञ्जना-वृत्ति मानना अनिवार्य हो जाता है।

(ध्वन्या०) **किञ्च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद्भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्यमतत्परत्वाच्छब्दस्य। तदस्ति तावद्व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद्विषय इति। यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्नूयते। एवं तावद्वाचकत्वादन्यदेव व्यञ्जकत्वस्यान्यत्वं यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्।**

(अनु०) और भी व्यंग्य की प्राधान्यरूप में विवक्षा न होने पर आपको वाच्यत्व स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि वहाँ पर शब्द तत्परक नहीं है। इससे व्यंग्य शब्द का कोई विषय है। जहाँ पर उसका प्राधान्य भी है वहाँ पर भी उसका स्वरूप क्यों छिपाया जा रहा है। इस प्रकार वाच्यत्व से तो व्यञ्जकत्व अन्य ही है। इससे भी वाचकत्व की

अपेक्षा व्यञ्जकत्व अन्य होता है जोकि वाचकत्व शब्द मात्र के आश्रित होता है और दूसरा शब्दाश्रित भी होता है और अर्थाश्रित भी, क्योंकि दोनों के व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

(लो०) ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये **वाच्यत्वमेव** न्याय्यम्, तर्ह्यप्रधाने किं युक्तं व्यङ्ग्यत्वमितिचेत्सिद्धो नः पक्षः, एतदाह—**किंचेति**। ननु प्राधान्ये मा भूद्व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह—**यत्रापीति**। अर्थान्तरत्वं सम्बन्धि-सम्बन्धित्वमनुपयुक्तसमयत्वमिति व्यङ्ग्यतायां निबन्धनं तच्च प्राधान्येऽपि विद्यत इति स्वरूपमहेयमेवेति भावः। एतदुपसंहरति—**एवमिति**। विषयभेदेन स्वरूपभेदेन चेत्यर्थः। तावदिति वक्तव्यान्तरमासूत्रयति। तदेवाह—**इतश्चेति**। अनेन सामग्रीभेदात्कारण-भेदोऽप्यस्तीति दर्शयति। एतच्च वितत्य ध्वनिलक्षणे 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति वाग्रहणं 'व्यङ्क्तः' इति द्विवचनं च व्याचक्षाणैरस्माभिः प्रथमोद्योत एव दर्शितमिति पुनर्न-विस्तार्यते।

(अनु०) निस्सन्देह 'यत्परक शब्द होता है वह शब्दार्थ हुआ करता है' इसलिये व्यंग्य के प्राधान्य होने पर वाच्यत्व ही न्याय्य है तो अप्रधान में क्या व्यंग्यत्व उचित है, यदि यह कहो तो हमारा पक्ष सिद्ध हो गया। यह कहते हैं—'और भी' इत्यादि। 'निस्सन्देह प्राधान्य में व्यंग्यत्व न हो' यह आशङ्का करके कहते हैं—'यहाँ पर............भी' इत्यादि। अर्थान्तरत्व, सम्बन्धि-सम्बन्धित्व और अनुपयुक्त संकेतत्व यह व्यंग्यता में निबन्धन है और वह प्राधान्य में भी विद्यमान ही है, अतः उसका स्वरूप नहीं छिपाया जा सकता—यह भाव है। इसका उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार' यह। अर्थात् विषयभेद से और स्वरूप से। 'तावत्' इससे दूसरे वक्तव्य का उपक्रम करते हैं। वही कहते हैं—'इससे भी' यह। इससे यह दिखलाते हैं कि सामग्रीभेद से कारणभेद भी होता है। यह ध्वनिलक्षण में 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस कारिका में 'वा' ग्रहण की और 'व्यङ्क्तः' में द्विवचन की व्याख्या करते हुये हमने प्रथम उद्योत में ही विस्तारपूर्वक दिखला दिया है अतः पुनः विस्तारपूर्वक नहीं दिखलाया जा रहा है।'

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' की विशेष मीमांसा

तारावती—(प्रश्न) सामान्यतया नियम यही है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिस अर्थ को कहने के लिये वह प्रयुक्त किया गया हो। यदि शब्द व्यङ्ग्यार्थप्रतीति के लिये प्रयुक्त किया गया है तो व्यङ्ग्यार्थ ही शब्द का अर्थ माना जायगा। ऐसी दशा में जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो और वाच्यार्थ गौण हो वहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा शब्द व्यङ्ग्यार्थपरक ही होता है। अतः व्यंग्यार्थ को मुख्य वाच्यार्थ कहना ही ठीक है। फिर आप उसे व्यंग्य की संज्ञा क्यों प्रदान करते हैं? (उत्तर) व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो परिस्थितियाँ हो सकती हैं—एक तो ऐसी परिस्थिति जिसमें व्यङ्ग्यार्थ गौण हो और वाच्यार्थ मुख्य हो तथा मुख्य वाच्यार्थ की पुष्टि का उपकारक होकर ही व्यङ्ग्यार्थ आये। दूसरी परिस्थिति इसके प्रतिकूल होती है अर्थात् वहाँ पर वाच्यार्थ उपकारक होता है और उससे उपकृत होकर व्यङ्ग्यार्थ को ही प्रधानता प्राप्त होती है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के अनुसार प्रथम प्रकार की परिस्थिति में शब्द वाच्यपरक होता है और द्वितीय प्रकार की

परिस्थिति में व्यङ्ग्यपरक। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रथम प्रकार की परिस्थिति में जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्य नहीं होता और वह मध्यवर्ती ही रह जाता है वहाँ उसे वाच्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि शब्द तत्परक नहीं है। ऐसी दशा में आप उसे व्यंग्य ही कहने के लिये बाध्य होंगे। इससे हमारा यह पक्ष तो सिद्ध ही हो गया कि व्यंग्यार्थ कुछ न कुछ होता अवश्य है और वह शब्द का विषय भी होता है। अब यह परिस्थिति शेष रह जाती है जहाँ व्यंग्य की प्रधानता होती है उसे भी व्यंग्य कहना ठीक है वहाँ पर भी उसके स्वरूप का छिपाया जाना उचित नहीं है। (कारण यह है कि सङ्केतित अर्थ न होने के कारण उसे हम वाच्यार्थ नहीं कह सकते।) व्यंग्य संज्ञा प्राप्त करने के लिये जिन शर्तों की आवश्यकता होती है वे सब शर्तें वहाँ पर भी पूरी ही हो जाती हैं जहाँ वाच्यार्थ गौण और व्यंग्यार्थ मुख्य होता है। व्यंग्य संज्ञा प्राप्ति के लिये इन शर्तों की अपेक्षा होती है—(१) अन्य अर्थ का होना अर्थात् व्यंग्यार्थ वहीं पर होता है जहाँ एक से अधिक अर्थ होते हैं। (२) सम्बन्धी का सम्बन्धी होना अर्थात् शब्द का सम्बन्धी या तो वाच्यार्थ होता है या लक्ष्यार्थ, उस वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ का सम्बन्धी व्यंग्यार्थ होता है। और (३) संकेत का अनुपयुक्त होना अर्थात् व्यंग्यार्थ संकेतित अर्थ नहीं होता अपितु तदितर अर्थ होता है। यही तीनों शर्तें व्यंग्यार्थ की होती हैं। ये तीनों शर्तें वहाँ पर भी लागू ही हो जाती हैं जहाँ वाच्यार्थ गौण और व्यंग्यार्थ मुख्य होता है। अतः वहाँ पर भी उसकी व्यंग्य संज्ञा का परित्याग नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध हो गया कि व्यंग्यार्थ वाच्य से सर्वथा भिन्न ही हुआ करता है। इस भेद में दो कारण हैं (१) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में परस्पर भेद होता है। (वाच्यार्थ संकेतानुसारी होता है और व्यंग्यार्थ में संकेत की अपेक्षा नहीं होती।) और (२) वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के विषय परस्पर भिन्न होते हैं। (वाच्यार्थ का विषय संकेतित अर्थ होता है और व्यंग्यार्थ का विषय रस, वस्तु तथा अलंकार ये तीन होते हैं।) केवल इतना ही नहीं अपितु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में सामग्री का भी भेद होता है और सामग्री भेद होने से कारण का भी भेद हो जाता है। कारण यह है कि वाच्यार्थप्रतीति के लिये केवल शब्द की ही सामग्री के रूप में अपेक्षा होती है; किन्तु जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय सामग्री के रूप में लिया जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ में केवल शब्द ही कारण होता है किन्तु व्यंग्यार्थ में शब्द और अर्थ दोनों कारण होते हैं। इस बात का प्रतिपादन किया ही जा चुका है कि शब्द और अर्थ दोनों व्यञ्जक होते हैं। इस विषय का विशेष निरूपण प्रथम उद्योत में 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस कारिका में 'वा' ग्रहण तथा 'व्यङ्क्तः' के द्विवचन की व्याख्या के अवसर पर किया जा चुका है। अतः वहीं देखना चाहिये।

(ध्वन्या०) गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति। किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते। रूपभेदस्तावदयम्—यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा। व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः न ह्यर्थाद्व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते।

अयं चान्यः स्वरूपभेदः—यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाच-

कत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव। एतच्च प्रतिपादितम्। अयञ्चापरो रूपभेदो यद्गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ। यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते तदेवं सति लक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम्। यस्मात्प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम्।

(अनु०) गुणवृत्ति तो उपचार और लक्षणा दोनों के आश्रयवाली होती है। किन्तु व्यञ्जकत्व उससे भी स्वरूप के द्वारा और विषय के द्वारा भिन्न हो जाता है। रूपभेद तो यह है—कि अमुख्यरूप में व्यापार गुणवृत्ति प्रसिद्ध है। व्यञ्जकत्व तो मुख्यरूप में ही शब्द का व्यापार होता है। अर्थ से जो तीन व्यङ्ग्यों की प्रतीति है उसका अमुख्यत्व थोड़ा भी लक्षित नहीं होता।

और यह दूसरा स्वरूपभेद है—जो कि गुणवृत्ति अमुख्यरूप में स्थित वाचकत्व ही कही जाती है। व्यञ्जकत्व तो वाचकत्व से अत्यन्त विभिन्न ही होता है। इसका तो प्रतिपादन किया ही जा चुका है। और यह दूसरा रूपभेद है जो कि गुणवृत्ति में जब अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित करता है तब उपलक्षणीय अर्थ की आत्मा के रूप में परिणत हुआ ही हो जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में। व्यञ्जकत्व के मार्ग में तो जब अर्थ दूसरे अर्थ को द्योतित करता है तब स्वरूप को प्रकाशित करते हुये ही यह दूसरे का प्रकाशक प्रतीत होता है जैसे 'पार्वती लीला-कमलपत्रों को गिन रही थीं' इत्यादि में। और अपनी प्रतीति का तिरस्कार न करते हुये जहाँ अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित करता है वहाँ लक्षणा व्यवहार किया जाय तो यह सिद्ध हो गया कि लक्षणा ही शब्द का मुख्य व्यापार है। क्योंकि वाक्य प्रायः वाच्यव्यतिरिक्त तात्पर्यार्थ के अवभासी होते हैं।

(लो०) एवं विषयभेदात्स्वरूपभेदात्कारणभेदाच्च वाचकत्वान्मुख्यात्प्रकाशकत्वस्य भेदं प्रतिपाद्योभयाश्रयत्वाविशेषात्तर्हि व्यञ्जकत्वगौणत्वयोः को भेद इत्याशङ्क्यामुख्यादपि प्रतिपादयितुमाह—**गुणवृत्तिरिति। उभयाश्रयापीति**। शब्दार्थाश्रया। उपचारलक्षणयोः प्रथमोद्योत एव विभज्य निर्णीतं स्वरूपमिति न पुनर्लिख्यते। **मुख्यतयैवेति**। अस्खलद्गतित्वेनेत्यर्थः। **व्यङ्ग्यत्रयमिति**। वस्त्वलङ्काररसात्मकम्।

वाचकत्वमेवेति। तत्रापि हि तथैव समयोपयोगोऽस्त्येवेत्यर्थः **प्रतिपादितमिति**। इदानीमेव **परिणत इति**। स्वेन रूपेणानिर्भासमान इत्यर्थः।

(अनु०) इस प्रकार विषयभेद से, स्वरूपभेद से और कारणभेद से मुख्य वाचकत्व से प्रकाशत्व के भेद का प्रतिपादनकर 'तो उभयाश्रयत्व की विशेषता के कारण व्यञ्जकत्व और गौणत्व में क्या भेद है?' यह शङ्का करके अमुख्य से भी प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—गुणवृत्ति इत्यादि। दोनों के आश्रयवाली भी अर्थात् शब्द और अर्थ के आश्रयवाली भी। उपचार

और लक्षणा का स्वरूप प्रथम उद्योत में ही विभक्त करके निर्णीत कर दिया गया अतः यहाँ पुनः नहीं लिखा जा रहा है। 'मुख्यता के रूप में ही' अर्थात् मुख्यार्थबाध होने के कारण ही। तीन व्यंग्य अर्थात् वस्तु, अलङ्कार और रसरूप व्यंग्य।

'वाचकत्व ही' यह। अर्थात् उसमें भी उसी प्रकार संकेत का उपयोग है ही। 'प्रतिपादन किया गया है इसी समय। 'परिणत' यह। अर्थात् अपने रूप में निर्भासित न होते हुये।

लक्षणा और व्यञ्जना का स्वरूपभेद

तारावती—ऊपर यह दिखलाया जा चुका है कि वाचकत्व मुख्य होता है तथा उसका प्रकाशकत्व से विषयभेद भी होता है और स्वरूपभेद भी होता है। इन्हीं हेतुओं से वाचकत्व और प्रकाशकत्व का भेद माना जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जो बातें व्यञ्जकत्व में होती हैं वे ही गौणीवृत्ति में भी होती हैं। व्यञ्जकत्व भी शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय लेता है और गौणीवृत्ति भी दोनों का आश्रय लेती है! फिर व्यञ्जकत्व का गौणीवृत्ति से क्या भेद हुआ? इसी प्रश्न पर विचार करने के लिये यहाँ यह प्रकरण उठाया जा रहा है। (लक्षणा दो प्रकार की होती हैं—शुद्धा और गौणी। यहाँ आलोक में शुद्धा लक्षणा के लिये लक्षणा शब्द का प्रयोग किया गया है और गौणी के लिये उपचार शब्द का। ये दोनों ही अप्रधान अर्थ को कहनेवाली होती हैं। इसीलिये दोनों को मिलाकर गुणवृत्ति (अप्रधानवृत्ति) शब्द का प्रयोग किया जाता है।) इसमें सन्देह नहीं कि गुणवृत्ति चाहे लक्षणापरक हो चाहे उपचारपरक, दोनों अवस्थाओं में गुणवृत्ति शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय लेती है; तथापि यह शङ्का नहीं की जा सकती कि गुणवृत्ति और व्यञ्जना दोनों एक ही वस्तु है। कारण यह है कि अक्षणा और गुणवृत्ति दोनों एक दूसरे से स्वरूप के दृष्टिकोण से भिन्न होती हैं और विषय के दृष्टिकोण से भी भिन्न होती हैं। स्वरूपभेद को इस प्रकार समझिये—गुणवृत्ति उसे कहते हैं जहाँ अमुख्यरूप में शब्द का व्यापार हो। गुणवृत्ति में पहले वाच्यार्थबोध हीता है; फिर तात्पर्यानुपपत्ति के कारण उस अर्थ का बाध हो जाता है। इस प्रकार शब्द अपने अर्थ के विषय में स्खलद्गति हो जाता है। तब उस मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ जहाँ पर ले लिया जाता है वहाँ वह गुणवृत्ति या लक्षणा कहलाती है इस प्रकार स्खलद्गति होने के कारण लक्षणा या उपचार दोनों प्रकार की गुणवृत्तियों को अमुख्य व्यापार कहा जाता है। यह बात उसके गुणवृत्ति इस नाम से ही प्रकट होती है इसके प्रतिकूल यह कोई कह नहीं सकता कि व्यङ्ग्यार्थ भी गौण ही होता है, रस गौण होता है यह तो कहा ही नहीं जा सकता चमत्कारपर्यवसायी होने पर वस्तु और अलंकार भी मुख्य ही होते हैं वे कभी गौण कहे ही नहीं जा सकते। इस प्रकार तीनों ही प्रकार के व्यंग्यार्थ मुख्य ही होते हैं वे कभी गौण नहीं होते और लक्षणा सर्वदा अमुख्य ही होती है। यही इन दोनों का स्वरूपभेद है। (आशय यह है कि लक्षणा सर्वदा बाध--सापेक्षिणी होती है और मुख्य अर्थ के बाधित हो जाने पर तत्संबद्ध अमुख्य अर्थ का प्रत्यायन कराती है। अमुख्य वृत्ति व्यञ्जना बाध-सापेक्षिणी नहीं होती। अतः व्यञ्जना द्वारा प्रत्यायित अर्थ मुख्य ही होता है। यही इन दोनों का स्वरूपभेद है।)

दूसरे प्रकार का स्वरूपभेद यह होता है कि लक्षणा एक प्रकार की वाचकत्व वृत्ति ही कही जाती है अर्थात् वह एक प्रकार की अभिधा ही होती है; भेद केवल यह होता है कि कहीं अभिधा मुख्य संकेतित अर्थ का प्रत्यायन कराती है किन्तु लक्षणा अमुख्य अर्थ को कहती है। इसके प्रतिकूल यह सिद्ध ही किया जा चुका है कि व्यञ्जना अभिधा से सर्वथा भिन्न ही होती है। (विस्तृत विवेचन के लिये देखिये प्रथम उद्योत का भेदनिरूपणपरक प्रकरण।) आशय यह है कि लक्षणा सर्वदा शक्य-सम्बन्ध में ही होती है और वह अभिधापुच्छभूता कही जाती है। उसमें किसी न किसी रूप में संकेत का उपयोग होता ही है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थप्रतीति के लिये संकेत की कोई अपेक्षा नहीं होती; व्यञ्जना शक्यसम्बन्ध में ही नहीं होती।

एक दूसरा स्वरूपभेद इस प्रकार का होता है कि गुणवृत्ति में जहाँ एक अर्थ दूसरे अर्थ को उपलक्षित करता है वहाँ वह अपने को बिलकुल खो देता है और उपलक्षणीय अर्थं के रूप में पूर्णतया परिणत हो जाता है। (जैसे 'गंगा में घर' इस वाक्य में प्रवाहवाचक गंगा शब्द 'तीर—' अर्थ को लक्षित करता है और पूर्णरूप से तीर अर्थ को ही कहने लगता है। प्रवाहरूप वाच्यार्थ अपने को तीररूप लक्ष्यार्थ में सर्वदा खो देता है।) किन्तु व्यञ्जकत्वमार्ग में ऐसा नहीं होता। उसमें जब एक अर्थ दूसरे को प्रकाशित करता है तब वह अपने को भी प्रकाशित करता रहता है और वह दूसरे को भी प्रकाशित कर देता है। वह दूसरे को प्रकाशित करने में अपने को खो नहीं देता। जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित होता है और घट को भी प्रकाशित करता है। घट के प्रकाशन के अवसर पर दीपक का प्रकाश जाता नहीं रहता। उदाहरण के लिये कुमारसम्भव में जिस समय नारद पार्वती के विवाह की चर्चा उनके पिता हिमाञ्चल से कर रहे थे उस समय 'पार्वती पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किये लीला-कमल की पंखड़ियों को गिन रहीं थीं।' यहाँ पर पार्वती का मुखनमन इत्यादि वाच्यार्थं है और पार्वती की लज्जा इत्यादि व्यंग्य है। पार्वती की लज्जा को अभिव्यक्त करने में मुखनमन रूप वाच्यार्थ अपने को खो नहीं देता किन्तु अभिव्यञ्जना काल में स्वयं भी प्रकाशित बना रहता है। लक्षणा के लिये यह अनिवार्य है कि उसमें वाच्यार्थ का बाध अवश्य हो। यदि यह अनिवार्य शर्त नहीं मानी जाती तो लक्षणा गौणीवृत्ति नहीं रह जायगी अपितु मुख्यवृत्ति बन जायगी। क्योंकि जितने भी वाच्य होते हैं उनमें अधिकतर वाक्यों में शब्दार्थं की अपेक्षा तात्पर्यार्थ अतिरिक्त हुआ करता है और सभी शब्दार्थ मिलकर तात्पर्यार्थ का अवभासन करते हैं। यदि लक्षणा ऐसे स्थान पर मानी जायगी जहाँ शब्दार्थ अपनी प्रतीति का तिरस्कार न कर दूसरे अर्थ का प्रत्यायन करा देता है तो प्रत्येक वाक्य का तात्पर्यार्थ लक्षणा-गम्य ही हो जायगा और लक्षणा मुख्य शब्द-वृत्ति बन जायगी वह गौणी-वृत्ति नहीं रहेगी। अतः लक्षणा वहीं पर मानी जा सकती है जहाँ मुख्यार्थ का बाध हो और मुख्यार्थ दूसरे अर्थ के प्रत्यायन में अपने को खो दे। व्यञ्जना में ऐसा होता नहीं। अतः व्यञ्जनावृत्ति लक्षणा से सर्वथा भिन्न होती है।

(ध्वन्या०) ननु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य

कीदृशो व्यापारः ? उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्व-मिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्नूयते ।

(अनु०) (प्रश्न) निस्सन्देह तुम्हारे पक्ष में भी जब अर्थ तीन व्यङ्ग्यों को प्रकाशित करता है तब शब्द का किस प्रकार व्यापार होता है ? (उत्तर) बतलाया जा रहा है—प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न शब्द के वश में ही अर्थ की उस प्रकार की व्यञ्जकता होती है, अतः यहाँ पर शब्द के उपयोग को कैसे छिपाया जा सकता है ?

(लो०) कीदृश इति मुख्यो वा न वा प्रकारान्तराभावात् । मुख्यत्वे वाचक-त्वमन्यथा गुणवृत्तिः गुणो निमित्तं सादृश्यादि तद्द्वारिका वृत्तिः शब्दस्य व्यापारो गुण-वृत्तिरिति भावः । मुख्य एवासौ व्यापारः सामग्रीभेदाच्च वाचकत्वाद्व्यतिरिच्यत इत्यभिप्रायेणाह—**उच्यत इति ।**

(अनु०) 'किस प्रकार का' यह। मुख्य है या नहीं है क्योंकि तीसरा प्रकार नहीं होता। मुख्य होने पर वाचकत्व होता है नहीं तो गुणवृत्ति होती है। भाव यह है कि जिसमें गुण निमित्त हो अर्थात् सादृश्य इत्यादि उसके द्वारा जो वृत्ति अर्थात् शब्द का व्यापार होता है उसे गुण-वृत्ति कहते हैं। यह व्यापार मुख्य ही होता है किन्तु सामग्रीभेद से वाचकत्व से व्यतिरेक हो जाता है इस अभिप्राय से कहते हैं—'बतलाया जा रहा है' यह।

तारावती—(प्रश्न) आपके मत में उस स्थान पर शब्द की क्या व्यवस्था होगी जहाँ एक अर्थ दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है ? आप शब्द के दो ही प्रकार के व्यापार मान सकते हैं—या तो मुख्य या अमुख्य। यदि ऐसे स्थल पर शब्द का मुख्य व्यापार होता है तो उसको आप अभिधा की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। यदि अमुख्य व्यापार होता है तो उसे आप गुण-वृत्ति (लक्षणा) कह सकते हैं। क्योंकि गुणवृत्ति शब्द का अर्थ ही अमुख्यवृत्ति होता है। गुण-वृत्ति शब्द का अर्थ है गुणों के द्वारा वर्तमान होना। अर्थात् शब्द के प्रयोग में गुण निमित्त होकर आते हैं। (जैसे 'देवदत्त बैल है' में बैल के गुणों के आधार पर देवदत्त के लिये बैल शब्द का प्रयोग किया गया है।) इस प्रकार गुण-वृत्ति शब्द का अर्थ होगा—गुण अर्थात् सादृश्य इत्यादि निमित्त को माध्यम मानकर जहाँ 'वृत्ति' अर्थात् शब्द का व्यापार हो उसे गुणवृत्ति कहते है। आशय यह है कि जितने प्रकार के मुख्यार्थ होते हैं उन सब में अभिधा मानी जाती है और जितने प्रकार के अमुख्यार्थ होते हैं उन सब में गुण-वृत्ति या लक्षणा मानी जाती है। मुख्य और अमुख्य के अतिरिक्त तीसरा प्रकार ही कोई नहीं होता। अतः यदि आप इन दोनों वृत्तियों से भिन्न तीसरी व्यञ्जना नामक वृत्ति मानते हैं तो उसमें आप शब्द का व्यापार कैसा मानेंगे मुख्य या अमुख्य ? (उत्तर) व्यंजना में भी शब्द का मुख्य व्यापार ही होता है। किन्तु उस मुख्य व्यापार को हम अभिधा नहीं कह सकते। कारण यह है कि दोनों व्यापारों में सामग्री का भेद होता है। अभिधा की सामग्री है सङ्केत ग्रहण और व्यंजना की सामग्री है प्रकरण इत्यादि का ज्ञान। जब एक अर्थ दूसरे अर्थ का प्रत्यायन कराने के लिये ऐसे शब्द का सहारा लेता है जिसमें प्रकरण इत्यादि का सहकार भी सन्निहित रहा

करता है तब उस अर्थ में व्यञ्जकता आ जाती है। उस व्यञ्जकता में शब्द का सहकार भी अपेक्षित होता है। अतः शब्द के उपयोग का अपलाप नहीं किया जा सकता। (कहा भी गया है—'शब्दबोध्य अर्थ व्यञ्जक होता है और शब्द भी अर्थान्तर का आश्रय लेकर व्यञ्जक होता है।' अतः एक की व्यञ्जकता में दूसरे का सहकार होता है।')

ऊपर गुणवृत्ति और व्यंजकता के स्वरूपभेद की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है। इन तीनों प्रकारों का सार यह है कि (१) व्यंजना में शब्द की गति स्खलित नहीं होती किन्तु लक्षणा में शब्द की गति स्खलित हो जाती है! अर्थात् लक्षणा में बाध होता है किन्तु व्यंजना में नहीं। (२) व्यंजना में सङ्केत का किसी प्रकार भी उपयोग नहीं होता किन्तु लक्षणा में प्रत्यक्ष रूप में सङ्केत का उपयोग होता है। लक्षणा शक्यार्थबाध-सापेक्षिणी होती है, अतः लक्षणा में शाक्यार्थज्ञान अपेक्षित होता है और (३) व्यंजना का प्रतिभास शक्यार्थ के साथ साथ उससे पृथक् रूप में होता है किन्तु लक्षणा का प्रतिभास शक्यार्थ से पृथक् नहीं किन्तु शक्यार्थ से मिलकर एकसाथ एक रूप में ही होता है। यही तीन प्रकार हैं जिन से गुणवृत्ति और व्यंजना के स्वरूप में भेद हो जाता है। (निर्णयसागरीय संस्करण में आलोक में 'व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः' इस पंक्ति के बाद इतना पाठ और जोड़ दिया गया है—'अस्खलद्गतित्वं समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वं चेति त्रयम्।' किन्तु इसकी यहाँ सङ्गति नहीं बैठती। इसीलिये कुछ लोगों ने इस पाठ की 'कथमपह्नूयते' के पहले कल्पना कर ली है और लिखा है कि लोचन में इन्हीं शब्दों के आने की सङ्गति बैठाने के लिये इस पाठ का मानना अत्यावश्यक है। किन्तु ध्यान देनेवाली बात यह है कि यदि आलोक में यह पाठ विद्यमान ही होता तो लोचन में प्रतीक के रूप में इसका उपादान कर बाद में 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया होता तथा इसकी व्याख्या में कुछ कहा गया होता। इसके प्रतिकूल लोचनकार ने 'विषयभेदोऽपीति' के अवतरण के रूप में इन शब्दों का उपादान किया है। इससे स्पष्ट है कि यह पाठ लोचनकार का ही है। आलोककार का यह पाठ नहीं है। किसी ने भ्रमवश इसे आलोक में सन्निविष्ट कर दिया है। वस्तुतः लोचनकार ने आलोक के विस्तृत प्रकरण का इन शब्दों में समाहार किया है।)

(ध्वन्या०) विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत्प्रतिपादयितुमिष्यते तद् व्यङ्ग्यम्। तच्च न सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां शब्दानां प्रयोगदर्शनात्। तथोक्तं प्राक्। यदपि च गुणवृत्तेर्विषयस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन। तस्माद्गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्यात्यन्तविलक्षणत्वम्। वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम्।

(अनु०) गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का विषयभेद भी स्पष्ट ही है। क्योंकि व्यंजकत्व के तीन विषय हैं—रस इत्यादि, अलङ्कार विशेष और व्यंग्यरूप से अवच्छिन्नवस्तु। उनमें रस

इत्यादि गुणवृत्ति हैं यह न किसी के द्वारा कहा गया है और न कहा जा सकता है। उसी प्रकार की व्यंग्यालङ्कार-प्रतीति भी है। वस्तु की चारुता की प्रतीति के लिये अपने शब्द के द्वारा अभिधान न किये जाने के रूप में जिसके प्रतिपादन की इच्छा की जाती है वह व्यंग्य होता है। वह सब गुणवृत्ति का विषय नहीं होता क्योंकि प्रसिद्धि और अनुरोध से भी गौण शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। वैसा पहले कहा जा चुका है। और जो भी गुणवृत्ति का विषय होता है वह भी गुणवृत्ति के अनुप्रवेश से। उससे गुणवृत्ति का भी व्यञ्जकत्व से अत्यन्त विलक्षणत्व होता है। और वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से विलक्षण उस व्यंग्य की व्यवस्था उन दोनों के आश्रय से ही होती है।

(लो०)—एवमस्खलद्गतित्वात् कथञ्चिदपि समयानुपयोगात् पृथगाभासमानत्वाच्चेति त्रिभिः प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैतद्विपरीतरूपत्रयायाश्च गुणवृत्तेः स्वरूपभेदं व्याख्याय विषयभेदमप्याह—**विषयभेदोऽपीति**। वस्तुमात्रं गुणवृत्तेरपि विषय इत्यभिप्रायेण विशेषयति—**व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नमिति**। व्यञ्जकत्वस्य यो विषयः स गुणवृत्तेर्न विषयः अन्यश्च तस्या विषयभेदो योज्यः। तत्र प्रथमं प्रकारमाह—**तत्रेति**। **'न च शक्यत'** इति। लक्षणासामग्र्यास्तत्राविद्यमानत्वादिति पूर्वमेवोक्तम्। **तथैवेति**। न च तत्र गुणवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः। वस्तुनो यत्पूर्वं विशेषणं कृतं तद्व्याचष्टे—**चारुत्वप्रतीतये** इति। न **सर्वमिति**। किञ्चित्तु भवति। यथा—'निश्वासान्ध इवादर्श' इति। यदुक्तम्—'कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्' इति। प्रसिद्धितो लावण्यादयः शब्दाः, वृत्तानुरोधव्यवहारानुरोधादेः 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' इत्येवमादयः। **प्रागिति** प्रथमोद्योते 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इत्यत्रान्तरे। न सर्वमिति यथास्माभिर्व्याख्यातं तथा स्फुटयति—**यदपि चेति**। गुणवृत्तेरिति पञ्चमी। अधुनेतररूपोपजीवकत्वेन तदितरस्मात्तदितररूपोपजीवकत्वेन च तदितरस्मादित्यनेन पर्यायेण वाचकत्वाद्गुणवृत्तेश्च द्वितयादपि भिन्नं व्यञ्जकत्वमित्युपपादयति—**वाचकत्वेति**। चोऽवधारणे भिन्नक्रमः, अपिशब्दोऽपि न केवलं पूर्वोक्तो हेतुकलापो यावत्तदुभयाश्रयत्वेन मुख्योपचाराश्रयत्वेन यद् व्यवस्थानं तदपि वाचकगुणवृत्तिविलक्षणस्यैवेति व्याप्तिघटनम्। तेनायं तात्पर्यार्थः—**तदुभयाश्रयत्वे व्यवस्थानात्तदुभयवैलक्षण्यमिति**।

(अनु०) इस प्रकार गति के स्खलित न होने से (मुख्यार्थबाध न होने से), किसी प्रकार भी संकेत का उपयोग न होने से और पृथक् अवभास होने से इन तीन प्रकारों से प्रकाशकत्व की इससे विपरीत रूपोंवाली गुणवृत्ति के स्वरूपभेद की व्याख्या कर विषयभेद को भी कहते हैं—'विषयभेद भी' यह। वस्तुमात्र गुणवृत्ति का भी विषय होता है इस अभिप्राय से विशेषण देते हैं—'व्यंग्यरूपावच्छिन्न' यह। व्यञ्जकत्व का जो विषय है वह गुणवृत्ति का विषय नहीं है और उस (गुणवृत्ति) का दूसरा है इस प्रकार विषयभेद की योजना की जानी चाहिये। उसमें प्रथम प्रकार को कहते हैं—'उसमें' यह। 'नहीं कहा जा सकता है' यह लक्षणा की सामग्री के विद्यमान न होने से। यह पहले ही कहा जा चुका है। 'उसी प्रकार' यह। अर्थात् वहाँ पर गुणवृत्ति उपयुक्त नहीं है। वस्तु का जो पहले विशेषण दिया था उसकी व्याख्या

करते हैं—'चारुत्वप्रतीति के लिये' यह। 'सब नहीं' यह। कुछ तो होता ही है। जैसे 'निःश्वास से अन्धे शीशे के समान' यह। जो कि कहा गया है—'किसी ध्वनिभेद का वह उपलक्षण तो हो सके' यह प्रसिद्धि से लावण्य इत्यादि शब्द; वृत्त के अनुरोध और व्यवहार के अनुरोध इत्यादि से 'बिसिनी के पत्तों की शय्या कहती है' इत्यादि। 'पहले' यह। प्रथम उद्योत में 'जो शब्द अन्यत्र रूढ़ हों' इस कारिका के अन्दर कहा गया है। सब नहीं इसकी जैसी हमने व्याख्या की थी वैसा स्फुट कर रहे हैं—'और जो भी' यह। 'गुणवृत्तेः' में पञ्चमी है। अब इतर रूप (गुणवृत्ति) का उपजीवक होने से उस इतररूप (गुणवृत्ति) से और उससे भिन्न (अभिधा) का उपजीवक होने से उससे भिन्न से इस प्रकार पर्याय से वाचकत्व की अपेक्षा और गुणवृत्ति की अपेक्षा दोनों से ही व्यंजकत्व भिन्न है यह सिद्ध करते हैं—'वाचकत्व' इत्यादि। 'च' यह अवधारण अर्थ में भिन्न क्रमवाला है और अपिशब्द भी। केवल पूर्वोक्त हेतु-समूह ही नहीं अपितु उन दोनों का आश्रय होने से अर्थात् मुख्य और उपचार का आश्रय होने से जो व्यवस्थित होना है वह भी वाचक और गुणवृत्ति से विलक्षण का ही हो सकता है यह व्याप्ति की सङ्घटना है। इससे यह तात्पर्यार्थ है—'उन दोनों के आश्रय के रूप में व्यवस्थित होने से उन दोनों से विलक्षण होता है' यह।

विषयभेद

तारावती—ऊपर स्वरूपभेद की व्याख्या की जा चुकी। अब विषयभेद को लीजिये। विषयभेद पर विचार करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणवृत्ति और व्यंजना ये दोनों वृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न ही हैं। व्यंजना के तीन विषय होते हैं—रस इत्यादि, विशेष प्रकार के अलङ्कार और व्यंग्यत्व से युक्त वस्तु। यहाँ पर वस्तु के विशेषण के रूप में 'व्यंग्यत्व से अवच्छिन्न' शब्द का उपादान विशेष प्रयोजन से किया गया है। यहाँ प्रकरण है गुणवृत्ति और व्यञ्जना के भेद-निरूपण का। रस और अलङ्कार केवल व्यञ्जना के विषय होते हैं; वे गुणवृत्ति का विषय होते ही नहीं। केवल वस्तु ही गुणवृत्ति और व्यञ्जना दोनों का विषय होती है इसीलिये विशेष रूप से कहा गया है कि व्यंग्य-वस्तु व्यंजना का विषय होती है। व्यंजकत्व का जो विषय होता है वह गुणवृत्ति का विषय नहीं होता। गुणवृत्ति का विषय और ही होता है; वह व्यंजना का विषय नहीं होता। यही व्यंजना और गुणवृत्ति के विषयभेद की योजना है। न तो अब तक किसी ने कहा ही है और न कोई कह ही सकता है कि रसप्रतीति गुणवृत्ति के द्वारा होती है। यह तो निश्चित ही है कि गुणवृत्ति वहीं पर होती है जहाँ लक्षणा की सामग्री विद्यमान हो। लक्षणा की सामग्री है मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर। ये सब सामग्री रसप्रतीति में नहीं मिलती इसकी यथास्थान व्याख्या की जा चुकी है। रस केवल व्यञ्जना का ही विषय होता है। इसी प्रकार व्यंग्य अलङ्कारों की प्रतीति भी गुणवृत्ति के माध्यम से नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ पर भी लक्षणा की सामग्री विद्यमान नहीं होती। अब केवल वस्तु शेष रह जाती है जो गुणवृत्ति का भी विषय हो सकती है और व्यञ्जना का भी विषय हो सकती है। व्यंजना का विषय वही वस्तु होती है जिसमें कवि चारुता का आधान करना चाहे और इसीलिये उसे अपने वाचक शब्दों से ही अभिहित न कर दूसरे शब्दों से अभिव्यक्त करे। इस प्रकार की वस्तु ही व्यंग्य होती है।

ऐसी सभी वस्तु सर्वत्र गुणवृत्ति का विषय बन सके ऐसा नहीं होता। हाँ गुणवृत्ति के कतिपय स्थल ऐसे अवश्य हो सकते हैं जिनमें कवि चारुता का आधान करना चाहे। उदाहरण के लिये 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' में कवि ने आदर्श के लिये अन्ध विशेषण का बाधित प्रयोग चारुता के उद्देश्य से ही किया है। यही बात इस प्रकार एक कारिका में कही गई है कि 'लक्षणा किसी एक ध्वनि भेद का उपलक्षण हो सकती है।' आशय यह है कि रस तथा व्यंग्य अलंकार तो कभी गुणवृत्ति का विषय हो ही नहीं सकते। व्यंग्यवस्तु के कुछ प्रकार ऐसे होते हैं जो गुणवृत्ति का विषय हो सकते हैं। किन्तु व्यंग्यवस्तु के सभी प्रकार गुणवृत्ति का विषय नहीं हो सकते। इसी प्रकार सभी प्रकार की गुणवृत्ति व्यंजना का विषय नहीं हो सकती। प्रायः देखा जाता है कि बाधित शब्दों का प्रयोग केवल चारुता के आधान के ही लिये नहीं होता। ऐसे अनेक स्थान पाये जाते हैं जहाँ बाधित शब्दों का प्रयोग या तो प्रसिद्धि के आधार पर होता है; जैसे—लावण्य इत्यादि शब्दों का सौन्दर्य के अर्थ में प्रयोग प्रसिद्धि के बल पर ही होने लगा है अथवा किसी घटना के अनुरोध से या व्यवहार के अनुरोध से ही बाधित शब्दों का प्रयोग होने लगता है जैसे 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' में वदति का प्रयोग। इस प्रकार व्यंग्यवस्तु भी ऐसी होती है जो गुणवृत्ति का विषय नहीं हो सकती और गुणवृत्ति के ऐसे भी स्थल होते हैं जो व्यंजना का विषय नहीं हो सकते यह सब 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इस कारिका की व्याख्या में प्रथम उद्योत में विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है। अब वह वस्तु शेष रह जाती है जो गुणवृत्ति का विषय भी हो सकती है और व्यंग्य की संज्ञा भी प्राप्त कर सकती है। ऐसे स्थान पर भी लक्ष्यार्थ और होता है और व्यंग्यार्थप्रयोजन और होता है। उस स्थान पर चारुता व्यंजना के अनुप्रवेश के कारण ही आती है। गुणवृत्ति के कारण नहीं। अत एव यह सिद्ध हो गया कि स्वरूपभेद तथा विषयभेद दोनों दृष्टियों से जिस प्रकार व्यंजना अभिधा से अत्यन्त विलक्षण है उसी प्रकार गुणवृत्ति से भी अत्यन्य विलक्षण ही है।

(ध्वन्या०) व्यञ्जकत्वं हि क्वचिद्वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ। क्वचित्तु गुणवृत्याश्रयेण यथा अविवक्षितवाच्ये ध्वनौ। तदुभयाश्रयत्वप्रतिपादनायैव प्रथमतरं द्वौ भेदावुपन्यस्तौ। तदुभयाश्रितत्वाच्च तदेकस्वरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम्। यस्मान्न तद्वाचकत्वैकरूपमेव, क्वचिल्लक्षणाश्रयेण वृत्तेः। न च लक्षणैकरूपमेवान्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात्। न चोभयधर्मत्वेनैव तदेकैकरूपं न भवति। यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि। तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते। शब्दादन्यत्रापि विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद्वाचकत्वादिधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम्। यदि च वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यञ्जकत्वं प्रकारत्वेन परिकल्प्यते तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते। तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः-वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः। तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।

(अनु०) व्यंजकत्व निस्सन्देह कभी वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्थित होता है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में। कहीं तो गुणवृत्ति के आश्रय से जैसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि में। उन दोनों के आश्रयत्व का प्रतिपादन करने के लिये ही कुछ पहले दो भेदों को प्रस्तुत किया गया था। और उन दोनों के आश्रित होने से उनकी एकरूपता नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह वाचकत्व के साथ एकरूप नहीं होता क्योंकि कहीं लक्षणा के आश्रय से भी उसका व्यवहार होता है। लक्षणा से भी एक रूप नहीं होता क्योंकि अन्यत्र वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्था होती है। उभयधर्म होने के कारण ही उन दोनों में प्रत्येक की एकरूपता न हो ऐसा नहीं है, अपितु वाचकत्व और लक्षणा इत्यादि रूपों से रहित शब्दधर्म होने के कारण भी। वह इस प्रकार—गीतध्वनियों का भी रस इत्यादि के विषय में व्यंजकत्व है। उनका वाचकत्व या लक्षणा किसी प्रकार भी लक्षित नहीं होती। शब्द से अन्यत्र विषय में भी व्यंजकत्व के दिखलाई पड़ने से वाचकत्व इत्यादि शब्दधर्मों से विशेषित होने का कथन अनुचित है। और यदि वाचकत्व तथा लक्षणाप्रसिद्ध प्रकारों से विलक्षण होते हुये भी व्यंजकत्व को आप वाचकत्व और लक्षणा इत्यादि शब्दप्रकारों का ही एक प्रकार कल्पित करते हैं तो शब्द के ही प्रकार के रूप में क्यों कल्पित नहीं कर लेते। इस प्रकार शब्दव्यवहार में तीन प्रकार हैं—वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यंजकत्व। उसमें व्यंजकत्व में जब व्यङ्ग्याप्रधान्य हो तो ध्वनि होती है। उसके अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन दो भेदों का पहले ही उपक्रम किया गया था और विस्तारपूर्वक निरूपण कर दिया गया।

(लो०) एतदेव विभजते—**व्यञ्जकत्वं हीति**। **प्रथमतरमिति**। प्रथमोद्योते 'स इत्यादिना ग्रन्थेन। हेत्वन्तरमपि सूचयति—**नचेति**। वाचकत्वगौणत्वोभयवृत्तान्तवैलक्षण्यादिति सूचितो हेतुः। तमेव प्रकाशयति—**तथाहित्यादिना**। **तेषामिति**। गीतादिशब्दानाम्। हेत्वन्तरमपि सूचयति—**शब्दादन्यत्रेति**। वाचकत्वगौणत्वाभ्यामन्यद्व्यञ्जकत्वं शब्दादन्यत्रापि वर्तमानत्वात् प्रमेयत्ववदिति हेतुः सूचितः। नन्वन्यत्रावाचके यद्व्यञ्जकत्वं तद्भवतु वाचकत्वादेर्विलक्षणम्, वाचके तु यद्व्यञ्जकत्वं तदविलक्षणमेवास्त्वित्याशङ्क्याह—**यदीति**। आदिपदेन गौणं गृह्यते। **शब्दस्यैवेति**। व्यञ्जकत्वं वाचकत्वमिति यदि पर्यायौ कल्प्येते, इच्छाया अव्याहतत्वात्। व्यञ्जकत्वस्य तु विविक्तं स्वरूपं दर्शितं तद्विषयान्तरे कथं विपर्यस्यताम्। एवं हि पर्वतगतो धूमोऽनग्निजोऽपि स्यादिति भावः। अधुनोपपादितं विभागमुपसंहरति—**तदेवमिति**। व्यवहारग्रहणेन समुद्रघोषादीन् व्युदस्यति।

(अनु०) इसी का विभाजन करते हैं—'व्यंजकत्व निस्सन्देह' इत्यादि 'कुछ पहले ही' यह। प्रथम उद्योत में 'स च' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा। दूसरे हेतु को भी सूचित करते हैं—'न च' इत्यादि। वाचकत्व और गौणत्व इन दोनों के वृतान्त से विलक्षण होने के कारण यह हेतु सूचित किया गया है। उसीको प्रकाशित करते हैं—तथाहि इत्यादि के द्वारा। 'उनका' अर्थात् गीतादि शब्दों का। दूसरे हेतु को भी सूचित करते हैं—'शब्द से अन्यत्र भी' यह।

वाचकत्व और गौणत्व से भिन्न व्यंजकत्व होता है क्योंकि वह शब्द से अन्यत्र भी वर्तमान होता है जैसे प्रमेयत्व यह हेतु सूचित किया गया है। (प्रश्न) अन्यत्र अवाचक में जो व्यञ्जकत्व वह वाचकत्व इत्यादि से विलक्षण हो; वाचक में तो जो व्यञ्जकत्व वह उससे अविलक्षण ही हो यह शङ्का करके कहते हैं—'यदि' इत्यादि। आदि शब्द से गौण ग्रहण किया जाता है। यदि व्यञ्जकत्व और वाचकत्व को पर्याय के रूप में कल्पित किया जाता है तो व्यञ्जकत्व शब्द होता है यह पर्यायता भी क्यों नहीं कर ली जाती क्योंकि इच्छा में तो कोई प्रतिबन्ध है नहीं। व्यञ्जकत्व का तो पृथक् स्वरूप दिखलाया गया है वह विषयान्तर किस प्रकार विपर्यस्त हो जाय। इस प्रकार तो पर्वतगत धूम बिना अग्नि के ही हो जाय, यह भाव है। अब उपपादित विभाग का उपसंहार करते हैं—'वह इस प्रकार' यह। व्यवहार ग्रहण से समुद्र—गर्जन इत्यादि का निराकरण कर रहे हैं।

व्यञ्जकत्व का अभिधा और गुणवृत्ति दोनों से भेद

तारावती—ऊपर स्वरूपभेद और विषयभेद के आधार पर व्यञ्जकत्व का अभिधा तथा गुणवृत्ति से भेद सिद्ध किया गया है। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि एक हेतु ऐसा और है जिससे व्यञ्जकत्व अभिधा तथा गुणवृत्ति इन दोनों से भिन्न होता है। वह हेतु यह है कि व्यञ्जकत्व अभिधा और गुणवृत्ति दोनों से विलक्षण होता है तथा उन दोनों के आश्रय से ही व्यवस्थित होता है। इसको इस प्रकार समझिये—व्यञ्जकत्व अभिधा से इसलिये विलक्षण होता है क्योंकि वह अभिधा से इतर (भिन्न) गुणवृत्ति का सहारा लेता है और गुणवृत्ति से इसलिये भिन्न होता है क्योंकि गुणवृत्ति से इतर अभिधा का आश्रय लेता है। इस प्रकार यहाँ पर पर्याय (क्रम) से योजना करनी चाहिये कि व्यञ्जकत्व एक से भिन्न इसलिये होता है कि वह एक के अतिरिक्त दूसरे का भी सहारा लेता है और दूसरे से भिन्न इसलिये होता है कि वह दूसरे से भिन्न पहले का भी सहारा लेता है। इस प्रकार अपने से भिन्न का सहारा लेने के कारण व्यञ्जकत्व दोनों से भिन्न होता है। यहाँ पर वृत्ति में यह पंक्ति है—'वाचकत्व-गुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम्' इसमें 'अपि' और 'च' इन दोनों शब्दों को क्रमभेद से स्थानान्तरित करके लगाना चाहिये। 'च' को 'विलक्षणस्य' के साथ और 'अपि' को 'व्यवस्थानम्' के साथ लगाना चाहिये। इस प्रकार यह पूरा वाक्य ऐसा हो जायगा—'वाचकत्वं गुणवृत्तिविलक्षणस्य च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानमपि' यहाँ पर 'व्यवस्थानम्' के साथ 'अपि' शब्द को लगाने का आशय है कि व्यञ्जना का अभिधा और गौणीवृत्ति से भेद सिद्ध करने के लिये पहले जो हेतुसमूह दिया गया है केवल वही उनके भेद को सिद्ध नहीं करता अपितु एक और हेतु ऐसा है जो उनके पृथक्त्व तथा स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध करता है और वह यह है कि व्यञ्जना अभिधा का भी आश्रय लेती है और गुणवृत्ति का भी आश्रय लेती है। इसलिये वह इन दोनों से एक रूप नहीं हो सकती। यहाँ पर व्याप्ति की संघटना हो जाती है। वह व्याप्ति दो प्रकार से बन सकती है—'जो जिसका सहारा लेता है वह उससे भिन्न होता है।' व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा का सहारा लेती है अतः दोनों से भिन्न होती है। 'जो अपने से किसी अन्य का सहारा लेता है वह उससे भिन्न होता है।' व्यञ्जना अभिधा का सहारा लेने के कारण लक्षणा से भिन्न होती है और लक्षणा का सहारा लेने के कारण अभिधा से भिन्न होती है।

कहीं-कहीं व्यंजकत्व की अवस्थिति अभिधा के आश्रय से होती है जैसे कि विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि में हुआ करती है और कहीं-कहीं उसकी अवस्थिति गुणवृत्ति के आश्रय से होती है जैसी कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि में हुआ करती है। (दोनों के उदाहरण 'एवं वादिनि''पार्वती' और 'निश्श्वासान्ध इवादर्शः' में दिखलाये जा चुके हैं।) व्यंजना इन दोनों के आश्रित होती है इसी बात का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रथम उद्योत में ध्वनि के दो भेद बतलाये गये थे। इन दोनों के आश्रित होने के कारण यह बात नहीं कही जा सकती कि व्यंजना की अभिधा-लक्षणा से एकरूपता है। उसकी वाचकत्व से एकरूपता हो ही नहीं सकती क्योंकि व्यंजनावृत्ति लक्षणा के आश्रय से भी वर्तमान रहती है। इसी प्रकार लक्षणा से भी एकरूपता नहीं हो सकती क्योंकि व्यंजना वाचकत्व के आश्रय से भी व्यवस्थित होती है। यहाँ पर यह हेतु सूचित किया गया है कि व्यंजना में अभिधा तथा लक्षणा दोनों के वृत्तान्त से विलक्षणता होती है। केवल इतनी बात नहीं कि उभयधर्मता के कारण उनसे एकरूपता नहीं होती किन्तु यह भी बात है कि जहाँ पर शब्द तो होता है किन्तु अभिधा या लक्षणा कुछ भी नहीं होती वहाँ पर भी व्यंजना हो जाती है। इस प्रकार व्यंजना केवल अभिधालक्षणाधर्मिणी ही नहीं होती किन्तु शब्दमात्रधर्मिणी भी होती है। उदाहरण के लिये गीत इत्यादि के शब्दों को लीजिये। गीत इत्यादि के शब्दों से अर्थ का बिना ही अनुगमन किये रसाभिव्यक्ति हो जाती है। वहाँ पर कोई नहीं कह सकता कि रसाभिव्यक्ति अभिधा लक्षणा की अपेक्षिणी है। अत एव वहाँ पर व्यंजना को शब्दवृत्तिधर्ममात्र मानना पड़ेगा, यह कोई नहीं कहेगा कि व्यंजना वहाँ पर अभिधा या लक्षणाधर्मवाली है। इस व्यंजना को केवल शब्दधर्मिणी भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जहाँ पर शब्द बिल्कुल नहीं होता वहाँ पर भी शब्द इत्यादि से व्यंजना देखी जाती है। अतः यह कहना सर्वथा असङ्गत है कि व्यंजना वाचकत्वादि धर्मप्रकारक ही होती है। यहाँ पर आशय यह है कि व्यंजना न तो केवल वाचकत्वधर्मिणी कही जा सकती है; न केवल शब्दधर्मिणी और न केवल शब्देतरधर्मिणी। केवल वाचकत्वधर्मिणी इसलिये नहीं जा सकती क्योंकि वह वाचकत्व से भिन्न गुणवृत्ति शब्दमात्र और शब्देतर स्थानों में भी रहती है। शब्दमात्रधर्मिणी इसलिये नहीं कही जा सकती क्योंकि यह शब्दमात्र से भिन्न वाचकत्व गुणवृत्ति और शब्देतर स्थानों में भी रहती है। केवल शब्देतरधर्मिणी भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि शब्देतरभिन्न वाचकत्व गुणवृत्ति और शब्दमात्र में भी पाई जाती है। इस प्रकार यह व्यंजना सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वच्छन्दचारिणी ही है किसी प्रकार भी किसी दूसरे तक ही सीमित नहीं रहती। यह बात अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—व्यंजना में अभिधा और लक्षणा (अथवा मीमांसक के मत में गुणवृत्ति) में से किसी एक का अभावरूप भेद विद्यमान रहता है क्योंकि व्यंजना शब्द में भी रहती है और शब्दभिन्न में भी रहती है जैसे प्रमेयत्व। इसकी अन्वयव्याप्ति इस प्रकार होगी—जो पदार्थ शब्द में भी रहता है और उससे पृथक् भी रहता है वह अभिधा और लक्षणा इन दोनों से भिन्न हुआ करता है जैसे प्रमेयत्व (प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न होनेवाला वस्तु) शब्द में भी रहता है और उससे भिन्न भी रहता है अर्थात् शब्द भी प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न होता है और दूसरी वस्तुयें भी प्रमाण

द्वारा प्रतिपन्न होती हैं; इसीलिये प्रमेयत्व हेतु को कोई भी अभिधा और लक्षणा में अन्तर्भुक्त नहीं करता। इसी प्रकार व्यंजना के विषय में भी समझना चाहिये। व्यंजना भी शब्द तथा तद्भिन्न दोनों स्थानों पर रहती है; इसीलिये उसे भी अभिधा और लक्षणा के द्वारा गतार्थ नहीं माना जा सकता।

लक्षणा और व्यञ्जना के भेद पर दृष्टिपात

(प्रश्न) इतना स्वीकार किया जा सकता है कि जहाँ बिना ही शब्द के व्यंजना का उदय हो वहाँ व्यंजना एक पृथक्वृत्ति होती है। किन्तु जहाँ अभिधा लक्षणा और गौणी के आश्रय से व्यंजना का उदय होता है वहाँ व्यंजना को उन वृत्तियों से पृथक् मानने की क्या आवश्यकता? वहाँ पर व्यंजना अभिधा और लक्षणा से अभिन्न ही क्यों न मानी जाय। (उत्तर) वाचकत्व और लक्षणा ये शब्द के ही प्रकार हैं उनमें व्यंजना पृथक् होती है इस बात को बड़े विस्तार से अनेक रूपों में सिद्ध किया जा चुका है। अभिधा तथा लक्षणा इत्यादि को आश्रित करके जो व्यंजना प्रवृत्त होती है वह भी शब्द का एक विलक्षण ही प्रकार है जिस प्रकार अभिधा और लक्षणा इत्यादि शब्द के प्रकार होते हैं। यदि इस प्रकार के विभेद होने पर भी आप व्यंजना को अभिधा और लक्षणा का ही भेद मानने को प्रस्तुत हैं तो फिर आप उसे शब्द का ही प्रकार क्यों नहीं मान लेते? (यहाँ पर वृत्ति में 'शब्दप्रकाराणां' 'प्रकारत्वेन' इन शब्दों में 'प्रकार' का प्रयोग धर्म के अर्थ में किया गया है। वृत्तिकार का आशय यह है कि अभिधा और लक्षणा ये शब्द के विशिष्ट धर्म हैं और व्यंजना को आप अभिधा और लक्षणा का धर्म मान लेते हैं, उससे अच्छा यही है कि आप उसे अभिधा और लक्षणा के समान शब्द का ही धर्म मान लें। यही अर्थ यहाँ पर ठीक है। किन्तु लोचनकार ने 'शब्दप्रकाराणां' के प्रकार शब्द को धर्मपरक तथा 'प्रकारत्वेन' को भेदपरक मानकर दूसरी ही व्याख्या की है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—अनेक प्रमाणों के आधार पर अभिधा और लक्षणा से व्यञ्जना का भेद दिखलाया जा चुका, यह भी सिद्ध किया जा चुका कि अभिधा और लक्षणा के समान ही व्यञ्जना भी शब्द का व्यापार होती है तथा यह भी सिद्ध किया जा चुका कि व्यञ्जना कभी अभिधा का आश्रय लेती है और कभी लक्षणा का।) इतना सब होते हुये यदि आप अभिधा और लक्षणा से व्यञ्जना का अभेद मानते हैं तथा व्यञ्जना को अभिधा का ही पर्यायवाचक मानते हैं तो आपको इस बात में भी संकोच नहीं होना चाहिये कि शब्द और व्यंजना का भी अभेद मान लें तथा शब्द और व्यंजना को भी एक दूसरे का पर्याय करने लगें। क्योंकि मन अपना है और मानना भी अपना है। इच्छा तो बेरोक-टोक सभी कुछ मान सकती है। वास्तविकता तो यह है कि व्यंजकत्व का स्वरूप सर्वथा पृथक् होता है यह दिखला दिया गया फिर उसका दूसरे विषय के द्वारा विपर्यास किस प्रकार किया जा सकता है। यदि इस प्रकार मनमाने ढंग से किसी के विषय द्वारा हम स्वतन्त्र अस्तित्ववालों का विपर्यास करने लगेंगे तो सारी व्यवस्था ही उच्छिन्न हो जायगी। हम धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान पर्वत में लगाते हैं, किन्तु इस प्रकार का विपर्यास मानने पर तो पर्वत से उठनेवाले धुयें से आग का अनुमान हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि तब तो यह भी कहा जा सकेगा कि पर्वत का धुआँ अग्नि से उद्भूत नहीं हुआ है।

यहाँ तक जो कुछ भी प्रतिपादित किया जा चुका है उसका उपसंहार कर रहे हैं—इस प्रकार शब्द व्यवहार में तीन प्रकार होते हैं—(१) वाचकत्व, (२) गुणवृत्ति और (३) व्यंजना। इस व्यंजकत्ववृत्ति में जब व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो तब ध्वनिकाव्य होता है। उस ध्वनिकाव्य के दो भेद बतलाये गये हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। इन दोनों की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ पर शब्द व्यवहार के तीन प्रयोग बतलाये गये हैं और उसमें विशेष रूप से व्यवहार शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका आशय यह है कि व्यवहार में आनेवाले शब्द की तीन वृत्तियाँ होती हैं। वैसे शब्द तो समुद्रगर्जन में भी होता है किन्तु उन सब शब्दों की वृत्तियाँ नहीं होती। इस प्रकार व्यवहार शब्द से समुद्रघोष इत्यादि शब्दों का निराकरण हो जाता है।

(ध्वन्या०) अन्यो ब्रूयात्—ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद्युक्तम्। यस्माद्वाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रार्थान्तरप्रतिपत्तिस्तत्र कथं गुणवृत्तिव्यवहारः, नहि गुणवृत्तौ यदा निमित्तेन केनचिद्विषयान्तरे शब्द आरोप्यते अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थः यथा 'अग्निर्माणवकः' इत्यादौ, यदा वा स्वार्थमंशेनापरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामति यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तथा विवक्षितवाच्यत्वमुपपद्यते। अत एव च विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि स्वरूपप्रतीतिरर्थावगमनं च दृश्यत इति व्यञ्जकत्वव्यवहारो युक्त्यनुरोधी। स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते, तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वमिति गुणवृत्तिव्यवहारो नियमेनैव न शक्यते कर्तुम्।

(अनु०) (कोई) दूसरा कहे—'निस्सन्देह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति नहीं होती यह जो कहा जाता है वह उचित है। क्योंकि वाच्य-वाचक की प्रतीति के साथ जहाँ अर्थान्तर की प्रतिपत्ति होती है वहाँ गुणवृत्ति का व्यवहार किस प्रकार हो सकता है। गुणवृत्ति में जब किसी निमित्त से विषयान्तर में शब्द का आरोप अन्यन्ततिरस्कृत अर्थ रूप में किया जाता है जैसे 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि में, अथवा जहाँ स्वार्थ को एक अंश में न छोड़ते हुये उसके सम्बन्ध के द्वारा (शब्द) विषयान्तर को आक्रान्त कर लेता है जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में तब विवक्षितवाच्यत्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिये विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में वाच्य-वाचक इन दोनों की स्वरूपप्रतीति और अर्थागम देखा जाता है, अतः व्यञ्जकत्व का व्यवहार तर्कसङ्गत है। स्वरूप को प्रकाशित करते हुए ही व्यञ्जक दूसरे का अवभासक होता है यह कहा जाता है, उस प्रकार के विषय में वाचकत्व होता है, अतः नियम से ही गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं किया जा सकता।

(लो०) ननु वाचकत्वरूपोपजीवकत्वाद् गुणवृत्त्यनुजीवकत्वादिति च हेतुद्वयं यदुक्तं तद्विवक्षितवाच्यभागे सिद्धं न भवति तस्य लक्षणैकशरीरत्वादित्यभिप्रायेणोपक्रमते—**अन्यो ब्रूयादिति**। यद्यपि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानादिति ब्रुवता निर्णीतचरमेवैतत्, तथापि गुणवृत्तेरविवक्षितवाच्यस्य च दुर्निरूपं वैलक्षण्यं यः पश्यति तं प्रत्याशङ्कानिवारणार्थोऽयमुपक्रमः। अत एवाद्यभेदस्याङ्गीकरणपूर्वमकथं

द्वितीयभेदाक्षेपः। विवक्षितान्यपरवाच्य इत्यादिना पराभ्युपगमस्य स्वाङ्गीकारो दर्श्यते। गुणवृत्तिव्यवहाराभावे हेतुं दर्शयितुं तस्या एव गुणवृत्तेस्तावद्वृत्तान्तं दर्शयति—**न हीति**। गुणतया वृत्तिर्व्यापारो गुणवृत्तिः। गुणेन निमित्तेन साहश्यादिना च वृत्तिः अर्थान्तरविषयेऽपि शब्दस्य सामानाधिकरण्यमिति गौणं दर्शयति। यदा वा स्वार्थमिति लक्षणां दर्शयति। अनेन भेदद्वयेन च स्वीकृतमविवक्षितवाच्यभेदद्वयात्मकमिति सूचयति। अत एव अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थशब्देन विषयान्तरमाक्रामति चेत्यनेन शब्देन तदेव भेदद्वयं दर्शयति—**अत एव चेति**। यत एव न तत्रोक्तहेतुबलाद्गुणवृत्तिव्यवहारो न्याय्यस्तत इत्यर्थः। युक्तिं लोकप्रसिद्धिरूपामबाधितां दर्शयति—**अविवक्षितेति**। उच्यत इति प्रदीपादिः, इन्द्रियादेस्तु कारणत्वान्न व्यञ्जकत्वं प्रतीत्युत्पत्तौ।

(अनु०) (प्रश्न) निस्सन्देह 'वाचकत्वरूप के उपजीवक होने से' और 'गुणवृत्ति के अनुजीवक होने से' ये जो दो हेतु बतलाये गये हैं वे अविवक्षितवाच्य भाग में सिद्ध नहीं होते इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—'दूसरा कहे' यह। यद्यपि, उसके उभयाश्रयत्व के रूपमें व्यवस्थित होने से' इन शब्दों के द्वारा इसका प्रायः निर्णय ही कर दिया गया तथापि गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य के निरूपण में अशक्य विलक्षणता को जो समझता है उसके प्रति आशङ्का निवारण करने के लिये यह उपक्रम है। इसीलिये प्रथम भेद के अङ्गीकार के साथ यह द्वितीय भेद का आक्षेप है। 'विवक्षितान्यपरवाच्य' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा दूसरे की मान्यता के प्रति अपनी स्वीकृति दिखला रहे हैं। गुणवृत्ति के व्यवहार के अभाव में हेतु दिखलाने के लिये उसी गुणवृत्ति का वृत्तान्त पहले दिखला रहे हैं—'नहिं' इत्यादि। गुण (अप्रधान) रूप में वृत्ति अर्थात् व्यापार गुणवृत्ति कहलाती है और गुण को निमित्त मानकर अर्थात् सादृश्य इत्यादि के द्वारा वृत्ति अर्थात् अर्थान्तर के विषय में शब्द का सामानाधिकरण्य इस अर्थ के द्वारा गौण को (गौणी वृत्ति को) दिखलाते हैं। 'अथवा जब स्वार्थ को' इत्यादि के द्वारा लक्षणा को दिखलाते हैं। इन दो भेदों के द्वारा अविवक्षितवाच्य दो भेदोंवाला स्वीकृत किया गया है यह सूचित करते हैं। अत एव अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थ शब्द के द्वारा और विषयान्तर को आक्रान्त कर लेता है इस शब्द के द्वारा उन्हीं दो भेदों को दिखलाते हैं—'अत एव च' इत्यादि। अर्थात् उक्त हेतुओं के बल से वहाँ गुणवृत्ति का व्यवहार उचित नहीं है इसीलिये। लोकप्रसिद्ध रूपवाली अबाधित युक्ति को दिखलाते हैं—'स्वरूप' यह। कहा जाता है अर्थात् प्रदीप इत्यादि। कारण होने से प्रतीति की उत्पत्ति में इन्द्रियों की कारणता नहीं होती।

तारावती—यहाँ तक ध्वनि का अभिधामूलकत्व और लक्षणामूलकत्व सिद्ध किया जा चुका। इससे व्यञ्जना की अभिधा और लक्षणा से विभिन्नता स्वभावतः सिद्ध हो गई। तथापि विचारकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य का विभेद मानने को तैय्यार नहीं। उनका आशय यह है कि व्यञ्जनावृत्ति को सिद्ध करने के लिये जो दो हेतु दिये गये हैं—(१) व्यंजना वाचकत्व की उपजीवक होती है और (२) व्यंजना गुणवृत्ति की अनुजीवक (निकट सहचारिणी) होती है— ये हेतु अभिधा और व्यंजना के विभेद को सिद्ध

करने के लिये तो पर्याप्त हैं किन्तु अविवक्षितवाच्य के विषय में लागू नहीं होते क्योंकि अविवक्षितवाच्य और लक्षणा का शरीर एक ही होता है। इसी मन्तव्य से अग्रिम प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है। 'यद्यपि व्यंजना गुणवृत्ति और अभिधा दोनों के 'आश्रय' से अवस्थित होती है' इन शब्दों के द्वारा उक्त प्रश्न का उत्तर दिया ही जा चुका है तथापि जो लोग यह समझते हैं कि गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य का वैलक्षण्य सिद्ध ही नहीं किया जा सकता उनको समझाने के मन्तव्य से एक बार पुनः यह प्रकरण उठाया जा रहा है। इसमें सर्वप्रथम गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य का अभेद माननेवाले की ओर से पूर्वपक्ष की स्थापना की जायगी और फिर सिद्धान्ती की ओर से उत्तर दिया जायगा। पूर्वपक्षी ने विवक्षितान्यपर वाच्य के नाम के ध्वनिभेद को तो माना है किन्तु अविवक्षितवाच्य का अन्तर्भाव गुणवृत्ति में करने की चेष्टा की है। उसका कहना है कि आप विवक्षितान्यपरवाच्य नामक जो ध्वनि का भेद मानते हैं वह तो हम भी मानते हैं और उसका मानना ठीक ही है। कारण यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य को हम गुणवृत्ति के अन्तर्गत नहीं ला सकते। विवक्षितान्यपरवाच्य में वाच्य-वाचक की प्रतीति भी होती रहती है और उसके साथ ही अर्थान्तर की भी प्रतीति हो जाती है। आशय यह है कि वहाँ पर मुख्यवृत्ति का प्रत्याख्यान नहीं होता, मुख्यवृत्ति (वाच्य-वाचक भाव) की प्रतीति साथ-साथ होती रहती है अतः उसे हम गुणवृत्ति की संज्ञा दे नहीं सकते। गुणवृत्ति का अर्थ है गुणत्व के रूप में (गौणरूप में) वृत्ति अर्थात् व्यापार तथा गुणों को निमित्त मानकर सादृश्य इत्यादि के द्वारा वृत्ति अर्थात् किसी अन्य के अर्थ में शब्द का सामानाधिकरण्य। आशय यह है कि गुणवृत्ति वहीं पर हो सकती है जहाँ पर या तो किसी निमित्त को लेकर किसी दूसरे अर्थ में शब्द का आरोप कर दिया जाय और उसके मुख्य वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जैसे 'बालक आग है' में बालक और आग का सामानाधिकरण्य निर्दिष्ट किया गया है जो कि सङ्गत नहीं होता, अतः अग्नि का शाब्दिक अर्थ सर्वथा परित्यक्त हो जाता है; उससे तेजस्वी में लक्षणा हो जाती है जिसका प्रयोजन है तेजस्विता की अधिकता। यही अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहलाता है। अथवा जहाँ शब्द स्वार्थ का एक अंश में परित्याग नहीं करता और वाच्य सम्बन्ध के द्वारा वाच्य सम्बन्धी किसी अन्य अर्थ में आक्रान्त हो जाता है। जैसे 'गङ्गा में घर' यहाँ पर गङ्गा का वाच्यार्थ है धारा में प्रवाहित जलराशि। यह अपने अर्थ में बाधित होकर नीरसम्बद्ध तीर को लक्षित करा देता है। इसका प्रयोजन है गंगागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति। (वस्तुतः गुणवृत्ति दो प्रकार की होती है गौणी और शुद्धा। गौणी में गुणों के सादृश्य के आधार पर एक शब्द दूसरे शब्द के अर्थ में प्रयोग किया जाता है जैसे 'बालक अग्नि है' में तेजस्विता के सादृश्य के आधार पर अग्नि का बालक के सामानाधिकरण्य के रूप में प्रयोग किया है। शुद्धा उसे कहते हैं जहाँ सादृश्य से भिन्न अन्य सम्बन्धों के आधार पर एक शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग किया जाता है। जैसे निकटवर्तिता के सम्बन्ध के आधार पर 'गङ्गा में अहीर का घर' इस वाक्य में प्रवाहवाचक गङ्गा शब्द का तट के अर्थ में प्रयोग किया गया है। ये दोनों प्रकार की लक्षणायें दो-दो प्रकार की होती हैं उपादानलक्षणा और लक्षित-लक्षणा। जहाँ शब्द के वाच्यार्थ का एक अंश में ग्रहण कर लिया जाता है और अर्थ की पूर्ति के लिये दूसरे अर्थ का उपादान

किया जाता है वहाँ उपादान लक्षणा होती है, उसे ही अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। इसके प्रतिकूल जहाँ शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है उसे लक्षितलक्षणा या जहत्स्वार्था कहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर वृत्तिकार का दिया हुआ 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण ठीक नहीं प्रतीत होता। यह उदाहरण अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का दिया गया है। किन्तु इसमें गङ्गा का वाच्यार्थ प्रवाह लक्ष्यार्थ तीर में अपने को अत्यन्त तिरस्कृत कर देता है। अतः यह उदाहरण भी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (जहत्स्वार्था) का ही होना चाहिये। अत एव अजहत्स्वार्था के उदाहरण होंगे—'छाते जारहे हैं' 'कौओं से दही बचाना' इत्यादि। ज्ञात होता है वृत्तिकार ने यहाँ पर 'जहत्स्वार्था' और 'अजहत्स्वार्था' पर विचार न कर एक उदाहरण गौणी का दिया है और एक लक्षणा का। ऐसा मानने पर ही इस ग्रन्थ की सङ्गति बैठती है अन्यथा नहीं।) यद्यपि लक्षणा के और भी अनेक भेद हो सकते हैं तथापि यहाँ पर केवल दो का ही निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के केवल दो ही भेद किये गये हैं और उन भेदों से मिलते हुये भेद यहाँ पर दिखला दिये गये हैं। इसीलिये वृत्तिकार ने 'अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थ' और 'विषयान्तर को आक्रान्त कर लेता है' इन शब्दों का प्रयोग किया है और इन शब्दों के द्वारा उन्हीं दो भेदों की ओर इङ्गित किया है। सारांश यह है कि गुणवृत्ति इन्हीं दोनों स्थानों पर होती है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में ये दोनों तत्त्व आते ही नहीं। क्योंकि उसमें वाच्य और वाचक दोनों के स्वरूप भी प्रतीत होते रहते हैं और साथ ही दूसरे अर्थ का भी अवगमन करा देते हैं। इसी विशेषता के कारण विवक्षितान्यपरवाच्य में गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं हो सकता और हम उसके लिये व्यंजना कहने के लिये बाध्य हो जाते हैं। व्यञ्जना यह नामकरण भी अत्यन्त युक्तियुक्त है, इसमें एक लोकसिद्ध तर्क है जिसके स्वरूप का बाध हो ही नहीं सकता और वह तर्क यह है कि लोक में हम उसे ही व्यञ्जक कहते हैं जो अपने को प्रकाशित करते हुये दूसरे को प्रकाशित कर दे। जैसे दीपक अपने को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थ को भी व्यक्त कर देता है। प्रतीति की उत्पत्ति में इन्द्रियाँ व्यंजक नहीं कही जा सकती क्योंकि वे तो कारण होती हैं। आशय यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य में वाच्यार्थ अपने को प्रकाशित करते हुये व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करता है अतः उसके व्यापार को व्यञ्जनाव्यापार कहना ही उचित है।

(ध्वन्या०) अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते? तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्तिद्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः।

अयमपि न दोषः। यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्तिरूप एव। गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते। व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते। गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति, यथा तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः आह्लादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखमित्यादौ। यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ। यापि लक्षणारूपा गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये।

(अनु०) अविवक्षितवाच्यध्वनि तो गुणवृत्ति से कैसे भिन्न होती है ? क्योंकि उसके दोनों प्रभेदों में गुणवृत्ति के दोनों भेदों की एकरूपता देखी ही जाती है।

यह भी दोष नहीं है। क्योंकि अविवक्षितवाच्यध्वनि निस्सन्देह गुणवृत्ति मार्ग का आश्रय लेनेवाली भी होती है, केवल गुणवृत्ति रूप ही नहीं होती। गुणवृत्ति तो निस्सन्देह व्यंजकत्व से शून्य भी देखी जाती है। व्यंजकत्व तो यथोक्तचारुत्व हेतु व्यङ्ग्य के विना व्यवस्थित नहीं होता। गुणवृत्ति के केवल वाच्यधर्म के आश्रय से ही और केवल व्यङ्ग्य के आश्रय से अभेद के आरोपरूप होती है। जैसे तीक्ष्ण होने से 'बालक आग है', 'आह्लादक होने से चन्द्रमा ही इसका मुख है' इत्यादि में। और जैसे 'प्रियजन में पुनरुक्त नहीं होता' इत्यादि में। और जो लक्षणारूप गुणवृत्ति है वह भी केवल उपलक्षणीय अर्थ के सम्बन्ध के आश्रय से चारुतारूप व्यङ्ग्य की प्रतीति के बिना भी सम्भव होती है जैसे 'मञ्च शोर मचा रहे हैं' इत्यादि विषय में।

(लो०) एवमभ्युपगमं प्रदर्श्य आक्षेपं दर्शयति—**अविवक्षितेति**। तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषं द्योतयति। **तस्येति**। अविवक्षितवाच्यस्य यत् प्रभेदद्वयं तस्मिन् गौणलाक्षणिकत्वात्मकं प्रकारद्वयं लक्ष्यते निर्भास्यत इत्यर्थः।

एतत्परिहरति **अयमपीति**। गुणवृत्तेर्यो मार्गः प्रभेदद्वयं स आश्रयो निमित्ततया प्राक्कक्ष्यानिवेशी यस्येत्यर्थः। एतच्च पूर्वमेव निर्णीतम्। ताद्रूप्याभावे हेतुमाह—**गुण वृत्तिरिति**। गौणलाक्षणिकोभयरूपी अपीत्यर्थः। ननु व्यञ्जकत्वेन कथं शून्या गुणवृत्तिर्भवति, यतः पूर्वमेवोक्तम्—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥इति॥

नहि प्रयोजनशून्य उपचारः प्रयोजनांशनिवेशी च व्यञ्जनाव्यापार इति भवद्भिरेवाभ्यधायीत्याशङ्क्याभिमतं व्यञ्जकत्वं विश्रान्तिस्थानरूपं तत्र नास्तीत्याह—**व्यञ्जकत्वं चेति**। **वाच्यधर्मेति**। वाच्यविषयो यो धर्मोऽभिधाव्यापारस्तस्याश्रयेण तदुपबृंहणायेत्यर्थः। श्रुतार्थापत्ताविवार्थान्तरस्याभिधेयार्थोपपादन एव पर्यवसानादितिभावः। तत्र गौणस्योदाहरणमाह—**यथेति**। द्वितीयमपि प्रकारं व्यञ्जकत्वशून्यं दर्शयितुमुपक्रमते—**यापीति**। चारुरूपं विश्रान्तिस्थानम्। तदभावे स व्यञ्जकत्वव्यापारो नैवोन्मीलति, प्रत्यावृत्य वाच्य एव विश्रान्तेः, क्षणदृष्टनष्टदिव्यविभवप्राकृतपुरुषवत्।

इस प्रकार स्वीकृति (सहमति) प्रदर्शित करके आक्षेप को दिखलाते हैं—अविवक्षित इत्यादि। 'तु' शब्द पहले से विशेषता को द्योतित करता है। 'उसका' यह। अविवक्षित वाच्य के जो दो प्रभेद उसमें गौण लाक्षणिकत्वात्मक दो प्रकार लक्षित होते हैं अर्थात् भासित होते हैं।

इसका परिहार कहते हैं—'यह भी' यह। अर्थात् गुणवृत्ति का जो मार्ग वह है आश्रय अर्थात् निमित्त के रूप में पूर्व कक्ष्या में निविष्ट होनेवाला जिसका। इसका तो निर्णय पहले ही कर दिया गया। ताद्रूप्य के अभाव में हेतु बतलाते हैं—'गुणवृत्ति' यह।

अर्थात् गौण और लाक्षणिक रूपवाली दोनों ही प्रकार की। (प्रश्न) गुणवृत्ति व्यंजकत्व से शून्य कैसे हो सकती है। क्योंकि आप पहले ही कह चुके हैं—'जिस फल का उद्देश्य लेकर मुख्यवृत्ति का परित्यागकर गुणवृत्ति से अर्थदर्शन किया जाता है उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं होती।'

उपचार कभी प्रयोजन से शून्य नहीं होता और यह आपने ही कहा है कि व्यंजना-व्यापार प्रयोजनांश में निविष्ट होनेवाला होता है यह शंका करके यह कहते हैं कि विश्रान्ति-स्थानरूप अभिमत व्यंजकत्व यहाँ पर नहीं होता—'और व्यंजकत्व' इत्यादि। 'वाच्यधर्म' यह। वाच्यविषयक जो धर्म अर्थात् अभिधाव्यापार उसके आश्रय से अर्थात् उसके उपवृंहण के लिये। श्रुतार्थापत्ति के समान अभिधेयार्थ के उपादान में ही अर्थान्तर का पर्यवसान हो जाता है। उसमें गौण का उदाहरण देते हैं—'जैसे' यह। द्वितीय प्रकार को भी व्यंजकत्वशून्य बतलाने का उपक्रम करते हैं—'जो भी' इत्यादि। विश्रान्तिस्थान चारुतारूप होता है। उसके अभाव में व्यंजकत्वव्यापार उन्मीलित नहीं होता क्योंकि लौटकर उसकी विश्रान्ति वाच्य में ही हो जाती है जैसे कोई प्राकृत पुरुष जिसका दिव्य विभव क्षण भर दिखलाई पड़कर नष्ट हो गया हो।

तारावती—यहाँ तक तो हुई वह बात जिसमें पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों एक मत हैं। मतभेद अविवक्षितवाच्य के विषय में है। इस विषय में पूर्वपक्षी का कहना यह है कि यह माना ही कैसे जा सकता है कि अविवक्षितवाच्य भी ध्वनि की सीमा में आने का अधिकारी है। अविवक्षितवाच्य में तो वह बात होती नहीं जो विवक्षितान्यपरवाच्य में होती है। अर्थात् अविवक्षितवाच्य में अर्थान्तर के प्रकाशन के अवसर पर वाच्यार्थ अपने को प्रकाशित ही नहीं करता रहता। दूसरी बात यह है कि अविवक्षितवाच्य के दो भेद बतलाये गये हैं अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। इन दोनों का अन्तर्भाव सफलतापूर्वक गुणवृत्ति के उक्त दोनों रूपों में किया ही जा सकता है। (वे दोनों रूप हैं उपादान अथवा अजहत्स्वार्था लक्षणा और लक्षणलक्षणा अथवा जहत्स्वार्था लक्षणा। लोचनकार ने गौण लाक्षणिकत्वात्मक दो भेदों में अविवक्षितवाच्य का अन्तर्भाव माना है। वह ठीक नहीं है क्योंकि गौणी और लक्षणा दोनों के उक्त दो भेद होते हैं।) अतः अविवक्षितवाच्य ध्वनि गुणवृत्ति ही है वह ध्वनि भेद के अन्तर्गत नहीं आती।

(उत्तर) यह दोष आप नहीं दे सकते। क्योंकि गुणवृत्ति का जो मार्ग है अर्थात् उसके जो दोनों भेद हैं वे अविवक्षितवाच्य का आश्रय बनते हैं। आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति के दोनों भेद निमित्त होकर आते हैं और इसीलिये अविवक्षितवाच्य ध्वनि से पहली कक्षा में उनका सन्निवेश हो जाता है। गुणवृत्ति-भेद कारण होते हैं और अविवक्षित-वाच्य कार्य। कारण कार्य से पहले होता है, अतः लक्षणाभेद पहले होते हैं और बाद में ध्वनि-भेद। इस पौर्वापर्य के कारण गुणवृत्ति और ध्वनि में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है उनका ताद्रूप्य नहीं हो सकता। कारण कभी कार्य से रहित भी होता है, अतः गुणवृत्ति कभी व्यंजना से रहित भी हो सकती है, फिर इनका तादात्म्य कैसा? (प्रश्न) यह कहना तो ठीक नहीं

मालूम पड़ता कि गुणवृत्ति व्यंजकत्व से शून्य भी हो सकती है। क्योंकि आपने स्वयं ही कहा है कि—

'जिस फल के लिये मुख्यवृत्ति का परित्याग किया जाता है और अर्थदर्शन के लिये गुणवृत्ति का आश्रय लिया जाता है उस फल के प्रत्यायन में शब्द की गति कुण्ठित नहीं होती।'

आशय यह है कि लक्षणा के प्रयोजन के प्रत्यायन में बाध की अपेक्षा नहीं होती। ऐसा कोई उपचार या लाक्षणिक प्रयोग नहीं होता जिसका कोई प्रयोजन न हो और ऐसा कोई प्रयोजन नहीं होता जिसमें व्यंजनाव्यापार का सन्निवेश न हो, इतना तो आप भी मानते ही हैं। फिर आपके इस कथन का क्या आशय कि गुणवृत्ति व्यंजकत्वशून्य भी देखी जाती है? (उत्तर) (लक्षणा के आचार्यों ने दो भेद किये हैं—निरूढा लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। जहाँ अनादि परम्परा के आधार पर रूढि के समान लक्षणा का प्रयोग किया जाता है उसे निरूढा लक्षणा कहते हैं। इसमें कोई प्रयोजन नहीं होता, केवल अनादि परम्परा ही निमित्त होती हैं। जैसे लावण्य, कुशल, मण्डप, कुण्डल इत्यादि लक्षणामूलक शब्दों का शक्तिभ्रम से अभिधेयार्थ के समान प्रयोग हुआ करता है। ऐसे स्थानों पर प्रयोजन-प्रत्यायन की अपेक्षा नहीं होती। अब प्रयोजनवती लक्षणा को लीजिये—इसमें प्रयोजन-प्रत्यायन के लिये व्यंजना की अपेक्षा अवश्य होती है, किन्तु उसमें भी एक विशेषता है।) ठीक रूप में व्यंजकता वहीं पर कही जा सकती है जो विश्रान्तिस्थान हो अर्थात् अर्थ का पर्यवसान यदि व्यङ्ग्यार्थ में हो तभी वहाँ व्यंजनाव्यापार माना जा सकेगा। विश्रामस्थान का आशय यह है कि व्यङ्ग्यार्थ चारुता-हेतु होना चाहिये, अर्थात् सौन्दर्य का पर्यवसान व्यंजना में ही होना चाहिये। गुणवृत्ति में भी कहीं-कहीं चारुता का पर्यवसान और अर्थ की परिसमाप्ति व्यङ्ग्यार्थनिष्ठ होती है। किन्तु गुणवृत्ति ऐसे स्थान पर सम्भव है जहाँ वाच्यविषयक धर्म अर्थात् अभिधाव्यापार के आश्रय से ही केवल व्यङ्ग्य का सहारा ले लिया जाता है। वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ का सहारा लेने का प्रयोजन केवल वाच्यार्थ का उपवृंहण करना ही होता है। जैसे श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति में दूसरे अर्थ लेने का प्रयोजन केवल यही होता है कि अभिधेयार्थ का उपपादन कर दिया जाय। उदाहरण के लिये 'स्थूल देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता।' बिना भोजन किये स्थूलता उपपन्न हो ही नहीं सकती। अतः श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति से देवदत्त के रात्रिभोजन का आक्षेप कर लिया जाता है। इस रात्रिभोजनरूप अर्थान्तर के आक्षेप का मन्तव्य केवल स्थूल के वाच्यार्थ को सिद्ध करना ही है, इसमें अर्थ का पर्यवसान आक्षिप्त अर्थ में नहीं होता। इसी प्रकार गुणवृत्ति के भी कुछ स्थान ऐसे होते हैं जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का उपयोग वाच्यार्थ के उपकार के लिये ही होता है। पहले गुणवृत्ति को लीजिये—गुणवृत्ति वहाँ पर होती है जहाँ दो सर्वथा पृथक् तथा विभिन्न पदार्थों के अभेद का औपचारिक प्रयोग किया जाय। यह प्रयोग गुणों के साम्य के आधार पर होता है और गुण उसमें व्यङ्ग्य होते हैं। जैसे अग्नि और बालक दोनों सर्वथा विभिन्न पदार्थ हैं। इनका औपचारिक तादात्म्य 'बालक अग्नि है' में स्थापित किया गया है। इस तादात्म्यस्थापन का

हेतु है तीक्ष्णत्व जो कि एक गुण है और जिसकी प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति के आधार पर होती है। यह व्यञ्जना तादात्म्य का हेतु बतलाकर ही विश्रान्त हो जाती है। इसी प्रकार 'मुख-चन्द्र है' में आह्लादकत्व व्यक्त होकर वाच्य तादात्म्य का उपकार करता है। इसी प्रकार 'प्रियजन में पुनरुक्त नहीं होता' में पुनरुक्त शब्द की गुणवृत्ति के विषय में भी समझना चाहिये। यह तो हुई गुणवृत्ति की बात। अब लक्षणा को लीजिये—इसमें गुणसाम्य के आधार पर अभेदस्थापन नहीं होता अपितु सादृश्य से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से अन्यार्थक शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग किया जाता है। उसमें भी यह सम्भव है कि जिस प्रयोजन में व्यञ्जना होती है उसमें न तो अर्थ का पर्यवसान हो और न चारुता की परिसमाप्ति ही तद्गत हो। जब कि चारुतारूप विश्रान्तिस्थान व्यञ्जनाव्यापार में होगा ही नहीं तब व्यंजना का उन्मीलन भी नहीं हो सकेगा। जैसे 'मञ्च शोर मचा रहे हैं' में तत्स्थ सम्बन्ध से बालकों के लिये 'मञ्च' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रयोजन है बहुत्व की प्रतीति जो कि व्यंजना-व्यापारगम्य है। यह बहुत्व की प्रतीति लक्ष्यार्थ का बोध कराकर लौटकर उसी में विश्रान्त हो जाती है। इसकी वही दशा होती है जो किसी ऐसे व्यक्ति की हुआ करती है जिसका दिव्य वैभव क्षणभर के लिये देखा गया हो और तत्काल नष्ट हो जाय। इसी प्रकार कुछ गुणवृत्तियाँ तथा लक्षणायें ऐसी होती हैं जिनमें व्यञ्जना का क्षणिक आभास मिलता है और फिर उसका पर्यवसान वाच्यार्थ के सिद्ध करने के लिये ही हो जाता है। ऐसे स्थानों के विषय में कहा जा सकता है कि गुणवृत्ति व्यञ्जनाशून्य है।

('गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रये च' इन शब्दों की ठीक सङ्गति न लगा सकने के कारण टीकाकारों में प्रायः भ्रम उत्पन्न हो गया है। अधिकतर टीकाकारों ने 'वाच्यधर्माश्रियेणैव' की योजना निरूढालक्षणापरक लगाई है और 'व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण' की योजना प्रयोजनवतीलक्षणापरक लगाई है। किन्तु यह अर्थ करने पर एक तो 'एव' का प्रयोग सङ्गत नहीं होता; दूसरे पूर्वापर ग्रन्थ की सङ्गति नहीं लगती, तीसरे उदाहरण भी निरूढालक्षणापरक नहीं दिये गये हैं और चौथी बात यह है कि लोचनकार ने स्पष्ट ही लिखा है कि श्रुतार्थापत्ति के समान वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ का प्रयोग अभिधाव्यापार के उपबृंहण के लिये ही होता है; ऐसे स्थानों पर व्यञ्जना की वही दशा होती है जो क्षणभर विभव को देखकर गरीबी में लौट जानेवाले व्यक्ति की हुआ करती है। इन सबकी सङ्गति बिठाने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर आलोककार ने ऐसे स्थलों का निर्देश किया है जहाँ व्यंजना अभिधा की साधक होती है।)

(ध्वन्या०) यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्। असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, यथा 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादौ तत्र चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार एव युक्त्यनुरोधी। तस्मादविवक्षितवाच्ये ध्वनौ द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी प्रतीयमाना प्रतीतिहेतुत्वाद्विषयान्तरे तद्रूपशून्याया दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक्सूचितमपि स्फुटतरप्रतिपत्तये पुनरुक्तम्।

(अनु०) जहाँ पर तो वह (गुणवृत्ति) चारुरूप व्यङ्ग्यप्रतीति में हेतु होती हैं वहाँ पर भी वाचकत्व के समान व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से ही (उसमें चारुता आती है।) और असम्भव अर्थ से जहाँ व्यवहार होता है जैसे 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादि में, वहाँ चारुरूप व्यङ्ग्य-प्रतीति ही प्रयोजिका होती है; अतः उस प्रकार के विषय में भी गुणवृत्ति के होते हुये भी 'ध्वनि' का व्यवहार युक्तिसंगत है। अत एव अविवक्षितवाच्य के दोनों ही प्रभेदों में गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व विशेष से विशिष्ट होकर ही सहृदयों के हृदयों को आह्लाद देनेवाली होती है। क्योंकि गुणवृत्ति प्रतीयमान की प्रतीति में हेतु नहीं होती क्योंकि वह उसके रूप से शून्य भी देखी जाती है। यह सब पहले सूचित किया हुआ भी अधिक स्फुट प्रतीति के लिये फिर कह दिया गया है।

(लो०) ननु यत्र व्यङ्ग्येऽर्थे विश्रान्तिस्तत्र किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह—**तत्र त्विति**। अस्ति तत्रापरो व्यञ्जनव्यापारः परिस्फुट एवेत्यर्थः। दृष्टान्तं पराङ्गीकृतमेवाह—**वाचकत्ववदिति**। वाचकत्वे हि त्वयैवाङ्गीकृतो व्यञ्जनव्यापारः प्रथमध्वनिप्रभेदम-प्रत्याचक्षाणेनेति भावः। किञ्च वस्त्वन्तरे मुख्ये सम्भवति सम्भवदेव वस्त्वन्तरं मुख्य-मेवारोप्यते विषयान्तरमात्रतस्त्वारोपव्यवहार इति जीवितमुपचारस्य, सुवर्णपुष्पाणां तु मूलत एवासम्भवात्तदुच्चयनस्य कस्तत्र आरोपव्यवहारः, 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इति हि स्यादारोपः, तस्मादत्र व्यञ्जनव्यवहार एव प्रधानभूतो नारोपव्यवहारः, स परं व्यञ्जनव्यापारानुरोधतयोत्तिष्ठति। तदाह—**असम्भविनेति। प्रयोजिकेति**। व्यङ्ग्यमेव हि प्रयोजनरूपं प्रतीतिविश्रामस्थानमारोपिते त्वसम्भवति प्रतीतिविश्रान्तिराशङ्कनीयापि न भवति। **सत्यामपीति**। व्यञ्जनव्यापारसम्पत्तये क्षणमात्रमवलम्बितायामितिभावः। **तस्मादिति**। व्यञ्जकत्वलक्षणो यो विशेषस्तेनाविशिष्टा अविद्यमानं विशिष्टं विशेषो भेदनं तस्याः व्यञ्जकत्वं न यस्याः भेद इत्यर्थः। यदि वा व्यञ्जकत्वलक्षणेन व्यापार-विशेषेणाविशिष्टा न्यक्कृतस्वभावा आसमन्ताद्व्याप्ता। **तदेकेति**। तेन व्यञ्जकत्वलक्ष-णेन सहैकं रूपं यस्याः सा तथाविधा न भवति। अविवक्षितवाच्ये व्यञ्जकत्वं गुणवृत्तेः पृथक्चारुत्वप्रतीतिहेतुत्वात् विवक्षितवाच्यनिष्ठव्यञ्जकत्ववत्, नहि गुणवृत्तेश्चारु-प्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति—**विषयान्तर इति**। अग्निर्वटुरित्यादौ। प्रागिति प्रथमोद्योते।

(अनु०) (प्रश्न) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में विश्रान्ति होती है वहाँ क्या करना चाहिये? इस शंका पर कहते हैं—(उ०) 'वहाँपर तो' यह। अर्थात् वहाँ पर दूसरा व्यंजनाव्यापार परिस्फुट ही है। दूसरे के द्वारा स्वीकार किया हुआ ही दृष्टान्त देते हैं—'वाचकत्व के समान' यह। भाव यह है कि प्रथम ध्वनि भेद का खण्डन न करते हुये तुमने ही वाचकत्व में व्यंजनाव्यापार अङ्गीकार कर लिया। दूसरी बात यह है कि मुख्य दूसरी वस्तु के सम्भव होते हुये सम्भव दूसरी मुख्य वस्तु का ही अरोप किया जाता है; केवल विषयान्तर होने से ही आरोप का व्यवहार किया जाता है; यही उपचार का जीवन है। सुवर्ण पुष्पों का होना तो मूल से ही असम्भव है अत एव उनके चयन करने के आरोप का व्यवहार ही कैसा? 'सुवर्णपुष्पा पृथिवी'

यह आरोप हो सके, इससे यहाँ पर व्यंजनाव्यापार ही प्रधान है आरोपव्यवहार नहीं। वह केवल व्यंजनाव्यापार के अनुरोध से ही उठता है। वही कहते हैं—'असम्भव अर्थ के द्वारा' इत्यादि। 'प्रयोजिका' यह। निस्सन्देह प्रयोजनरूप व्यंग्य ही प्रतीति का विश्रामस्थान होता है। आरोपित के असम्भव होने पर प्रतीतिविश्रान्ति की शंका भी नहीं की जा सकती। 'होने पर भी' यह। भाव यह है कि व्यंजनाव्यापार की सम्पत्ति के लिये क्षणमात्र अवलम्बन की हुई होने पर भी। 'उससे' यह। व्यंजकत्व लक्षणवाला जो विशेष उससे अविशिष्ट अर्थात् विशिष्ट या विशेष अथवा भेदन जिसका विद्यमान नहीं है। अथवा व्यंजकत्वलक्षणवाले विशेष प्रकार के व्यापार के द्वारा अविशिष्ट अर्थात् तिरस्कृत स्वभाववाली, चारों ओर से व्याप्त। 'उससे एकरूप' यह। उससे अर्थात् व्यञ्जकत्व लक्षण के साथ एकरूप नहीं है जिसका उस प्रकार की नहीं होती। अविवक्षितवाच्य में व्यञ्जकत्व गुणवृत्ति से पृथक् होता है क्योंकि चारुता की प्रतीति में हेतु होता है जिस प्रकार विवक्षित वाच्य में रहनेवाला व्यंजकत्व। गुणवृत्ति की चारुप्रतीतिहेतुता नहीं है यह दिखलाते हैं 'विषयान्तर में' यह। 'अग्नि ब्रह्मचारी है' इत्यादि में। 'पहले' यह अर्थात् प्रथम उद्योत में।

तारावती—(प्रश्न) जहाँ व्यंजना गुणवृत्ति की साधिका होकर आती है उसके विषय में आपने जो कुछ कहा वह ठीक हो सकता है किन्तु ऐसे स्थलों के विषय में आप क्या करेंगे जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में ही अर्थ की विश्रान्ति होती है और उसी में चारुता की परिसमाप्ति होती है? (उत्तर) वहाँ पर स्पष्ट ही व्यंजना नामक एक अतिरिक्त व्यापार विद्यमान रहता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये आनन्दवर्धन ने वही उदाहरण दिया है जो कि पूर्वपक्षियों ने स्वीकार कर लिया था। पूर्वपक्षियों ने विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिभेद का खण्डन नहीं किया अपितु उसका समर्थन ही किया था। यहाँ पर वृत्तिकार का कहना है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ के साथ प्रतीयमान अर्थ चारुता में हेतु होकर ध्वनिरूपता को धारण करता है और उसके लिये आपने व्यंजनाव्यापार स्वीकार किया है उसी प्रकार गुणवृत्ति में भी चारुताप्रतीति में हेतु व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन करानेवाली व्यंजनावृत्ति ही होती है अर्थात् व्यंजकत्व के अनुप्रवेश से ही गुणवृत्तिमूलक ध्वनि में भी चारुताप्रतीति होती है। दूसरी बात यह है कि गुण सादृश्य के आधार पर जहाँ पर दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्म्य का आरोप किया जाता है और विभिन्न-वस्तुओं के भेद का स्थगन कर दिया जाता है उसे उपचार कहते हैं। इस उपचार का बीज यही है कि मुख्यवस्तु सम्भव हो और उसपर ऐसी ही मुख्यवस्तु का आरोप किया जाय जो स्वयं सम्भव हो। तभी उसे उपचार की संज्ञा प्राप्त हो सकती है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब दोनों वस्तुयें मुख्य भी होती हैं और दोनों ही सम्भव भी होती हैं तब उनका आरोप कैसे कहा जा सकता है! इसका उत्तर यह है कि मुख्य वस्तु का विषयान्तर में प्रयोग होता है इसीलिये उसे आरोप की संज्ञा दी जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस वस्तु का आरोप किया जाय और जिसपर आरोप किया गया हो दोनों वस्तुयें सम्भव अवश्य होनी चाहिये। इसके प्रतिकूल कुछ स्थल ऐसे होते हैं जहाँ एक वस्तु सर्वथा असम्भव होती है। उदाहरण के लिये 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' को लीजिये सुवर्ण के पुष्पों का होना तो मूलतः

असम्भव है; अतः वहाँ पर उनके उच्चयन के आरोप का व्यवहार हो ही कैसे सकता है ! यदि यहाँ सुवर्ण-पुष्प सम्भव होते तो पृथिवीपर सुवर्णपुष्पा होने का आरोप हो सकता था जोकि सुवर्ण-पुष्पों के असम्भव होने से सर्वथा असङ्गत हो जाता है। अत एव यहाँ पर आरोप का व्यवहार प्रधान नहीं है अपितु व्यञ्जनाव्यापार ही प्रधान है। व्यञ्जना व्यापार के अनुरोध से ही आरोप के व्यवहार का आश्रय ले लिया जाता है। आशय यह है कि जहाँ व्यञ्जना गुणवृत्ति की साधिका न होकर स्वयं स्वतन्त्र तथा चमत्कार-पूर्ण होती है वहाँ गुणवृत्ति का उपयोग केवल व्यञ्जना के उपकारक के रूप में ही होता है। यही बात वृत्तिकार ने 'असम्भविना चार्थेन' इन शब्दों के द्वारा व्यक्त की है। वृत्तिकार का आशय यह है कि जहाँ पर अर्थ असम्भव होता है वहाँ पर गुणवृत्ति के जिस प्रयोजन की व्यञ्जना की जाती है उसी में प्रतीति का पर्यवसान हो जाता है और उसी में चारुता परिनिष्ठित होती है। यह तो शङ्का भी नहीं की जा सकती कि जो आरोप असम्भव है उसमें प्रतीति की विश्रान्ति होगी। ऐसे स्थानों पर व्यञ्जनाव्यापार की पूर्ति के लिये तथा उसके सम्पन्न हो जाने के लिये गुणवृत्ति का क्षणभर के लिये आश्रय ले लिया जाता है; वस्तुतः वहाँ व्यञ्जना ही प्रमुख होती है, अतः ऐसे काव्य को ध्वनिकाव्य कहना ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस समस्त निरूपण का निष्कर्ष यही निकलता है कि गुणवृत्ति और व्यञ्जना दोनों एकरूप कभी नहीं हो सकती। अविवक्षितवाच्यध्वनि वहीं पर होती है जहाँ व्यञ्जना का उपकार करने के लिये साधक के रूप में गुणवृत्ति का क्षणमात्र के लिये आश्रय ले लिया जाता है और उसमें व्यञ्जनावृत्ति ही प्रधान होकर स्थित होती है। आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य के दोनों प्रभेदों में (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य इन दोनों भेदों में) गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्ट होती है। लोचन में व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्ट के तीन अर्थ किये गये हैं—(१) व्यञ्जकत्वरूप विशेष से अविशिष्ट अर्थात् व्यञ्जकत्व एक विशेष तत्त्व है; गुणवृत्ति उससे विशिष्ट नहीं होती। आशय यह है कि गुणवृत्ति में व्यञ्जकत्वरूप विशेष या भेदकत्व विद्यमान नहीं रहता अर्थात् व्यञ्जकत्व उसका भेद नहीं है। (२) विशिष्ट का अर्थ है आदर, अविशिष्ट का अर्थ है अनादर। व्यंजकत्व-रूप व्यापारविशेष के द्वारा जिसका अनादर कर दिया गया हो अर्थात् जहाँ गुणवृत्ति व्यंजना-व्यापार के द्वारा दबा दी जाती है वह ध्वनि का विषय होता है और (३) व्यंजकत्वविशेषा-विशिष्ट की सन्धि इस प्रकार होगी—व्यंजक विशेष + आ + विशिष्ट। विशिष्ट का अर्थ है व्याप्त अर्थात् जो व्यंजकविशेष से चारों ओर से व्याप्त हो। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति की स्थिति के विषय में बतलाया गया है कि इसमें गुणवृत्ति में व्यंजकत्व के द्वारा गुणवृत्ति दबा दी जाती है और व्यंजकत्व गुणवृत्ति में सभी ओर व्याप्त रहता है। इस प्रकार व्यंजना और गुणवृत्ति का तादात्म्य नहीं होता और गुणवृत्ति व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होनेपर ही अविवक्षितवाच्य ध्वनि का रूप धारण कर सहृदयों के हृदयों को आह्लाद देनेवाली होती है; इसके प्रतिकूल गुणवृत्ति सहृदयों के हृदयों को आह्लाद देनेवाली नहीं होती। व्यंजना प्रतीयमान होती है किन्तु गुणवृत्ति प्रतीयमान नहीं होती। व्यंजना चारुताप्रतीति में हेतु होती

है किन्तु गुणवृत्ति चारुताप्रतीति में हेतु भी नहीं होती; क्योंकि विषयान्तर में ('बालक अग्नि है' इत्यादि में) गुणवृत्ति व्यंजकत्व के रूप से शून्य भी देखी जाती है। यही सब कारण हैं जिनसे व्यंजनावृत्ति को गुणवृत्ति से पृथक् मानना ही पड़ता है। यहाँ पर व्यंजकत्व और गुणवृत्ति का पृथक्त्व अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—अविवक्षितवाच्य का व्यंजकत्व गुणवृत्ति से पृथक् होता है।' (प्रतिज्ञा) 'क्योंकि वह चारुताप्रतीति में हेतु होता है' (हेतु) 'जो जो चारुताप्रतीति में हेतु होता है वह गुणवृत्ति से भिन्न हुआ करता है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य में रहनेवाला व्यंजकत्व' (उदाहरण) 'उसी प्रकार का यह भी है' (उपनय) और 'अत एव उसी प्रकार का है' (निगमन)। यद्यपि प्रथम उद्योत में यह सब सूचित किया जा चुका है तथापि यहाँ पर फिर से इसीलिये कह दिया गया है कि पाठक लोग अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकें।

(ध्वन्या०)—अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद्विमतिविषयतामर्हति। शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुसन्दधान एव व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तरसम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते। अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियत औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः।

ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः; यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।

(अनु०) और भी—शब्द और अर्थ का जो अनुसरण करनेवाला होता है यह बात किसी के मतभेद का विषय बनने के योग्य है ही नहीं। शब्द अर्थ का जो प्रसिद्ध वाच्यवाचक नामक सम्बन्ध उसका अनुसरण करते हुये ही दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से व्यंजकत्व नामक व्यापार औपाधिकरूप में प्रवृत्त होता है। इसीलिये वाचकत्व की अपेक्षा उसमें विशेषता होती है। निस्सन्देह वाचकत्व शब्दविशेष की निश्चित आत्मा होता है क्योंकि व्युत्पत्तिकाल से लेकर उससे अपृथग्भाव में वह प्रसिद्ध होता है। वह (व्यंजकत्व) तो अनियत होता है, क्योंकि औपाधिक होता है; प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न होने पर उसकी प्रतीति होती है अन्यथा नहीं।

(प्रश्न) यदि अनियत है तो उसकी स्वरूपपरीक्षा से क्या लाभ ? (उत्तर) यह दोष नहीं है, क्योंकि उसका अनियतत्व शब्दात्मा में होता है, व्यङ्ग्यरूप अपने विषय में नहीं।

(लो०) नियतस्वभावाच्च वाच्यवाचकत्वादौपाधिकत्वेनानियतं व्यञ्जकत्वं कथं न भिन्ननिमित्तमिति दर्शयति—**अपि चेति। औपाधिक इति**। व्यञ्जकत्ववैचित्र्यं यत्पूर्वमुक्तं तत्कृत इत्यर्थः। अत एव समयनियमितादभिधाव्यापाराद्विलक्षण इति यावत्। एतदेव स्फुटयति—**अत एवेति**। औपाधिकत्वं दर्शयति—**प्रकरणादीति**।

किं तस्येति। अनियतत्वाद्यथारुचि कल्प्येत पारमार्थिकं रूपं नास्तीति; न चावस्तुनः परीक्षोपपद्यत इतिभावः। **शब्दात्मनीति**। सङ्केतास्पदे पदस्वरूपमात्र इत्यर्थः।

(अनु०) नियत स्वभाववाले वाच्यवाचकत्व से औपाधिक होने के कारण अनियत व्यंजकत्व क्यों भिन्न निमित्तवाला नहीं है यह दिखलाते हैं—'और भी' इत्यादि। 'औपाधिक' अर्थात् जो व्यंजकत्व वैचित्र्य पहले बतलाया गया है उसके द्वारा प्रयुक्त। आशय यह है कि इसीलिये सङ्केत में नियमित अभिधाव्यापार से विलक्षण होता है। इसी को स्फुट कर रहे हैं—अत एव इत्यादि। औपाधिकत्व को दिखलाते हैं—'प्रकरणादि' इत्यादि।

'उसकी....क्या' यह। अनियत होने से रुचि के अनुसार कल्पना कर ली जाय, वास्तविक रूप नहीं होता है। भाव यह है कि अवस्तु की परीक्षा उत्पन्न ही नहीं होती। 'शब्दात्मा में' यह। अर्थात् संकेतास्पद पद के स्वरूपमात्र में ही।

व्यञ्जना वृत्ति को सिद्ध करने लिये अन्य हेतु

तारावती—यहाँ अब व्यंजना की सत्ता सिद्ध करने के लिये दो एक हेतु और दिये जा रहे हैं। इस विषय में तो किसी को मतभेद होना ही नहीं चाहिये कि वाच्यवाचकभाव शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध सम्बन्ध है तथा उसी को उपजीव्य मानकर तथा उसी का आश्रय लेकर व्यंजनाव्यापार प्रवृत्त हुआ करता है। वाच्यवाचकभाव तथा व्यंजनाव्यापार में एक बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि वाच्यवाचकभाव का स्वभाव निश्चित होता है तथा व्यंजनाव्यापार औपाधिक होता है। (उपाधि शब्द 'उप + आ' उपसर्ग 'धाञ्' धातु से 'कि' प्रत्यय होकर बना है इसका अर्थ है अपने धर्म को दूसरे के निकट ले जाना। वस्तु का स्वभाव एक सा ही होता है, किन्तु किसी विशेषतत्त्व को प्राप्तकर वह वस्तु अन्य प्रकार की प्रतिभासित होने लगती है। किन्तु उस वस्तु में भेद नहीं होता। उदाहरण के लिये मुख की आकृति एक सी ही रहती है किन्तु दर्पण, तेल, खङ्ग इत्यादि में उसकी आकृति विभिन्न प्रकार की दिखलाई देने लगती है। अतः दर्पण, तेल, खङ्ग इत्यादि पदार्थ उपाधि हुये और उनमें दिखलाई पड़नेवाली विभिन्न आकृतियाँ औपाधिक हुई। इसी प्रकार दर्पण इत्यादि वस्तुओं का रंग सफेद होता है किन्तु उनपर जिस प्रकार की विजली का प्रकाश डाला जाता है वे वस्तुयें भी उसी रङ्ग की मालूम पड़ने लगती हैं। विभिन्न प्रकार के प्रकाश उपाधि कहे जायेंगे और उनसे प्रतीत होनेवाला वस्तुओं का विभिन्न प्रकार का वर्ण औपाधिक कहा जायगा। उपाधिभेद से वस्तु में भेद नहीं आता किन्तु उसकी प्रतीति भिन्नरूप में होने लगती है।) शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध है, किन्तु व्यंजना-जन्य बोध औपाधिक होता है (व्यंजना की उपाधियों का वर्णन काव्यप्रकाश की निम्नलिखित कारिकाओं में किया गया है—

'वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽन्यस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥'

वक्ता इत्यादि की विशेषताओं से जो अन्य अर्थ में अन्य अर्थ की बुद्धि बन जाती है उसे व्यंजना ही कहा जाता है। आशय यह है कि वाच्यवाचक भाव तो शब्दविशेष की एक नियत आत्मा है। जब से हमें वाच्य-वाचक का ज्ञान होता है तब से जब कभी हम उस शब्द को सुनते हैं तब हमें उसी अर्थ की प्रतीति होती है और जब कभी उस अर्थ को कहने की प्रवृत्ति होती है तब वह शब्द सामने आ जाता है। इस प्रकार वाच्य और वाचक अपने ही रूप में सर्वदा एक दूसरे के साथ बने रहते हैं, उनमें कभी अन्तर नहीं आता। (पुस्तक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है। जब व्यक्ति को उस अर्थ का ज्ञान हो जाता है तब से लेकर जब कभी पुस्तक शब्द का प्रयोग किया जाता है वह व्यक्ति अनिवार्य रूप से पुस्तक शब्द का वही वाच्यार्थ समझ जाता है।) इस प्रकार वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नित्य होता है। इसके प्रतिकूल व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध अनियत होता है। एक प्रकरण में किसी एक शब्द का कोई एक व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है उस प्रकरण के न रहने पर उसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती, जब दूसरा प्रकरण आ जाता है तब उसका दूसरा ही अर्थ हो जाता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यंजक भाव अनियत तथा औपाधिक होता है। सारांश यह है कि वाच्यवाचक भाव संकेतित अर्थ में होता है और वह निश्चित भाव रहता है, इसके प्रतिकूल व्यङ्ग्यव्यंजक-भाव उपाधि के आधार पर बदलता रहता है। जब दोनों में इतना अन्तर है तब उनको एक ही कैसे कहा जा सकता है? (प्रश्न) जब व्यंग्यव्यंजक भाव अनियत रहता है तब उसकी स्वरूपरीक्षा से क्या लाभ? जब उसका कोई पारमार्थिक रूप ही नहीं, जब वह सर्वथा अनिश्चित है तब जो जैसा चाहे वह वैसी कल्पना कर सकता है और अपनी रुचि के अनुसार उसको समझ सकता है, उसकी स्वरूपपरीक्षा हो ही कैसे सकती है? जो कोई वस्तु ही नहीं उसकी परीक्षा कैसी? (उत्तर) यह दोष नहीं। 'वाच्यवाचक भाव नियत होता है किन्तु व्यंजना नियत नहीं होती' यह कहने का आशय केवल यही है कि जिस प्रकार अभिधा में शब्द का एक नियत संकेतित अर्थ होता है उस प्रकार का संकेतित नियत अर्थ व्यंजना का नहीं होता। यह अनिश्चय केवल शब्द की आत्मा में ही होता है, व्यंजना का अपना स्वतन्त्र विषय होता है जिसको व्यंग्यार्थ की संज्ञा दी जाती है। यह व्यंग्यार्थ अपने विषय में तो नियत होता ही है। (व्यंग्यार्थ का विषय-विभाजन रस, वस्तु और अलङ्कार के रूप में किया गया है। इन सबका भी अपना-अपना विषय नियत रहता है। अतः उस पर विचार करना अयुक्तियुक्त नहीं।) व्यञ्जकत्व शब्दात्मा में नियत नहीं होता किन्तु अपने विषय में नियत होता है।

(ध्वन्या०) **लिङ्गत्वन्यायश्चास्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते, यथा लिङ्गत्व-माश्रयेष्वनियतावभासम्,इच्छाधीनत्वात्, स्वविषयाव्यभिचारि च। तथैवेदं यथा दर्शितं व्यञ्जकत्वम्। शब्दात्मन्यनियतत्वादेव च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्प-यितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद्वाचक-त्ववत्।**

(अनु०) और इस व्यंग्यव्यञ्जकभाव का लिंगत्व न्याय भी लक्षित होता है। जैसे लिंगत्व का आश्रयों में अवभास अनियत होता है। क्योंकि वह इच्छाधीन होता है तथा अपने विषय का उसमें व्यभिचार भी नहीं होता। उसी प्रकार का यह व्यञ्जकत्व है जैसा दिखलाया

गया है। शब्दात्मा में अनियत होने के कारण ही उसकी वाचकत्वप्रकारता की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि उसमें वाचकत्वप्रकारता हो तो वाचकत्व के समान शब्दात्मा में उसकी नियतता भी हो।

(लो०) **आश्रयेष्विति**। न हि धूमे वह्निगमकत्वं सदातनम्, अन्यगमकत्वस्य वह्न्यगमकत्वस्य च दर्शनात्। **इच्छाधीनत्वादिति**। इच्छात्र पक्षधर्मत्वजिज्ञासाव्याप्तिसुस्मूर्षाप्रभृतिः। **स्वविषयेति**। स्वस्मिन् विषये च गृहीते त्रैरूप्यादौ न व्यभिचरति।

(अनु०) 'आश्रयों में' यह। धूम में वह्नि का प्रत्यायकत्व सर्वदा रहनेवाला नहीं होता। क्योंकि अन्यगमकत्व और वह्नि का अगमकत्व देखा जाता है। 'इच्छा के आधीन होने से' यह। यहाँ इच्छा पक्षधर्मत्व की जिज्ञासा और व्याप्ति के स्मरण की इच्छा इत्यादि है। 'अपने विषय में' यह। अपने (लिङ्ग के) और अपने विषय के ग्रहण कर लिये जाने पर त्रैरूप्य (अनुसमानाङ्गभूत सपक्षसत्त्व) इत्यादि में उसका व्यभिचार नहीं होता।

उक्त विषयों में अनुमान पद्धति पर संक्षिप्त दृष्टिपात

तारावती—उक्त बात को समझने के लिये एक दृष्टान्त लीजिये—इस व्यंजक भाव में लिङ्गत्व न्याय भी देखा जाता है। ('लिङ्ग' यह नैय्यायिकों का एक पारिभाषिक शब्द है जो कि साधक हेतु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है। इस शब्द का अर्थ है—जो तत्त्व अपने में लीन वस्तु को अवगत करा दे उसे लिंग कहते हैं–('लीनं गमयति' इति लिंगम्। पृषोदरादित्वात् सिद्धम्। लिंग न्याय को समझने के लिये अनुमान की प्रक्रिया पर संक्षिप्त विचार कर लेना चाहिये। जब हम किन्हीं दो तत्त्वों को कई बार साथ-साथ देखते हैं तब हमें उनके नियत साहचर्य का पता चल जाता है। जैसे कई बार धुआँ और आग को साथ साथ देखकर हमें ज्ञान हो जाता है कि 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है।' इस ज्ञान को अन्वयव्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार हमें यह भी ज्ञान हो जाता है कि 'जहाँ आग नहीं होती वहाँ धुआँ नहीं होता।' इस ज्ञान को व्यतिरेकव्याप्ति कहते हैं। ये दोनों प्रकार के ज्ञान अनुमिति में करण होते हैं तथा इन्हीं दोनों प्रकार के ज्ञानों को अनुमान कहते हैं। इन ज्ञानों को लेकर जब कोई व्यक्ति कहीं जाता है और उसे आग की तलाश होती है और वह किसी मकान से उठते हुये धुयें को देखता है तथा व्याप्ति का स्मरण करता है तब वह इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि इस मकान में आग है। यही अनुमान की संक्षिप्त प्रकिया है। इसमें जिस मकान से धुआँ उठता हुआ दिखलाई देता है उसे पक्ष कहते हैं और 'इस मकान में आग है' यह निष्कर्ष अनुमिति कहलाता है। धुआँ लिंग है और वह्नि साध्य है। जिन स्थानों पर वह धुआँ और अग्नि इत्यादि के नियत साहचर्य का ज्ञान प्राप्त करता है उन्हें सपक्ष कहते हैं और जिन स्थानों पर नियत रूप से धुआँ और आग कुछ नहीं रहते उन्हें विपक्ष कहते हैं।) आश्रयों में लिंगत्वप्रतीति अनिश्चित रहती है, कारण यह है कि उसकी प्रतीति इच्छाधीन हुआ करती है। इसको इस प्रकार समझिये—अनुमान के लिए पक्षधर्मत्व (पक्षता) का ज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। आचार्यों ने पक्षता में दो तत्त्व माने हैं—एक तो सिद्धि का अभाव और दूसरे सिषाधयिषा अर्थात् सिद्ध करने की इच्छा। जो वस्तु स्वयं सिद्ध है उसको सिद्ध करने के लिये अनुमान का आश्रय नहीं लेना

पड़ता। जैसे चौके में हमें प्रत्यक्ष आग दिखलाई पड़ती है अतः चौके में आग को सिद्ध करने के लिये अनुमान का आश्रय नहीं लिया जाता। दूसरी बात यह है कि जब तक सिद्ध करने की इच्छा नहीं होती तब तक भी अनुमान का अवसर नहीं आता। उदाहरण के लिये लोक व्यवहार में हमें बीसों वस्तुयें ऐसी दिखलाई पड़ती रहती हैं जिनसे हम दूसरे पदार्थों का अनुमान लगा सकते हैं। किन्तु उनकी ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता और अनुमान की प्रक्रिया प्रसार पा ही नहीं सकती। कारण यह है कि अनुमान के प्रसार के लिये एक तो हमें व्याप्ति-ज्ञान होना चाहिये दूसरे व्याप्ति के स्मरण की इच्छा भी होनी चाहिये। यह इच्छा तभी हो सकती है जब उस ओर हमारा ध्यान हो। जब तक ये सब शर्तें पूरी नहीं होतीं अनुमान की प्रक्रिया प्रसार पा ही नहीं सकती। इसी प्रकार की और भी बातें हैं जिनसे अनुमान की प्रक्रिया प्रसार पाती हैं जैसे हेतु का सपक्ष में होने का ज्ञान इत्यादि। आशय यह है कि लिंग (हेतु) सर्वदा साध्य का प्रत्यायन नहीं कराता रहता, उसके लिये अपेक्षित तत्त्वों का होना भी आवश्यक माना जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लिंग सर्वदा साध्य में नियत नहीं रहता और उसका कहीं-कहीं अतिक्रमण हो जाता है। लिंग साध्य में नियत तो रहता ही है किन्तु विशिष्ट शर्तों के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। जब हेतु के स्वरूप और उसके विषय का ग्रहण हो जाता है अर्थात् जब हेतु और साध्य के स्वरूप और उनकी व्यापकता का परिज्ञान हो जाता है तब उसका व्यभिचार त्रैरूप्य इत्यादि में नहीं होता। त्रैरूप्य का अर्थ है—हेतु की पक्ष में सत्ता, सपक्ष में हेतु और साध्य की उपस्थिति और विपक्ष में उनका अभाव। इसी प्रकार अबाधितत्व इत्यादि बातें भी स्वतः सङ्गत हो जाती हैं और अनुमान की प्रक्रिया वहाँ पर ठीक बैठ जाती है। इस समस्त निरूपण का सारांश यही है कि जिस प्रकार लिङ्ग का व्यभिचार अपने साध्य में नहीं होता और न उन दोनों का व्यभिचार सपक्ष इत्यादि में होता है उसी प्रकार व्यंजना का विषय भी अव्यभिचरित तथा निश्चित ही होता है। किन्तु जिस प्रकार लिङ्ग के द्वारा साध्य की प्रतीति सार्वकालिक नहीं होती उस प्रकार व्यंजना की प्रतीति भी औपाधिक होती है। उपाधियों के ज्ञात होने पर व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है—किन्तु उपाधियों के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। शब्द की आत्मा में वाचकत्व तो नियत होता है किन्तु व्यंजकत्व नियत नहीं होता। यही कारण है कि हम व्यंजकत्व को वाचकत्व की कोटि में नहीं ला सकते। यदि व्यंजकत्व भी शब्द की आत्मा में नियत हो तो वह भी वाचकत्व की कोटि में आ जाय। यह भी एक प्रमाण है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि व्यंजकत्व वाचकत्व की कोटि में नहीं आ सकता क्योंकि वह वाचकत्व के समान शब्द की आत्मा में नियत नहीं होता।

(ध्वन्या०) **स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्यतत्त्वविदा पौरुषेयापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः, तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्।**

(अनु०) और वह उस प्रकार का औपाधिक धर्म शब्दों के औत्पत्तिक शब्दार्थ सम्बन्ध को माननेवाले, पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में विशेषता का प्रतिपादन करनेवाले, वाक्यत्व को समझनेवाले (मीमांसक) के द्वारा भी नियमपूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिये। उसके न स्वीकार करने पर उसके शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध होते हुये भी पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में अर्थप्रतिपादन में कोई विशेषता न रहे। उसके मानने पर पुरुषेच्छा के अनुविधान के कारण जिसमें दूसरे औपाधिक व्यापारों का आरोप कर दिया गया है इस प्रकार के पौरुषेय वाक्यों की अपने-अपने अभिधेय के सम्बन्ध का परित्याग करते हुये भी मिथ्यार्थता भी हो जाय।

(लो०) न कस्यचिद्विमतिमेतीति यदुक्तं तत्स्फुटयति-**स चेति**। व्यञ्जकत्वलक्षण इत्यर्थः। **औत्पत्तिकेति**। जन्मना द्वितीयो भावविकारः सत्तारूपः सामीप्याल्लक्ष्यते विपरीतलक्षणातो वानुत्पत्तिः, रूढ्या वा औत्पत्तिकशब्दो नित्यपर्यायः, तेन नित्यं यः शब्दार्थयोः शक्तिलक्षणं सम्बन्धमिच्छति जैमिनेयस्तेनेत्यर्थः। **निर्विशेषत्वमिति**। ततश्च पुरुषदोषानुप्रवेशस्याकिञ्चित्करत्वात्तन्निबन्धनं पौरुषेयेषु वाक्येषु यदप्रामाण्यं तन्न सिध्येत्। प्रतिपत्तुरेव हि यदि तथा प्रतिपत्तिस्तर्हि वाक्यस्य न कश्चिदपराध इति कथमप्रामाण्यम्। अपौरुषेये वाक्येऽपि प्रतिपत्तृदौरात्म्यात्तथा स्यात्।

(अनु०) किसी की विमति को प्राप्त नहीं होता यह जो कहा गया था उसको स्पष्ट करते हैं—'और वह' यह। अर्थात् व्यंजकत्व लक्षणवाली। 'औत्पत्तिक यह'। जन्म से (जन्म के कारण) दूसरा भावविकार जो कि सत्तारूप है। सामीप्य के कारण लक्षित हो जाता है, अथवा विपरीत लक्षणा से अनुत्पत्ति होती है अथवा रूढि से औत्पत्तिक शब्द नित्य का पर्यायवाचक हो गया है। इससे अर्थ यह हो जाता है कि जो जैमिनिमतानुयायी शब्द और अर्थ के शक्तिरूप नित्यसम्बन्ध की इच्छा करता है उसके द्वारा। 'निर्विशेषत्व' यह। इससे पुरुष दोष के अनुप्रवेश के अकिञ्चित्कर होने के कारण उसके आधीन जो पौरुषेय में वाक्यों में अप्रामाण्य वह सिद्ध न हो। यदि प्रतिपत्ता (समझनेवाले) की ही वैसी प्रतिपत्ति मानी जाय तो वाक्य का कोई अपराध नहीं अतः अप्रामाणिकता कैसे होती ? अपौरुषेय वाक्यों में भी प्रतिपत्ता के दौरात्म्य के कारण वैसा हो जायगा।

विभिन्न दर्शनों में व्यञ्जना को स्वीकार करने की आवश्यकता

तारावती—ऊपर व्यंजकत्व का वाचकत्व से विभेद सिद्ध किया गया। इस प्रकरण के उपक्रम में कहा गया था कि इस व्यंजनाव्यापार को स्वीकार करने में किसी को मतभेद नहीं है। अब इसी कथन पर विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है। (शब्दवृत्तियों पर विशेष विचार मीमांसा दर्शन, व्याकरण और न्यायशास्त्र में किया गया है। इन्हीं दर्शनों के आधार पर अब यह दिखलाया जायेगा कि इन दर्शनों के माननेवालों को भी अनिवार्य रूप से व्यंजना माननी ही पड़ेगी।)

मीमांसकों के मत में व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता

सर्वप्रथम मीमांसा दर्शन को लीजिये। मीमांसा दर्शन में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है। एक जैमिनि सूत्र है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' अर्थात् शब्द का अर्थ से सम्बन्ध औत्पत्तिक होता है। इसके विवरण में शबर स्वामी ने लिखा है—'औत्पत्तिक

इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धो नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः।' 'अर्थात् 'हमारे मत में औत्पत्तिक का अर्थ होता है नित्य। निस्सन्देह लक्षणा से उत्पत्ति का अर्थ है भाव। शब्द और अर्थ का भाव अर्थात् सम्बन्ध वियोगरहित (नित्य) होता है, उत्पन्न होने के बाद सम्बन्ध नहीं होता।' औत्पत्तिक शब्द किस प्रकार नित्य का वाचक होता है इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने लोचन में इस प्रकार की है कि भाव या द्रव्य के छः विकार होते हैं—'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति, अर्थात् कोई द्रव्य उत्पन्न होता है, सत्ता में आता है, बढ़ता है, विपरिणाम को प्राप्त होता है, क्षीण होता है और नष्ट हो जाता है।' यहाँ पर उत्पत्ति के तत्काल बाद सत्ता आती है अतः समीप होने के कारण जन्म के बाद का दूसरा भाव विकार सत्ता ही गृहीत होती है और उसका अर्थ हो जाता है कि शब्द का अर्थ से सम्बन्ध सत्तामात्र में ही रहता है उसके अन्दर और विकार उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उत्पत्ति के बाद सत्ता ही आती है। किन्तु इस व्याख्या में एक आपत्ति यह है कि यहाँ सत्तामात्र ही उपलब्ध होती है, उससे यह मान लेना कि उनकी सत्ता सदा बनी ही रहती है कुछ अधिक संगत प्रतीत नहीं होता, यह कोरी कल्पना ही है। (अतः लोचनकार ने दूसरी व्याख्या यह दी है कि) अथवा उत्पत्ति में विपरीत लक्षणा कर ली जाती है और उससे यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की उत्पत्ति ही नहीं होती, वह नित्य है। (किन्तु इस व्याख्या में भी एक कष्टकल्पना है, अतः तीसरी व्याख्या दी गई है कि) अथवा औत्पत्तिक शब्द का रूढ़ अर्थ ही है नित्य (क्योंकि जैमिनि ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है और भाष्यों ने इसी रूप में इसकी व्याख्या भी की है।) आशय यह है कि जैमिनि के मत में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है। अब वाक्य को लीजिये। वाक्य में शब्द उसी प्रकार जोड़े जाते हैं जिस प्रकार माली पुष्पों को माला में गूँथता है। वह पुष्पों को बनाता नहीं अपितु उनको लेकर केवल संयोजना कर देता है। यही दशा वाक्यगत शब्दों की भी है। वाक्य का प्रयोक्ता शब्दों को बनाता नहीं अपितु बने बनाये शब्दों की योजना वाक्य में कर देता है। वाक्य दो प्रकार के होते हैं—अपौरुषेय और पौरुषेय। अपौरुषेय वाक्य पुरुष के बनाये नहीं होते किन्तु पौरुषेय वाक्य पुरुष के बनाये होते हैं। अपौरुषेय वाक्य वैदिक वाक्य होते हैं और स्वतः प्रमाण माने जाते हैं। जिन वाक्यों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये उन वाक्यों के ज्ञान की ग्राहक सामग्री ही पर्याप्त हो उन्हें स्वतः प्रमाण कहते हैं और जिन वाक्यों को प्रमाणित सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता पड़े उन्हें परतः प्रमाण कहते हैं। आशय यह है कि मीमांसकों के मत से वेदवाक्य पुरुषनिर्मित न होने के कारण स्वयं ही प्रामाणिक होते हैं, किन्तु लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित होने के कारण तभी प्रामाणिक माने जा सकते हैं जब उनमें कोई अन्य प्रमाण विद्यमान हो। अब प्रश्न यह उठता है कि वाक्यों में यह भेद कैसा ? जब शब्द भी नित्य होते हैं, उनके अर्थ भी नित्य होते हैं और शब्द तथा अर्थ का परस्पर सम्बन्ध भी नित्य ही होता है तब उनकी संयोजना से जो अर्थ आयेगा वह भी नित्य तथा सर्वथा सत्य ही होगा उसमें यह विभेद कैसे सिद्ध हो सकता है कि कुछ वाक्य तो स्वतः प्रमाण कुछ परतः प्रमाण। जब शब्दों का अर्थ सत्य तथा एकरूप, नियत नित्य है तब उनकी अप्रामाणिकता का प्रश्न ही कैसे उठ

सकता है। फिर उन वाक्यों की प्रामाणिकता में भेद कैसे सिद्ध हो सकता है। चाहे वे वाक्य पुरुष निर्मित हों चाहे सर्वथा अनिर्मित हों। यदि वहाँ पर शब्द जुड़े हुये हैं तो उनका सत्य कभी सन्देह का विषय हो ही नहीं सकता। अतः मीमांसकों के मत से पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में विशेषता सिद्ध करने के लिये व्यंजनाव्यापार मानना अनिवार्य हो जाता है। व्यंजना-व्यापार के मान लेने पर पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों का विभेद सिद्ध हो जाता है कारण यह है कि पौरुषेय वाक्य पुरुष की इच्छा का अनुविधान करते हैं। पुरुष के अपने दोष होते हैं। पुरुषों में भ्रम, प्रमाद इत्यादि दोष होते हैं, उनमें दूसरों को छलने की कामना होती है। ये सब पुरुष के दोष होते हैं। पुरुष के कहे हुये वाक्यों में ये सब दोष औपाधिक रूप में सन्नि-विष्ट हो जाते हैं और उन वाक्यों पर दूसरे व्यापारों का आरोप कर दिया जाता है जो कि वाच्यवाचकभाव व्यापार से भिन्न होता है। अन्य व्यापारों के आरोप कर देने के कारण ही पुरुष के वाक्यों में अप्रामाणिकता आ जाती है। जो वाक्य पुरुषनिर्मित नहीं होते उनमें पुरुष के दोषों का भी आरोप नहीं होता। उनमें शब्द और अर्थ तथा उनके सम्बन्ध में रहनेवाला सत्य ही प्रयोजनीय होता है। इस प्रकार औपाधिक धर्मों को अभिव्यक्त करने के लिये व्यंजना-वृत्ति के मानने पर ही पौरुषेय वाक्य अप्रामाणिक और अपौरुषेय वाक्य प्रामाणिक सिद्ध होते हैं और उनका विभेद व्यंजनावृत्ति के मानने पर ही सङ्गत होता है। यदि व्यंजनावृत्ति नहीं मानी जायगी तो पौरुषेय वाक्यों में पुरुष-दोषों का अनुप्रवेश भी नहीं हो सकेगा और उनके आधीन होने वाला अप्रामाण्य भी पौरुषेय वाक्यों में सिद्ध न हो सकेगा। यदि कहो कि वक्ता के दोषों का आरोप न सही सुननेवाले (प्रतिपत्ता) के दोषों का आरोप हो जायगा और यह मान लिया जायगा कि प्रतिपत्ता की प्रतिपत्ति ही सदोष है जिससे लौकिक वाक्य अप्रामाणिक हो जाता है तो इससे भी निस्तार न हो सकेगा। क्योंकि वह तो प्रतिपत्ता का दोष रहा, उसमें वाक्य का क्या अपराध जो उसे अप्रामाणिक माना जाय। दूसरी बात यह है कि प्रति-पत्ता का दोष तो अपौरुषेय वैदिक वाक्यों में भी सम्भव है, फिर जिस आधार पर पौरुषेय वाक्यों को अप्रामाणिक माना जाता है उसी आधार पर अपौरुषेय वाक्यों को क्यों अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अतः व्यंजना के मानने पर ही यह विभेद सम्भव है कि पौरुषेय वाक्य परतः प्रमाण होते हैं और अपौरुषेय वाक्य स्वतः प्रमाण होते हैं।

(ध्वन्या०) दृश्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वभावानामपि सामग्र्यन्तरसम्पातसम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम्। तथाहि—हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेव प्रियाविरहदहनदह्यमानमानसैर्जनैरा-लोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव। तस्मात् पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किञ्चिद्रूपमौ-पाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम्। तच्च व्यञ्जकत्वादृते नान्यत्। व्यङ्ग्यप्रकाशनं हि व्यञ्जकत्वम्। पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति। स च व्यङ्ग्य एव नत्वभिधेयः, तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धा-भावात्।

(अनु०) निस्सन्देह ऐसे भावों का विरुद्ध क्रिया करना देखा जाता है जिन्होंने अपने स्वभाव को न छोड़ा हो और दूसरी सामग्री के आ पड़ने से जिसमें दूसरे औपाधिक व्यापारों का सम्पादन हो गया हो। वह इस प्रकार—समस्त जीवलोक को शान्ति प्रदान करनेवाली शीतलता को धारण करते हुये भी प्रियतमा की वियोगाग्नि से जलते हुये मनवाले लोकों के द्वारा देखे जाने पर चन्द्रकिरण इत्यादि की सन्तापकारिता प्रसिद्ध ही है। अत एव पौरुषेय वाक्यों के नैसर्गिक अर्थ सम्बन्ध के होते हुये भी मिथ्यार्थत्व का समर्थन करने की इच्छा करनेवाले व्यक्ति के द्वारा वाचकत्व से व्यतिरिक्त किसी रूपवाले औपाधिक धर्म का स्पष्ट ही अभिधान करना चाहिये। और वह व्यञ्जकत्व से भिन्न और कुछ नहीं होता। व्यङ्ग्य का प्रकाशन ही व्यञ्जकत्व होता है। और पौरुषेय वाक्य प्रधानतया पुरुष के अभिप्राय को ही प्रकाशित करते हैं। वह व्यङ्ग्य ही हो सकता है अभिधेय नहीं। क्योंकि उसके साथ शब्द का वाच्यवाचकभाव रूप सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

(लो०) ननु धर्मान्तराभ्युपगमेऽपि कथं मिथ्यार्थता, नहि प्रकाशकत्वलक्षणं स्वधर्मं जहाति शब्द इत्याशङ्क्याह-**दृश्यत इति**। **प्राधान्येनेति**। यदाह-'एवमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययः नत्वेवमयमर्थ' इति। तथा प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते, न तु शाब्दोऽन्वय इत्यनेन पुरुषाभिप्रायानुप्रवेशादेवाङ्गुल्यग्रवाक्यादौ मिथ्यार्थत्वमुक्तम्। **तेन सह इति**। अनियततया नैसर्गिकत्वाभावादितिभावः।

(अनु०) (प्रश्न) धर्मान्तर के प्राप्त होने पर भी मिथ्यार्थता कैसे होगी? प्रकाशकत्व रूप अपने धर्म को तो शब्द छोड़ता ही नहीं। यह शङ्का करके कहते हैं—'देखा जाता है' यह। 'प्राधान्य के द्वारा' यह। जैसा कि कहा गया है—'यह सम्प्रत्यय होता है कि यह पुरुष ऐसा जानता है, यह सम्प्रत्यय तो नहीं होता कि यह ऐसा अर्थ है।' उस प्रकार से प्रमाणान्तर दर्शन (प्रत्यक्ष इत्यादि ज्ञान) का बाध हो जाता है, शाब्दिक अन्वय का बोध नहीं होता। इसके द्वारा पुरुष के अभिप्राय के अन्तः प्रवेश से ही 'अङ्गुली के अग्रभाग में (सौ कवि हैं)' इत्यादि वाक्यों का मिथ्यार्थत्व कहा गया है। 'उसके साथ' यह। भाव यह है कि अनिश्चित होने के कारण स्वाभाविक न होने से।

तारावती—(प्रश्न) एक धर्म में दूसरे धर्म का समावेश तभी सम्भव है जब कि पहले धर्म का सर्वथा तिरोधान हो जाय। जैसे उष्णत्व का तिरोधान हुये बिना शीतत्व का आरोप हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध में जो प्रामाणिकता का धर्म है वह जब तक समाप्त नहीं हो जाता तब तक पुरुष दोष के आरोप से मिथ्यार्थता कभी आ ही नहीं सकती। कारण यह है कि शब्द अपने वाच्यार्थ को प्रकाशित करने के धर्म का परित्याग तो कर ही नहीं देता। ऐसी दशा में व्यंजना के मान लेनेपर भी और धर्मान्तर की स्वीकृति में भी न तो पौरुषेय वाक्यों की मिथ्यार्थता ही सिद्ध हो सकती है और न पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों की विशेषता ही। फिर आपका व्यंजना व्यापार किस प्रकार उपयोगी हो सकता है। (उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि जब भावों (पदार्थों) में दूसरी सामग्री आ पड़ती है और उससे उनमें दूसरे औपाधिक (नैमित्तिक) व्यापार का सम्पादन हो जाता है तब वे अपने स्वाभाविक धर्म को न छोड़ते हुये भी विरुद्ध क्रिया करने लगते हैं।

उदाहरण के लिये चन्द्र की शीतल मयूखों को लीजिये। शीतलता उनका स्वाभाविक धर्म है और वे अपनी शीतलता के द्वारा समस्त जीवलोक के उष्णिमाजन्य सन्ताप को शान्तकर परा शान्ति प्रदान करती हैं। किन्तु जब ऐसे व्यक्ति उनको देखते हैं जिनके अन्तःकरण अपनी प्रियतमाओं की वियोगाग्नि से उद्भूत सन्ताप से जल रहे होते हैं तब वे ही चन्द्र की शीतल मयूखें उन व्यक्तियों को सन्ताप देनेवाली हो जाती हैं, इसमें किसी को आपत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि यह बात तो प्रसिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि विपरीत तथा विभिन्न क्रिया के लिये यह आवश्यक नहीं है कि पदार्थ अपने स्वाभाविक धर्म को छोड़ दें। इसी प्रकार शब्द और अर्थ भी अपने नैसर्गिक सत्य तथा नित्य सम्बन्ध का परित्याग न करते हुये भी विरुद्ध क्रिया कर सकते हैं। अत एव पौरुषेय वाक्यों में यद्यपि अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होता है और बना भी रहता है तथापि पुरुष-दोषों के प्रतिफलन से उनमें मिथ्यार्थकता आ जाती है। उस मिथ्यार्थकता का समर्थन करने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि उनमें किसी प्रकार का औपाधिक धर्म आरोपित किया जाय। यह आरोपित धर्म व्यंजकत्व के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। क्योंकि व्यंजकत्व का अर्थ होता है व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करना। पौरुषेय वाक्यों से भी पुरुष का अभिप्राय ही प्रधानतया प्रकाशित होता है। शावर भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि जब कभी हम किसी पौरुषेय (लौकिक) वाक्य को सुनते हैं तब हमें केवल इतना ही विश्वास होता है कि यह पुरुष जो कुछ कह रहा है वह उसको उसी रूप में जानता है। हमें किसी भी पौरुषेय वाक्य को सुनकर यह विश्वास नहीं हो जाता कि अमुक व्यक्ति ने जो कुछ कहा है वह वैसा ही है। आशय यह है कि वैदिक वाक्यों का अर्थ तो सर्वथा विश्वसनीय होता है किन्तु लौकिक वाक्यों में अर्थ विश्वसनीय नहीं होता किन्तु उससे इतनी ही प्रतीति होती है कि जो कुछ कहा गया है वह वक्ता का अपना दृष्टिकोण है या वक्ता के ज्ञान की वही सीमा है। उसमें प्रायः ऐसा हो जाता है कि जो कुछ उसने कहा है उसका प्रत्यक्ष दर्शन बाधित हो जाता है। अर्थात् जब हम उसके कथन की सत्यता प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं तब उसका प्रमाणप्रतिपन्न होना बाधित हो जाता है। किन्तु यह बाधा उसी में उत्पन्न होती है जोकि पुरुष का विचार समझा जाता है, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तो निर्भ्रान्त रहता है उसमें शब्द का अन्वय भी बाधित नहीं होता। इस कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि 'अंगुली के अग्र भाग में १०० कवि हैं।' इसमें अर्थ केवल इसी दृष्टि से मिथ्या हो जाता है कि उसमें पुरुष का अभिप्राय सन्निविष्ट हो गया है। अन्यथा शब्द और अर्थ का अपना स्वाभाविक सम्बन्ध तो सर्वथा अनुपहत ही रहता है। पुरुष का अभिप्राय तो व्यङ्ग्य ही होता है, वह कभी वाच्य नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष के अभिप्राय के साथ शब्द का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है ही नहीं। उसमें न तो संकेत ग्रहण होता है, न वह नियत होता है और न उस अर्थ में स्वाभाविकता ही होती है।

(ध्वन्य०) नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः। सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्जकत्वात्। सत्यमेतत्; किन्तु वक्त्रभिप्रायप्रकाश-

नेन यद् व्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टम् । तत्तु वाचकत्वान्न भिद्यते व्यङ्ग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यवस्थितम् । नतु विवक्षितत्वेन । यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिः तद्व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम् ।

(अनु०) (प्रश्न) इस न्याय से तो सभी लौकिक वाक्यों का ध्वनिव्यवहार प्रसक्त हो जायगा क्योंकि इसके द्वारा तो सभी व्यंजक हो जाते हैं । (उत्तर) यह सच है; किन्तु वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन के द्वारा जो व्यंजकत्व है वह सभी लौकिक वाक्यों में अविशिष्ट होता है; वह वाचकत्व से भिन्न नहीं होता; क्योंकि व्यंजकत्व वहाँ पर अनिवार्य आवश्यकता के रूप में व्यवस्थित होता है; वह वहाँ वक्ता के कथनोद्देश्य के रूप में अभीष्ट नहीं होता । वह व्यंजकत्व ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक होता है जिसमें व्यंग्य की स्थिति विवक्षितरूप में होती है ।

(लो०) **नान्तरीयकतयेति** । गामानयेति श्रुतेऽप्यभिप्राये व्यक्ते तदभिप्रायविशिष्टोऽर्थ एवमभिप्रेतानयनादिक्रियायोग्यो न त्वभिप्रायमात्रेण किञ्चित्कृत्यमितिभावः । **विवक्षितत्वेनेति** । प्राधान्येनेत्यर्थः । **यस्य त्विति** । ध्वन्युदाहरणेष्वितिभावः । काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपि तु प्रतीतिविश्रान्तिकारिणी, सा चाभिप्रायनिष्ठैव नाभिप्रेतवस्तुपर्यवसाना ।

(अनु०) 'नान्तरीयक रूप में' यह । भाव यह है कि 'गाय लाओ' यह सुने जाने पर अभिप्राय के व्यक्त होने पर भी उस अभिप्राय से विशिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत के आनयन इत्यादि की क्रिया के योग्य होता है; केवल अभिप्राय से कोई कार्य नहीं होता । 'विवक्षितत्व के रूप में' अर्थात् प्राधान्य के रूप में । 'जिसका तो' यह । भाव यह है कि ध्वनि के उदाहरणों में । काव्य वाक्यों से निस्सन्देह ले आने-ले जाने की उपयोगिनी प्रतीति की अभ्यर्थना नहीं की जाती किन्तु प्रतीति को विश्रान्ति देनेवाली प्रतीति ही चाही जाती है और वह अभिप्राय में रहनेवाली ही होती है; अभिप्रेत वस्तु में पर्यवसित होनेवाली नहीं होती ।

तारावती—(प्रश्न) यदि आप इस न्याय का समर्थन करेंगे कि पुरुष का अभिप्राय व्यंग्य ही होता है तब तो सभी लौकिक वाक्य ध्वनि के क्षेत्र में आ जायेंगे क्योंकि इस न्याय से तो सभी वाक्य व्यंजक हो जायेंगे । (उत्तर) यह हम मानते हैं कि सभी वाक्य वाच्य के अतिरिक्त वक्ता के अभिप्राय की भी व्यंजना करते हैं और व्यंजना ही ध्वनि की प्रयोजिका होती है । तथापि यह दोष नहीं आता कि सभी वाक्य ध्वनि की सीमा में सन्निविष्ट हो जायेंगे । कारण यह है कि वक्ता के अभिप्राय को प्रकाशित करनेवाली व्यंजना तो सभी वाक्यों में एक जैसी ही होगी । अतः इस व्यंग्य की सत्ता भी बिल्कुल वाच्यार्थ की सत्ता के समान ही होगी; इन दोनों में कोई भेद नहीं होगा । वहाँ पर वक्ता के अभिप्राय को व्यंजना केवल इसीलिये होती है कि वाक्यार्थबोध के लिये उसका मानना अपरिहार्य है । शब्दों से संकेतलभ्य वाच्यार्थ का बोध होता है और लौकिक वाक्य से वक्ता के तात्पर्य का बोध होता है । यदि वहाँ पर व्यंजना नहीं मानी जायगी तो वाक्यार्थपूर्ति ही न हो सकेगी । अतः वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ का प्रवेश अनिवार्य होने के कारण ही होता है । किन्तु इस प्रकार की व्यञ्जना

ध्वनित्व की प्रयोजिका नहीं होती। ध्वनि वहीं पर हो सकती है जहाँ पर व्यंग्य विशेष रूप से वक्ता का विवक्षित हो। आशय यह है कि केवल व्यंग्य होने से ही कोई वस्तु ध्वनि नहीं हो जाती। ध्वनि तभी होती है जब व्यंग्यार्थ प्रधान हो। यद्यपि तात्पर्य तथा तद्विषयक अर्थ व्यंग्य होता है तथापि वह उसमें विच्छित्तिविशेष का आधान नहीं करता, अतः वह ध्वनि नहीं हो सकता। इसको इस प्रकार समझिये, किसी ने 'गाय लाओ' यह ऐसी भङ्गिमा से कहा कि उसका कोई विशेष अभिप्राय भी व्यक्त हो गया कि 'शाम हो गई है' गाय लाकर बाँध लो; कहीं गुम न हो जाय' 'बच्चों को दूध की आवश्यकता है, गाय लाकर दूध दुह लो' इत्यादि। सुननेवाले ने इस वाक्य को सुना भी और उस पर उसने वक्ता का अभिप्राय भी समझ लिया कि अमुक व्यक्ति अमुक मन्तव्य से गाय लाने को कह रहा है। किन्तु इस वाक्य में अभिप्रेत है ले आने की क्रिया। वह क्रिया उस द्रव्यगत ही हो सकती है जिसके विषय में कोई अभिप्राय व्यक्त किया गया है। आशय यह है कि आनयन क्रिया के योग्य गाय ही होगी यद्यपि उस गाय में वक्ता का विशेष प्रयोजन सन्निहित रहेगा। केवल अभिप्राय वहाँ पर कुछ भी न कर सकेगा। अत एव वहाँ पर वक्ता का विवक्षित अर्थ उसका अभिप्राय नहीं है अपितु बाच्यार्थ ही उसे अभिप्रेत है। इस प्रकार व्यंग्य अभिप्राय केवल वाच्य का साधक होता है स्वयं प्रधान नहीं होता। यही कारण है कि लौकिक वाक्य में व्यंग्य होते हुये भी उसे प्रधानता प्राप्त नहीं होती। इसके प्रतिकूल ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक वह व्यंग्य होता है जिसमें व्यंग्य वक्ता के अभीष्ट के रूप में स्थित होता है और वाच्य की अपेक्षा प्रधान हो जाता है। यह बात ध्वनि के उदाहरणों में पाई जाती है। काव्यवाक्यों में वक्ता का यह अभीष्ट नहीं होता कि जैसे लौकिक वाक्यों में गाय के ले आने-ले जाने इत्यादि क्रिया में अर्थ की परिसमाप्ति होती है उसी प्रकार किसी विशेष क्रिया में अर्थ की परिसमाप्ति हो। अर्थात् वहाँ पर कवि को यह अभीष्ट नहीं होता कि काव्यवाक्यों में जो कुछ कहा जा रहा है परिशीलक उसी के अनुसार कार्य करने लगे। वहाँ तो कवि को केवल यही अभीष्ट होता है कि परिशीलक की वाच्यार्थविषयक प्रतीति ही समाप्त हो जाय और उसकी अन्तरात्मा सर्वथा कवि के प्रतिपाद्य भाव से सर्वथा एकाकार हो जाय। कविता की सफल परिणति इसी में है कि कवि पाठकों के अन्तःकरणों को भावनामय बना दे तथा जो कुछ वह कह रहा है वह सब पाठकों की मनोवृत्ति से सर्वथा तिरोहित हो जाय। इस प्रकार भावनामय परिणति वस्तुतः कवि का अभिप्राय ही है लौकिक वाक्यों के समान अभिप्रेत वस्तु में उसका पर्यवसान नहीं होता। सारांश यह है कि लौकिक वाक्यों में व्यंग्यार्थ वाच्य का पूरक होता है और वक्ता को वाच्य ही अभिप्रेत होता है; अतः हम उसे ध्वनि की संज्ञा प्रदान नहीं कर सकते। इसके प्रतिकूल काव्यवाक्यों में वाच्यवस्तु का तिरोधान ही कवि को अभीष्ट होता है तथा भावनामय परिणतिरूप अभिप्राय ही वहाँ पर मुख्य होता है। इसीलिये हम उसे ध्वनि की संज्ञा प्रदान करते हैं।

(ध्वन्या०)—यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्यं शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्। किन्तु तदेव केवलपरिमितविषयस्य ध्वनि-

व्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात। तथा दर्शितभेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वमेव ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे ध्वनिलक्षणे नातिव्याप्तिर्नचाव्याप्तिः। तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावद् व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते।

(अनु०) अभिप्रायविशेषरूप जो व्यंग्य तात्पर्य के रूप में प्रकाशित होता हुआ शब्द और अर्थ के द्वारा प्रकाशित होता है वह विवक्षित हुआ करता है। किन्तु केवल वही अपरमित विषयवाले ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक नहीं होता है क्योंकि वह (ध्वनि की अपेक्षा) अव्यापक होता है। उस प्रकार से दिखलाये हुये तीन भेदोंवाला तात्पर्य के द्वारा द्योतित किया जानेवाला अभिप्रायरूप और अनभिप्रायरूप सभी प्रकार का ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक होता है। इस प्रकार जैसा बतलाया गया है उस प्रकार के व्यञ्जकत्वविशेषवाले ध्वनिलक्षण में न तो अतिव्याप्ति है और न अव्याप्ति है। इससे वाक्यतत्त्वज्ञों के मत से तो व्यञ्जकत्व नामवाले शब्द का व्यापार विरोधी नहीं है प्रत्युत अनुगुण ही लक्षित होता है।

(लो०) नन्वेवमभिप्रायस्यैव व्यङ्ग्यत्वात्त्रिविधं व्यङ्ग्यमिति यदुक्तं तत्कथमित्याह—**यत्त्विति।**

(अनु०) (प्रश्न) इसप्रकार अभिप्राय के ही व्यंग्यत्व के कारण जो कहा है कि तीन प्रकार का व्यंग्य होता है वह कैसे? यह कहते हैं—'जो तो' यह।

तारावती—(प्रश्न) जो कुछ आपने ऊपर कहा है उससे तो यही सिद्ध होता है कि केवल अभिप्राय ही व्यंग्य होता है। किन्तु इसके पहले आप व्यंग्य के तीन भेद कर चुके हैं रस, वस्तु और अलङ्कार। अतः इस कथन के प्रकाश में उक्त भेदों की सङ्गति कैसे बैठेगी? (उत्तर) जहाँ कहीं व्यंग्य हो वहाँ सर्वत्र ध्वनि होती है यह नियम नहीं है। नियम यह है कि जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बना देते हैं और व्यंजना के द्वारा जिस विशेष अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हैं यदि उस अभिप्राय में विशेष रूप से चमत्कार के आधान की क्षमता हो तो वह विशेष अभिप्राय ही ध्वनि का रूप धारण करता है। कारण यह है कि काव्य का उद्देश्य ही है विशेष चमत्कार को उत्पन्न करने वाली अभिप्रायरूप प्रतीति की उद्भावना करना। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल शब्द और अर्थ से ही जहाँ चमत्कारपूर्ण अभिप्राय की अभिव्यक्ति होती है उसे ही ध्वनिसंज्ञा प्राप्त होती है। चेष्टा इत्यादि से भी व्यंजना होती है; किन्तु उस व्यंजना को ध्वनि की पदवी प्राप्त नहीं होती अपितु वह गुणीभूत व्यङ्ग्य के अन्तर्गत ही आता है। इसी बात को प्रकट करने के लिये वृत्तिकार ने 'शब्दार्थाभ्याम्' शब्द का प्रयोग किया है। (दीधितिकार ने यहाँ 'एव' और जोड़ दिया है—शब्दार्थाभ्यामेव) यहाँ पर ध्वनि की जो परिभाषा की गई है वह वस्तुतः प्रथम उद्योत की ध्वनिपरिभाषा का अनुवाद मात्र है—

> यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
> व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

किन्तु ध्वनिव्यवहार अपरमित होता है। अतः केवल उस चमत्कारपूर्ण अभिप्राय को ध्वनि कहें ऐसा नहीं होता। अभिप्राय ध्वनि के समस्त भेदों में व्यापक नहीं हो सकता और न ध्वनि के समान अभिप्राय का क्षेत्र ही व्यापक है। अतः केवल अभिप्राय को ध्वनि नहीं कह सकते। पहले ध्वनि के तीन भेद दिखलाये जा चुके हैं; जब उन तीनों भेदों की अभिव्यंजना कवि के तात्पर्य के रूप में होती है (और उसमें चमत्कार आधान की शक्ति आ जाती है) तब उसे ध्वनि कहने लगते हैं और फिर चाहे अभिप्राय रूप हो जैसे रसध्वनि या अभिप्राय से भिन्न रूपवाला हो जैसे वस्तु और अलङ्कार ध्वनि। जब हम ध्वनि का इतना क्षेत्र मान लेते हैं और जैसी व्यंजकता बतलाई गई है वैसी व्यंजकता को ध्वनि का प्रयोजक मानते हैं तब न तो कहीं अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति। (यदि सभी प्रकार के अभिप्रायों को ध्वनि की संज्ञा दे दी जाय तो लौकिक वाक्यों में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि उनमें भी वक्ता का अभिप्राय सन्निहित रहता है। इसी प्रकार उन स्थलों में व्याप्ति होगी जहाँ कवि का अभिप्राय तो पाठकों को चमत्कृत करना और रसमय बनाना है; किन्तु रचना के द्वारा वस्तु तथा अलङ्कार अभिव्यक्त होकर ध्वनि का रूप धारण कर लेते हैं। ध्वनि का उक्त स्वरूप मान लेने से न कहीं अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति।) ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सिद्ध होता है कि वाक्यतत्त्ववेत्ता मीमांसकों के मत में शब्द का व्यंजकत्वरूप व्यापार विरोधी नहीं है अपितु उनके सिद्धान्तों से मेल ही खाता है।

(ध्वन्या०)—परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।

(अनु०) जिन्होंने अविद्या-संस्कार रहित शब्दब्रह्म का पूर्णरूप से निश्चय कर लिया है उन विद्वानों (वैय्याकरणों) के मत का आश्रय लेकर ही यह ध्वनि व्यवहार प्रवृत्त हुआ है; अतः उनके साथ विरोध और अविरोध पर क्या विचार किया जाय।

(लो०) एवं मीमांसकानां नात्र विमतिर्युक्तेति प्रदर्श्य वैय्याकरणानां नैवात्र सास्तीति दर्शयति—**परिनिश्चितेति**। परितः निश्चितं प्रमाणेन स्थापितं निरपभ्रंशं गलितभेदप्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररहितं शब्दाख्यं प्रकाशपरामर्शस्वभावं ब्रह्म व्यापकत्वेन वृहद्विशेषशक्तिनिर्भरतया च बृंहितं विश्वनिर्माणशक्तीश्वरत्वाच्च बृंहणम् **यैरिति**। एतदुक्तं भवति-वैय्याकरणास्तावद् ब्रह्मपदेनान्यत्किंचिदिच्छन्ति तत्र का कथा वाचकत्वव्यञ्जकत्वयोः अविद्यापदे तु तैरपि व्यापारान्तरमभ्युपगतमेव। एतच्च प्रथमोद्योते वितत्य निरूपितम्।

(अनु०) इस प्रकार मीमांसकों की असहमति यहाँ पर उचित नहीं है यह दिखलाकर वैय्याकरणों की यहाँ पर वह (असहमति) है ही नहीं यह दिखलाते हैं—'परिनिश्चित' यह। चारों ओर से निश्चित किया गया है अर्थात् प्रमाणों से स्थापित किया गया है गलित भेद-प्रपञ्चवाला अर्थात् अविद्या संस्कार से रहित प्रकाश परामर्श के स्वभाववाला ब्रह्म जिनके द्वारा। ब्रह्म अर्थात् व्यापक होने से बृहत् और विशेषों (व्यष्टियों) की शक्तियों से परिपूर्ण होने के कारण वृंहित तथा विश्वनिर्माण की शक्तियों के कारण ईश्वर होने से वृंहित अथवा विश्वनिर्माणशक्ति (माया) के ईश्वर होने के कारण वृंहित। यहाँ पर यह कहा

गया है—वैय्याकरण लोग तो ब्रह्म दशा में और कुछ नहीं चाहते तब वाचकत्व और व्यंजकत्व की बात ही क्या ? अविद्या दशा में तो उनके द्वारा भी दूसरा व्यापार स्वीकार ही किया गया है। यह सब विस्तारपूर्वक प्रथम उद्योत में निरूपित किया जा चुका है।

वैयाकरणों के मत में व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता

तारावती—मीमांसकों को तो व्यंजनावृत्ति के स्वीकार करने में वैमत्य हो भी सकता है यद्यपि उनके वैमत्य का अवसर नहीं है किन्तु वैय्याकरणों को तो इस सिद्धान्त से वैमत्य है ही नहीं। कारण यही है कि उन्हीं विद्वानों के मत का अनुसरण करके ही तो हमने अपने इस ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है, फिर उनका वैमत्य हो ही किस प्रकार सकता है ? वैय्याकरणों ने पूर्णरूप से प्रमाणों के आधार पर शब्दब्रह्म की स्थापना की है इस शब्दब्रह्म में भेदप्रपञ्च समाप्त हो जाता है और सारा अविद्या का संस्कार जाता रहता है। (वैय्याकरणों का मत अद्वैत वेदान्तियों के मत से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जिस प्रकार वेदान्ती सांसारिक भेदप्रपञ्च घट पट इत्यादि को मिथ्या मानते हैं और एक अखण्ड ब्रह्म की सत्ता को ही सत्य कहते हैं, उसी प्रकार अनेक वर्णों से निष्पन्न शब्दों को वैय्याकरण भी असत्य ही मानते हैं, उनके मत में भी अखण्ड शब्द ब्रह्म (स्फोट) ही सत्य है। यह सारा भेदप्रपञ्च अविद्या के संस्कारों से प्रादुर्भूत हुआ है। यह शब्दब्रह्म स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप है। जिस प्रकार वेदान्तियों का ब्रह्म स्वप्रकाशानन्द चिन्मय होता है। ब्रह्म का अर्थ है व्यापक होने के कारण बृहत् (वेदान्तियों का ब्रह्म समस्त वस्तुओं में व्यापक होता है और वैय्याकरणों का स्फोट समस्त वर्णों और शब्दों में व्यापक होता है।) अथवा विशेष या व्यष्टिरूप पदार्थों की शक्तियों से परिपूर्ण होने के कारण वह उनसे बढ़ाया हुआ होता है। (वेदान्तियों का ब्रह्म जगत् के घट पट इत्यादि पदार्थों की शक्ति से वृंहित होता है और वैय्याकरणों का स्फोट पद-पदार्थों की मिलित शक्ति से बृंहित होता है।) अथवा विश्व की निर्माणकारिणी शक्तियों के कारण ईश्वर होता है। (ब्रह्म संसार की रचना करता है और शब्दब्रह्म से वाङ्मय जगत् का निर्माण होता है।) अथवा विश्व को निर्माण करने वाली मायारूपिणी शक्ति पर वह ईश्वर होता है। (ब्रह्म माया का ईश्वर होता है और शब्दब्रह्म वाङ्मय की रचना करनेवाली वैखरी वाणी का ईश्वर होता है।) यहाँ कहने का आशय यह है कि वैय्याकरण जब शब्द को ही ब्रह्म मानते हैं और ब्रह्मज्ञान की दशा में और किसी की सत्ता मानते ही नहीं (जिहि जाने जग जाइ हेराई) तब वाचकत्व और व्यंजकत्व का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। जब ब्रह्मज्ञान की दशा में कोई पदार्थ विद्यमान ही नहीं रहता तब वाचकत्व और व्यंजकत्व ही नहीं रह जाते यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं। हाँ अविद्या दशा में वे अन्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उस दशा में वे अभिधा से भिन्न व्यंजना नामक दूसरा व्यापार मानते ही हैं। (वायुसंयोग स्फोट का व्यंजक होता है जिसको वैय्याकरण लोग ध्वनि कहते हैं। उन्हीं का अनुकरण कर साहित्यज्ञों ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है, अतः वैय्याकरणों से विरोध-अविरोध का प्रश्न ही नहीं उठता।) वैय्याकरणों के सिद्धान्त का आधार लेकर किस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है इसकी विस्तृत व्याख्या प्रथम उद्योत में की जा चुकी है। वहीं देखनी चाहिये।

(ध्वन्या०)—कृत्रिमशब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दानामर्थान्तराणामिवाविरोधश्चेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति।

(अनु०) कृत्रिम शब्दार्थ सम्बन्ध को माननेवाले तार्किकों का तो यह व्यंजकभाव अनुभव सिद्ध ही है और दूसरे पदार्थों के समान शब्दों का भी विरोध नहीं है अतः निराकरण की पदवी पर आरूढ़ नहीं होता।

(लो०)—एवं वाक्यविदां पदविदां चाविमतिविषयत्वं प्रदर्श्य प्रमाणतत्त्वविदां तार्किकाणामपि न युक्तात्र विमतिरिति दर्शयितुमाह—**कृत्रिमेति**। कृत्रिमः संकेतमात्र-स्वभावः परिकल्पितः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति ये वदन्ति नैय्यायिकसौगतादयः। यथोक्तम्—'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्ये'ति। तथा शब्दा सङ्केतितं प्राहुरिति। **अर्थान्तराणामिति**। दीपादीनाम्। नन्वनुभवेन द्विचन्द्राद्यपि सिद्धं तच्च विमतिपद-मित्याशङ्क्याह-**अविरोधश्चेति**। अविद्यमानो विरोधो बाधकात्मको द्वितीयेन ज्ञानेन यस्य तेनानुभवसिद्धश्चाबाधितश्चेत्यर्थः। अनुभवसिद्धं न प्रतिक्षेप्यं यथा वाचकत्वम्।

(अनु०) इस प्रकार वाक्यज्ञों और पदज्ञों के अवैमत्य को दिखलाकर, प्रमाणतत्त्वज्ञ तार्किकों का वैमत्य भी यहाँ ठीक नहीं है, यह दिखलाने के लिये कहते हैं—'कृत्रिम' इत्यादि। जो लोग यह कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृत्रिम है अर्थात् संकेतमात्र स्वभाववाला तथा पूर्णरूप से कल्पित है वे नैय्यायिक और सौगत (बौद्ध) इत्यादि। जैसा (न्याय सूत्र में) कहा गया है—कि (शब्द लिङ्गविद्या से अर्थबोधक होता है ऐसा) 'नहीं क्योंकि शब्द और अर्थ का प्रत्यय सांकेतिक होता है।' इसीप्रकार (बौद्धोंने कहा है) 'शब्द संकेतित को कहते हैं।' 'दूसरे अर्थों (पदार्थों) का' यह। दीप इत्यादि का। (प्रश्न) अनुभव से तो चन्द्र इत्यादि का होना भी सिद्ध हो जाता है और वह तो विमति का स्थान हो जाता है। यह शंका करके कहते हैं—'और अविरोध' यह। नहीं विद्यमान है विरोध अर्थात् द्वितीय ज्ञान के द्वारा बाधकरूप प्रतिबन्ध जिसका। इससे यह अनुभवसिद्ध भी हो जाता है और अबाधित भी। अनुभवसिद्ध का प्रतिषेध नहीं हो सकता जैसे वाचकत्व का।

नैयायिकों के मत में व्यंजना व्यापार की आवश्यकता

तारावती—ऊपर यह दिखलाया जा चुका कि यह ध्वनि-सिद्धान्त मीमांसकों के मत में भी अनिवार्य है जो वाक्य-तत्त्व पर विशेष विचार करते हैं और वैय्याकरणों के मत में भी इसका कोई विरोध नहीं जो पद-तत्त्व की व्याख्या को लक्ष्य बनाकर चलते हैं। अब यह दिखलाया जा रहा है कि प्रमाण तत्त्व को लक्ष्य माननेवाले और उसी का विशेष विवेचन करनेवाले सिद्धान्तियों की दृष्टि से भी इस ध्वनि के विषय में मतभेद का अवसर नहीं है और न उन्हें विरोधी ही होना चाहिये, प्रत्युत उनके मत से भी ध्वनि-सिद्धान्त अनिवार्य ही है। इस प्रकार के सिद्धान्ती हैं नैय्यायिक बौद्ध इत्यादि। ये लोग शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य नहीं अपितु कृत्रिम मानते हैं। इनका सिद्धान्त है कि 'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये' यह संकेत ही शक्ति है। (चाहे शब्दार्थ संकेत के विषय में ईश्वरेच्छा को शक्ति कहा जाय या इच्छामात्र को शक्ति कहा जाय) उनके मत में यह सम्बन्ध परिकल्पित ही माना

जाता है। न्यायसूत्रों में यह पूर्वपक्ष स्थापित किया गया है कि शब्द उसी प्रकार अर्थबोधक होता है जिस प्रकार लिङ्ग (हेतु) से साध्य की सिद्धि होती है। इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है—'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्य' अर्थात् शब्द लिङ्ग विद्या से अर्थबोधक नहीं होता अपितु शब्दार्थप्रत्यय सांकेतिक होता है। इसी प्रकार बौद्धों ने भी कहा है कि शब्द संकेतित अर्थ को कहा करता है। आशय यह है कि नैय्यायिक बौद्ध इत्यादि प्रमाणवादी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृत्रिम ही मानते हैं। उनके मत में भी यह व्यंजकभाव अनुभव सिद्ध ही है। एक पदार्थ दूसरे की व्यंजना किया करता है। जैसे दीपक इत्यादि घट इत्यादि की व्यंजना करते हैं। उसी प्रकार शब्द तथा उसका अपना अर्थ भी दूसरे अर्थ की व्यंजना कर सकता है। इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं आती।

(प्रश्न) जितने अनुभव होते हैं उनमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति तथा असहमति न हो यह ठीक नहीं है। बहुत से ऐसे अनुभव होते हैं जिनसे सहमत नहीं हुआ जा सकता। जैसे आंखों में उँगली लगाकर देखने से दो चन्द्र दिखलाई देते हैं। इस प्रकार दो चन्द्रों का होना अनुभव सिद्ध है। किन्तु उससे सहमत नहीं हुआ जा सकता। ऐसी दशा में आप यह कैसे कह सकते हैं कि व्यंजकभाव अनुभवसिद्ध है अतः वह मान्य है? (उत्तर) समस्त अनुभव-सिद्ध वस्तुयें प्रामाणिक ही होती हों ऐसा कोई नियम नहीं है। जिन अनुभवसिद्ध वस्तुओं का कोई विरोध विद्यमान होता है अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से जहाँ अनुभवसिद्ध वस्तु का कोई बाधक उपस्थित हो जाता है और उससे अनुभवजन्य ज्ञान में प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाता है वह अनुभवसिद्ध वस्तु प्रामाणिक नहीं मानी जाती। किन्तु जिस वस्तु में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता वह प्रामाणिक ही मानी जाती है। जैसे दो चन्द्रों के अनुभव में प्रत्यक्ष प्रतीति प्रतिबन्धक का कार्य करती है जिससे वह ज्ञान बाधित हो जाता है। किन्तु व्यंजना के अनुभव में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं होता, अतः उस ज्ञान को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। आशय यह है कि व्यंजना की प्रतीति अनुभव सिद्ध भी है अबाधित भी है। जो वस्तु अनुभव सिद्ध भी होती है और अबाधित भी होती है उसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। जैसे वाचकत्व का कोई प्रतिषेध नहीं करता।

(ध्वन्या०)—वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वाभाविकं शब्दानामाहोस्वित्सामयिकमित्याद्याः। व्यञ्जकत्वे तु तत्पृष्ठभाविनि भावान्तरसाधारणे लोकप्रसिद्ध एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः। अलौकिके ह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः प्रवर्तन्ते न तु लौकिके। नहि नीलमधुरादिष्व-शेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। नहि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वे-षामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयते?

(अनु०) वाचकत्व के विषय में तार्किकों की समस्त विप्रतिपत्तियाँ प्रवृत्त हों कि क्या यह शब्दों का स्वाभाविक (धर्म) है या सांकेतिक इत्यादि। किन्तु उस (वाचकत्व) की पीठ

पर होनेवाले दूसरे भावों (दीप इत्यादि पदार्थों) में साधारणरूप में मिलनेवाले लोक प्रसिद्ध व्यंजकत्व के अवलम्बन लेने में विमतियों का अवसर ही क्या है ? अलौकिक पदार्थ में तार्किकों की सभी विप्रतिपत्तियाँ प्रवृत्त होती हैं लौकिक पदार्थ में नहीं। नील, मधुर इत्यादि में समस्त लोक के इन्द्रियगोचर तथा बाधारहित तत्त्व के विषय में परस्पर विप्रतिपन्न (विरोधी विचारों-वाले) लोग नहीं देखे जाते। बाधारहित नील को नील कहनेवाला दूसरे के द्वारा मना नहीं किया जाता कि यह नील नहीं है यह तो पीत है। उसी प्रकार वाचक शब्दों का, अवाचक गीत ध्वनियों का और अशब्दरूप चेष्टा इत्यादिकों का जो व्यंजकत्व सभी का अनुभव सिद्ध तत्त्व है वह किसके द्वारा छिपाया जा सकता है ?

(लो०) ननु तत्राप्येषां विमतिः। नैतत्, नहि वाचकत्वे हि सा विमतिः, अपितु वाचकत्वस्य नैसर्गिकत्वकृत्रिमत्वादौ तदाह—**वाचकत्वे हीति**। नन्वेवं व्यञ्जकत्वस्यापि धर्मान्तरमुखेन विप्रतिपत्तिविषयतापि स्यादित्याशङ्क्याह—**व्यञ्जकत्वे त्विति। भावान्तरेति**। अक्षिनिकोचादेः साङ्केतिकत्वं चक्षुरादिकस्यानादिर्योग्यतेति दृष्ट्वा काममस्तु संशयः शब्दस्याभिधेयप्रकाशने व्यञ्जकत्वं तु यादृशमेकरूपं भावान्तरेषु तादृगेव प्रकृतेऽपीति निश्चितैकरूपे कः संशयस्यावकाश इत्यर्थः। नैतन्नीलमिति नीले हि न विप्रतिपत्तिः, अपितु प्राधानिकमिदं पारमाणवमिदं ज्ञानमात्रमिदं तुच्छमिदमिति तत्सृष्टावलौकिकस्य एव विप्रतिपत्तयः। **वाचकानामिति**। ध्वन्युदाहरणेष्वितिभावः।

(अनु०) (प्रश्न) उसमें भी इनका वैमत्य है। (उत्तर) ऐसा नहीं है। वह वैमत्य निस्सन्देह वाचकत्व के विषय में नहीं है अपितु वाचकत्व के नैसर्गिकत्व, कृत्रिमत्व इत्यादि के विषय में है। यह कहते हैं—'वाचकत्व में निस्सन्देह' यह। (प्रश्न) इस प्रकार दूसरे धर्मों के द्वारा व्यंजकत्व की भी विप्रतिपत्तिविषयता हो जाय यह शंका करके कहते हैं—'व्यंजकत्व में तो' यह। 'भावान्तर' यह। आखों के संकोच विकास इत्यादि से उनकी संकेतवत्ता और नेत्र इत्यादि की अनादि योग्यता को देखकर शब्द के अभिधेयार्थ प्रकाशन में चाहे जितना सन्देह हो, किन्तु व्यंजकत्व तो दूसरे पदार्थों में जिस प्रकार एकरूप होता है वैसा ही प्रकृत में भी है; इस प्रकार निश्चित एकरूप में सन्देह का अवसर ही क्या है ? यही यहाँ पर आशय है। नील में 'यह नील नहीं है' यह विप्रतिपत्ति किसी को नहीं होती, अपितु उसकी सृष्टि में अलौकिकता के विषय में ही विप्रतिपत्ति होती है कि क्या यह प्रधान (मूलप्रकृति) से उत्पन्न हुआ है ? क्या यह परमाणुजन्य है ? क्या यह ज्ञानमात्र है ? क्या यह शून्यमात्र है ? इत्यादि। 'वाचकों का' यह। भाव यह है कि ध्वनि के उदाहरणों में।

तारावती—(प्रश्न) वाचकत्व के विषय में भी तार्किक विप्रतिपत्ति उठाते हैं। (उत्तर) वह विप्रतिपत्ति उनकी इस विषय में नहीं होती कि शब्द का अभिधेयार्थ होता है या नहीं अथवा शब्द के वाचकत्व धर्म को स्वीकार किया जाय या नहीं। उनकी विप्रतिपत्ति इस विषय में होती है कि शब्द के वाचकत्व धर्म को नैसर्गिक मानें या कृत्रिम। वाचकत्व नित्य होता है या अनित्य इत्यादि विप्रतिपत्तियाँ होती हैं। शब्द के वाचकत्व धर्म की सत्ता स्वीकार करने

में किसी को अनुपपत्ति है ही नहीं। आशय यह है कि वाचकत्व धर्मी में अनुपपत्ति नहीं है किन्तु उसके धर्मों के विषय में ही अनुपपत्ति हो सकती है। (प्रश्न) जिस प्रकार वाचकत्व के धर्मों के विषय में विप्रतिपत्ति हो जाती है उसी प्रकार व्यंजकत्व के अन्दर भी दूसरे धर्मों का आश्रय लेकर उसे भी विप्रतिपत्ति का विषय क्यों नहीं बनाया जा सकता ? (उत्तर) वाचकत्व के विषय में अनेक धर्मों को लेकर तार्किकों को अनेक विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं; किन्तु उस प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ व्यञ्जकत्व धर्म के विषय में नहीं हो सकती। शब्द का वाच्य अर्थ के साथ नैसर्गिक सम्बन्ध होता है या सांकेतिक इस विषय में सन्देह का पर्याप्त अवसर है। अर्थ के साथ सम्बन्ध के विषय में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। जैसे आँखों का सिकोड़ना फैलाना इत्यादि के द्वारा अर्थ का अभिधान किया जाता है। यह आँख सिकोड़ने इत्यादि के द्वारा अर्थ का अभिधान सांकेतिक (कृत्रिम) है। दूसरी ओर आँख इत्यादि इन्द्रियाँ घट इत्यादि अर्थों को स्वयं ग्रहण करती हैं। घट इत्यादि अर्थों को ग्रहण करने में इन्द्रियों में स्वाभाविक योग्यता विद्यमान है। तब यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि शब्दों का अभिधेयार्थ से किस प्रकार का सम्बन्ध है ? क्या अक्षिसङ्कोच इत्यादि दृष्टान्त के आधार पर यह कहना ठीक होगा कि उनका सांकेतिक सम्बन्ध है या नेत्रों से पदार्थों के चाक्षुष ज्ञान के उदाहरण से यह कहना ठीक होगा कि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है ? दोनों प्रकार के उदाहरणों के मिलने से वाचकत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस प्रकार का सन्देह व्यंजना के विषय में उत्पन्न नहीं होता। कारण यह है कि एक तो व्यंजना वाचकत्व के पीछे आती है; अतः उस विषय में किसी को सन्देह का अवसर है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि व्यंजना सर्वत्र एक जैसी ही होती है। दीपक अपने को प्रकाशित कर घट को प्रकाशित करता है। जहाँ कहीं एक वस्तु के द्वारा दूसरे की व्यंजना होती है वहाँ सर्वत्र ऐसा ही होता है। प्रकृत में भी यही बात है। शब्द या वाच्यार्थ पहले अपने को प्रकाशित करता है फिर किसी अन्य अर्थ को प्रकाशित कर देता है। इस विषय में अनुपपत्ति का कोई अवसर है ही नहीं। अतः जिस व्यंजना का रूप सर्वथा निश्चित है उसमें सन्देह का अवसर ही क्या हो सकता है ? तार्किकों में मतभेद सर्वदा अलौकिक वस्तु के विषय में हुआ करता है। लौकिक वस्तु के विषय में तो निश्चय होता है। अतः उस विषय में मतभेद कभी होता ही नहीं। जो वस्तु नील है सारे संसार की आँखें उसे नीला ही समझती हैं अतः इस विषय में कभी विवाद उठता ही नहीं कि अमुक वस्तु नीली है या नहीं। इसी प्रकार जो वस्तु मधुर होती है सारे संसार की जिह्वायें उसे मीठा ही समझती हैं। अतः यह विवाद कभी उठता ही नहीं कि अमुक वस्तु मधुर है या नहीं। कारण यह है कि नीलत्व में या मधुरत्व में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित ही नहीं होती, फिर उसमें विवाद ही किस बात का ? यह तो हुई लौकिक तत्त्व की बात। अब अलौकिक तत्त्व को लीजिये। नील यह क्या वस्तु है ? सांख्य शास्त्र के आचार्य कहते हैं कि मूलप्रकृति प्रधानतत्त्व है; उससे महत्तत्व की उत्पत्ति होती है और उसी परम्परा में नील इत्यादि की भी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सांख्य के आचार्य नील को प्रधान का विपरिणाम मानते हैं। इसके प्रतिकूल न्यायशास्त्र के आचार्यों का कहना है कि संसार के समस्त पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। अतः नैय्यायिकों के

मत में नील यह परमाणुओं का कार्य है। इसके प्रतिकूल विज्ञानवादी संसार के सभी तत्त्वों को विज्ञानरूप मानते हैं। अतः उनके मत में नील भी विज्ञान रूप है। माध्यमिक बौद्ध संसार के समस्त तत्त्वों को शून्य रूप मानते हैं। अतः उनके मत में नील भी शून्य का ही रूप है। इस प्रकार नील की उत्पत्ति के अलौकिक रूप में ही विप्रतिपत्तियाँ उठती हैं। यदि लौकिक नील को कोई नील कहे तो दूसरा व्यक्ति कभी उसका प्रतिषेध नहीं करेगा कि यह नील नहीं है यह तो पीत है। किन्तु यदि उसकी अलौकिककता के विषय में कोई कुछ कहे कि नील प्रधान का विपरिणाम है तो दूसरा चट कहेगा कि नहीं यह तो परमाणुओं से बना है; तीसरा कहेगा 'नहीं यह तो विज्ञानरूप है' चौथा कहेगा कि 'नहीं यह तो शून्य का परिणाम है।' आशय यह है कि लौकिक पदार्थों में सन्देह नहीं होता; अलौकिक में सन्देह होता है। व्यंजकत्व भी लौकिक वस्तु ही है। व्यंजना वाचक शब्दों से भी होती है, अवाचक गीतध्वनियों से भी होती है और अशब्द रूप चेष्टा इत्यादि से भी होती है। सभी का यह अनुभवसिद्ध तत्त्व है। अतः इसे छिपा ही कौन सकता है?

(ध्वन्या०) **अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्यवहारास्तथा व्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते। तानुपहास्यतामात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्दधीत सचेताः।**

(अनु०) शब्दरहित (वाच्यार्थ से भिन्न) रमणीय अर्थ को सूचित करनेवाली उक्तियाँ तथा क्रिया कलाप निबद्ध तथा अनिबद्ध (दोनों प्रकार के) विद्वद्गोष्ठियों में पाये जाते हैं। कौन सहृदय अपनी उपहास्यता को बचाते हुये उनका अधिक तिरस्कार कर सकता है!

(लो०) **अशब्दमिति।** अभिधाव्यापारेणास्पृष्टमित्यर्थः। **रमणीयमिति।** यद्गोप्यमानतयैव सुन्दरीभवतीत्यनेन ध्वन्यमानतायामसाधारणप्रतीतिलाभः प्रयोजनमुक्तम्। निबद्धाः प्रसिद्धाः। **तानिति।** व्यवहारान्। कः सचेता अतिसन्दधीत नाद्रियेतेत्यर्थः। लक्षणे शत्रादेशः आत्मनः कर्मभूतस्य योपहसनीयता तस्याः परिहारेणोपलक्षितस्तां परिजिहीर्षुरित्यर्थः।

(अनु०) 'अशब्द' यह। अर्थात् अभिधा व्यापार से स्पर्श न किया हुआ। 'रमणीय' यह। जो कि गोप्यमान रूप में ही सुन्दरता को प्राप्त होता है इसके द्वारा ध्वन्यमान होने में असाधारण प्रतीति लाभ प्रयोजन के रूप में बतलाया गया है। निबद्ध का अर्थ है प्रसिद्ध। 'उनका' अर्थात् उक्तियों का। कौन सहृदय अत्यन्त संधान करे अर्थात् उनका आदर न करे। लक्षण में शत् आदेश (यह अर्थ देता है कि) कर्मरूप में स्थित अपनी जो उपहसनीयता उसके परिहार के द्वारा उपलक्षित किया हुआ अर्थात् उसके परित्याग की इच्छा करनेवाला।

तारावती—अनेक प्रकार की उक्तियाँ और अनेक प्रकार के व्यापार ऐसे होते हैं कि शब्दों के द्वारा अभिधान करने में उनमें सुन्दरता नहीं आती, वे शब्द के द्वारा अभिहित किये ही नहीं जा सकते। जब उनको छिपाकर दूसरे शब्दों से अभिहित किया जाता है तब उनमें अभूतपूर्व रमणीयता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनित होने में असाधारण प्रतीति की प्राप्ति

हो जाती है। यह ध्वनि सिद्धान्त का एक बहुत बड़ा प्रयोजन है। इस प्रकार के रमणीय कथन और व्यापार मुक्तक इत्यादि निबन्धों में भी होते हैं और गद्यकाव्यों में भी हो सकते हैं। विद्वानों की सभा में इस प्रकार की सूक्तियों का प्रायः परिशीलन किया जाता है और उनका आनन्द लिया जाता है। इतना सब होते हुये भी यदि कोई व्यक्ति अपने को सहृदय कहलाने का दावा करता हो और साथ में इस प्रकार के रमणीय अर्थ को छलपूर्वक छिपाने की चेष्टा करे तथा चारुतापूर्ण कथन के व्यापार व्यंजना को स्वीकार न करे तो विद्वद्गोष्ठी में उसकी हँसी ही होगी। यदि वह चाहता है कि उसकी हंसी न उड़ाई जाय तो उसे चाहिये कि इतने स्पष्ट और इतने आदृत व्यंजनाव्यापार के विरुद्ध प्रचार करने की चेष्टा न करे। यहाँ सहृदय का यही लक्षण बतलाया गया है कि जो व्यक्ति अपनी उपहसनीयता को बचाना चाहता है और आदरास्पद ध्वनि-सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जाता वही सहृदय है। इस लक्षण में 'परिहरन्' शब्द में 'शतृ' प्रत्यय किया गया है। यह शतृ प्रत्यय वर्तमानकाल प्रथमा समानाधिकरण में हुआ करता है। यहाँ प्रथमा है 'सचेताः' शब्द में और 'परिहरन्' शब्द उसीका समनाधिकरण है। 'परिहरन्' का कर्म है उपहास्यता और उपहास्यता का कर्म है ध्वनि का निरादर करनेवाले, जिनके लिये आत्मशब्द का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि जो लोग अपनी उपहास्यता का परिहार करते हुये ही दृष्टिगत होते हैं अर्थात् अपनी उपहास्यता को उत्पन्न ही नहीं होने देते वे ही सहृदय हैं।

(ध्वन्या०) **ब्रूयात्—अस्त्यतिसन्धानावसरः व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव तेषां व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।**

(अनु०) (कोई) कहे—अतिसन्धान (अस्वीकृति) का अवसर है—व्यंजकत्व शब्दों के गमकत्व (अन्यार्थ प्रत्यायकत्व) को ही कहते हैं और वह लिङ्गत्व (हेतु) ही है, अतः व्यंग्य-प्रतीति लिङ्गी (साध्य) की प्रतीति ही है। इस प्रकार इनका लिङ्गलिङ्गिभाव (साधन-साध्यभाव) ही है व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव कोई अन्य वस्तु नहीं। और इसलिये भी यह अवश्य ही समझा जाना चाहिये जिससे कि आपके द्वारा अभी प्रतिपादित किया गया है कि वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा करते हुये ही व्यंजकत्व होता है। वक्ता का अभिप्राय तो अनुमान गम्य ही होता है।

(लो०) **अस्तीति**। व्यञ्जकत्वं नापह्नूयते तत्त्वतिरिक्तं न भवति, अपितु लिङ्गिलिङ्गभाव एवायम्। इदानीमेवेति जैमिनीयमतोपक्षेपे।

(अनु०) 'है' यह। व्यंजकत्व छिपाया नहीं जा रहा है, किन्तु वह अतिरिक्त (सिद्ध) नहीं होता, अपितु यह लिङ्ग-लिङ्गिभाव ही है। अभी अर्थात् जैमिनीय मत के उपक्षेप में।

व्यंजना की अनुमानगतार्थकता का निराकरण

तारावती—यहाँ पर कुछ लोग कह सकते हैं कि हमें व्यंजकत्व के मानने में तो कोई आपत्ति नहीं और न हम उसे छिपाना ही चाहते हैं, किन्तु आप जो यह कह रहे हैं कि व्यंजना के

प्रतिकूल बोला ही नहीं जा सकता इससे हम सहमत नहीं। व्यंजना के प्रतिकूल बोलने का अवसर भी विद्यमान ही है। व्यंजकत्व कुछ और वस्तु नहीं है अपितु शब्दों के अन्यार्थ प्रत्यायन को ही व्यंजक कहते हैं। व्यंजक होते हैं शब्द और उनके अर्थ इत्यादि और व्यङ्ग्य होते हैं वस्तु, अलङ्कार तथा रस। ध्वनिवादी को भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि व्यङ्ग्य और व्यंजक का कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। यदि बिना सम्बन्ध के व्यंजना प्रकाशित होने लगे तो चाहे जिस वाक्य से चाहे जो व्यंजना निकल सकती है। किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः व्यंजक और व्यङ्ग्य के साहचर्य सम्बन्ध को मानना ही पड़ेगा। व्यंजक लिङ्ग (हेतु) है और व्यङ्ग्य लिङ्गी (साध्य) है। दोनों की व्याप्ति बन जाती है कि जहाँ व्यंजक होता है वहाँ व्यङ्ग्य भी होता है और जहाँ व्यङ्ग्य नहीं होता वहाँ व्यंजक भी नहीं होता। इन व्याप्तियों के आधार पर व्यंजक (लिङ्ग या हेतु) को देखकर उससे अविनाभूत व्यङ्ग्य (लिङ्गी या साध्य) का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार व्यंजनाव्यापार अनुमितिव्यापार से भिन्न वस्तु नहीं है। और यह तो आपको मानना ही पड़ेगा क्योंकि अभी जैमिनीय मत की व्याख्या करने के अवसर पर आप ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके हैं कि व्यंजकत्व वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा करते हुये होता है। वक्ता का अभिप्राय सर्वदा अनुमान का विषय ही होता है। अतः व्यंजना भी अनुमान से भिन्न सिद्ध नहीं होती।

(ध्वन्या०) **अत्रोच्यते—नन्वेवमपि यदि नाम स्यात्तत्किं नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सर्वथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिश्चालिङ्गिप्रतीतिरेवेति।**

(अनु०) यहाँ पर कहा जा रहा है—निस्सन्देह यदि ऐसा भी हो जाय तो हमारा क्या बिगड़ जायगा। हम लोगों ने यह स्वीकार किया है कि वाचकत्व और गुणवृत्ति से व्यतिरिक्त व्यंजकत्व लक्षणवाला शब्द का व्यापार होता है। उसके इस प्रकार होने में भी कोई दोष नहीं। निस्सन्देह वह व्यंजकत्व लिङ्गत्व हो जाय या कुछ और। हम दोनों का इस विषय में विवाद नहीं है कि वह शब्द प्रकारों से सर्वथा विलक्षण होता है और उसकी शब्दव्यापारविषयता होती है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है कि व्यंजकत्व सर्वत्र लिङ्ग (हेतु) ही होता है और व्यङ्ग्यप्रतीति सर्वथा लिङ्गी (साध्य) की ही प्रतीति होती है।

(लो०) **यदि नाम स्यादिति**। प्रौढिवादितयाभ्युपगमेऽपि स्वपक्षस्तावन्न सिद्ध्यतीति दर्शयति—**शब्देति**। शब्दस्य व्यापारः सन् विषयः शब्दव्यापारविषयः, अन्ये तु शब्दस्य यो व्यापारस्तस्य विषयो विशेष इत्याहुः। **न पुनरिति**। प्रदीपालोकादौ लिङ्गिलिङ्गभावशून्योऽपि हि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽस्तीति व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य लिङ्गिलिङ्गभावोऽव्यापक इति कथं तादात्म्यम्?

(अनु०) 'यदि ऐसा हो' यह। प्रौढ़िवादी होने के रूप में स्वीकार करने पर भी अपना पक्ष तो सिद्ध नहीं होता यह दिखलाते हैं—'शब्द' यह। शब्दव्यापारविषय का अर्थ है शब्द का व्यापार होते हुए जो विषय हो। और लोग तो शब्द का जो व्यापार उसका विषय अर्थात् उसकी विशेषता यह अर्थ करते हैं। 'किन्तु नहीं' यह प्रतीप के आलोक इत्यादि में लिङ्ग-लिङ्गि भाव से शून्य भी व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव होता है अतः व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव का लिङ्ग-लिङ्गिभाव अव्यापक है फिर तादात्म्य कैसा ?

तारावती—कुछ लोगों के उक्त कथन पर हमारा कहना यह है कि यदि हम आपकी बात मान लें तो भी हमारा क्या बिगड़ जायगा। हमारा पक्ष तो केवल इतना है कि शब्द का एक तीसरा व्यापार भी होता है जो सामान्यतया माने हुये अभिधा और गुणवृत्ति इन दोनों शब्द-व्यापारों से भिन्न होता है, इस व्यापार को हम व्यंजना व्यापार कहते हैं। उसको आप कहते हैं कि वह लिङ्ग-लिङ्गिव्यवहार से गतार्थ हो जाता है। मैं कहता हूँ कोई बात नहीं आप उसे लिङ्ग-लिङ्गिव्यवहार से गतार्थ हुआ मान लीजिये या कुछ और मान लीजिये। कम से कम आपने हमारी बात तो मानली कि एक ऐसा भी शब्दव्यापार होता है जो अभिधा और गुण-वृत्ति में अन्तर्भूत नहीं हो सकता, वह प्रसिद्ध शब्दव्यापारों से विलक्षण होता है और होता शब्दव्यापार का ही एक प्रकार है, इस विषय में हमारा और आपका मतभेद नहीं है। यदि आप उसे अनुमान में अन्तर्भूत करना चाहते हैं तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। यहाँ पर व्यंजना के लिये 'शब्दव्यापारविषयत्व' शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः व्यंजना शब्द-व्यापार का विषय नहीं अपितु शब्द का एक व्यापार ही होती है, इस दृष्टि से शब्दव्यापार-विषयत्व शब्द का प्रयोग उचित नहीं जान पड़ता। लोचन में इसकी योजना इस प्रकार की गई है—शब्द का व्यापार होते हुये जो उसका विषय होता है। अर्थात् व्यंजना शब्द का व्यापार होती है और शब्द का विषय होती है। लोचनकार का कहना है कि कुछ लोगों ने इस शब्द का अर्थ किया है—शब्द का जो व्यापार उसका विषय अर्थात् उसकी विशेषता। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि व्यंजना शब्द का व्यापार होती है न कि शब्दव्यापार की विशेषता। यहाँ पर यह जो कहा गया है कि व्यंजना को यदि आप अनुमान में अन्तर्भूत करना चाहते हैं उसमें भी हमें कोई आपत्ति नहीं यह सब प्रौढ़िवाद मात्र है। प्रौढ़िवाद उसे कहते हैं जहाँ दूसरे की कही हुई बात को मान करके भी अपने सिद्धान्त की स्थापना की जाय। यहाँ पर ग्रन्थकार का आशय यह है कि यदि हम थोड़ी देर के लिये तुम्हारे कथन को स्वीकार भी कर लें तो भी बात हमारी ही सिद्ध होती है कि व्यंजना वृत्ति है अवश्य। इस प्रकार हमारी मान्यता के एक अंश से तो आप सहमत हो ही गये। अब उसका दूसरा अंश लीजिये कि हम उसका अन्तर्भाव अनुमान में कर सकते हैं। आपकी मान्यता का यही अंश ठीक नहीं है। आप अपने पक्ष की तभी सिद्धि कर सकते हैं जब कि अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों घटित हो जायँ। यहाँ पर अन्वय व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—'जहाँ व्यंजना होती है वहाँ अनुमान की प्रक्रिया लागू होती है' और व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार की होगी—'जहाँ

अनुमान की प्रक्रिया लागू नहीं होती वहाँ व्यंजना भी नहीं होती।' ये दोनों व्याप्तियाँ व्यभिचरित हैं। क्योंकि प्रदीप व्यंजक होता है और घट इत्यादि पदार्थ व्यङ्ग्य। उसमें लिङ्ग-लिङ्गिभाव (हेतु-साध्यभाव) लागू नहीं होता। वहाँ अनुमान की प्रक्रिया के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यहाँ पर घट है। जब कि समस्त व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव उस व्याप्ति से अन्वित नहीं हो जाते तब यह कहना ठीक नहीं कि व्यंजकत्व तो लिङ्गत्व होता है और व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति है। अत एव व्यंजना और अनुमान का तादात्म्य नहीं हो सकता।

(ध्वन्या०) **यदपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितं त्वया वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात्तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्य प्रतिपाद्यते श्रूयताम्—द्विविधो विषयः शब्दानाम्—अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न शब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम्। प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः।**

(अनु०) और जो अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये हमारा कहा हुआ तुमने अनूदित किया कि 'व्यंग्य के रूप में वक्ता के अभिप्राय को स्वीकार करने से उसके प्रकाशन में शब्दों का लिङ्गत्व ही होता है' तो यह जो हमने कहा है विभागपुर्वक प्रतिपादित किया जा रहा है सुनो—शब्द का विषय दो प्रकार का होता है—अनुमेय और प्रतिपाद्य। उसमें अनुमेय विवक्षारूप होता है। और विवक्षा दो प्रकार की होती है शब्दरूप प्रकाशन की इच्छा और शब्द से अर्थ प्रकाशन की इच्छा। इनमें प्रथम शाब्दव्यापार का अंग नहीं होती। उसका फल निस्सन्देह प्राणित्वमात्र की प्रतिपत्ति ही होती है और दूसरी यद्यपि शब्दविशेष के निर्णय करने में अध्यवसित होकर व्यवहित हो जाती है तथापि उस व्यवहार में निमित्त होती है जिसका कारण शब्द है। ये दोनों शब्दों का अनुमेय विषय हैं। प्रतिपाद्य तो प्रयोक्ता के अर्थप्रतिपादन की इच्छा से विषय बनाया हुआ अर्थ होता है।

(लो०) **विषय इति**। शब्द उच्चरिते यावति प्रतिपत्तिस्तावान् विषय इत्युक्तः। यत्र शब्दप्रयुयुक्षा अर्थप्रतिपिपादयिषा चेत्युभय्यपि विवक्षानुमेयो तावत्। यस्तु प्रतिपिपादयिषायां कर्मभूतोऽर्थस्तत्र शब्दः कारणत्वेन व्यवस्थितः न त्वसावनुमेयः। तद्विषया हि प्रतिपिपादयिषैव केवलमनुमीयते। न च तत्र शब्दस्य करणत्वे यैव लिङ्गकर्तव्यता पक्षधर्मत्वग्रहणादिका सास्ति, अपि त्वन्यैव सङ्केतस्फुरणादिका तत्र तत्र शब्दो लिङ्गम्। इतिकर्तव्यता च द्विधा—एकयाभिधाव्यापारं करोति द्वितीयया व्यञ्जनाव्यापारम्। तदाह—**तत्रेत्यादिना**।

(अनु०) 'विषय' यह। शब्द के उच्चारण करने पर जितनी प्रतिपत्ति होती है उतना

विषय यह कहा गया है। उसमें शब्द के प्रयोग की इच्छा और अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा यह दोनों प्रकार की विवक्षा तो अनुमेय ही होती है। और जो प्रतिपादन की इच्छा में कर्मरूप में स्थित अर्थ है उसमें शब्द कारण के रूप में व्यवस्थित होता है, वह अनुमेय नहीं होता, तद्विषयक प्रतिपादन की इच्छा का ही केवल अनुमान लगाया जाता है। शब्द के कारण होने में लिङ्ग की जो पक्षधर्मत्व ग्रहणादिक इतिकर्तव्यता होती है वह वहाँ पर नहीं होती, अपितु संकेतस्फुरणादि रूप अन्य ही होती है, इसलिये शब्द वहाँ पर लिङ्ग नहीं होता। और इतिकर्तव्यता दो प्रकार की होती है—एक से अभिधाव्यापार करता है और दूसरे से व्यञ्जनाव्यापार। वही कहते हैं—'उसमें' इत्यादि के द्वारा।

तारावती—हमने जो मीमांसकों का मत प्रतिपादित करते हुये यह कहा था कि वक्ता का अभिप्राय व्यंग्य होता है उसका उद्धरण आपने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये दिया और कहा कि वक्ता का अभिप्राय सर्वदा अनुमानगम्य ही होता है, इसी आधार पर आपने लिङ्ग-लिङ्गी भाव का समर्थन किया और अनुमान का व्यञ्जना से तादात्म्य सिद्ध किया। यहाँ यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि अपने कथन का मैं स्पष्टीकरण कर दूँ। अतः विभागपूर्वक दिखलाया जा रहा है कि कितने अंश में व्यंग्य अनुमेय होता है और कितने अंश में वह शुद्ध व्यंग्य होता है। शब्द के उच्चारण करने के बाद जहाँ तक प्रतिपत्ति होती है वह सब शब्द का विषय ही कहा जा सकता है। शब्द का विषय दो प्रकार का होता है—अनुमेय और प्रतिपाद्य। विवक्षा-रूप शब्द का विषय अनुमेय होता है। विवक्षा भी दो प्रकार की होती है—शब्दस्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और शब्द के द्वारा अर्थप्रकाशन की इच्छा। आशय यह है कि जब कोई व्यक्ति शब्द का उच्चारण करता है तब उससे सर्वप्रथम यही प्रतीत होता है कि अमुक व्यक्ति कुछ करना चाहता है। यह कथन की उसकी इच्छा दो प्रकार की होती है—एक तो शब्द के स्वरूप-प्रकाशन की इच्छा और दूसरे शब्द के द्वारा अर्थप्रकाशन की इच्छा। शब्द के स्वरूप-प्रकाशन की इच्छा से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि शब्द का प्रयोक्ता प्राणवान् है क्योंकि शब्द का प्रयोग तो प्राणी ही कर सकता है प्राणहीन नहीं। अतः शब्दप्रकाशन की इच्छा कभी भी व्यवहार का अङ्ग नहीं हो सकती। अब दूसरी विवक्षा के विषय में देखिये—जब वक्ता अपने अभीष्ट अर्थबोधन में समर्थ तथा उसके अनुकूल शब्द समूह रूप वाक्य का प्रयोग करता है तब श्रोता सर्वप्रथम उस वाक्य का अनुसन्धान करता है और अर्थबोध का अवसर बाद में आता है। इसप्रकार शब्दसमूह के प्रयोग और अर्थबोधानुकूल बुद्धि में उस वाक्य को समझने और उसका अनुसन्धान करने का व्यवधान पड़ जाता है, तथापि अर्थप्रकाशन की इच्छा में शब्द करण होता है और उसी के व्यवहार के आधीन अर्थप्रकाशन की इच्छा होती है। ये दोनों प्रकार की विवक्षायें केवल अनुमेय होती हैं और इनको शब्द का अनुमेय विषय कह सकते हैं। इस समस्त विवेचन का सार यही है—वक्ता शब्दों का उच्चारण करना चाहता है और उन शब्दों के द्वारा अपने मनोगत अर्थ को भी प्रकट करना चाहता है। इस प्रकार वक्ता की ये दो इच्छायें होती हैं। इन दोनों को विवक्षा कहते हैं। जब श्रोता वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्दसमूह को सुनता है तब उसे सर्वप्रथम तो यह ज्ञात होता है कि वक्ता कुछ शब्दों का

उच्चारण करना चाहता है। और उन शब्दों को दूसरों को सुनाना चाहता है। यह इच्छा परगत (वक्ता के हृदय में विद्यमान) है अतः श्रोता उस इच्छा का अनुमान ही लगा सकता है। किन्तु इस अनुमान का कोई और फल नहीं होता। इसका केवल इतना ही फल होता है कि श्रोता यह जान लेता है कि अमुक व्यक्ति चेतन है और शब्द का प्रयोग कर सकता है। इसके बाद वह प्रयोग किये हुये शब्दविशेषों का निश्चय करता है और तब व्यवधान के बाद उसे यह ज्ञात होता है कि सार्थक शब्दों के प्रयोग के द्वारा वक्ता विशेष अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है। वक्ता को अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट होता है। अतः प्रतिपादन की इच्छा में कर्म अर्थ ही होता है और उस अर्थ के प्रतिपादन में शब्द करण होता है। शब्दप्रयोग की इच्छा और अर्थप्रतिपादन की इच्छा ये दोनों अनुमान का विषय ही होती हैं क्योंकि पराई इच्छा का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही हो सकता है। अनुमान में शब्द करण होता है और शब्दबोधनेच्छा तथा अर्थबोधनेच्छा साध्य होती है। शब्दबोधनेच्छा तो शब्द से सीधे संबद्ध होती है किन्तु अर्थबोधनेच्छा में शब्द से वाक्यानुसन्धान का व्यवधान पड़ जाता है तथापि हेतुता तो उसमें रहती ही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वक्ता की केवल इच्छा ही अनुमान का विषय हो सकती है, जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है वह अर्थ स्वयं अनुमान का विषय नहीं हो सकता। वह अर्थ शब्द का प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है अनुमेय नहीं। इस प्रतिपाद्य अर्थ को हम अनुमान में अन्तर्भूत इसलिये नहीं कर सकते, क्योंकि जब लिङ्ग से साध्यसिद्धि की जाती है तब उस लिङ्ग की कुछ इतिकर्तव्यता होती है जैसे पक्ष में लिङ्ग की उपस्थिति, पक्षधर्मता का ग्रहण, व्याप्तिस्मृति इत्यादि। समस्त अनुमानों में ऐसा ही हुआ करता है। किन्तु जब हम शब्द से अर्थ का बोध करते हैं तब हमें लिङ्ग की वह समस्त इतिकर्तव्यता उपलब्ध नहीं होती। अतः शब्द से अर्थबोध को हम अनुमान में अन्तर्भूत नहीं कर सकते। जब हम शब्द से अर्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं तब उसमें लिङ्ग की नहीं शब्द की एक भिन्न ही इतिकर्तव्यता दृष्टिगत होती है। यह इतिकर्तव्यता होती है—संकेतस्फुरण, प्रकरण आदि का ज्ञान इत्यादि।

(ध्वन्या०) **स च द्विविधः—वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित्। स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण प्रकाशते, अपितु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण सम्बन्धान्तरेण। विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्। यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ् मिथ्यात्वादिविवादा एव न प्रवर्तेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्।**

(अनु०) और वह दो प्रकार का होता है—वाच्य और व्यंग्य। प्रयोग करनेवाला निस्सन्देह कभी स्वशब्द से अर्थ को प्रकाशित करने की इच्छा करता है कभी किसी प्रयोजन की अपेक्षा से अपने शब्द के द्वारा अनभिधेयरूप में। वह दोनों ही प्रकार का शब्दों का प्रतिपाद्य विषय लिङ्गी के रूप में स्वरूप से प्रकाशित नहीं होता अपितु कृत्रिम या अकृत्रिम दूसरे

सम्बन्ध के द्वारा। उस अर्थ का विवक्षाविषयत्व शब्दों के द्वारा लिङ्गी के रूप में प्रतीत होता है उसका स्वरूप नहीं। यदि वहाँ लिङ्गी के रूप में शब्दों का व्यापार हो तो शब्दों के अर्थ के विषय में सम्यक् मिथ्यात्व इत्यादि विवाद ही प्रवृत्त न हो जैसे धूम इत्यादि लिङ्ग से अनुमित दूसरे अनुमेय।

(लो०) **कयाचिदिति।** गोपनकृतसौन्दर्यादिलाभाभिसन्धानादिकयेत्यर्थः। **शब्दार्थ इति।** अनुमानं हि निश्चयस्वरूपमेवेतिभावः।

(अनु०) 'किसी अपेक्षा से' यह। अर्थात् गोपन से उत्पन्न सौन्दर्य इत्यादि के लाभ के अनुसन्धान की अपेक्षा से। 'शब्दार्थ' यह। भाव यह है कि अनुमान निश्चय रूपवाला ही होता है।

तारावती—शब्द की जिस इतिकर्तव्यता से हमें अर्थबोध होता है वह इतिकर्तव्यता दो प्रकार की हो सकती है—एक से तो अभिधाव्यापार होता है और दूसरी से व्यञ्जनाव्यापार। संकेतस्फुरण से अभिधाव्यापार होता है और वक्तृवैशिष्टय इत्यादि से व्यञ्जनाव्यापार। इसी आधार पर प्रतिपाद्य अर्थ दो प्रकार का हो सकता है—वाच्य और व्यंग्य। प्रयोग करनेवाले का लक्ष्य कभी तो केवल इतना ही होता है कि शब्द जो भी अर्थ दे रहे हों और उनका संकेत जिस अर्थ में नियत हो श्रोता उतना ही अर्थ समझे। इसके प्रतिकूल कभी-कभी उसकी इच्छा यह होती है कि शब्द जो भी संकेतिक अर्थ दे रहे हों उनसे भिन्न एक दूसरा अर्थ ही प्रतीतिगोचर हो। अन्य अर्थ को अन्य शब्द द्वारा प्रकट करने में वक्ता का कुछ प्रयोजन भी होता है। छिपाकर किसी बात को कहने में एक सुन्दरता आ जाती है। अन्य शब्दों से अन्य अर्थ को कहने में वक्ता का या तो यह प्रयोजन होता है कि किसी बात को छिपाकर कहने में जो सौन्दर्य आ जाता है उसका लाभ श्रोताओं और पाठकों को भी प्राप्त हो सके अथवा उसका कोई अन्य प्रयोजन होता है। इस प्रकार वक्ता का प्रतिपाद्य अर्थ दो प्रकार का होता है—शब्दों के अभिधेय के द्वारा प्रकाशित वाच्यार्थ और किसी प्रयोजन से प्रकाशित व्यंग्यार्थ। न तो यह दोनों प्रकार का प्रकाशित अर्थ लिंगी (साध्य) होता है, न इनका प्रकाशक लिंग (हेतु) होता है और न इनके प्रकाशन की क्रिया अनुमान कही जा सकती है। इनका प्रकाशन तो किसी अन्य सम्बन्ध के द्वारा ही होता है, वह सम्बन्ध मीमांसकों के अनुसार अकृत्रिम हो सकता है या नैय्यायिकों के अनुसार कृत्रिम (सांकेतिक) हो सकता है। कारण यह है कि अनुमान से जिस अर्थ (वस्तु) की साध्यरूप में प्रतीति होती है वह पदार्थज्ञान होता है। उसमें किसी प्रकार के संशय का अवसर नहीं रह जाता कि क्या यह ठीक हो सकता है, क्या यह मिथ्या हो सकता है इत्यादि। जैसे हम धूम को लिंग मानकर उससे अग्नि का अनुमान लगाते हैं तब अग्नि का हमें यथार्थज्ञान हो जाता है और यह सन्देह भी नहीं उठता कि क्या जहाँ से धूम उठ रहा है वहाँ आग हो सकती है या नहीं। ऐसा ही हेतु साध्य का साधक होता है जो अव्यभिचरित रूप में साध्य के साथ व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध रखता हो। अतः साध्यसिद्धि हो जाने पर उसमें सन्देह का अवसर ही नहीं रह जाता। यदि शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ वाच्य और व्यंग्य को अनुमान में अन्तर्भूत करें तो वह ज्ञान भी निश्चित ज्ञान ही

होगा। उसमें यह सन्देह ही नहीं उत्पन्न होगा कि क्या अमुक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है ? क्या मिथ्या ज्ञान है ? इत्यादि। शब्दार्थ के विषय का ज्ञान होने में इस प्रकार के सन्देह तथा विकल्प उठते हैं अतः हम उसे अनुमान में अन्तर्भूत नहीं कर सकते।

(ध्वन्या०) **व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः। वाच्यवाचकभावाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्। तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया। प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे च वाचकत्वेनैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक् सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव। न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वरूपमेव आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्। तस्मात्प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गित्वेन सम्बन्धी वाच्यवत्। यो हि लिङ्गित्वेन तेषां सम्बन्धी यथा दर्शितो विषयः स न वाक्यत्वेन प्रतीयते अपि तूपाधित्वेन। प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिङ्गित्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। एतच्चोक्तमेव।**

(अनु०) और व्यंग्य अर्थ वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त होने के कारण वाच्य के समान शब्द का सम्बन्धी होता ही है। साक्षात् या असाक्षात् होना निस्सन्देह सम्बन्ध का प्रयोजन नहीं होता। और व्यंजकत्व का वाच्यवाचक भाव का आश्रय लेना तो पहले ही दिखला दिया गया। अत एव वक्ता के अभिप्राय रूप व्यंग्य में ही लिंग के रूप में शब्दों का व्यापार होता हैं। उन शब्दों का विषय बनाये हुये अर्थ में तो प्रतिपाद्य रूप में शब्दों का व्यापार होता हैं। अभिप्राय रूप या अनभिप्राय रूप उसके प्रतीत होने पर या तो वाचकत्व से ही व्यापार होता हैं या दूसरे सम्बन्ध से। वाचकत्व से नहीं होता जैसा कि पहले कहा गया हैं। दूसरे सम्बन्ध से तो व्यंजकत्व ही होता हैं। व्यंजकत्व लिङ्गत्वरूप नहीं होता क्योंकि आलोक इत्यादि में अन्यथा देखा गया हैं। इससे शब्द का प्रतिपाद्य लिङ्गी के रूप में सम्बन्धी नहीं होता जैसे वाच्य जो निस्सन्देह लिङ्गी के रूप में उनका सम्बन्धी होता हैं जैसे दिखलाया हुआ विषय वह वाच्य के रूप में प्रतीत नहीं होता अपितु औपाधिक रूप में। और प्रतिपाद्य विषय के लिङ्गीरूप में मानने पर लौकिकों द्वारा ही की हुई तद्विषयक लौकिक विप्रतिवत्तियों का अभाव ही प्रसक्त हो जाय। यह तो कहा ही जा चुका है।

(लो०) **उपाधित्वेनेति।** वक्त्रिच्छा हि वाच्यादेरर्थस्य विशेषणत्वेन भाति। **प्रतिपाद्यस्येति।** अर्थाद्व्यङ्ग्यस्य। **लिङ्गित्व इति।** अनुमेयत्व इत्यर्थः। **लौकिकैरेवेति।** इच्छायां लोको न विप्रतिपद्यतेऽर्थे तु विप्रतिपत्तिमानेव।

(अनु०) 'उपाधित्व के रूप में' यह। वक्ता की इच्छा निस्सन्देह वाच्य इत्यादि के विशेषण के रूप में शोभित होती हैं। 'प्रतिपाद्य का' यह अर्थात् व्यंग्य का 'लिङ्गित्व में' यह। अर्थात् अनुमेयत्व में। 'लौकिकों के द्वारा' यह। इच्छा में लोक को विप्रतिपत्ति नहीं होती अर्थ में तो लोक विप्रतिपत्तिवाला होता ही है।

तारावती—यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि वाच्यार्थ तो शब्द का अर्थ होता ही है, व्यङ्ग्यार्थ तभी उस कोटि में आ सकता है जब कि उसका शब्द से सम्बन्ध सिद्ध हो जाय। वह सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ भी शब्द का प्रतिपाद्य विषय है? इसका उत्तर यह है कि यह हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होता है। वाच्य तो शब्द का सम्बन्धी होता ही है और वाच्य का सम्बन्धी व्यंग्य होता है। सम्बन्धी का सम्बन्धी अपना भी सम्बन्धी माना जाता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ भी शब्द का सम्बन्धी हो ही जाता है। (प्रश्न) वह सम्बन्ध तो परम्परा सम्बन्ध हुआ, प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं हुआ। फिर इनको सम्बन्धी कैसे माना जा सकता है? (उत्तर) शब्दार्थ के क्षेत्र में यह कोई नियम नहीं कि शब्द और अर्थ का प्रत्यक्ष ही सम्बन्ध हो। यदि परम्परया भी सम्बन्ध होता है तो वह भी सम्बन्ध ही माना जाता है। यही बात अन्य सम्बन्धों के विषय में भी लागू होती है। (उदाहरण) के रूप में प्रत्यक्ष को लीजिये। प्रत्यक्षज्ञान के लिये इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होना चाहिये। नैय्यायिकों की भाषा में इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। ये सन्निकर्ष ६ प्रकार के माने जाते हैं। यदि उन सब पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें से कुछ तो इन्द्रियों से साक्षात् सम्बद्ध होते हैं जैसे संयोगसन्निकर्ष और कुछ परम्परया सम्बद्ध होते हैं जैसे संयुक्त-समवायसन्निकर्ष इत्यादि। घट का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और घट के साक्षात् सम्बन्ध से होता है और घट के गुणों का प्रत्यक्ष परम्परा सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्परा सम्बन्ध से शब्द और व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध मानने पर भी उसे शब्दव्यापार मानने में कोई आपत्ति नहीं। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सार कतिपय शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है—वक्ता के अभिप्राय की जो व्यंजना होती है अर्थात् श्रोता को जो यह ज्ञान होता है कि वक्ता शब्दों का प्रयोग करना चाहता है अथवा उन शब्दों के माध्यम से कुछ अर्थ प्रकट करना चाहता है यह सब वक्ता की इच्छा अनुमान का विषय होती है। किन्तु वह जो कुछ कहना चाहता है वह शब्द का प्रतिपाद्य ही होता है उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता। जो कुछ वह कहना चाहता है वह अभिप्रायरूप (रसादिरूप) भी हो सकता है और उससे भिन्न (अलङ्कारादिरूप) भी हो सकता है। वह चाहे जिस रूपवाला क्यों न हो उसके प्रत्यायन में या तो वाचकत्वव्यापार हो सकता है या वाचकत्व से भिन्न कोई और व्यापार हो सकता है। वाचकत्वव्यापार वहाँ पर हो ही नहीं सकता, इस बात का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। अतः उससे भिन्न कोई अन्य सम्बन्ध ही हो सकता है। यह अन्य सम्बन्ध और कुछ नहीं केवल व्यंजना ही है और उसी व्यंजना के द्वारा अभिप्रेत या अनभिप्रेत अर्थ का प्रत्यायन होता है। व्यंजकत्व सर्वदा लिंगत्व (हेतुता) रूप ही नहीं होता और न उसका समावेश सर्वदा अनुमान में किया जा सकता है। क्योंकि यह देखा जा चुका है कि दीपालोक में व्यंजकता तो होती है किन्तु उसे अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। जब सभी व्यंजनायें अनुमान में नहीं आ सकती तब अनुमान में उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव जिस प्रकार वाच्य शब्दों का प्रतिपाद्य होता है वैसे ही व्यंग्य भी शब्दों का प्रतिपाद्य होता है। जिस प्रकार वाच्य को हम शब्दों का सम्बन्धी

मानते हैं उसी प्रकार व्यङ्ग्य को भी शब्दों का सम्बन्धी मानना पड़ता है। जिस प्रकार वाच्य को हम लिङ्गी (साध्य) की कोटि में नहीं रख सकते उसी प्रकार व्यंग्य को भी हम लिङ्गी अर्थात् साध्य की कोटि में नहीं रख सकते। इस प्रकार नैय्यायिकों को भी व्यंजना की स्वतन्त्र सत्ता माननी ही पड़ेगी। हाँ शब्दों का कुछ विषय ऐसा अवश्य होता है जो अनुमान के क्षेत्र में आता है। उसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है कि वक्ता के शब्दप्रकाश की इच्छा और उसके अर्थप्रकाश की इच्छा अनुमान का ही विषय होती है। उस इच्छा की प्रतीति वाच्यरूप में नहीं होती किन्तु औपाधिक रूप में होती है। औपाधिक का अर्थ है विशेषण के रूप में प्रतीत होना। 'इस वक्ता का यह अर्थ विवक्षित है' इस में वक्ता की इच्छा अर्थ के विशेषण के रूप में प्रतीत होती है। (नैय्यायिकों के मत में प्रथमान्त विशेष्यक शाब्दबोध होता है। अतः उससे भिन्न तत्त्व प्रकार (विशेषण) के रूप में माने जाते हैं।) यदि प्रतिपादनीय अर्थ को लिङ्गी (साध्य) की कोटि में रक्खा जायगा तो उसके विषय में लौकिक लोग ही अनेक प्रकार की जो विप्रतिपत्तियाँ किया करते हैं वे किस प्रकार सिद्ध हो सकेंगी? उनका तो अभाव ही हो जायगा। आशय यह है कि अनुमान-जन्य ज्ञान यथार्थज्ञान होता है। उसमें किसी को कभी कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती और न उसकी सच्चाई में कभी कोई संदेह ही उठता है। सांसारिक व्यक्ति किसी के कहे हुये वाक्य के अर्थ की सच्चाई में संदेह भी करते हैं, उसका खण्डन भी करते हैं और उससे असहमत भी होते हैं। यदि वाक्य के व्यंग्यार्थ को अनुमान का विषय माना जायगा तो इन अनुपपत्तियों का क्या होगा? इनकी तो सत्ता ही मिट जायगी। 'वक्ता कुछ कहना चाहता है' इसमें किसी को न संदेह होता है और न अनुपपत्ति। अतः यह अनुमान का विषय हो सकता है। यह है प्रस्तुत प्रकरण का सार।

(ध्वन्या०) **यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित्क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्व्यङ्ग्यस्यापि। काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति शक्यते वक्तुम्।**

(अनु०) और जिस प्रकार वाच्य के विषय में दूसरे प्रमाण के अनुगम के द्वारा कहीं सम्यक्प्रतीति किये जाने में उसके प्रमाणान्तर विषय हो जाने पर भी शब्दव्यापार की विषयता नष्ट नहीं होती वह व्यंग्य का भी होता है और काव्यविषय में व्यंग्यप्रतीतियों का सत्यासत्य निरूपण अप्रयोजनीय ही होता है; अतः वहाँ पर प्रमाणान्तर व्यापार परीक्षा उपहास के लिये ही होती हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यंग्य की प्रतीति सर्वत्र लिङ्गी की प्रतीति ही होती हैं।

(लो०) ननु यदा व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतिपन्नस्तदासत्यत्वनिश्चयोऽस्यानुमानादेव प्रमाणान्तरात्क्रियत इति पुनरप्यनुमेय एवासौ। मैवम्, वाच्यस्यापि सत्यत्वनिश्चयोऽनुमानादेव। यदाहुः—'आप्तवादाविसंवादसामान्यादत्र चेदनुमानता' इति।

न चैतावता वाच्यस्य प्रतीतिरानुमानिकी किन्तु तद्गतस्य ततोऽधिकस्य सत्यत्वस्य तद्व्यङ्ग्येऽपि भविष्यति। एतदाह—**यथा चेत्यादिना।**

एतच्चाभ्युपगम्योक्तं न त्वनेन नः प्रयोजनमिति। **काव्यविषये चेति। अप्रयोजकत्वमिति।** नहि तेषां वाक्यानामग्निष्टोमादि वाक्यवत् सत्यार्थप्रवर्तनद्वारेण प्रवर्तकत्वाय प्रामाण्यमन्विष्यते, प्रीतिमात्रपर्यवसायित्वात्। प्रीतेरेव चालौकिकचमत्काररूपाया व्युत्पत्त्यङ्गत्वात्। एतच्चोक्तं वितत्य प्राक्। **उपहासायैवेति।** नायं सहृदयः केवलं शुष्कतर्कोपक्रमकर्कशहृदयः प्रतीतिं परामष्टुं नालमित्येष उपहासः।

(अनु०) (प्रश्न) जब व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतिपत्ति हो गई तब इसके सत्यत्व का निश्चय दूसरे प्रमाण अनुमान से ही किया जाता है इस प्रकार फिर भी यह अनुमानगम्य ही हुआ। (उत्तर) ऐसा नहीं। वाच्य के भी सत्यत्व का निश्चय अनुमान से किया जाता है। जैसा कि कहते हैं—

'यदि यहाँ पर आप्तवाद के अविसंवाद (सत्यत्व) रूप सामान्य हेतु से अनुमानता मानी जाय' इत्यादि।

केवल इतने से ही वाच्य की प्रतीति आनुमानिकी नहीं हो जाती किन्तु उससे भी अधिक तद्गत सत्यत्व की (प्रतीति आनुमानिकी हो जाती है।) वह व्यङ्ग्य में भी हो जायगा। यह कहते हैं—'यथा च' इत्यादि के द्वारा।

और यह स्वीकार करके कह दिया गया है, इससे हमारा कोई प्रयोजन तो है ही नहीं। 'और काव्य के विषय में' यह। 'अप्रयोजकत्व' यह। उन वाक्यों का अग्निष्टोम इत्यादि वाक्यों के समान सत्य अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा प्रवर्तकत्व के लिये प्रमाण का अन्वेषण नहीं किया जाता क्योंकि वह प्रतीतिमात्रपर्यवसायी होता है और क्योंकि अलौकिक चमत्कार रूप प्रतीति ही व्युत्पत्ति का अङ्ग होती है। यह विस्तारपूर्वक पहले समझा दिया गया। 'उपहास के लिये ही' यह। उपहास यह है कि यह सहृदय नहीं है, केवल शुष्क तर्कों के उपक्रम के कारण कर्कश हृदयवाला है और प्रतीति का परामर्श करने में समर्थ नहीं हैं।

तारावती—(प्रश्न) व्यङ्ग्य अर्थ को हम मान लेते हैं। किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ ठीक है या नहीं इसके लिये तो हमें फिर भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ेगा। अनुमान से ही यह सिद्ध किया जायगा कि जो कुछ व्यक्त किया गया है वह सत्य है या नहीं। ऐसी दशा में जिस अनुमान से पीछा छुड़ाया था वह पुनः गले पड़ गया। वाक्य के अर्थ में तभी प्रामाणिकता आती है जब वह दूसरे प्रमाणों के मेल में ठीक बैठ जाय। अतः यह मान लेने पर भी प्रतिपाद्य व्यङ्ग्यार्थ लिङ्गी नहीं हो सकता यह तो अनिवार्य ही है कि व्यक्त अर्थ की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उसे लिङ्गी (साध्य) बनाया जाय। इस अनुमान से आप कैसे पीछा छुड़ायेंगे ? (उत्तर) यह कोई अनुपपत्ति नहीं कही जा सकती। वाच्यार्थ के भी सत्यत्व की परीक्षा तो अनुमान से ही होगी। पहले वाक्यार्थबोध हो जायगा, तत्त्व संवादक (लौकिक

सत्य से मेलखानेवाले) अनुनान की प्रवृत्ति होगी। वाक्यार्थ शब्द का विषय और उसकी सत्यता अनुमान का विषय। जिस प्रकार वाच्य के विषय में प्रमाणान्तर का अनुगमन करके उसके ठीक होने की परीक्षा की जाती है किन्तु उस प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति से शब्दव्यापार की विषयता समाप्त नहीं हो जाती वैसे ही यहाँ पर भी व्यङ्ग्यार्थ की परीक्षा दूसरे प्रमाणों से करने पर भी उसकी शब्दविषयता समाप्त नहीं हो जाती। यही बात श्लोकवार्तिक की निम्नकारिकाओं में कही गई है—

> आप्तवादाविसंवादसामान्यादत्रचेदनुमानता ।
> 'निर्णयस्तावता सिद्धयेद्बुद्ध्युत्पत्तिर्न तत्कृता ॥
> अन्यदेव हि सत्यत्वमाप्तवादत्वहेतुकम् ।
> वाक्यार्थश्चान्य एवेति ज्ञातः पूर्वतरं ततः ॥
> तत्र चेदाप्तवादेन सत्यत्वमनुमीयते ।
> वाक्यार्थप्रत्ययस्यात्र कथं स्यादनुमानता ॥'इति।

अर्थात् 'यदि कहा जाय कि वाक्यार्थबोध में अनुमान की प्रक्रिया लागू होती है और उसमें आप्तवाद का सत्यरूप में सङ्घटित हो जाना ही सामान्य हेतु होता है तो इस पर कहा जा सकता है कि उतने से अर्थ की सत्यता का निर्णय तो सिद्ध हो जाता है किन्तु वाक्यार्थ बुद्धि उस (अनुमान) के द्वारा उत्पन्न नहीं की जाती सत्यत्व और वस्तु है जिसमें आप्तवादत्व हेतु के रूप में आता है और वाक्यार्थ अन्य ही वस्तु है यह उससे बहुत पहले जाना जा चुका है अब उन दोनों व पृथक् वस्तुओं में यदि एक वस्तु सत्यत्व का आप्तवाद के द्वारा अनुमान किया जाता है तो यहाँ पर वाक्यार्थ प्रत्यय अनुमान के अन्तर्गत कैसे आयगा ?' इन कारिकाओं का आशय यही है कि वाच्यार्थ में अनुमान का उपयोग न होता हो यह बात नहीं है। उसमें अनुमान का योग होता है और वह अनुमान वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक तथा उससे अतिरिक्त अंश सत्यत्व का साधक होता है। इतने से ही यह तो नहीं कहा जा सकता कि वाच्यार्थप्रतीति ही आनुमानिक हो गई। इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थप्रतीति अन्य वस्तु है और सङ्गत सत्य की परीक्षा दूसरी वस्तु। सत्य की परीक्षा में अनुमान का उपयोग हो सकता है; किन्तु इतने से ही व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता। आप के प्रश्न के उत्तर में यहाँ तक जो कुछ कहा गया है वह सब आपकी इस बात को मानकर कहा गया है कि व्यंग्यार्थ की सत्यता की परीक्षा करने के लिये अनुमान की आवश्यकता होती है। वास्तविकता तो यह है कि हम काव्य में व्यंजना पर विचार कर रहे हैं। अतः हमें इस बात की आवश्यकता ही नहीं कि हम व्यंजना के सत्यत्व-असत्यत्व को सिद्ध करने पर विचार करें। व्यंग्यार्थ के सत्यत्व-असत्यत्व की परीक्षा तो लोक में होती है जहाँ उस वाक्य को लेकर उसके सत्यत्व के आधार पर जनसमूह की प्रवृत्ति निर्दिष्ट कार्य में हुआ करती है। उदाहरण के लिये 'अग्निष्टोमेन यजेत' वाक्य को लीजिये। इसमें अग्निष्टोम यज्ञ करने का आदेश दिया गया है। यदि अग्निष्टोम से यज्ञ करना वस्तुतः लाभकर है तथा सत्य भी है तब जो जनता की प्रवृत्ति उस ओर होगी, अन्यथा लोग उस आदेश को नहीं मानेंगे। अतः अग्निष्टोम के सत्यत्व की

परीक्षा के लिये दूसरे प्रमाणों का अन्वेषण उपयुक्त तथा आवश्यक होगा। इसके प्रतिकूल काव्यवाक्यों का उद्देश्य किसी कार्य का आदेश देना नहीं होता। उनका मन्तव्य होता है वेद्यान्तरस्पर्शशून्य आनन्दमात्र में अवस्थिति। जब परिशीलकों के अन्तःकरण अलौकिक चमत्काररूप आनन्द में ही पर्यवसित हो जाते हैं तब वह आनन्दात्मक सत्ता ही व्युत्पत्ति का आधान करनेवाली होती है। अर्थात् परिशीलकों का अन्तःकरण पतिपाद्य आनन्द भावना से एक रूप होकर जिस उपदेश को ग्रहण कर लेता है काव्य की वही व्युत्पत्ति कही जाती है। अत एव काव्य में सत्यत्व-असत्यत्व की परीक्षा ही मिथ्या है। काव्य का सत्यत्व तो परिशीलकों की अन्तरात्मा को आनन्दमय बना देना ही है। अत एव जो व्यक्ति काव्य के सत्यत्व की परीक्षा के लिये अनुमान का अन्वेषण करता है उसकी हँसी ही उड़ाई जाती है। हँसी की तो बात यही है कि जो व्यक्ति तर्क का सहारा लेकर काव्यानन्द का भी निरूपण करना चाहता है वह सहृदय नहीं कहा जा सकता। उसका हृदय शुष्क तर्कों के उपक्रम के कारण अत्यन्त कर्कश हो गया है। अत एव वह काव्यानन्द की प्रतीति का परामर्श करने में समर्थ हो ही नहीं सकता। बस यही उपहास की बात है। अत एव यह नहीं कहा जा सकता कि व्यंग्यप्रतीति सर्वत्र लिंगी की प्रतीति ही होती है।

(ध्वन्या०) यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं तद्ध्वनिव्यवहारस्याप्रयोजकम्। अपि तु व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दानां व्यापार औत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाऽप्यभ्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम्। तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानाञ्च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यत्न आरब्धः। तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यञ्जकत्वम्। तदन्तःपातित्वेऽपि तस्य हठादभिधीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत् प्रकाशनं विप्रतिपत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये वा तत्क्रियमाणमनतिसन्धेयमेव। न हि सामान्यमात्रलक्षणेनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुम्। एवं हि सति सत्तामात्रलक्षणे कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनरुक्त्यप्रसङ्गः तदेवम्—

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसञ्ज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्॥३३॥

(अनु०) और जो शब्दों का व्यंजकत्व अनुमेयरूप व्यङ्ग्यविषयक होता है वह ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक नहीं होता। अपितु व्यंजकनामा रूपवाला शब्दों का व्यापार शब्दार्थ सम्बन्ध को औत्पत्तिक सहनेवाले के द्वारा भी स्वीकार किया जाना चाहिये यह दिखलाने के लिये प्रस्तुत किया गया है। वह वाचक और अवाचक दोनों प्रकार के शब्दों का व्यंजकत्व निस्सन्देह कभी लिङ्ग के रूप में कभी दूसरे रूप में सभी वादियों के द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता यह प्रदर्शित करने के लिये हमने• यह यत्न प्रारम्भ किया है। वह इस प्रकार गुणवृत्ति और वाचकत्व इत्यादि शब्दप्रकारों से व्यङ्ग्यत्व नियमपूर्वक ही विलक्षण होता है। हठपूर्वक उस (ध्वनि) के उनमें अन्तःपातित्व के कहे जाने पर भी विप्रतिपत्ति का खण्डन

करने के लिये अथवा सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये ध्वनिरूप जो उनकी विशेषताओं का प्रकाशन वह किये जाने पर उसका अनादर नहीं किया जाना चाहिये। सामान्य क्षणमात्र से ही उपयोगी विशेष लक्षणों का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर निस्सन्देह सत्तामात्र का लक्षण कर देने पर समस्त वस्तु के लक्षणों की पुनरुक्ति का दोष होगा। अतः इस प्रकार—

'जो काव्य का ध्वनिनामक प्रकार मनीषियों के लिये अविदित के समान असहमति का विषय था, वह यह व्यक्त कर दिया गया ॥३३॥

(लो०) नन्वेवं तर्हि मा भूद्यत्र यत्र व्यञ्जकता तत्र तत्रानुमानत्वम्, यत्र यत्रानुमानत्वं तत्र तत्र व्यञ्जकत्वमिति कथमपह्नूयत इत्याशङ्क्याह—

यत्त्वनुमेयेति। तद्व्यञ्जकत्वं न ध्वनिलक्षणमभिप्रायव्यतिरिक्तविषयाव्यापारादिति भावः। नन्वभिप्रायविषयं यद्व्यञ्जकत्वमनुमानकयोगक्षेमं तच्चेन्न प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारस्य तर्हि किमर्थं तत्पूर्वमुपक्षिप्तमित्याशङ्क्याह—**अपि त्विति**। एतदेव सङ्क्षिप्य निरूपयति—**तद्धीति**। यत एव हि क्वचिदनुमानेनाभिप्रायादौ क्वचित्प्रत्यक्षेण दीपालोकादौ क्वचित्कारणत्वेन गीतध्वन्यादौ क्वचिदभिधया विवक्षितान्यपरे क्वचिद्गुणवृत्या अविवक्षितवाच्येऽनुगृह्यमाणं व्यञ्जकत्वं दृष्टं तत एव तेभ्यः सर्वेभ्यो विलक्षणमस्य रूपं न सिध्यति तदाह—**तदेवमिति**।

ननु प्रसिद्धस्य किमर्थं रूपसङ्कोचः क्रियते [अभिधाव्यापारगुणवृत्यादेः। तस्यैव सामग्र्यन्तरोपनिपाताद्विशिष्टं रूपं तदेव व्यञ्जकत्वमुच्यतामित्याशङ्क्याह—**तदन्तःपातित्वेऽपीति**। न वयं संज्ञानिवेशनादि निषेधाम इति भावः। विप्रतिपत्तिस्तादृग्विशेषो नास्तीति व्युत्पत्तिः संशयाज्ञाननिरासः। **न हीति**। उपयोगिषु विशेषेषु यानि लक्षणानि तेषाम्। उपयोगिपदेनानुपयोगिनां काकदन्तादीनां व्युदासः। **एवं हीति**। त्रिपदार्थसङ्करी सत्तेत्यनेनैव द्रव्यगुणकर्मणां लक्षितत्वाच्छ्रुतिस्मृत्यायुर्वेदधनुर्वेदप्रभृतीनां सकललोकयात्रोपयोगिनामनारम्भः स्यादितिभावः। विमतिविषयत्वे हेतुः—**अविदितसतत्त्व इति**। अत एवाधुनात्र न कस्यचिद्विमतिरेतस्मात् क्षणात्प्रभृतीति प्रतिपादयितुम्—**आसीत्** इत्युक्तम् ॥३३॥

(अनु०) (प्रश्न) तो फिर इस प्रकार जहाँ जहाँ व्यञ्जकता वहाँ वहाँ अनुमान यह न माना जाय इसको कैसे छिपाया जाय कि जहाँ जहाँ अनुमान होता है वहाँ वहाँ व्यंजकत्व होता है। यह शङ्का करके कह रहे हैं—'जो कि अनुमेय' इत्यादि। भाव यह है वह व्यंजकत्व ध्वनि का लक्षण नहीं है क्योंकि उससे अतिरिक्त विषय में उसका व्यापार नहीं होता। (प्रश्न) अभिप्रायविषयक जो व्यंजकत्व होता है और जिसका योगक्षेम अनुमान से ही एकरूप होता है यदि वह ध्वनिव्यवहार का प्रयोजन नहीं होता तो उसको पहले ही प्रस्तुत क्यों किया? यह शङ्का करके कहते हैं—'अपितु' इत्यादि। इसी को संक्षिप्त करके निरूपित करते हैं—'वह निस्सन्देह' यह। क्योंकि कहीं अभिप्राय इत्यादि में अनुमान के द्वारा, कहीं दीपालोक

इत्यादि में प्रत्यक्ष के द्वारा, कहीं गीतध्वनि इत्यादि में कारणत्व के द्वारा कहीं विवक्षितान्य-परवाच्य में अभिधा के द्वारा कहीं अविवक्षितवाच्य में गुणवृत्ति के द्वारा अनुगृहीत किया जाता हुआ व्यंजकत्व देखा गया है उसी से इसका रूप हमारे लिये उन सबसे विलक्षण सिद्ध होता है। वही कहते हैं—'वह इस प्रकार' इत्यादि।

(प्रश्न) प्रसिद्ध अभिधा और गुणवृत्ति इत्यादि का रूपसंकोच क्यों किया जा रहा है? दूसरी सामग्री के उपनिपात से जो विशिष्ट रूप ही व्यंजकत्व कह दिया जाय यह आशङ्का करके कहते हैं—'उसके अन्दर आने से भी' यह। भाव यह है कि हम संज्ञानिवेशन आदि का निषेध नहीं कर रहे हैं। विप्रतिपत्ति का अर्थ है—उस प्रकार का विशेषतत्त्व (व्यंजनाव्यापार) नहीं है यह व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति का अर्थ है संशय और अज्ञान का निराकरण। 'नहि' इत्यादि। उपयोगी विशेषों के जो लक्षण हैं उनका। उपयोगी शब्द से अनुपयोगी काकदन्त इत्यादि का निराकरण हो जाता है। 'इस प्रकार निस्सन्देह' इत्यादि। भाव यह है कि 'तीन पदार्थों से सङ्कीर्ण सत्ता' इतने से ही द्रव्यगुणकर्मों के लक्षित होने से श्रुति स्मृति आयुर्वेद इत्यादि सभी लोकयात्रोपयोगी वस्तुओं का आरम्भ ही न हो। विमति-विषयता में हेतु बतलाते हैं—'अविदितसतत्त्व' यह। अत एव इसी क्षण से लेकर इस विषय में किसी की विमति नहीं है यह प्रतिपादन करने के लिये ही 'था' इस शब्द का प्रयोग किया गया।

तारावती—(प्रश्न) यदि आप व्यंजना को अनुमान रूप नहीं मानते और इस व्याप्ति को अंगीकार नहीं करते कि जहाँ जहाँ व्यंजना होती है वहाँ वहाँ अनुमान होता है तो जाने दीजिये। इसके विपरीत तो व्याप्ति बन ही सकती है कि जहाँ जहाँ अनुमान होता है वहाँ वहाँ व्यंजना होती है इस व्याप्ति को आप कैसे छिपा सकते हैं? यहाँ पर पूछनेवाले का आशय यह है कि हम इस बात को मान सकते हैं कि सब प्रकार की व्यंजनायें अनुमान नहीं कही जा सकती। किन्तु इस बात का तो प्रतिपादन ग्रन्थकार ने ही किया है कि शब्दों के अर्थ के अतिरिक्त वाक्यार्थ रूप जो वक्ता का अभिप्राय होता है वह अनुमानगम्य ही हुआ करता है। अतः यहाँ पर ऐसी व्याप्ति बनाई जा सकती है कि जहाँ जहाँ अभिप्राय रूप वाक्यार्थ में अनुमिति होती है वहाँ वहाँ व्यंजनाव्यापार होता है अर्थात् वक्ता का अनुमित अभिप्राय व्यंग्य ही होता है। यदि समस्त व्यंजनायें अनुमान नहीं हो सकती (क्योंकि प्रदीप इत्यादि बिना अनुमान के ही व्यंजक होते हैं) तो अनुमित अभिप्राय में व्यंजना का निषेध कौन करेगा? (उत्तर) (इस पर तो पहले ही विचार किया जा चुका है कि) शब्दों की जिस व्यंजकता से अभिप्रायरूप ऐसे वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है जो अनुमान का विषय बनने की क्षमता रखता है वैसी अभिव्यक्ति ध्वनि की प्रयोजिका नहीं होती। कारण यह है कि उस प्रकार की व्यंजना का व्यापार अभिप्राय की अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहता है। उसका प्रसार अभिप्राय से अतिरिक्त अन्य वस्तु, रस और अलङ्कार की व्यंजनाओं तक नहीं हो सकता। इस प्रकार अभिप्राय की व्यंजना में अव्याप्ति दोष आ जाता है और वह व्यंजना का पूरा रूप नहीं मानी जा सकती तथा वह ध्वनि की प्रयोजिका नहीं होती। (प्रश्न) यदि

अभिप्रायविषयक व्यंजकता ध्वनि व्यवहार की प्रयोजिका नहीं होती तो फिर आपने इस ध्वनि-निरूपण के प्रकरण में उसका उल्लेख ही क्यों किया ? आपका उल्लेख करना ही यह सिद्ध करता है कि अभिप्रायव्यंजना भी ध्वनिसिद्धान्त की प्रयोजिका होती है। यह अभिप्रायव्यंजना अनुमान से गतार्थ हो जाती है क्योंकि इसका योगक्षेम अनुमान का जैसा ही होता है। इस प्रकार अनुमान और व्यंजकत्व का व्याप्य-व्यापक भाव मानना अनिवार्य हो जाता है। इसका समाधान आपके पास है ? (उत्तर) हमने जो पिछले प्रकरण में अभिप्राय व्यंजना का उल्लेख किया है उससे यह कभी सिद्ध नहीं होता कि अभिप्राय व्यंजना ध्वनितत्त्व की प्रयोजिका होती है। अभिप्राय व्यंजना के उल्लेख का मन्तव्य केवल इतना ही है कि वहाँ पर व्यंजना सिद्ध की जा रही थी और मैं यह दिखलाना चाहता था कि व्यंजना के सिद्धान्त को वे लोग भी अस्वीकार नहीं कर सकते जो लोग शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य नहीं मानते अपितु औत्पत्तिक मानते हैं। इस प्रकरण के प्रारम्भ करने का मेरा मन्तव्य यही है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी सिद्धान्त का माननेवाला क्यों न हो यह व्यंजना तो उसे माननी ही पड़ेगी, चाहे वह लिंग और लिंगी (हेतु और साध्य) के रूप में माने या किसी और रूप में। वाचक शब्दों में भी व्यंजना होती हैं और अवाचक शब्दों में भी। यह व्यंजना कहीं अनुमान के रूप में प्रकाशित होती है जैसे अभिप्राय की व्यंजना में (इस व्यंजना को मानने के लिये नैय्यायिक बाध्य हैं।) कहीं प्रत्यक्ष के द्वारा व्यंजना होती है जैसे दीपालोक वस्तुओं की व्यंजना करता है। कहीं कारण के रूप में व्यंजना होती है जैसे गीतध्वनि इत्यादि में रस की कारणता विद्यमान है। कहीं व्यंजना में अभिधा से अनुगृहीत होती है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में अभिधामूलक व्यंजना होती है। कहीं गुणवृत्ति के द्वारा व्यंजना अनुगृहीत होती है जैसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि में लक्षणामूलक व्यंजना हुआ करती है। इस प्रकार अनुमान, प्रत्यक्ष, कारणता, अभिधा और लक्षणा ये सब व्यंजना के अनुग्राहक ही होते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि व्यंजना नियम से सबका रूप नहीं अपितु इन सबसे विलक्षण होती है।

(प्रश्न) व्यंजना में अभिधाव्यापार गुणवृत्ति इत्यादि तो रहा ही करते हैं। ये तत्त्व प्रसिद्ध ही हैं। इनका अपलाप किया ही नहीं जा सकता। आपने एक दूसरी वस्तु की और कल्पना कर ली और उसका नाम व्यंजना रख लिया। इस कल्पित वस्तु से प्रसिद्ध अभिधा इत्यादि व्यापारों के रूपसङ्कोच की क्या आवश्यकता ? उचित तो यह है कि स्वयं व्यंजना की यह परिभाषा कर दीजिये कि अभिधा और गुणवृत्ति ही दूसरी सामग्री के आ पड़ने से जो विशिष्ट रूप धारण कर लेती हैं वही व्यंजना है। यह व्यंजना और कुछ नहीं विशेष प्रकार को अभिधा और विशेष प्रकार की गुणवृत्ति ही है। अपने ही विशिष्ट प्रकार के द्वारा किसी एक वस्तु का रूपसङ्कोच कैसे किया जा सकता है ? (उत्तर) यदि आप हठपूर्वक हमारी बतलाई हुई वस्तु (व्यंजना) की दूसरी संज्ञा विशिष्ट अभिधा और विशिष्ट व्यंजना ही रखना चाहते हैं तो हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। आप उसका यही नामकरण कर लीजिये। विप्रतिपत्ति तो वस्तुतः किसी तत्त्व के विषय में होती है। क्योंकि विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है विरुद्ध प्रतिपत्ति या किसी तत्त्व के विषय में यह कहना कि जो विशेष बतलाया जा रहा है

वह नहीं है । यही विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है। जब आप उस तत्त्व को मानते ही हैं तब उस विषय में जो भी विरोध उत्पन्न होंगे उनका निराकरण करने के लिये आपको उसकी व्याख्या करनी ही होगी फिर आप नाम उसे चाहे जो दें । दूसरी बात यह है कि यदि आप उस तत्त्व को मानते हैं तो सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये भी आपको उसकी व्याख्या करनी ही होगी । व्युत्पत्ति का अर्थ है सन्देह और अज्ञान का निराकरण । सहृदयों को उस तत्त्व के विषय में सन्देह भी हो सकता है और उसके विषय में उनमें अज्ञान भी हो सकता है । उसका निराकरण तो आवश्यक है ही । इस प्रकार आप उस विशिष्ट तत्त्व को छलपूर्वक छिपा नहीं सकते और न आपको उसका विरोध ही करना चाहिये । आप यह भी नहीं कह सकते जब व्यंजना विशिष्ट प्रकार की अभिधा या विशिष्ट प्रकार की गुणवृत्ति ही है तब अभिधा और गुणवृत्ति का सामान्य लक्षण कर देने भर से वह विशिष्ट तत्त्व भी गतार्थ हो जायगा; उसकी पृथक् व्याख्या करने की क्या आवश्यकता ? जब सामान्य का लक्षण बना दिया जाता है तब उस सामान्य के अन्दर बहुत से उपयोगी विशेष तत्त्व रह जाते हैं; उन तत्त्वों का लक्षण बनाना भी आवश्यक ही होता है । यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्य का लक्षण बना देने के बाद विशेषों का लक्षण बनाना व्यर्थ होता है हाँ यदि अनुपयोगी काकदन्त जैसी कोई वस्तु हो तो उसका लक्षण बनाना व्यर्थ भी हो सकता है । उदाहरण के लिये वैशेषिक दर्शन में पहले तो सातों पदार्थों और उनके अवान्तर भेदों का परिगणन किया गया; उसके बाद 'सदनित्यं.....' इत्यादि सूत्र के द्वारा यह बतलाया गया कि द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थ सत्तावाले अनित्य इत्यादि होते हैं। सत्ता का होना इत्यादि सामान्य के लक्षण हैं । यदि कहो कि सामान्य के लक्षण बना देने के बाद विशेष के कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती तो फिर द्रव्य इत्यादि के अवान्तर भेदों के लक्षण ही व्यर्थ हो जायँ और श्रुति स्मृति आयुर्वेद धनुर्वेद इत्यादि जो तत्त्व समस्त लोकजीवन के लिये उपयोगी हैं उनका तो प्रारम्भ ही न हो । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्य लक्षण बना देने के बाद विशेष का लक्षण बनाना व्यर्थ हो जाता है । अतएव सामान्य अभिधा और गुणवृत्ति का लक्षण बना देने पर भी उसमें विशिष्ट रूपसे रहनेवाली व्यञ्जना की व्याख्या निरर्थक नहीं कही जा सकती । इस प्रकार—

'काव्य का यह प्रकार ध्वनि के नाम से प्रसिद्ध है । अभीतक विद्वानों की असहमति का यह इतना अधिक विषय था मानो यह लोगों को विदित ही न हो ।' यह यहाँ पर । व्यक्त कर दिया गया !

अविदित होने के समान होना असहमति का हेतु है । यहाँ पर 'आसीत्' इस भूतकाल की क्रिया का प्रयोग किया गया है । इसका आशय यह है कि अब जब कि मैंने बहुत ही साङ्गोपाङ्ग रूप में ध्वनि का विवेचन कर दिया है यह ध्वनि सिद्धान्त का विरोध इसी क्षण से अतीत की वस्तु बन गया । (अब इसका विरोध करने का साहस किसी को भी न होगा) ॥३३॥

(ध्वन्या०) प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥३४॥

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्येत । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता ।

(अनु०) 'काव्य का दूसरा प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक दिखलाई देता है जिसमें व्यङ्ग्य के साथ अन्वय करने में वाच्यचारुता अधिक प्रकृष्ट हो जाय' ॥३४॥

ललनालावण्य के समान जो व्यङ्ग्य अर्थ पहले प्रतिपादित किया गया था उसकी प्रधानता होने पर 'ध्वनि' यह कहा गया । उसके गौण हो जाने से वाच्यचारुता के प्रकर्ष में गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का काव्यप्रभेद प्रकल्पित किया जाता है । उसमें तिरस्कृतवाच्य (शब्दों) के द्वारा प्रतीत होनेवाले वस्तुमात्र व्यङ्ग्य के वाच्यरूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है ।

(लो०) एवं यावद्ध्वनेरात्मीयं रूपं भेदोपभेदसहितं यच्च व्यञ्जकभेदमुखेन रूपं तत्सर्वं प्रतिपाद्य प्राणभूतं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमेकप्रघट्टकेन शिष्यबुद्धौ विनिवेशयितुं व्यञ्जकवादस्थानं रचितमिति ध्वनिं प्रति यद्वक्तव्यं तदुक्तमेव । अधुना तु गुणीभूतोऽप्ययं व्यङ्ग्यः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुना द्वारेण तस्यैवात्मकत्वं समर्थयितुमाह—**प्रकार इति।** व्यङ्ग्येनान्वयो वाच्यस्योपस्कार इत्यर्थः । **प्रतिपादित इति** । 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यत्र । **उक्तमिति** । 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यत्रान्तरे व्यङ्ग्यं च वस्त्वादित्रयं तत्र वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य ये भेदा उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति—**तत्रेति ।**

(अनु०) इस प्रकार भेदोपभेदों के सहित ध्वनि के समस्त आत्मीयभेद और जो व्यंजक भेद के द्वारा रूप उस सबका प्रतिपादन कर (ध्वनि के) प्राणरूप में स्थित व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव को एक प्रघट्टक में ही शिष्यबुद्धि में निविष्ट करने के लिये व्यंजक के वादस्थान की रचना कर दी गई। इस प्रकार ध्वनि के विषय में जो कहना था वह कह ही दिया । अब तो गुणीभूत भी यह व्यङ्ग्य कविवाणियों को पवित्र करता है इसके द्वारा उसी के आत्मत्व का समर्थन करने के लिये कहते हैं—'प्रकार.....' इत्यादि । व्यङ्ग्य के साथ अन्वय अर्थात् वाच्य का उपस्कार । 'प्रतिपादन किया गया' यह । 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका में । 'कहा गया यह । 'यत्रार्थः शब्दो वा' इसके अन्दर । व्यङ्ग्य तो बस्तु इत्यादि तीन होते हैं, उसमें व्यङ्ग्यवस्तु के जो भेद बतलाये गये थे उनका क्रमशः गुणीभाव दिखलाते हैं–'वहाँ पर' यह ।

गुणीभूत व्यंग्य

तारावती—ध्वनि के विषय में जो कुछ कहना था वह सब यहाँ तक कह दिया गया । ध्वनि के विषय में सम्भावित वैमत्य, ध्वनि का स्वरूप, वैमत्यों का निराकरण, व्यंग्य की दृष्टि से ध्वनि के भेदोपभेद और व्यंजक की दृष्टि से ध्वनि के भेद तथा उनके स्वरूप इन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया, साथ ही ध्वनि का प्राणतत्त्व व्यंजनाव्यापार है । यह समझकर

व्यंजना के विषय में बादविवाद उठाया गया और एक प्रघट्टक में ही शिष्यगण व्यंजना का ठीक रूप समझ सकें इसके लिये अनेक पक्षों के द्वारा व्यंजना की सत्ता सिद्ध कर दी गई। अब ध्वनि का जहाँ तक सम्बन्ध है कुछ कहने को शेष नहीं रहा। इस विषय में जो कुछ कहना था वह सब कह दिया। यह व्यंजनातत्त्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि कविगण इसका आश्रय लेकर इसे मुख्यरूप में निबद्ध कर सकें और इसे ध्वनि के प्रतिष्ठित पद पर आसीन कर सकें तब तो कुछ कहना ही नहीं; यदि वे इसका सहारा लेते हैं और इसको मुख्य नहीं बना पाते गौणरूप में निबद्ध करके ही छोड़ देते तब भी व्यंग्यार्थ कविवाणी को पवित्र कर ही देता है। अत एव इस तत्त्व को काव्य में प्रमुखरूपता और काव्य की आत्मरूपता प्राप्त होनी ही चाहिये।

परिचय

चौंतीसवीं कारिका में गुणीभूतव्यङ्ग्य की परिभाषा दी गई है। इसका आशय यही है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य भी जब इतना महत्त्वपूर्ण होता है तब प्रधानीभूत व्यङ्ग्य पर आधृत ध्वनि का तो कहना ही क्या? कारिका का अर्थ यह है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ स्वयं प्रधानीभूत नहीं होता किन्तु उसका वाच्य के साथ अन्वय हो जाता है और व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाक्यार्थ में ही चारुता का उत्कर्ष होता है, उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं। यह भी काव्य का एक दूसरा प्रकार है और यह भी कविवाणी में प्रायः दृष्टिगत हुआ करता है। प्रथम उद्योत में यह बतलाया जा चुका है कि जिस प्रकार आँख नाक-कान इत्यादि अङ्गसंस्थान में सम्मिलित न हो सकनेवाला ललनाओं का लावण्य एक पृथक् ही वस्तु है जो समस्त अङ्गसंस्थान को आप्यायित किया करता है उसी प्रकार वाच्य अर्थों में सन्निविष्ट न हो सकने वाला व्यङ्ग्यार्थ एक पृथक् ही वस्तु है जो वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्टता को प्राप्त होकर ध्वनि का रूप धारण कर लेता है। यदि वही व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के साथ अन्वित हो जाय और व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ में चारुता का अधिक प्रकर्ष हो तो व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो जाता है जिससे इसका नाम गुणीभूत व्यङ्ग्य पड़ जाता है, यह काव्य का एक दूसरा ही भेद मान लिया जाता है। वाच्य के साथ व्यङ्ग्य का अन्वय होने का आशय यह है कि व्यंग्य वाच्य का उपस्कार कर देता है और इस प्रकार उसका गुण बन जाता है। इसीलिये इसे गुणीभूत कहने लगते हैं।

(ध्वन्या०) यथा—लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

(अनु०) 'यह यहाँ पर दूसरी ही कौन लावण्य का समुद्र है, जिसमें चन्द्रमा के साथ उत्पल तैर रहे हैं, जिसमें हाथी के मस्तक का तट ऊपर को उठ रहा है और जहाँ दूसरे कदली के स्तम्भ और मृणाल दण्ड विद्यमान हैं।'

(लो०) **लावण्येति**। अभिलाषविस्मयगर्भेयं कस्यचित्तरुणस्योक्तिः। अत्र सिन्धुशब्देन परिपूर्णता, उत्पलशब्देन कटाक्षच्छटाः, शशिशब्देन वदनं, द्विरदकुम्भतटीशब्देन स्तनयुगलं, कदलिकाण्डशब्देन दोर्युग्ममिति ध्वन्यते। तत्र चैषां स्वार्थस्य

सर्वथानुपपत्तेरन्धशब्दोक्तेन न्यायेन तिरस्कृतवाच्यत्वम् । स च प्रतीयमानोऽप्यर्थ-विशेषः 'अपरैव हि केयं' इत्युक्तिगर्भीकृते वाच्येंऽशे चारुत्वच्छायां विधत्ते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभानात् । सुन्दरत्वं चास्या-सम्भाव्यमानसमागमसकललोकसारभूतकुवलयादिभाववर्गस्य अतिसुभगैकाधिकरण-विश्रान्तिलब्धसमुच्चयरूपतया विस्मयविभावताप्राप्तिपुरस्कारेण व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतस्य तथा विचित्रस्यैव वाच्यरूपोन्मज्जनेनाभिलाषादिविभावत्त्वात् । अत एवेयति यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम् । अत एव ध्वनेरेवात्मत्वमित्युक्तचरं बहुशः ।

अन्ये तु जलक्रीडावतीर्णतरुणीजनलावण्यसुन्दरीकृतनदीविषयेयमुक्तिरिति सहृदयाः । तत्रापि चोक्तप्रकारेणैव योजना । यदि वा नदीसन्निधौ स्नानावतीर्णयुवति-विषया । सर्वथा तावद्विस्मयमुखेनेयतिव्यापाराद्गुणता व्यङ्ग्यस्य ।

(अनु०) 'लावण्य' इत्यादि । किसी तरुण की यह अभिलाषा और विस्मय से गर्भित उक्ति है । यहाँ सिन्धु शब्द से परिपूर्णता, उत्पल शब्द से कटाक्ष की शोभा, शशि शब्द से मुख, द्विरदकुम्भतटी शब्द से दो स्तन, कदली काण्ड शब्द से दोनों ऊरु और मृणाल दण्ड शब्द से दोनों बाँहें ध्वनित होती हैं । यहाँ इन शब्दों की स्वार्थ अनुपपत्ति के कारण अन्ध-शब्द में बतलाये हुये न्याय से तिरस्कार वाच्यत्व होता है । वह प्रतीयमान भी अर्थ विशेष 'यह दूसरी कौन है' इस उक्ति के गर्भीकृतवाच्य अंश में चारुता की छाया का आधान करता है क्योंकि व्यङ्ग्य समूह को नियन्त्रितकर वाच्य ही अपनी आत्मा को ऊपर उठाकर सुन्दर के रूप में अवभासित होता है । कुवलय इत्यादि वस्तुसमूह (सौन्दर्य में) समस्त लोक का सार-रूप है, उनका एक साथ में समागम सर्वथा असम्भावित है, किन्तु अत्यन्त मनोरम (स्त्रीरूप) एक अधिकरण को प्राप्तकर उसमें विश्रान्त होने के कारण वह समुच्चयरूप में स्थित हो गया है । इससे पहले तो उसको विस्मय की विभावरूपता प्राप्त हो जाती है फिर व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत उस प्रकार विचित्र तत्त्व को ही वाच्यरूप में उन्मज्जित होने से अलिभाषा इत्यादि की विभावरूपता प्राप्त हो जाती है जिससे उसमें सुन्दरता आ जाती है । अत एव यद्यपि इतने तक तो वाच्य की प्रधानता है तथापि रसध्वनि में उसको भी गौणरूपता प्राप्त हो जाती है यह बात सभी गुणीभूतव्यङ्ग्यों के प्रकार में मानी जानी चाहिये । इसीलिये बहुशः यह बात कही गई है कि ध्वनि को ही आत्मत्व प्राप्त होता है ।

दूसरे सहृदय तो कहते हैं कि जलक्रीड़ा के लिये अवतीर्ण तरुणीजन के लावण्यद्रव से सुन्दर बनाई हुई नदी के विषय में यह उक्ति है, उसमें भी उक्त प्रकार की ही योजना की जानी चाहिये । अथवा नदी के निकट स्नान के लिये युवतियों के विषय में यह उक्ति है । सब प्रकार से विस्मय के द्वारा इतना होने के कारण व्यङ्ग्य को गुणीभाव प्राप्त होता है ।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का गुणीभाव

तारावती—अब यहाँ पर यह दिखलाया जा रहा है कि व्यंग्य के जितने भी भेद बतलाये गये हैं वे सब गुणीभूत हो जाते हैं । व्यंग्य तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलङ्कार और रस । वस्तु व्यंजना दो प्रकार की होती है अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ।

अविवक्षितवाच्य दो प्रकार का होता है अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। सर्वप्रथम अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य को लीजिये—इसमें तिरस्कृत वाच्यों के द्वारा प्रतीतिगोचर होनेवाले व्यंग्यार्थ वस्तु का कदाचित् वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव हो जाता है। जैसे—कोई तरुण किसी नायिका तरुणी के सौन्दर्य पर रीझ कर अभिलाषा और विस्मय के साथ कह रहा है—

'यह कोई विचित्र प्रकार की एक भिन्न ही नदी दृष्टिगत हो रही है, नदी जल से परिपूर्ण होती है यह लावण्य से भरी हुई है, इसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं, इसमें हाथी की कुम्भतटी ऊपर को उठ रही है और इसमें दूसरे ही प्रकार के कदली स्तम्भ और मृणाल दण्ड दिखलाई पड़ रहे हैं।'

यहाँ सिन्धु (नदी) की उपमा से व्यक्त होता है कि नायिका लावण्य से परिपूर्ण है (सिन्धु समुद्र को भी कहते हैं और विशाल नदी को भी।) चन्द्रमा से मुख और कमलों से कटाक्ष की शोभा अभिव्यक्त होती है।) चन्द्रमा और कमल साथ-साथ तैर रहे हैं इस कथन से व्यक्त होता है कि नायिका के कटाक्ष तथा मुख दोनों चञ्चल हैं। मुख की चञ्चलता नायिका की विलास-चेष्टाओं को अभिव्यक्त करती है।) हाथी के कुम्भतट से दोनों स्तनों के विस्तार का, कदली स्तम्भों से दोनों ऊरुओं का और मृणाल दण्डों से दोनों भुजाओं का अभिव्यंजन होता है। यहाँ पर वाच्यार्थ यही है कि यह लावण्य की नदी है, इसमें कमल और चन्द्र साथ साथ तैर रहे हैं, हाथी का मस्तकतट उठता हुआ दिखलाई देता है और इसमें कदली स्तम्भ तथा मृणाल दण्ड पड़े हुये हैं। यह वाच्यार्थ बाधित है क्योंकि नदी जल-परिपूर्ण होती है लावण्य से भरी हुई नहीं; नदी में चन्द्र और कमल साथ-साथ तैर ही नहीं सकते और न लावण्य के प्रवाह में हाथी का मस्तक कदली स्तम्भ और मृणालदण्ड ही दृष्टिगत हो सकते हैं। अत एव जिस प्रकार 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' में दर्पण को अन्धा कहने में उसका अर्थ एकदम तिरस्कृत हो जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी चन्द्र, कमल इत्यादि शब्दों का वाच्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है। अत एव यहाँ पर मुख कटाक्ष इत्यादि के सौन्दर्य की जो प्रतीति होती है वह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य व्यंजना कही जायेगी। 'यह कोई दूसरी ही कौन नदी है अर्थात् यह किस प्रकार की नदी है यह समझ में नहीं आता।' इस उक्ति में जो वाच्यांश है, व्यंग्यार्थ उसी में काव्यचारुता की प्रतीति में हेतुभूत शोभा का आधान करता है। 'इसमें लावण्य भरा हुआ है' 'इसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' 'इसके कटाक्ष कमलों के समान सुन्दर हैं' इत्यादि व्यंग्यार्थ नीचा पड़ जाता है और वाच्यार्थ 'लावण्य-नदी में चन्द्रमा और कमल साथ-साथ तैर रहे हैं' में अधिक चमत्कार की प्रतीति होती है। इस प्रकार वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को दबाकर अपनी आत्मा को ऊपर उठा देता है और उसी में चारुता का प्रतिभास होता है। वाच्यार्थ में सुन्दरता यही है कि चन्द्र और कमल ये दोनों तत्त्व संसार में सुन्दरता का सार माने जाते हैं। किन्तु ये दोनों एकसाथ न तो कभी रहते हैं और न इनके रहने की सम्भावना ही की जा सकती है। किन्तु उनको एक अद्वितीय रमणीय नायिका का शरीर प्राप्त हो गया है जिससे वे अपने नैसर्गिक विरोध को छोड़कर एक साथ दृष्टिगत होने लगे हैं। इन दोनों का एकसाथ दृष्टिगत होना विस्मय का विभाव बन गया है। यह विस्मय की विभावरूपता पहले आती है, फिर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है जिससे नायिका के मुख नेत्र इत्यादि का सौन्दर्यबोध होता है। वह विस्मय को

उत्पन्न करनेवाला विचित्र तत्त्व ही वाच्य से उपस्कृत हो जाता है। अर्थात् कुवलय और चन्द्र इत्यादि का एक साथ होना एक विचित्र वाच्यत्व है, उसमें नायिका के मुख नेत्र इत्यादि के सौन्दर्य का समावेश हो जाता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का ही उपकार करता है और वाच्यार्थ ऊपर उठा हुआ दिखलाई देने लगता है जिससे हम कटाक्ष, वदन इत्यादि को कुवलय और चन्द्र इत्यादि के रूप में देखने लगते हैं। तब नायिका का मुखचन्द्र तथा नेत्रकमल इत्यादि अभिलाषा का विभाव बन जाते हैं। यही वाच्य की सुन्दरता का आशय है और इसीलिये व्यंग्य को केवल उपस्कारक और वाच्य का प्रधान माना गया है। इस प्रकार वाक्य की अपेक्षा गौण बनकर व्यंग्य गुणीभूत हो जाता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वाच्य की प्रधानता इतने ही अंश में है कि वाच्य विस्मय का विभाव बनकर और व्यंग्य से उपस्कृत होकर अभिलाषा का विभाव बन जाता है। इसके बाद जो नायक की रीति अभिव्यक्त होकर शृङ्गाररस के रूप में ध्वनित होती है उसके प्रति तो यह वाच्य गौण बन जाता है। रसध्वनि ही प्रधान हो जाती है। जहाँ कहीं गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है। वहाँ सर्वत्र यही दशा होती है कि पहले एक व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा गौण होता है; फिर वह वाच्यार्थ रसध्वनि में आत्मसमर्पण कर देता है और पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है। यही कारण है कि सामान्य व्यंजना को काव्य की आत्मा नहीं माना गया है अपितु अनेक बार यह कहा गया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि ही होती है। कुछ लोगों ने इस पद्य का अवतरण इस प्रकार लगाया है कि युवतियों का समूह जलक्रीडा के लिये किसी सरोवर में उतरा है जिससे सुन्दरियों के लावण्यरूप द्रव से नदी अधिक सुन्दर बन गई है। उस नदी का ही इस पद्य में वर्णन किया गया है। इस अवतरण में भी इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये। (नदी का वर्णन मानने में 'लावण्यसिन्धु' का अर्थ करना पड़ेगा लावण्य से परिपूर्ण नदी अथवा लावण्य के कारण सुन्दरता को प्राप्त नदी। उत्पल इत्यादि शब्दों में तो पहले की बतलाई हुई परिपाटी ही लागू होगी, उसमें उसी प्रकार व्यंजनायें मानी जावेंगी। किन्तु इस व्याख्या में यह दोष है कि एक तो सिन्धु का वर्णन प्रधान हो जाता है नायिका का नहीं। दूसरी बात यह है कुवलय और चन्द्र दोनों का एक में आना भी सिद्ध नहीं होता जो विस्मय का विभाव है। इस व्याख्या से सहृदय व्यक्ति का सरोवर की ओर आकृष्ट होना सिद्ध होता है नायिका की ओर नहीं, अतः वाच्य अभिलाषा का विभाव भी नहीं बनता। अतः यह व्याख्या त्याज्य है)। अथवा नायिका नदी के निकट स्नान करने के लिये अवतीर्ण हुई है, उस नायिका का वर्णन ही प्रस्तुत पद्य में किया गया है। चाहे कोई व्याख्या क्यों न की जाय चमत्कारात्मक व्यापार विस्मय के द्वारा ही होता है जोकि वाच्य के द्वारा अधिगत होता है। इसीलिये प्रत्येक पक्ष में व्यंग्य को गुणीभूत ही मानना पड़ता है।

(ध्वन्या०) अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता, यथोदाहृतम्—'अनुरागवती सन्ध्या' इत्येवमादि। तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशितत्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्—'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि। रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवद-

लङ्कारे दर्शितः, तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत् । व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावो दीपकादिविषयः ।

(अनु०) अतिरस्कृतवाच्य शब्दों से भी प्रतीयमान व्यङ्ग्य की कदाचित् वाच्यचारुत्व की अपेक्षा गुणीभाव हो जानेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यता हो जाती है, जैसे उदाहरण दिये हुये—'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि में । उसी का अपनी उक्ति से प्रकाशित होने के कारण गुणीभाव जैसे उदाहरण दिये हुये 'संकेतकालमनसम्' इत्यादि में । रसादिरूप व्यङ्ग्य का गुणीभाव रसवदलंकार में दिखलाया गया; और उसमें उनका आधिकारिक वाक्य की अपेक्षा गुणीभाव विवाह में प्रवृत्त भृत्य के अनुयायी राजा के समान होता है । व्यङ्ग्य अलंकार के गुणीभाव में दीपक इत्यादि का विषय होता है ।

(लो०) **उदाहृतमिति** । एतच्च प्रथमोद्योत एव निरूपितम् । अनुरागशब्दस्य चाभिलाषे तदुपरक्तत्वलक्षणया लावण्यशब्दवत् प्रवृत्तिरित्यभिप्रायेणातिरस्कृतवाच्यत्वमुक्तम् । **तस्यैवेति** । वस्तुमात्रस्य । **रसादीति** । आदिशब्देन भावादयः रसवच्छब्देन प्रेयस्विप्रभृतयोऽलङ्कारा उपलक्षिताः । नन्वत्यर्थं प्रधानभूतस्य रसादेः कथं गुणीभावः ? गुणीभावे वा कथमचारुत्वं न स्यादित्याशङ्क्य प्रत्युत सुन्दरता भवतीति प्रसिद्धदृष्टान्तमुखेन दर्शयति—**तत्र चेति** । रसवदाद्यलङ्कारविषये । एवं वस्तुनो रसादेश्च गुणीभावं प्रदर्श्यालङ्कारात्मनोऽपि तृतीयस्य व्यङ्ग्यप्रकारस्य तं दर्शयति—**व्यङ्ग्यालङ्कारस्येति** । उपमादेः ॥३४॥

(अनु०) 'उदाहरण दिया गया' यह । यह तो प्रथम उद्योत में ही निरूपित कर दिया गया। और अनुराग शब्द की उसके उपरक्तत्व की लक्षणा से अभिलाष में लावण्य शब्द के समान प्रवृत्ति होती है इस अभिप्राय से अतिरस्कृतवाच्यत्व कह दिया गया । 'उसी का' यह । वस्तुमात्र का । 'रसादि' यह । आदि शब्द से भाव इत्यादि और रसवत् शब्द से प्रेयस्वी इत्यादि अलंकार उपलक्षित होते हैं । (प्रश्न) अत्यन्त प्रधानभूत रस इत्यादि का गुणीभाव कैसे होता है ? अथवा गुणीभाव होनेपर अचारुता क्यों न हो ? यह शंका करके प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा दिखलाते हैं—'और वहाँ पर' । यहाँ रसवत् इत्यादि अलंकार के विषय में । इस प्रकार वस्तु और रस इत्यादि का गुणीभाव दिखलाकर अलंकारात्मक तृतीय व्यङ्ग्य प्रकार के भी उसको (गुणीभाव को) दिखलाते हैं—'व्यङ्ग्यालङ्कार का' यह । अर्थात् उपमा इत्यादि का ।

वाच्यार्थ के तिरस्कृत न होने पर गुणीभाव

तारावती—वस्तुव्यंजना का दूसरा प्रकार वह होता है जिसमें वाच्यार्थ का तिरस्कार नहीं होता। ऐसे शब्दों से जब व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तब कभी-कभी काव्यचारुता की दृष्टि से वह व्यंग्य भी वाच्य की अपेक्षा गुणीभाव को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि में पहले उदाहरण दिया जा चुका है । यह उदाहरण प्रथम उद्योत में दिया जा चुका है और इसकी व्याख्या भी की जा चुकी है । (यह समासोक्ति अलंकार का उदाहरण है । यहाँ संध्या और दिवस का वर्णन किया गया है, किन्तु उनका बाध नहीं होता । अपितु दम्पति-व्यवहार की जो व्यंजना होती है वह संध्या और दिवस के वाच्यार्थ को ही अधिक

सुन्दर बना देती हैं। इसीलिये यह गुणीभूतव्यंग्य है।) अनुराग शब्द का अर्थ है वस्तु का उपरंजन करना। इस शब्द का अभिलाषा अर्थ में प्रयोग अनादि परम्परा से लावण्य के समान रूढ़ रूप में होता है। संध्या के अर्थ मे उपरंजन प्रत्यक्ष सिद्ध है; किन्तु अभिलाषा में उसका प्रयोग निरूढा लक्षणा के रूप में किया गया है। इसीलिये इसे अतिरस्कृतवाच्य कहृ दिया गया है।

उक्ती के द्वारा कथन में गुणीभाव

वस्तुव्यंजना ही कहीं-कहीं पर उस अवस्था में भी गुणीभूत हो जाती है जब कि उक्ति के द्वारा उसका स्वयं प्रकाशन कर दिया जाय। जैसे—'यह जानकर कि विट संकेत काल को जानना चाहता है उस चतुर नायिका ने हँसते हुये नेत्रों से अभिप्राय को प्रकट करते हुये लीलाकमल को सिकोड़ लिया।' यहाँ पर लीलाकमल को सिकोड़ने से सायंकाल की व्यंजना होती है तथापि कवि ने 'आकूत' (अभिप्राय) शब्द का प्रयोग कर उस व्यंजना की ओर स्वयं संकेत कर दिया है 'अभिप्राय' इस वाच्य अंश की व्याख्या करने के लिये 'लीला-कमल निमीलन' के व्यंग्य को समझाना अनिवार्य है। अतएव वाच्यांग होने के कारण यह व्यंग्य गुणीभूत हो गया है।

रस इत्यादि दूसरे तत्त्वों का गुणीभाव

रस इत्यादि व्यंग्यों की गुणीभावरूपता रसवदलङ्कार में दिखलाई जा चुकी हैं। रसवत् शब्द उपलक्षण परक है। इससे प्रेयस् इत्यादि का उपलक्षण हो जाता हैं। (रस के अलङ्कार होनेपर रसवत् अलङ्कार भाव के अपरांग होनेपर प्रेयस्, रसाभास और भावाभास के अपरांग होनेपर ऊर्जस्वी, भावशान्ति के अपरांग होनेपर समाहित ये प्राचीन आलङ्कारिकों के बतलाये हुये अलङ्कार हैं। इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल ध्वँनियों की भी अपरांगता अलङ्कार की कोटि में आती है। इनका विस्तृत विवेचन काव्यप्रकाश के पांचवें उल्लास के प्रारम्भ में किया गया है।)

विभिन्न तत्त्वों के गुणीभूत होने के रूप

(प्रश्न) अत्यन्त प्रधान रूप में स्थित रस इत्यादि का गुणीभाव कैसे हो सकता है? यदि गुणीभाव हो जाय तो अचारुता क्यों न आयेगी ? यह शंका करके उत्तर के रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्युत सुन्दर ही हो जाता है। इस विषय में यह एक प्रसिद्ध दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे यदि किसी नौकर का विवाह हो और उसकी बारात में राजा चला जाय तो राजा अपने नौकर की अपेक्षा वहाँ पर गौण ही होगा तथापि राजा के बारात में आ जाने से उस बारात की शोभा बढ़ ही जाती है। इसी प्रकार यदि किसी अर्थ में रस पोषक बन जाय तो उस काव्य का सौन्दर्य ही बढ़ जाता है। जब आधिकारिक (प्रधान) वाक्यार्थ के प्रति रसगुणीभूत हो जाते हैं तब उनमें गुणीभूतव्यंग्यता आ जाती है। आधिका-रिक का अर्थ है वह वस्तु जिसे फल का स्वामित्व प्राप्त हो जाय (अधिकारः फले स्वाम्यम-धिकारी च तत्प्रभुः।) इस प्रकार का फल किसी एक वाक्यार्थ को होता है उसकी सहायता करनेवाले सभी तत्त्व गुणीभूत हो जाते हैं। यह तो हुई वस्तु और रसव्यंजनाओं के गुणीभूत होने की बात। अब अलंकार व्यञ्जना को लीजिये—दीपक इत्यादि के विषय में व्यङ्ग्य अलंकार गुणीभाव को प्राप्त हो जाता है। (दीपक अलंकार वहाँ पर होता है जहाँ प्रकृत और

अप्रकृत के एक धर्म का निर्देश किया जाय; जैसे—'कृपणों के धन, सर्पों के फन की मणि, सिंहों के केसर और कुलबालिकाओं के स्तन तब तक कौन छू सकता है। जब तक वे मर न जायँ।' यहाँ कुलबालिकाओं के स्तन प्रस्तुत वर्ण्य विषय हैं और कृपणों के धन इत्यादि अप्रस्तुत। इससे उपमालङ्कार की व्यंजना होती है कि—कुलबालिकाओं के स्तन कृपणों के धनों, सर्पों की फणमणियों और सिंहों के केसरों के समान स्पर्श में अशक्य होते हैं। इस प्रकार यहाँ व्यंग्य अलंकार उपमा है और वाच्य दीपक। उपमा का मूलाधार होता है सादृश्य-विधान और दीपक का मूलाधार है कई एक अप्रस्तुतों की लड़ी सी पिरो देना। यहाँ पर चमत्कार सादृश्य में नहीं अपितु कई एक अप्रस्तुतों के उपादान में है अतः व्यंग्यउपमा गौण हो गई है और वाच्य दीपक प्रधान। यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है। इसी प्रकार दृष्टान्त इत्यादि दूसरे सादृश्यमूलक अलंकारों में भी उपमा गर्भित रहती हैं और गुणीभूत हो जाती हैं।) इस प्रकार वस्तु, रस और अलंकार तीनों प्रकार के व्यंग्यार्थों को गुणीभाव प्राप्त हो जाता हैं। (काव्यप्रकाश में गुणीभूतव्यंग्य के ८ प्रकार बतलाये गये हैं—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्॥
व्यंग्यमेवं गुणीभूतव्यंग्यस्याष्टौ भिदा स्मृताः॥

अर्थात् (१) अगूढ (२) अपरांग, (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, (४) अस्फुट, (५) सन्दिग्ध-प्राधान्य, (६) तुल्यप्राधान्य, (६) काक्वाक्षिप्त और (८) असुन्दर, ये ८ भेद गुणीभूतव्यंग्य के होते हैं।

यद्यपि इसी रूप में ध्वन्यालोक में नहीं गिनाया गया है तथापि विवेचन करने पर अवगत होता है कि इनमें प्रत्येक का मूल आधार ध्वन्यालोक में विद्यमान हैं।) ॥३४॥

(ध्वन्या०) तथा—प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥३५॥

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः। यथा—

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तंस घरिणिआ गङ्गा।
आमिअमिअङ्का अ सुआ अहो कुडुम्बं महोअहिणो॥

(अनु०) उसी प्रकार—

'प्रसन्न और गम्भीर पदवाले जो सुखावह काव्यबन्ध हैं उनमें बुद्धिमान् मनुष्य को इसीप्रकार (काव्यभेद) की योजना करनी चाहिये ॥३५॥

ये जो अपरिमित स्वरूपवाले भी प्रकाशमान और उस प्रकार के अर्थ से रमणीय होकर विवेकियों को सुख देनेवाले काव्यबन्ध हैं उन सब में इसी गुणीभूत व्यंग्य नामक प्रकार की योजना करनी चाहिये। जैसे—

'उसकी पुत्री लक्ष्मी, जामाता हरि, गृहिणी गङ्गा, अमृत और मृगाङ्क ये पुत्र हैं, महासागर का कुटुम्ब आश्चर्यजनक है।'

(लो०) एवं प्रकारत्रयस्यापि गुणभावं प्रदर्श्य बहुतरलक्ष्यव्यापकतास्येति दर्शयितुमाह—**तथेति**। प्रसन्नानि प्रसादगुणयोगाद्गभीराणि च व्यङ्ग्यार्थापेक्षकत्वात्पदानि येषु। सुखावहा इति चारुत्वहेतुः। तत्राऽयमेव प्रकार इतिभावः। **सुमेधसेति**। यस्त्वेवं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावनामुकुलितलोचनोक्त्योपहसनीयः स्यादितिभावः।

लक्ष्मीः सकलजनाभिलाषभूमिर्दुहिता। जामाता हरिः यः समस्तभोगापवर्गदानसततोद्यमी। तथा गृहिणी गङ्गा यस्याः समभिलषणीये सर्वस्मिन्वस्तुन्यनुपहत उपायभावः। अमृतमृगाङ्कौ च सुतौ, अमृतमिह-वारुणी। तेन गङ्गास्नानहरिचरणाराधनाद्युपायशतलब्धाया लक्ष्म्याश्चन्द्रोदयपानगोष्ठ्युपभोगलक्षणं मुख्यफलमिति त्रैलोक्यसारभूतता प्रतीयमाना सती अहो कुटुम्बं महोदधेरित्यहो शब्दाच्च गुणीभावमनुभवति ॥३५॥

(अनु०) इस प्रकार तीनों प्रकारों के गुणीभाव को दिखलाकर इसकी व्यापकता बहुत अधिक लक्ष्यों में है यह दिखलाने के लिये कहते हैं—'तथा' यह। प्रसाद गुण योग से प्रसन्न और व्यंग्यार्थ की अपेक्षा करते हुये गम्भीर पद हैं जिनमें। सुखावह इससे चारुताहेतु (बतलाया गया है।) भाव यह है कि उसमें इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये। 'बुद्धिमान् के द्वारा' यह। जो इस प्रकार को उस (काव्य) में संयोजित करने में समर्थ नहीं है वह केवल मिथ्या 'सहृदयत्व की भावना से मुकुलित नेत्रवाला' इस उक्ति से उपहसनीय ही हो जाय।

सब लोगों की अभिलाषा का स्थान लक्ष्मी पुत्री है। दामाद हरि हैं जो समस्त भोग और अपवर्ग के देने में निरन्तर उद्यम करनेवाले हैं तथा गृहिणी गंगा हैं जिनका अभिलषणीय सभी वस्तु में उपायभाव उपहत नहीं होता। अमृत और मृगाङ्क दो पुत्र हैं, अमृत यहाँ पर वारुणी है। इससे गंगास्नान हरिचरणाराधन इत्यादि सैकड़ों उपायों से प्राप्त लक्ष्मी का चन्द्रोदय पानगोष्ठी का उपभोग रूप मुख्य फल है इस प्रकार तीनों लोकों की सारभूतता प्रतीयमान होकर और 'अहो कुटुम्बं महोदधेः' इसके 'अहो' शब्द से गुणीभाव का अनुभव करता है।

गुणीभूत व्यंग्य का महत्त्व

तारावती—ऊपर यह सिद्ध किया गया है कि वस्तु, रस और अलंकार ये तीनों प्रकार के व्यंग्यार्थ गुणीभूत हो जाते हैं। अब इस ३५ वीं कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि गुणीभूतव्यंग्य का क्षेत्र कम नहीं है। यह भी बहुत अधिक क्षेत्र में व्याप्त है। साथ ही इसका महत्त्व भी कम नहीं है, काव्य की इस विधा का उपयोग तो उच्चकोटि के काव्यों में भी किया जा सकता है। इस कारिका का आशय यह है कि 'बुद्धिमान् कवि को चाहिये कि इस प्रकार की योजना ऐसे काव्यों में करे जिसमें पदयोजना प्रसाद गुण से परिपूर्ण होने के कारण बहुत स्पष्ट तथा संशयहीन हो तथा व्यंग्यार्थ का आक्षेप करने के कारण उनमें गम्भीरता आ गई हो; इस प्रकार के काव्यबन्ध सुखावह होते हैं। इन काव्यों का स्वरूप अपरिमित होता है और व्यङ्ग्यार्थ की रमणीयता से ओतप्रोत होकर तथा प्रकाश में आकर ये

विवेकियों को सुख देते हैं। (यहाँ पर ध्वनिकार का आशय यही है कि ध्वनिकाव्य तो रमणीय होता ही है साथ ही गुणीभूतव्यङ्ग्य का महत्त्व भी कम नहीं है। यहाँ पर दो प्रकार का पाठ अधिगत होता है—दीधिति में 'ये च तेषु प्रकारोऽयमेवं योज्यः सुमेधसा' इस पंक्ति में 'एवम्' पाठ रक्खा गया है और उसकी व्याख्या की गई है कि बतलाये हुये तीनों प्रकारों से योजना करनी चाहिये। इस व्याख्या में सबसे बड़ी अनुपपत्ति यह है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य की योजना के तीन प्रकारों का उल्लेख ध्वनिकार (कारिकाकार) ने नहीं किया है उसका उल्लेख तो आलोककार ने किया है। अतः ध्वनिकार के मत से यह बतलाना कि गुणीभूतव्यङ्ग्य की योजना के तीन प्रकार होते हैं ठीक नहीं है। दूसरा पाठ निर्णयसागरवाली प्रति का है जिसमें 'एवम्' के स्थान पर 'एव' रक्खा गया है। इसके अनुसार प्रस्तुत कारिका का सार यह है कि उच्चकोटि के काव्यों में गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही योग करना चाहिये। इसमें भी यह आपत्ति आती है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य मध्यम कोटि का काव्य माना जाता है, उत्तम कोटि का नहीं। अतः उत्तम कोटि के काव्य में केवल इसकी ही योजना करनी चाहिये यह कहना कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। यदि यह कहा गया होता कि इसकी भी योजना करनी चाहिये तब भी कोई बात नहीं थी। मेरी समझ में इस प्रकरण की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिये—सर्वत्र व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता होती है, अन्यथा किसी भी रचना को काव्यरूपता प्राप्त ही नहीं हो सकती। कारण यह है कि ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है और किसी भी रचना को ध्वनिरूपता तभी प्राप्त होती है जब कि उसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो। स्वयं गुणीभूतव्यंग्य भी ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत ही आता है जैसा कि ध्वनिकार ने स्वयं कहा है—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥

इस कारिका का आशय यही है कि किसी काव्य को गुणीभूतव्यंग्य केवल इसी दृष्टि से कहा जाता है कि उसमें एक व्यङ्ग्यार्थ गौण हो जाता है। रसव्यञ्जना तो सर्वत्र प्रधान होती ही है। क्योंकि जबतक कवि का वर्ण्यविषय से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता अथवा कवि पाठकों का भावात्मक सम्बन्ध वर्ण्यविषय से स्थापित नही कर सकता तबतक रचना न तो सहृदयहृदयाह्लादकारिणी होती है और न काव्यरूपता को ही धारण कर सकती है। अतः रसादि की प्रधानता सर्वत्र सिद्ध ही हो जाती है। अब काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) जहाँ वाच्यार्थ में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं होता और न कोई अन्य व्यञ्जना वाच्यार्थ की सहायिका होती है; केवल वाच्यार्थ ही रसादिव्यंजना करने में समर्थ होता है वहाँ पर प्रथम प्रकार का काव्य होता है। (२) दूसरे प्रकार का काव्य वह होता है जहाँ पर्यवसान में भावात्मक चमत्कार तो होता ही है और रस इत्यादि की व्यंजना सहृदय-हृदयाह्लादन में समर्थ होती है, साथ में उसमें मध्यवर्तिनी एक और व्यंजना होती है। इस प्रकार के काव्य में वाच्यार्थ या तो इतना उत्कृष्ट कोटि का होता है कि मध्यवर्ती व्यंग्य उसके सामने दब जाता है अथवा वाच्यार्थ की पूर्ति ही व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा होती है। स्वाभाविक बात है कि इस प्रकार का काव्य प्रथम प्रकार की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट होता

है। क्योंकि रसादि में पर्यवसान तो दोनों में एक जैसा होता है। प्रथम प्रकार में वाच्यार्थ अधिक उत्कृष्ट नहीं होता किन्तु इस प्रकार में वाच्यार्थ अधिक उत्कृष्ट होता है। प्रथम प्रकार में वाच्यार्थ में रमणीयता उत्पन्न करनेवाला कोई अन्य व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता किन्तु इस प्रकार में कोई अन्य तत्त्व अभिव्यक्त होकर वाच्यार्थ में रमणीयता का आधान कर देता है। इसी मन्तव्य से यहाँ पर कहा गया है कि उच्चकोटि की रचनाओं में इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये। आशय यह है कि वही काव्य उत्कृष्ट माना जाता है जिसमें वाच्यार्थ चमत्कारपूर्ण हो और उसमें किसी व्यंग्यार्थ के द्वारा नवीन रमणीयता का आधान किया जा रहा हो, साथ ही उसकी चरमपरिणति रसादिध्वनि में हो। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनिकार ने कहीं पर भी ध्वनिकाव्य को उत्तम और गुणीभूतव्यंग्य को मध्यम काव्य नहीं कहा है। यही बात आलोककार और लोचनकार के मत से भी सिद्ध होती है। इन आचार्यों ने भी गुणीभूतव्यंग्य को ध्वनिकाव्य का सारभूत तत्त्व माना है। साथ ही इन आचार्यों ने कहीं भी गुणीभूतव्यंग्य के ८ भेदों का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि ८ भेदों के विभिन्न रूपों का परिगणन नहीं पाया जाता तथापि उसका मूल ध्वन्यालोक में पाया जाता है। उनमें कुछ भेद तो रसप्रवण होकर वस्तुतः काव्योत्कर्ष का कारण होते हैं जैसे अपरांग, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य इत्यादि, तथा कुछ भेद काव्यापकर्ष के भी परिचायक होते हैं जैसे अगूढ, अस्फुट, असुन्दर इत्यादि गुणीभूतव्यंग्य। इन पिछले प्रकार के गुणीभूतव्यंग्यों को ही मध्यम काव्य कहना ठीक होगा; प्रथम प्रकार के गुणीभूतव्यङ्ग्य तो उत्कृष्टतम काव्य कहलाने के अधिकारी हैं, क्योंकि उनमें एक के स्थान पर दो व्यंग्य होते हैं—एक प्रकारीभूत होकर ध्वनिरूपता को धारण कर लेता है और दूसरा वाच्यार्थ में उत्कर्ष का आधान करता है। साथ ही उसमें वाच्यार्थ भी उत्कृष्ट कोटि का होता है। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि उच्चतम काव्यों में इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये। इसीलिये लोचन में अधिक बल देकर लिखा गया है—'तत्रायमेव प्रकार इति भावः' 'बुद्धिमान् व्यक्ति को इसकी योजना करनी चाहिये' इस कथन में बुद्धिमान् शब्द का आशय यह है कि वही कवि काव्यमर्मज्ञ कहा जा सकता है जो अपनी रचना में इस प्रकार की योजना करना जानता है। जो ऐसा नहीं करपाता उसके लिये सहृदय व्यक्ति यही कहेंगे कि उसका सहृदय कहलाना और अपने को सहृदय समझना बिल्कुल झूठा है और वह अपने को सहृदय समझने में इतना अन्धा हो गया है कि वह काव्य के वास्तविक सौन्दर्य को परखने की चेष्टा ही नहीं करता। इस प्रकार वह सहृदय समाज में उपहास का पात्र ही बन जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

'महासागर के कुटुम्ब को देखकर आश्चर्य होता है—लक्ष्मी तो उसकी पुत्री है, भगवान् विष्णु उसके दामाद हैं, गंगा उसकी गृहिणी है लौर अमृत तथा चन्द्रमा ये दोनों उसके पुत्र हैं।'

(उक्त पद्य कहाँ से लिया गया है यह ज्ञात नहीं होता। लोचन में इसकी व्याख्या कुछ विचित्र प्रकार से की गयी है। अन्य टीकाकारों ने सीधी-सीधी व्याख्या कर दी है जो लोचन की व्याख्या से मेल नहीं खाती। लोचन की व्याख्या को देखने से ज्ञात होता है कि

प्रस्तुत पद्य ऐसे व्यक्ति के विषय में कहा गया है जिसकी वृत्ति धार्मिक रही है और उस धार्मिकता की कृपा से उस व्यक्ति ने बहुत अधिक धन तथा ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया है। अब वह अपने धन का उपभोग उन्मुक्त रूप में अपनी विषय-बासनाओं की तृप्ति के लिये करता है तथा उसके जीवन में आनन्दोपभोग का ही प्राधान्य है। उसी व्यक्ति के विषय में कोई तटस्थ द्रष्टा आश्चर्यभाव से उक्त शब्द कह रहा है।) 'लक्ष्मी उसकी पुत्री हैं' कहने का आशय यह है कि लक्ष्मी समस्त व्यक्तियों की अभिलाषा का एक बहुत बड़ा विषय होती है वह तो समुद्र को पुत्री रूप में ही प्राप्त है। भगवान् विष्णु दामाद हैं जो कि समस्त व्यक्तियों को सभी प्रकार के भोग और मोक्ष देने में निरन्तर उद्योग करते रहते हैं। इसी प्रकार गङ्गा गृहिणी हैं जिनका कि एकमात्र व्रत सभी व्यक्तियों को सभी प्रकार की अभिलषणीय वस्तुओं को प्रदान करना है। गङ्गा जी का आश्रय कभी भी मिथ्या नहीं होता और जिस वस्तु की अभिलाषा की जाती है वह वस्तु गङ्गा जी की अनुकम्पा से स्वयं प्राप्त हो जातो है। अमृत और मृगाङ्क उसके पुत्र ही हैं। यहाँ पर अमृत का अर्थ है वारुणी। (क्योंकि अमृत सर्वजन सुलभ नहीं है। इसमें व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि गङ्गास्नान हरिचरणाराधन इत्यादि सैकड़ों धार्मिक कृत्यों से जो लक्ष्मी प्राप्त की जाती है उसका एकमात्र यही मुख्य फल होता है कि चन्द्रोदय का आनन्द लिया जाय और उसमें मदिरा पान गोष्ठी का उपभोग किया जाय। यह उपभोगमय बन जाना ही तीनों लोकों का सारभूत तत्त्व है (और उसे अमुक व्यक्ति ने अत्यधिक मात्रा में प्राप्त कर लिया है।) यह व्यंग्यार्थ बहुत ही सुन्दर है। तथा प्रतीतिगोचर होकर 'समुद्र के कुटुम्ब पर आश्चर्य है' इस वाक्य में जो वाच्य आश्चर्य है उसका यह अंग हो गया है और उसके प्रति गुणीभाव का अनुभव करता है ॥३५॥

(ध्वन्या०) वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥३६॥

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा यथायोगमनुगमे सति च्छायातिशयं बिभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः। स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते। तथाहि—दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्ग्यालङ्कारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो दृश्यन्ते। यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यति, कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्।

(अनु०) 'यह वाच्यालंकार वर्ग व्यंग्यांश के अनुगम करने पर प्रायः लक्ष्य में परा छाया को धारण करते हुये देखा जाता है' ॥३६॥

यह वाच्यालंकार व्यंग्यांश अलंकार या वस्तुमात्र के यथायोग अनुमगन होने पर छाया की अधिकता को धारण करते हुए एक देश के रूप में लक्षणकारों द्वारा दिखलाया गया है। वह उस प्रकार का परीक्षा किये जाने पर प्रायः सभी ही लक्ष्य में देखा जाता है। वह इस प्रकार—दीपक समासोक्ति इत्यादि के समान अन्य भी अलंकार दूसरे व्यंग्य अलङ्कार

या दूसरी वस्तु का स्पर्श करते हुए देखे जाते हैं। क्योंकि पहले तो सब अलङ्कारों में अतिशयोक्तिगर्भता दिखलाई जा सकती है। महाकवियों के द्वारा की हुई ही वह किसी अनोखी काव्यच्छाया को पुष्ट करती है। अपने विषय के औचित्य के साथ की हुई अतिशयोगिता काव्य में उत्कर्ष का आधान क्यों न करे?

(लो०) एवं निरलङ्कारेषूत्तानतायां तुच्छतयैव भासमानममुनान्तःसारेण काव्यं पवित्रीकृतमित्युक्त्वालङ्कारस्याप्यनेनैव रम्यतरत्वमिति दर्शयति—**वाच्येति**। अंशत्वं गुणमात्रत्वम्। **एकदेशेनेति**। एकदेशविवर्तिरूपकमनेन दर्शितम्। तदयमर्थः—एकदेशविवर्तिरूपके—

राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः।

इत्यत्र हंसानां यच्चामरत्वं प्रतीयमानं तन्नृपा इति वाच्येऽर्थे गुणतां प्राप्तमलङ्कारकारैर्यावदेव दर्शितं तावदमुना द्वारेण सूचितोऽयं प्रकार इत्यर्थः। अन्ये त्वेकदेशेन वाच्यभागवैचित्र्यमात्रेणेत्यनुद्भिन्नमेव व्याचचक्षिरे। व्यङ्ग्यं यदलङ्कारान्तरं वस्त्वन्तरं संस्पृशन्ति ये स्वात्मनः संस्कारायाश्लिष्यन्तीति ते तथा। **महाकविभिरिति**। कालिदासादिभिः। काव्यशोभां पुष्यतीति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—**कथं हीति**। हिशब्दो हेतौ। अतिशयोगिता कथं नोत्कर्षमावहेत् काव्ये नास्त्येवासौ प्रकार इत्यर्थः। स्वविषये यदौचित्यं तेन चेद्धृदयस्थितेन तामतिशयोक्तिं कविः करोति। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

अत्र हि भगवतो मन्मथवपुषः सौभाग्यविषयः सम्भाव्यत एवायमतिशय इति तत्काव्ये लोकोत्तरैव शोभोल्लसति। अनौचित्येन तु शोभा लीयेत एव। यथा—

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम्॥ इति।

(अनु०) इस प्रकार अलंकाररहितों में (अर्थ के) उत्तान हो जाने पर (ऊपर उठ जाने पर) तुच्छ रूप में ही भासित होनेवाला काव्य अन्तस्तत्त्ववाले इस (गुणीभूत व्यंग्य) के द्वारा पवित्र कर दिया गया है यह कहकर अलंकार की भी अधिक रमणीयता इसी के द्वारा होती है यह दिखलाते हैं—'वाच्य में' यह। अंशत्व का अर्थ है गुणमात्रत्व। 'एक देश के रूप में' यह। इसके द्वारा एकदेशविवर्ति रूपक दिखलाया गया है। अतः यह अर्थ है—एकदेश विवर्ति रूपक में—

'शरत् के द्वारा ही सरोवररूपी राजाओं पर राजहंसों से पंखा किया जा रहा था।' यहां पर हंसों का जो चामरत्व प्रतीत होता है वह 'राजाओं पर' इस वाच्य अर्थ में गुणता को प्राप्त हो गया है अलंकारकारों ने जितना कुछ दिखलाया है उतना इसके द्वारा यह प्रकार सूचित किया गया है। यह अर्थ है। और लोगों ने तो 'एक देश से' अर्थात्

वाच्यभागवैचित्र्य मात्र से यह अस्पष्ट व्याख्या की है। व्यंग्य जो दूसरा अलंकार या दूसरी वस्तु उसको जो अपने संस्कार के लिये स्पर्श करते हैं या आलिंगन करते हैं वे वैसे होते हैं। 'महाकवियों के द्वारा' अर्थात् कालिदास इत्यादि के द्वारा। 'काव्यशोभा को पुष्ट करता है' यह जो कहा गया उसमें हेतु बतलाते हैं— 'क्यों' यह। 'हि' शब्द का प्रयोग हेतु के अर्थ में हुआ है। 'अतिशय का योग क्यों उत्कर्ष को धारण न करे' अर्थात् काव्य में ऐसा प्रकार है ही नहीं यदि अपने विषय में जो औचित्य उसको हृदय में रखकर अतिशयोक्ति को कवि करता है। जैसे भट्टेन्दुराज का—

'बीच-बीच में रुक-रुककर होनेवाले दृष्टिपातों में जो कि नेत्र अस्थिरता को प्राप्त हो जाते हैं, काटी हुई कमलिनी की नाल के समान जो कि उसके सारे अंग सूखते चले जा रहे हैं, दूर्वाकाण्ड को भी तिरस्कृत करनेवाली घनी पीलिमा जो कि उसके कपोलों पर व्याप्त है, युवक कृष्ण के विषय में यौवनवती वनिताओं की बस यही वेषस्थिति है।'

यहाँ पर निस्सन्देह कामदेव के समान शरीरवाले भगवान् का सौभाग्यविषयक अतिशय सम्भावित ही किया जा सकता है, अतः उस काव्य में लोकोत्तर शोभा ही उल्लसित होती है। अनौचित्य से तो शोभा लीन हो जाती है। जैसे—

'ब्रह्माजी ने तुम्हारे इस होनेवाले इस प्रकार के स्तनविस्तार का विना ही विचार किये छोटा सा आकाश बना दिया।'

गुणीभूत व्यङ्ग्य द्वारा अलंकार वर्ग में सौंदर्य का आधान

तारावती—३५वीं कारिका में यह सिद्ध किया जा चुका है कि जिन काव्यों में अलङ्कार नहीं होता और जिनमें काव्यार्थ अधिक स्फुट हो जाता है उनमें एक तो अलङ्कार का अभाव दूसरे काव्यार्थ की वाच्यरूपता; ये दोनों तत्त्व मिलकर काव्य को अत्यन्त तुच्छ बना देते हैं। यदि वहाँ पर इस गुणीभूतव्यङ्ग्य का योग हो जाता है तो वह गुणीभूतव्यङ्ग्य ही उस काव्य का आन्तरिक तत्त्व अर्थात् उसकी आत्मा बन जाता है और इस प्रकार वह काव्य पवित्र हो जाता है। (वाच्यार्थ के निम्नस्तर पर होते हुए भी व्यङ्ग्यार्थ इसीलिए गुणीभूत हो जाता है कि वह वाच्यार्थ पूर्ति में सहायक हो जाता है।) यह तो हुई ३५वीं कारिका की बात। ३६वीं कारिका में यह दिखलाया गया है कि अलङ्कारों में भी अधिकाधिक रमणीयता व्यङ्ग्यार्थ के योग से ही आती है। कारिका का आशय यह है—'जितना भी वाच्य अलंकारों का समूह दिखलाया गया है यदि उसमें व्यङ्ग्य अंश का अनुगमक हो जाता है तो वह बहुत बड़ी छाया (काव्यशोभा) को धारण कर लेता है। लक्ष्य में यह बात प्रायः देखी जाती है।' लक्षणकारों ने यह बात एक देश के द्वारा दिखलायी है कि व्यङ्ग्य अलंकार और व्यङ्ग्य वस्तु इन दोनों में कोई एक व्यङ्ग्य अंश जब वाच्य अलंकारों से मिल जाता है तब वाच्य अलंकारों में काव्य की अभूतपूर्व शोभा उत्पन्न हो जाती है। यहां पर एकदेश का अर्थ है एकदेशविवर्ति रूपक। लक्षणकारों ने रूपक दो प्रकार का माना है—साङ्ग और निरङ्ग। साङ्ग के दो भेद माने गये हैं—समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति। जहाँ पर रूपक के सभी अवयवों का उपादान शब्द के द्वारा वाच्यवृत्ति में किया जाता है उसे समस्तवस्तुविषय

साङ्गरूपक कहते हैं और जहाँ रूपक के कुछ अंगों का वाच्य-वृत्ति में प्रकथन किया जाता है और कतिपय अंग अर्थतः समझ लिये जाते हैं उसे एकदेशविवर्ति साङ्गरूपक कहते हैं। इसका उदाहरण—

'शरद् राजहंसों से सरोवररूपी राजाओं पर पंखा झल रही थी।'

यहाँ सरोवरों पर राजाओं का आरोप किया गया है जो कि वाच्य है और राजहंसों पर चमर (या पंखे) का आरोप अर्थतः समझ लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ पर एकदेश-विवर्ति साङ्ग रूपक है। प्राचीन आचार्यों के इस एकदेशविवर्ति रूपक के निर्देश से सिद्ध होता है कि प्रतीयमान अर्थ का कोई ऐसा भी रूप सम्भव है जो वाच्यार्थ का उपकारक होकर काव्यशोभा का आधान किया करता है। इस प्रकार इन आचार्यों ने मानो गुणीभूतव्यंग्य की सत्ता स्वीकार ही कर ली। यदि अलंकारों की ठीक-ठीक परीक्षा की जाय तो ज्ञात होगा कि एकदेशविवर्ति रूपक के विषय में जो बात कही गयी है वह प्रायः सभी अलंकारों के विषय में लागू होती है अर्थात् प्रायः सभी अलंकारों में व्यङ्ग्यार्थ का संस्पर्श होता है। इस प्रकार के लक्ष्य प्रायः पाये जाते हैं जिनमें वाच्यार्थ का अनुप्राणन व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा होता है। कुछ लोगोंने 'एकदेश के द्वारा पुराने आचार्यों ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है' इस संदर्भ की व्याख्या इस प्रकार की है—एकदेश का अर्थ है केवल वाच्यभाग का वैचित्र्य। किन्तु यह व्याख्या बिलकुल स्पष्ट नहीं है और इससे यह ज्ञात नहीं होता कि वाच्यवैचित्र्य-मात्र की व्याख्या करने से व्यङ्ग्यार्थ की स्वीकृति कैसे सिद्ध होती है? अतः 'एकदेश के द्वारा' इस शब्द की यही व्याख्या की जानी चाहिये कि लक्षणकारों ने रूपक के एक देश को व्यङ्ग्य मानकर यह संकेत दिया है कि प्रायः सभी अलंकारों में व्यङ्ग्य का अंश मिला रहता है।

अलंकारों में व्यङ्ग्यांश के समावेश की बात को इस प्रकार समझना चाहिये—कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें दूसरा अलंकार व्यक्त हो जाता है जैसे दीपक अलंकार में उपमा व्यक्त होती है। कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें वस्तु अभिव्यक्त होकर उस अलंकार की सत्ता को पूरा करती है जैसे समासोक्ति में अप्रस्तुत अभिव्यक्त हुआ करता है। इस प्रकार ये अलंकार अपने संस्कार के लिये दूसरे व्यङ्ग्य अलंकार या व्यङ्ग्य वस्तु का सहारा लिया करते हैं। केवल यही अलंकार ऐसे नहीं हैं अपितु दूसरे अलंकार भी व्यङ्ग्य वस्तु या अलंकार का सहारा लेते हुये देखे जाते हैं। सबसे पहले अतिशयोक्ति अलंकार को लीजिये। यह एक ऐसा अलंकार है जिसके कार्यक्षेत्र का प्रसार सभी अलंकारों में दिखलाया जा सकता है। महाकवि कालिदास इत्यादि जब किसी अलंकार की योजना इस रूप में करते हैं कि उसमें अतिशयोक्ति गर्भित हो तब वह काव्य किसी विचित्र प्रकार के काव्यसौन्दर्य का पोषक हो जाता है। केवल एक शर्त है कि अतिशयता की योजना में कवि को औचित्य का ध्यान सर्वथा रखना चाहिये, अर्थात् उसे यह देखना चाहिये किस स्थान पर अलंकार व्यञ्जना उपयुक्त रहेगी और कहाँ पर वस्तुव्यञ्जना उचित होगी। इसी प्रकार कहाँ पर कौन अलं-कार या कौन वस्तु उचित प्रतीत होगी इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। यदि इस प्रकार के औचित्य को हृदय में रखकर कवि अतिशयोक्ति का गुम्फन करता है तो उससे

काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट बन जाता है। उदाहरण के लिये भट्टेन्दुराज की निम्नलिखित उक्ति को लीजिये—

'कृष्ण तरुण हैं और युवतियाँ भी यौवन से परिपूर्ण हैं। कृष्ण के प्रति भावना से भरी होने से उनकी वेषस्थिति इस प्रकार की हो रही है कि वे रुक-रुककर कृष्ण को बार-बार देखती हैं जिससे उनके नेत्र स्थिरता को प्राप्त नहीं हो पाते। उनके अंग काटी हुई कमलिनी की नाल के समान प्रतिदिन क्षीण होते जाते हैं और कपोलों पर पीलिमा दूब के गुच्छे की जैसी फैलती जा रही है।'

यहाँ कृष्ण के प्रति कामना रखनेवाली वियोगिनी वनिताओं की दशा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। काटी हुई कमलिनी के समान सूखना और दूर्वाकाण्ड के समान पाण्डुता यह सब अतिशयोक्तिपूर्ण ही है। किन्तु एक तो यह वर्णन मर्यादित है। अतिशयोक्ति को इतना अधिक नहीं खींचा गया है कि वह एक मजाक सी मालूम पड़ने लगे। दूसरी बात यह है कि इसमें भगवान् कृष्ण के प्रति अनेक स्त्रियों का आकर्षण दिखलाया गया है जोकि अनुचित नहीं है और इससे भगवान् के लोकोत्तर सौभाग्य की व्यञ्जना होती है। भगवान् स्वयं ही कामदेव के समान रूपवान् हैं। अत एव उनके विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब उचित हैं। औचित्य को लेकर जो अतिशयोक्ति का गुम्फन किया गया है उससे काव्य में लोकोत्तर शोभा उद्भूत हो जाती है। किन्तु जब अनौचित्य का प्रतिभास होने लगता है तब अतिशयोक्ति सदोष हो जाती है और उसकी शोभा जाती रहती है। उदाहरण के लिये दण्डी की इस उक्ति को लीजिये—

'ब्रह्माजी ने जब आकाश की रचना की तब सम्भवतः इस बात पर विचार नहीं किया कि तुम्हारे स्तन बढ़कर इतने विशाल हो जायेंगे। इसीलिये ब्रह्माजी ने आकाश को इतना छोटा बना दिया।'

यह उक्ति एक खिलवाड़ जैसी मालूम पड़ती है और इसकी अतिशयता रमणीयता का ह्रास करनेवाली ही है।

(ध्वन्या०) भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ इति।

तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। तस्याश्चालङ्कारान्तरसङ्कीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्व्यङ्ग्यत्वेन। व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद्गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः। तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता।

(अनु०) भामह के द्वारा भी अतिशयोक्ति के लक्षण में जो कहा गया है—

'वह यह सब वक्रोक्ति ही है; इसके द्वारा अर्थ का विभावन किया जाता है। कवि को इसमें यत्न करना चाहिये; इसके बिना अलंकार ही कौन होता है?'

वहाँ पर अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार को अधिष्ठित करती है कविप्रतिभा के वश में उसमें चारुत्व की अधिकता का योग हो जाता है और की तो अलङ्कार मात्रता ही रहती है—इस प्रकार सभी अलङ्कारों के शरीर को स्वीकार करने की योग्यता के कारण अभेदोपचार से वही सभी अलंकारों के रूपवाली होती है, बस यही अर्थ समझा जाना चाहिये। और उसका दूसरे अलंकारों से संकीर्णत्व कभी वाच्य के रूप में होता है और कभी व्यंग्य के रूप में। व्यंग्यत्व भी कभी प्रधानरूप में और कभी गौण रूप में। उसमें प्रथम पक्ष में वाच्यालंकार का मार्ग है। द्वितीय का तो ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाता है और तृतीय में तो गुणीभूतव्यंग्यरूपता होती है।

(लो०) नन्वतिशयोक्तिः सर्वालङ्कारेषु व्यङ्ग्यतयान्तर्लीनैवास्त इति यदुक्तं तत्कथम् ? यतो भामहोऽतिशयोक्ति सर्वालङ्कारसामान्यरूपामवादीत्। न च सामान्यं शब्दाद्विशेषप्रतीतेः पृथग्भूततया पश्चात्तनत्वेन चकास्तीति कथमस्य व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह—**भामहेनेति**। भामहेनापि यदुक्तं तत्राऽयमेवार्थोऽवगन्तव्य इति दूरेण सम्बन्धः। किं तदुक्तम्—**सैषेति**। यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः।

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

इतिवचनात्। शब्दस्य हि वक्रता अर्थस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलङ्कारस्यालङ्कारभावः, लोकोत्तरस्तैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तितः सर्वालङ्कारसामान्यम्। तथाहि—अनया अतिशयोक्त्या, अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते। तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते। विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते इति तावत्तेनोक्तं, तत्र कोऽसावर्थ इत्यत्राह—**अभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेति**। उपचारे निमित्तमाह—**सर्वालङ्कारेति**। उपचारे प्रयोजनमाह—**अतिशयोक्तिरित्यादिना अलंकारमात्रतैवेत्यन्तेन**। मुख्यार्थबाधोऽप्यत्रैव दर्शितः कविप्रतिभावशादित्यादिना।

अयं भावः—यदि तावदतिशयोक्तेः सर्वालङ्कारेषु सामान्यरूपता सा तर्हि तादात्म्यपर्यवसायिनीति तद्व्यतिरिक्तो नैवालङ्कारो दृश्यत इति कविप्रतिभानं न तत्रापेक्षणीयं स्यात्। अलंकारमात्रं च न किञ्चिद्दृश्येत। अथ सा काव्यजीवितत्वेनेत्थं विवक्षिता, तथाप्यनौचित्येनापि निबध्यमाना तथा स्यात्। औचित्यवती जीवितमिति चेत्—औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत्किञ्चिदस्तीति तदेवान्तर्यामि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा। एतेन यदाहुः केचित्—औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन ध्वनिनात्मभूतेनेति ते स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रत्युक्ताः। तस्मान्मुख्यार्थबाधादुपचारे च निमित्तप्रयोजनसद्भावादभेदोपचार एवायम्। ततश्चोपपन्नमतिशयोक्तेर्व्यङ्ग्यत्वमिति। यदुक्तमलङ्कारान्तरस्वीकरणं तदेव त्रिधा विभज्यते—**तस्याश्चेति**। **वाच्यत्वेनेति**। सापि वाच्या भवति। यथा—'अपरैव हि केयमत्र' इति। अत्र रूपकेऽप्यतिशयः शब्द-

स्पृगेव। अस्य त्रैविध्यस्य विषयविभागमाह—**तत्रेति**। तेषु प्रकारेषु मध्ये य आद्यः प्रकारस्तस्मिन्।

(अनु०) (प्रश्न) अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में व्यंग्य रूप में अन्तर्लीन ही रहती है यह जो कहा है वह कैसे? क्योंकि भामह ने अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों की सामान्य रूपवाली बतलाया है। विशेष प्रतीति से पृथग्भूत होकर परवर्ती रूप में सामान्य प्रकाशित नहीं होता फिर इसका व्यङ्ग्यत्व कैसा? यह शंका करके कहते हैं—'भामह के द्वारा' यह। भामह के द्वारा भी जो कहा गया है वहाँ भी यही अर्थ समझा जाना चाहिये यह दूर से सम्बन्ध है। वह क्या कहा? 'वह यह'। जो अतिशयोक्ति लक्षित की गई है वही सब वक्रोक्ति का सब प्रकार है।

'अभिधेय और शब्द की वक्र उक्ति वाणी का अलंकार अभीष्ट है।'

इस वचन से। निस्सन्देह शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप में अवस्थित होना है इस प्रकार यही वह अलंकारों का अलंकारभाव है। और लोकोत्तर होना ही अतिशय है। इससे अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में सामान्य होती है। वह इस प्रकार इस अतिशयोक्ति के द्वारा सभी लोगों के उपभोग के कारण पुराना बनाया हुआ भी अर्थ विचित्र रूप में भावित किया जाता है। उसी प्रकार प्रमदा और उद्यान इत्यादि को विभाव-रूपता प्राप्त कराई जाती है और विशेष रूप में भावित किया जाता है अर्थात् रसमय बनाया जाता है यह निस्सन्देह उनके (भामह के) द्वारा कहा गया है उसमें वह कौन सा अर्थ है इसी विषय में कहते हैं—'अभेदोपचार से वही सब अलंकारों की रूपवाली है' यह। उपचार में निमित्त बतलाते हैं—'सब अलंकार' इत्यादि। उपचार में प्रयोजन बतलाते हैं—'अति-शयोक्ति' यहाँ से लेकर 'अलंकारमात्रता ही' यहाँ तक। यहीं पर 'कविप्रतिभावशात्' इत्यादि के द्वारा मुख्यार्थबाध भी दिखला दिया गया है।

भाव यह है—यदि सब अलंकारों में अतिशयोक्ति की सामान्यरूपता है तो उसका तादात्म्य में पर्यवसान होता है, अतः उससे व्यतिरिक्त कोई अलंकार दिखलाई नहीं देता अतः उसमें कविप्रतिभा अपेक्षणीय नहीं होगी और केवल अलंकार भी कोई दिखलाई नहीं देगा। और यदि काव्यजीवन के रूप में वह इस प्रकार की विवक्षित है तथापि अनौ-चित्य के साथ निबद्ध किये जाने पर भी वैसी हो जायेगी। यदि कहो कि औचित्यवाली अतिशयोक्ति ही काव्य का जीवन है तो रस भाव इत्यादि को छोड़कर औचित्य का निबन्धन और कुछ नहीं होता, अतः वही अन्तर्यामी मुख्य जीवन है वह अतिशयोक्ति नहीं। इससे जो कुछ लोग यह कहते हैं—औचित्यघटित सुन्दर शब्दार्थमय काव्य में दूसरी आत्मभूत ध्वनि को मानने की क्या आवश्यकता? वे अपने वचन को ही मानते हुए जो कि ध्वनि की सत्ता के स्वीकार करने में साक्षीरूप है, स्वयं ही निरस्त हो जाते हैं। अतएव मुख्यार्थबाध होनेसे और उपचारों में निमित्त तथा प्रयोजन की सत्ता से यह अभेदोपचार ही है। इससे अतिश-योक्ति का व्यंग्यत्व सिद्ध हो जाता है। जो कि दूसरे अलंकारों का स्वीकार करना कहा गया है वही तीन प्रकार से विभक्त करते हैं—'और उसका' यह। 'वाच्यत्व के द्वारा' यह। वह

भी वाच्या होती है। जैसे--'यह अन्य ही यहाँ कौन है' यह। यहाँ रूपक में भी अतिशयता शब्द का स्पर्श करनेवाली ही है। इस त्रिविधता का विषय विभाग बतलाते हैं—'उसमें' यह। अर्थात् उन प्रकारों के मध्य में जो पहला प्रकार उसमें।

वक्रोक्ति और गुणीभूतव्यङ्ग्य

तारावती—(प्रश्न) आपकी यह स्थापना कैसे विश्वसनीय हो सकती है कि सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति व्यंग्य के रूप में अन्तर्लीन रहती है ? भामह ने अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का सामान्य रूप माना है। सामान्य कभी भी व्यंग्य नहीं कहा जा सकता। व्यंग्य और सामान्य में यह अन्तर है कि व्यंग्य में पहले तो शब्द से वाच्यार्थ का बोध होता है; फिर बाद में शब्द से ही पृथक् रूप में व्यंग्यार्थ का बोध होता है। किन्तु सामान्य-विशेष के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। सामान्य और विशेष दोनों की प्रतीति एक साथ होती हैं; आगे पीछे नहीं। साथ ही सामान्य-विशेष दोनों की प्रतीति एकसाथ एकरूप में होती है पृथक् रूप में नहीं। (जैसे 'यह देवदत्त है' इस वाक्य में देवदत्त का एक अर्थ है एक विशेष व्यक्ति और सामान्य अर्थ है मनुष्यत्व। मनुष्यत्व और विशिष्ट व्यक्ति दोनों का एक साथ एक ही रूप में बोध होता है। न तो यही प्रतीत होता है कि मनुष्यत्व और है तथा विशिष्ट व्यक्ति और है और न यही होता है कि पहले विशिष्ट व्यक्ति का बोध हो और बाद में मनुष्यत्व का।) आशय यह कि व्यञ्जकत्व का पौर्वापर्य तथा पृथक्रूपता सामान्य-विशेष भाव में लागू नहीं होते। अतिशयोक्ति और दूसरे अलंकारों का भी सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध है। अन्य अलंकार विशेष होते हैं और अतिशयोक्ति सामान्य। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि अन्य अलंकारों में भी अतिशयोक्ति व्यंग्य रूप में सन्निहित रहती है ? (उत्तर) भामह का आशय यह नहीं हैं कि अतिशयोक्ति सामान्य रूप है अन्य अलंकार विशिष्ट रूप। भामह के मत में भी अतिशयोक्ति एक स्वतन्त्र अलंकार है तथा दूसरे अलंकार भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। अतिशयोक्ति तथा अन्य अलंकारों का अभेद सम्बन्ध औपचारिक (लाक्षणिक) है। भामह ने यह कहा है—

'जिस अतिशयोक्ति का लक्षण किया गया है वही सब वक्रोक्ति है अर्थात् सभी अलंकारों के प्रकार वह अतिशयोक्ति ही है; क्योंकि इससे अर्थ रमणीयता को प्राप्त कराया जाता है; कवि को चाहिये कि इस अतिशयोक्ति की योजना की ही चेष्टा करे क्योंकि कोई अलंकार अतिशयोक्ति के बिना हो ही नहीं सकता।'

(भामह का परिष्कृत पाठ 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' है। यही भामह की समस्त उपलब्ध प्रतियों में पाया जाता है और इसी को अन्य आचार्यों ने भी उद्धृत किया है। किन्तु यहाँ पर आनन्दवर्धन ने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' पाठ रक्खा है और उसी के आधार पर व्याख्या भी की है। अतः आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का सम्मत पाठ 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' ही ठहरता है।) यहाँ पर वक्रोक्ति का अर्थ किया गया है सभी अलंकार। भामह ने स्वयं ही कहा है—'वाच्य और शब्द की वक्र उक्ति ही वाणी का अभीष्ट अलंकार है।'

वक्रता शब्द का अर्थ है लोकोत्तर रूप में अवस्थित होना। यह लोकोत्तर रूप में अवस्थान शब्द का भी हो सकता है और अर्थ का भी हो सकता है। इसीलिये शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है। आशय यह है कि अलंकार का अलंकारत्व इसी में है कि शब्द और अर्थ की स्थिति लोकसामान्य रूप में न होकर लोकोत्तर रूप में हो। लोकोत्तर होना ही अतिशय का अर्थ है। इस प्रकार अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में सामान्य रूप में विद्यमान रहती है। सभी अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति के वर्तमान रहने का कारण यह है कि जो अर्थ सभी लोग सर्वदा प्रयुक्त करते रहते हैं और सभी के उपभोग के कारण जो अर्थ पुराना पड़ जाता है तथा अपना आकर्षण खो देता है उस अर्थ में भी यह अतिशयोक्ति नवीनता का संचार कर देती है और अतिशयोक्ति के समावेश से वह पुराना अर्थ भी विचित्र मालूम पड़ने लगता है जिससे उस अर्थ में एक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इस अतिशयोक्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि जगत् की प्रमदा उद्यान इत्यादि सामान्य वस्तुओं को भावोद्भावक बनाकर उन्हें विभावरूपता प्रदान कर देती है जिससे उन वस्तुओं के प्रति एक अनुराग जागृत हो जाता है। साथ ही विशेष रूप से भावित करती है अर्थात् रसमय बनाती है। (भामह ने कहा था 'अनया अर्थः विभाव्यते'। यहाँ पर 'विभाव्यते' के लोचनकार ने ३ अर्थ किये हैं—(१) 'वि' अर्थात् विचित्र रूप में 'भाव्यते' अर्थात् भावित जाता है। (२) विभावता को प्राप्त कराया जाता है और (३) 'वि' अर्थात् विशेष रूप में भावमय बनाया जाता है (अर्थात् रसमय कर दिया जाता है।) यह है भामह का कथन। इसमें कहा गया है कि 'अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति (सर्वालंकाररूप) है। यहाँ पर शुद्धा सारोपा लक्षणा मानी जानी चाहिये जैसे 'आयुर्घृतम्' में घी आयुवृद्धि का कारण होता है किन्तु उनमें अभेद सम्बन्ध स्थापित करके 'आयु ही घी है' इसका प्रयोग कर दिया जाता है। यही बात यहाँ पर भी है कि अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति (सामान्य अलंकार) है। यहाँ पर भेद होते हुये भी अभेद की स्थापना की गई है। अतः यह लाक्षणिक प्रयोग है। निष्पाद्य-निष्पादक भाव सम्बन्ध है। अतिशयोक्ति निष्पादक होती है; अन्य अलंकार निष्पाद्य। अतिशयोक्ति जिस अलंकार की पोषिका बनकर उसपर अधिष्ठित हो जाती है उसी अलंकार में रमणीयता आ जाती है। जिसकी पोषिका अतिशयोक्ति नहीं होती वह अलंकार मात्र ही रह जाता है अर्थात् उसमें अलंकार की जातीयता तो आ जाती है किन्तु उसका मूलतत्त्व रमणीयता नहीं आती। इसमें एक शर्त और है कि अतिशयोक्ति की योजना कवि-प्रतिभा से होनी चाहिये। यदि कवि-प्रतिभा से उसकी योजना नहीं होती तो कोई भी अलंकार अलंकार नहीं बनता। कहने का आशय यह कि अन्य अलंकारों की भी स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान है ओर अतिशयोक्ति भी स्वतन्त्र होती है। दोनों में अभेद या तादात्म्य की स्थापना को लक्षणा के द्वारा सम्पादित किया जाता है लक्षणा का निमित्त यह है कि अतिशयोक्ति में ऐसी योग्यता विद्यमान होती है जिससे वह अन्य अलंकारों की निष्पादिका बन सके तथा अन्य अलंकारों का रूप धारण कर सके। *लक्षणा का प्रयोजन यह है कि अतिशयोक्ति किसी भी अलंकार में चारुता का सम्पादन कर* देती है अन्यथा अलंकार अलंकार ही नहीं बन पाते।

'अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति (सामान्य अलङ्कार) है' यह। लक्षणा में तीन शर्तें होती हैं—मुख्यार्थबाध, निमित्त और प्रयोजन। ऊपर निमित्त और प्रयोजन दिखलाये जा चुके। अब मुख्यार्थबाध को भी समझ लीजिये—अतिशयोक्ति सामान्य अलंकार नहीं हो सकती क्योंकि यदि उसे सब अलंकारों का सामान्यरूप कहा जायगा तो उसका अलंकारों से तादात्म्य हो जायगा और उससे भिन्न कोई अलंकार ही न रहेगा। ऐसी दशा में अतिशयोक्ति ही अलंकार कहलाने लगेगी; अलंकारों की योजना में कवि-प्रतिभा की आवश्यकता ही न रह जायगी। साथ ही उससे भिन्न कोई सामान्य अलंकार रह ही नहीं जायगा। यदि कहो कि अतिशयोक्ति ही काव्य का जीवन मानी जाती है और आचार्यों का मन्तव्य उसे काव्यजीवन मानना ही है तो यदि अतिशयोक्ति अनौचित्यपूर्ण होगी तो भी वह काव्यजीवन बन जायेगी। यदि इस दोष को मिटाने के लिये यह माना जाय कि वह अतिशयोक्ति काव्यजीवन हो सकती है जो औचित्य के साथ निबद्ध की जाय तब तो हमारा कथन ही सिद्ध हो गया कि रस और भाव ही काव्य का जीवन होते है। क्योंकि केवल रस और भाव की ध्वनियाँ ही वह तत्त्व हैं जिनको दृष्टिगत रखते हुए औचित्य का निर्णय किया जाता है। औचित्य और कोई वस्तु नहीं है; वह तो केवल रस और भाव के अनुकूल रचना का ही दूसरा नाम है। रस और भाव अन्तर्यामी तत्त्व हैं। अतः उन्हें छोड़कर औचित्य और होगा ही क्या? अतः रस और भाव को ही काव्य का जीवन मानना चाहिये। इससे उन लोगों को भी उत्तर मिल गया जो यह कहते थे कि जब हम काव्म मानते ही ऐसे शब्द-अर्थ के समूह को हैं जिनकी संघटना औचित्य के साथ की गयी हो; इस प्रकार हमने औचित्य के सिद्धान्त को मान ही लिया तब ध्वनि की नई कल्पना की क्या आवश्यकता और उसमें भी ध्वनि को आत्मा मान लेना कहाँ तक ठीक है? जो लोग ऐसा कहते हैं उनसे तो हमारा निवेदन बस इतना ही है कि आपके वचनों से ही ध्वनि की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसके लिए हमें पृथक् रूप में किसी साक्षी के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं। आपके वचन ही इस दिशा में साक्षी का काम देते हैं। आप औचित्य को मानते हैं। औचित्व कभी भी रस और भाव से व्यतिरिक्त नहीं होता और रस और भाव सदा ध्वनित ही होते हैं। इस प्रकार औचित्य को मान लेना ही ध्वनि को मानने के लिये पर्याप्त है। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि काव्य की आत्मा ध्वनि ही होती है न तो औचित्य के साथ निबद्ध अतिशयोक्ति ही काव्य की आत्मा हो सकती है और न केवल अतिशयोक्ति काव्य की आत्मा हो सकती है। अतिशयोक्ति का अलंकारों से तादात्म्य भी नहीं हो सकता और न वह अलंकार का सामान्यरूप ही हो सकता है। इस प्रकार यह कहना किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं हो सकता कि 'अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है'। अतः इस कथन का बाध हो जाता है। निमित्त और प्रयोजन तो पहले ही दिखलाये जा चुके हैं। अत एव लक्षणा की तीनों शर्तें पूरी ही जाने से अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति कहना एक औपचारिक (लाक्षणिक) प्रयोग हो जाता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति की स्वतन्त्र स्थिति सिद्ध हो जाने से अन्य अलंकारों में उसकी अभिव्यक्ति ही मानी जायगी अलंकारों का सामान्य रूप नहीं। आशय यह है कि अन्य अलंकारों में अभिव्यक्त होकर अतिशयोक्ति उनका पोषण

करती है और इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य का रूप धारण कर लेती है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि अतिशयोक्ति किस प्रकार दूसरे अलंकारों का अङ्ग बनती है? दूसरे अलंकारों से इसका सांकर्य तीन रूपों में होता है—(१) कभी-कभी यह अतिशयोक्ति वाच्य होती है। जैसे 'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र' इत्यादि पद्य में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है क्योंकि केवल उपमानों का ही उपादान किया गया है उपमेयों का नहीं। उस रूपकातिशयोक्ति को 'यह कोई दूसरी ही कौन है?' यह कहकर वाच्य बना दिया गया है यह मार्ग वाच्यालंकार का है (२) कभी-कभी अतिशयोक्ति व्यंग्य होती है और उस व्यंग्य की ही वहाँ पर प्रधानता होती है। ऐसे अवसर पर ध्वनि कही जाती है। और (३) कभी-कभी अतिशयोक्ति व्यङ्ग्य होकर दूसरे अलंकारों के प्रति गौण हो जाती है। यह दशा गुणीभूतव्यङ्ग्य की होती है। (अतिशयोक्ति ध्वनि के उदाहरण के लिये अभिनवगुप्त का ही बनाया हुआ 'केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोः.........त्वमेका कृतिः।' इत्यादि पद्य उद्धृत किया जा सकता है। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय उद्योत की २७वीं कारिका में की जा चुकी है। गुणीभूत अतिशयोक्ति का उदाहरण 'उपोढरागेण विलोलतारकम्' इत्यादि पद्य है जिसकी व्याख्या प्रथम उद्योत की १३वीं कारिका में की जा चुकी है।)

(ध्वन्या०) अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलङ्काराणामस्ति तेषां तु न सर्वविषयः। अतिशयोक्तेस्तु सर्वालङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः। येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद्गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव। तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्काराणां केषाञ्चिदलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः। यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोलङ्कारगर्भत्वे। केषाञ्चिदलङ्कारमात्र गर्भतायां नियमः। यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे। केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति। यथा दीपकोपमयोः। तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम्। उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी। यथा मालोपमा। तथा हि 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते।

(अनु०) और यह प्रकार और अलंकारों के लिये भी है किन्तु उनकी सर्वविषयता नहीं होती। अतिशयोक्ति की तो सर्वालंकारविषयता भी सम्भव है, यह विशेषता है। और जिन अलंकारों में सादृश्य के द्वारा स्वरूपप्राप्ति होती है जैसे रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना इत्यादि में, उनमें गम्यमान धर्म के द्वारा ही जो सादृश्य वही अतिशय शोभाशाली होता है इस प्रकार वे सब अतिशय चारुता से युक्त होकर गुणीभूतव्यंग्य का ही विषय होते हैं। समासोक्ति, आक्षेप और पर्यायोक्त इत्यादि में प्रतीयमान अंश के अविनाभाव (अनिवार्य-सत्ता) में ही स्वरूप की व्यवस्था होने से गुणीभूतव्यंग्य होने में कोई विवाद नहीं रहता। और उस गुणीभूतव्यंग्यता में कुछ अलंकारों में विशिष्ट अलंकारों के गर्भित होते का नियम है। जैसे व्याजस्तुति की प्रेयोऽलंकारगर्भता का नियम है। कुछ का केवल अलंकार की गर्भता

का ही नियम है। जैसे सन्देहादिकों की उपमागर्भता में। कुछ अलंकारों की परस्पर गर्भता भी सम्भव है। जैसे दीपक और उपमा की। उसमें दीपक उपमागर्भत्व के रूप में प्रसिद्ध है। उपमा भी कदाचित् दीपक की छाया की अनुयायिनी होती है। जैसे मालोपमा। वह इस प्रकार—'प्रभा से महती शिखा से दीपक के समान' इत्यादि में दीपक की छाया स्फुटरूप में ही लक्षित होती है।

(लो०) नन्वतिशयोक्तिरेव चेदेवंभूता तत्किमपेक्षया प्रथमं तावदिति क्रमः सूचित इत्याशङ्क्याह—**अयं चेति**। योऽतिशयोक्तौ निरूपितोऽलङ्कारान्तरेऽनुप्रवेशात्मकः।

नन्वेवमपि प्रथममिति केनाशयेनोक्तमित्याशङ्क्याह—**तेषामिति**। एवमलङ्कारेषु तावद्व्यङ्ग्यस्पर्शोऽस्तीत्युक्त्या तत्र किं व्यङ्ग्यत्वेन भातीति विभागं व्युत्पादयति—**येषु चेति**। रूपकादीनां पूर्वमेवोक्तं स्वरूपम्। निदर्शनायास्तु 'क्रिययैव तदर्थस्य विशिष्टस्योपदर्शनम्। इष्टा निदर्शने'ति। उदाहरणम्—

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रतियियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥

प्रेयोऽलङ्कारेति। चाटुपर्यवसायित्वात्तस्याः। सा चोदाहृतैव द्वितीयोद्योतेऽस्माभिः। उपमागर्भत्व इत्युपमाशब्देन सर्व एव तद्विशेषा रूपकादयः, अथवौपम्यं सर्वसामान्यमिति तेन सर्वमाक्षिप्तमेव। **स्फुटैवेति**। 'तथा स पूतश्च विभूषितश्च' इत्येतेन दीपस्थानीयेन दीपनाद्दीपकमत्रानुप्रविष्टं प्रतीयमानतया, साधारणधर्माभिधानं ह्येतदुपमायां स्पष्टेनाभिधाप्रकारेणैव।

(अनु०) (प्रश्न) यदि अतिशयोक्ति ही इस प्रकार की है तो किसकी अपेक्षा 'पहले तो' कहकर क्रम सूचित किया है? यह शंका करके उत्तर देते हैं—'और यह' इत्यादि। जो अतिशयोक्ति में दूसरे अलंकारों में अनुप्रवेश रूप प्रकार निरूपित किया गया है वह।

(प्रश्न) इस प्रकार भी 'पहले' यह किस अभिप्राय से कहा गया? यह शंका करके कहते हैं—'उनका' यह। इस प्रकार अलंकारों में व्यंग्यस्पर्श तो होता है इस उक्ति से वहाँ पर व्यंग्य के रूप में क्या प्रतीत होता है इस विभाग का व्युत्पादन करते हैं—'और जिनमें' इत्यादि। रूपक इत्यादि का स्वरूप पहले ही बतला दिया गया। निदर्शना का तो—'क्रिया के द्वारा ही उस ही विशिष्ट अर्थ को दिखलाना निदर्शना मानी जाती है' यह स्वरूप है। उदाहरण—

'मन्द प्रकाशवाला यह सूर्य उदय पतन के लिए ही होता है यह श्रीमान् व्यक्तियों को बतलाते हुये अस्ताचल की ओर जा रहा है।'

'प्रेयोलंकार' यह। क्योंकि उसका पर्यवनान चाटूक्ति में होता है। उसका तो उदाहरण द्वितीय उद्योत में हमने दे ही दिया। 'उपमागर्भत्व' इसमें उपमाशब्द से रूपक इत्यादि उसके सब विशेष ले लिये जाते हैं। अथवा औपम्य सर्वसाधारण है उससे तो सभी आक्षिप्त ही हो जाता है। 'स्फुट ही है' यह। 'उसके द्वारा वह पवित्र भी हुआ और विभूषित भी'

दीपस्थानीय इस कथन के द्वारा दीपन करने से प्रतीयमान के रूप में दीपक यहाँ अनुप्रविष्ट हुआ है। यह साधारण धर्म का अभिधान इस उपमा में अभिधा प्रकार के द्वारा ही है।

अतिशयोक्ति से भिन्न अलंकारों में व्यञ्जना का योग

तारावती—(प्रश्न) अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में सामान्यतया व्यंग्य मानी जा सकती है। किन्तु यह एक ही अलङ्कार तो ऐसा है जो गुणीभूतव्यंग्य होकर दूसरे अलंकारों में रमणीयता की अभिवृद्धि करता है। फिर इस प्रकरण के आरम्भ में यह क्यों कहा गया था कि 'पहले तो अतिशयोक्ति ही व्यंग्य होती है!' यहाँ पर 'पहले तो' का क्या अर्थ है? इस कथन से ऐसा मालूम पड़ता है कि दूसरे अलंकार भी ऐसे होते हैं जो गुणीभूत होकर दूसरे अलंकारों का पोषण करते हैं। वे दूसरे अलंकार कौन हैं? (उत्तर) अतिशयोक्ति के विषय में इस प्रकार का निरूपण किया गया था वह दूसरे अलंकारों में अनुप्रविष्ट होकर उनका पोषण करती है। यह बात दूसरे अलंकारों के विषय में भी लागू होती है। (प्रश्न) यदि सभी अलंकार दूसरे में अनुप्रविष्ट हो सकते हैं ती अतिशयोक्ति को प्राथमिकता क्यों प्रदान की गई और 'पहले तो' यह इस रूप में क्यों कहा गया मानो अतिशयोक्ति में कोई विलक्षणता हो तथा उसका अन्य अलंकारों में सन्निवेश असन्दिग्ध हो? (उत्तर) निस्सन्देह अन्य अलंकारों की अपेक्षा इस दिशा में अतिशयोक्ति में कुछ विलक्षणता अवश्य होती है। अन्य अलंकार भी दूसरे अलंकारों में अनुप्रविष्ट होकर उनका पोषण करते हैं किन्तु अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों में सन्निविष्ट हो जाती है; अन्य अलङ्कार सभी में सन्निविष्ट नहीं हो सकते। अन्य अलङ्कारों की पोषकता कुछ सीमित होती है। यही इन दोनों में अन्तर है और इसीलिये अतिशयोक्ति को प्राथमिकता दी गई है। यहाँ तक यह बतलाया जा चुका कि एक अलङ्कार भी दूसरे अलङ्कार का पोषक हो सकता है और यह पोषण व्यंग्य के रूप में ही होता है। अब यहाँ पर दिखलाया जा रहा है कि अलंकारों में व्यंग्य अलङ्कार का स्पर्श किस प्रकार होता है जिससे व्यंग्य अलङ्कार गुणीभूत होकर दूसरे अलङ्कार का पोषण कर सके। पहले सादृश्यमूलक अलङ्कारों को लीजिये रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना इत्यादि जितने भी सादृश्यमूलक अलङ्कार होते हैं उनमें सादृश्य या उपमानोपमेय भाव व्यंग्य रहता है। इन सब अलङ्कारों में सादृश्य की अभिव्यञ्जना तो होती है किन्तु रमणीयता का पर्यवसान उस व्यंग्य सादृश्य में नहीं होता। किन्तु अलंकारों की अपनी-अपनी विशेषताओं में ही रमणीयता का पर्यवसान होता है। जैसे रूपक में सादृश्य की अभिव्यक्ति तो होती है किन्तु रमणीयता भेदस्थगन में ही सन्निहित रहती है जो कि रूपक की अपनी विशेषता है। व्यंग्य सादृश्य केवल रूपक का सहायक हो जाता है। अत एव कहा जा सकता है कि रूपक में सर्वत्र उपमा व्यंग्य होती है किन्तु वह गुणीभूत होकर रूपक को प्रधानता प्रदान कर देती है। यही बात दूसरे भी सादृश्यमूलक अलंकारों के विषय में समझनी चाहिये। प्रस्तुत रचना के पिछले प्रसङ्गों में रूपक, उपमा और तुल्ययोगिता के स्वरूप और उनके उदाहरणों पर यथास्थान विचार किया जा चुका है। केवल निदर्शना शेष रह जाती है जिसपर अबतक विचार नहीं किया गया है। निदर्शना का लक्षण यह है—

'निदर्शना उसे कहते हैं जिसमें किसी विशिष्ट अर्थ को क्रिया के द्वारा दिखलाया जाये।' उदाहरण—

'सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया है और अब यह अस्ताचल की ओर जाने का विचार कर रहा है। यह सम्पत्तिशालियों को शिक्षा दे रहा है कि संसार में सभी का उदय पतन के लिये ही होता है।'

यहाँ पर सूर्य अपने क्रियाकलाप के द्वारा श्रीमानों को उपदेश दे रहा है। अतः यह निदर्शना अलंकार है। इससे इस सादृश्य की व्यञ्जना होती है कि जिस प्रकार सूर्य का उदय पतन के लिये ही होता है उसी प्रकार श्रीमानों का उदय भी पतन के लिये ही होता है। यहाँ पर यह सादृश्य की व्यञ्जना चमत्कारपर्यवसायिनी नहीं है; चमत्कार तो क्रिया के माध्यम से सूर्य के उपदेश में हो है। अतः व्यंग्य सादृश्य गौण होकर वाच्य निदर्शना का पोषक होकर गुणीभूत हो गया है। इसी प्रकार सादृश्यमूलक अन्य अलंकारों के विषय में भी समझना चाहिये। (यहाँ पर व्यंग्य सादृश्य में उपमा का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु उपमा में सादृश्य व्यंग्य नहीं अपितु वाच्य ही होता है। तथापि कुछ उपमायें ऐसी अवश्य होती हैं जिनमें सादृश्य व्यंग्य ही होता है जैसे आर्थी उपमा के भेद, वाचकलुप्ता उपमा, वाचकधर्मलुप्ता उपमा इत्यादि। उपमा के उन्हीं भेदों को दृष्टिगत रखते हुये व्यंग्य-सादृश्य में उपमा का उल्लेख भी कर दिया गया है।) कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनका मूलाधार ही व्यंग्यार्थ होता है। वस्तु व्यञ्जना को लेकर ही उन अलंकारों की प्रवृत्ति हुआ करती है। इस प्रकार के अलंकारों में हैं समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त इत्यादि। इनमें व्यंग्यार्थ गौण होकर वाच्य चमत्कार का ही पोषण करता है। अतः इनमें भी व्यंग्य गुणीभूत हो जाता है। इनका विस्तृत विवेचन प्रथम उद्योत में ध्वनिस्थापन के प्रकरण में किया जा चुका है। वहीं देखना चाहिये। इस प्रकार यह बात तो निर्विवाद सिद्ध ही है कि समासोक्ति इत्यादि अलंकार भी व्यंग्यार्थमूलक ही होते हैं और उनका आधार भी गुणीभूत व्यंग्य ही होता है।

अलंकारों को कृतार्थ करने के गुणीभूत व्यंग्य के तीन प्रकार

गुणीभूत व्यंग्य अलंकारों को तीन प्रकार से कृतार्थ करता है—(१) कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें कोई विशेष अलंकार ही गुणीभूत रूप में गर्भित रहता है। उदाहरण के लिये व्याजस्तुति में प्रेयोलंकार नियमतः गर्भित रहता है। (व्याजस्तुति अलंकार का स्वरूप यह है कि जहाँ पर प्रकटरूप में निन्दा की गई हो किन्तु उसकी व्यंजना प्रशंसापरक हो अथवा जो प्रकटरूप में प्रशंसा हो और उसकी व्यजना निन्दापरक हो। इसका उदाहरण काव्यप्रकाश में यह दिया गया है—

'हे राजन्? जो लोग दूसरों के अनुरोध को ठुकराने के लिये सर्वथा रिक्तहृदय हो गये हैं उनमें आपसे बढ़कर अन्य कोई मूर्धन्य नहीं है और लक्ष्मी से बढ़कर कोई निर्लज्ज नहीं है! लक्ष्मी आप की शरण में आई और वह आपका सहारा चाहती है किन्तु आप सैकड़ों मार्गों से उसका अतिमात्रा में त्याग ही किये जा रहे हैं। अतः ज्ञात होता है कि आपको

शरणागत की रक्षा का कोई ध्यान ही नहीं। उधर लक्ष्मी इतनी निर्लज्ज है कि आप उसको कितना ही ठुकरायें और अपमानित करें किन्तु वह रहेगी तुम्हारे ही पास।'

यहाँ पर राजा की निन्दा की गई है जो राजा की दानशीलता और सम्पन्नतारूप प्रशंसा में पर्यवसित होती है। अतः यहाँ पर व्याजस्तुति अलङ्कार है।) व्याजस्तुति में प्रेयोलङ्कार सर्वदा गर्भित रहता है। प्रेयोलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ भावव्यञ्जना किसी अन्य तत्त्व की सहायिका होकर आती है। मान लीजिये कोई कवि राजा की प्रशंसा में ऐसी बात कहता है जिसका वाच्यार्थ निन्दापरक होता है तो उस व्याजस्तुति में कविगत राजविषयक रतिभाव व्यंग्य रहता है जोकि भावव्यञ्जना के क्षेत्र में आता है। इस प्रकार व्याजस्तुति में चाटुकारिता के गर्भित रहने के कारण व्याजस्तुति में पोषक रूप में प्रेयोलंकार सर्वदा सन्निहित रहता है। यह पहला प्रकार हुआ जिसमें विशिष्ट अलंकार दूसरे अलंकार में गर्भित रहता है। (२) दूसरा प्रकार यह होता है कि कुछ अलंकारों में सामान्य अलंकार पोषक रूप में सन्निहित रहता है। जैसे सन्देह अलंकार में उपमा गर्भित रहती है। (सन्देह का उदाहरण काव्यप्रकाश में यह दिया गया है—

'हे राजन् ? तुम्हें युद्धभूमि में देखकर तुम्हारे विपक्षी योद्धा इस प्रकार संकल्प-विकल्प किया करते हैं कि 'क्या यह सूर्य है ? किन्तु वह तो सात घोड़ों के रथपर चलता है। तो क्या यह अग्नि है ? किन्तु इसका विस्तार तो निश्चित रूप से सब दिशाओं की ओर नहीं हो रहा है। तब क्या यह यम है ? किन्तु वह तो साक्षात् महिषवाहन है।'

यहाँ पर संशयात्मक प्रतीति के स्वरूप के साथ सादृश्य की व्यञ्जना होती है कि राजा सूर्य के समान दुर्निरीक्ष्य है, अग्नि के समान तेजस्वी है और यमराज के समान संहारक है। इस प्रकार ससन्देह अलंकार में उपमा व्यंग्य रहती है।) यद्यपि यहाँ पर भी उपमा को गर्भित कहा गया है और उपमा भी एक विशिष्ट अलंकार है। अतः सन्देह भी विशिष्ट अलंकार को गर्भित करता है सामान्य अलंकार को नहीं। अतः इसको भी प्रथम कोटि में ही रखना चाहिये। किन्तु उपमा शब्द से उसकी समस्त विशेषतायें आ जाती हैं। इसमें रूपक भी गर्भित माना जा सकता है (अपह्नुति भी, व्यतिरेक भी। जैसे उक्त उदाहरण में 'यह राजा सूर्य है। यह रूपक; 'यह राजा नहीं है सूर्य है' यह अपह्नुति। 'राजा की अपेक्षा सूर्य विशेष है' यह व्यतिरेक। इस प्रकार प्रायः सभी सादृश्यमूलक अलंकार गर्भित हो जाते हैं।) अथवा औपम्य सर्वसामान्य अलंकार है। इस दृष्टि से कह दिया गया है कि कभी-कभी सामान्य अलंकार भी दूसरे अलंकार में गर्भित होता है। (३) कभी-कभी अलंकार एक दूसरे में गर्भित होते हैं। जैसे दीपक में उपमा गर्भित होती है और उपमा में दीपक गर्भित होता है। (दीपक का उदाहरण—

'कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम्॥'

'कृपणों के धन, नागों की फणमणि, सिंहों के केसर और कुलबालिकाओं के स्तन मृत्यु के पहले कहाँ स्पर्श किये जाते हैं ?'

यहाँ कुलबालिकाओं के स्तन प्रस्तुत हैं और कृपणों के धन, नागों की फणमणि और सिंहों के केसर ये अप्रस्तुत हैं। इनका स्पर्श न किया जा सकना रूप एक क्रिया में अन्वय होता है। अतः यह दीपक अलंकार है। इसमें उपमा व्यंग्य है—जिस प्रकार कृपणों के धनों का, नागों की फणमणियों का और सिंहों के केसरों का मृत्यु के पहले स्पर्श असम्भव है उसी प्रकार कुलबालिकाओं के स्तनों का भी मृत्यु के पहले स्पर्श असम्भव है। यह तो हुई दीपक में उपमा के गर्भित होने की बात।) उपमा में भी कभी-कभी दीपक गर्भित होता है और उसमें भी दीपक की रमणीयता पाई जाती है। उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में पार्वती से हिमालय की शोभा बढ़ाने के विषय में लिखा है—

प्रभामहत्या शिखयेव दीपकस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥

'जिस प्रकार प्रभा से बढ़ी हुई शिखा से दीपक की शोभा होती है; जिस प्रकार आकाशमार्ग त्रिपथगा गङ्गा जी से पूत होता है और जिस प्रकार संस्कारवती वाणी से मनीषी पवित्र होता है उसी प्रकार उस पार्वती से वह हिमालय पवित्र भी हुआ और विभूषित भी।'

यहाँ पर मालोपमा है। मालोपमा में स्पष्ट रूपमें साधारण धर्म का अभिधान किया जाता है और उस साधारण धर्म से सभी उपमायें जुड़ जाती हैं। जैसे उक्त उदाहरण में ही 'पूत' और 'विभूषित' होना साधारण धर्म है जिसका प्राक्कथन चतुर्थ पाद में किया गया है। उससे दीपशिखा इत्यादि सभी का सम्बन्ध हो जाता है। दीपक में भी यही होता है। जिस प्रकार दीपक एक स्थान पर रक्खा जाकर बाहर अन्दर दोनों ओर प्रकाश फैलाता है और दोनों ओर रक्खी हुई वस्तुओं का साक्षात्कार कराता है उसी प्रकार एक धर्म एक स्थान पर स्थित होकर जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों से सम्बद्ध हो जाता है तब वहाँ पर दीपक अलंकार माना जाता है। यहाँ पूत और विभूषित धर्म एक स्थान पर स्थित होकर प्रस्तुत पार्वती और अप्रस्तुत दीप-शिखा दोनों का दीपन करते हैं। अतः यह मालोपमा दीपकच्छायानुग्राहिणी है। दीपक का रूप यह होगा—'महती प्रभा से दीपक, त्रिपथगा से आकाश मार्ग, संस्कारवती भारती से मनीषी और पार्वती से हिमालय पवित्र भी हुये और विभूषित भी'। इस भाँति से तीन प्रकार हैं जिनसे एक अलंकार दूसरे में व्यंग्य होकर आता है।

(ध्वन्या०) तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः। गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुक्तानां सामान्यम्। तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति। एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठेनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्, आनन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव। तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः

सहृदयैः। सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम्।

(अनु०) वह इस प्रकार व्यंग्यांश के स्पर्श होने पर चारुत्वातिशययोगी रूपकादि सभी अलंकार गुणीभूतव्यंग्य का मार्ग है। उस प्रकार की जातिवाले उन सभी ही कहे हुये या न कहे हुये (अलंकारों) का गुणीभूतव्यंग्यत्व सामान्य (लक्षण) है। उसके लक्षित करने में ये सभी भली-भाँति लक्षित हो जाते हैं। सामान्य लक्षण से रहित एक-एक के स्वरूप विशेष कथन के द्वारा तो अनन्त होने के कारण (सभी) तात्विकरूप में उसी प्रकार नहीं जा सकते जिस प्रकार प्रतिपद पाठ के द्वारा शब्द नहीं जाने जा सकते। वाणी के विकल्प अनन्त होते हैं और उसी के प्रकार अलंकार हैं। गुणीभूतव्यङ्ग्य की तो व्यङ्ग्यार्थानुगमरूप प्रकारान्तर से विषयता है ही। वह इस प्रकार दूसरा भी महाकवियों का विषय अत्यन्त रमणीय होता है जोकि सहृदयों के द्वारा लक्षित किया जाना चाहिये। सर्वथा सहृदयों के सहृदयों को आकर्षित करने वाले काव्य का वह प्रकार नहीं है जहाँ प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श से सौभाग्य नहीं होता। वह यह बहुत बड़ा काव्य का रहस्य है यह विद्वानों को समझ लेना चाहिये।

(लो०)—**तथा जातीयानामिति**। चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। **सुलक्षिता इति**। यत्किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत्काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवय' इति। रूपकं 'खलेवाली यूप' इति। श्लेषः 'द्विर्वचनेऽचीति' तन्त्रात्मकः। यथासंख्यं 'तुदीशालातुरे'ति। दीपकं 'गामश्वम्' इति। ससन्देहः 'स्थाणुर्वा स्यात्' इति। अपह्नुतिः 'नेदं रजतमि'ति। पर्यायोक्तं 'पीनो दिवा नात्तीति'। तुल्ययोगिता 'स्थाघ्वोरिच्च' इति। अप्रस्तुतप्रशंसा सर्वाणि ज्ञापकानि यथा पदसंज्ञायामन्तवचनम्—'अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न' इति। आक्षेपश्चोभयत्र विभाषासु विकल्पात्मकविशेषाभिधित्सया इष्टस्यापि विधेः पूर्वनिषेधनात् प्रतिषेधेन समीकृत इति—न्यायात्। अतिशयोक्तिः 'समुद्रः कुण्डिका' 'विन्ध्यो वर्धितवानर्कवर्त्मागृह्लात्' इति। एवमन्यत्।

न चैवमादि काव्योपयोगीति, गुणीभूतव्यङ्ग्यतैवात्रालङ्कारतायां मर्मभूता लक्षिताः तान् सुष्ठु लक्षयति। यया सुपूर्णं कृत्वा लक्षिताः संगृहीता भवन्ति, अन्यथा त्ववश्यमव्याप्तिर्भवेत्। तदाह—**एकैकस्येति**। न चातिशयोक्तिवक्रोक्त्युपमादीनां सामान्यरूपत्वं चारुताहीनानामुपपद्यते, चारुता चैतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं सामान्यलक्षणम्। व्यङ्ग्यस्य च चारुत्वं रसाभिव्यक्तियोग्यतात्मकम्, रसस्य स्वात्मनैव विश्रान्तिधाम्न आनन्दात्मकत्वमिति नानवस्था काचिदिति तात्पर्यम्। **अनन्ता हीति**। प्रथमोद्योत एव व्याख्यातमेतत् 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यत्रान्तरे।

ननु सर्वेष्वलङ्कारेषु नालङ्कारान्तरं व्यङ्ग्यं चकास्ति; तत्कथं गुणीभूतव्यङ्ग्येन लक्षितेन सर्वेषां संग्रहः। मैवम्, वस्तुमात्रं वा रसो वा व्यङ्ग्यं सद् गुणीभूतं भविष्यति तदेवाह—**गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य चेति**। प्रकारान्तरेण वस्तुरसात्मनोपलक्षितस्य। यदि वेत्थमवतरणिका—ननु गुणीभूतव्यङ्ग्येनालङ्कारा यदि लक्षितास्तर्हि लक्षणं वक्तव्यं किमिति नोक्तमित्याशङ्क्याह—**गुणीभूतेति**। **विषयत्वमिति**। लक्षणीयत्वमिति यावत्।

केन लक्षणीयत्वं ध्वनिव्यतिरिक्तो यः प्रकारो व्यङ्ग्यत्वेनार्थानुगमो नाम तदेव लक्षणं तेनेत्यर्थः। व्यङ्ग्ये लक्षिते तद्गुणीभावे च निरूपिते किमन्यदस्य लक्षणं क्रियतामिति। तात्पर्यम्। एवं 'काव्यस्यात्मा ध्वनि'रिति निर्वाह्योपसंहरति—तदयमित्यादिना सौभाग्यमित्यन्तेन। प्रागुक्तं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमिति तत्र प्रतारणमात्रमर्थवादरूपं मन्तव्यमिति दर्शयितुम्—**तदिदमिति** ॥३६॥

(अनु०) 'उस प्रकार की जातिवालों का' यह। अर्थात् चारुताशयवाले। 'सुलक्षित' यह। निस्सन्देह इनका जो उससे विनिर्मुक्त रूप है वह काव्य में प्रार्थनीय नहीं होता। निस्सन्देह उपमा–'जैसी गाय वैसा गवय'। रूपक 'खलेवाली (खलिहान का स्तूप) यूप है'। श्लेष 'द्विवचर्चनेऽचि' में तन्त्ररूप। यथासंख्या—'तुदी शालातुर' इत्यादि। दीपक 'गाय घोड़ा' यह। ससन्देह—'अथवा स्याणु ही' यह। अपह्नुति—'यह चाँदी नहीं है' यह। पर्यायोक्त—'स्थूल नहीं खाता है'। तुल्ययोगिता—'स्थाघ्वोरिच्च' यह। अप्रस्तुतप्रशंसा सब ज्ञापक होते हैं जैसे पद संज्ञा में अन्त वचन—'अन्यत्र संज्ञाविधि में प्रत्यय ग्रहण में तदन्तविधि नहीं होती' यह। और आक्षेप उभय विभाषाओं में विकल्पात्मक विशेषों के कहने की इच्छा से इष्ट भी विधि का पहले निषेध के साथ प्रतिषेध से सम कर दिया गया इस न्याय से। अतिशयोक्ति–'समुद्र कूंडी' है; 'विन्ध्याचल बढ़ा और सूर्य के मार्ग को ग्रहण कर लिया' यह। ऐसे ही और भी।

इत्यादि यह सब काव्योपयोगी नहीं होता अतः गुणीभूतव्यङ्ग्यता ही यहाँ पर मर्मभूत है (और) वह लक्षित की हुई होकर भली भाँति उन (अलङ्कारों) को लक्षित करा देती है जिससे परिपूर्ण करके लक्षित किये (अलंकार) संगृहीत हो जाते हैं अन्यथा तो व्याप्ति अवश्य ही हो जाय। वह कहते हैं—'एक-एक का' यह। चारुताहीन अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, उपमा इत्यादि का सामान्य रूपत्व ही उपपन्न नहीं होता। चारुता तो इसके आधीन ही होती है इस प्रकार यही गुणीभूतव्यंग्यत्व (अलंकारों का) सामान्य लक्षण है। व्यङ्ग्य का चारुत्व तो रसाभिव्यक्ति योग्यतात्मक होता है। रस अपने आप ही विश्रान्तिधाम होने से आनन्दात्मक होता है। अतः कोई अनवस्था नहीं है यह तात्पर्य है। 'निस्सन्देह अनन्त' यह। प्रथम उद्योत में ही इसकी व्याख्या कर दी गई—'वाणी के विकल्पों के अनन्त होने से' इसके अन्दर।

(प्रश्न) सभी अलंकारों में दूसरा अलंकार व्यंग्य रूप में प्रकाशित नहीं होता फिर किस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के लक्षित करने से सबका सग्रह हो जाता है? (उत्तर) ऐसा नहीं। वस्तुमात्र या रस व्यंग्य होकर गुणीभूत हो जायँगे। वह कहते हैं—'और गुणीभूत व्यंग्य का' यह। प्रकारान्तर का अर्थ है वस्तु रसात्मक रूप में उपलक्षित। अथवा अवतरण इस प्रकार का होगा—(प्रश्न) यदि गुणीभुत व्यंग्य द्वारा अलंकार लक्षित हो गये तो लक्षण कहना चाहिए वह क्यों नहीं कहा? यह शंका करके कहते हैं—'गुणीभूत' यह। 'विषयत्व' यह। अर्थात् 'लक्षणीयत्व।' किसके द्वारा लक्षणीयत्व? 'ध्वनि से व्यतिरिक्त जो व्यंग्यत्व से अनुगम रूप प्रकार वही लक्षण उसके द्वारा' यह अर्थ है। तात्पर्य यह है कि व्यंग्य के लक्षित कर देने पर और उसके गुणीभाव के निरूपित कर दिये जाने पर इसका और क्या लक्षण किया जाय?

इस प्रकार काव्य की आत्मा ध्वनि है इसका निर्वाह करके उपसंहार करते हैं—'तो यह' इत्यादि के द्वारा 'सौभाग्य' यहाँतक। पहले कहा हुआ 'सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूत' यह प्रतारण मात्र अर्थवाद रूप नहीं माना जाना चाहिये यह दिखलाने के लिये कहा है—वह इस प्रकार इत्यादि।

गुणीभूत व्यंग्य की अलंकारों में अनिवार्यता

तारावती—ऊपर जो कुछ विवेचन किया गया उससे स्पष्ट है कि रूपक इत्यादि अलंकारों में चारुता की अतिशयता तभी आती है जब उनमें व्यंग्यांश का स्पर्श हो। इस प्रकार जितना भी अलंकार मार्ग है वह सब गुणीभूतव्यंग्य का मार्ग ही कहा जा सकता है। जो अलंकार ऊपर बतलाये गये हैं जैसे दीपक उपमा तुल्ययोगिता इत्यादि और जो नहीं बतलाये गये हैं जैसे अर्थान्तरन्यास अप्रस्तुतप्रशंसा इत्यादि सभी अलंकारों में रमणीयता गुणीभूत-व्यंग्य के द्वारा ही होती है। अतः गुणीभतव्यंग्य सभी अलंकारों का सामान्य लक्षण है। गुणीभूतव्यंग्य को ठीक रूप में समझ लेने से सभी अलंकार अनायास ही समझ में आ जाते हैं। यदि विना गुणीभूतव्यंग्य के वैसे ही अलंकार की सत्ता मानी जाय तो निम्नलिखित स्थानों पर भी अलंकार माना जाने लगेगा:—

(१) उपमा उसे कहते हैं जिसमें दो वस्तुओं का सादृश्य बतलाया जाय। यह परि-भाषा तो 'गाय के समान गवय होता है' इसमें लागू हो जाती है। अतः यह भी उपमा कही जायगी।

(२) रूपक में एक वस्तु का दूसरे पर आरोप किया जाता है। 'खलेवाली' खलिहान के खम्भे को कहते हैं और यूप यज्ञ के स्तम्भ को कहते हैं। जिसमें पशु बाँधा जाता है। यदि कहा जाय कि 'खलेवाली यूप है' तो इसमें खलेवाली पर यूप का आरोप होने से रूपक का लक्षण लागू हो जाता है। अतः इसे भी रूपक कहा जाने लगेगा।

(३) श्लेष उसे कहते हैं जिसमें एक शब्द के एक से अधिक अर्थ लिये जायँ। व्याकरण में कई एक सूत्र ऐसे हैं जिनमें किसी शब्द का एक बार प्रयोग किया जाता है और अर्थ दो बार लिया जाता है। इसी प्रक्रिया को व्याकरण में तन्त्र कहते हैं। उदाहरण के लिये एक सूत्र है 'द्विर्वचनेऽचि', इसका अर्थ है—

'यदि द्वित्वनिमित्तक अच् बाद में हो और द्वित्व करना हो तो स्वर के लिये कोई आदेश नहीं होता।' यहाँ पर 'द्विर्वचने' के दो अर्थ किये गये हैं। (१) द्वित्व निमित्तक अच् बाद में होने पर (२) द्वित्व के करने योग्य होने पर। तह तन्त्र की प्रकिया है। यहाँ पर श्लेष का लक्षण लागू हो जाता है। अतः इसे भी श्लेष कहा जाने लगेगा।

(४) यथासंभव अलंकार वहाँ पर होता है जहाँ समान संख्यावालों का क्रमशः अन्वय होता है। व्याकरण में भी नियम बनाया गया है 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' अर्थात् समान सम्बन्धवाली विधि क्रमशः होती है। लोचन में 'तुदीशालातुर' यह उदाहरण दिया गया है। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। किसी-किसी पुस्तक में 'सूचीमालान्तरेति' यह वाक्य पाया जाता है। सम्भवतः ये किसी प्रतिष्ठित शास्त्रीय ग्रन्थ के उदाहरण हैं जिनका पता नहीं। इसका

अधिक स्पष्ट उदाहरण है—'एचोऽयवायावः' अर्थात् 'ए, ओ, ऐ और औ को अय्, अव्, आय् और आव् आदेश हो जायँ।' 'ए ओ' इत्यादि चार हैं और अय् इत्यादि भी चार हैं। इनका क्रमशः अन्वय होता है ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय्, और औ को आव् हो जाता है। इस लक्षण के अनुसार यथासंख्य अलंकार कहा जा सकता है।

(५) दीपक उसे कहते हैं जिसमें एक धर्म में बहुतों का अन्वय होता है। 'गाय, घोड़ा, पुरुष और पशु को लाओ' यहाँ लाना रूप धर्म के साथ गाय इत्यादि कई का अन्वय होता है। अतः इसमें दीपक का लक्षण घटित हो जाता है।

(६) ससन्देह अलंकार उसे कहते हैं जिसमें सन्देह प्रकट किया जाय। 'यह पुरुष है या स्थाणु है' इसे भी ससन्देहालंकार कह सकते हैं।

(७) अपह्नुति उसे कहते हैं जहाँ प्रकृत का निषेध करके अप्रकृत को सिद्ध किया जाय। 'यह चांदी नहीं है किन्तु शुक्ति है' इसमें अपह्नुति का लक्षण घट जाता है।

(८) पर्यायोक्त उसे कहते हैं जहाँ भङ्गिमा के साथ गम्य अर्थ को ही कहा जाय। 'स्थूल देवदत्त दिनमें नहीं खाता' यहाँ भङ्गिमा से कहा गया है कि 'देवदत्त रात में खाता है।' इस प्रकार यहाँ पर्यायोक्त का लक्षण घट जाता है।

(९) तुल्ययोगिता—यदि एक धर्म में सभी प्रस्तुतों या सभी अप्रस्तुतों का योग हो तो तुल्ययोगिता अलंकार होता है। दीपक और तुल्ययोगिता में अन्तर यह है कि दीपक में प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों दोनों का एक धर्म में अभिसम्बन्ध होता है जब कि तुल्ययोगिता में केवल प्रस्तुतों का एक धर्म में सम्बन्ध होता है। पाणिनी जी का एक सूत्र है—'स्थाघ्वोरिच्च' यह सूत्र लुङ्लकार में स्था और घुसंज्ञक (दा और धा) धातुओं में 'आ' को 'इ' करता है और सिच् को कित् करता है जिससे गुण नहीं होता तथा 'अदित' यह रूप बनता है। यहाँ पर स्था और घु दोनों प्रस्तुत हैं और उनका एक धर्म 'इत्' आदेश तथा कित्त्व में अभिसम्बन्ध होता है। अतः यहाँ पर तुल्ययोगिता अलंकार कहा जा सकता है।

(१०) अप्रस्तुतप्रशंसा—उसे कहते हैं जिसमें अप्रस्तुत का अभिधान किया जाय और इससे प्रस्तुत का आक्षेप हो जाय। जैसे यदि कार्य का वर्णन करना हो तो कारण का वर्णन कर दिया जाय, कारण का वर्णन करना हो तो कार्य का वर्णन कर दिया जाय, यदि सामान्य का वर्णन करना हो तो विशेष का वर्णन कर दिया जाय और यदि विशेष का वर्णन करना हो तो सामान्य का वर्णन कर दिया जाय। इसी प्रकार जिस वस्तु का वर्णन करना हो उसके समान किसी अन्यवस्तु का वर्णन कर दिया जाय। व्याकरण में जितने व्यापक हैं वे सब इसके उदाहरण हो सकते हैं। जैसे एक नियम है कि 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' अर्थात् जहाँ कहीं प्रत्यय ग्रहण करना हो वहाँ तदन्त का ग्रहण हो जाता है। इस नियम के अनुसार यदि पद संज्ञा का सूत्र इस प्रकार बनाया जाता—'सुप्तिङ् पदम्' तो प्रत्यय होने के कारण सुप् का अर्थ होता सुबन्त और तिङ् का अर्थ होता तिङन्त इस प्रकार सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती, यह अर्थ हो ही जाता। फिर इस सूत्र में अन्तग्रहण कर 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र क्यों बनाया गया? यह अन्तग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'यदि अन्यत्र संज्ञाविधि में

प्रत्यय ग्रहण हो तो तदन्त विधि नहीं होती।' इस प्रकार आचार्य को कहना तो यह सामान्य नियम है, किन्तु इस सामान्य को न कहकर विशिष्ट अन्त ग्रहण कर दिया गया है जिससे कथनीय सामान्य का आक्षेप हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण घट जाता है।

(११) आक्षेप अलंकार उसे कहते हैं जहाँ किसी विशेष बात को कहने की इच्छा से निषेध कर दिया जाय। व्याकरण में ऐसे कई स्थल हैं जहाँ आचार्य विकल्प से किसी विधि को लागू करना चाहता है। वहाँ पर विकल्प विधान न करके वह पहले तो अभीष्ट विधि का निषेध कर देता है और फिर उस निषेध का निषेध कर देता है जिससे दोनों विधियाँ सिद्ध हो जाती हैं और विकल्प भी सिद्ध हो जाता है। यहाँ पर विशेष बात कहनी है विकल्प। उसके लिये निषेध का विधान किया गया है। अतः यहाँ आक्षेप अलंकार हो सकता है।

(१२) अतिशयोक्ति कई प्रकार की होती है। उसमें—

(क) अभेदातिशयोक्ति जहाँ भेद में अभेद का प्रतिपादन किया जाय। जैसे कूंडी और और समुद्र दोनों भिन्न पदार्थ हैं किन्तु जलबाहुल्य को प्रदर्शित करने के लिये कूंडी को समुद्र कह दिया जाय। (ख) जहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना की जाय उसे सम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं। जैसे 'विन्ध्याचल बढ़ा और उसने सूर्य के मार्ग को रोक लिया।' विन्ध्याचल के न तो बढ़ने का सम्बन्ध हो सकता है और न सूर्य मार्ग के रोकने का ही सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु दोनों के सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतः यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति का लक्षण घटित हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के विषय में समझना चाहिये।

गुणीभूतव्यंग्य से सभी अलंकारों की गतार्थता

ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं। उनमें निर्दिष्ट अलंकारों के लक्षण मिल जाते हैं फिर भी उन्हें अलंकार नहीं माना जाता क्योंकि उनमें गुणीभूतव्यंग्य का योग होकर रमणीयता उत्पन्न नहीं हुई है। सारांश यही है कि अलंकारता का सारभूत तत्त्व गुणीभूतव्यंग्य ही है। यदि गुणीभूतव्यंग्य को ठीक रूप में समझा जा सके तो अन्य अलंकार स्वयं ही भलीभाँति समझ में आ जायेंगे। गणीभूतव्यंग्य से परिपूर्ण कर यदि किसी अलंकार का प्रयोग किया जाता है तो वह अलंकार वास्तविक अलंकार बन जाता है और वह अलंकार ठीक रूप में लक्षित तथा संगृहीत किया जा सकता है। यदि गुणीभूतव्यंग्य का सामान्य लक्षण विद्यमान न हो तो उपरिनिर्दिष्ट स्थानों पर भी अलंकारों के सामान्य लक्षण घटित हो जायँगे और यह अतिव्याप्ति दोष होगा। सारांश यह है कि गुणीभूतव्यंग्य का सामान्य लक्षण कर देने मात्र से ही अन्य अलंकार संगृहीत हो जाते हैं। विशिष्ट लक्षण बनाना न तो पर्याप्त ही है और न उससे काम ही चल सकता है। एक बात और है यदि एक एक को लेकर सभी अलंकारों के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाय और सामान्य लक्षण पर निर्भर न रहा जा सके तो अलंकारों का पूरा वर्णन हो ही न सकेगा। कारण यह है जैसा कि प्रथम उद्योत के प्रारम्भ में दिखलाया भा चुका है वाणी के विकल्प अनन्त होते हैं और उस वाग्विकल्प के ही प्रकार अलंकार हैं। अतः अलंकारों की भी इयत्ता नहीं हो सकती। जब अलंकार अनन्त

होते हैं तब उनका एक एक करके विवेचन सम्भव ही कैसे हो सकता है। अलंकारों की दशा वैसी ही है जैसी प्रतिपद पाठ में शब्दों की होती है। प्रतिपद पाठ का आशय वैय्याकरण महाभाष्य में पस्पशाह्निक में महर्षि पतंजलि ने उपक्रम में लिखा है—

'अब हमें शब्दों का उपदेश करना है। कैसे करें ? क्या शब्दों की प्रतिपत्ति में प्रतिपद पाठ करें ? गाय, घोड़ा, हाथी, पक्षी, मृग, ब्राह्मण इत्यादि अलग-अलग शब्दों को पढ़ दें ? नहीं यह कहते हैं शब्दों की प्रतिपत्ति में प्रतिपद पाठ कोई उपाय नहीं है। निस्सन्देह ऐसा सुना जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र से दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रतिपदोक्त शब्दों का शब्द परायण कहा किन्तु अन्त तक नहीं पहुँचे। बृहस्पति तो कहनेवाले, इन्द्र अध्ययन करनेवाले, दिव्य सहस्र वर्ष अध्ययन काल; फिर भी अन्त तक नहीं पहुँचे। फिर आज का तो कहना ही क्या ? जो पूर्ण चिरंजीवी हो वह १०० वर्ष जीवित रहता है। उसकी आयु ही शब्दों को सुनते-सुनते समाप्त हो जायगी। उसकी विद्या का उपयोग क्या होगा ? क्योंकि विद्या का उपयोग तो चार प्रकार से होता है—आगम काल, स्वाध्याय काल, प्रवचन काल और व्यवहार काल। अत एव शब्दों की प्रतिपत्ति के लिये प्रतिपद पाठ कोई ठीक उपाय नहीं है। तो क्या करना चाहिये ? कुछ लक्ष्य-लक्षण बना दिये जाने चाहिये कुछ सामान्य हों कुछ विशेष। जैसे 'कर्म उपपद होने पर अण् प्रत्यय होता है' यह नियम बना दिये जाने पर कुम्भकार, नगरकार इत्यादि सैकड़ों शब्द बन जाते हैं।'

जो बात प्रतिपद पाठ के विषय में वैय्याकरण कहते हैं वही बात अलङ्कारों के विषय में लागू होती है। जितनी कवितायें हैं उतने ही अलंकार-भेद हो सकते हैं। युगों से कविता होती चली आ रही है किन्तु उसका अन्त न तो हुआ और न हो ही सकता है। इसी प्रकार अलंकार भी अनन्त हैं। उनका एक-एक करके विवेचन असम्भव है। अतः उनके सामान्य तत्त्व का निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा और वह सामान्य तत्त्व है गुणीभूतव्यंग्य। इसके समझ लेने से सभी अलंकार समझे हुये हो जाते हैं।

(प्रश्न) अलंकारों में चारुता का आधान करनेवाला तत्त्व है गुणीभूतव्यंग्य, फिर गुणीभूतव्यंग्य में चारुता का आधान करनेवाला कोई दूसरा तत्त्व होना चाहिये। उस तत्त्व में चारुता का आधान करनेवाला कोई और तत्त्व होना चाहिये। इस प्रकार अनवस्था दोष क्यों नहीं आ जाता। (उत्तर) यहाँ कोई अनवस्था नहीं है। यह तो सिद्ध ही है कि अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, उपमा इत्यादि जितने भी अलंकार हैं उनमें सामान्य धर्म रमणीयता ही है। यदि उनमें रमणीयता नहीं होगी तो उनका कोई सामान्य धर्म भी नहीं बनेगा। रमणीयता का सम्पादन गुणीभूतव्यंग्य के द्वारा ही होता है। अतः गुणीभूतव्यंग्य होना ही अलंकारों का सामान्य लक्षण है। गुणीभूत व्यंग्य में चारुताव्यंग्य की होती है। व्यंग्य की चारुता का आशय यही है कि उसमें ऐसी योग्यता हो कि वह रस की अभिव्यक्ति कर सके। रस की अभिव्यक्ति करना व्यंग्य की चारुता का मूलाधार है। रस स्वयं ही आनन्दात्मक तथा हृदय की विश्रान्ति का धाम होता है जब वह स्वयं आनन्दरूप होता है तब उसकी चारुता का मूलाधार वह स्वयं ही है। ऐसी दशा में अनवस्था दोष आता ही नही।

(प्रश्न) यह तो हमने माना कि कुछ अलंकार ऐसे अवश्य होते हैं जिनमें दूसरे अलंकार व्यंग्य होकर उनका पोषण करते हैं, किन्तु सभी अलंकार तो ऐसे नहीं होते जिनमें दूसरे अलंकार व्यंग्य होकर अवश्य उनका पोषण करें। फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि गुणीभूत-व्यंग्य को लक्षित कर लेने से सभी अलंकार लक्षित हो जाते हैं। (उत्तर) यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि अतिशयोक्ति अलंकार तो सभी अलंकारों में व्यंग्य रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि गुणीभूतव्यंग्य का तो दूसरा विषय भी हो सकता है और वह विषय हो सकता है वस्तुव्यञ्जना या रसव्यञ्जना का अनुगम रूप। आशय यह है कि गुणीभूतव्यंग्य में केवल अलंकार ही व्यंग्य होकर सहायक नहीं होते अपितु वस्तु या रस भी अभिव्यक्त होकर गुणीभूतव्यंग्य का रूप धारण कर सकते हैं। अतः कोई भी अलंकार व्यंग्यशून्य नहीं होता। यह दूसरी बात है कि उसमें अलंकार व्यंग्य न होकर वस्तु या रस व्यंग्य हो।

गुणीभूतव्यंग्य का लक्षण

(प्रश्न) आप ने यह तो कहा कि गुणीभूतव्यंग्य लक्षण है और अलंकार लक्ष्य। किन्तु आपने गुणीभूतव्यंग्य का लक्षण क्यों नहीं किया? (उत्तर) गुणीभूतव्यंग्य विषय है अर्थात् उसका लक्षण बनाना है। उसका लक्षण है प्रकारान्तर से व्यङ्ग्यार्थानुगम अर्थात् यदि यह पूछा जाय कि वह कौन सा तत्त्व है जिसका लक्ष्य गुणीभूत होता है तो इसका उत्तर होगा व्यंग्यत्व के रूप में जो अर्थानुगम होता है वह जहाँ कहीं मुख्य होकर ध्वनिरूपता को धारण करता है उसके अतिरिक्त जितना भी व्यंग्यत्व होता है वह सब गुणीभूतव्यंग्य का ही लक्षण कहा जा सकता हैं और उसी के द्वारा गुणीभूतव्यंग्य लक्षित होता है। हमें गुणीभूतव्यंग्य का ही तो लक्षण बनाना है। गुणीभूतव्यंग्य में दो शब्द हैं—गुणीभूत और व्यंग्य। व्यंग्य का पूरा परिचय दे ही दिया गया और गुणीभूत की भी पूरी व्याख्या कर दी गई। अब गुणीभूत-व्यंग्य के विषय में कहने को शेष ही क्या रह गया। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे इस कथन का पूरा निर्वाह हो गया कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। यह जो गुणीभूतव्यंग्य का प्रकार दिखलाया गया यह ध्वनि का निष्यन्द रूप है जो कि बहुत ही रमणीय होता है और महा-कवियों का एक उत्तम विषय है। सहृदयों को भलीभाँति इसका परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये। काव्य सहृदयों के हृदय को आकर्षित करनेवाला होता है उस काव्य का ऐसा कोई प्रकार होता ही नहीं जिसमें व्यंग्य का समावेश हो जाने पर रमणीयता नहीं आ जाती। यह जो पहले कहा गया था कि समस्त सत्कवियों के काव्यों का यह उपनिषद् है यह केवल वञ्चना के लिए ही नहीं कहा गया था और न यह अर्थवाद ही था। अर्थवाद उसे कहते हैं जिसके सत्य होने की तो बात नहीं होती किन्तु दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बढ़ा-चढ़ाकर किसी की प्रशंसा कर दी जाती है। आशय यह है कि केवल प्रशंसा के लिए और दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये ही यह असत्प्रलाप नहीं कर दिया गया कि ध्वनि समस्त काव्यों का उपनिषद्भूत प्रधान सारभाग है यह जो कुछ कहा गया वह सर्वांश सत्य है।

ध्वनिनिष्यन्द का अर्थ

(यहाँ पर गुणीभूतव्यंग्य को ध्वनि का निष्यन्द कहा गया है । निष्यन्द शब्द का अर्थ है थोड़ा-थोड़ा क्षरित होना या टपकना । किसी पदार्थ का जो सार तत्त्व थोड़ा-थोड़ा करके टपकता है उसे निष्यन्द कहते हैं ! ध्वनिकार का आशय यह है कि ध्वनि एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है और उसका सारभूत तत्त्व गुणीभूतव्यंग्य है । काव्य का जीवन ध्वनि है और ध्वनि का सारभूत तत्त्व गुणीभूतव्यंग्य है । इस विषय में दीधितिकार ने लिखा है कि यहाँ पर निष्यन्द का अर्थ नवनीत नहीं है अपितु आमिक्षा है । आमिक्षा का अर्थ है फटे हुये दूध से निकाला हुआ जलीय अंश । दीधितिकार का कहना है कि यदि निष्यन्द को ठीक अर्थ में नवनीत के समान सारभाग मान लिया जायगा तो इसका आशय यह होगा कि गुणीभूतव्यंग्य ध्वनि की अपेक्षा भी अधिक उत्तम है जब कि वास्तविकता ऐसी नहीं है । अतः गुणीभूत-व्यंग्य को ध्वनि का नवनीत न मानकर उसे ध्वनि का फटा हुआ छेना ही कहना अधिक ठीक होगा । किन्तु यहाँ पर विचार यह करना है कि लेखक गुणीभूतव्यंग्य की प्रशस्ति लिख रहा है और महाकवियों को उपदेश दे रहा है कि वे उसे अपना विषय बनायें । आगे चलकर ग्रन्थकार इस बात का भी प्रतिपादन करेगा कि जहाँ गुणीभूतव्यंग्य का अवसर हो वहाँ ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिये । पहले भी लेखक कह चुका है उच्चकोटि के काव्यों में इसी गुणीभूतव्यंग्य की योजना करनी चाहिये । ऐसी दशा में लेखक गुणीभूतव्यंग्य को फटे दूध की उपमा देगा यह कुछ सभझ में नहीं आता । वास्तविकता यह है कि प्रत्येक काव्य की परिणति तो ध्वनि में ही होती है । जहाँ कहीं व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्य को प्रधानता प्राप्त होती है वहाँ भी उसकी प्रधानता का एकमात्र कारण यही होता है उसमें चमत्कार तथा आनन्द प्रदान करवे की शक्ति अधिक होती है । आनन्द स्वयं रसरूप है जो व्यंग्य होता है । अतः उस काव्य को भी ध्वनिकाव्य ही कहेंगे । इस प्रकार ध्वनिकाव्य के दो भेद हो जाते हैं—(१) ऐसी ध्वनि जिसमें वाच्यार्थ निम्न हो और व्यंग्यार्थ को प्रधानता प्राप्त हो जाय और (२) ऐसी ध्वनि जिसमें वाच्यार्थ उत्कृष्ट हो और उस वाच्यार्थ को कोई दूसरा व्यंग्यार्थ अनुप्राणित कर रहा हो जिससे उसमें अलंकार की मधुरिमा भी आ गई हो तथा समस्त काव्य का पर्यवसान अन्तिम रसव्यञ्जना में हो । निस्सन्देह प्रथम प्रकार की अपेक्षा द्वितीय प्रकार का काव्य उच्चकोटि का होगा ही । यही आनन्दवर्धन का अभिप्राय है) ।।३६।।

(ध्वन्या०) मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ।।३७।।

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते तद्यथा—

विश्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः ।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ।।

इत्यत्र केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं वस्त्वक्लिष्ट-मनन्तमर्पयता का छाया नोपपादिता ।

(अनु०) 'अलंकारों को धारण करनेवाली महाकवियों की यह प्रतीयमान के द्वारा सम्पादित छाया उसी प्रकार मुख्य होती है जिस प्रकार स्त्रियों की लज्जा आभूषण' ।।३७।।

इसके द्वारा सुप्रसिद्ध भी अर्थ किसी (अद्वितीय) कमनीयता को प्राप्त करा दिया जाता है। वह इस प्रकार—

'मन्मथ के आदेशपालन में मुग्धाक्षी के जो विश्वासपूर्वक उठे हुए कोई भी लीला-विलास हैं वे केवल चित्त से एकान्त में बैठकर निरन्तर भावना करने योग्य हैं।'

वाच्य को अस्पष्टरूप में कहनेवाले 'कोई भी' इस शब्द के द्वारा अक्लिष्ट और अनन्त प्रतीयमान को अर्पित करते हुये कौन सी छाया उपपादित नहीं कर दी।

(लो०) **'मुख्यभूषे'ति** । अलङ्कृतिभृतामपि शब्दादलङ्कारशून्यानामपीत्यर्थः । प्रतीयमानकृता छाया शोभा, सा च लज्जासदृशी गोपनासारसौन्दर्यप्राणत्वात् । अलङ्कार-धारिणीनामपि नायिकानां लज्जा मुख्यं भूषणम् । प्रतीयमानच्छाया अन्तर्मदनोद्भेदज-हृदयसौन्दर्यरूपा यया, लज्जाह्यन्तरुद्भिन्नमान्मथविकारजुगोपयिषारूपा मदनविजृम्भ-णैव । वीतरागाणां यतीनां कौपीनापसारणेऽपि त्रपाकलङ्कादर्शनात् । तथा हि कस्यापि कवेः—'कुरङ्गीवाङ्गानि' इत्यादि श्लोकः । तथा प्रतीयमानस्य प्रियतमाभिलाषानुनाथ-नमानप्रभृतेः छाया कान्तिः यथा । शृङ्गाररसतरङ्गिणी हि लज्जावरुद्धा निर्भरतया तांस्तान् विलापान् नेत्रगात्रविकारपरम्परारूपान् प्रसूत इति गोपनासारसौन्दर्यलज्जा-विजृम्भितमेतदिति भावः ।

विश्रम्भेति । मन्मथाचार्येण त्रिभुवनवन्द्यमानशासनेन अत एव लज्जासाध्वस-ध्वंसिना दत्ता येयमलङ्घनीयाज्ञा तदनुष्ठानेऽवश्यं कर्तव्ये सति साध्वसलज्जात्यागेन विश्रम्भसम्भोगकालोपनताः । **मुग्धाक्ष्या इति** । अकृतकसम्भोगपरिभावनोचितदृष्टिप्रसर-पवित्रिता येऽन्ये विलासा गात्रनेत्रविकाराः, अत एवाक्षुण्णाः नवनवरूपतया प्रतिक्षण-मुन्मिषन्तस्ते, केवलेनान्यत्राव्यग्रेणैकान्तावस्थानपूर्वं सर्वेन्द्रियोपसंहारेण भावयितुं शक्या अर्हाः उचिताः । यतः केनापि नान्येनोपायेन शक्यनिरूपणा ।।३८।।

(अनु०) 'मुख्य आभूषण' यह । 'अलंकार धारण करनेवाली भी' भी का अर्थ है अलंकार शून्य भी । प्रतीयमान के द्वारा की हुई छाया अर्थात् शोभा और वह लज्जा के समान होती है क्योंकि उसका प्राण है ऐसा सौन्दर्य जिसका सार गोपन ही होता है । अलंकार धारण करनेवाली भी नायिकाओं का लज्जा मुख्य भूषण है। अन्दर मदन के उद्भेद से हृदय की सुन्दरता रूप जो छाया वह प्रतीयमान है जिसके द्वारा निस्सन्देह लज्जा हृदय में उद्भेद को प्राप्त होनेवाले काम विकार के गोपन करने की इच्छा रूप कामदेव का विजृम्भण ही है । क्योंकि वीतराग यतियों के अन्दर कौपीन के अपसारण से भी लज्जा रूप कलंक के दर्शन नहीं होते वह इस प्रकार किसी कवि का—'कुरंगीवाङ्गानि' इत्यादि श्लोक । उसी प्रकार प्रतीयमान की अर्थात् प्रियतम की अभिलाषा, प्रार्थना, मान इत्यादि की छाया अर्थात् कान्ति है जिसके द्वारा । निस्सन्देह शृंगार रस की नदी लज्जा से अवरुद्ध होकर नेत्र तथा शरीर के विकार

रूप विभिन्न विलासों को उत्पन्न करती है इस प्रकार जिस सौन्दर्य का सारभाव गोपन ही है इस प्रकार की लज्जा का यह यह सब विजृम्भण है।

'विश्रम्य' यह। त्रिभुवन के द्वारा वन्दनीय शासनवाले अत एव लज्जा के साध्वस को ध्वस्त करने वाले मन्मथ आचार्य के द्वारा जो यह अलंघनीय आज्ञा दी गई है उसके अनुष्ठान के अवश्य करणीय होने पर साध्वस और लज्जा के त्याग के साथ विश्रब्ध सम्भोग काल में आये हुये (जो लीला विलास हैं) मुग्धाक्षी होने के कारण बनावट रहित सम्भोग के आस्वाद के योग्य दृष्टि प्रसार से पवित्र किये हुये जो दूसरे विलास अर्थात् शरीर और नेत्र के विकार हैं अत एव अक्षुण्ण अर्थात् प्रतिक्षण नये-नये रूप में उद्भूत होनेवाले (लीलाविलास हैं) वे केवल अर्थात् अन्यत्र व्यग्र न होनेवाले (चित्त) से अर्थात् एकान्त में अवस्थानपूर्वक सब इन्द्रियों के उपसंहार के द्वारा भावित करने के योग्य हैं। क्योंकि किसी भी अन्य उपमा से निरूपण नहीं किया जा सकता ॥३७॥

प्रतीयमान अर्थ की महत्ता

तारावती—३७वीं कारिका में प्रतीयमान अर्थ का काव्य में महत्त्व बतलाया गया है। इसमें कहा गया है कि चाहे कोई स्त्री कितने हो आभूषण क्यों न पहिने हुये हो अथवा वह आभूषणों से सर्वथा शून्य हो (अलंकारशून्यता का अर्थ 'अलङ्कृतिभृतामपि' के अपिशब्द से प्राप्त होता है।) किन्तु उसका मुख्य आभूषण लज्जा ही होता है क्योंकि उसमें प्रतीयमान की छाया (शोभा) होती है उसी प्रकार किसी कवि की वाणी में कितने ही अलंकारों का प्रयोग क्यों न किया गया हो अथवा उसमें एक भी अलंकार न हो किन्तु उसका मुख्य आभूषण प्रतीयमान की शोभा ही है। यहाँ पर प्रतीयमान को स्त्रियों के लज्जा आभूषण की समता प्रदान की गई है। इसके दो कारण हैं एक तो लज्जा भाव में गोपन की प्रवृत्ति होती है। लज्जाशीलता से जब ललनायें अपने भाव को छिपाती हैं तब उसमें एक सौन्दर्य आ जाता है। यह सौन्दर्य भावगोपन का ही सौन्दर्य होता है। और यही लज्जा का प्राण है। इसी प्रकार ध्वनि में भी गोपन का ही सौन्दर्य होता है। कवि जिस बात को कहना चाहता है उसे उस रूप में न कहकर गोपन के साथ कहता है। इसी सादृश्य के आधारपर प्रतीयमानजन्य रमणीयता को ललनाओं की लज्जा से उपमित किया गया है। दूसरी बात यह है कि नायिकायें कितने ही आभूषण क्यों न पहिन लें जब तक उनमें लज्जाशीलता नहीं आयेगी तब तक वे आकर्षक हो ही नहीं सकती। दूसरी ओर यदि उनके पास एक भी आभूषण न हो किन्तु लज्जाशीलता विद्यमान हो तो वे आकर्षण में हेतु बन जाती हैं। इसी प्रकार काव्य में अलंकारों का होना न होना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। यहाँ पर प्रतीयमान च्छाया शब्द लज्जा का भी विशेषण हो सकता है। उस दशा में इसमें बहुव्रीहि समास होगा और इसका अर्थ हो जायगा—प्रतीयमान है छाया जिसमें अर्थात् जिस लज्जा में सौन्दर्य की प्रतीति होती है। जब अन्तःकरण में काम बासना अंकुरित होती है तब हृदय में एक सरसता उत्पन्न हो जाती है। उस सरसता के कारण हृदय में एक रमणीयता उत्पन्न हो जाती है जोकि बाह्य चेष्टाओं को भी रमणीय बना देती है, लज्जा उसी रमणीयता का एक रूप है। लज्जा और है क्या? हृदय में जो काम विकार उद्भूत हुआ है उसको

छिपाना ही तो लज्जा है। अत एव यह भी तो कामकला की ही एक चेष्टा है। फिर इसमें रमणीयता क्यों न आयेगी। जिनमें काम-विकार नहीं होताउनके अन्दर लज्जा भी नहीं होती। वीतराग महात्माओं की यदि कौपीन भी हटा ली जाय तो भी उनमें लज्जा का कलंक दिखलाई न देगा। किसी कवि ने कहा है—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमवि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्॥

'जोकि यह नायिका गाने की ध्वनियों में अपने अंगों को हरिणी के समान स्थिर बना लेती है। वह अपने प्रीतम के विषय में सभी बातें सुन भी लेती है फिर भी सखी के द्वारा पुनः प्रश्न कराती है, बिना ही निद्रा के अन्दर ही अन्दर सोने लगती है, इन सब बातों से प्रकट होता है कि कामदेव ने इसके हृदय में नवीन प्रेमलता को सींचना प्रारम्भ कर दिया है।'

यहाँ पर नायिका का गीतों में अंगों को सिकोड़ने लगना, प्रियतम के विषय में सुनी हुई बात को बार-बार सखी द्वारा पूछना और विना ही निद्रा के अन्दर ही अन्दर सोने लगना लज्जा-जन्य चेष्टायें हैं जिनसे अनुमान होता है कि उसके अन्दर काम विकार का नवोन संचार हुआ है और उसके हृदय की प्रेमलता धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। कहने का सारांश यही है कि लज्जा-जन्य चेष्टायें सर्वदा कामविकार से प्रवृत्त होती हैं और उसी की परिचायिका होती हैं। इस लज्जा में जो कामविकार प्रतीत होता है उसके अनेक अनुबन्ध होते हैं। जैसे प्रियतम की अभिलाषा तथा उसकी आकांक्षा और प्रार्थना, मान इत्यादि। इन सबकी छाया अर्थात् कान्ति उस लज्जा में सन्निहित रहती है। यह श्रृंगार रस भी एक नदी की धारा के समान है। जिस प्रकार नदी की धारा को रोक देने से उसमें इधर-उधर लहरें फैल जाती हैं उसी प्रकार जब इस श्रृंगार की नदी को लज्जा रूपी बाँध से रोक दिया जाता है तब उसमें अत्यधिक परिमाण में विलास उत्पन्न हो जाते हैं। जो अनेक प्रकार के होते हैं और जिनमें नेत्र, और शरीर के दूसरे अङ्गों के विकार सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार लज्जा में ऐसा सौन्दर्य सन्निहित रहता है जिसका सार होता है भावगोपन और यह सारा क्रिया कलाप लज्जा का ही होता है। यह सब उसी का प्रसारमय चेष्टा कलाप है।

एक उदाहरण लीजिये—

'कामदेव की आज्ञा मानने में मुग्धाक्षी के जो लीलाविलास विश्वासपूर्वक उद्भूत हुये हैं वे नये-नये रूप में सामने आ रहे हैं और उनका भावन केवल चित्त से एकान्त में बैठकर के ही किया जा सकता है।'

कामदेव एक आचार्य है और ऐसा आचार्य है कि जिसकी आज्ञा की अवहेलना तीनों लोकों में कोई कर ही नहीं सकता। संसार के बड़े से छोटे तक सभी चेतन अचेतन पदार्थ नतमस्तक होकर भगवान कामदेव की आज्ञा का अभिनन्दन करते हैं। उस कामदेव ने इस नायिका को भी आदेश दिया है कि यह भी अपने लीलाविलास प्रारम्भ करे। यह कामदेव की

आज्ञा लज्जा को भी नष्ट करनेवाली है और भय को भी दूर कर देती है। यह आदेश अलङ्घनीय है और इसका अनुष्ठान करना अपरिहार्य है। संयोगवश ऐसे व्यक्ति का सहवास-काल भी आ उपस्थित हुआ है जिससे विश्वास की मात्रा बढ़ गई है। अतः उस अवसर पर भगवान् कामदेव की आज्ञा का पालन करने के लिये जो लीलामय विलास, चेष्टायें उपनत होती हैं उनका उत्थान विश्वास के साथ होता है। नायिका मुग्धाक्षी है। उसकी आँखों में भोलापन है; अतः सम्भोगजन्य आनन्द का अनुभव करने में जिस प्रकार के दृष्टिपातों का उसे अभ्यास है उसमें बनावट बिलकुल नहीं है जिससे उन विलासचेष्टाओं में पवित्रता आ गई है। ये विलास शरीर तथा नेत्र के अन्दर बिकार उत्पन्न करनेवाले हैं। इसीलिये ये अक्षुण्ण हैं अर्थात् प्रतिक्षण ये नये-नये रूप में प्रस्फुटित होते जाते हैं। इनको समझ सकना और इनका आस्वादन कर सकना ऐसे वैसे सम्भव नहीं है। यह तभी हो सकता है जब अपनी चित्तवृत्ति को चारों ओर से हटाकर एकनिष्ठ करके तथा एकान्त स्थान पर बैठकर उनकी भावना की जाय और सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से हटा ली गई हों। अन्य कोई उपाय नहीं है जिससे उनको समझा जा सके।

यहाँ पर कटाक्षों के लिये कहा गया है 'कोई' कटाक्ष। यहाँ कोई का अर्थ है जिनका निर्वचन करना अशक्य है। यहाँ पर वाच्य को अस्पष्ट रूप में कहा गया है; उससे अभि-व्यञ्जना होती है कि उस नायिका के लीलाविलासों में कोई एक ऐसी विलक्षणता है कि उसका कथन कर सकना सर्वथा असम्भव है। उसके विलासों में इतने गुण हैं कि उनका परिसंख्यान भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार विलासों की महत्ता, उत्कृष्टता और अपरिमेयता इत्यादि अनेकों व्यञ्जनायें अनायास ही हो जाती हैं। क्या इससे कोई एक नई शोभा उद्भूत नहीं होती? अथवा ऐसी कौनसी रमणीयता है जो इस 'केऽपि' शब्दसे उद्भूत नहीं होती? (यहाँ पर 'केऽपि' का वाच्यार्थ स्फुट करने के लिये उक्त अभिव्यक्तियों की व्याख्या करनी पड़ेगी। अतः यहाँ पर अभिव्यङ्ग्य अर्थ वाच्यसिद्धि का अङ्ग होने से गुणी-भूतव्यङ्ग्यकी कोटि में आता है। यह कारिका भी गुणीभूतव्यङ्ग्य की ही महत्ता बतलाती है। एक तो यह गुणीभूतव्यंग्य के प्रकरण के मध्य में आई है; दूसरे 'एषा प्रतीयमानच्छाया' में 'एषा' शब्द उसी ओर संकेत करता है ॥३७॥)

(ध्वन्या०) अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३८॥

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते। यथा 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'।

(अनु०) काकु के द्वारा जो यह अर्थान्तरप्रतीति देखी जाती है वह व्यङ्ग्य के गुणी-भूत होने से इस (गुणीभूतव्यङ्ग्य) के प्रकार का आश्रय लेती है ॥३८॥

और जो यह काकु के द्वारा कहीं अर्थान्तरप्रतीति देखी जाती है वह व्यङ्ग्य अर्थ के गुणीभूत होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य लक्षणवाले इस काव्यप्रभेद का आश्रय लेती है। जैसे 'मेरे जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हो जायँ।'

(लो०) गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणान्तरमाह—**अर्थान्तरेति।** 'कक लौल्ये' इत्यस्य धातोः काकुशब्दः। तत्र हि साकांक्षनिराकांक्षादिक्रमेण पाठ्यमानोऽसौ शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमस्याभिधीयते। यदि वा ईषदर्थे 'कु' शब्दस्तस्य कादेशः। तेन हृदयस्य वस्तुप्रतीतेरीषद्भूमिः काकुः तया यार्थान्तरगतिः स काव्यविशेष इमं गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारमाश्रितः। तत्र हेतुर्व्यङ्ग्यस्य तत्र गुणीभाव एव भवति। अर्थान्तरगतिशब्देनात्र काव्यमेवोच्यते। न तु प्रतीतेरत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं वक्तव्यं, प्रतीतिद्वारेण वा काव्यस्य निरूपितम्।

अन्ये त्वाहुः—व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्वमेवेति। तच्चासत्, काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्, काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिद्धर्मस्तेन स्पृष्टं 'गोप्यैवं गदितः सलेशम्' इति, हसन्नेत्रार्पिताकूतम्' इति वच्छब्देनैवानुगृहीतम्। अत एव 'भम धम्मिअ' इत्यादौ काकुयोजने गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव व्यक्तोक्तत्वेन तदाभिमानाल्लोकस्य। स्वस्था इति, भवन्ति इति मयि जीवति इति, धार्तराष्ट्रा इति च साकांक्षदीप्तगद्गदतारप्रशमनोद्दीपनचित्रिता काकुरसम्भाव्योऽयमर्थोऽत्यर्थमनुचितश्चेत्यमुं व्यङ्ग्यमर्थं स्पृशन्ती तेनैवोपकृता सती क्रोधानुभावरूपतां व्यङ्ग्योपस्कृतस्य वाच्यस्यैवाभिधत्ते।

(अनु०) गुणीभूतव्यङ्ग्य के दूसरे उदाहरण को कहते हैं—'अर्थान्तर' यह। कक् लौल्ये' इस धातु का काकु शब्द बनता है। उसमें साकांक्ष और निराकांक्ष इत्यादि क्रम से पढ़ा हुआ यह शब्द प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त भी चाहता है अतः इसका लौल्य कहा जाता है। अथवा ईषद् अर्थ में 'कु' शब्द है जिसको 'का' आदेश हो जाता है। इससे हृदयस्थ वस्तु की प्रतीति का थोड़ा स्थान है उसके द्वारा जो दूसरे अर्थ की प्रतीति वह काव्यविशेष इसी गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक प्रकार के आश्रित है। उसमें हेतु व्यङ्ग्य का वहाँ गौण हो जाना ही होता है। अर्थान्तरगति शब्द से यहाँ काव्य ही कहा जाता है, प्रतीति का तो यहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व नहीं कहा जा सकता। अथवा प्रतीति के द्वारा वह (गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व) काव्य का निरूपित किया गया है।

और लोग तो कहते हैं—'व्यंग्य के गुणीभाव में यह प्रकार है अन्यथा तो वहाँ पर भी ध्वनि ही होती है' यह। वह ठीक नहीं है क्योंकि काकुप्रयोग में सर्वत्र शब्द से स्पृष्ट होने के कारण उन्मीलित भी व्यंग्य का गुणीभाव हो जाता है। काकु शब्द का ही कोई धर्म है, उससे स्पर्श किया हुआ शब्द के द्वारा ही अनुगृहीत होता है जैसे 'गोपी के द्वारा इस प्रकार साभिप्राय कहा हुआ' और 'हंसते हुए नेत्र के द्वारा संकेत देकर' इत्यादि में (शब्द के द्वारा कहा गया है) अत एव 'हे धार्मिक भ्रमण करो' इत्यादि में काकु की योजना करने पर गुणीभूतव्यंग्यता ही होगी क्योंकि वहाँ पर व्यक्त रूप में उक्त होने से लोक का अभिमान (उसी में है।) 'स्वस्थ' यह 'होते हैं' यह 'मेरे जीवित रहते हुते' वह और 'धार्तराष्ट्र' यह आकांक्षा युक्त दीप्त और गद्गद के साथ तार प्रशमन और उद्दीपन के द्वारा विचित्र बनायी हुई काकु ध्वनि 'यह अर्थ असम्भाव्य है और अत्यन्त अनुचित है' इस व्यंग्य अर्थ का स्पर्श करते हुये उसी के द्वारा उपकृत होकर व्यंग्य से उपस्कृत वाच्य की ही क्रोधानुभावरूपता को कहती है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य का दूसरा प्रकार—
काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य

तारावती—गुणीभूतव्यंग्य का एक दूसरा प्रकार और होता है जिसे काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं। ३८ वीं कारिका में उसी का परिचय दिया गया है। (दीधितिकार ने अवतरण में लिखा है—'काक्वाक्षिप्तरूप गुणीभूतव्यंग्य के प्रकार का निरूपण कर रहे हैं जबकि लोचनकार ने काक्वाक्षिप्त को गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण कहा है। लोचनकार का आशय यह है कि ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यंग्य का क्षेत्र अनन्त बतलाया है; उन्होंने उसका प्रकार-विभाजन नहीं किया। यह काक्वाक्षिप्त व्यंग्य भी उसी प्रकार गुणीभूतव्यंग्य का एक उदाहरण हो सकता है जिस प्रकार पहले बतलाया गया है कि अनेक अलंकार गुणीभूतव्यंग्य के ही उदाहरण होते हैं।) कारिका का आशय यह है कि 'देखा जाता है कि काकु से दूसरे अर्थ की प्रतीति हो जाती है, उसमें भी व्यंग्य गुणीभूत ही होता है; अतः वह भी इसी प्रकार के अन्दर सन्निविष्ट हो जाती है।'

काकु शब्द की निष्पत्ति दो प्रकार से बतलाई जा सकती है (१) लौल्य अर्थवाली 'कक्' धातु से 'उण्' प्रत्यय होकर काकु शब्द बनता है। काकु का लौल्य (लोभ) यही है कि वह अपने अर्थ से सन्तुष्ट न रहकर दूसरे अर्थ को भी अपने में सम्मिलित करना चाहता है। काकु दो प्रकार का होता है साकांक्ष और निराकांक्ष क्योंकि वाक्य भी दो ही प्रकार का होता है। जिस वाक्य से जितना वाच्यार्थ आ रहा हो उतने ही वाच्यार्थ तक सीमित न रहकर जहाँ अधिक या न्यून अर्थ लिया जाता है और जिसका निर्णय बाद में प्रमाण के द्वारा किया जाता है वह साकांक्ष वाक्य होता है तथा जहाँ अर्थ स्वभाव-पर्यवसित होता है वह वाक्य निराकांक्ष कहलाता है। साकांक्ष वाक्य में जो काकु होता है वह साकांक्ष काकु कहलाता है और निराकांक्ष वाक्य में जो काकु होता है उसे निराकांक्ष काकु कहते हैं। इसी प्रकार कण्ठध्वनि के अनुसार इसके दीप्तत्व इत्यादि भेद भी होते हैं। इन सब के क्रम से जहाँ काकु का प्रयोग किया जाता है वहाँ वह प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का भी लोभ रखता है। अतः उसे काकु कहते हैं। (२) ईषत् अर्थ में 'कु' शब्द है। उसका 'का' आदेश हो जाता है। इसका आशय यह है कि काकु उसे कहते हैं जिसमें हृदय में स्थित वस्तु की बहुत थोड़ी प्रतीति कराई जाय। उस काकु से जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह भी इसी प्रकार (गुणीभूतव्यङ्ग्य) का ही आश्रय लेता है। यहाँ पर 'अर्थान्तरगतिः' इस शब्द का बोध्यार्थ काव्य है। अर्थात् इसका आशय यह है कि जिस काव्य में काकु से अर्थान्तर गति होती है उसे इसी प्रकार में समावेश प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ काव्य ही गुणीभूत होता है, प्रतीति गुणीभूत नहीं होती। अथवा प्रतीति को गुणीभूत कहकर यहाँ पर काव्य के गुणीभाव का निरूपण किया गया है। (यहाँ पर 'अर्थान्तरगति' शब्द में दो प्रकार से समास किया जा सकता है—बहुव्रीहि 'अर्थान्तर की गति (प्रतीति) है जिसमें' अर्थात् काव्य और तत्पुरुष समास अर्थात् अर्थान्तर की प्रतीति। प्रथम अर्थ के अनुसार काव्य की गुणीभूत-व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है और दूसरे के अनुसार प्रतीति की गुणीभूतव्यंग्यता सिद्ध होती है।

दूसरे अर्थ के अनुसार भी प्रतीति के माध्यम से काव्य को ही गुणीभूतव्यंग्य कहा जा सकता है ।)

(कारिका के 'व्यंग्यस्य गुणीभावे' में सप्तमी विभक्ति की व्याख्या दो अर्थों में की जा सकती है—निमित्त सप्तमी में और भाव सप्तमी (सति सप्तमी) में । निमित्त सप्तमी मानने पर अर्थ यह होगा कि क्योंकि काकु में व्यंग्य गुणीभूत होता है इसीलिये वहाँ पर गुणीभूत-व्यंग्य काव्य कहा जाता है । दूसरी व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ होगा—'जहाँ कहीं काकु से अभिव्यक्त होनेवाला व्यंग्यार्थ गुणीभूत हो जाता है वहाँ गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहा जाता है । दोनों व्याख्याओं में अन्तर यह है कि प्रथम के अनुसार जहाँ कहीं काकु का प्रयोग होगा वहाँ सर्वत्र गुणीभूतव्यंग्य ही माना जायगा । किन्तु दूसरी व्याख्या के अनुसार गुणीभूतव्यंग्य समस्त काकु स्थलों में नहीं होगा, अपितु केवल वहीं होगा जहाँ काकु गुणीभूत हो । यदि काकु व्यंग्य अर्थ गुणीभूत न होकर प्रधान होगा तो वहाँ पर ध्वनि ही होगी । लोचनकार ने इस प्रथम अर्थ को ही मान्यता दी है और यह सिद्धान्त माना है कि जहाँ कहीं काकु हो वहाँ सर्वत्र गुणभूतव्यंग्य हो होता है । यहाँ लोचनकार ने दूसरे पक्ष को उठाया है और उसका खण्डन किया है ।) और लोग तो यह कहते हैं कि व्यंग्य के गुणीभाव में ही यह प्रकार होता है अन्यथा तो वहाँ पर भी ध्वनि ही होती है । यह उन लोगों का कहना ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ कहीं काकु का प्रयोग होता है वहाँ सर्वत्र यदि व्यङ्ग्य उन्मीलित भी होता है तो भी शब्द के द्वारा ही उसका स्पर्श कर लिया जाता है और वह व्यङ्ग्य सर्वथा गुणीभूत हो जाता है । काकु तो शब्द का ही एक विशेष धर्म है । (भय क्रोध शोक इत्यादि भावनाओं में शब्द का विभिन्न भंगिमा के साथ उच्चारण किया जाता है जिससे शब्द से ही वे भावनायें व्यक्त हो जाती हैं ।) ऐसे अनेक स्थल होते हैं जहाँ व्यञ्जना तो होती है किन्तु किसी शब्द के द्वारा उसे कह दिया जाता है । जैसे 'गोपी ने यह साभिप्राय रूप में कहा' 'हंसते हुये नेत्रों से संकेत करके' इत्यादि में अभि-व्यक्त अर्थ को शब्दों के द्वारा व्यक्त कर दिया जाता है और अभिप्राय अथवा संकेत की व्याख्या करने के लिये व्यङ्ग्यार्थ का उपयोग करना पड़ता है । अतः व्यङ्ग्यार्थ इन शब्दों का अर्थ कहने में अपने को गौण बना देता है । यही बात काकु के विषय में कही जा सकती है । बिना व्यङ्ग्यार्थ का प्रयोग किये काकु की व्याख्या ही नहीं हो सकती । यह पता ही नहीं चल सकता कि वक्ता ने शब्दों का उच्चारण एक विशेष प्रकार से क्यों किया । अतः सर्वत्र काकु प्रयोग में गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होता है और कारिका में 'व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे' में सति सप्तमी न मानकर निमित्त सप्तमी मानी जानी चाहिये । ध्वनि के उदाहरण 'भम धम्मिय' इत्यादि में भी यदि काकु का प्रयोग किया जाय तो लोक तो वहाँ पर भी गुणीभूतव्यंग्य ही मानेगा ।

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान् स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

यह वेणीसंहार का पद्य है । भीमसेन कह रहे हैं :—

'लाक्षागृह, अनल, विषान्न और द्यूतसभा प्रवेश के द्वारा हमारे प्राणों और धन सञ्चयों पर प्रहार करके तथा पाण्डववधू के वस्त्र, और केशों को खींचकर मेरे जीवित रहते हुये धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हों ?'

यहाँ पर यह व्यञ्जना निकलती है कि बात सर्वथा असम्भव है कि मैं जीवित रहूं और धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ होकर बैठे रहें। यहाँ पर चार शब्दों 'स्वस्थाः' 'भवन्तु' 'मयि जीवति' और 'धार्तराष्ट्राः' के उच्चारण में कण्ठ का स्वर ऐसा बना लिया गया है कि उससे कण्ठ की चार प्रकार की अवस्थायें व्यक्त होती हैं एक तो आकांक्षा से भरी हुई दीप्त; गद्‌गद (भरे हुये) रूप में तार (जोर का) स्वर, प्रशमन और उद्दीपन। इस स्वर भंगिमा से इस व्यंग्य अर्थ का स्पर्श हो जाता है कि यह बात सर्वथा असम्भव है और अत्यन्त अनुचित है। उस व्यंग्य के द्वारा उपकृत होकर काकु व्यंग्य से उपस्कृत वाच्य की ही क्रोधानुभावरूपता को व्यक्त करती है। इस प्रकार व्यंग्य के वाच्योपस्कारक होने के कारण यह गुणीभूतव्यंग्य का ही उदाहरण है।

क्या काकु ध्वनि हो सकता है ?

(यहाँ पर एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अभिनवगुप्त सर्वत्र काकु स्थलों में गुणीभूतव्यंग्य ही मानते हैं। किन्तु काव्यप्रकाशकार की ऐसी सम्मति नहीं है। उन्होंने काकु द्वारा अभिव्यक्त व्यंग्यार्थ के प्रधान होनेपर ध्वनि और गौण होनेपर गुणीभूतव्यंग्य माना है। यही मत दीधितिकार ने भी ठीक माना है। मम्मट का कहना है कि जहाँ काकु से व्यञ्जित व्यङ्ग्यार्थ के बिना भी वाच्यार्थ की पूर्ति हो जाती है वहाँ प्रकरणादि की पर्यालोचना करने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः वहाँ पर ध्वनिकाव्य ही होना चाहिये। प्रमाण के रूप में मम्मट तथा उनके समर्थक वेणीसंहार के निम्नलिखित पद्य को प्रस्तुत करते हैं—

> तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां,
> वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
> विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं,
> गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु॥

जब भीमसेन से यह कहा जाता है कि 'तुम्हारी इसी प्रवृत्ति से तो हमारे गुरु (युधिष्ठर) को खेद होता है' तब भीमसेन उत्तर देते हैं—

'गुरु ने राजसभा में द्रुपदराज को पुत्री को वह दशा देखी, वन में वल्कलधारी बहेलियों के साथ बहुत समय तक रहे, विराट के निवासस्थान पर अनुचित कार्यों को करते हुये गुप्त रूप से रहे। गुरु को हमारे कुपित होनेपर कोप होता है कुरुओं पर नहीं।'

मम्मट का महना है कि यहाँ पर काकु की विश्रान्ति प्रश्नमात्र में ही हो जाती है, अतः 'हम पर क्रोध अनुचित है कुरुओं पर उचित है' यह अतिरिक्त व्यंजना ध्वनि का रूप धारण करती है। यहाँ पर दो दशायें हो सकती हैं—एक तो काकु से सीधी यही व्यंजना निकले

कि 'हमपर क्रोध अनुचित है कुरुओं पर उचित है' तब तो इसके गुणीभूत होने में कोई सन्देह रह ही नहीं जाता। दूसरा यह कि यहाँ पर प्रश्न की अभिव्यक्ति हो और प्रश्न से औचित्य अनौचित्य की अभिव्यक्ति हो ऐसी दशा में प्रश्न भी तो शब्द वाच्य नहीं है। अतः काकु की व्यंजना तो काकु की वाच्यसिद्धि का अङ्ग ही है। ध्वनिरूपता को धारण करनेवाला परवर्ती औचित्य-अनौचित्यपरक व्यङ्ग्यार्थ काकु से प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त नहीं होता, उसमें निमित्त दूसरा प्रश्नरूप व्यङ्ग्य है। अतः काकुस्थलों में सर्वत्र काकु से होनेवाली व्यञ्जना गुणीभूत ही होती है। यह मत समीचीन है।)

(ध्वन्या०) **यथा वा—**

आम असइओ ओरम पइव्वए ण तुए मलिणिअं सीलम्।
किं उण जणस्स जाअ व्व चन्दिलं तं ण कामेमो॥

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया सत्यर्थविशेषप्रतिपत्तिहेतुर्न तु काकुमात्रम्। विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात् काकुमात्रात् तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात्। स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामर्थ्यलभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव। वाचकत्वानुगमेनैव तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यस्तया तथाविधार्थद्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः। व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

(अनु०) अथवा जैसे—

'अच्छा प्रतिव्रता? अब अधिक मत कहो; हम तो असती हैं; तुमने तो शील को मलिन नहीं किया। फिर हम किसी साधारण की धर्मपत्नी के समान उस नाई की कामना क्यों न करें।'

शब्दशक्ति ही निस्सन्देह अपने अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु की सहायता प्राप्त कर अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति में हेतु होती है केवल काकु नहीं। क्योंकि दूसरे विषय में अपनी इच्छा से ही किये हुये केवल काकु से उस प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति असम्भव होती है। और वह अर्थ काकु विषय में सहायक शब्दव्यापार में उपारूढ़ होकर अर्थ सामर्थ्य से ही प्राप्त होता है अतः व्यंग्य रूप ही होता है। वाचकत्व के अनुगम के द्वारा ही जब तद्विशिष्टवाच्य की प्रतीति होती है तब गुणीभूतव्यंग्य के रूप में उस प्रकार के अर्थ का द्योतन करने वाले का नाम काव्य होता है। व्यंग्य विशिष्ट वाच्य को कहनेवाले का निस्सन्देह गुणीभूतव्यंग्यत्व होता है॥३८॥

(लो०) **आमेति।**

आम असत्यः उपरम पतिव्रते न त्वया मलिनितं शीलम्।
किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तं न कामयामहे॥

इतिच्छाया। आम असत्यो भवामः इत्यभ्युपगमकाकुः साकांक्षोपहासा। उपरमेति निराकांक्षतया सूचनगर्भा। पतिव्रते इति दीप्तस्मितयोगिनी। न त्वया मलिनितं शीलमिति सगद्गदाकांक्षा। किं पुनर्जनस्य जायेव मन्मथान्धीकृता, चन्दिलं नापित-

मिति पामरप्रकृतिं न कामयामहे इति निराकांक्षगद्गदोपहासगर्भा । एषा हि कयाचिन्नापितानुरक्तया कुलवध्वा दृष्टाविनयाया उपहास्यमानायाः प्रत्युपहासावेशगर्भोक्तिः काकुप्रधानैवेति । गुणीभावं दर्शयितुं शब्दस्पृष्टतां तावत्साधयति—**शब्दशक्तिरेवेत्यादिना ।**

नन्वेवं व्यङ्ग्यत्वं कथमित्याशङ्क्याह—**स चेति** । अधुना गुणीभावं दर्शयति—**वाचकत्वेति** । वाचकत्वेऽनुगमो गुणत्वं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतीत्या तत्रैव काव्यस्य प्रकाशकत्वं कल्प्यते । तेन च तथा व्यपदेश इति-काकुयोजनायां सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव । अत एव 'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादौ विपरीतलक्षणायां य आहुस्ते न सम्यक् परामम‍ृशुः । यतोऽत्रोच्चारणकाल एव 'न कोपात्' इति दीप्ततारगद्गदसाकांक्षकाकुबलान्निषेधस्य निषिध्यमानतयैव युधिष्ठिराभिमतसन्धिमार्गाक्षमारूपत्वाभिप्रायेण प्रतिपत्तिरिति मुख्यार्थबाधाद्यनुसरणविघ्नाभावात् को लक्षणाया अवकाशः । 'दर्शे यजेत' इत्यत्र तु तथाविधकाक्वाद्युपायान्तराभावाद्भवतु विपरीतलक्षणा इत्यलमवान्तरेण बहुना ।। ३८ ।।

(अनु०) 'आम' यह—'आम असत्यः.....' इत्यादि छाया है । 'अरे हम असती हैं' यह स्वीकृति की काकु सकांक्षोपहासपरक है । 'उपरम' यह निराकांक्ष होने के कारण यहाँ सूचनागर्भित है । 'पतिव्रता' यह 'दीप्त स्मित' से युक्त होनेवाली काकु है । 'तुमने शीलको मलिन नहीं किया' यह गद्गद के साथ आकांक्षा है । 'फिर किसी एक व्यक्ति की जाया के समान कामान्ध होकर उस चन्दिल नापित की कामना न करें' यह निराकांक्ष गद्गद और उपहास से गर्भित काकु है । यह किसी नापित में अनुरक्त कुलवधू के द्वारा हँसी जानेवाली देखे हुये अविनय वाली (स्त्री) की प्रत्युपहास के आवेश से गर्भित उक्ति काकुप्रधान ही है । गुणीभाव को दिखलाने के लिये शब्दस्पृष्टता को सिद्ध कर रहे हैं—शब्दशक्ति ही इत्यादि के द्वारा ।

(प्रश्न) इस प्रकार व्यंग्यत्व कैसे ? यह शङ्का करके कहते हैं—'और वह' यह । अब गुणीभाव को दिखलाते हैं—'वाचकत्व' यह । वाचकत्व में अनुगम का अर्थ है व्यंग्य-व्यञ्जकभाव का गुणत्व, व्यंग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति से वहीं पर काव्य का प्रकाशकत्व कल्पित किया जाता है । उससे वैसा नाम हो जाता है इस प्रकार काकुयोजना में सर्वत्र गुणीभूतव्यंग्यता ही होती है । अत एव 'सौ कौरवों को क्रोध से युद्ध में न मारूँ' इत्यादि में विपरीत लक्षणा को जो कहते हैं उन्होंने ठीक परामर्श नहीं किया साकांक्ष काकु के बल से निषेध की निषिध्यमान रूप में ही युधिष्ठिर के अभिमत सन्धिमार्ग को न सह सकने के अभिप्राय के रूप में प्रतिपत्ति होती है इस प्रकार मुख्यार्थबाध इत्यादि विघ्न के अभाव से लक्षणा का क्या अवकाश ? 'दर्श में यज्ञ करना चाहिये' इसमें तो उस प्रकार के काकु इत्यादि का उपाय न होने से विपरीत लक्षणा हो जाय । बस अधिक अवान्तर की आवश्यकता नहीं ।।३८।।

काकु व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का दूसरा उदाहरण—

तारावती–कोई अच्छे घराने की स्त्री किसी चन्दिल नामक नाई से फँसी है । संयोग

वश वह अपने पड़ोस की किसी दूसरी स्त्री की दुश्चेष्टाओं को देखकर उसकी हँसी उड़ाने लगती है जिस पर वह पड़ोसिन कहती है—

'अच्छा पतिव्रता जी ! हम तो दुराचारिणी हैं ही रहने दो तुमने तो अपना शील बचा ही लिया तुमने तो उसे मलिन नहीं किया। भला हम एक अच्छे घराने की बहू होकर उस चन्दिल नाई की कामना क्यों न करें।

'हाँ हम तो दुराचारिणी हैं' यह स्वीकृति की जो काकु है उसका स्वरूप है साकांक्ष उपहास रूप। 'रहने दो' यह काकु सूचना से गर्भित है और उसको निराकांक्ष रूप कह सकते हैं। 'पतिव्रता' वह काकु दीप्त और स्मित से युक्त है। 'तुमने शील को मलिन नहीं किया' इस काकु को गद्‌गद पूर्ण साकांक्ष कहा जा सकता है। एक अच्छे व्यक्ति की पत्नी के समान कामान्ध होकर पामर प्रकृतिवाले उस चन्दिल नाई की कामना क्यों न करें' गद्‌गद और उपहास-गर्भित है। यहाँ पर उपहास की अभिव्यक्ति काकु के द्वारा ही होती है और काकु की व्याख्या करने के लिये इस अभिव्यक्ति का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। अतः वाच्यसिद्ध होने के कारण यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही एक उदाहरण है।

काकुव्यञ्जना गुणीभाव को कैसे धारण करती है

अब इस विषय में विचार किया जा रहा है कि काकु के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला अर्थ गुणीभाव को धारण कैसे करता है। वही अभिव्यङ्ग्य अर्थ गुणीभाव को धारण कर सकता है जिसका स्पर्श शब्द से हो जाय अर्थात् अभिव्यक्त होकर जो अर्थ शब्द अथवा वाच्यार्थ का मुखापेक्षी हो। यहाँ पर ध्यान देनेवाली बात यह है कि केवल काकु से कभी भी कोई अर्थ नहीं निकलता। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति वाचक शब्द का प्रयोग न करे किन्तु अपने कण्ठ को यों ही साकांक्ष दीप्त इत्यादि किसी प्रकार का बनाकर एक प्रकार का कण्ठरव करने लगे तो उससे किसी प्रकार के अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होगी, काकु से कोई अर्थ तभी अभिव्यक्त होता है जब उसके साथ शब्दों का भी प्रयोग किया जाय और वह शब्दशक्ति ही अपने वाच्यार्थ के सामर्थ्य से काकु का आक्षेप कर उसकी सहायता से विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति में कारण बन जाय। आशय यह है कि काकु से जो अर्थ निकलता है वह शब्द शक्ति का ही व्यापार होता है क्योंकि शब्दशक्ति के अभाव में केवल काकु से कोई अर्थ नहीं निकलता। इस प्रकार उस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति में काकु केवल सहायक होता है, व्यापार तो शब्द शक्ति का ही होता है। अतः काकु से निकला हुआ अर्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य की कोटि में आता है। (प्रश्न) यदि अर्थ प्रतीति में शब्दशक्ति का व्यापार ही उपयोगी होता है तो आप उसे व्यङ्ग्यार्थ क्यों कहते हैं ? उसको आप वाच्यार्थ की संज्ञा क्यों नहीं प्रदान करते ? (उत्तर) यद्यपि काकुस्थलों में प्रतीतिगोचर होनेवाला अर्थ शब्द के अभिधा व्यापार में ही कुछ न कुछ उपारूढ़ हो जाता है, साकांक्षादिरूप शब्द का इस प्रकार का धर्म काकु (कण्ठ-रव) उसमें सहायक मात्र होता है तथापि उसमें अर्थ के सहकार की भी अपेक्षा होती है इसलिए उस प्रतीतिगोचर अर्थ को व्यंग्य कहा जाता है। आशय यह है कि जब हम कण्ठ की विशेष दशा में कोई वाक्य सुनते हैं तब हमें उस वाक्य के एक अर्थ वाच्यार्थ का बोध हो जाता है। किन्तु

उस अर्थ की सङ्गति कण्ठरव से नहीं लगती क्योंकि कण्ठरव से हम वक्ता की जिस परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं उससे हमें यह ज्ञान हो जाता है कि वक्ता के प्रयोग किये हुए वाक्य का अर्थ हमारी समझ में आ रहा है वस्तुतः वक्ता का वही आशय कदापि नहीं हो सकता। तब हम उन शब्दों से ही ऐसा अर्थ समझ लेते हैं जिससे वक्ता के कण्ठस्वर की भी संगति बैठ जाती है। इस प्रकार यद्यपि कण्ठरव के विशेष रूप के सहकार से शब्द व्यापार ही कुछ न कुछ प्रसार पाकर दूसरे अर्थ की प्रतीति कराता है तथापि उस अर्थ के पूर्ण परिज्ञान में तो अर्थसामर्थ्य ही कारण होता है इसलिए उस अर्थ को व्यङ्ग्य अर्थ ही माना जाता है। (प्रश्न) इस प्रकार उस अर्थ को आप व्यंग्य तो कह सकते हैं किन्तु उसको गुणीभूत कहने का क्या कारण है? (उत्तर) गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व वहाँ पर होता है जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य का अनुगमन करे। जहाँ पर व्यंग्यव्यञ्जक भाव का वाच्य के प्रति अनुगमन होता है अर्थात् व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के प्रति गुणत्व को प्राप्त हो जाता है तब वहाँ पर गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है। काकु में भी यही होता है, अतः व्यंग्य के गुणीभूत होने के कारण अर्थात् व्यंग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति के कारण वहीं पर काव्य का प्रकाशकत्व होता है जिससे उसका नाम गुणीभूतव्यंग्य हो जाता है। (यहाँ पर इस वाक्य का अन्वय ऐसा भी हो सकता है—'यदा वाचकत्वानुगमेनैव तु तद्विशिष्टा वाच्यप्रतीतिः तदा तथाविधार्थद्योतिना काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यतया व्यपदेशः' अर्थात् 'जब वाचकत्व के प्रति अनुगमन करते हुये ही व्यंग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति होती है तब वहाँ पर उस प्रकार के अर्थ का द्योतन करनेवाले काव्य का नाम गुणीभूतव्यंग्य के रूप में पड़ जाता है। किन्तु यह अर्थ लोचनकार के मत के प्रतिकूल है क्योंकि लोचनकार तो सर्वत्र काकुस्थलों में गुणीभूतव्यंग्य ही मानते हैं। अतः उन्होंने 'गुणीभूतव्यंग्यतया' का अन्वय 'तथाविधार्थद्योतिना' के साथ कर दिया है जिससे उसका अर्थ यह हो गया है कि जहाँ पर काकु के द्वारा कोई व्यंग्यार्थ प्रतीतिगोचर होकर और वाचकत्व का अनुगमन करके व्यंग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति कराते हुये गुणीभूतव्यंग्य होकर उस प्रकार के अर्थ का द्योतन करता है वहीं पर उसे काव्य का नाम प्राप्त होता है।') आशय यह है कि जहाँ कहीं काकु की योजना होती है वहाँ सर्वत्र गुणीभूतव्यंग्य ही होता है। कुछ लोगों ने निम्नलिखित पद्य में विपरीत लक्षणा मानी थी :—

> मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्, दुश्शासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
> सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू, सन्धि करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

वेणीसंहार में यह सुनकर कि युधिष्ठिर सन्धि का प्रयत्न कर रहे हैं भीमसेन कहते हैं—

'मैं सैकड़ों कौरवों को युद्ध में न मथूँ? दुश्शासन की छाती से रक्त को न पीलूं? गदा से दुर्योधन की जङ्घाओं को चूर-चूर न कर दूँ? आपके राजा पण के द्वारा सन्धि कर लें?'

इन लोगों का आशय यह है कि भीमसेन क्रोध में भरे हैं और वस्तुतः कौरवों का मथन इत्यादि कार्य करना ही चाहते हैं; फिर उनका यह कहना तात्पर्य में ही बाधित है कि 'मैं ऐसा न करूँ' इससे यहाँ विपरीत लक्षणा होकर उसका अर्थ हो जाता है कि मैं ये सब कार्य अवश्य करूँगा। इस प्रकार कुछ लोगों के मत में यहाँ विपरीतलक्षणा है। किन्तु जो

लोग ऐसा समझते हैं वे ठीक नहीं समझते। कारण यह है कि जिस समय इन वाक्यों का उच्चारण किया जाता है और 'न कोपात्' कहने में कण्ठ का काकु दीप्त तार और गद्‌गद साकांक्ष हो जाता है तब उस काकु के बल पर 'न करूँ' इस निषेध की प्रतिपत्ति निषेध के रूप में ही होती है और उसका यही अर्थ हो जाता है कि युधिष्ठिर जिस शान्ति मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं उसको हम सह नहीं सकते। ऐसी दशा में मुख्यार्थबाध रूप विघ्न यहाँ उपस्थित ही नहीं होता और निर्विघ्न रूप में अक्षमता तथा अवश्यकर्तव्यता का अर्थ निकल आता है। इस प्रकार जब यहाँ पर बाध इत्यादि का प्रतिसन्धान होता ही नहीं तब विपरीतलक्षणा का अवसर ही क्या? विपरीत लक्षणा तो ऐसे स्थान पर हो सकती है जहाँ काकु इत्यादि किसी अन्य उपाय से काम न चल रहा हो और बाध उपस्थित ही हो जाय। जैसे—'दर्श में यज्ञ करना चाहिये' दर्श का अर्थ है अमावास्या। दर्श की व्युत्पत्ति इस प्रकार कर ली जाती है—'जिसमें चन्द्र न दिखलाइ पड़ता हो।' किन्तु 'दर्श' शब्द 'दृश' धातु से बना है। अतः इसका अर्थ लेने के लिये विपरीतलक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। आशय यह है कि काकु स्थलों में विपरीतलक्षणा का आश्रय बिना ही लिये हुये काकु के बलपर अर्थान्तर की प्रतीति हो जाती है और जहाँ कहीं काकु होता है वहाँ सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्य ही हुआ करता है। बस इतना पर्याप्त है, अवान्तर प्रकरण की अधिक व्याख्या करने की क्या आवश्यकता? ।।३८।।

(ध्वन्या०) प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ।।३९।।

सङ्कीर्णो हि कश्चिद्ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्। यथा—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वकम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।।

(अनु०) 'और जो युक्ति से इस प्रभेद का विषय प्रतीत होता है, सहृदयों को वहाँ ध्वनियोजना नहीं करनी चाहिये' ।।३९।।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का लक्ष्य में कोई सङ्कीर्ण मार्ग देखा जाता है उसमें जिसकी युक्ति सहायता हो वहाँ उसी से नामकरण करना चाहिये। सर्वत्र ध्वनि का प्रेमी नहीं होना चाहिये। जैसे—

'चरणों को रंगकर परिहासपूर्वक 'इससे पति के सिर की चन्द्रकला का स्पर्श करो' यह आशीर्वाद दी हुई पार्वती ने बिना वचन के ही माला से उसको मार दिया।'

(लो०) अधुना सङ्कीर्णं विषयं विभजते—**प्रभेदस्येति। युक्त्येति।** चारुत्वप्रतीतिरेवात्र युक्तिः। **पत्युरिति। अनेनेति।** अलक्तकोपरक्तस्य हि चन्द्रमसः परभागलाभोऽनवरतपादपतनप्रसादनैर्विना न पत्युर्झटिति यथेष्टानुवर्तिन्या भाव्यमिति चोपदेशः। शिरोधृता या चन्द्रकला तामपि परिभवेति सपत्नीलोकापजय उक्तः।

निर्वचनमिति । अनेन लज्जावहित्थहर्षेर्ष्यासाध्वससौभाग्याभिमानप्रभृति यद्यपि ध्वन्यते, तथापि तन्निर्वचनशब्दार्थस्य कुमारीजनोचितस्याप्रतिपत्तिलक्षणस्यार्थ-स्योपस्कारकतां केवलमाचरति । उपस्कृतस्त्वर्थः शृङ्गाराङ्गतामेतीति ।

(अनु०)अब सङ्कीर्ण विषय का विभाजन करते हैं—'प्रभेद का' यह । 'युक्ति से' यह । चारुत्व प्रतीति ही यहाँ पर युक्ति है । 'पति का' यह । 'इससे' यह । अलक्तक से रंगे हुये (पैर) की चन्द्र की अपेक्षा परम सौभाग्य प्राप्ति होगी—और निरन्तर पैर पड़ने के प्रसाद के बिना पति की शीघ्र ही यथेष्ट अनुवर्तिनी नहीं होना चाहिये यह उपदेश है । सिर पर धारण की हुई जो चन्द्रकला उसको भी पराजित करो यह सपत्नी लोक को जीतना बतलाया गया है ।

'निर्वचन' यह । इससे लज्जा, अवहित्थ, हर्ष, ईर्ष्या, भय, सौभाग्य, अभिमान इत्यादि यद्यपि ध्वनित होता है तथापि वह निर्वचन शब्द के अर्थ कुमारीजनोचित अस्वीकृति रूप अर्थ की उपस्कारकता का ही केवल आचरण करता है । उपस्कृत अर्थ तो शृंगार की अङ्गता को प्राप्त हो जाता है ।

गुणीभूत व्यङ्ग्य के क्षेत्र में ध्वनियोजना का निषेध

तारावती—ऊपर ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का विस्तृत विवेचन किया जा चुका। कुछ स्थल ऐसे होते हैं जहाँ एकदम यह कहना असम्भव हो जाता है कि अमुक स्थल ध्वनि काव्य है या गुणीभूतव्यङ्ग्य । ऐसे स्थान पर क्या करना चाहिए यह इस ३९ वीं कारिका में बतलाया गया है । कारिका का आशय यह है—

'जहाँ पर युक्ति गुणीभूतव्यंग्य के पक्ष में हो अर्थात् जहाँ युक्ति से कोई स्थल गुणी-भूतव्यंग्य सिद्ध किया जा सकता हो सहृदयों को यह नहीं चाहिये कि वहाँ ध्वनि को संयोजित करने की चेष्टा करें ।'

(युक्ति एक तो तर्कशास्त्रीय होती है । किन्तु काव्यालोचन के प्रसङ्ग में इसका तर्क-शास्त्रीय अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये । यहाँ पर युक्ति का अर्थ औचित्य ही किया जाना चाहिये । काव्य में औचित्य चारुताप्रतीतिरूप ही होता है । अत एव यहाँ पर कारिका का आशय यही है कि जहाँ कहीं चमत्कार का आधिक्य गुणीभूतव्यंग्य में दिखलाई पड़ रहा हो वहाँ बलात् ध्वनि को आरोपित करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये ।) इस समस्त कथन का आशय यही है कि चमत्कार का आधिक्य ही नामकरण का एकमात्र कारण होता है । यदि ध्वनि में चमत्कार का आधिक्य दिखलाई पड़े तो उसको ध्वनि नाम देना चाहिये और यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य में चमत्काराधिक्य दिखलाई पड़े तो उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहना चाहिये । ध्वनि का इतना प्रेमी नहीं हो जाना चाहिये कि चमत्कार का आधिक्य तो गुणी-भूतव्यङ्ग्य में हो और उसको बलात् ध्वनि कहने की चेष्टा की जाय । (कारिका का एक आशय यह भी हो सकता है कि यदि गुणीभूतव्यंग्य के द्वारा चमत्कार की विशेष पुष्टि होती हुई दिखलाई दे तो बलात् ध्वनि-सम्पादन की चेष्टा सहृदय कवि के द्वारा नहीं की जानी चाहिये ।) उदाहरण के लिये कुमार सम्भव के सप्तम सर्ग का यह पद्य लीजिये—

'विवाह के अवसर पर पार्वती की सखियों ने पार्वती के पैर में महावर लगाया और उपहास के साथ कहा कि अपने इन रंगे हुये पैरों से अपने पति के मस्तक की चन्द्रकला का स्पर्श किया करना। जब सखियों द्वारा यह आकांक्षा व्यक्त की गई तब पार्वती ने बिना कुछ कहे अपनी माला से उस सखी को मार दिया।'

सखी का आशय यह है कि सुरत काल में तुम मान किया करना और तुम्हारे प्रियतम भगवान् शिव तुम्हें मनाने के लिये तुम्हारे चरणों पर अपना मस्तक रक्खा करेंगे तब तुम अपने इस अलक्तक रञ्जित चरण से चन्द्रकला का स्पर्श किया करना। यहाँ पर व्यञ्जना यह है कि चन्द्रकला तो बिल्कुल श्वेत होगी जैसा कि तुम्हारा पैर श्वेत है, किन्तु तुम्हारे पैर में यह महावर की लाल रेखा अधिकाधिक सौन्दर्य को बढ़ानेवाली होगी जो सौभाग्य चन्द्रकला को प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार चन्द्रकला की अपेक्षा तुम्हारे पैर को अत्यन्त अधिक सौभाग्य प्राप्त होगा। चन्द्रकला स्त्रीलिंग शब्द है। अतः सपत्नीरूप में उसको पैर से ठुकराना उचित ही है, विशेष रूप से जब भगवान् शङ्कर ने उसे अत्यधिक सम्मान देने के लिये अपने मस्तक पर बैठा लिया हो तब तो उसका पार्वती के चरणों पर गिरना और अधिक महत्त्व रखता है इससे यहाँ पर एक व्यञ्जना सखियों के उपदेशपरक भी निकलती है कि जब तक भगवान् शङ्कर तुम्हें पैरों पर गिरकर प्रसन्न न करें तबतक उनकी इच्छानुकूल वशवर्तिनी न होना।'

'बिना कुछ कहे ही अपने गले की फूलों की माला उतार कर पार्वती ने सखी को मार दिया।' इससे पार्वतीगत कई भाव अभिव्यक्त होते हैं—(१) लज्जा—जिससे कुमारियाँ चाही हुई वस्तु का भी प्रत्याख्यान कर देती हैं। (२) अवहित्था—अर्थात् भावगोपन की प्रवृत्ति। आशय यह है कि पार्वती को प्रियतम के चरण पड़ने की बात सुनकर प्रसन्नता तो हुई किन्तु वे उसे कुमारीजनसुलभ लज्जा के कारण छिपा गईं। (३) ईर्ष्या—चन्द्रकला को भगवान् शङ्कर ने सिर पर धारण किया है; उससे पार्वती को ईर्ष्या हुई। (४) भय—यह कुमारीजनोचितभाव है जो कि मुग्धाओं को प्रायः हुआ ही करता है। (५) सौभाग्य—कि उसका प्रियतम उसके चरणों पर पड़ेगा और साथ ही उसकी सौत भी उसके चरणों पर पड़ेगी। और (६) अभिमान—कि चन्द्रकला की अपेक्षा भी उसके चरणों में ही अधिक सौन्दर्य होगा फिर मुख इत्यादि इतर अङ्गों का तो कहना ही क्या? इत्यादि कई भावों की यहाँ पर व्यञ्जना होती है। कुमारीजनों का यह स्वभाव ही होता है कि जब उनके सामने उनके भावी प्रियतमों की और विशेष रूप में उनकी भाविनी प्रणयलीला की बात की जाती है तब वे अप्रगल्भ हो जाती हैं और कुछ बोल नहीं पातीं। इस अप्रगल्भता से ही लज्जा इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है। उस अप्रगल्भता को 'निर्वचन' 'बिना कुछ कहे ही' इन शब्दों से उक्त कर दिया गया है। उस अप्रगल्भतारूप वाच्य को ही अभिव्यक्त होनेवाली लज्जा इत्यादि भाव पुष्ट करते हैं और इन भावों का काम केवल उस अप्रागल्भ्यरूप वाच्य को पुष्ट करना ही है। इससे यह व्यङ्ग्य गुणीभूत हो गया है। अत एव बलात् इसको ध्वनि कहने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहना चाहिये। फिर यह उपकृत वाच्यार्थ शृङ्गार रस का अंग बन जाता है और उसे ध्वनि बना देता है क्योंकि अन्ततः तो सभी काव्य ध्वनि होते ही हैं।

(ध्वन्या०) यथा च—

प्रायच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम्॥

इत्यत्र 'निर्वचनं जघान' 'कञ्चिदूचे' इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्ग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद्विषयीकृतत्वात् गुणीभाव एव शोभते। यदा वक्रोक्ति विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम्। यथा 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। इह पुनरुक्तिभंङ्ग्यास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यम्। तस्मान्नात्रानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यपदेशो विधेयः।

(अनु०) और जैसे—

'ऊँचे पुष्पों को देनेवाले प्रियतम के द्वारा विपक्ष (सौत) के नाम को प्राप्त की हुई मानिनी ने कुछ नहीं कहा; केवल आँसुओं से आकुल नेत्रवाली होकर पैर से भूमि को कुरेदने लगी।'

यहाँ पर 'बिना कुछ कहे ही मारा' 'कुछ नहीं कहा' इस प्रतिषेध के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का उक्ति से कुछ विषय बना लेने के कारण गुणीभाव ही शोभित होता है। जब वक्रोक्ति के बिना व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्य के रूप में प्रतीत होता है तब उसकी प्रधानता होती है जैसे 'देवर्षि के इस प्रकार कहने पर' इत्यादि में। यहाँ पर तो (व्यङ्ग्य की) उक्ति भङ्गिमापूर्वक होती है अतः वाच्य की भी प्रधानता है। अत एव यहाँ पर अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का नाम नहीं दिया जाना चाहिए।

(लो०) **प्रायच्छतेति। उच्चैरिति।** उच्चैर्यानि कुसुमानि कान्तया स्वयं गृहीतुमशक्यत्वादयाचितानीत्यर्थः। अस्मदुपाध्यायास्तु हृद्यतमानि पुष्पाणि अमुके गृहाण, गृहाणेत्युच्चैस्तारस्वरेणादरातिशयार्थं प्रयच्छता। अत एव **लम्भितेति। न किञ्चिदिति।** एवंविधेषु शृङ्गारावसरेषु तामेवायं स्मरतीति मानप्रदर्शनमेवात्र न युक्तमिति सातिशयमन्युसम्भारो व्यङ्ग्यो वचननिषेधस्यैव वाच्यस्य संस्कारः। तद्वक्ष्यति— **उक्तिर्भङ्ग्यास्तीति।** तस्येति व्यङ्ग्यस्य। इहेति पत्युरित्यादौ। **वाच्यस्यापीति।** अपि शब्दो भिन्नक्रमः। प्राधान्यमपि भवति वाच्यस्य, रसाद्यपेक्षया तु गुणतापीत्यर्थः। अत एवोपसंहारे ध्वनिशब्दस्य विशेषणमुक्तम्॥ ३९॥

(अनु०) 'प्रदान करनेवाले' यह। 'ऊँचे' यह। अर्थात् ऊँचे जो पुष्प कान्ता के द्वारा स्वयं ग्रहण करने में अशक्य होने के कारण संग्रह करके दिये गये। हमारे उपाध्याय तो (यह अर्थ लगाते हैं) 'अरी अमुक नामवाली? इन हृद्यतम पुष्पों को ले लो, ले लो, यह ऊँचे अर्थात् तारस्वर से अधिक आदर के लिये प्रदान करते हुए। अत एव 'प्राप्त कराई हुई' यह। 'कुछ नहीं' यह। इस प्रकार के श्रृंगार के अवसरों पर उसी को यह याद किया करता है अत एव मान-प्रदर्शन हो यहाँ पर उचित नहीं है, इस प्रकार अत्यधिक मन्यु का सम्भार रूप वाच्य का ही संस्कार करता है। वह कहेंगे—'उक्ति भङ्गिमा से है' यह। उसका अर्थात् व्यंग्य का। 'यहाँ' अर्थात् 'पत्युः' इत्यादि श्लोक में। 'वाच्य का भी' यह। भी शब्द यहाँ भिन्नक्रम से

लगता है। अर्थात् वाच्य का प्राधान्य भी होता है और रस इत्यादि की अपेक्षा तो गौणता भी अत एव उपसंहार में ध्वनि शब्द का विशेषण दिया गया ॥३९॥

एक दूसरा उदाहरण

तारावती—यह पद्य किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग से लिया गया है। गन्धर्व और अप्सरायें अर्जुन की तपस्या को भङ्ग करने के लिये भेजे गये हैं। वे वन विहार में प्रवृत्त हो गये हैं। उनके उसी उद्यान-भ्रमण का वर्णन करते हुये कवि कह रहा है—

'ऊपर को जो फूल लगे हुये थे और जिनको नायिका अपने छोटे हाथों से पा नहीं सकती थी उन फूलों को प्रियतम ने नायिका की प्रदान कर दिया, साथ ही उसने पुष्प देने के अवसर पर उसकी सौत का नाम लेकर उसे पुकारा जिससे मानिनी होकर उस नायिका ने कुछ कहा नहीं किन्तु अपनी आँखोंको आँसुओं से भरकर पैरों से केवल भूमि कुरेदने लगी।'

यहाँ पर नायिका के भूमि कुरेदने लगने से तथा आँखों में आँसू भर लेने से उसका चिन्ता-मिश्रित मन्यु अभिव्यक्त होता है। उसे चिन्ता इसी बात की थी कि ऐसे श्रृंगार के अवसरों पर यह (नायक) हमारी सौत की ही याद किया करता है। अतः मानप्रदर्शन से क्या होगा? जब मैं इसकी प्रेयसी ही नहीं हूं तब मान-प्रदर्शन भी उचित नहीं है। मानप्रदर्शन का अभिनय होता है आँख घुमा लेना, उपालम्भ देना, प्रणय को न स्वीकार करना इत्यादि के द्वारा। किन्तु नायिका रोने लगी और भूमि कुरेदने लगी। ये चिन्ता और मन्यु के अनुभाव हैं। इससे चिन्ता और मन्यु का आधिक्य अभिव्यक्त होता है। इसको 'कुछ नहीं कहा' इस शब्द के द्वारा वाच्य बना दिया गया है। अतः अभिव्यंग्य मन्यु का आधिक्य वाच्य का ही संस्कार करता है। अतः ऐसे अवसरों पर व्यंग्यार्थ वाच्य का कुछ विषय बना दिया जाता है जिससे इसे गुणीभूतव्यंग्यार्थ कहना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है। अभिनवगुप्त के उपाध्याय (सम्भवतः भट्टेन्दुराज ने) उच्चैः का अन्वय दूसरे प्रकार से लगाया है। उन्होंने कहा है कि नायक उच्चैः अर्थात् तारस्वर में चिल्ला-चिल्लाकर नायिका की सौत का नाम ले-लेकर पुकार रहा था और कह रहा था कि इन पुष्पों को ले लो, ले लो? (किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है; क्योंकि एक तो 'उच्चैः' शब्द 'कुसुमानि' के साथ जुड़ा हुआ है; दूसरे एक बार धोखा भी हो सकता है और नायिका की सौत का नाम मुख से निकल भी सकता है; किन्तु बार-बार ऐसा होना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने अपने मत का प्रथम उल्लेख कर बाद में पक्षान्तर के रूप में अपने उपाध्याय का मत दे दिया है। यहाँ पर सारांश यह है कि जहाँ पर उक्ति में वक्रता न हो, किन्तु तात्पर्य से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाय वहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है और वह ध्वनि का उदाहरण होता है। जैसे 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य में। किन्तु इसके प्रतिकूल जहाँ पर उक्ति में भंगिमा (बाँकापन या वक्रोक्ति) हो वहाँ वाच्य की प्रधानता भी होती है। जैसे 'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन' इत्यादि पद्य में। यहाँ पर 'अपि' शब्द 'वाच्यस्य' के साथ लगा हुआ है; किन्तु उसकी व्याख्या क्रम को तोड़कर 'प्राधान्य' के साथ लगाकर करनी चाहिये। इससे इसका अर्थ यह हो जाता है कि जहाँ पर उक्ति में बाँकापन हो वहाँ

वाच्य की प्रधानता भी होती है। आशय यह है कि अवान्तर व्यंग्य के द्वारा वाच्य का उपस्कार होता है; अतः वहाँ पर व्यंग्य गौण होता है और वाच्य प्रधान। अत एव उसे अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि वाच्य की प्रधानता भी होती है' इस 'भी' का आशय यह है कि वाच्य में गौण-रूपता तो होती ही है। गुणता और प्रधानता इस प्रकार सम्भव है कि अवान्तर व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्य में प्रधानता होती है; अतः उस दृष्टि से उसे गुणीभूत व्यंग्य ही कहना ठीक होगा अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि नहीं। किन्तु अन्तिम रस इत्यादि की अपेक्षा तो वाच्य में गुणता होती है। अतः वहाँ पर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि तो कही ही जा सकती है। इसीलिये यहाँ पर आनन्दवर्धन ने यह नहीं कहा कि यहाँ पर ध्वनि नहीं होती अपितु विशेषण लगा-कर विशेष रूप में यही कहा कि अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि नहीं होती। इसका आशय यही है कि रसध्वनि तो सर्वत्र होती है ॥३९॥

(ध्वन्या०) **प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।**
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ ४० ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यपर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते। यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये।

यथा च—

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत—
स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम्।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात्कल्याणं वो हरिरनुनयेष्वेवमुदितः ॥

(अनु०) 'यह गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का प्रकार भी पुनः रस इत्यादि तात्पर्य की पर्या-लोचना करने पर ध्वनिरूपता को ही धारण करता है' ॥४०॥

गुणीभूतव्यंग्य भी काव्य प्रकार रस भाव इत्यादि तात्पर्य की पर्यालोचना करने पर ध्वनि ही हो जाता है। जैसे अपने उदाहरण दिये हुये दो श्लोकों में।

और जैसे—

'हे सुभग ? अपनी प्राणेश्वरी की जङ्घा के इस वस्त्र से भी इस गिरे हुए आँसू को पोंछते हुये (पोंछने वाले) तुम्हारे लिये राधा को प्रसन्न करना अत्यन्त दुष्कर है। स्त्री का चित्त कठोर होता है। इसलिये उपचारों की आवश्यकता नहीं। रुक जाओ। अनुनयों में इस प्रकार कहे हुये हरि तुम्हारा कल्याण करें।'

(लो०) एतदेव निर्वाहयन् काव्यात्मत्वं ध्वनेरेव परिदीपयति—प्रकार इति। श्लोकद्वय इति तुल्यच्छायं यदुदाहृतं पत्युरित्यादि तत्रेति। द्वयशब्दादेवंवादिनीत्य-स्यानवकाशः।

दुराराधेति। अकारणकुपिता पादपतिते मयि न प्रसीदसि अहो दुरा-राधासि मारोदीरित्युक्तिपूर्वं प्रियतमेऽश्रूणि मार्जयति इयमस्या अभ्युपगमगर्भोक्तिः।

सुभगेति । प्रियया यः स्वसम्भोगभूषणविहीनः क्षणमपि मोक्तुं न पार्यसे । **अनेनापीति ।** पश्येदं प्रत्यक्षेणेत्यर्थः । तदेव च यदेवमादृतं यत् लज्जादित्यागेनाप्येवं धार्यसे । मृजत इत्यनेन हि प्रत्युत स्रोतःसहस्रवाही वाष्पो भवति । इयच्च त्वं हतचेतनो यन्मां विस्मृत्य तामेव कुपितां मन्यसे । अन्यथा कथमेवं कुर्याः । **पतितमिति ।** गत इदानीं रोदनावकाशोऽपीत्यर्थः । यदि तूच्यते इयताप्यादरेण किमिति कोपं न मुञ्चसि तत्किं क्रियते कठोरस्वभावं स्त्रीचेतः । स्त्रीति हि प्रेमाद्ययोगाद्वस्तुविशेषमात्रमेतत्; तस्यचैष स्वभावः; आत्मनि चैतत् सुकुमारहृदया योषित इति न किञ्चिद्वज्रसारा-धिकमासां हृदयं यदेवंविधवृत्तान्तसाक्षात्कारेऽपि सहस्रधा न दलति । **उपचारैरिति ।** दाक्षिण्यप्रयुक्तैः । **अनुनयेष्विति ।** बहुवचनेन वारं वारमस्य बहुवल्लभस्येयमेव स्थिति-रिति सौभाग्यातिशय उक्तः । एवमेष व्यङ्ग्यार्थसारो वाच्यं भूषयति । तत्तु वाच्यं सदीर्ष्याविप्रलम्भश्रृङ्गाराङ्गत्वमेतीति । यस्तु त्रिष्वपि श्लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रसा-ङ्गत्वं व्याचष्टेस्म स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत् । एवं हि व्यंग्यस्य या गुणी-भूतता प्रकृता सैव समूलं त्रुट्येत् । रसादिव्यतिरिक्तस्य हि व्यंग्यस्य रसाङ्गभागयो-गित्वमेव प्राधान्यं नान्यत्किञ्चिदित्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन ।

(अनु०) यही प्रतिपादित करते हुये काव्यात्मत्व ध्वनि का ही भली-भाँति प्रज्वलित कर रहे हैं—'प्रकार' यह । 'दो श्लोक' जो तुल्य छाया वाले उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं 'पत्युः' इत्यादि वहाँ इस प्रकार 'दो' शब्द से 'एवंवादिनि' इत्यादि का अवकाश नहीं है ।

'दुराराधा' यह । अकारण कुपित हुई मेरे चरणों पर गिरने पर भी प्रसन्न नहीं हो रही हो, आश्चर्य है कि आराधना करने में तुम बहुत ही दुष्कर हो, मत रोओ, इस उक्ति के साथ प्रियतम के अश्रु परिमार्जन करने पर यह उसकी स्वीकृति गर्भित उक्ति है । 'हे सुभग' यह । जो कि प्रिया के द्वारा अपने सम्भोग के विभूषण से रहित क्षणभर भी छोड़े नहीं जा सकते हो । 'इसके द्वारा भी' यह । अर्थात् इसको प्रत्यक्ष रूप में ही देख लो । उसी को जो इस प्रकार आदर किया गया कि लज्जा इत्यादि के त्याग के द्वारा भी इस प्रकार धारण किया जा रहा है । 'मार्जन करते हुये' यह । इसके द्वारा प्रत्युत सहस्र स्रोतों में बहनेवाला वाष्प हो जाता है । तुम इतने अधिक चेतना रहित हो कि मुझे भुलाकर उसीको कुपित मानते हो । नहीं तो ऐसा क्यों करो । 'पतित' यह । अर्थात् अब तो रोदन का अवकाश भी चला गया । यदि कहा जाय कि इतने आदर से भी क्यों कोप नहीं छोड़ती हो तो क्या किया जाय, कठोर स्वभाववाला स्त्रियों का चित्त होता है । 'स्त्री' यह प्रेम इत्यादि के योग न होने से केवल यह वस्तु ही है । उसका यह स्वभाव है । स्वयं में सुकुमार हृदयवाली स्त्रियाँ होती हैं यह कुछ नहीं । इनका हृदय वज्रसार से भी अधिक (कठोर) होता है जो कि इस प्रकार के वृत्तान्त के साक्षात्कार होने पर भी सहस्रधा विदीर्ण नहीं हो जाता । 'उपचारों द्वारा' का अर्थ है दाक्षिण्य के द्वारा प्रयुक्त उपाचरों से । 'अनुनयों में' इसमें वहुवचन के द्वारा यह कहा है कि बहुत सी वल्लभाओं वाले इन कृष्ण की बार-बार यही स्थिति होती है यह सौभाग्यातिशय

कहा गया है। इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ का सार वाच्य को भूषित करता है। वह वाच्य तो भूषित होकर ईर्ष्या विप्रलम्भ शृंगार के अङ्गत्व को प्राप्त हो जाता है। जिसने तो तीनों ही श्लोकों में प्रतीयमान का ही रसाङ्गत्व कहा है उसने तो देव को बेचकर यात्रा का उत्सव किया। इस प्रकार निस्सन्देह व्यंग्य की जो गुणीभूतता प्रकृत है वही समूल नष्ट हो जाय। निस्सन्देह रसादि से व्यतिरिक्त व्यंग्य का रसाङ्गभावयोगित्व ही प्रधान है और कुछ नहीं, बस अपने पूर्व वंश्यों से अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं।

गुणीभूतव्यङ्ग्य का पर्यवसान ध्वनि में होता है

तारावती—ऊपर बतलाया गया है कि गुणीभूतव्यंग्यत्व केवल एक दृष्टिकोण से ही होता है वह दृष्टिकोण है अवान्तरव्यंग्यत्व का। किन्तु अन्ततः सभी काव्य ध्वनिकाव्य ही होते हैं; वस्तुतः काव्य की आत्मा तो ध्वनि ही है। यही बात प्रस्तुत (४० वीं) कारिका में कही गई है। प्रस्तुत कारिका का आशय यह है—

'जिस गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक प्रकार का ऊपर परिचय दिया गया है जब उसमें पर्यालोचना की जाती है और देखा जाता है कि उसका पर्यवसान रस इत्यादि रूप तात्पर्य में ही होता है तब उसे भी ध्वनि ही कहना पड़ता है।'

आशय यह है कि आन्तरिक दृष्टि से चाहे हम किसी काव्य को ध्वनि कहें चाहे गुणीभूतव्यङ्ग्य, यदि अभिव्यक्त विभिन्न भाव प्रत्यक्ष रस को पुष्ट करे तो हम उसे ध्वनि कह लें और यदि वाच्य को पुष्ट करें तो गुणीभूतव्यङ्ग्य कह लें। किन्तु पर्यवसान सबका ध्वनि में ही होता है क्योंकि यह पर्यालोचना करने पर कि अमुक रचना का पर्यवसान कहाँ होता है ध्वनि ही आयेगी और स्वयं गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि का रूप धारण कर लेगा। उदाहरण के लिये कालिदास और भारवि के जो दो पद्य अभी उद्धृत किये गये हैं वे आन्तरिक व्यञ्जना की दृष्टि से तो गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं किन्तु रस की दृष्टि से ध्वनि ही कहे जा सकते हैं। वे दोनों श्लोक हैं—'पत्युःशिरश्चन्द्रकलामनेन' और 'प्रायच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी'। ये दोनों पद्य तुल्य छायावाले हैं अर्थात् इनमें काव्यसौन्दर्य एक जैसा है; दोनों गुणीभूतव्यङ्ग्य होकर ध्वनि बनते हैं। यद्यपि यहां पर उद्धरण तो 'एवं वादिनि—'इत्यादि पद्य का भी दिया गया है तथापि इसका अतिदेश यहां पर नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें शुद्ध रूप में ध्वनि ही है, गुणीभूतव्यङ्ग्य का सहकार इसमें अपेक्षित नहीं होता। इस लिये 'दो श्लोक' यह विशेष रूप से कह दिया गया है। नहीं तो कोई व्यक्ति सम्भवतः 'एवंवादिनि' इत्यादि में भी वही बात समझ लेता। एक और उदाहरण लीजिये—

राधा खण्डिता 'नायिका हैं कृष्ण कहीं अन्यत्र विहार कर राधा के पास आये हैं। धोखे से वे उस सौत का अधोवस्त्र (साड़ी !) ओढ़े चले आये हैं। इस पर राधा ने मान किया है। कृष्ण उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं किन्तु राधा नहीं मानती। तब कृष्ण कहते हैं—'तुम व्यर्थ ही रुष्ट हो गई हो; मैं तुम्हारे पैरों पर पड़ा हुआ हूँ फिर भी प्रसन्न नहीं होती हो; आश्चर्य है कि तुम्हारी आराधना कितनी कठिन है।' इस पर राधा अपनी आराधना का कठिन होना स्वीकार करते हुए कहती है—

'हे सौभाग्यशाली ! मेरे इस गिरे हुए आँसू को जो तुम अपनी उस प्राणेश्वरी की जङ्घाओं पर धारण किये वस्त्र से पोंछ रहे हो इस दशा में तुम्हारे लिये तो राधा की आराधना दुष्कर है ही। स्त्रियों का चित्त तो कठोर होता ही है, इस लिये इन बाहरी दिखावों की आवश्यकता नहीं, अब रहने दो पर्याप्त चाटुकारिता हो गई इससे कोई लाभ नहीं होगा।' कवि कहता है कि अनुनयों में जिन कृष्ण से राधा के द्वारा इस प्रकार कहा जाता है वे कृष्ण आप का कल्याण करें।'

इस पद्य की व्यञ्जनायें इस प्रकार हैं—

१—'हे सुभग !' इस सम्बोधन से अभिव्यक्त होता है कि आप बड़े सौभाग्यशाली हैं जो कि आप की प्रेयसी (मेरी सौत) क्षण भर भी आपको ऐसे नहीं रहने देना चाहती कि कि आप उसके सम्भोग के विभूषण से रहित रहें। जब आप यहाँ आये तब भी आपकी प्रेयसी ने आपको अपनी साड़ी उढ़ा ही दी।

२—'इससे भी' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि वैसे तो आप अपने दुराचार को छिपा ही सकते थे, किन्तु जब आप प्रत्यक्ष रूप में मेरी सौत की साड़ी ओढ़े हुये हैं तब आप उसे छिपा ही कैसे सकते हैं दूसरी बात यह है कि आप इसका इतना अधिक आदर करते हैं कि इसको धारण करने में लज्जा का भी अनुभव नहीं करते कि कोई इसे देख लेगा।

३—'पोछ रहे हैं' इसमें वर्तमान काल के प्रयोग से व्यक्त होता है कि आप कितना ही पोछें ये आँसू निकलते ही जा रहे हैं, ये समाप्त नहीं हो सकते; प्रत्युत सहस्र स्रोतों में प्रवाहित होनेवाले हो रहे हैं। दूसरी बात यह है कि तुम इतने चेतना शून्य (प्रेमावेश में बेहोश) हो कि मुझे भुलाकर तुम अपनी उसी प्रेयसी को मुझमें देख रहे हो। तभी तो तुम उसके वस्त्र से मेरे आँसू पोछ रहे हो, नहीं तो ऐसा क्यों करते ?

४—'प्राणेशा' से व्यक्त होता है कि मैं तुम्हारी कोई नहीं हूँ, मेरी सौत तुम्हारी प्राणेशा है अतः मेरा कुपित होना उचित ही है।

५—'मैं' इस सर्वनाम के स्थान पर 'राधा' इस अपने नाम लेने का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि मैं कम स्वाभिमानिनी नहीं हूँ जो इस प्रकार मान जाऊँ।

६—'गिरे हुये' इस शब्द में भूतकाल से अभिव्यक्त होता है कि मेरा रोने का अधिकार भी समाप्त हो गया।

७—'स्त्री का चित्त कठोर होता है' में स्त्री शब्द से व्यक्त होता है कि मैं आपकी प्रेयसी नहीं हूँ। मैं तो सामान्य स्त्री हूँ, जब मुझमें प्रेम का योग ही नहीं तब मेरे अन्दर विशेषता क्या रही ? यह जो कहा जाता है कि स्त्रियाँ सुकुमार हृदयवाली होती हैं यह कोई भी बात सही नहीं है। वस्तुतः उनका हृदय तो बज्रसार से भी अधिक कठोर होता है; देखो इस दशा में भी जब कि तुम सौत की साड़ी से हमारा अश्रुपरिमार्जन करना चाहते हो तब भी यह हमारा हृदय सहस्र खण्डों में विदीर्ण नहीं हो रहा है।

८—'उपचारों को रहने दो' कहने का आशय यह है कि वस्तुतः तुम्हें मुझसे प्रेम

नहीं है। तुम्हारी प्रेमिका तो कोई दूसरी ही है। तुम केवल दाक्षिण्यवश मेरे पास आते हो। इस दाक्षिण्य की मुझे आवश्यकता नहीं है।

९—'अनुनयों में' इसमें बहुवचन से सिद्ध होता है कि कृष्ण की अनेक वल्लभायें हैं अतः कृष्ण को बार-बार ऐसे अवसर मिलते हैं जब कि उन्हें अनुनय विनय के द्वारा राधा को मनाना पड़ता है।

इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ का सार वाच्य को भूषित करता है जिससे इस व्यङ्ग्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। वह भूषित वाच्य फिर ईर्ष्याविप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो जाता है। कतिपय आचार्यों ने इन तीनों श्लोकों में गुणीभूतव्यङ्ग्य की ध्वनिरूपता इस प्रकार सिद्ध की है कि इनमें प्रतीयमान अर्थ रस का अङ्ग हो जाता है। इन आचार्यों ने प्रतीयमान की गुणीभूतरूपता तो पहले ही समाप्त करदी फिर वे कहते हैं कि यह गुणीभूतव्यंग्य ध्वनिरूप होता है। यह उनका कहना ऐसा ही है जैसे किसी व्यक्ति के यहाँ देवता की कोई पुरानी मूर्ति रक्खी हो और वह उसकी सवारी निकालना तथा यात्रा का उत्सव करना चाहता हो। वह यात्रोत्सव के लिये पहले तो देवता की मूर्ति को बेचकर पैसा जुटाये फिर यात्रोत्सव करना चाहे। जब उसके पास देवता ही नहीं तो यात्रोत्सव किसका होगा (अथवा कोई व्यक्ति घड़ी की चैन के लिये घड़ी ही बेच दे।) वही दशा प्रतीयमान को रसांग बनाकर गुणीभूतव्यंग्य को ध्वनिरूप सिद्ध करनेवालों की भी है। उन्हें यह तो ध्यान रखना ही चाहिये कि रस सर्वदा व्यंग्य होता है और काव्यतात्पर्य का पर्यवसान सर्वदा रस में ही होता है क्योंकि काव्यात्मारूप में रसध्वनि को ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार रसध्वनि सर्वदा स्वमात्रपर्यवसायिनी होती है। किन्तु वस्तु और अलङ्कार की व्यञ्जनायें तभी ध्वनिरूपता को धारण कर सकती हैं जब वे रस का अंग होकर रसप्रवण हो जाती हैं। आशय यह है यदि व्यंग्यवस्तु को रस का अंग माना जायेगा तो वह तो वस्तुध्वनि हो जायगी, वह व्यंग्यवस्तु गुणीभूतव्यंग्य की कोटि में आयगी ही नहीं, फिर गुणीभूतव्यंग्य की ध्वनिरूपता का उदाहरण यह हो ही कैसे सकता है? (यहाँपर निष्कर्ष यह है कि वे स्थान ध्वनि के कहे जा सकते हैं—जहाँ रस भाव इत्यादि प्रधान रूप में अभिव्यक्त हो रहे हों या जहाँ वस्तु या अलङ्कार की अभिव्यक्ति रसप्रवण रूप में हो रही हो। इसके प्रतिकूल जहाँ रस या भाव अपरांग होकर आते हैं अथवा वस्तु या अलङ्कार की अभिव्यक्ति वाच्यांग के रूप में होती है वे समस्त स्थल गुणीभूतव्यंग्य ही कहे जाते हैं। यहाँ पर यदि गुणीभूतव्यंग्यता सिद्ध करनी है तो व्यंग्यार्थ को वाच्यांग ही मानना होगा रसांग नहीं।) बस इतना पर्याप्त है अपने पूर्व-वंश्यों से अधिक विवाद करना और उनका अधिक खण्डन करना ठीक नहीं मालूम पड़ता।

(ध्वन्या०) एवंस्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न तेषां पदानामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो विधातव्यः। विवक्षितवाच्यत्वात्तेषाम्। तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम्। तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि। न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव

पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्व्यञ्जकानि यावदर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि। यथात्रैव श्लोके रावण इत्यस्य प्रभेदान्तररूपव्यञ्जकत्वम्।

(अनु०) ऐसी स्थिति होनेपर 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोक में निर्दिष्ट पदों के व्यंग्यविशिष्टवाच्य के प्रतिपादन करने पर भी इस वाक्य के अर्थभूत रस की अपेक्षा व्यंजकत्व कहा गया है। उन पदों का अर्थान्तसंक्रमितवाच्य ध्वनि का भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनका विवक्षितवाच्यत्व है उनमें निस्सन्देह वाच्य का व्यंग्यविशिष्टत्व प्रतीत होता है व्यंग्यरूप में परिणतत्व नहीं। इससे वहाँ पर वाक्यध्वनि है और पद गुणीभूतव्यंग्य हैं। केवल गुणीभूतव्यंग्य पद ही अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के व्यञ्जक नहीं होते; क्योंकि ध्वनिप्रभेदरूप अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भी व्यञ्जक होते हैं। जैसे इसी श्लोक में 'रावण' इसका प्रभेदान्तररूप व्यञ्जकत्व है।

(लो०) **एवंस्थित इति**। अनन्तरोक्तेन प्रकारेण ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्विभागे स्थिते सतीत्यर्थः। कारिकागतमपिशब्दं व्याख्यातुमाह—**न चेति**। एष च श्लोकः पूर्वमेव व्याख्यात इति न पुनर्लिख्यते।

(अनु०) 'ऐसी स्थिति में' यह। अर्थात् अभी कहे हुए प्रकार से ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के विभाग के स्थित होने पर। कारिका में आये हुए 'अपि' शब्द की व्याख्या करने के लिये कहते हैं—'न च' यह। इस श्लोक की पहले ही व्याख्या कर दी गई इसीलिये फिर नहीं लिखा जा रहा है।

तारावती—ऊपर यह सिद्ध किया गया है कि गुणीभूत व्यंग्य भी अन्ततः ध्वनि काव्य ही होते हैं क्योंकि सभी काव्यों का तात्पर्य तो रसास्वादन ही होता है। एक उदाहरण और ले लीजिये—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' में प्रत्येक शब्द व्यञ्जक है। इसकी व्यञ्जकता की पूरी व्याख्या इसी उद्योत की १६ वीं कारिका में की जा चुकी है।

इस पद्य में प्रत्येक शब्द का वाच्यार्थ व्यंग्य के सहकार में ही लिया जाता है और व्यंग्यार्थ का एकमात्र प्रयोजन यही है कि वह वाच्यार्थ को पुष्ट करे। अतः वहाँ पर अभिव्यक्त होनेवाले व्यंग्यार्थ गुणीभूत व्यंग्य ही हैं। फिर भी सम्पूर्ण पद्य की चरम अभिव्यक्ति रसात्मक ही है और समस्त मध्यवर्ती व्यंग्यार्थ वाच्य की पोषकता के माध्यम से रसाभिव्यञ्जन में ही सहायक होते हैं। अतः मध्यवर्ती व्यंग्यार्थों की दृष्टि से इसमें गुणीभूतव्यंग्यता है किन्तु चरम रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह ध्वनि काव्य ही कहा जायगा।

गुणीभूतव्यंग्य को अर्थान्तर संक्रमित वाच्य क्यों नहीं कहते

(प्रश्न) यहाँ पर वाच्यार्थ में व्यंग्यार्थ भी सम्मिलित हो जाता है और व्यंग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति होती है। यही बात अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि में भी हुआ करती है। फिर आप अवान्तर व्यंग्यार्थों की दृष्टि से इसे अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि न कहकर गुणीभूतव्यंग्य क्यों कहते हैं।? (उत्तर) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि वहीं

पर होती है जहाँ बाध का प्रतिसन्धान हो और वाच्यार्थ के व्यंग्यार्थ में बिना संक्रमण किये हुए वहाँ पर वाच्यार्थ संगत ही नहीं हो। इस प्रकार अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तो अविवक्षित-वाच्य का भेद होता है किन्तु प्रस्तुत पद्य 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' में व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ में अभिसंक्रमण नहीं होता है और न वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के द्वारा विशेषित होकर के ही अर्थ की पूर्ति करता है अपितु वाच्यार्थ स्वतः पूर्ण होता है किन्तु उसमें व्यंग्यार्थ की विशेषता सन्निविष्ट हो जाती है। इस प्रकार इस उदाहरण में वाच्यार्थ विवक्षित ही रहता है। अत एव इस उदाहरण में वाक्यव्यञ्जना तो ध्वनिरूप है और पदव्यञ्जनायें गुणीभूत व्यंग्य ही मानी जाती हैं। यहाँ पर भी ध्यान रखना चाहिये कि रसव्यञ्जना में केवल गुणीभूत व्यंग्य ही निमित्त नहीं होते अपितु अविवक्षितवाच्य के भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भी रसव्यंजना में निमित्त होते हैं। उदाहरण के लिये—इसी पद्य में 'जीवत्यहो रावणः' में 'रावण' शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यपरक है। यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भी वाक्य से अभि-व्यक्त होनेवाली रसध्वनि का अङ्ग है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। यह कारिका में आये हुए 'अपि' शब्द का आशय है कि 'गुणीभूतव्यंग्य भी' ध्वनिरूपता को धारण करते हैं अर्थात् अन्य तत्त्व तो धारण करते ही हैं।

(ध्वन्या०) यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासि-तेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदायधर्मः। यथा—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपयुञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः॥

इत्यादौ।

(अनु०) जहाँ तो वाक्य में रस इत्यादि तात्पर्य न हो, गुणीभूत व्यङ्ग्य पदों से उद्भा-सित होनेपर भी वहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता ही समुदाय धर्म होता है। जैसे—

'निस्सन्देह कुशल मनुष्य राजा का भी सेवन करते हैं; विष का भी उपयोग करते हैं और स्त्रियों से भी रमण करते हैं। इत्यादि में।

(लो०) **यत्र त्विति।** यद्यपि चात्र विषयनिर्वेदात्मकशान्तरसप्रतीतिरस्ति, तथापि चमत्कारोऽयं वाच्यनिष्ठ एव। व्यङ्ग्यं त्वसम्भाव्यत्वविपरीतकारित्वादि तस्यैवानुयायि, तच्चापिशब्दाभ्यामुभयतो योजिताभ्यां च-शब्देन स्थानत्रययोजितेन खलुशब्देन चोभयतो योजितेन मानवशब्देन स्पृष्टमेवेति गुणीभूतम्।

(अनु०) 'जहाँ तो' यह। यद्यपि यहाँ पर विषयनिर्वेदात्मक शान्त रस की प्रतीति होती है तथापि यह चमत्कार वाच्यनिष्ठ ही है। असम्भाव्यत्व, विपरीतकारित्व इत्यादि व्यङ्ग्य तो उसी का अनुयायी है। और वह दोनों ओर योजित 'भी' शब्द से, तीन स्थानों पर योजित 'और' शब्द से, दोनों ओर योजित 'खलु' शब्द से और 'मानव' शब्द से स्पृष्ट ही है, अतः गुणीभूत है।

गुणीभूतव्यंग्य का ध्वनि वाह्यविषय

तारावती—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह नहीं है कि जहाँ-कहीं

गुणीभूतव्यंग्य होता है वहाँ सर्वत्र ध्वनिकाव्य होता ही है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि पदों में गुणीभूतव्यंग्यता होती है और उसका पर्यवसान ध्वनि में नहीं होता। जहाँ कहीं वाक्यार्थ रसाभिव्यञ्जनपरक नहीं होता वहाँ यदि वाच्यार्थ गुणीभूत व्यंग्यों से उद्भासित भी हो रहा हो तथापि उसे ध्वनिकाव्य की संज्ञा नहीं दी जायगी अपितु वहाँ समुदाय धर्म भी गुणीभूतव्यंग्य ही होता है। उदाहरण के लिये इस उक्ति को लीजिये—

'निस्सन्देह वे मानव कुशल ही होते हैं जो राजा की भी सेवा कर लेते हैं, विष का भी उपयोग कर लेते हैं और स्त्रियों से भी रमण कर लेते हैं।'

यहाँ आशय यह है कि राजा की सेवा और स्त्रियों का उपभोग करना उतना ही विषम होता है जितना विष का सेवन करना। राजा के हृदय का पता नहीं चलता, विष सद्यः प्राणापहारक हो जाता है और स्त्रियाँ बाहर से अनुराग दिखलाती हैं किन्तु उनका हृदय छुरे की धार के समान तेज तथा घातक होता है। यद्यपि यहाँ पर शान्त रस की कल्पना की जा सकती है। सारा लौकिक व्यवहार ही नीरसप्राय तथा दु:ख और क्लेश से भरा हुआ है। लोक राजाओं को अधिक महत्त्व देता है और स्त्रियों में अधिक लिप्त रहता है क्योंकि वे ही सर्वाधिक आकर्षक होती हैं। किन्तु ये सब तत्त्व हैं कुछ भी नहीं परिणाम में ये सब विषभक्षण के समान ही मारक हो जाते हैं। इस प्रकार यह सब वर्णन विषयवैरस्य का प्रतिपादक है और उससे शान्तरस की अभिव्यञ्जना होती है। तथापि रसध्वनि वहीं पर होती हैं जहां चमत्कार रसनिष्ठ हो और रस की स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति हो रही हो। यहां पर रसध्वनि नहीं की जा सकती क्योंकि यहां पर चमत्कार वाच्यनिष्ठ ही है। यहां पर पूरे वाक्य से भी व्यञ्जना निकलती है कि राजा की सेवा कर सकना, स्त्रियों का हृदय पहिचान सकना और उनका प्रेम प्राप्त कर सकना तथा विषभक्षण कर सकना ये सब असम्भव कार्य हैं और जिस फल की आकांक्षा से इनको स्वीकार करो ये उसके विपरीत ही फल देते हैं। किन्तु यह सम्पूर्ण वाक्यगत व्यञ्जना चमत्कारपर्यवसायिनी नहीं होती क्योंकि यह वाच्य का ही संस्कार करती है अत एव ध्वनि न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य की ही कोटि में आती है। वाच्य का उपस्कार इस प्रकार होता है कि 'अपि' शब्द दोनों ओर लगाया जाता है कर्म के साथ भी लगाया जाता है और क्रिया के साथ भी। जैसे—'राजानम् अपि' 'सेवन्ते अपि' अर्थात् 'राजा को भी' इससे व्यञ्जना निकलती है राजा लोगों को प्रसन्न कर सकना अत्यन्त कठिन है, उनकी क्रूरता, असहिष्णुता और अयुक्तियुक्तता सर्वजनसंवेद्य है। 'सेवा भी कर लेते हैं' इससे व्यञ्जना निकलती है कि राजाओं से दूर का व्यवहार तो कोई बड़ी बात नहीं है किन्तु उनकी सेवा में तो सदा उनके पास उपस्थित रहना पड़ता है जो अति दुष्कर कार्य है। इसी प्रकार 'अपि' की दोनों ओर योजना 'विषमपि उपयुञ्जते' और 'स्त्रीभिः रमन्ते' में भी कर लेनी चाहिये और उनके व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या भी इसी प्रकार की जानी चाहिये। 'च' शब्द की योजना तीन बार होती है। क्योंकि द्योतकों का प्रयोग एक बार होता है किन्तु उनका सम्बन्ध प्रत्येक के साथ हो जाता है। 'च' भी द्योतक है। ('प्र' इत्यादि तथा 'च' इत्यादि को द्योतक माना जाता है। इसका आशय यह है कि इन शब्दों का अर्थ इनसे सम्बद्ध

शब्दों में ही विद्यमान रहता है किन्तु ये शब्द इस अर्थ को व्यक्त मात्र कर देते हैं। जैसे 'रामः कृष्णश्च' में कृष्ण का अर्थ है 'और कृष्ण' इस और शब्द का अर्थ 'च' शब्द के द्वारा द्योतित कर दिया गया है। यही 'च' शब्द की द्योतकता है। वैय्याकरण भूषण में कहा गया है—

'द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा।'

ये निपात अन्त में प्रयुक्त किये जाते हैं किन्तु इनका अन्वय सभी से हो जाता है। जैसे 'रामः सीता लक्ष्मणश्च गच्छन्ति' यहाँ 'च' शब्द का अन्त में प्रयोग किया गया है किन्तु इसका सम्बन्ध राम, सीता और लक्ष्मण तीनों से हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी 'राजानमपि सेवन्ते, विषमपि उपयुञ्जते; स्त्रीभिश्च सह रमन्ते' यहाँ अन्तमें 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु तीनों के साथ जुड़ जाता है।) इस प्रकार 'च' शब्द की तीनों स्थानों पर योजना से अभिव्यक्त असम्भाव्यत्व इत्यादि का कुछ न कुछ स्पर्श हो ही जाता है क्योंकि इस से व्यक्त होता है कि 'केवल इतना ही नहीं और भी'। इसी प्रकार 'खलु' (निस्सन्देह) शब्द की योजना दो बार होती है—'मानव' शब्द के साथ और 'कुशल' शब्द के साथ—'वे निस्सन्देह मानव हैं।' क्योंकि मानवगत विशेषता तो उन्हें ही प्राप्त हुई है और 'वे निस्सन्देह कुशल हैं' इससे भी असम्भवकारित्व का स्पर्श हो जाता है। 'मानव' शब्द भी इसी अर्थ का स्पर्श करता है। इस प्रकार यहाँ पर शान्त इत्यादि किसी रस में वक्ता का तात्पर्य नहीं है अपितु यहाँ पर पर्यवसान अभिव्यंग्य अर्थ से अनुप्राणित वाच्य में ही होता है। अतः यहाँ समुदाय धर्म गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है रसध्वनि नहीं।

(ध्वन्या०) **वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः। येन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां चासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते।**

(अनु०) वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य के विवेक में बहुत बड़ा प्रयत्न करना चाहिये जिससे ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का और अलङ्कारों का असङ्कीर्ण विषय भलीभाँति ज्ञात हो जाता है। नहीं तो प्रसिद्ध अलङ्कारों के विषय में ही व्यामोह प्रवृत्त हो जाता है।

(लो०) विवेकदर्शना चेयं न निरुपयोगेति दर्शयति—**वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति। अलङ्काराणां चेति।** यत्र व्यङ्ग्यं नास्त्येव तत्र तेषां शुद्धानां प्राधान्यम्। **अन्यथा-त्विति।** यदि प्रयत्नवता न भूयत इत्यर्थः। व्यङ्ग्यप्रकारस्तु यो मया पूर्वमुत्प्रेक्षित-स्तस्यासंदिग्धमेव व्यामोहस्थानत्वमित्येवकाराभिप्रायः।

(अनु०) यह (स्थिति) विवेकदर्शनवाली है निरुपयोगिनी नहीं यह दिखलाते हैं 'वाच्य और व्यङ्ग्य का' यह। 'अलङ्कारों का' यह। जहाँ व्यङ्ग्य नहीं ही होता वहाँ उन शुद्धों (अलङ्कारों) का प्राधान्य होता है। 'नहीं तो' यह। अर्थात् यदि प्रयत्नवाला न हुआ जाय तो। 'एव' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि जिस व्यङ्ग्य प्रकार की मैंने पहले कल्पना की था उसके व्यामोह स्थान होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

प्राधान्याप्राधान्य विवेचन का महत्त्व

तारावती—ऊपर प्रधानता तथा अप्रधानता का जो विचार किया गया है वह व्यर्थ नहीं है अपितु काव्यतत्त्वचिन्तन के लिये उसका बहुत बड़ा उपयोग है। यह काव्य का एक अत्युत्कृष्ट विवेकदर्शन है। प्रत्येक विवेचक का यह बहुत बड़ा कर्त्तव्य है कि काव्य का परिशीलन करने में बड़ी ही सावधानी से इस बात पर विचार करे कि अमुक काव्य में कौन तत्त्व प्रधान है और कौन अप्रधान है। क्या व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है? अथवा क्या व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुप्राणन मात्र है? अथवा क्या व्यंग्यार्थ स्वयं रस का पोषक है? अथवा वाच्योपस्कारक होकर रसाभिव्यञ्जक होता है? क्या कवि का रस में तात्पर्य है या नहीं? यदि इन सब बातों पर भलीभाँति ध्यान दिया जायगा तो यह सरलता से ही मालूम पड़ जायगा कि अमुक स्थान में ध्वनिकाव्य है अथवा गुणीभूतव्यंग्य है या शुद्ध अलङ्कार की प्रधानता है जिसमें व्यंग्य होता ही नहीं। यदि प्रयत्नपूर्वक प्रधानता और अप्रधानता पर विचार न किया जाय तो प्रधान अलङ्कारों के विषय में ही व्यामोह हो सकता है अप्रसिद्ध अलङ्कारों का तो कहना ही क्या? यहाँ पर 'अलङ्कार विषय एव' में जो 'एव' शब्द लिखा गया है उसका अभिप्राय यह है कि यदि परिशीलक प्रधान और अप्रधान की विवेचना करने में ही चूक जायगा तो जिस व्यंग्य प्रकार का मैंने पहले विस्तृत विवेचन किया है उसमें उसके व्यामोह में पड़ जाने में कोई सन्देह ही नहीं रह जायगा। प्रधानता का विचार न करने पर किस प्रकार व्यामोह सम्भव है इसके लिये केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। निम्नलिखित उक्ति को लीजिये—

(ध्वन्या०) यथा—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

(अनु०) जैसे—

'लावण्य धन के अपव्यय को नहीं गिना, महान् क्लेश स्वीकृत किया, सुखपूर्वक निवास करनेवाले स्वच्छन्द व्यक्ति के हृदय में चिन्ता की आग प्रदीप्त कर दी। यह बेचारी स्वयं ही तुल्य रमण के अभाव में मारी गई। इस कृशाङ्गी को बनाने में ब्रह्मा ने न जाने अपने चित्त में कौन सा प्रयोजन रक्खा था।'

(लो०) द्रविणशब्देन सर्वस्वप्रायत्वमनेकस्वकृत्योपयोगित्वमुक्तम्। **गणित इति**। चिरेण हि यो व्ययः सम्पद्यते न तु विद्युदिव झटिति तत्रावश्यं गणनया भवितव्यम्। अनन्तकालनिर्माणकारिणोऽपि तु विधेर्न वित्तैकलेशोऽप्युदभूदिति परमस्याप्रेक्षावत्त्वम्। अत एवाह—**क्लेशो महानिति**। **स्वच्छन्दस्येति**। विश्रृङ्खलस्येत्यर्थः।

एषापोति। यत्स्वयं निर्मीयते तदेव च निहन्यत इति महद्वैशसमपिशब्देनैवकारेण चोक्तम्। **कोऽर्थ इति।** न स्वात्मनो न लोकस्य न निर्मितस्येत्यर्थः।

(अनु०) द्रविणशब्द से लगभग सर्वस्व होना और अपने अनेक कृत्यों का उपयोगी होना बतलाया गया। 'गिना गया' यह। बहुत समय में जो व्यय किया जाता है बिजली के समान शीघ्र ही नहीं हो जाता वहाँ अवश्य गणना होनी चाहिये। अनेक काल से निर्माण करनेवाले भी ब्रह्मा का विवेकलेश भी उदय नहीं हुआ यह उनका बहुत बड़ा नासमझी से कार्य करना है। इसीलिये कहते हैं—'बहुत बड़ा क्लेश' यह। 'स्वच्छन्द का' यह। अर्थात् विश्रृङ्खल का। 'यह भी' यह। जो स्वयं निर्मित किया जाता है वही मारा जाय यह बहुत बड़ा घात हुआ—यह 'अपि' शब्द तथा 'एव' शब्द के द्वारा कहा गया। 'कौन अर्थ' यह। अर्थात् न तो अपना ही अर्थ न लोक का ही और न बनाये हुये का ही।

'लावण्य.......' की व्याख्या और इसमें व्याजस्तुति की संभावना

तारावती—ब्रह्माजी ने उसको न जाने क्यों बनाया एक तो सौन्दर्य की महती सम्पत्ति का निर्ममतापूर्वक व्यय कर डाला और उसकी परवा भी नहीं की। स्वयं इसके बनाने में न जाने कितना परिश्रम किया। लोक का भी इसकी रचना से क्या हितसाधन हुआ। लोग स्वच्छन्द विचरण कर रहे थे उनके हृदयों में चिन्ता की आग जला दी। स्वयं यह वेचारी भी अपने जैसे किसी प्रियतम को प्राप्त न कर सकी अतः यह भी नष्ट ही हो गई। न जाने इस कृशांगी के इतने मनोहर रूप की रचना करने में ब्रह्माजी ने अपने हृदय में क्या प्रयोजन रक्खा जो कि ऐसी अभूतपूर्व सुन्दरी की रचना कर दी।'

यहाँ पर लावण्य पर द्रविण का आरोप किया गया है। द्रविण (पूँजी) ही एक ऐसी वस्तु है जो किसी भी व्यक्ति का सर्वस्व कही जा सकती है और उसी से मानव के प्रायः सभी कार्य बन जाते हैं। अतः उसको सुरक्षित रखने की सर्वथा चेष्टा करनी चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं उसका अपव्यय न हो जाय। ब्रह्माजी की सम्पत्ति लावण्य ही है क्योंकि उससे वे समस्त विश्व की रचना करते हैं। प्रस्तुत नायिका की रचना में ब्रह्माजी ने खुले हाथों उस सौन्दर्य का अपव्यय किया और इस बात की परवा भी नहीं की कि उनका सर्वस्वभूत बहुमूल्य पदार्थ समाप्त होता जा रहा है। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि बिजली की चमक के समान पूँजी एकदम समाप्त हो जाती है और स्वामी उसे देखता ही रह जाता है, सम्पत्ति की रक्षा कर सकना उसके स्वामी के वश में ही नहीं रहता; अथवा इतनी अधिक आवश्यकता पड़ जाती है कि सम्पत्ति का मोह छोड़कर भी आई हुई विपत्ति से पीछा छुड़ाया जाता है। किन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है। ब्रह्माजी ने बहुत सोच समझ कर बहुत समय में नायिका की रचना की है। अतः सौन्दर्य की पूँजी का विनियोजन बहुत सोच समझ कर धीरे-धीरे किया गया है; बिजली के समान वह एकदम ही नहीं लग गई और न उनके विनियोजन के लिये ब्रह्माजी बाध्य ही थे। अतः उनको इस बात की परवा करनी ही चाहिये थी कि उनकी बहुमूल्य सम्पत्ति का यों ही अपव्यय हुआ जा रहा है। सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यह है कि ब्रह्माजी अनन्तकाल से रचना करते चले

आये हैं फिर भी उन्हें इतना विवेक प्राप्त नहीं हो सका कि ऐसी नासमझी न करें। केवल इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्माजी को इतने सुन्दर निर्माण में न जाने कितना कष्ट उठाना पड़ा होगा किन्तु ब्रह्माजी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। यदि कहा जाय कि ब्रह्माजी ने इस निर्माण से लोक का कोई बड़ा हित किया तो यह बात भी नहीं है। क्योंकि लोक पर तो इसकी रचना से एक आपत्ति ही आ गई। अभी तक लोग स्वच्छन्दता पूर्वक आनन्द से रहते थे उनके लिये कोई बन्धन नहीं था और कोई परेशानी नहीं थी। किन्तु इसकी रचना से उन सबके हृदयों में चिन्तारूप आग दहक उठी कि यह कैसे प्राप्त की जा सके। आशय यह है कि इस नायिका को देखकर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वासना की ज्वाला जल उठती है और प्रत्येक व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो जाता है। यह तो बैठे-बैठे ये एक आपत्ति ही सब लोगों पर आ गई। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस निर्माण से इस नायिका का ही कोई हित हुआ है। क्योंकि इतना रूपवान् कोई मनुष्य संसार में बनाया ही नहीं गया जिसका रमण इसके अनुकूल कहा जा सकता। अतः यह बेचारी भी मारी ही गई। जिसको स्वयं बनाया जाय और उसी को मार डाला जाय यह तो बहुत बड़ी हत्या ही कही जायेगी। यह बहुत बड़ी हत्या का भाव 'एषापि स्वयमेव' में 'अपि' और 'एव' शब्दों से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार ब्रह्माजी ने न तो अपना ही हित किया क्योंकि अपनी सारी पूँजी व्यय कर दी और महान् कष्ट उठाया, न लोक का ही हित किया क्योंकि लोगों के हृदयों में कामाग्नि प्रज्वलित कर दी और न इस नायिका का ही उपकार किया जो कि इसे अपने समान प्रियतम नहीं मिल सका। नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्माजी ने इसको बनाने में क्या प्रयोजन रक्खा होगा।

(ध्वन्या०) इत्यत्र व्याजस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायि केनचित्तन्न चतुरस्रम्, यतोऽस्याभिधेयस्यैतदलङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे न सुश्लिष्टा। यतो न तावदयं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' इत्येवं विधोक्त्यनुपपत्तेः। नापि नीरागस्य, तस्यैवंविधविकल्पपरिहारैकव्यापारत्वात्। न चायं श्लोकः क्वचित्प्रबन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्येत।

(अनु०) यहाँ पर व्याजस्तुति अलङ्कार है, यह किसी ने व्याख्या की, वह चारों ओर से ठीक नहीं बैठता; क्योंकि इस अभिधेय के इस अलङ्कार स्वरूपमात्र में पर्यवसित होने पर सङ्गति ठीक नहीं बैठती। क्योंकि यह किसी रागी का तो विकल्प हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी इस प्रकार की उक्ति उपपन्न नहीं होती कि 'यह बेचारी भी तुल्य रमण (प्रियतम) के अभाव में मारी गई।' यह किसी रागहीन की भी उक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसका तो एकमात्र कार्य ही यह होता है कि इस प्रकार के विकल्पों का परित्याग करे। यह श्लोक किसी प्रबन्ध में है यह भी नहीं सुना जाता जिससे उस प्रकरण के अनुगत अर्थ की वह कल्पना कर ली जाय।

(लो०) **तस्येति**। रागिणो हि वराकी हतेति कृपणतालिङ्गितममङ्गलोपहतं

चानुचितं वचनम्। तुल्यरमणाभावादिति स्वात्मन्यत्यन्तमनुचितम्। आत्मन्यपि तद्रूपासम्भावनायां रागितायां च पशुप्रायत्वं स्यात्।

ननु च रागिणोऽपि कुतश्चित्कारणात् परिगृहीतकतिपयकालव्रतस्य वा रावणप्रायस्य वा सीतादिविषये दुष्यन्तप्रायस्य वाऽनिर्ज्ञातजातिविशेषे शकुन्तलादौ किमियं स्वसौभाग्याभिमानगर्भा तत्स्तुतिगर्भा चोक्तिर्न भवति। वीतरागस्य वा अनादिकालाभ्यस्तरागवासनावासिततया मध्यस्थत्वेनापि तां वस्तुतस्तथा पश्यतो नेयमुक्तिः न सम्भाव्या। न हि वीतरागो विपर्यस्तान् भावान् पश्यति। न ह्यस्य वीणाक्वणितं काकरटितकल्पं प्रतिभाति। तस्मात्प्रस्तुतानुसारेणोभयस्यापीयमुक्तिरुपपद्यते। अप्रस्तुतप्रशंसायामपि ह्यप्रस्तुतः सम्भवन्नेवार्थो वक्तव्यः, नहि तेजसीत्थमप्रस्तुतप्रशंसा सम्भवति—अहो धिक्ते कार्ष्ण्यमिति सा परं प्रस्तुतपरतयेति नात्रासम्भव इत्याशङ्क्याह–**न चेति।**

(अनु०) 'उसका' यह। रागी का 'बेचारी मारी गई' यह वचन कृपणता से आलिङ्गित है और अमङ्गल से उपहत अनुचित वचन है 'तुल्यरमण के अभाव में' यह अपने विषय में अत्यन्त अनुचित है। अपने विषय में भी तद्रूप की असम्भावना करने पर रागिता में भी पशुप्रायत्व हो जाय।

(प्रश्न) कहीं किसी कारण से थोड़े समय के लिये व्रत लिये हुए रागी की; अथवा सीता इत्यादि के विषय में किसी रावण सदृश रागी की अथवा अज्ञात जातिविशेषवाली शकुन्तला इत्यादि के विषय में दुष्यन्त जैसे किसी रागी की—क्या यह अपने सौभाग्य के अभिमान से गर्भित तथा उसको प्रशंसा से गर्भित उक्ति नहीं हो सकती? अथवा अनादि काल से अभ्यस्त राग की वासना से वासित होने के कारण मध्यस्थ होते हुए भी उसको वस्तुतः उस प्रकार की देखनेवाले वीतराग की भी यह उक्ति सम्भावित नहीं की जा सकती? ऐसा नहीं। इसको वीणा का सुमनोहर शब्द कोवे की कावँ-कावँ जैसा तो मालूम नहीं पड़ता। इससे प्रस्तुत का अनुसरण करते हुये दोनों की यह उक्ति सिद्ध की जा सकती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में भी सम्भव ही अप्रस्तुत अर्थ कहा जाना चाहिये। तेज में यह अप्रस्तुतप्रशंसा सम्भव नहीं होती कि तुम्हारी कालिमा को धिक्कार है। इस प्रकार वह प्रस्तुतपरक ही है अतः यहाँ असम्भव नहीं यह शङ्का करके कहते हैं—'और नहीं यह श्लोक' इत्यादि।

तारावती—यहाँ पर किसी किसी ने व्याजस्तुति अलङ्कार माना है। व्याजस्तुति अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ प्रस्तुत की निन्दा की जाय जिसका अभिप्राय प्रस्तुत की ही प्रशंसा में हो। यहाँ पर ब्रह्मा प्रस्तुत हैं उनकी निन्दा की गई है। इस निन्दा का तात्पर्य है प्रशंसा में, क्योंकि इससे अभिव्यक्त होता है कि ब्रह्मा जी इतने निपुण हैं कि वे इतनी उच्चकोटि की सुन्दरियों का भी निर्माण कर सकते हैं। किन्तु वस्तुतः यहाँ नायिका का वर्णन ही प्रस्तुत है और ब्रह्मा जी की निन्दा के रूप में नायिका की निन्दा ही वाच्य है—'इस नायिका को व्यर्थ ही इतना लावण्य दे दिया गया, इसने स्वच्छन्द लोगों के हृदयों में कामाग्नि की

ज्वाला जला दी, इसका भी जीवन व्यर्थ है क्योंकि इसे अपने समान रूपवान् व्यक्ति उपभोग के लिये मिल ही नहीं सकता।' इस निन्दा से नायिका की प्रशंसा अभिव्यक्त होती है कि इसकी जैसी भुवनसुन्दरी और कोई है ही नहीं। इस प्रकार यह व्याजस्तुति अलङ्कार माना गया है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है और इस त्रुटि का कारण यही है कि विचारकों ने सभी दृष्टियों से इस पर विचार नहीं किया है तथा ठीक रूप में प्राधान्य-अप्राधान्य के विवेचन करने की चेष्टा नहीं की। कारण यह है कि यदि इस पद्य के वाच्यार्थ का पर्यवसान केवल ब्याजस्तुतिपरक ही माना जाय तो इस पद्य की सङ्गति ठीक बैठ ही नहीं सकती। इसको इस प्रकार समझिये—इस पद्य में नायिका के निर्माण के प्रयोजन के सम्बन्ध में जो अनेक विकल्प किये गये हैं वे किस व्यक्ति के विकल्प हैं? क्या वे किसी प्रेमी व्यक्ति के विकल्प हैं? किन्तु प्रेमी तो वही हो सकता है जिसकी चित्तवृत्ति अपनी प्रेयसी में बिल्कुल निमग्न हो गई हो और वह अपनी उस प्रेमिका की रूपसुधा का आस्वादन करने में ही अपने को कृतकृत्य मानता हो। वह तो अपनी प्रेयसी को सभी प्रकार का आदर देने को प्रस्तुत रहता है और उसी को सर्वस्व तथा सारभूत सफल पदार्थ समझता है। फिर भला वह अपनी प्रेयसी के लिये ही 'वेचारी' इस दीनता भरे हुये शब्द का प्रयोग कैसे करेगा? और 'नष्ट हो गई' यह अमाङ्गलिक वाक्य भी उसके मुख से कैसे निकलेगा? ये वचन सर्वथा अनुचित हैं जो एक प्रेमी अपनी प्रेयसी के लिये कह ही नहीं सकता। साथ ही प्रेमी तो वही हो सकता है जो नायिका के वियोग में दुःखी रहे और उसे प्राप्त करने की चेष्टा करे। 'इसको इसका जैसा रमण करने वाला व्यक्ति मिल ही नहीं सकता' ये शब्द किसी प्रेमी के मुखसे निकल ही नहीं सकते क्योंकि इससे यह स्पष्ट ही है कि वह अपने को उसके अनुकूल नहीं समझता। तब वह उसका प्रेमी कैसा? अपने अन्दर उसके जैसे रूप के प्राप्त कर सकने की योग्यता का अभाव समझना एक प्रेमी के लिये पशुओं की जैसी क्रिया हो जायगी। अतः यह कथन किसी रागी का नहीं माना जा सकता। तो क्या यह कथन किसी विरक्त व्यक्ति का है? किन्तु विरक्त व्यक्ति का तो एकमात्र कार्य यही होता है कि वह नायिकाओं के इस प्रकार के स्वरूप पर्यालोचन को सर्वथा बचाता रहे। यदि वह इस प्रकार सौन्दर्य की समीक्षा में प्रवृत्त रहे तो वह विरागी कैसा? अतः यह सिद्ध है कि यह कथन प्रस्तुतपरक नहीं हो सकता और न व्याजस्तुति अलङ्कार ही यहाँ सङ्गत हो सकता है। यहाँ तो अप्रस्तुत अंश पर ही प्रकाश पड़ता है। अतः यह अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार ही हो सकता है।

(प्रश्न) यह कथन किसी रागी का क्यों नहीं हो सकता? मान लीजिये किस रागी व्यक्ति ने कुछ समय के लिये किसी कारण से स्त्री-सहवास न करने का व्रत ले रक्खा है। वह अपने को उस नायिका के लिये उपयुक्त समझते हुये भी इस प्रकार के शब्द कह सकता है। अथवा (यदि कहो कि उसका भी 'वेचारी' या 'मारी गई' ये शब्द कहना तो अनुचित ही है तो) ये शब्द किसी ऐसे व्यक्ति के हो सकते हैं जो किसी ऐसी युवती से प्रेम करना चाहता हो जो स्वयं उससे विरक्त हो जैसे रावण का प्रेम सीता के प्रति। (किन्तु इस प्रेम में भी रावण मदोन्मत्त है और वह अपने प्रेम की असफलता पर पश्चात्ताप ही करता रह

जाय या उसके हृदय में अपनी प्रेयसी के प्रति करुणाभाव की जागृतिमात्र हो जाय यह रावण के स्वभाव के प्रतिकूल है। रावण तो दर्प के साथ सीता को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। ऐसी दशा में उसका भी इस प्रकार का कथन सङ्गत नहीं होता। क्योंकि रावण के सीता के प्रति प्रेम में तो चिन्ता की ही अधिकता होनी चाहिये। अथवा यह ऐसे प्रेमी के विषय में हो सकता है जैसा कि दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति उस समय भाव था जब दुष्यन्त को शकुन्तला की जाति का पता नहीं चल पाया था। (अभिज्ञान शाकुन्तल में यह प्रकरण आया है कि वृक्षों को सींचती हुई शकुन्तला को आड़ से देखकर दुष्यन्त यह वितर्क करने लगे कि क्या शकुन्तला उनके लिये उपभोग्य है या नहीं।) वास्तव में शकुन्तला अनन्य साधारण सुन्दरी है ही और उपभोगयोग्य न होने के कारण दुष्यन्त के हृदय में यह विचार आ ही सकता है कि बेचारी शकुन्तला को अपनी सुंदरता के योग्य प्रियतम मिलना असम्भव है। यद्यपि दुष्यन्त स्वयं को इस योग्य समझते हैं किन्तु सामाजिक प्रतिबन्ध उन्हें उसके सहवास में प्रवृत्त होने की अनुमति नहीं देता। इस प्रकार इस कथन से दुष्यन्त के सौभाग्य के अभिमान में भी कमी नहीं आती और शकुन्तला की प्रशंसा भी अभिव्यक्त हो जाती है। इस प्रकार यह कथन एक रागी व्यक्ति का हो ही सकता है। वीतराग की भी यह उक्ति असंभव नहीं है। क्योंकि वीतराग व्यक्ति भी अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए अनादि काल से जिस रागात्मक प्रवृत्ति का आनन्द लेता रहा है उससे उसकी आत्मा वासित तो है ही। अतः इस समय यद्यपि वह समस्त विषयों का परित्याग कर चुका है तथापि किसी अभूतपूर्व सौंदर्यशाली पदार्थ को तो वह उसी रूप में देखेगा जैसा वह है, अर्थात् जो पदार्थ सौन्दर्य में सर्वातिशायी होते हैं उनको वीतराग भी सुन्दरतम रूप में ही देखता है। उसकी सौन्दर्यप्रतीति की भावना समाप्त तो नहीं हो जाती। वह समस्त वस्तुओं को विपर्यस्त रूप में तो नहीं देखने लगता। वीणा का सुमनोहर क्वणन उसके लिये कौवे की कावँ-कावँ तो नहीं हो जाती। अत एव चाहे आप इसे रागी व्यक्ति की उक्ति मानें चाहे वीतराग की; दोनों अवस्थाओं में यह प्रस्तुत का ही वर्णन हो सकता है और दोनों का ही यह कथन सङ्गत हो जाता है। अतः यहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार ही मानना चाहिये। यदि आप अप्रस्तुतप्रशंसा मानेंगे तो भी ऐसा ही अप्रस्तुत अर्थ मानना पड़ेगा जो सम्भव हो। असम्भव अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति कभी नहीं हो सकती। यह तो आप कह ही नहीं सकते कि चाहे जिस अप्रस्तुत से जो प्रस्तुत अर्थ निकल सकता है। यदि आप ऐसा मानने लगेंगे कि चाहे जिस अप्रस्तुत से चाहें जिस प्रस्तुत की प्रतीति हो सकती है तब तो यह भी सम्भव हो सकेगा कि 'तुम्हारी कालिमा को धिक्कार है' इसको अप्रस्तुत मानकर इससे यह प्रतीति होगी कि वक्ता का अभिप्राय तेज का वर्णन करना है। सारांश यह है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुतपरक ही होना चाहिये मनमाना नहीं। जब अप्रस्तुतप्रशंसा में भी सम्भावना अपेक्षित होती ही है तब यहाँ पर व्याजस्तुति मानने में आपत्ति ही क्या है? ऊपर बतलाई हुई विधि से हम इसे किसी रागी की या विरागी की उक्ति क्यों नहीं मान सकते? (उत्तर) यह श्लोक किसी प्रबन्ध में नहीं आया है। अतः इसके लिये यह कल्पना नहीं की जा सकती कि इसमें कोई प्रकरणानुगत अर्थ हो सकता है। यदि यह पद्य किसी प्रबन्ध के अन्दर होता तो उस प्रबन्ध के अनुसार

ही उसकी योजना कर ली जाती। अतः जो अवतरण आपने सुझाये हैं वे यहाँ पर लागू ही नहीं होते।

(ध्वन्या०) **तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम्। यस्मादनेन वाच्येन गुणीभूतात्मना निस्सामान्यगुणावलेपाध्मातस्य निजमहिमोत्कर्षजनितसमत्सरजनज्वरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कञ्चिदेवापरं पश्यतः परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते। तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धः। सम्भाव्यते च तस्यैव। यस्मात्—**

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना—
प्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं,
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम्॥

इत्यनेनापि श्लोकेनैवंविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव।

(अनु०) उस (कारण) से यह अप्रस्तुतप्रशंसा है। क्योंकि गुणीभूत आत्मावाले इस वाच्य से असामान्य गुणों के अभिमान से फूले हुए अपनी महिमा के उत्कर्ष से मत्सरपूर्ण व्यक्तियों के हृदय में सन्ताप उत्पन्न करनेवाले और अपने से किसी अन्य विशेषज्ञ को न देखनेवाले व्यक्ति का यह विलाप है यह प्रकाशित किया जा रहा है। क्योंकि यह प्रसिद्धि है कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है और सम्भावना भी उन्हीं के श्लोक होने की है। क्योंकि—

'बहुत बढ़ी-चढ़ी बुद्धि की शक्तिवाले के द्वारा भी जिसके अवगाहन का अध्यवसाय नहीं किया जा सकता, अधिक अभियोगों के द्वारा भी जिसके परमार्थ तत्त्व को नहीं देखा जा सका है और जिसका समान प्रतिग्राहक प्राप्त नहीं होता इस प्रकार का हमारा मत महासागर के जल के समान अपने शरीर में ही जरा को प्राप्त हो जायगा।

इस श्लोक के द्वारा भी इस प्रकार का अभिप्राय प्रकाशित ही किया गया है।

(लो०) निस्सामान्येति निजमहिमेति विशेषज्ञमिति परिदेवितमित्येतैश्चतुर्भिः वाक्यखण्डैः क्रमेण पादचतुष्टयस्य तात्पर्यं व्याख्यातम्। नन्वत्रापि किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह—**तथा चेति।** ननु किमियतेत्याशङ्क्य तदाशयेन निर्विवादतदीयश्लोकार्पितेनास्याशयं संवादयति—**सम्भाव्यत इति।** अवगाहनमध्यवसितमपि न यत्र आस्तां तस्य सम्पादनम्। परमं यदर्थतत्त्वं कौस्तुभादिभ्योऽप्युत्तमम्, अलब्धं प्रयत्नपरीक्षितमपि न प्राप्तं सदृशं यस्य तथाभूतं प्रतिग्राहमेकैको ग्राहो जलचरः प्राणी ऐरावतोच्चैःश्रवोधन्वन्तरिप्रायो यत्र तदलब्धसदृशप्रतिग्राहकम्।

एवंविध इति। परिदेवितविषय इत्यर्थः। इयति चार्थे अप्रस्तुतप्रशंसोपमालक्षणमलङ्कारद्वयम्। अनन्तरं तु स्वात्मनि विस्मयधामतयाद्भुते विश्रान्तिः। परस्य च श्रोतृधनस्यात्यादरास्पदतया प्रयत्नग्राह्यतया चोत्साहजननेनैवंभूतमत्यन्तोपादेयं सत्कतिपयसमुचितजनानुग्राहकं कृतमिति स्वात्मनि कुशलकारिताप्रदर्शनया धर्मवीरस्पर्शनेन वीररसे विश्रान्तिरिति मन्तव्यम्। अन्यथा परिदेवितमात्रेण किं कृतं स्यात्। अप्रेक्षापूर्वकारित्वमात्मन्यावेदितं चेत् किं ततः स्वार्थपरार्थासम्भवादित्यलं बहुना।

(अनु०) 'निस्सामान्य' यह 'निजमहिमा' यह 'विशेषज्ञ' यह 'परिदेवित' यह इन चार वाक्यखण्डों से क्रमशः चार पदों के तात्पर्य की व्याख्या की गई। (प्रश्न) निस्सन्देह यहाँ पर भी क्या प्रमाण है? यह शङ्का करके कहते हैं—'तथा च' इत्यादि। इससे क्या? यह शङ्का करके उसके आशय से उन (धर्मकीर्ति) के निर्विवाद श्लोक के द्वारा अर्पित आशय का मेल करा रहे हैं—'सम्भावित किया जाता है' यह। जहाँ अवगाहन की तैय्यारी की हो और उसका सम्पादन न हो सके। परम जो अर्थतत्त्व अर्थात् कौस्तुभ इत्यादि से भी उत्तम। नहीं प्राप्त किया अर्थात् प्रयत्नपूर्वक परीक्षा करने पर भी जिसके समान प्राप्त नहीं हुआ उस प्रकार का प्रतिग्राह अर्थात् जलचर प्राणी ऐरावत, उच्चैःश्रवा, धन्वन्तरि इत्यादि हैं जिसमें उसको कहते हैं सदृश प्रतिग्राहक को न प्राप्त करनेवाला।

'इस प्रकार का' यह। अर्थात् परिदेवन (विलाप) का विषय। और इतने अर्थ में अप्रस्तुतप्रशंसा और उपमा नाम के दो अलंकार हैं। बाद में तो अपने विषय में विस्मयधामता होने के कारण अद्भुत में विश्रान्ति होती है। दूसरे श्रोता लोगों के लिए अत्यन्त आदरास्पद होने के कारण और प्रयत्नपूर्वक ग्राह्य होने से उत्साहजनक के द्वारा इस प्रकार के (अर्थ) को अत्यन्त उपादेय बनाकर कतिपय योग्यजनों का अनुग्राहक बना दिया गया है। इस प्रकार अपने अन्दर कुशलता प्रदर्शन के द्वारा धर्मवीर के स्पर्श से वीररस में विश्रान्ति हो जाती है यह माना जाना चाहिये। नहीं तो परिदेवन मात्र से क्या कार्य बन सकेगा।

यदि कहो कि अपने अन्दर विना सोचे समझे कार्य करने की प्रवृत्ति बतलाई गई है तो इससे क्या? क्योंकि इससे स्वार्थ और परार्थ दोनों असम्भव हैं। बस अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता?

इस पद्य में अप्रस्तुत प्रशंसा का समर्थन

तारावती—(प्रश्न) जब आपके मत में यहाँ व्याजस्तुति का मानना ठीक नहीं तो और कौनसा अलङ्कार होगा? (उत्तर) यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार मानना ही ठीक है। यहाँ पर प्रस्तुत है किसी विचारक की चिन्तनाशक्ति से उद्भूत गहन दार्शनिक सिद्धान्त जिसको समझ सकना भी प्रतिभाशालियों के लिये असम्भव है। कवि इसी बात को कहना चाहता है। अतः उसके तुल्य इस अप्रस्तुत अर्थ का उपन्यास करता है कि ब्रह्माजी ने एक ऐसी अभूतपूर्व सुन्दरी की रचना कर दी है कि उसके उपभोगयोग्य ही कोई व्यक्ति दृष्टिगत नहीं होता। इस अप्रस्तुत से इस प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है कि विचारक का सिद्धान्त समझने की क्षमता ही बड़े-बड़े विद्वानों में भी नहीं है। इस प्रकार तुल्य अप्रस्तुत से तुल्य प्रस्तुत का परिस्फुरण होने के कारण यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। यहाँ पर प्रस्तुत की अभिव्यक्ति की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'लावण्यरूपी धन के व्यय की भी परवा नहीं की और अपने ऊपर बहुत कष्ट उठाया' इस प्रथम पाद के अर्थ से व्यक्त होता है कि इसका वक्ता अपने असामान्य गुणों के अभिमान से फूला हुआ है; उसका कहना है कि उसने अपने सिद्धान्त के प्रवर्तन में अपनी सारी प्रतिभा लगा दी है और उसमें उसे बड़ा परि-

श्रम करना पड़ा है। यह सिद्धान्त ऐसा वैसा नहीं है अपितु इसमें असाधारण गुण भरे पड़े हैं। दूसरे पाद का अर्थ यह है—'जो लोग स्वच्छन्द विचरण करते थे उनके हृदयों में चिन्ता का ज्वर उत्पन्न कर दिया।' इसकी व्यञ्जना यह है कि 'जो लोग मुझसे मत्सर रखते हैं वे मेरे इस महिमा के उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या की आग से एकदम जलने लगे है।' तीसरे पाद का अर्थ है—'यह बेचारी भी अपने तुल्य रमण को प्राप्त न कर सकने के कारण मारी गई।' इसकी व्यञ्जना यह है कि—'मैंने जैसे सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है और जैसी उच्चकोटि की प्रतिपादनशैली इसमें अपनाई है उसकी तुलना विश्व के किसी विचारक से नहीं की जा सकती। मैं अपने विषय का अद्वितीय विशेषज्ञ हूँ।' चतुर्थ पादका अर्थ यह है—'न जाने ब्रह्माजी ने इस तन्वङ्गी की रचनाकर किस अर्थ की सिद्धि की ?' इसका व्यङ्ग्यार्थं है—'मुझे दुःख है कि मेरा इतना उच्चकोटि का सिद्धान्त किसी की समझ में नहीं आयेगा और यह यों ही व्यर्थ हो जायगा।' इस प्रकार इस पद्य से वक्ता का परिदेवन व्यक्त होता है। अतः यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही है।

(प्रश्न) इस विषय में क्या प्रमाण है कि इस पद्य का प्रस्तुत अर्थ किसी विद्वान् की उच्चकोटि की रचना के न समझे जाने से उद्भूत परिदेवन है। (उत्तर) यह प्रसिद्ध है कि यह पद्य धर्मकीर्ति का लिखा हुआ है। (आनन्दवर्धन को भी इस बात का ठीक पता नहीं था कि यह पद्य किसका लिखा हुआ है। यहाँ पर उन्होंने अपने समय की प्रसिद्धिमात्र का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन के इसी उल्लेख के आधार पर क्षेमेन्द्र ने निश्चय के साथ लिख दिया है कि यह धर्मकीर्ति एक बौद्धभिक्षु थे। इन्होंने न्यायबिन्दु की रचना की थी। सुबन्धु की वासवदत्ता में दी हुई एक उपमा से व्यक्त होता है कि इन्होंने एक अलङ्कार ग्रन्थ की भी रचना की थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि धर्मकीर्ति सुबन्धु से भी पहले हुए थे।)(प्रश्न) यह तो प्रसिद्धिमात्र है इसमें प्रमाण ही क्या कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है ? दूसरी बात यह है कि यदि इसे धर्मकीर्ति का मान भी लिया जाय तो यह कैसे सिद्ध हो जायगा कि यह व्याजस्तुति न होकर अप्रस्तुतप्रशंसा है। (उत्तर) सम्भावना यही है कि उन्हीं का श्लोक होगा। कारण यह है कि इस पद्य में जिस प्रस्तुत की व्याख्या की गई है बिलकुल उसी से मिलता-जुलता भाव धर्मकीर्ति के एक दूसरे श्लोक का भी है जिसके विषय में यह सन्देह नहीं है कि वह धर्मकीर्ति का है या नहीं। उस पद्य का आशय इस प्रकार है—

'मेरा मत महासागर के जल के समान अथाह और दुर्गम है। जिस प्रकार बुद्धि की बहुत बड़ी शक्ति रखने वाले व्यक्ति भी न तो महासागर के जल में प्रविष्ट होने का साहस कर सकते हैं और न उसके आलोडन-विलोडन की शक्ति उनमें होती है उसी प्रकार मेरे मत में प्रवेश पा सकने की शक्ति अधिक से अधिक बुद्धि की शक्ति रखनेवालों में भी नहीं है। यदि वे उसमें अवगाहन का अध्यवसाय भी करें तो वह कार्य उनसे सम्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार अधिक से अधिक उद्योग करने पर भी मानव-वर्ग महासागर के बहुत बड़े अर्थ-तत्त्व कौस्तुभमणि इत्यादि से भी चढ़ी-बढ़ी रत्नराशि का अवलोकन नहीं कर सकता उसी प्रकार प्रकृष्ट अभियोग के द्वारा भी विद्वन्मण्डल मेरे मत के वास्तविक अर्थतत्त्व का परिज्ञान

नहीं कर सकता। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक परीक्षा करने पर भी समुद्र के समान प्रतिग्रह अर्थात् प्रत्येक जलचर प्राणी प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् समुद्र से जैसे उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्राणी निकलते हैं वैसे अन्यत्र प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सकते उसी प्रकार मेरे मत के मुझ जैसे प्रतिग्राहक अर्थात् ग्रहण करने वाले और दूसरों को समझानेवाले नहीं मिल सकते। अत एव जिस प्रकार महासागर का जल अपने शरीर में ही वृद्ध हो गया उसी प्रकार मेरे शरीर में ही मेरा मत भी जीर्ण हो जायेगा।'

इस पद्य का वही भाव है जो कि 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि पद्य का है। इसमें वही परिदेवन की भावना है अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही है व्याजस्तुति नहीं। यहाँ तक तो अलङ्कारों की व्याख्या हुई। 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि में अप्रस्तुत-प्रशंसा है और 'अनध्यवसितावगाहन' इत्यादि में उपमा अलङ्कार है। बाद में रसध्वनि पर विचार का प्रश्न उठता है। इस दिशा में कवि के दृष्टिकोण से विस्मय का स्थान होने के कारण इसकी विश्रान्ति अद्भुत में होती है। यदि श्रोताजनों के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो उनके लिये यह इस प्रकार का मत अत्यधिक आदरणीय होगा और वह मत इस योग्य है कि उसे ग्रहण करने की प्रयत्नपूर्वक चेष्टा की जानी चाहिये, अतः उससे श्रोताओं के हृदय में उत्साह का सञ्चार होता है उन्हें अनुभव होता है कि 'जो सिद्धान्त कोई नहीं समझ पाता वह मैं समझकर दिखलाऊँगा'। इससे यह व्यक्त होता है कि कवि ने एक ऐसे मत का प्रवर्तन किया है जिसका उपादान सभी के लिये बहुत ही उपयोगी है और जो व्यक्ति इस योग्य होंगे कि उसे समझ सकें तथा वे परिश्रम करके समझेंगे भी वे बहुत ही कृतार्थ हो जायेंगे। चाहे संख्या में वे कितने ही कम हों। इस प्रकार कवि ने अपनी प्रतिभा का उपयोग कर अत्यन्त परिश्रम के साथ लोगों को अनुगृहीत करनेवाला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रवर्तित किया है। इस प्रकार इस उक्ति के द्वारा कवि ने अपनी उच्चकोटि की क्रियाशीलता व्यक्त की है। यह उक्ति वीररस का स्पर्श करती है और इसकी विश्रान्ति वीररस में ही होती है। यदि इसकी विश्रान्ति साभिमान वीररस में न मानी जाय तो यह केवल एक विलाप रह जायेगा। उससे लाभ क्या होगा? यदि कहो यहाँ कवि ने यह व्यक्त किया है कि मैं कितना नासमझी का काम करनेवाला हूँ तो इससे भी क्या लाभ होगा? नासमझी से न तो अपना ही अर्थ बनता है और न पराया ही। बस इस पद्य की व्याख्या में इतना कहना पर्याप्त है अधिक की आवश्यकता नहीं।

(ध्वन्या०) अप्रस्तुतप्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिद-विवक्षितत्वं कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया। तत्र विवक्षितत्वं यथा—

> **परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो**
> **यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।**
> **न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः**
> **किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥**

यथा वा ममैव—

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम् ।
निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना
समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः ॥

(अनु०) और अप्रस्तुतप्रशंसा में जो वाच्य होता है वह कदाचित् विवक्षित होता है; कदाचित् अविवक्षित और कदाचित् विवक्षिताविवक्षित । इस प्रकार तीन प्रकार की बन्धच्छाया होती है । उसमें विवक्षित जैसे—

'दूसरे के लिये जो पीड़ा का अनुभव करता है, जो टूटने पर भी मधुर होता है, जिसका विकार निस्सन्देह सभी व्यक्तियों के लिये अभिमत होता है यदि वह बुरे खेत में पड़कर वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ तो क्या यह गन्ने का दोष है गुणहीन मरूभूमि का नहीं ?

अथवा जैसे मेरा ही—

'ये जो सुन्दर रूपवाले (शरीरावयव) देखे जाते हैं इनकी सफलता जिस (चक्षु) के क्षणमात्र विषय बन जाने से हो सकती है; आश्चर्य है कि आलोकरहित इस लोक में ये नेत्र कैसे अन्य सब अवयवों के समान ही हो गये अथवा अन्य अवयवों के समान भी नहीं रहे ।'

(लो०) ननु यथास्थितस्यार्थस्यासङ्गतौ भवत्वप्रस्तुतप्रशंसा इह तु सङ्गतिरस्त्येवेत्याशङ्क्य सङ्गतावपि भवत्येवैषेति दर्शयितुमुपक्रमते—**अप्रस्तुतेति । नन्विति ।** यैरिदं जगद्भूषितमित्यर्थः । यस्य चक्षुषो विषयतां क्षणं गतानामेषां सफलता भवति- तदिदं चक्षुरिति सम्बन्धः । आलोको विवेकोऽपि । **न सममिति ।** हस्तो हि परस्पर्शादानादावप्युपयोगी । अवयवैरिति अतितुच्छप्रायैरित्यर्थः । अप्राप्तः पर उत्कृष्टो भागोऽर्थलाभात्मकः स्वरूपप्रथनलक्षणो वा येन तस्य ।

(अनु०)(प्रश्न) यथास्थित अर्थ की असङ्गति में अप्रस्तुतप्रशंसा हो जाय; यहाँ तो सङ्गति है ही यह आशङ्का करके सङ्गति होने पर भी यह हो ही जाती है यह दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं—'अप्रस्तुत' यह । 'निस्सन्देह' यह । अर्थात् जिनके द्वारा यह संसार भूषित किया गया है । जिस नेत्र की विषयता को क्षणभर गये हुये इन (अङ्गों) की सफलता होती है वह यह नेत्र—यह सम्बन्ध है । आलोक का अर्थ विवेक भी है । 'समान नहीं' यह । हाथ निस्सन्देह दूसरे के स्पर्श और आदान इत्यादि में भी उपयोगी है । 'अवयवों' से अर्थात् जो अत्यन्त तुच्छप्राय हैं उनसे । नहीं प्राप्त किया गया है पर अर्थात् उत्कृष्ट भाग अर्थात् अर्थप्राप्तिरूप अथवा स्वरूप प्रसिद्धिरूप जिसके द्वारा उसका ।

अप्रस्तुतप्रशंसा के विभिन्नरूप

तारावती—(प्रश्न) अप्रस्तुतप्रशंसा का ऐसे स्थान पर होना तो ठीक है जहाँ जो कुछ कहा गया हो उसकी सङ्गति ठीक न बैठे । यदि सङ्गति ठीक बैठ जाती है तो अप्रस्तुतप्रशंसा हो ही नहीं सकती यहाँ पर 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि पद्य में किसी

व्यक्ति का किसी रमणी के अभूतपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध होना दिखलाया गया है जो कि सङ्गत ही है। अतः आप इसे अप्रस्तुतप्रशंसा कैसे कह सकते है ? (उत्तर) अप्रस्तुतप्रशंसा केवल वहीं पर नहीं होती जहाँ अर्थ की सङ्गति न हो। किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की होती है—(१) जहाँ वाच्य विवक्षित हो अर्थात् अर्थ की सङ्गति लग जाती हो, (२) जहाँ वाच्य अविवक्षित हो अर्थात् अर्थ की सङ्गति न लग सकने से वाच्यार्थ का बोध हो जाता हो और (३) जहाँ वाच्यार्थ एक अंश में विवक्षित हो और दूसरे अंश में अविवक्षित अर्थात् जहाँ अर्थ की सङ्गति एक अंश में लग जाती हो और एक अंश में न लगती हो। इन तीनों प्रकारों को उदाहरणों द्वारा यहाँ पर स्पष्ट किया जायेगा। पहले प्रथम प्रकार को लीजिये—

प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई बहुत ही गुणवान् व्यक्ति किसी ऐसे स्थान पर जा पड़ा है जहाँ न तो उसे अपने गुणों के सम्मान की आशा है, न पैसा हो मिलने वाला है और न उसकी प्रसिद्धि ही हो सकती है। यह उसके लिये बड़े दुर्भाग्य की बात है; किन्तु इससे उस व्यक्ति की गुणहीनता तो नहीं सिद्ध हो जाती, इससे तो उस स्थान के लोगों की गुणग्राहकता की कमी हो सिद्ध होती है। यही बात कवि गन्ने की अप्रस्तुत योजना के माध्यम से व्यक्त कर रहा है—

'गन्ना कितनी अच्छी वस्तु है ? यह दूसरे के लिये पीड़ा सहता है और चाहे तोड़ा जाय चाहे पीसा जाय किन्तु अपनी मधुरता नहीं छोड़ता। यदि संयोगवश वह किसी बहुत ही बुरे ऊसर खेत में पड़ जाय और बढ़ न सके तो गन्ने का दोष तो नहीं हो गया। यह तो उस मरुप्रदेश का दोष होगा जो उस गन्ने जैसे अच्छे पदार्थ को भी नही बढ़ा सका।'

आनन्दवर्धन ने एक दूसरा और उदाहरण इसी विषय में दिया है जो कि उन्ही का बनाया हुआ पद्य है और जिसमें उक्त बात ही कही गई है तथा यह बतलाया गया है कि यदि पूज्य व्यक्ति के रहते हुये अपूज्यों की पूजा होती है तो उसमें पूज्य का क्या दोष ?

'हाथ पैर इत्यादि शरीर के विभिन्न अङ्ग बहुत ही सुन्दर कहे जाते हैं और यह समझा जाता है कि शरीर के इन सुन्दर अङ्गों से ही संसार भूषित कर दिया गया है। किन्तु इन अङ्गों की सफलता तभी होती है जब ये नेत्र के सम्पर्क में आते हैं। नेत्रों का महत्त्व इतना बढ़ा-चढ़ा है कि क्षणमात्र के सम्पर्क से ही अर्थात् क्षण भरके लिये ही इन अङ्गों को अपना विषय बनाकर नेत्र इन्हें सफल बना देते हैं। यह कैसी आश्चर्य और दुःख की बात है कि आलोकरहित अन्धकारपूर्ण संसार में वे ही नेत्र अन्य अङ्गों के समान हो जाते हैं अथवा अन्य अङ्गों की समानता कर भी नहीं सकते।'

'आलोकरहित' में आलोक का अर्थ विवेक भी है। आशय यह है कि ऐसे स्थान पर जहाँ लोगों की विवेकशक्ति मारी जाती है अच्छे से अच्छे लोग भी जन साधारण में ही गिने जाते हैं। 'अथवा अन्य अवयवों के समान नेत्र नहीं हो सकते' यहाँ पर 'अन्य अवयवों' से व्यञ्जना निकलती है कि वे अवयव बहुत ही तुच्छ हैं। अन्य अङ्ग हाथ-पैर इत्यादि तो अन्धकार में भी स्पर्श इत्यादि के द्वारा कुछ न कुछ कार्य कर ही सकते हैं किन्तु आँखें तो विल्कुल व्यर्थ हो जाती हैं वे उस समय अन्य अङ्गोंके समान भी नहीं रह जाती।

(ध्वन्या०) अनयोर्हि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषी विवक्षितस्वरूपे एव न च प्रस्तुते । महागुणस्याविषयपतितत्वादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित्स्वरूपमुपवर्णयितुं द्वयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात् ।

(अनु०) निस्सन्देह इन दोनों श्लोकों में गन्ना और नेत्र विवक्षित रूपवाले ही हैं किन्तु प्रस्तुत नहीं हैं । क्योंकि महागुणोंवाले और तुच्छस्थान में पड़ जाने के कारण उत्कर्ष को प्राप्त न करनेवाले किसी व्यक्ति के स्वरूप का वर्णन करने के लिये दोनों श्लोकों में (वह व्यक्ति) तात्पर्य के रूप में प्रस्तुत है ।

तारावती—इस प्रकार यहाँ पर अप्रस्तुत इक्षु और चक्षु का वर्णन किया गया है । इक्षु के विषय में जो कुछ कहा गया वह सब ठीक है और चक्षु भी सभी अङ्गों में अधिक महत्त्वपूर्ण है ही । अतः यहाँ पर वाच्यार्थ विवक्षित है । उससे इस प्रस्तुत की व्यञ्जना निकलती है कि अत्यन्त गुणी व्यक्ति बुरे स्थान पर पड़ कर परभाग अर्थात् उत्कृष्ट धन अथवा स्वरूप की प्रसिद्धि को नहीं प्राप्त कर पाया है । उसी की यहाँ व्यञ्जना होती है । इस प्रकार यहाँ विवक्षितवाच्य पर अप्रस्तुतप्रशंसा आधारित है ।

(ध्वन्या०) अविवक्षितत्वं यथा—

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरिणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते ।

(अनु०) अविवक्षितत्व जैसे—

'अरे तुम कौन हो ? कहता हूँ; मुझे दैव का मारा हुआ तुच्छ शाखोट (सिहोरा) का वृक्ष समझो । कुछ मानो वैराग्य से बोल रहे हो । ठीक समझ गये । क्यों ? यह कहा जा रहा है ? यहाँ से बाईं ओर वटवृक्ष है; यात्री लोग पूरी आत्मा से उसी का सेवन करते हैं; मार्ग में स्थित भी मेरी छाया भी परोपकार करनेवाली नहीं है ।'

वृक्ष विशेष से उक्ति-प्रत्युक्ति सम्भव नहीं होती; अतः अविवक्षिताभिधेयवाले इस श्लोक से समृद्ध असत्पुरुष के निकटवर्ती किसी निर्धन मनुष्य का परिदेवन तात्पर्य से वाक्यार्थ बनाया गया है यह प्रतीत होता है ।

(लो०) कथयामीत्यादि प्रत्युक्तिः । अनेन पदेनेदमाह—अकथनीयमेतत् श्रूयमाणं हि निर्वेदाय भवति, तथापि तु यदि निर्बन्धस्तत्कथयामि । **वैराग्यादिति ।** काक्वा दैवहतकमित्यादिना च सूचितं वैराग्यमितियावत् । साधुविदितमित्युत्तरम् ।

कस्मादिति वैराग्ये हेतुप्रश्नः। इदं कथ्यत इत्यादिसनिर्वेदस्मरणोपक्रमं कथंकथमपि निरूपणीयतयोत्तरम्। **वामेनेति।** अनुचितेन कुलादिनोपलक्षित इत्यर्थः। **'वट' इति।** छायामात्रकरणादेव फलदानादिशून्यादुद्धरकन्धर इत्यर्थः। **छायापीति।** शाखोटको हि श्मशानाग्निज्वालालीढलतापल्लवादिस्तरुविशेषः। अत्राविवक्षायां हेतुमाह—**न हीति।** समृद्धो हि योऽसत्पुरुषः। 'समृद्धसत्पुरुष' इति पाठे तु 'समृद्धेन ऋद्धिमात्रेण सत्पुरुषो न तु गुणादिनेति व्याख्येयम्।

(अनु०)'कहता हूँ' इत्यादि प्रत्युक्ति है। इस पद से यह कहते हैं—अकथनीय यह सुने जाने पर निर्वेद के लिये होता है तथापि यदि आग्रह है तो कहता हूँ। 'वैराग्य से' यह। काकु से तथा 'दैवहतक' इत्यादि से तुम्हारा वैराग्य सूचित हुआ है यह आशय है। 'ठीक समझा' यह उत्तर है। 'क्यों' यह वैराग्य के हेतु का प्रश्न है 'यह कहा जा रहा है' इत्यादि निर्वेदपूर्ण स्मरण के उपक्रम के साथ जैसे तैसे निरूपण करने के योग्य होने रूप में उत्तर दिया गया है। 'बाईं ओर से' अर्थात् अनुचित कुल इत्यादि से उपलक्षित। 'वट' यह। अर्थात् फलदान इत्यादि से शून्य छायामात्र करने से ही ऊपर को कन्धा उठाये हुये। 'छाया भी' शाखोटक निस्सन्देह एक वृक्ष होता है जिसके लतापल्लव इत्यादि श्मशानाग्नि की ज्वाला से कवलित कर लिये गये हों। यहाँ अविवक्षा में हेतु बतलाते हैं—'न हि' यह। समृद्ध जो असत् पुरुष। 'समृद्धसत्पुरुष' इस पाठ के होने पर यह व्याख्या करनी चाहिये कि जो समृद्ध से अर्थात् ऋद्धिमात्र से सत्पुरुष हैं गुण इत्यादि से नहीं।

तारावती—अप्रस्तुतप्रशंसा का दूसरा प्रकार वह होता है जहाँ वाच्य की विवक्षा नहीं होती अर्थात् वाच्य बाधित होता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति सिहोड़े के वृक्ष से प्रश्नोत्तर कर रहा है—

व्यक्ति—भाई तुम कौन हो?'

वृक्ष—'कहता हूँ'। आशय यह है कि यह बात बतलाने की तो नहीं है कि मैं कौन हूँ क्योंकि इसको सुनकर तुम्हें दुःख और निर्वेद ही होगा तथापि यदि तुम्हारा अधिक आग्रह है तो मुझे कहना ही पड़ेगा, लो कहता हूँ—'तुम यह समझ लो मैं दैव का मारा हुआ शाखोटक हूँ।'

व्यक्ति—'तुम तो विरागियों की भाँति बातें कर रहे हो?' अर्थात् तुम्हारे कहने के ढंग-कण्ठ विकार (काकु) और 'दैवका मारा' इत्यादि शब्दों से तुम्हारे वैराग्य की भावना अभिव्यक्त होती है।

वृक्ष—'हाँ ऐसा ही है, आप विल्कुल ठीक समझे।'

व्यक्ति—'क्यों ?' अर्थात् तुम्हारे वैराग्य में क्या कारण है ?

वृक्ष—'यह मैं कहता हूँ ?—(वृक्ष के इस कथन से व्यक्त होता है कि वह निर्वेद के साथ अपनी दशा का स्मरण कर रहा है और जैसे-तैसे ऐसा उत्तर देना चाहता है जो उसके वैराग्य का निरूपण कर सके।) यहाँ बाईं ओर एक बरगद है, यात्रीगण उसका पूरे मनोयोग से सेवन करते हैं। यद्यपि मैं मार्ग में स्थित हूँ तथापि मेरी छाया भी परोपकार करने वाली नहीं है'।

यहाँ बाईं ओर की व्यञ्जना यह निकलती है कि वट वृक्ष न तो मार्ग पर ही उगा हुआ है और न ठीक स्थान पर ही स्थित है फिर भी यात्री लोग उसी ओर जाते हैं। 'बरगद' की व्यञ्जना यह है कि वह एक साधारण सा वृक्ष है, जिसमें फल इत्यादि बिल्कुल नहीं होते, केवल उसमें छाया मिल जाती है केवल इतने से ही वह अभिमान में भर कर अपना कन्धा ऊपर किये हुये है। यदि उसके पास फलों की आशा होती तो यात्रियों का उसके पास जाना ठीक भी कहा जा सकता था, किन्तु यात्री वहाँ केवल छाया के लोभ में ही जाते हैं। यदि मेरे पास भी छाया होती तो यात्री लोग मेरे पास ही आया करते इतनी दूर चल कर क्यों जाते। किन्तु मैं ऐसा अभागा हूँ कि मुझे छाया भी नहीं मिल सकी जो मैं उसके द्वारा ही यात्रियों का उपकार कर सकता। शाखोटक नाम का एक वृक्ष होता है जो कि श्मशान में प्रायः उगता है और श्मशान की अग्नि से उसके लता पल्लव इत्यादि झुलस जाते हैं। (नागेश भट्ट ने इसे भूतों के आवास का वृक्ष लिखा है। वैद्यक निघण्टु में लिखा है कि शाखोट भूतवास वृक्ष होता है जिसके फल पीले होते हैं, छाल कठोर होती है और छाया बहुत थोड़ी होती है।) यह तो हुई अप्रस्तुत की व्याख्या। यहाँ पर प्रस्तुत यह है कि कोई बहुत ही सज्जन तथा उदार व्यक्ति है जो दान देना चाहता है। किन्तु उस बेचारे के पास ऐसे साधन ही नही हैं कि याचक उसके पास आया करें। उसी के पड़ोस में एक दूसरे महाशय रहते हैं जो वस्तुतः बड़ी ही नीच प्रकृति के हैं, किन्तु परमात्मा ने उसे पैसा दिया है, अतः वह सभी लोगों से घिरा रहता है, यद्यपि वह दान किसी को नहीं देता, केवल लोगों को दुराशामात्र है जिससे सभी लोग उसके पास आते रहते हैं। यह कथन उस निर्धन किन्तु सज्जन व्यक्ति का विलाप है। यही तात्पर्यरूप वाच्यार्थ है। यहाँ पर वाच्यार्थ में वृक्ष के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर किया गया है जो कि असम्भव है। क्योंकि वृक्ष किसी से बातचीत नहीं कर सकता। अतः यह अविवक्षितवाच्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है। यहाँ पर समृद्ध असत्पुरुषका निकटवर्ती होना अप्रस्तुतप्रशंसा में हेतु है। यहाँ पर 'समृद्धासत्पुरुष' यह पाठ ठीक है। कहीं कहीं 'समृद्धसत्पुरुष' यह पाठ दृष्टिगत होता है। वहाँ भी आशय वही है। वहाँ अर्थ इस प्रकार करना होगा—जो समृद्ध होने से अर्थात् ऋद्धि या सम्पत्तिमात्र से सत्पुरुष है, अन्यथा तो वह असत्पुरुष ही है।

(ध्वन्या०) विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा—

उप्पहजाआएँ असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए।
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्जिहसि॥

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी। तस्माद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये ॥४०॥

(अनु०) विक्षिताविवक्षितत्व जैसे—

'हे पामर! उत्पथ में उत्पन्न हुई, अशोभन तथा फल, पुष्प और पत्रों से रहित वेरी के लिये वाड़ देते हुये हँसे जाओगे।'

यहाँ पर वाच्यार्थ न तो अत्यन्त सम्भव है और न असम्भव। अतः वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य का निरूपण प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये ॥४०॥

(लो०) **नात्यन्तमिति।** वाच्यभावनियमो नास्ति नास्तीति न शक्यं वक्तुम्; व्यङ्ग्यस्यापि भावादिति तात्पर्यम्। तथा हि उत्पथजाताया इति न तथा कुलोद्भवायाः। अशोभनाया इति लावण्यरहितायाः। फलकुसुमपत्ररहिताया इत्येवंभूतापि काचित्पुत्रिणी वा भ्रात्रादिपक्षपरिपूर्णतया सम्बन्धिवर्गपरिपोषिता वा परिरक्ष्यते। वदर्या वृत्ति ददत् पामर भोः, हसिष्यसे सर्वलोकैरितिभावः। एवमप्रस्तुतप्रशंसां प्रसङ्गतो निरूप्य प्रकृतमेव यन्निरूपणीयं तदुपसहरति—**तस्मादिति।** अप्रस्तुतप्रशंसायामपि लावण्येत्यत्र श्लोके यद्व्यामोहो लोकस्य दृष्टस्ततो हेतोरित्यर्थः ॥४०॥

(अनु०) 'नात्यन्त' यह। तात्पर्य यह है कि वाच्य भाव का नियम नहीं होता (और) नहीं होता यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यङ्ग्य की भी सत्ता होती है। वह इस प्रकार—'उत्पथ में उत्पन्न हुई' अर्थात् उस प्रकार के (अपने समान) वंश में उत्पन्न नहीं हुई। 'अशोभन' अर्थात् लावण्य रहित। 'फल, पुष्प, पत्र रहित' अर्थात् इस प्रकार की भी कोई पुत्रिणी अथवा भाई इत्यादि पक्ष से परिपूर्ण होने के कारण सम्बन्धित वर्ग से परिपोषित की रक्षा की जाती है। भाव यह है कि अरे बेरी की बेड़ी लगानेवाले पामर ? तुम सब लोगों के द्वारा हँसे जाओगे। इस प्रकार प्रसङ्गवश अप्रस्तुतप्रशंसा का निरूपण कर प्रकृत में ही जिसका निरूपण करना है उसका उपसंहार कर रहे हैं—'इससे' यह। अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा में भी लोक का जो व्यामोह देखा गया है उस हेतु से ॥४०॥

तारावती—अप्रस्तुतप्रशंसा का तीसरा प्रकार वह होता है जिसमें वाच्य का कुछ अंश विवक्षित हो और कुछ अविवक्षित। इसके उदाहरण के रूप में एक प्राकृत गाथा उद्धृत की गई है। जिसकी संस्कृत छाया यह होगी—

उत्पथजाताया अशोभनाया फलकुसुमपत्ररहितायाः।
वदर्या वृत्ति ददत् पामर भो अवहसिष्यसे ॥

कोई व्यक्ति किसी कुरूप तथा निम्नवंशोत्पन्न स्त्री को प्रयत्नपूर्वक पर्दे में रखने और उसकी रक्षा करने के लिए चेष्टा कर रहा है कि कहीं कोई उसका शील भङ्ग न कर दे। उसे सुनाकर कोई दूसरा कह रहा है:—

'तुम बड़े मूर्ख हो जो कि बेरी के चारों ओर बाड़ी लगाने की चेष्टा कर रहे हो जो मार्ग से हटकर बुरे स्थान पर उगी हुई है। कोई सुन्दर वृक्ष नहीं है और न तो उसमें फल ही आते हैं और न कुसुम पत्र इत्यादि ही उत्पन्न होते हैं। लोग जब तुम्हें ऐसी बेरी के चारों ओर बाड़ी लगाते हुए देखेंगे तो तुम्हारी हँसी ही उड़ाएँगे।'

यहाँ पर बेरीपरक अर्थ अप्रस्तुत है और इससे इस प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है कि जिस रमणी की रक्षा करने के लिये तुम इतने प्रयत्नवान् हो वह न तो किसी अच्छे कुल में उत्पन्न हुई है (उत्पथजातायाः) न देखने में सुन्दर तथा लावण्ययुक्त है (अशोभनायाः) तथा न उसके सन्तान ही होती है और न उसके भाई इत्यादि कुटुम्बियों का वर्ग ही है जिसने उसका प्रेमपूर्वक पालन-पोषण किया हो (फलकुसुमपत्ररहितायाः) आशय यह है कि ऐसी स्त्री की सुरक्षा का ध्यान रखना उचित भी कहा जा सकता है चाहे सुन्दर न हो किन्तु अच्छे वंश

में उत्पन्न हुई हो और अपने भाई बिरादरों से प्रेमपूर्वक पालन-पोषण पाया हो। जहाँ यह भी न हो वहाँ तो किसी रमणी के सुरक्षित रखने की चेष्टा हास्यास्पद ही होती है। यहाँ पर वाच्यार्थ न तो बिलकुल सम्भव है और न असम्भव। क्योंकि यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता भी विद्यमान है। (यहाँ पर न तो यह उदाहरण ही स्पष्ट है और न लोचन में की हुई व्याख्या ही ठीक प्रतीत हो रही है। यह उदाहरण इस बात का दिया गया है कि कहीं-कहीं जिस अप्रस्तुत वाच्य के माध्यम से प्रस्तुत की प्रतीति कराई जाती है वह अप्रस्तुत एक अंश में विवक्षित होता है और दूसरे अंश में अविवक्षित। बेरी की बाड़ लगाने में क्या अविवक्षित है और क्या विवक्षित यह समझ में नहीं आता। लोचन में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है कि 'वाच्य होने का नियम नहीं है और न हो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यङ्ग्य की सत्ता भी यहाँ विद्यमान है।' सम्भवतः लोचनकार का आशय यह है कि बेरी में बाड़ कोई नहीं लगाता क्योंकि यह कार्य अनुचित है, अतः यह वाच्य अविवक्षित है। किन्तु व्यंग्य कुरूप नायिका की रक्षा की जाती है अतः यह विवक्षित है। यही व्याख्या दीधिति में कर दी गई है। किन्तु यहाँ आपत्ति यह है कि व्यङ्ग्य तो प्रस्तुत होता है और वह सर्वत्र विवक्षित ही होता है। यदि व्यङ्ग्यार्थ अविवक्षित होगा तो बात कही क्या जायेगी और पर्यवसान कहाँ होगा? 'कस्त्वं भोः कथयामि' इस में भी जो कि अविवक्षितवाच्य का उदाहरण दिया गया है वाच्यार्थ वृक्ष का उत्तर-प्रत्युत्तर ही अविवक्षित है। किसी निर्धन का वैराग्य तो विवक्षित ही है। अतः व्यङ्ग्यार्थ को लेकर उसके एक अंश को अविवक्षित कहना ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है कि 'विवक्षिताविवक्षितवाच्य' इस नामकरण से ही ज्ञात होता है कि वाच्यार्थ के ही विवक्षित और अविववक्षित होने पर विचार किया जाना चाहिये। तब बेरी की बाड़ लगाने में क्या असम्भव है? क्या उसमें फल इत्यादि नहीं होते? अतः उदाहरण ठीक नहीं जँचता। विवक्षिताविवक्षित वाच्य का ठीक उदाहरण बिहारी का यह दोहा हो सकता है—

दिन दस आदरु पाइकै करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग सराध पख तौ लगि तो सनमानु॥

यहाँ पर कौवे का आदर और श्राद्धपक्ष भर सम्मान विवक्षित है। किन्तु कौवा स्वयं अपना बखान नहीं कर सकता, अतः यह अंश अविवक्षित है।)

ऊपर प्रसंगवश अप्रस्तुतप्रशंसा का निरूपण किया गया। इस निरूपण का मन्तव्य यही दिखलाना था कि अप्रस्तुतप्रशंसा केवल वहीं नहीं होती जहाँ वाच्य असङ्गत तथा अविवक्षित हो। यह वहाँ पर भी हो सकती है जहाँ वाच्य सङ्गत अथवा अर्धसङ्गत हो। ऐसा मान लेने पर 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' में वाच्यार्थ के असङ्गत तथा अविवक्षित होनेपर भी अप्रस्तुतप्रशंसा के हो सकने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। किन्तु इस पद्य में ('लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि में) अप्रस्तुतप्रशंसा को न समझकर कुछ लोगों ने व्याजस्तुति बतला दी है। इस भ्रम का एकमात्र कारण यही है कि इस बात का ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया जा सका है कि प्रधानता किस तत्त्व की है। यदि प्रधानता और अप्रधानता

पर ठीक ध्यान नहीं दिया जाय तो साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक त्रुटियाँ हो जाना सम्भव है। अतः इस दिशा में आलोचक को विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता है जिससे साहित्य का ठीक अभिप्राय समझा जा सके। यही इस प्रकरण का सार है ॥४०॥

(ध्वन्या०) प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥४१॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥४२॥

व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता। ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यं। काव्यानुकारो ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि। वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि।

(अनु०) 'व्यङ्ग्य के प्रधान तथा गुणीभाव के द्वारा दो काव्य इस प्रकार व्यवस्थित हैं। उन दोनों से जो भिन्न है वह चित्रकाव्य कहा जाता है ॥४१॥'

'शब्द अर्थ के भेद से चित्रकाव्य दो प्रकार से व्यवस्थित होता है। उसमें कुछ शब्दचित्र होता है और उससे भिन्न वाच्यचित्र होता है ॥४२॥'

व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि नाम का काव्यप्रकार होता है और गुणीभाव में तो गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है। उनसे भिन्न रसभावादि रहित तथा विशेष प्रकार के व्यंग्यार्थ के प्रकाशन की शक्ति से शून्य केवल वाच्यवाचक वैचित्र्यमात्र के आश्रय से उपनिबद्ध होकर आलेख्य के समान जो आभासित होता है उसे चित्र कहते हैं। वह मुख्य काव्य नहीं होता। वह निस्सन्देह काव्य का अनुकरण होता है। उसमें कुछ शब्दचित्र होता है जैसे दुष्करयमक इत्यादि। उस शब्दचित्र से भिन्न वाच्यचित्र होता है (जैसे) व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्श से रहित और रसादितात्पर्य से रहित वाक्यार्थ के रूप में स्थित उत्प्रेक्षा इत्यादि।

(लो०) एवं व्यङ्ग्यस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितुमाह—**प्रधानेत्यादिना**। कारिकाद्वयेन। **शब्दचित्रमिति**। यमकचक्रबन्धादि चित्रतया प्रसिद्धमेव तत्तुल्यमेवार्थचित्रं मन्तव्यमितिभावः। **आलेख्यप्रख्यमिति**। रसादिजीवरहितं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः।

(अनु०) इस प्रकार व्यङ्ग्य के स्वरूप का निरूपण कर जो सर्वथा उससे शून्य होता है उसमें क्या बात होती है? यह निरूपण करने के लिये कह रहे हैं—'प्रधान' इत्यादि। दो कारिकाओं के द्वारा। 'शब्दचित्र' यह। भाव यह है कि बन्ध यमकचक्र इत्यादि चित्र के रूप में प्रसिद्ध ही हैं; उन्हीं के समान अर्थचित्र भी माना जाना चाहिये। 'आलेख्य के समान' अर्थात् रस इत्यादि जीवनरहित और मुख्य प्रतिकृतिरूप।

तारावती—ऊपर व्यङ्ग्य के स्वरूप का भी निरूपण कर दिया गया और यह भी बतला दिया कि व्यङ्ग्यार्थ की विभिन्न परिस्थितियों में काव्य का कौन सा रूप कहा जा सकता है। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या काव्य में कुछ ऐसे स्थल होते हैं या नहीं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ बिलकुल ही न हो? यदि ऐसे स्थल होते हैं तो वहाँ पर क्या व्यवस्था होती है? उस काव्य का क्या नाम रक्खा जाता है? इस प्रश्न का उत्तर ४१ वीं और ४२ वीं कारिकाओं में दिया गया है। इन कारिकाओं का आशय यह है कि—'काव्य के उन दो प्रकारों के व्यवस्थित होने की व्याख्या की जा चुकी जहां व्यङ्ग्यार्थ प्रधान या गुणीभूत होता है। जो काव्य इन दोनों विधाओं में अन्तर्भूत नहीं होता अर्थात् जहां व्यङ्ग्यार्थ होता ही नहीं उस काव्य को चित्र-काव्य कहते हैं। इस चित्र-काव्य के भी दो भेद होते हैं—शब्द-चित्र और अर्थचित्र। कहीं शब्दचित्र होता है और कहीं अर्थचित्र।'

(ध्वन्या०) अथ किमिदं चित्रं नाम? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः। प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।

(अनु०) अच्छा यह चित्र क्या वस्तु है? यही न कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श न हो। निस्सन्देह पहले तीन भेदोंवाला प्रतीयमान अर्थ पहले दिखलाया गया है। उसमें जहाँ पर कोई दूसरी वस्तु या दूसरा अलंकार व्यंग्य नहीं होता वह चित्रकाव्य का विषय कल्पित कर लिया जाय। जहाँ तो रस इत्यादि की अविषयता होती है वह काव्यप्रकार सम्भव ही नहीं होता है क्योंकि किसी वस्तु का स्पर्श न करना काव्य के लिये सम्भव ही नहीं होता। संसार में विद्यमान सभी वस्तु अवश्य हो किसी रस या भाव की अंगता को प्राप्त हो जाती है क्योंकि अन्ततः विभावरूप हो होती है। रस इत्यादि तो चित्तवृत्तिविशेषरूप ही होते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। उसके उत्पादन न करने पर उसकी कविविषयता ही सिद्ध न हो और कोई कविविषय ही चित्र के रूप में निरू-किया जाता है।

(लो०) **'अथ किमिदमि'**ति आक्षेपे वक्ष्यमाण आशयः। अत्रोत्तरम्—**यत्र नेति**। आक्षेप्ता स्वाभिप्रायं दर्शयति—**प्रतीयमान इति। अवस्तुसंस्पर्शितेति**। कचटतपादिवन्निरर्थकत्वं दशदाडिमादिवदसंबद्धार्थत्वं वेत्यर्थः। ननु मा भूत्कविविषय इत्याशङ्क्याह—**कविविषयश्चेति**। काव्यरूपतया यद्यपि न निर्दिष्टस्तथापि कविगोचरीकृत एवासौ वक्तव्यः, अन्यस्य वासुकिवृत्तान्ततुल्यस्येहाभिधानायोगात्। कवेश्चेद्गोचरो नूनममुना प्रीतिर्जनयितव्या सा चावश्यं विभावानुभावव्यभिचारिपर्यवसायिनीतिभावः।

(अनु०) 'क्या वस्तु' इस आक्षेप में आगे कहा गया आशय है। यहाँ उत्तर है—'जहाँ नहीं' यह। आक्षेप करनेवाला अपना अभिप्राय दिखलाता है—'प्रतीयमान' यह। 'अवस्तुसंस्पर्शिता' यह। 'कचटतप' इत्यादि के समान निरर्थकत्व अथवा 'दश दाडिम' इत्यादि के समान असम्बद्धार्थत्व हो जाय। (प्रश्न) कवि का विषय न हो (इससे क्या ?) यह शङ्का करके कहते हैं 'और कवि विषय' यह। भाव यह है कि यद्यपि काव्यरूप में उसका निर्देश नहीं किया है तथापि कवि का गोचर किया हुआ यह कहा ही जाना चाहिये, क्योंकि वासुकि के वृत्तान्त के समान उसके अभिधान का यहाँ योग ही नहीं है। यदि कवि का गोचर है तो निस्सन्देह इसके द्वारा आनन्द उत्पन्न किया जाना चाहिये और वह अवश्य ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव की पर्यवसायिनी होती है।

चित्रकाव्य—स्वरूप, नामकरण और भेद

तारावती—इन कारिकाओं का आशय यह है कि जहां व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है उस काव्यप्रकार को ध्वनि कहते हैं और जहां व्यङ्ग्यार्थ गौण होता है उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं। उनसे भिन्न ऐसा भी काव्य हो सकता है जिसमें न तो रस इत्यादि की तात्पर्यरूप में व्यञ्जना हो रही हो और न अन्य किसी प्रकार की वस्तु अथवा अलंकार की व्यञ्जना ही विद्यमान हो। उसमें या तो केवल वाच्य का वैचित्र्य हो या केवल वाचक का वैचित्र्य हो और उसी वैचित्र्य को लक्ष्य बनाकर काव्य-रचना की गई हो। इस प्रकार के काव्य को चित्रकाव्य कहते हैं। इसके नामकरण का कारण यह है कि जिस प्रकार किसी वस्तु का कोई चित्र बनाया जाता है; उसमें मुख्य वस्तु के समस्त अवयव और समस्त बाह्याकृति दृष्टिगत होती है। केवल एक वस्तु की कमी होती है और वह है जीवन। इसी प्रकार जिस काव्य में काव्य के सारे तत्त्व शब्द, अर्थ उनका वैचित्र्य इत्यादि तो विद्यमान होते हैं किन्तु काव्य-जीवन रस इत्यादि विद्यमान नहीं होता उसे चित्रकाव्य कहते हैं। वह मुख्यकाव्य की कोटि में नहीं आता अपितु काव्य का अनुकरण मात्र कहा जाता है। उसमें केवल मुख्य की प्रतिकृति होती है। यह चित्रकाव्य दो प्रकार का होता है एक तो शब्दचित्र और दूसरा अर्थचित्र। शब्दचित्र में ऐसे यमक सन्निविष्ट होते हैं जिनकी संयोजना दुष्कर होती है। (कुछ यमक ऐसे होते हैं जो स्वाभाविक रूप में ही कविवाणी में स्फुरित होते चले जाते हैं उनसे रस परिपोष ही होता है। इसके प्रतिकूल कुछ यमक प्रयत्नपूर्वक लाये जाते हैं वे यमक चित्रकाव्य की ही कोटि में आते हैं। उदाहरण के लिये रघुवंश के नवें सर्ग में और शिशुपाल वध के छठे सर्ग में प्रयत्नपूर्वक द्रुतविलम्बित के तीसरे पाद में यमक लाने की चेष्टा की गई है।) इसी प्रकार चक्रबन्ध, मुरजबन्ध, गोमूत्रिका बन्ध इत्यादि में भी यही चित्रकाव्यता होती है। (इस प्रकार के पद्य शिशुपालवध के १९ वें सर्ग में और किरातार्जुनीय के १५ वें सर्ग में बहुतायत से आये हैं। इन सर्गों का विषय चित्रयुद्धवर्णन कहलाता ही है।) यह तो सब वाचक चित्र (शब्दचित्र) हुआ। वाच्यचित्र भी ऐसी उत्प्रेक्षा इत्यादि को कहते हैं जो शब्दचित्र से भिन्न होता है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का संस्पर्श नहीं होता; जिसमें रस इत्यादि का तात्पर्य नहीं होता और मुख्य वाच्यार्थ के रूप में उत्प्रेक्षा इत्यादि की ही स्थिति होती है।

(चक्रबन्ध इत्यादि के नामकरण का कारण तो स्पष्ट है। उनमें वर्णविन्यास इस प्रकार किया जाता है कि कहीं चक्र कहीं मुरज कहीं गोमूत्र इत्यादि के चित्र बन जाते हैं; उसी की समता के आधार पर अर्थचित्र भी मान लिया जाना चाहिये। यदि आधुनिक भाषा में कहें तो यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी कवि विना ही रागद्वेष की संयोजना किये हुए इस प्रकार का वर्णन कर देता है जिससे किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्र सा खिंच जाता है उसके अन्दर किसी प्रकार का रागद्वेष आनन्द इत्यादि भावना के उद्भावन की शक्ति नहीं होती। यदि हम कहें तो ऐसे वर्णन को अर्थचित्र कह सकते हैं।)

(ध्वन्या०) अत्रोच्यते—सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।

(अनु०) यहाँ पर कहा जा रहा है—सचमुच उस प्रकार का काव्य प्रकार नहीं होता जहाँ रस इत्यादि की प्रतीति न हो। किन्तु जब रस, भाव इत्यादि की विवक्षा से रहित कवि शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार का उपनिबन्धन करता है तब उसकी विवक्षा को अपेक्षा करते हुये अर्थ की रस इत्यादि से शून्यता कल्पित की जाती है। काव्य में शब्दों का अर्थ निस्सन्देह विवक्षा में उपारूढ ही होता है। कवि को विवक्षा के न होते हुये भी उस प्रकार के विषय में होनेवाली रस की प्रतीति अत्यन्त दुर्बल हो जाती है इस प्रकार से भी नीरसत्व की कल्पना करके चित्रविषय की व्यवस्था कर दी जाती है।

(लो०) किन्त्विति।

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथंचन।

इत्यादिर्योऽलङ्कारनिवेशने समीक्षाप्रकार उक्तस्तं यदा नानुसरतीत्यर्थः। **रसादिशून्यतेति**। नैव तत्र रसप्रतीतिरस्ति यथा पाकानभिज्ञसूदविरचिते मांसपाकविशेषे। ननु वस्तुसौन्दर्यादवश्यं भवति कदाचित्तथास्वादोऽकुशलकृतायामपि शिखरिण्यामिवेत्याशङ्क्याह—**वाच्येत्यादि**। **अनेनापीति**। पूर्वं सर्वथा तच्छून्यत्वमुक्तमधुना तु दौर्बल्यमित्यपिशब्दस्यार्थः। अज्ञकृतायां च शिखरिण्यामहोशिखरिणीति न तज्ज्ञानाच्चमत्कारः अपि तु दधिगुडमरिचं चैतदसमञ्जसयोजितमितिवक्तारो भवन्ति।

(अनु०) 'किन्तु' यह। अर्थात्

'तत्परक रूप में विवक्षा (होनी चाहिये) अङ्गी के रूप में कैसे भी नहीं।'

इत्यादि जो समीक्षा प्रकार अलंकार के निवेशन के विषय में बतलाया गया है उसका अनुसरण जब नहीं करता। 'रस इत्यादि से शून्यता' यह। वहाँ पर रस की प्रतीति नहीं होती जैसे पाक में अनभिज्ञ रसोइया के बनाये हुए विशेष प्रकार के मांसपाक में। (प्रश्न) वस्तु के सौन्दर्य से कदाचित् वहाँ आस्वाद अवश्य आ जाता है। जैसे अकुशल की बनाई हुई

शिखरिन में। यह शङ्का करके कहते हैं—'वाच्य' इत्यादि। 'इसके द्वारा भी' यह। यहाँ 'भी' का अर्थ है—पहले तो सर्वथा उसकी शून्यता बतलाई गई थी, अब उसका दौर्बल्य बतलाया गया है। अज्ञ की बनाई हुई शिखरिणी में 'आश्चर्य है शिखरिणी पर' यह उसके ज्ञान से चमत्कार नहीं होता; अपितु लोग यह कहने लगते हैं कि यह दही गुड़ और मरिच बेमेल रूप में मिलाई गई हैं।

चित्रकाव्य और भावपक्ष

तारावती—(प्रश्न) यह चित्रकाव्य है क्या वस्तु? आप उसे ही तो चित्र काव्य की संज्ञा दे रहे हैं जिसमें प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श न हो। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तुव्यञ्जना, अलंकारव्यञ्जना और रसव्यञ्जना। हम इतना तो मान सकते हैं कि कुछ काव्य ऐसे अवश्य हो सकते हैं जिनमें वस्तुव्यञ्जना या अलंकारव्यञ्जना न हो। यदि आप उसे चित्रकाव्य कहना चाहें तो कह सकते हैं। किन्तु यह कैसे माना जा सकता है कि कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिनमें रस या भाव नहीं होता? कारण यह है कि ऐसा तो काव्य हो ही नहीं सकता जिसके शब्दों से किसी वस्तु का सङ्केत न मिलता हो। यदि हम केवल कुछ अक्षरों को जोड़ दें जिनका कोई अर्थ न हो जैसे 'कचटतप' इत्यादि तो उसे तो काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार यदि हम कुछ शब्दों को जोड़ दें जो आपस में न तो सम्बद्ध हों और न उनसे किसी अर्थ का प्रत्यायन हो रहा हो जैसे 'छ पुये, दस अनार' इत्यादि तो उसे भी काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी। सारांश यह है कि काव्य वही हो सकता है जो किसी वस्तु का प्रत्यायन कराये' जितनी भी कोई वस्तु संसार में विद्यमान हैं उनमें एक भी ऐसी नहीं हो सकती जो किसी रस या भाव को जागृत करनेवाली न हो। क्योंकि समस्त वस्तुओं का अन्तिम पर्यवसान तो विभाव के रूप में ही होता है। आशय यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु विभावरूपता में परिणत होती है और उस रूप में वह किसी न किसी भाव या रस की उद्भाविका या उद्दीपिका होती है। ऐसी दशा में रस या भाव से शून्य तो कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। रस इत्यादि वस्तुतः है क्या वस्तु? विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति ही तो रस कहलाती है। ऐसी कोई वस्तु संसार में होती ही नहीं जो किसी न किसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। बिना वस्तु के काव्य नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक काव्य रस या भाव के बिना सम्भव ही नहीं है। यदि आप किसी ऐसी वस्तु की कल्पना कर लें जो चित्तवृत्ति के उत्पादन की क्षमता न रखती हो वह कवि का विषय ही नहीं बन सकती। यदि कहो कि कविविषय न रहने में क्या हानि हो जायगी तो मेरा निवेदन है जिसे आप चित्रकाव्य के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं वह भी तो कविविषय ही है। यदि कवि ही उसे नहीं अपना विषय बनायेगा तो वह चित्र-काव्य की संज्ञा ही कैसे प्राप्त कर सकेगा? चाहे आप उसे काव्यरूप में स्वीकार न करें किन्तु कवि का विषय तो वह होगा ही। क्योंकि यहाँ पर जो कुछ लिखा जा रहा है वह कविता के विषय में ही लिखा जा रहा है, कोई मनमानी बात तो लिखी नहीं जा रही है। यदि कविविषय के अतिरिक्त मनमाने ढंगसे यहाँ चाहे जो कहा जाने लगेगा तो वह सब

उसी प्रकार अप्रयोजनीय होगा जिस प्रकार वासुकि की कथा लिखी जाने लगे। इस सबका निष्कृष्टार्थ यही है कि काव्य से अर्थबोध अवश्य होना चाहिये, अर्थबोध से कोई वस्तु ही अवगत होगी। वस्तु सर्वदा विभावरूप ही होती है जो किसी न किसी भाव को जागृत अवश्य करती है। अतः यदि चित्रकाव्य की वस्तु कवि की विषयगोचर है तो उससे प्रीति का जनन अवश्य होना चाहिये। अतः प्रत्येक वस्तु का पर्यवसान विभाव, अनुभाव या सञ्चारीभाव में ही होता है। इस प्रकार आप यह कदापि नहीं कह सकते कि चित्रकाव्य रस से भी रहित होता है।

इस विषय में उत्तर दिया जा रहा है—यह तो ठीक ही है कि कोई काव्य ऐसा नहीं होता जिसमें रस इत्यादि की प्रतीति न होती हो। वस्तुतः कवि का लक्ष्य रसनिष्पत्ति ही होना चाहिये। यदि कवि अलङ्कार योजना भी करता है तो भी उसका लक्ष्य रस ही होना चाहिये। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि कवि को बहुत ही सावधानी से समीक्षा पूर्वक अलंकारों की योजना करनी चाहिये। उस प्रकरण में कहा जा चुका है कि कवि को अलंकार-योजना रस-परक रूप में ही करनी चाहिये, कभी भी अङ्गी या प्रधान रूप में नहीं करनी चाहिये। किन्तु कभी कभी कवि असावधानता के कारण इस समीक्षापद्धति की अनजाने अवहेलना कर जाता है। ऐसी दशा में वह ऐसे शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की योजना करता है जिनका मन्तव्य रसानुभूति को तीव्रता प्रदान करना नहीं होता। अतः उन स्थानों पर कवि का अनभिप्रेत होने के कारण रस, भाव इत्यादि की शून्यता की कल्पना कर ली जाती है। कारण यह है कि काव्य में शब्दों का अर्थ इसी दृष्टिकोण को लेकर किया जाता है कि कवि का अभिप्रेत विवक्षित अर्थ क्या है? अतः जो कवि अकुशल होते हैं उनकी कविता प्रायः रस-भावादि शून्य हो जाती है। यह इसी प्रकार समझिये जैसे मांस पकाना कुशल रसोइये का काम है। यदि कोई अकुशल रसोइया मांस पकाकर रख देता है तो उसमें मांस का स्वाद नहीं आता। उसमें अनुचित परिमाण में डाले हुये मिर्च मसाले इत्यादि का स्वाद ही आ जाता है। इसी प्रकार काव्य का लक्ष्य रसनिष्पत्ति करना ही है। यदि कोई अकुशल कवि रसनिष्पत्ति के लिये प्रयत्नशील होकर उसमें असफल हो जाता है तब उसमें रस प्रतीति की अनुभूति नहीं होती अपितु अलङ्कारों की ही प्रतीति होकर रह जाती है। उसी को चित्रकाव्य कहते हैं। (प्रश्न) यदि अकुशल रसोइया भी किसी वस्तु को बनाता है तो भी उसमें जो पदार्थ डाले जाते हैं उनका तो स्वाद आ ही जाता है। उदाहरण के लिये यदि अकुशल रसोइया भी सिखरन बनायेगा तो उसमें जो चीनी इत्यादि डाली जायगी उनका तो स्वाद आयेगा ही। फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि अकुशल कवि द्वारा की हुई रसनिष्पत्ति में कोई रस आयेगा ही नहीं? (उत्तर) यदि कवि को रसनिष्पत्ति अभिप्रेत नहीं भी होगी तब भी वाच्यसामर्थ्य के बल पर उस प्रकार के विषय में यदि रसनिष्पत्ति होगी तो भी बहुत ही शिथिल हो जायेगी। यह भी एक दूसरा प्रकार है जिससे उस प्रकार के काव्य की नीरसता की कल्पना कर ली जाती है और उसे चित्रकाव्य की संज्ञा प्रदान कर दी जाती है। इसी प्रकार चित्रकाव्य व्यवस्थापित किया जा सकता है। यहाँ पर दो प्रकार से काव्य की नीरसता

को कल्पित करके चित्रकाव्य को रसविहीन सिद्ध किया गया है। एक तो मांस के परिपाक के समान बिलकुल ही स्वाद का अनुभव न होना और शिखरन के समान स्वाद का पूरी मात्रा में अनुभव न होना। दूसरी अवस्था में भी नीरसता ही मानी जायेगी क्योंकि यदि किसी के सामने यह शिखरन है यह कहकर उसे परोस दिया जाय तो यह कोई नहीं कहेगा कि 'अहा यह शिखरन कितनी अच्छी है ? यही सब लोग कहेंगे कि इसमें दही, चीनी, मिर्च इत्यादि ठीक रूप में नहीं मिलाई गई है। इस प्रकार उसे नीरस मानकर चित्र काव्य की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। यही बात आनन्दवर्धन ने दो कारिकाओं में कही है जिनका सार यह है—

(ध्वन्या०) तदिदमुक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥'

एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्ति दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति। अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्।

(अनु०) वह यह कहा गया है—

'रसभाव इत्यादि के विषय में विवक्षा न होने पर जो अलङ्कार का निबन्ध वह चित्रविषय माना जाता है। जब रस इत्यादि के विषय में तात्पर्यवाली विवक्षा हो तब ऐसा काव्य नहीं ही होता जहाँ ध्वनि का गोचर न हो जाय।'

विशृङ्खलवाणीवाले कवियों की रसादि तात्पर्य की बिना अपेक्षा किये हुए काव्य में प्रवृत्ति देखने से हमने यह चित्र कल्पित कर लिया है। आजकल के कवियों की तो काव्यनय की न्याय्य व्यवस्था करने पर ध्वनिव्यतिरिक्त काव्यप्रकार नहीं ही होता। क्योंकि परिपाक वाले कवियों का रसादितात्पर्य के न होने पर तो व्यापार ही शोभित नहीं होता। रस इत्यादि के तात्पर्य होने पर तो वह वस्तु नहीं ही होती जो अभिमत रस की अंगता को प्राप्त कराये जाने पर प्रगुण नहीं हो जाती। अचेतन भाव (पदार्थ) भी ऐसे नहीं होते जो ठीकरूप में उचित रस के विभाव होने के कारण अथवा चेतन वृत्तान्तयोजना के कारण रस का अंग नहीं बन जाते।

(लो०) **उक्तमिति।** मयैवेत्यर्थः। अलङ्काराणां शब्दार्थगतानां निबन्ध इत्यर्थः। ननु 'तच्चित्रमभिधीयते' इति किमनेनोपदिष्टेन। अकाव्यरूपं हि तदिति-कथितम्। हेयतया तदुपदिश्यत इति चेत्—घटे कृते कविर्न भवतीत्येतदपि वक्तव्य-मित्याशङ्क्य कविभिः खलु तत्कृतमतो हेयतयोपदिश्यत इत्येतन्निरूपयति—**एतच्चे-**

त्यादिना । परिपाकवतामिति । शब्दार्थविषयो रसौचित्यलक्षणः परिपाको विद्यते येषाम् ।

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्'

इत्यपि रसौचित्यशरणमेव वक्तव्यमन्यथा निर्हेतुकं स्यात् ।

अनु०) 'कहा गया' यह । अर्थात् हमारे ही द्वारा । अलङ्कारों का अर्थात् शब्द और अर्थगत अलङ्कारों का निबन्ध । (प्रश्न) उसे चित्र कहते हैं इस उपदेश की क्या आवश्यकता ? क्योंकि कहा गया है कि वह तो अकाव्य रूप ही होता है । यदि कहो कि उसका उपदेश हेय के रूप में किया जा रहा है तो यह भी कहना चाहिये कि घड़ा बनाने पर कवि नहीं हो जाता यह शङ्का करके कवियों ने ऐसा किया है; अतः हेय के रूप में उपदेश दिया जाता है यह निरूपण करते हैं—'और यह' इत्यादि के द्वारा । 'परिपाकवाले' यह शब्दार्थविषयक रसौ-चित्यलक्षण वाला परिपाक जिनका विद्यमान है ।

'जो पद परिवृत्ति सहिष्णुता को छोड़ ही देते हैं ।' यह भी रसौचित्य को शरण में रखकर ही कहा जाना चाहिये अन्यथा हेतु रहित हो जाय ।

तारावती—जहाँ कवि को रस या भाव की विवक्षा नहीं होती अर्थात् जहाँ कविता करने में कवि का प्रवृत्तिनिमित्त रसनिष्पत्ति नहीं होता, किन्तु वह वहाँ पर अलङ्कार का निबन्धन करता है वहाँ काव्य चित्रकाव्य कहा जाता है । इसके प्रतिकूल जहाँ कवि का विवक्षित तात्पर्यार्थ रस इत्यादि ही होता है अर्थात् जहाँ कवि रस को तात्पर्य का विषय बनाता है इस प्रकार का कोई भी काव्य ऐसा नहीं होता जिसे ध्वनि इस नाम से अभिहित न किया जा सके या जो ध्वनि के क्षेत्र में न आ जाय ।'

चित्रकाव्य के निरूपण की आवश्यकता

(प्रश्न) जब रस ही काव्य का जीवन है और उस जीवन से शून्य केवल अलङ्कार के मन्तव्य से लिखा हुआ ध्वनि बाह्य काव्य कभी भी काव्यसंज्ञा का अधिकारी नहीं हो सकता । तब इस चित्रकाव्य के निरूपण से क्या लाभ ? यह तो आप कहते ही हैं कि वह चित्रकाव्य काव्य नहीं होता । यदि कहो कि यहाँ पर चित्रकाव्य का निरूपण इसलिये किया जा रहा है कि कविता करने में उसका परित्याग किया जा सके । यहाँ पर चित्रकाव्य के निरूपण का मन्तव्य यदि यह बतलाना ही है कि वह काव्य नहीं होता तब तो फिर संसार की जितनी वस्तुएँ काव्य नहीं होतीं उन सबको गिनाना चाहिये कि 'घड़ा काव्य नहीं होता ।' 'वस्त्रकाव्य नहीं होता' इत्यादि । (उत्तर) चित्रकाव्य के परिहार का उपदेश यहाँ करना इस लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि कतिपय कवियों ने काव्य के नाम पर जो रचनायें प्रस्तुत की हैं वे वास्तविक काव्य की सीमा में नहीं आतीं; न उनमें रस है न ध्वनि । अतः उनको काव्यबाह्य करने का उपदेश आवश्यक प्रतीत होता है । हमने प्रायः देखा है कि जो कवि काव्यकला में निष्णात नहीं होते और उनकी काव्य की व्यवस्थित पद्धति का अनुसरण करने में अक्षम होकर अनियन्त्रित भाव से प्रवृत्त हुआ करती है; वे रस इत्यादि तात्पर्य की परवा नहीं करते यों ही काव्य में प्रवृत्त हो जाते हैं । अतः उन्हीं को लक्ष्य बनाकर हमने (आनन्द-

वर्धन ने) चित्र नामक एक नये प्रकार की कल्पना कर ली है। किन्तु काव्य के इस प्रकार को काव्य की संज्ञा प्रदान करना उचित प्रतीत नहीं होता। आजकल काव्य जिस स्थिति पर पहुँच गया है और आजकल के काव्य में जैसी भावात्मक तथा कलात्मक प्रौढता के दर्शन होते हैं उसको देखते हुए यही कहना पड़ता है कि यदि आजकल की उचित तथा न्याय सम्मत काव्य नीति की ठीक रूप में व्यवस्थापना की जाय तो ऐसा कोई काव्यप्रकार दृष्टिगत ही नहीं होता जिसको ध्वनि से बाह्य कहा जा सके। क्योंकि कवि कहलाने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसकी वाणी परिपाक को प्राप्त हो गई हो। परिपाक का अर्थ यही है कि वाणी में शब्द और अर्थ ठीक रूप में स्फुरित होने लगें और वे शब्द तथा अर्थ ऐसे ही हों जिनमें रसानुकूल औचित्य का सर्वथा पालन किया गया हो। जबतक रसानुकूल शब्द और अर्थ अनायास ही स्फुरित नहीं होने लगते तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि कवि को काव्य परिपाक प्राप्त हो गया है। पद परिपाक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥'

अर्थात् कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है यदि उन शब्दों को बदल कर उनके स्थान में दूसरे पर्यायवाचक शब्दों को रख देने से काव्य सौन्दर्य नष्ट हो जाय तथा कवि के प्रयोग किये हुए शब्दों को बदलना असम्भव हो तो शब्द प्रयोग में निपुण लोग उसे शब्दपाक कहते हैं।

काव्य में शब्दों की परिवर्तनीयता का आशय

यहां पर भी शब्दों के न बदले जा सकने का आशय यही लगाया जाना चाहिये कि शब्दों के बदल देने से 'रस' में कमी नहीं आनी चाहिये। यदि रस की दृष्टि से ही शब्द और अर्थ के परिपाक पर विचार नहीं किया जायगा तो शब्दों के न बदल सकने का हेतु ही क्या रह जायगा। आशय यह है कि कवि की ऐसी कोई क्रिया सम्भव नहीं है जिनमें रस इत्यादि के तात्पर्य का अभाव हो। यदि ऐसी कोई क्रिया दिखलाई पड़े तो वह न तो शोभित ही होगी और न काव्य का नाम ही ग्रहण कर सकेगी। जब इतनी बात स्वीकार कर ली और यह मान लिया कि काव्य में सर्वत्र रस इत्यादि ही तात्पर्य रूप में स्थित होते हैं तब ऐसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रह जाती जिसको रस का अंग बना देने से उसमें परम-रमणीयता न आ जाय और उसके रमणीयतारूप गुण में अभिवृद्धि न हो जाय।

काव्य में अचेतन वस्तु के समावेश का प्रकार

(प्रश्न) रस तो चेतनगत होता है। काव्य का विषय अचेतन भी बनता ही है। कवि लोग प्रकृति इत्यादि का वर्णन करते ही हैं; फिर भी आप यह कैसे कह सकते हैं कि सर्वत्र कवि का अभिप्राय रस ही होता है? (उत्तर) काव्य में अचेतन पदार्थों का समावेश दो ही रूपों में होता है—या तो किसी मानव भाव के उद्दीपन के रूप में या स्वयं आलम्बन होकर वर्ण्य के विषय रूप में। जहां कहीं मानवभाव के उद्दीपन के रूप में प्रकृति का उपादान होता है वहां तो प्रकृति अथवा अचेतन पदार्थ का वर्णन रसप्रवण होता ही है क्योंकि वहां

पर अचेतन पदार्थ रस के विभाव के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जहां प्रकृति स्वयं वर्ण्यविषय के रूप में उपात्त होती है वहां भी चेतन वृतान्त की योजना कर ही ली जाती है। कवि अचेतन पदार्थों को भी चेतन के प्रकाश में ही देखता है।

(ध्वन्या०) **तथा चेदमुच्यते—**

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
श्रृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

(अनु०) और इस प्रकार कहा जाता है—

'अपार काव्य-संसार में कवि ही प्रजापति है। जैसा विश्व इसे अच्छा लगता है वैसा ही हो जाता है। यदि काव्य में कवि श्रृङ्गारी हो तो जगत् रसमय हो जाता है; वही यदि वीतराग हो तो वह सब नीरस ही होता है। सुकवि काव्य में स्वतन्त्ररूप में अचेतन-भावों का चेतन के समान और चेतनों का अचेतन के समान व्यवहार करता है॥'

(लो०) **अपार इति।** अनाद्यन्त इत्यर्थः। यथा रुचिपरिवृत्तिमाह—**श्रृङ्गारीति।** श्रृङ्गारोक्तविभावानुभावव्यभिचारिचर्वणारूपप्रतीतिमयो न तु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम्। अत एव भरतमुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावं' 'काव्यार्थान् भावयति' इत्यादिषु कविशब्दमेव मूर्धाभिषिक्ततया प्रयुङ्क्ते। निरूपितं चैतद्रसस्वरूपनिर्णयावसरे। **जगदिति।** तद्रसनिमज्जनादित्यर्थः। श्रृङ्गारपदं रसोपलक्षणम्। **स एवेति।** यावद्रसिको न भवति तदा परिदृश्यमानोऽप्ययं भाववर्गो यद्यपि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यमात्रलौकिकं वितरति, तथापि कविवर्णनोपारोहं विना लोकातिक्रान्तरसास्वादभुवं नाधिशेते इत्यर्थः।

(अनु०) 'अपार' यह। अर्थात् आदि—अन्तरहित। रुचि के अनुसार परिवर्तन को कह रहे हैं—'श्रृङ्गारी' यह। श्रृङ्गारी का अर्थ यह समझा जाना चाहिये कि श्रृंगार में बतलाये हुए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव की चर्वणा रूपप्रतीति से युक्त, स्त्री-व्यसनी नहीं। अतएव भरत मुनि ने कहा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को...' इत्यादि तथा 'काव्यार्थ को भावित करता है' इत्यादिकों में कवि शब्द को ही मूर्धाभिषिक्तरूप में प्रयुक्त करता है। यह रसस्वरूपनिरूपण के अवसर पर निरूपित किया गया है। 'जगत्' यह। अर्थात् उस रस में निमज्जन से। श्रृङ्गार शब्द रस का उपलक्षण है। 'वही' वह। यहाँ यह अर्थ है कि जब तक रसिक नहीं होता उस समय दिखलाई देने वाला भी यह भाववर्ग केवल लौकिक सुख-दुःख और मोह की मध्यस्थता को ही प्रदान करता है तथापि कविवर्णना के उपारोह के बिना लोकतान्त्रिक रसास्वाद की भूमि पर आरूढ़ नहीं होता।

कवि का महत्त्व

वस्तुतः काव्य में कवि का भाव ही प्रधान होता है। चाहे चेतन पदार्थ हो चाहे अचेतन पदार्थ; जिस पदार्थ को कवि अपने जिस भाव के प्रकाश में देखता है वह वस्तु कवि की उस भावना से सम्वलित ही दिखलाई पड़ती है। अतः कवि का तात्पर्य सर्वत्र रसाभिव्यञ्जन में ही होता है। यही बात कतिपय कारिकाओं में इस प्रकार कही गई है :—

'यह नानाविध तथा अनन्त विस्तृत काव्य भी एक जगत् ही है जिसका न आदि है और न अन्त। (अनादि काल से कविता होती आई है और अनन्तकाल तक होती रहेगी। इस प्रकार कविता के न तो प्रारम्भ का पता है और न अन्त ही दृष्टिगत होता है। यही दशा संसार की है; संसार भी आदि अन्त से रहित है—'आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्।') जिस प्रकार दृश्यमान जगत् की रचना विधाता करता है उसी प्रकार की रचना कवि के द्वारा सम्पन्न होती है। इस प्रकार कवि इस काव्यजगत् का विधाता है। ब्रह्माजी तो सृष्टि की रचना कर देते हैं किन्तु अपने काव्य के माध्यम से उसकी व्यवस्था कवि ही करता है। कवि को जैसा विश्व अच्छा लगता है वह वैसा ही बदल जाता है। यदि काव्य में कवि श्रृङ्गारी बन जाता है तो सारा विश्व ही श्रृङ्गारी हो जाता है। कवि के श्रृङ्गारी होने का यह आशय नहीं है कि वह व्यक्तिगत जीवन में स्त्रियों के पीछे पड़ जाता है अपितु उसका अर्थ यह है कि कवि अपनी कविता में श्रृङ्गाररसानुकूल विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव की चर्वणा कराने में ही दत्तचित्त हो जाता है; वह चर्वणा ही प्रतीति है तथा कवि का हृदय उस चर्वणा रूप प्रतीति से ओतप्रोत हो जाता है; उसका परिणाम यह होता है कि सारे संसार का जीवन श्रृङ्गार की भावना से भर जाता है। यदि कवि वीतराग हो जाय अर्थात् अपने काव्यों में वैराग्य भावना का पोषण करने लगे तो सारा संसार ही रस की भावना से रहित हो जायगा। यही बात रस की परिभाषा करते हुये भरत मुनि ने लिखी है कि भाव उसे कहते हैं जो कवि की अन्तर्गत भावना को भावित करे। एक दूसरे स्थान पर भरतमुनि ने लिखा है कि कवि काव्यार्थों को भावित करता है। (अभिनवभारती में लिखा है कि कवि शब्द 'कु' धातु से अथवा कव धातु से बनता है। अतः कवि-कर्मरूप काव्य का अर्थ होता है कवनीय और उसमें पदार्थ तथा वाक्यार्थ का पर्यवसान रस में ही होता है। इस प्रकार असाधारणता तथा प्रधानता से काव्य का अर्थ रस होता है; क्योंकि 'अर्थ' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही है कि जो प्रधानतया अभ्यर्थित किया जाय। प्रधानतया कवि का अभ्यर्थनीय रस ही होता है।) यहाँ पर श्रृङ्गार शब्द उपलक्षणपरक है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार कवि के श्रृङ्गारी होने पर सारा संसार श्रृङ्गारमय हो जाता है उसी प्रकार अन्य रसों की कविता से संसार उन रसों के अनुकूल बन जाता है। कवि के जगत् में चेतन-अचेतन की भी आबद्धता नहीं होती। कवि जैसा चाहता है उसी के अनुसार अचेतन भावों का व्यवहार चेतन के समान करता है। अर्थात् अचेतन पदार्थों पर कवि चेतन सत्ता का आरोप करता है और चेतन पदार्थों में भी आनन्द इत्यादि के अवसर पर अचेतनता की स्थापना करता है।'

'यदि कवि वीतराग हो तो संसार नीरस हो जाता है, इस कथन का आशय यही है

कि संसार की समस्त वस्तुओं में सुख दुःख और मोह के मध्य स्थित होने और सुख इत्यादि प्रदान करने की स्वाभाविक शक्ति होती है; किन्तु इन वस्तुओं में यह शक्ति नहीं होती कि वे लोकोत्तर रसास्वाद की भूमिका पर आरूढ़ हो सकें। वस्तुओं में यह शक्ति तभी आती है जब वे कविवर्णना पर आरूढ़ हो जाती हैं। यदि कवि अपनी कविता के माध्यम से वीतरागता को प्रसार देना चाहता है तो समस्त वस्तुएँ जगत् को अपने स्वभाव के अनुसार सुख-दुःख इत्यादि तो देती ही हैं किन्तु लोकोत्तरानन्दरूपता को प्रदान नहीं कर सकती।

(ध्वन्या०) **तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति। सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते। अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव। स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति। रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बत इत्युक्तं प्राक्। यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं हृदयवतीषु च सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद्व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक्।**

(अनु०) अत एव वह वस्तु नहीं ही है जो पूरी आत्मा से रस को तात्पर्य माननेवाले कवि की इच्छा से उसकी अभिमत रसांगता को धारण नहीं करता अथवा उस प्रकार से उपनिबद्ध किया हुआ चारुता की अतिशयता को पुष्ट नहीं करता। और यह सब महाकवियों के काव्यों में देखा जाता है। हमने भी अपने काव्यप्रबन्धों में ठीक रूप में दिखलाया ही है। इस प्रकार की स्थिति में सभी काव्य प्रकार ध्वनि की धर्मता का अतिक्रमण नहीं करता। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि कवि की रस की अपेक्षा में गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक प्रकार भी उसकी अङ्गता का अवलम्बन लेता ही है और जब चाटूक्तियों में अथवा देवतास्तुतियों में रस इत्यादि की व्यवस्था अङ्ग के रूप में होती है और हृदयवती सप्रज्ञक कतिपय गाथाओं में व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य में प्रधानता होती है वह भी गुणीभूतव्यङ्ग्य का ध्वनि निष्यन्द होता ही है यह पहले ही कहा जा चुका है।

(लो०) चारुत्वातिशयं यन्न पुष्णाति तत्रास्त्येवेति सम्बन्धः। **स्वेष्विति।** विषमबाणलीलादिषु। हृदयवतीष्विति 'हिअअलिआ' इति प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु। त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाकाः उच्यन्ते। सहृदया तद्गाथा यथा भट्टेन्दुराजस्य—

लंघिअगअणा फलहीलआओ होन्तुत्ति वद्ढअन्तीअ।
हालिअस्स आसिसं पालिवेसवतुआ विणिठ्ठविआ॥

अत्र लंघितगगना कर्पासलता भवन्त्विति हालिकस्याशिषं वर्धयन्त्या प्रातिवेश्यवधुका निर्वृतिं प्रापिता इति चौर्यसम्भोगाभिलषणीयमित्यनेन व्यङ्ग्येन विशिष्टं वाक्यमेव सुन्दरम्।

गोलाकच्छकुडङ्गे भरेण जम्बूसु पच्चमाणासु।
हालिअबहुआ णिअंसइ जम्बूरसरत्तअं सिअअम्॥

अत्र गोदावरीकच्छलतागहने भरेण जम्बूफलेषु पच्यमानेषु। हालिकवधूः परिधत्ते जम्बूफलरसरक्तं निवसनमिति त्वरितचौर्यसम्भोगसम्भाव्यमानजम्बूफलरसक्तत्वपरभागनिह्नवनं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यलं बहुना।

(अनु०) यहाँ सम्बन्ध ऐसा है—चारुत्व की अधिकता को जो पुष्ट नहीं करता वह नहीं ही है। 'अपने में' यह। विषमबाणलीला इत्यादि में। 'हृदयवतियों' में 'हिअअलीलआ' इस प्राकृत कविगोष्ठी में प्रसिद्धों में त्रिवर्गोपाय के उपेयों में कुशलों में प्रज्ञा से युक्त सहृदय कहे जाते हैं। उनकी गाथा जैसे भट्टेन्दुराज का—

'कपासलतिकायें आकाश को लांघनेवाली हो जाएँ इस प्रकार हालिक को आशीर्वाद बढ़ाती हुई (सखी) के द्वारा पड़ोस की बहू शान्त की गई।'

यहाँ 'आकाश को लांघनेवाली कपास की लता हो जाएँ' यह आशीर्वाद हालिक को बढ़ाती हुई (सखी) के द्वारा पड़ोस की बहू को शान्त किया इस प्रकार 'चौर्य सम्भोग की अभिलाषा' रस व्यङ्ग्य से विशिष्टवाच्य ही सुन्दर है।

'गोदावरी के किनारे की कुञ्ज में जामुनों के भरकर पकने पर हालिक की वधू जम्बू के रस में रँगे हुये परिधान को धारण करती है।'

यहाँ गोदावरी के किनारे लतागहन में भरकर जम्बू फलों के पकने पर हालिकबधू जामुन के रस से रक्त वस्त्र को धारण करती है। इसमें शीघ्रता से किये जानेवाले चौर्यसम्भोग के कारण जिस जम्बूफल-रसरक्त स्वरूप परम सौभाग्य की सम्भावना की जा सकती है उसका छिपाना गुणीभूतव्यङ्ग्य है, बस बहुत की आवश्यकता नहीं।

तारावती—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि विश्व में कोई ऐसी वस्तु होती ही नहीं जो कवि की इच्छा का अनुसरण न करे और जब कवि अपना लक्ष्य रसनिष्पत्ति को ही बनाकर चल रहा हो उस समय कवि की इच्छा का अनुसरण करते हुये अपनी पूरी आत्मा से कवि के चाहे हुये रस का अङ्ग न बन जावे। इसी भाँति ऐसी भी कोई वस्तु नहीं होती जो रसनिष्पत्ति के प्रयोजन से निबद्ध किये जानेपर चारुतातिशय को पुष्ट न करे। ऊपर जो कुछ कहा गया है उस सभी के उदाहरण महाकवियों की कविताओं में सर्वत्र देखे जाते हैं। आनन्दवर्धन का कहना है कि स्वयं मैंने अपने काव्यप्रबन्धों में औचित्य का निर्वाह करते हुये इन सभी बातों का ठीक-ठीक पालन किया है। वस्तुतः आनन्दवर्धन के विषमबाणलीला इत्यादि प्रबन्धों में इसके उदाहरण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य के विवेचन का उपसंहार

यहाँ तक सारी स्थिति स्पष्ट हो गई। समस्त व्याख्या का सार यही है कि कोई भी काव्य ऐसा नहीं होता जिसका समाहार ध्वनिकाव्य में न हो जावे। आशय यह है कि जिस किसी रचना को काव्य की संज्ञा प्रदान की जा सकती है उसका समावेश ध्वनिकाव्य में सफलतापूर्वक किया ही जा सकता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने का यही अभिप्राय है। यद्यपि काव्य का एक प्रकार वह भी होता है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर

गुणीभूत हो जाता है। किन्तु उस विषय में यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि इस प्रकार काव्य भी अन्तिम रसनिष्पत्ति की दृष्टि से ध्वनि के क्षेत्र में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। कुछ काव्य ऐसे भी होते हैं जिनमें रस भी अपनी मुख्यता को छोड़कर गौण बन जाता है। जैसे प्रशस्तियों में राजा के प्रेम अथवा शौर्य इत्यादि के वर्णन में शृङ्गार वीर इत्यादि रस कवि-गत राजविषयक रति का अङ्ग होते हैं। अथवा देवताओं की स्तुतियों में देवताओं के विषय में वर्णन की हुई कोई भी भावना कविगत देवविषयक रतिभाव का अङ्ग होकर गौण हो जाती है। अथवा एक प्रकार और है—प्राकृत कवियों की गोष्ठी में कतिपय 'हिअअलीलआ' (सम्भवतः 'हृदयललिता') नाम की सहृदयों की गाथायें प्रसिद्ध हैं। इन गाथाओं में धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों के उपाय की ज्ञातव्य में निपुणता होती है। (ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन के समय में ही या उससे पहले कतिपय सहृदय कवियों ने अपनी गोष्ठी बना ली थी और उसके सम्मेलनों में वे लोग अपनी प्राकृत की रचनायें प्रस्तुत किया करते थे। इस कविगोष्ठी का नाम भी कवित्व के अनुकूल ही था। 'हिअअललिआ' अर्थात् 'हृदयलतिका' या 'हृदयललिता'। कविता भी तो 'हृदयलतिका' के पुष्प गुच्छ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गोष्ठी की इन गाथाओं में धर्म, अर्थ और काम से सम्बद्ध गाथायें सुनाई जाती थीं। दीधितिकार ने 'अलीलया' यह नाम बतलाया है और 'संप्रज्ञकगाथासु' के स्थान पर 'षट्प्रज्ञा-दिगाथासु' यह पाठ मानकर त्रिकाण्डशेष की षट्प्रज्ञा की यह परिभाषा दी है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्त्वार्थयोरपि।
षट्सु प्रज्ञास्ति यस्योच्चैः षट्प्रज्ञ इति संस्मृतः॥'

आशय लगभग मिलता जुलता है। ज्ञात होता है कि यह गोष्ठी अभिनवगुप्त के समय तक चलती रही। अभिनवगुप्त ने इसी गोष्ठी में प्रस्तुत की हुई अपने गुरु की दो गाथायें उद्धृत की हैं।) उदाहरण के लिये भट्टेन्दुराज की एक गाथा लीजिये जिसकी संस्कृतच्छाया इस प्रकार है—

लंघितगगनाः कर्पासलता भवन्त्विति वर्धयन्त्या।
हालिकस्याशिषं प्रातिवेश्यवधुका निर्वापिता॥

कोई पड़ोसिन किसी हालिक में अनुरक्त है। किन्तु उसे सहवास का अवसर नहीं मिलता जिससे वह बहुत ही सन्तप्त है। इधर हालिक कपास के खेत में काम कर रहा है। कोई सखी उस हालिक को आशीर्वाद देने के बहाने उस सन्तप्त पड़ोसिन को आश्वस्त करने के लिये कह रही है :—

'हे हालिक! ईश्वर करे तुम्हारी ये कपास की लतायें इतनी बड़ी हो जाएँ कि आकाश को भी लाँघने लगें। सखी हालिक को बार-बार यही आशीर्वाद दे रही थी जिससे उसने पड़ोसिन के सन्ताप को शान्त किया।'

इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि सखी ने पड़ोसिन को यह समझाया कि तुम्हें अधिक सन्ताप नहीं करना चाहिए, अब तुम्हारे दुःख दूर होने का अवसर आ गया। ये कपास की लतायें धीरे-धीरे बहुत ही बढ़ जाएँगी और तब उनमें तुम्हारा चौर्य-सुरत सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकेगा। इस पद्य में ही यह बात कह दी गई है कि सखी ने पड़ोसिन को शान्त

किया।' इस वाच्यार्थ का सम्बन्ध आशीर्वाद से तभी स्थापित किया जा सकता है जब उक्त व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जाय। इस प्रकार वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा अधिक सुन्दर होकर चमत्कार में कारण बनता है। अत एव यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। फिर उस वाच्यार्थ से पड़ोसिन की हालिक के प्रति भाव की अभिव्यञ्जना होती है जो श्रृङ्गाररस का रूप धारण कर लेती है। अतः यहाँ श्रृंगाररस ध्वनि है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

गोदाकच्छनिकुञ्जे भरेण जम्बूषु पच्यमानासु।
हालिकवधूर्नियच्छति जम्बूरसरक्तं सिचयम्॥

अर्थात् गोदावरी नदी के तटपर उगी हुई झाड़ियों में जब जामुन के फल रस से पूर्ण रूप से भर गये हैं और पके हुए हैं उस समय हालिक की वधू एक ऐसा वस्त्र धारण कर लेती है जो कि जामुन के फलों के रस से रंगा हुआ है।

यहाँ पर जामुन के फलों के रस से रंगे वस्त्र धारण कर गोदावरी तट पर स्थित निकुञ्जों में जाने से व्यक्त होता है कि वह हालिकवधू उन निकुञ्जों में अत्यन्त शीघ्रता के साथ चौर्य सुरत करने जा रही है। उसे इस बात की सम्भावना है कि कहीं शीघ्रता में कार्य प्रवृत्त होने से उसके कपड़ों में जामुन के दाग न पड़ जायँ। अतः उन्हें छिपाने के लिये उसने पहले से ही यह प्रबन्ध कर लिया है कि अपनी साड़ी को जामुन के रंग में रंग लिया है जिससे उसमें जामुन के दाग छिप सकें। यहाँ पर जामुन के फलों के रस से साड़ी रंगनारूप वाच्यार्थ सहवासगोपनरूप व्यङ्ग्यार्थ से अधिक सुन्दर हो जाता है। इस प्रकार वह व्यंग्य गुणीभूतव्यंग्य की कोटि में आता है। फिर व्यंग्यार्थ से सुन्दरीभूत वाच्यार्थ ही रस-ध्वनि में पर्यवसित होता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण भी समझे जाने चाहिये। ये प्राकृत गाथायें हैं। इन सबमें जहाँ कहीं एक व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को सुन्दर बनाता है; फिर वह सुन्दरीभृत वाच्यार्थ रसध्वनि में पर्यवसित होता है वह सब गुणीभूतव्यंग्य का विषय है। इसके विषय में भी कहा जा चुका है कि यह ध्वनिनिष्यन्दभूत है। कारण यह है कि इसका अन्तिम पर्यवसान तो रसध्वनि में ही होता है।

(ध्वन्या०) तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्। तदयमत्र सङ्ग्रहः—

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते।
संवृत्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्कार एव वा॥४१॥
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः॥४२॥

(अनु०) वह इस प्रकार आजकल के कवियों की नीति से उपदेश किये जाने पर प्राथमिक अभ्यासार्थियों का यदि केवल चित्र से व्यवहार हो (तो हो सकता है) परिणति को प्राप्त करनेवालों के लिये तो ध्वनि ही काव्य है यह स्थिति है। वह इस प्रकार यह संग्रह है :—

'जिस काव्यमार्ग में रस या भाव अथवा छिपाकर कही हुई वस्तु या केवल अलंकार तात्पर्य के रूप में प्रकाशित होते हैं वह एकमात्र व्यङ्ग्यप्राधान्य के आधीन होनेवाली ध्वनि सहृदय लोगों के द्वारा विषयी समझी जानी चाहिये ॥४१, ४२॥

(लो०) **ध्वनिरेव काव्यमिति।** आत्मात्मिनोरभेद एव वस्तुतः व्युत्पत्तये तु विभागः कृत इत्यर्थः। वाग्रहणात्तदाभासादेः पूर्वोक्तस्य ग्रहणम्। **संवृत्येति।** गोप्यमानतया लब्धसौन्दर्येत्यर्थः। **काव्याध्वनीति।** काव्यमार्गे। स त्रिविधस्य ध्वनेः काव्यमार्गो विषय इति यावत् ॥ ४१, ४२ ॥

(अनु०) 'ध्वनि ही काव्य होता है' यह। अर्थात् वस्तुतः आत्मा और आत्मी का अभेद ही होता है; व्युत्पत्ति के लिये विभाग कर लिया गया है। 'वा' ग्रहण से पूर्वोक्त तदाभास इत्यादि का ग्रहण हो जाता है। 'छिपाकर' यह। छिपाकर कहने के कारण जिसको सौन्दर्य प्राप्त हो गया है। 'काव्य के अध्व में' अर्थात् काव्यमार्ग में। आशय यह है कि वह काव्य मार्ग त्रिविध ध्वनि का विषय होता है ॥४१, ४२॥

तारावती—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे निष्कर्ष यही निकलता है कि आजकल के कवियों को जब काव्यकला का उपदेश दिया जाय तो उन्हें यह बतलाया जाना चाहिये कि जो कवि पहले पहल कविता करना प्रारम्भ करते हैं और काव्यक्रिया का अभ्यास प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें रसनिष्पत्ति के फेर में अधिक नहीं पड़ना चाहिये। उनके लिये यह सरल रहेगा कि वे चित्रकाव्य की रचना करने तक ही अपने को सीमित रक्खें (फिर उनकी चेष्टा न होने पर भले ही उनके चित्रित किये हुये भाव रस-निष्पत्ति के रूप में परिणत हो जावें।) किन्तु जब बाद में काव्यक्रिया में पूरी कुशलता प्राप्त हो जाय तब उनके बनाये हुये सभी काव्य ध्वनि ही कहे जाएँगे। (प्रश्न) उपक्रम में तो ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। फिर यहाँ पर ध्वनि ही काव्य है यह उपसंहार कैसे सङ्गत कहा जा सकता है? (उत्तर) आत्मतत्त्व एक व्यापक तत्त्व है और ब्रह्म के रूप में आत्मा तथा शरीर दोनों एक ही होते हैं। उनमें भेद नहीं होता। अतः काव्य की प्रत्येक वस्तु चाहे वह बाह्य तत्त्व हो चाहे आभ्यन्तर, ध्वनि ही कहा जावेगा। वस्तुतः ब्रह्म के समान ध्वनि के रूप में काव्य का भी एक अद्वैत तत्त्व है। केवल शिष्यों को उपदेश देने के लिये विभाग कर लिया गया है। (यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ध्वनिसिद्धान्त की उत्पत्ति स्फोटवाद से हुई है जो शब्दब्रह्म का दूसरा पर्याय है। जिस प्रकार ब्रह्म में व्यवहार के लिये भेद की कल्पना कर ली जाती है उसी प्रकार काव्यब्रह्म ध्वनि के रूप में एक है किन्तु व्यवहार के लिये विभागों की कल्पना कर ली गई है।) यहाँ पर दो सङ्ग्रह श्लोक हैं :—

'जहाँ कवि का तात्पर्य रस या भाव में हो अथवा रसाभास या भावाभास इत्यादि असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के किसी अन्य प्रभेद में हो अथवा वस्तु या अलङ्कार इस रूप में छिपाकर कहे जायँ कि उनमें सौन्दर्य प्रकट हो जाय तो उस काव्यमार्ग में सर्वत्र ध्वनि ही विषयी हुआ करता है अर्थात् उन तीन प्रकारोंवाला काव्यमार्ग ध्वनि का विषय हो जाता है क्योंकि उसको ध्वनिरूपता प्रदान करनेवाला मुख्यतत्त्व व्यङ्ग्य का प्राधान्य वहाँ पर विद्यमान ही रहता है यह सहृदयों को भलीभाँति समझ लेना चाहिये ॥४१, ४२॥

(ध्वन्या०) **सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।**
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥४३॥

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारैश्च सङ्करसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। तथाहि स्वप्रभेदसङ्कीर्णः स्वप्रभेदसंसृष्टो गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णो गुणीभूतव्यङ्ग्यसंसृष्टो वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णः संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते।

(अनु०) 'गुणीभूतव्यङ्ग्यों और अलङ्कारों के सहित अपने प्रभेदों से संकर और संसृष्टि के द्वारा (वह ध्वनि) फिर भी बहुत प्रकार से उद्योतित होती है' ॥४३॥

और उस ध्वनि के अपने प्रभेदों से गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ और वाच्यालङ्कारों के साथ सङ्कर संसृष्टि की व्यवस्था किये जाने पर लक्ष्य में बहुत प्रभेदता देखी जाती है। वह इस प्रकार—अपने प्रभेदों से सङ्कीर्ण, अपने प्रभेदों से संसृष्ट, गुणीभूतव्यङ्ग्य से सङ्कीर्ण, गुणीभूतव्यङ्ग्य से संसृष्ट, दूसरे वाच्यालंकारों से संकीर्ण, दूसरे वाच्यालंकारों से संसृष्ट, संसृष्ट अलंकारों से संकीर्ण और संसृष्ट अलंकारों से संसृष्ट इस प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है।

(लो०) श्लोकद्वयेन सङ्ग्रहार्थमभिधाय बहुप्रकारत्वप्रदर्शिकां पठति—**सगुणीति**। सहगुणीभूतव्यङ्ग्येन सहालङ्कारैर्ये वर्तन्ते स्वध्वनेः प्रभेदास्तैः सङ्कीर्णतया संसृष्ट्या वानन्तप्रकारो ध्वनिरितितात्पर्यम्। बहुप्रकारतां दर्शयति—**तथाहीति**। स्वभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येनालङ्कारैः प्रकाश्यत इति त्रयो भेदाः। तथापि प्रत्येकं सङ्करेण संसृष्ट्या चेति षट्। सङ्करस्यापि त्रयः प्रकाराः अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन सन्देहास्पदत्वेनैकपदानुप्रवेशेनेति द्वादश भेदाः। पूर्वं च ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः। स्वप्रभेदास्तावन्तोऽलङ्कार इत्येकसप्ततिः। तत्र सङ्करत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके। तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणनेन सप्तसहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति। अलङ्काराणामानन्त्यात्त्वसंख्यत्वम्।

(अनु०) इस प्रकार दो श्लोकों से संग्रहार्थ कहकर बहुप्रकारत्व को दिखलानेवाली कारिका को पढ़ते हैं—'सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ और अलंकारों के साथ जो अपने अर्थात् ध्वनि के प्रभेद वर्तमान होते हैं उनके साथ संकीर्णरूप में अथवा संसृष्टि से ध्वनि अनन्त प्रकार की होती है। बहुप्रकारता को दिखलाते हैं—'वह इस प्रकार' यह। अपने भेदों से, गुणीभूत व्यंग्य से और अलंकारों से प्रकाशित होता है यह तीन प्रकार हुये। संकर के भी तीन प्रकार होते हैं—अनुग्राह्यानुग्राहकभाव के द्वारा, सन्देहास्पदत्व के रूप में और एकपदानुप्रवेश के द्वारा ये १२ भेद होते हैं। और जो पहले ३५ भेद बतलाये गये हैं वे गुणीभूतव्यंग्य के भी माने जाने चाहिये। उतने ही अपने अवान्तर भेद और अलंकार ये ७१ हुये। उसमें तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की

संसृष्टि से गुणा करने पर २८४ हो जाते हैं। उतने से ३५ मुख्य भेदों के गुणा करने पर ७४२० हो जाते हैं। अलंकारों के अनन्त होने से तो असंख्यता आ जाती है।

ध्वनि की अनन्तता और उसके भेदोपभेदों पर विचार

तारावती—ऊपर ध्वनि का पूर्ण विवेचन किया जा चुका। अब ४३ वीं कारिका में ध्वनि के विस्तार पर प्रकाश डाला जा रहा है और यह दिखलाया जा रहा है कि ध्वनि के विभिन्न भेदों के परस्पर एकत्र सन्निविष्ट होने में उनके भेदोपभेदों की संख्या कितनी अधिक बढ़ जाती है। कारिका का आशय इस प्रकार है :—

'ध्वनि के अपने जितने भी भेद हैं उनका परस्पर साङ्कर्य और संसृष्टि होती है। उन अवान्तर भेदों से गुणीभूतव्यङ्ग्य के विभिन्न प्रकारों का साङ्कर्य और संसृष्टि होती है तथा इसी प्रकार अलङ्कारों से भी साङ्कर्य और संसृष्टि होती है इस प्रकार की जब व्यवस्था की जाती है तब इस ध्वनि के अनेक भेद हो जाते हैं। आशय यह है कि इन भेदोपभेदों की कल्पना करने पर ध्वनि के इतने भेद हो जाते हैं कि उनका अन्त ही नहीं मिलता।'

इस अनन्तता और अनेकरूपता को इस प्रकार समझिये—सर्वप्रथम तो ध्वनि के ३५ भेद होते हैं जिनका उल्लेख द्वितीय उद्योत के अन्त में किया जा चुका है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—ध्वनि के दो मूल भेद होते हैं—लक्षणामूलक और अभिधामूलक। लक्षणामूलक के दो भेद होते हैं—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद होते हैं—असंल्लक्ष्यक्रम और संल्लक्ष्यक्रम। असंल्लक्ष्यक्रम के अनन्त भेद होते हैं अतः उसको एक प्रकार का ही कहना ठीक होगा। संल्लक्ष्यक्रम दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। अर्थशक्तिमूलक तीन प्रकार का होता है—कविप्रौढोक्ति-सिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध और स्वतःसम्भवी। इनमें व्यङ्ग्य दो प्रकार का होता है—वस्तु और अलङ्कार तथा व्यञ्जक दो प्रकार का होता है वस्तु और अलङ्कार। इस प्रकार प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं, जैसे कविप्रौढोक्ति के चार भेद—(१) वस्तु से वस्तु। (२) वस्तु से अलंकार, (३) अलंकार से वस्तु और (४) अलंकार से अलंकार। इस प्रकार उक्त तीनों भेदों में प्रत्येक के चार-चार भेद होकर कुल १२ भेद हो गये इस प्रकार ध्वनि के मूल भेद १६ हुए—लक्षणामूलक – २ + असंल्लक्ष्यक्रम १ + शब्द शक्तिमूलक १ + अर्थ शक्तिमूलक १२। इनमें प्रत्येक के दो भेद होते हैं—पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। इस प्रकार ध्वनि के कुल ३५ मूल भेद हो गये। अब इनके परस्पर संयोग को लीजिये। यह संयोग तीन प्रकार का होता है—(१) मूलभेदों का मूलभेदों से संयोग; (२) मूलभेदों का गुणीभूतव्यङ्ग्य से संयोग और (३) मूलभेदों का अलंकार से संयोग। यह संयोग दो प्रकार का होता है—(१) जहाँ संयुक्त होनेवाले तत्त्व परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थित हों वहाँ संसृष्टि कही जाती है। और (२) जहाँ संयुक्त होनेवाले तत्त्व परस्पर सापेक्षभाव से स्थित हों वहाँ सङ्कर होता है। इन उक्त तीनों प्रकार के संयोगों के सङ्कर और संसृष्टि के रूप में ६ प्रकार हो जाते हैं। सङ्कर तीन प्रकार का होता है—(१) अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर—जहाँ दो संयोज्य तत्त्वों में परस्पर उपकार्योपकारक भाव हो (२) सन्देह सङ्कर—जहाँ यह निश्चय

न किया जा सके कि ध्वनि का कौन सा भेद अमुक स्थान पर विद्यमान है। और (३) एक-पदानुप्रवेश सङ्कर—जहाँ एक ही पद में दो ध्वनि भेद इत्यादिकों का समावेश हो। इस प्रकार संयोजन के १२ प्रकार होते हैं—तीन प्रकार का सङ्कर और उनमें प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार—तथा संसृष्टि ३ प्रकार की, इस भाँति मूल भेदों का १२ प्रकार से संयोजन हो सकता है। उदाहरण के लिये सन्देह सङ्कर के तीन भेद होते हैं—(१) अपने भेदों का परस्पर सन्देह सङ्कर, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य से सन्देह सङ्कर और (३) अलंकार से सन्देह सङ्कर। इसी प्रकार के तीन-तीन प्रकार सङ्कर के दो अन्य भेदों के होते हैं और यही प्रकार संसृष्टि के भी होते हैं। अब मूल भेदों को लीजिये—अभी ३५ भेद ध्वनि के बतलाये गये हैं। वे ही भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य के हो सकते हैं। इस प्रकार इन दोनों के मिलाकर ७० भेद हुए। एक प्रकार अलंकार का है। इस प्रकार मूलभेद ७१ हुए। उनका यदि तीन प्रकार के सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि से गुणन किया जाय तो ७१ × ४ = २८४ भेद हो गये। उनको यदि ३५ मुख्य भेदों से गुणित किया जाय तो २८४ × ३५ = ७४२० भेद हो जाते हैं। अलंकार तो अनन्त हैं; अतः ध्वनि के असंख्य भेद हो जाते हैं।

लोचन और काव्यप्रकाश की गणना प्रक्रिया

[ऊपर लोचन के गणना-परक भाग की व्याख्या की गई है। ज्ञात होता है कि यह प्रकरण अभिनव गुप्त ने बहुत ही लापरवाही से लिखा है। पहली बात तो यह है कि २८४ × ३५ = ९९४० होते हैं ७४२० नहीं। दूसरी बात यह है कि गुणा करने के जिन विभिन्न तत्त्वों का उपादान किया गया है वे भी बहुत अधिक सङ्गत नहीं हैं। सम्भवतः इस लापरवाही का कारण यह है कि वस्तुतः काव्य प्रकारों की संख्या को सीमा में आबद्ध करना ठीक है ही नहीं।

'गा रही कविता युगों से मुग्ध हो;
मधुर गीतों का न पर अवसान है।'

वृत्तिकार के अनुसार भी केवल गुणीभूतव्यङ्ग्य के ही भेदों की गणना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार संसार के सभी शब्दों का गिन सकना। अलङ्कार अनन्त होते ही हैं। केवल शृङ्गार रस के ही भेदोपभेदों का परिसंख्यान असम्भव है फिर भला ध्वनि के समस्त भेदों को संख्या के संकुचित घेरे में बाँधा ही कैसे जा सकता है? यह परिगणन और परिसंख्यान भी अनन्तता का ही परिचायक है। इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य की यह असावधानता बहुत कुछ उपेक्षणीय हो जाती है।

यहाँ पर यह कह देना भी अप्रासङ्गिक न होगा कि काव्य-प्रकाशकार की गणना-पद्धति अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक है। पहला अन्तर तो यह है कि काव्यप्रकाश में ३५ नहीं अपितु ५१ मूलभेद माने गये हैं। मूल दो भेद तो काव्यप्रकाश में भी लोचन के जैसे ही हैं और लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य लोचन के समान ही हैं। इन दोनों भेदों के पदगत और वाक्यगत ये दो दो भेद वैसे ही हैं। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के चार भेदों में कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर केवल अभि-

धामूलक ध्वनि के भेदों में है। अभिधामूलक ध्वनि के प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के लोचन में ५ भेद माने गये हैं—पदप्रकाश्य, वाक्यप्रकाश्य, वर्णप्रकाश्य, सङ्घटनाप्रकाश्य और प्रबन्धप्रकाश्य, काव्यप्रकाश में पदैकदेशप्रकाश्य नामक एक भेद और जोड़कर असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य की संख्या ६ कर दी गई है। लोचनकार ने शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम के केवल दो भेद माने हैं पदगत और वाक्यगत। किन्तु काव्यप्रकाश में ४ भेद माने गये हैं—पदगत वस्तु, वाक्यगत वस्तु, पदगत अलङ्कार और वाक्यगत अलङ्कार। इसी प्रकार काव्यप्रकाश में अर्थ शक्तिमूलक के १२ भेद तो वे ही हैं, जो लोचनकार ने बतलाये हैं। किन्तु व्यञ्जकों में भेद हो जाता है। लोचन में केवल दो व्यञ्जक माने गये हैं पद और वाक्य। किन्तु काव्यप्रकाश में प्रबन्ध को भी व्यंजक मानकर व्यञ्जक तीन प्रकार का मान लिया गया है। इस प्रकार लोचन में अर्थशक्तिमूलक के १२ × २ = २४ भेद किये गये हैं जब कि काव्यप्रकाश में १२ × ३ = ३६ भेद हो जाते हैं। लोचन में उभयशक्तिमूलक का कोई भेद नहीं बतलाया गया है। किन्तु काव्यप्रकाश में उभयशक्तिमूलक का भी एक भेद विद्यमान है। इस प्रकार काव्यप्रकाश के भेदोपभेदों की गणना इस प्रकार होगी—लक्षणामूलक ध्वनि ४ + असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ६ + शब्दशक्तिमूलक ४ + अर्थशक्तिमूलक ३६ + उभयशक्तिमूलक १ = ५१ भेद हो जाते हैं। जो बात मूल भेदों के विषय में कही गई है वही गुणन की प्रक्रिया में भी लागू होती है। गुणन की प्रक्रिया में भी दोनों आचार्यों में परस्पर पर्याप्त मतभेद हैं।

इस गुणनप्रक्रिया के विषय में काव्यप्रकाश की टीकाओं में एक आक्षेप उठाया गया है और उसका समाधान भी वहीं दिया गया है। आक्षेप और समाधान इस प्रकार हैं—कुछ लोगों का कहना है कि यह गणना ठीक नहीं है क्योंकि इसमें कई भेद कई कई बार आ जाते हैं। जैसे यदि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के उपभेदों की गणना की जायगी तो उसका साङ्कर्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य से आ ही जायगा। फिर अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के उपभेद की गणना में पुनः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का साङ्कर्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य से हो जायगा। इस प्रकार सभी भेद अनेक बार आ जायंगे। क्योंकि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दोनों एक ही वस्तुयें हैं। अतः यहाँ गणना का वही क्रम होना चाहिये जो काव्यप्रकाश में विरोधालङ्कार के प्रसङ्ग में उठाया गया है। वहाँ पर काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—

'जातिश्चतुर्भिजात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणैस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश' ॥

विरोध चार तत्वों में होता है—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। इन चार का चार से विरोध होने पर गणना की प्रक्रिया यह होगी—जाति का जाति इत्यादि चार से विरोध, गुण का गुण इत्यादि ३ से विरोध, (क्योंकि गुण और जाति का विरोध तो जाति के विरोधों में ही आ गया।) क्रिया का क्रिया और द्रव्य से विरोध और द्रव्य का द्रव्य से विरोध। इस प्रकार ४ + ३ + २ + १ = १० भेद हुए सीधे सीधे ४ × ४ = १६ भेद नहीं। यही प्रक्रिया यहाँ भी अपनाई जानी चाहिये। अर्थात् अग्रिम भेदों में एक एक कम करके गणना की जानी चाहिये। जैसे पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य के ५१ भेद। फिर वाक्यद्योत्य अर्थान्तरसंक्र-

मित वाच्य के ५०, इसी प्रकार एक एक कम करके गणना की जानी चाहिये। इस दशा में गुणन की प्रक्रिया यह बतलाई गई है—

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं गुरु।
समार्धेनासमो गुण्य एतत्सङ्कलितं लघु ।। (लीलावती)

अर्थात् एक से जिस राशि तक गुणन करना हो उस राशि को दो बार रखना चाहिये। एक राशि में एक को जोड़ देना चाहिये जिससे यदि वह राशि विषम होगी तो सम हो जायेगी और सम होगी तो विषम हो जायेगी। जो सम हो उसका आधा करके उससे विषम को गुणा कर देना चाहिये। वह सङ्कलन की लघु प्रक्रिया है। इस प्रकार १ से ५१ तक प्रत्येक राशि को जोड़ने की लघु प्रक्रिया यह होगी—५१ + १ = ५२ इस राशि ५२ का $\frac{५२}{२}$ = २६, अब ५१ को २६ से गुणा कर देना चाहिये ५१ × २६ = १३२६ भेद सन्देह सङ्कर के हुए। कुल मिलाकर ध्वनि के सङ्कीर्ण भेद १३२६ × ४ = ५३०४ होने चाहिये १०४०४ नहीं। इसका समाधान यह दिया गया है कि विरोध की गुणन प्रक्रिया यहाँ पर लागू नहीं हो सकती। क्योंकि जाति और गुण का विरोध अथवा गुण और जाति का विरोध एक ही बात है। किन्तु अर्थान्तरसंक्रमित का अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से साङ्कर्य एक बात नहीं। जब अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य की प्रधानता होगी तब अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से विरोध कहा जायगा और यदि अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य की प्रधानता होगी तो अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से विरोध कहा जायेगा। इसी उत्तर के कारण काव्य प्रकाश में बतलाई हुई प्रक्रिया ही ठीक सिद्ध होती हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न और शेष रह जाता है कि उक्त अन्तर के मान लेने पर भी एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर के विषय में फिर यह संख्या ठीक सिद्ध नहीं होती। एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर में एक ही व्यञ्जक में दो भेदों का समावेश होता है। इस प्रकार पद के एकदेश, पद, वाक्य, प्रबन्ध इनमें परस्पर सङ्कर नहीं हो सकता। क्योंकि मान लीजिये वाक्य से एक व्यङ्ग्य निकलता है तो उसका एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर तभी हो सकता है जब दूसरा व्यङ्ग्य उसी वाक्य से निकले। यदि एक व्यङ्ग्य वाक्य से निकलेगा और दूसरा पद से तो ऐसी दशा में व्यञ्जक की एकता नहीं रहेगी और इनका एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर नहीं बन सकेगा। इस प्रकार भी इनकी संख्या पर्याप्त रूप में कम हो जायगी। इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर व्यञ्जकता का अर्थ है व्यञ्जना में किसी प्रकार का सहयोग देना। अब मान लो कि कोई ऐसा स्थान है जहाँ एक व्यङ्ग्य तो वाक्य से निकलता है और दूसरा वाक्य के केवल एक भाग पद से। वहाँ पर यदि वाक्य से निकलनेवाले व्यङ्ग्य में पद की किसी भी प्रकार की सहकारिता हो जाती है तो उस वाक्य के द्वारा उस व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जकता भी उस पद में आ गई। इस प्रकार पद और वाक्य के व्यङ्ग्यार्थों में एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर हो सकता है। अत एव सङ्कीर्ण भेदों की संख्या १०४०४ मानना ही ठीक है। इनमें शुद्ध ५१ भेदों के जोड़ने से १०४५५ ध्वनि भेद हो जाते हैं।

अब गुणीभूतव्यङ्ग्यके साङ्कर्य को लीजिये—ध्वनि के जो ५१ मूलभेद बतलाये गये हैं उनमें कुछ भेद ऐसे हैं जो गुणीभूतव्यङ्ग्य में सम्भव नहीं हो सकते। जैसा कि ध्वनिकार ने लिखा है जब वस्तु से अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है तब उसे केवल ध्वनिरूपता ही प्राप्त होती है। कारण यह है कि वस्तु की अपेक्षा अलङ्कार में स्वाभाविक प्रकर्ष होता है। अतः व्यङ्ग्य अलङ्कार वस्तु की अपेक्षा तो कभी गौण हो ही नहीं सकता। वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है—(१) स्वतः सम्भव वस्तु से अलङ्कारव्यञ्जना, (२) कविकल्पित वस्तु से अलङ्कारव्यञ्जना और (३) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से अलङ्कार व्यञ्जना। इन तीनों में प्रत्येक के तीन भेद होते हैं—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत। इस प्रकार ये ९ भेद हुए। ये केवल ध्वनि भेद ही हो सकते हैं। शेष ५१—९ = ४२ भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी हो सकते हैं! इन ४२ भेदों में प्रत्येक के ८ भेद होते हैं—(१) अगूढ़, (२) अपराङ्ग, (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, (४) अस्फुट, (५) सन्दिग्धप्राधान्य, (६) तुल्यप्राधान्य, (७) काक्वाक्षिप्त और (८) असुन्दर। इन ८ प्रकारों से मूल ४२ भेदों का गुणा करने पर ४२ × ८ = ३३६ शुद्ध हो गये। इन ३३६ भेदों की संसृष्टि करने पर ३३६ × ३३६ = ११२८९६ भेद हो जाते हैं। एक प्रकार की संसृष्टि और तीन प्रकार का सङ्कर इस प्रकार इन भेदों को ४ से गुणा करने पर ११२८९६ × ४ = ४५१५८४ भेद सङ्कीर्ण गुणीभूत-व्यङ्ग्य के हो गये। ध्वनि के १०४५५ भेद बतलाये जा चुके हैं यदि इनका परस्पर चार बार गुणा किया जाय तथा शृङ्गाररस के नायक-नायिका भेद विभाव अनुभाव और समस्त अलङ्कारों से पृथक् गुणन किया जाय तो इतने भेद हो जाते हैं कि कोई व्यक्ति उनकी गणना कर ही नहीं सकता इस प्रकार नवनवोन्मेषशालिनी कवि प्रतिभा के लिये कहीं अन्त का अवसर ही नहीं आता। इस प्रकार यह सरस्वती का अनन्य भण्डार अनन्त काल तक सहृदयों के समक्ष स्फुरित होता रहता है। यह है काव्यप्रकाश की गुणन प्रक्रिया का संक्षिप्त परिचय।

साहित्यदर्पण की गणना प्रक्रिया

साहित्यदर्पण में मूल भेद तो ५१ ही हैं, किन्तु उसमें विरोधालङ्कारवाली काव्यप्रकाश की शैली को अपनाकर प्रत्येक अग्रिम भेद में एक-एक भेद कम कर दिया है। इस प्रकार से १ से ५१ तक की संख्याओं का जोड़ ही साहित्यदर्पणकार के मत में एक प्रकार के सङ्कर की संख्या मानी जानी चाहिये। तीन प्रकार का सङ्कर और १ प्रकार की संसृष्टि को मिलाकर ४ से गुणा कर देने पर ध्वनि के सङ्कीर्ण भेदों की संख्या आ जायेगी। इस प्रकार साहित्यदर्पण के अनुसार ५१ × २६ = १३२६ भेद संसृष्टि के हो जाते हैं और कुल भेद १३२६ × ४ = ५३०४ सङ्कीर्ण भेद सिद्ध होते हैं। किन्तु वस्तुतः यह सब गणना ध्वनि-अनन्तता को ही सिद्ध करती है।

(ध्वन्या०) तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णत्वं कदाचिदनुग्राह्यानुग्राहकभावेन। यथा 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। अत्र ह्यर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदेनालक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते।

(अनु०) उनमें अपने भेदों से सङ्कीर्णत्व कभी अनुग्राह्यानुग्राहक भाव के द्वारा होता है। जैसे—'एवं वादिनि देवर्षौ' में यहाँ निस्सन्देह अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूपव्यङ्ग्य नामक ध्वनि के प्रभेद के द्वारा ध्वनि का अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक प्रभेद अनुगृहीत किया जाता हुआ दृष्टिगत होता है।

(लो०) तत्र व्युत्पत्तये कतिपयभेदेषूदाहरणानि दित्सुः स्वप्रभेदानां कारिकायामन्यपदार्थत्वेन प्रधानतयोक्तत्वात्तदाश्रयाण्येव चत्वार्युदाहरणान्याह—**तत्रेति। अनुह्यमाण इति**। लज्जया हि प्रतीयता। अभिलाषश्रृङ्गारोऽत्रानुगृह्यते व्यभिचारिभूतत्वेन।

(अनु०) उनमें व्युत्पत्ति के लिये कतिपय भेदों में उदाहरण देने की इच्छा करते हुए कारिका में अपने प्रभेदों के अन्यपदार्थत्व होने के कारण प्रधानरूप में कहे जाने से उसके आश्रयवाले ही चार उदाहरणों को कहते हैं—'उनमें' यह। 'अनुगृह्यमाण' यह। निस्सन्देह प्रतीति होनेवाली लज्जा के द्वारा। वहाँ व्यभिचारीभाव होने के कारण (लज्जा के द्वारा) अभिलाष श्रृङ्गार अनुग्रहीत किया जाता है।

आलोक में संसृष्टि और सांकर्य का दिग्दर्शन

तारावती—अब आलोककार यह दिखलाना चाहते हैं कि इन भेदों का परस्पर संसर्जन (संसृष्टि) और साङ्कर्य होता किस प्रकार है। इसके लिये कुछ उदाहरण देने की आवश्यकता है। किन्तु काव्य अनन्तपार है अतः कतिपय उदाहरणों से ही सन्तोष करना पड़ेगा। जिस क्रम से उदाहरण दिये जावेंगे उसको समझ लेना चाहिये। सामान्यतया सङ्कर या संसृष्टि तीन तत्त्वों में होती है—(१) अपने भेद से, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य से और (३) अलङ्कारों से। इनमें सर्वप्रथम अपने भेदों से सङ्कर और संसृष्टि को लीजिये। सर्वप्रथम अपने भेदों से ही सङ्कर और संसृष्टि के उदाहरण देने का कारण यह है कि ४३ वीं कारिका में गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कार के साथ 'स' शब्द जोड़ दिया गया है—'सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः' 'सालङ्कारैः' यह 'सह' के अर्थ में 'स' हुआ है तथा इसमें बहुव्रीहि समास का निर्देश है। बहुव्रीहि समास का मूल निर्देशक पणिनीय सूत्र है 'अनेकमन्यपदार्थे' अर्थात् अनेक प्रथमान्तों का अन्य पद के अर्थ में समास होता है। इसमें समास में आनेवाले शब्द गौण हो जाते हैं और अन्य पदार्थ प्रधान हो जाता है। अतः यहाँ पर 'सालङ्कारैः' में अलंकार गौण है और 'सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः' में 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' गौण है। प्रधानता किसी अन्य पदार्थ की है। वह अन्य पदार्थ क्या है? इसका निर्देश कारिका में ही कर दिया गया है 'प्रभेदैः स्वैः'। इस प्रकार स्वप्रभेद अर्थात् ध्वनि के मूल भेद (काव्यप्रकाश के अनुसार ५१ और लोचन के अनुसार ३५) प्रधान हैं। अतः इन प्रधान भेदों के सांकर्य की व्याख्या पहले ही की जायेगी तथा दूसरे भेदों से सांकर्य की व्याख्या बाद में की जायेगी। अपने प्रभेदों से सांकर्य तीन प्रकार का होता है। और संसृष्टि एक प्रकार की। इस प्रकार कुल मिलाकर चार प्रकार हुए इन्हीं चार प्रकारों में प्रत्येकका एक-एक उदहारण दिया जा रहा है।

सर्वप्रथम सङ्कर को लीजिये। यह तीन प्रकार का होता है—(१) कभी तो एक

भेद दूसरे का अनुग्राहक होता है और उससे उपकृत होकर दूसरा भेद अधिक उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है। उसे अनुग्राह्यनुग्राहकभाव संकर कहते हैं। जैसे—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गयणामास पार्वती॥

यह कुमारसम्भव का पद्य है, इसमें कहा गया है कि नारद जी हिमाञ्चल से पार्वती के विवाह के विषय में बात कर रहे थे। उस समय पार्वती अपने पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किये हुये लीलाकमल पत्रों को गिन रही थी। यहाँ पर पार्वती के अधोमुख और लीलापत्र गणना से लज्जा की अभिव्यक्ति होती है। यह लज्जा अनुरणनरूप व्यङ्गच के रूप में प्रतीत होती है और स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु व्यज्जना कही जा सकती है। दूसरी व्यज्जना यहाँ पर अभिलाष श्रृंगार की होती है जो कि असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्गच रसध्वनि को अनुगृहीत करती है क्योंकि लज्जा श्रृंगार का व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार ध्वनि के एक भेद अनुरणनरूप व्यङ्गच से रस ध्वनि उपकृत होकर चमत्काराधिक्य में कारण होती है। यहाँ पर दो स्वरूपगत भेदों का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सङ्कर है। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि व्यभिचारी भाव तो एक संयोज्य तत्त्व है जिसके संयोग से रसव्यञ्जना हुआ करती है जैसा कि मुनि ने कहा है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। फिर यहाँ पर लज्जा को अनुरणनरूप व्यङ्गच कैसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि विभाव इत्यादि सभी तत्त्व स्थायीभाव से मिलकर रसनिष्पत्ति किया करते हैं। किन्तु जहाँ कोई व्यभिचारी भाव प्रमुख हो जाता है वहाँ उस भाव की ध्वनि कही जाती है। जैसे कपूर शकर इत्यादि अनेक पदार्थों के योग से बने हुए पदार्थ में एक सङ्घातरस में मिर्च चीनी इत्यादि किसी एक वस्तु की प्रधानता हो जाती है तब कहा जाता है कि अमुक पदार्थ में चीनी का स्वाद है, मिर्च का स्वाद है इत्यादि। इसी प्रकार सामूहिक रसध्वनि में जब एक भाव की प्रधानता हो जाती है तब वहाँ उस भाव की ध्वनि कही जाती है, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः······'

इस प्रकार यहाँ पर लज्जा-भाव की व्यञ्जना अनुरणन रूप में ही होती है और इससे अभिलाष श्रृंगार अनुगृहीत होकर चमत्कार में कारण बनता है। अतः यह अनुग्राह्यानुग्राहक भाव का उदाहरण है।

(ध्वन्या०) एवं कदाचित्प्रभेदद्वयसम्पातसन्देहेन। यथा—

खणपाहुणिआ देअर एषा जाआएँ किंपि दे भणिदा।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई॥
(क्षणप्राघुणिका देवर एषा जायया किमपि ते भणिता।
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी॥ इतिच्छाया)

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत्पदमर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते। न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति।

(अनु०) इसी प्रकार कदाचित् दो भेदों के द्वारा। जैसे—

'हे देवर ? उत्सव में निमन्त्रण के द्वारा बुलाई हुई, यह (बेचारी प्रेयसी) तुम्हारी पत्नी के द्वारा कुछ कही हुई शून्यवलभीगृह में रो रही है; बेचारी को मना लो।'

यहाँ निस्सन्देह 'मना लो' यह पद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के रूप में और विवक्षितान्यपरवाच्य के रूप में सम्भावित किया जाता है। किसी एक पक्ष के निर्णय में प्रमाण नहीं ही है।

(लो०) क्षण उत्सवस्तत्र निमन्त्रणेनानीता हे देवर ! एषा ते जायया किमपि भणिता रोदिति। पडोहरे शून्ये वलभीगृहे अनुनीयतां वराकी। सा तावद्देवरानुरक्ता तज्जायया विदितवृन्तान्तया किमप्युक्तेत्येषोक्तिस्तद्वृत्तान्तं दृष्टवत्या अन्यस्यास्तद्देवरचौरकामिन्याः। तत्र तव गृहिण्यायं वृत्तान्तो ज्ञात इत्युभयतः कलहायितुमिच्छन्त्येवमाह। तत्रार्थान्तरे सम्भोगेनैकान्तोचितेन परितोष्यतामित्येवं रूपे वाच्यस्य सङ्क्रमणम्। यदि वा त्वं तावदेतस्यामेवानुरक्त इतीर्ष्याकोपतात्पर्यादनुनयमन्यपरं विवक्षितम्। एषा तवेदानीमुचितमगर्हणीयं प्रेमास्पदमित्यनुनयो विवक्षितः, वयं त्विदानीं गर्हणीयाः सम्वृत्ता इत्येतत्परतया उभयथापि च स्वाभिप्रायप्रकाशनादेकतरनिश्चये प्रमाणाभाव इत्युक्तम्। विवक्षितस्य हि स्वरूपस्थस्यैवान्यपरत्वम्। संक्रान्तिस्तु तस्यैतद्रूपतापत्तिः। यदि वा देवरानुरक्ताया एव तं देवरमन्यया सहावलोकितसम्भोगवृत्तान्तं प्रतीयमुक्तिः, देवरेत्यामन्त्रणात्। पूर्वव्याख्याने तु तदपेक्षया देवरेत्यामन्त्रणं व्याख्यातम्।

(अनु०) 'क्षण' अर्थात् उत्सव उसमें निमन्त्रण के द्वारा बुलाई हुई हे देवर ? यह तुम्हारी जाया के द्वारा कुछ कही हुई रो रही है। पडोहर अर्थात् शून्य वलभी गृह में बेचारी मना ली जाय। देवर में अनुरक्त है, वृत्तान्त को जाननेवाली उसकी जाया के द्वारा कुछ कही गई है यह उक्ति उनके वृत्तान्त को देखनेवाली किसी दूसरी अपने देवर की चौरकामिनी की है। वहाँ वह 'तुम्हारी गृहिणी के द्वारा यह वृत्तान्त जान लिया गया है' इस प्रकार दोनों ओर कलह की इच्छा करते हुए कहती है। वहाँ 'एकान्त में उचित सम्भोग के द्वारा परितुष्ट कर ली जाए' इस प्रकार के अर्थान्तर में वाच्य का संक्रमण होता है। अथवा तुम तो इसी में अनुरक्त हो इस ईर्ष्या कोप तात्पर्य से अन्यपरक अनुनय विवक्षित है। यह तुम्हारी इस समय उचित तथा अगर्हणीय प्रेमास्पद है इस अनुनय का कहना अभीष्ट है, हम तो इस समय गर्हणीय हो गये हैं इस आशयपरता के रूप में दोनों प्रकार से अपने अभिप्राय के प्रकाशन के कारण एक ओर निश्चय न होने में प्रमाणाभाव कहा गया है। स्वरूपस्थ (वाच्यस्थ) ही विवक्षित की अन्यपरता होती है। उसकी इस रूप को प्राप्ति तो संक्रान्ति होती है। अथवा देवरानुरक्ता की ही उस देवर के प्रति, जिसके सम्भोग वृत्तान्त को अन्य के प्रति देखा गया है, यह उक्ति है। प्रथम व्याख्यान में तो 'देवर' इस आमन्त्रण की व्याख्या कर दी गई।

तारावती—(२) कभी दो ध्वनिभेद एक साथ आ पड़ते हैं और दोनों में किसी एक का निश्चय नहीं किया जा सकता कि अमुक भेद ही सङ्गत रहेगा दूसरा नहीं। ऐसे स्थान पर सन्देह होने के कारण सन्देहसङ्कर कहा जाता है। उदाहरण—

कोई नायिका अपने देवर में अनुरक्त है। वह अपने देवर के यहाँ किसी उत्सव में आई है। देवर की पत्नी उनके प्रच्छन्न अनुराग को जान गई है। अतः उसने प्रच्छन्नानुरागिणी से कुछ कह दिया जिससे वह दुःखित होकर एकान्त स्थान पर जाकर रोने लगी। उस नायिका के देवर को कोई दूसरी स्त्री भी चाहती है। उनका भी गुप्त प्रेम है। उस दूसरी कामिनी ने ये सब बातें देखली हैं कि उसके प्रेमी की पत्नी ने उस घर में आई हुई से कुछ कह दिया है और वह एकान्त में जाकर रो रही है। अतः वह सब समाचार उस अपने प्रेमी से कह रही है—

'तुम्हारे उत्सव में प्रेमपूर्वक आमन्त्रित किये जाने पर वह (तुम्हारी भाभी) तुम्हारे यहाँ आई थी। तुम्हारी जाया (पत्नी) ने न जाने उससे क्या कह दिया कि वह एकान्त वलभी गृह में जाकर रो रही है, अरे देवर ? बेचारी को मना लो।'

वलभी का अर्थ है—अन्तःपुर, चन्द्रशाला या घर की ऊपरी मञ्जिल ('शुद्धान्ते वलभी चन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेश्मनि')

'देवर' इस आमन्त्रण से व्यञ्जना निकलती है कि 'तुम्हारा उससे स्वाभाविक प्रेम होना ही चाहिये। 'उत्सव में प्रेमपूर्वक बुलाई गई थी' इससे व्यञ्जना निकलती है कि यहाँ तो कम से कम तुम्हारी पत्नी को उसका आदर करना हो चाहिये था किन्तु यहाँ भी उसने उसे स्पष्ट कर दिया। अतः उसका दुःखित होना स्वाभाविक ही है। 'जाया' शब्द के प्रयोग से व्यक्त होता है कि 'यह मैं जानती हूँ कि वह तुम्हारी विवाहिता पत्नी ही है, उसने तुम्हारा प्रेम कभी प्राप्त नहीं कर पाया और जब वह ऐसी अनुचित बातें करती है तब तुम्हारा प्रेम उसे मिल ही कैसे सकता है ? 'तुम्हारी पत्नी ने कहा है' में 'तुम्हारी' शब्द से व्यक्त होता है कि 'जब तुम्हारी पत्नी ने कहा है तब मनाना भी तुम्हें ही पड़ेगा'। 'कुछ कह दिया' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि जो कुछ कह दिया वह इतना अनुचित है कि मैं उसका उच्चारण भी नहीं कर सकती। वलभी के शून्य होने से एकान्त में प्रेम करने की सुकरता, 'रोती है' से प्रतीकाराक्षमत्व तथा नायक के प्रति प्रेमाधिक्य के कारण पलायन की असमर्थता व्यक्त होती है जिससे नायक के शीघ्र जाकर मनाने का औचित्य सिद्ध होता है। 'वराकी' शब्द से भी नायिका की अक्षमता ही व्यक्त होती है। यहाँ पर वक्त्री का यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि वह नायक को यह सूचना देकर नायक और उसकी पत्नी में कलह कराना चाहती है।

'अनुनय' का वाच्यार्थ है समझा बुझाकर दुःख दूर कर देना। किन्तु यहाँ पर कहने-वाली का केवल यही अभिप्राय नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो वह एकान्त स्थान इत्यादि का निर्देश करती है, दूसरे प्रणयीजनों का मानना और मनाना बातचीत तक ही सीमित नहीं रहता। अतः 'अनुनय' का वाच्यार्थ तात्पर्यानुपपत्ति के कारण बाधित है और इससे यह अर्थ निकलता है कि सम्भोग के द्वारा उसे प्रसन्न करो। सम्भोग के साथ बातचीत द्वारा अनुनय

का भी वाच्यार्थ सन्निविष्ट हो जाता है । अतः यहाँ पर वाच्य अर्थान्तरसंक्रमित हो जाता है। अतः यह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य नामक ध्वनि भेद है। अथवा यहाँ यह कथन एक अन्य प्रेमिका का है; अतः उससे यह व्यञ्जना भी निकल सकती है—'मेरे सामने आज तुम्हारा रहस्य खुला है; तुम वस्तुतः मेरे अतिरिक्त एक अन्य प्रेमिका (अपनी भाभी) से भी प्रेम करते हो; तभी तो तुम्हारी पत्नी उससे रुष्ट होती है।' इससे वक्त्री का अभिप्राय ईर्ष्याजन्य कोप में पर्यवसित होता है। इस अर्थ में अनुनय के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। अतः यह अत्यन्ततिरस्कृत ध्वनि नामक प्रभेद हो सकता है। अब यहाँ पर यह निश्चय करना कठिन है कि अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य माना जाय अथवा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। एक के निश्चय करने में यहाँ कोई प्रमाण है ही नहीं। क्योंकि दोनों अवस्थाओं में वक्त्री का यही प्रयोजन रूप तात्पर्य व्यंग्य होता है कि 'यह तुम्हारी भाभी तुम्हारी सच्ची प्रेमास्पद है। भला अब तुम मुझसे प्रेम क्यों करोगे। इसका तुम्हारा प्रेम उचित भी है और अनिन्दनीय भी। अब मैं तो निन्दनीय हो ही गई हूँ।' चाहे अनुनय का सम्भोगपरक अर्थ मानकर तथा एक प्रेमिका से दूसरी प्रेमिका के सम्भोग का निर्देश दिलवाकर यहाँ पर अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य माना जाय या ईर्ष्या कोप में लक्षणा मानकर अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य माना जाय दोनों अवस्थाओं में प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ तो एक ही होगा। अतः एक का निश्चय करने में कोई तर्क न होने से यहाँ सन्देह सङ्कर है। यह तो बहुशः बतलाया जा चुका है कि जहाँ वाच्यार्थ के स्वरूप में ही व्यङ्ग्यार्थ अवस्थित होता है उसे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य कहते हैं और जहाँ स्वरूप दूसरे रूप में परिणत हो जाता है वहाँ अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य कहा जाता है।

अथवा उक्त पद्य की योजना एक रूप में और हो सकती है। यह कथन भाभी का ही है जिसका कि अपने देवर से स्वयं प्रच्छन्न प्रेम है। उसने किसी अन्य से देवर का प्रेम जान लिया है। वह दूसरी प्रेमिका देवर के घर किसी उत्सव में आई है और उसको देवर की पत्नी ने अपमानित किया है। यही सारा समाचार अपने देवर को देकर वह अपना ईर्ष्या जन्य रोष प्रकट कर रही है। वस्तुतः यही अर्थ ठीक है। क्योंकि इसमें 'देवर' इस सम्बोधन की सङ्गति ठीक बैठ जाती है। यदि पहली वाली व्याख्या के अनुसार यह माना जाय कि कहने वाली भाभी नहीं कोई अन्य प्रेमिका है और वह भाभी के अपमानित होने की सूचना दे रही है तो 'हे देवर' यह सम्बोधन भाभी की दृष्टि से माना जायगा (और यह कटाक्षपरक सम्बोधन होगा।)

(ध्वन्या०) एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति। यथा 'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ।

(अनु०) एक व्यञ्जकानुप्रवेश के द्वारा तो व्यङ्ग्यत्व अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अपने दूसरे प्रभेदों की दृष्टि से बहुलता से सम्भव है। जैसे—'स्निग्ध श्यामल' इत्यादि में।

(लो०) **बाहुल्येनेति।** सर्वत्र काव्ये रसादितात्पर्यं तावदस्ति। तत्र रसध्वनेर्भावध्वनेश्चैकेन व्यञ्जकेनाभिव्यञ्जनं स्निग्धश्यामलेत्यत्र विप्रलम्भश्रृङ्गारस्य तद्व्यभिचारिणश्च शोकावेगात्मनश्चर्वणीयत्वात्।

(अनु०) 'बाहुल्य से' यह। सर्वत्र काव्य में रसादि तात्पर्य तो होता ही है। उसमें रसध्वनि और भावध्वनि का एक ही व्यञ्जक के द्वारा अभिव्यञ्जन (होता है) क्योंकि 'स्निग्धश्यामल' इत्यादि में विप्रलम्भश्रृङ्गार और उसके व्यभिचारी शोक और आवेश की (एक साथ) चर्वणा होती है।

तारावती—(३) सङ्कर का तीसरा प्रकार है एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर। अपने भेदों का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरे भेदों से प्रायः हुआ करता है। क्योंकि काव्य में सर्वत्र तात्पर्य तो रसध्वनि में ही होता है, उस रस के पोषक भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियत' इत्यादि पद्य को लीजिये। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका में की जा चुकी है। यहाँ पर असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसध्वनि विप्रलम्भश्रृंगारपरक है। साथ ही शोक और आवेश की भी अभिव्यक्ति होती है जो कि उसका व्यभिचारी भाव है। इन दोनों की एक साथ चर्वणा होती है। दोनों का व्यञ्जक यह पद्य ही है। अतः यहाँ १८ ध्वनि के स्वगत भेदों का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है।

(कुछ लोगों ने यहाँ पर रामशब्द के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और रसध्वनि इन दो का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर बतलाया है। क्योंकि दोनों का अभिव्यञ्जन रामशब्द से ही होता है। वस्तुतः यह ठीक भी है। किन्तु इससे आलोककार के इस कथन की सार्थकता नहीं होती कि अधिकतर ऐसे स्थान पाये जाते हैं जहाँ एक पद में दो व्यङ्ग्यों का समावेश होता है। अतः बाहुल्य की व्याख्या करने के लिये रसध्वनि का व्यभिचारियों की व्यञ्जना से उपकृत होना मानना ही पड़ेगा। यही लोचनकार का आशय है।)

(ध्वन्या०) **स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव। अत्र ह्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः।**

(अनु०) स्वप्रभेदसंसृष्टत्व जैसे—पहले के उदाहरण में ही। यहाँ निस्सन्देह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का संसर्ग है।

(लो०) एवं त्रिविधं सङ्करं व्याख्याय संसृष्टिमुदाहरति—**स्वप्रभेदेति। अत्र हीति**। लिप्तशब्दादौ तिरस्कृतो वाच्यः, रामादौ तु सङ्क्रान्त इत्यर्थः।

(अनु०) इस प्रकार के सङ्कर की व्याख्या करके संसृष्टि का उदाहरण देते हैं—'अपने प्रभेदसे' यह। 'यहाँ निस्सन्देह' यह। लिप्त शब्द इत्यादि में वाच्य तिरस्कृत है और राम इत्यादि में संक्रान्त।

संसृष्टि

तारावती—ऊपर स्वगत भेदों में तीनों प्रकार के सङ्कर की व्याख्या की जा चुकी। अब स्वगत भेदों की संसृष्टि को लीजिये। संसृष्टि वहाँ पर होती है जहाँ दो ध्वनिभेद निरपेक्ष रूप में स्थित होते हैं। जैसे 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः' इसी पद्य को लीजिये। यहाँ पर 'लिप्त' शब्द इत्यादि का अर्थ बाधित है। लेप किसी मूर्त तथा स्पृश्य वस्तु का किया जाता

है। कान्ति का लेप नहीं हो सकता इससे 'लिप्त' शब्द का प्रकृत कान्ति के लेप के अर्थ में बाध हो जाता है। उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'कान्ति सभी अवयवों में व्याप्त है।' इसकी प्रयोजनरूप व्यञ्जना यह है कि कान्ति सभी अवयवों में परिपूर्ण रूप में तथा अतिशयता के साथ भर गई है। इस प्रकार यहाँ पर 'लिप्त' शब्द के अर्थ का सर्वथा त्याग हो जाता है। अतः यह अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य नामक ध्वनि भेद का उदाहरण है। 'राम' शब्द अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य नामक ध्वनि भेद का उदाहरण है ही जैसा कि विस्तारपूर्वक द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका की व्याख्या में दिखलाया जा चुका है। ये दोनों ध्वनि भेद परस्पर असम्बद्ध होकर स्थित रहते हैं। अतः यहाँ ध्वनि के दो स्वगत भेदों की संसृष्टि है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

(ध्वन्या०)—गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णत्वं यथा—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ। यथा वा—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुश्शासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिभिः पदैः सम्मिश्रता। अत एव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत्। यथा हि ध्वनेः प्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि।

(अनु०) गुणीभूतव्यङ्ग्यसंकीर्णत्व जैसे—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि में। अथवा जैसे—

'द्यूत के छलों' का करनेवाला, लाख के बने मकान का जलानेवाला, वह अभिमानी, द्रौपदी के केश तथा उत्तरीय के अपसारण में निपुण, जिसके दास पाण्डव हैं, ऐसा राजा, दुश्शासन इत्यादि सौ छोटे भाइयों का ज्येष्ठ, अङ्गराज का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है, कहते क्यों नहीं हो, हम दोनों क्रोधपूर्वक देखने आये हैं।'

यहाँ निस्सन्देह वाक्यार्थीभूत अलक्ष्यक्रमव्यंग्य का व्यंग्यविशिष्ट वाच्य को कहनेवाले पदों से सम्मिश्रण होता है। और इसीलिये गुणीभूतव्यंग्य के पदार्थाश्रित होने पर और ध्वनि वाक्याश्रित होने पर सङ्कीर्ण होने में कोई विरोध नहीं है अपने दूसरे प्रभेदों के समान। निस्सन्देह जैसे ध्वनि के दूसरे प्रभेद परस्पर सङ्कीर्ण होते हैं और पदार्थ तथा वाक्यार्थ के आशय के रूप में उनमें विरोध नहीं आता।

(लो०) एवं स्वप्रभेदं प्रति चतुर्भेदानुदाहृत्य गुणीभूतव्यङ्ग्यं प्रत्युदाहरति—**गुणीभूतेति**। अत्र हीत्युदाहरणद्वयेऽपि। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्येति रौद्रस्य व्यङ्ग्यविशिष्टेत्यनेन गुणता व्यङ्ग्यस्योक्ता। पदैरित्युपलक्षणे तृतीया। तेन तदुपलक्षितो

योऽर्थो व्यङ्ग्यगुणीभावेन वर्तते तेन सम्मिश्रता सङ्कीर्णता। सा चानुग्राह्यानुग्राहकभावेन, सन्देहयोगेनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति यथासम्भवमुदाहरणद्वये योज्या। तथाहि मे यदरय इत्यादिभिः सर्वैरेव पदार्थैः कर्तेत्यादिभिश्च विभावादिरूपतया रौद्र एवानुगृह्यते।

कर्तेत्यादौ च प्रतिपदं प्रत्यवान्तरवाक्यं प्रतिसमासं च व्यङ्ग्यमुत्प्रेक्षितुं शक्यमेवेति न लिखितम्। 'पाण्डवा यस्य दासाः' इति तदीयोक्त्यनुकारः। तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतापि योजयितुं शक्या, वाच्यस्यैव क्रोधोद्दीपकत्वात्। दासैश्च कृतकृत्यैः स्वाम्यवश्यं दृष्टव्य इत्यर्थशक्त्यनुरणनरूपतापि। उभयथापि चारुत्वादेकपक्षग्रहे प्रमाणाभावः। एकव्यञ्जकानुप्रवेशस्तु तैरेव पदैः गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्य प्रधानीभूतस्य च रसस्य विभावादिद्वारतयाभिव्यञ्जनात्। **अत एव चेति**। यतोऽत्र लक्ष्ये दृश्यते तत इत्यर्थः।

ननु व्यङ्ग्यं गुणीभूतं प्रधानं चेति विरुद्धमेव तद्दृश्यमानमप्युक्तत्वान्न श्रद्धेयमित्याशङ्क्य व्यञ्जकभेदात्तावन्न विरोध इति दर्शयति—**अत एवेति। स्वेति**। स्वप्रभेदान्तराणि सङ्कीर्णतया पूर्वमुदाहृतानीति तान्येव दृष्टान्तयति तदेव व्याचष्टे—**यथा हीति**। तथात्रापीत्यध्याहारोऽत्र कर्तव्यः। 'तथाहि' इति वा पाठः।

(अनु०) इस प्रकार स्वप्रभेदों के प्रति चारों प्रभेदों के उदाहरण देकर गुणीभूतव्यंग्य के प्रति उदाहरण देते हैं—'गुणीभूत' यह। यहाँ 'निस्सन्देह' अर्थात् दोनों ही उदाहरणों में। 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य का' यह। रौद्र के प्रतीत होने से 'व्यंग्यविशिष्ट' इत्यादि के द्वारा व्यंग्य की गुणरूपता कही गई है। 'पदैः' में उपलक्षण में तृतीया है। इससे उसके द्वारा उपलक्षित की हुई, व्यंग्य के गुणीभाव के द्वारा जो अर्थ वर्तमान रहता है, उसकी सम्मिश्रता अर्थात् सङ्कीर्णता और वह अनुग्राह्यानुग्राहकभाव के द्वारा, सन्देह योग के द्वारा और एक व्यंजकानुप्रवेश के द्वारा यथासम्भव दोनों उदाहरणों में जोड़ दी जानी चाहिये। वह इस प्रकार 'मेरे जो शत्रु' इत्यादि इन सब पदार्थों के द्वारा और 'कर्ता द्यूतच्छलानां' इत्यादि के द्वारा विभावादि रूपता से रौद्र ही अनुगृहीत होता है।

और 'कर्ता' इत्यादि प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक अवान्तर वाक्य में और प्रत्येक समास में व्यङ्ग्य की उत्प्रेक्षा की जा सकती है इसलिये नहीं लिखा गया। 'पाण्डव जिसके दास हैं' यह उसकी उक्ति का अनुकरण है। उसमें गुणीभूतव्यङ्ग्यता की भी योजना की जा सकती है, क्योंकि वाच्य ही क्रोधोद्दीपक है और 'कृतकृत्य' दासों के द्वारा स्वामी अवश्य देखा जाना चाहिये, यह अर्थशक्तिमूलक अनुरणन रूप व्यंग्यता भी है। दोनों प्रकार से चारुत्व होने के कारण एक पक्ष के ग्रहण में प्रमाण नहीं है। एकव्यञ्जकानुप्रवेश तो उन्हीं पदों से गुणीभूतव्यंग्य के और प्रधानीभूत रस के विभाव इत्यादि के द्वारा अभिव्यञ्जन होने के कारण सिद्ध हो जाता है। 'अत एव च' यह। 'क्योंकि यहाँ लक्ष्य में दिखलाई देता है इससे।

(प्रश्न) व्यङ्ग्य गुणीभूत भी और प्रधान भी यह विरुद्ध है वह दिखलाई पड़ता हुआ भी उक्त हेतु से श्रद्धेय नहीं है यह शङ्का करके व्यञ्जक भेद से विरोध नहीं होता यह

दिखलाते हैं 'अत एव' यह । 'अपने' यह । अपने दूसरे प्रभेद जिनका सङ्कीर्ण के रूप में उदाहरण दिया गया है उन्हीं को दृष्टान्त बना रहे हैं । वही कहते हैं—'निस्सन्देह जैसे' । 'वैसा यहाँ पर' यह अध्याहार करना चाहिये । अथवा 'तथाहि' यह पाठ है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य से साङ्कर्य और संसृष्टि

तारावती—यहाँ तक ध्वनि के स्वगत भेदों के चारों प्रकारों की व्याख्या की गई । अब गुणीभूतव्यंग्य के साथ ध्वनि के साङ्कर्य और संसृष्टत्व को लीजिये—तृतीय उद्योत की १६ वीं कारिका की व्याख्या में 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि पद्य में प्रत्येक पद व्यंग्यविशिष्ट होकर ही चमत्कारकारक होता है । इस प्रकार प्रत्येक पद गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है । पूर्ण पद्य में रौद्र रसध्वनि होती है । (यहाँ पर रौद्र रस की व्यञ्जना होती है यह लोचनकार का मत है । निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव की प्रधान रूप में अभिव्यक्ति होती है यह दर्पणकार का मत है । वस्तुतः यहाँ पर निर्वेद व्यभिचारी से पुष्ट होकर वीर रस ही ध्वनि का रूप धारण करता है ।) इस प्रकार यहाँ पर रस, ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का साङ्कर्य है । दूसरा उदाहरण लीजिये—

यह पद्य वेणीसंहार के पञ्चम अङ्क से लिया गया है । महाभारत के युद्ध में अनेक वीरों का सङ्क्षय हो चुका है । भीम ने दुश्शासन के हृदय का रक्त पी लिया है; कर्ण और अर्जुन का युद्ध चल रहा है । दुर्योधन बट वृक्ष के नीचे चिन्ताग्रस्त मुद्रा में बैठे हैं । उसी समय धृतराष्ट्र, सञ्जय और गांधारी आकर दुर्योधन को युद्ध छोड़ने का उपदेश देते हैं किन्तु दुर्योधन दृढ़ है । इतने में सुनाई देता है कि कर्ण मारा गया । सब उद्विग्न तथा खिन्न हैं; दुर्योधन बदला लेने के लिये एकदम चल देना चाहता है । इसी समय पर्दे के पीछे भीम और अर्जुन का स्वर सुनाई देता है । वे कहते हैं—

'हम दोनों दुर्योधन से क्रोध के साथ मिलने आये हैं, तुम लोग हमें क्यों नहीं बतलाते कि वह दुर्योधन कहाँ है ? वह दुर्योधन जो कि द्यूतच्छलों का करनेवाला है, वह दुर्योधन जो लाख के बने हुए हमारे आवासस्थलों को जलानेवाला है, वह अभिमानी दुर्योधन जो द्रौपदी के केश और उत्तरीय के हटाने मे बड़ा ही निपुण है, वह ऐसा राजा, दुर्योधन पाण्डव जिसके दास हैं, दुश्शासन इत्यादि सौ छोटे भाइयों में ज्येष्ठ, अंगराज (कर्ण) का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है ।'

(लोचनकार ने इस पद्य की व्यञ्जनाओं के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि 'इसके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक उपवाक्य और प्रत्येक समास की व्यञ्जनायें स्पष्ट हैं, अतः उनका उल्लेख अनावश्यक है ।' इसकी व्यञ्जनाओं की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है 'कर्ता' में 'कृ' धातु से सीधे कर्त्रर्थक प्रत्यय से व्यक्त होता है कि द्यूत के अवसर पर छल करने में शकुनि तो निमित्तमात्र था वास्तविक उत्तरदायी तो यह दुर्योधन ही था । 'द्यूतच्छलानां' के बहुवचन से व्यक्त होता है कि इस दुर्योधन ने हम लोगों से एक नहीं अनेक छल किये हैं । 'जतुमयशरणोद्दीपनः' की व्यञ्जना यह है कि इस दुर्योधन ने हम लोगों को नष्ट कर देने में कोई कमी शेष नहीं रक्खी, यह तो परमात्मा की कृपा थी कि हम अपने भाग्य से बचते

रहे। 'कर्ता द्यूतच्छलानां' 'जतुमयशरणोद्दीपनः' इन दोनों वाक्यखण्डों से व्यञ्जना निकलती है कि सारा अपराध इसी दुष्ट दुर्योधन का है जिससे यह सारा वंश नष्ट हो गया। 'सः' 'वह' से अभिव्यक्त होता है कि दुर्योधन अपनी दुष्टता के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। 'अभिमानी' की व्यञ्जना यह है कि अब दुर्योधन का अभिमान कहाँ चला गया? उसे अपने अभिमान का पूरा बदला मिल गया। 'कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः' से सभी को साक्षी बनाकर दुश्शासन की बाँहें उखाड़ने और उसके वक्षस्थल का रक्त पीने की व्यञ्जना होती है। 'पाण्डवा यस्य दासाः' से व्यञ्जना निकलती है कि दुर्योधन ने तो द्यूत के अवसर पर पाण्डवों को जीतकर अपना दास बना लिया था और वह सर्वदा पाण्डवों को अपना दास ही कहा करता था। क्या उसे अब तक पता नहीं चला कि ऐसे अन्याय का परिणाम क्या होता है? 'दुश्शासनादे राजा' से दुश्शासन इत्यादि सभी वशवर्त्तियों के मारे जाने की व्यञ्जना होती है, 'गुरुरनुजशतस्य' से व्यक्त होता है कि जिस दुर्योधन को अपने सौ भाइयों पर पूरा अभिमान था वह अब अकेला शेष रह गया, उसके सभी भाइयों को एकाकी भीम ने ही मार डाला। 'अङ्गराजस्य मित्रम्' से व्यक्त होता है कि दुर्योधन सर्वदा अंगराज की ही सम्मति पर चला करता था और समस्त अनर्थ अंगराज की दुर्बुद्धि के ही कारण हुये थे। दुर्योधन समझता था अकेला अंगराज ही सभी पाण्डवों को मार सकता है किन्तु आज अंगराज का कहीं पता नहीं। आज हम क्रोध और क्रूरता के साथ दुर्योधन का अन्त करने आये हैं। दुश्शासन उसके सौ भाई और कर्ण इत्यादि उसके सहायक अब कहाँ हैं जिनके बल पर उसने इतना अन्याय किया था)।

'न्यक्कारो ह्ययमेव' और 'कर्ता द्यूतच्छलानां' इन दोनों पद्यों में रौद्ररस की व्यञ्जना होती है (अथवा प्रथम में वीररस की और दूसरे में रौद्ररस की व्यञ्जना होती है।) यह रौद्ररस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य है और प्रधानीभूत वाक्यार्थ बनकर यही ध्वनि का रूप धारण करता है। इन दोनों पद्यों में शब्दों से जो व्यञ्जनायें बतलाई गई हैं शब्दों के अर्थ उन विशिष्ट प्रकार की व्यञ्जनाओं से मिश्रित होकर ही अवभासित होते हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्य-विशिष्ट वाक्य का अभिमान करने के कारण इन में गुणीभूतव्यङ्ग्य है। यहाँ पर 'पदैः सम्मिश्रता' अर्थात् व्यङ्ग्यविशिष्ट वाक्य को कहनेवाले से असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का सम्मिश्रित होना बतलाया गया है। वस्तुतः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पदों से नहीं अपितु उनके अर्थों से सम्मिश्रित होता है। अतः यहाँ पर 'पदैः' में उपलक्षण में तृतीया माननी चाहिये जिसका आशय यह होता है कि पदों के विशिष्टाभिव्यञ्जनपरक प्रयोग के कारण ही असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य से विभिन्न गुणीभूतव्यङ्ग्यों का सम्मिश्रण उपलक्षित होता है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों पद्यों में यह सम्मिश्रण होता किस प्रकार है? इसका उत्तर यह है कि सङ्कर के तीनों भेदों की यहाँ यथासम्भव योजना कर लेनी चाहिये। वह इस प्रकार—(१) 'मेरे और शत्रु' इत्यादि सभी वाक्यों से अथवा 'कर्ता' इत्यादि के वाक्यार्थों से इन दोनों पद्यों की विभावरूप सामग्री का ही सम्पादन किया जाता है। यह विभावरूप सामग्री सर्वदा रसनिष्पत्ति में अनुग्राहक होती है। इस प्रकार व्यङ्ग्य विशिष्ट वाक्य के द्वारा रस ध्वनि के अनुगृहीत

होने से गुणीभूतव्यंग्य और रस का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर है। (२) 'पाण्डव जिसके दास हैं' यह दुर्योधन की उक्ति का अनुकरण है। अर्थात् दुर्योधन ऐसा कहा करता था। उसने हम लोगों को दास बना लिया था जिसका उचित दण्ड उसे मिल गया कि उसके सब भाई इत्यादि मारे गये। इस प्रकार 'पाण्डव जिसके दास हैं' से यह व्यञ्जना निकलती है। किन्तु प्रधानता वाच्यार्थ की ही है क्योंकि क्रोध की अभिव्यक्ति वाच्यार्थ से ही होती है। व्यंग्यार्थ उसमें सहायक मात्र होता है। इस प्रकार यह गुणीभूतव्यंग्य है। साथ ही इससे यह भी व्यञ्जना निकलती है कि 'हम तो दुर्योधन के दास हैं, दासों का यह कर्तव्य होता है कि स्वामी का कार्य कर के स्वामी का दर्शन करें। हम दुर्योधन का काम कर आये हैं और अब उनसे मिलना चाहते हैं, उनसे कह दो कि तैयार हो जाएँ।' यह व्यञ्जना वाक्य की अपेक्षा प्रधान है अतः स्वतःसम्भवी वस्तु से अनुरणनरूप वस्तु ध्वनि भी यहाँ विद्यमान है। यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि उक्त व्यंग्यविशिष्ट वाच्य अधिक चमत्कारकारक है या यह अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि। इस प्रकार यहाँ सन्देहसङ्कर है। (३) एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर तो स्पष्ट ही है। उन्हीं शब्दों से गुणीभूतव्यंग्य की भी व्यञ्जना होती है और उन्हीं से विभाव इत्यादि के माध्यम से असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य रसध्वनि भी अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार सङ्कर के तीनों भेदों की यहाँ पर व्याख्या की जा सकती है।

(ध्वन्या०) **किं चैकव्यङ्ग्याश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुद्धयते न तु व्यङ्ग्यभेदापेक्षया यतोऽप्यस्य न विरोधः। अयं च सङ्करसंसृष्टिव्यवहारो बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः।**

(अनु०) और भी—एकव्यंग्याश्रयत्व में प्रधान तथा गुणभाव का परस्पर विरोध होता है व्यंग्यभेद की दृष्टि से नहीं। इससे भी इसका विरोध नहीं होता। और यह सङ्करसंसृष्टि व्यवहार बहुतों के एकत्र वाच्यवाचकभाव के समान व्यंग्यव्यञ्जकभाव में भी निर्विरोध ही माना जाना चाहिये।

(लो०) ननु व्यञ्जकभेदात्प्रथमभेदयोः परिहारोऽस्तु एकव्यञ्जकानुप्रवेशे तु किं वक्तव्यमित्याशङ्क्य पारमार्थिकं परिहारमाह—**किञ्चेति**। ततोऽन्यद्व्यङ्ग्यं गुणीभूतमन्यच्च प्रधानमिति को विरोधः? ननु वाच्यालङ्कारविषये श्रुतोऽयं सङ्करादिव्यवहारो न तु व्यङ्ग्यविषय इत्याशङ्क्याह—**अयं चेति**। मन्तव्य इति मननेन प्रतीत्या तथा निश्चेयः उभयत्रापि प्रतीतेरेव शरणत्वादितिभावः।

(अनु०) (प्रश्न) व्यञ्जक भेद से प्रथम दो भेदों का परिहार हो जाय, एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर के विषय में क्या कहा जाना चाहिये? यह शङ्का करके वास्तविक परिहार बतला रहे हैं 'और भी' यह। 'उससे भी' यह। क्योंकि दूसरा व्यंग्य गुणीभूत है और दूसरा प्रधान है, अतः उसमें क्या विरोध? (प्रश्न) यह संकर इत्यादि का व्यवहार तो वाच्यालंकार के विषय में सुना गया है; व्यंग्य के विषय में तो नहीं? यह शंका करके कहते हैं—'और

यह'। 'माना जाना चाहिये' यह। भाव यह है कि मनन से अर्थात् प्रतीति से वैसा निश्चय करना चाहिये क्योंकि दोनों ओर प्रतीति का ही सहारा है।

प्रधानता और गुणीभाव पर विचार

तारावती—(प्रश्न) यह तो विचित्र सी बात है कि व्यंग्य गुणीभूत भी है और प्रधान भी। यह परस्पर विरुद्ध बात मानी कैसे जा सकती है? (उत्तर) क्योंकि यह लक्ष्य में दिखलाई पड़ता है जिसके उदाहरण अभी दिये गये हैं; अतः यह मानना ही पड़ता है। (प्रश्न) चाहे वह लक्ष्य में दिखलाई ही क्यों न पड़ता हो; किन्तु दिया हुआ हेतु इतना प्रबल है कि लक्ष्य में दिखलाई पड़नेवाले तत्त्व पर भी श्रद्धा करना उचित ही प्रतीत नहीं होता। जब प्रधान और अप्रधान सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध हैं तब दोनों तत्त्वों को एकत्र सन्निविष्ट कहना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? (उत्तर) प्रधान और अप्रधान व्यङ्ग्यों में व्यञ्जकों का भेद है। अतः उनका परस्पर सन्निवेश विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर गुणीभूतव्यंग्य की अभिव्यक्ति पदों के अर्थ से होती है और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रसध्वनि की अभिव्यक्ति वाक्यार्थ से होती है। एक के व्यञ्जक पदार्थ हैं और दूसरे के व्यञ्जक वाक्यार्थ हैं। इस प्रकार जब दोनों के व्यञ्जकों में भेद है तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि दोनों के प्रधान और अप्रधान होने में परस्पर विरोध है? इनका साङ्कर्य हो सकता है और व्यञ्जकभेद के कारण उनमें कोई विरोध भी नहीं आता। यह इस प्रकार समझिये कि जैसे ध्वनि के स्वगत भेदों में संकर और संसृष्टि दिखलाई गई है। उसमें व्यञ्जकभेद के कारण ही दो भेदों के प्रधान और अप्रधान भाव में विरोध नहीं आता। ध्वनि के स्वगत भेदों के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं और यह दिखलाया जा चुका है कि पदार्थ तथा वाक्यार्थ इन दो विभिन्न तत्त्वों से अभिव्यक्त होने के कारण दोनों का सांकर्य बन जाता है। उसी दृष्टान्त से गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि के सांकर्य के विषय में भी समझ लिया जाना चाहिये। यहाँ आलोक में—'यथाहि·········विरुद्धानि' यह वाक्य अधूरा सा मालूम पड़ता है। क्योंकि इसमें केवल दृष्टान्त तो दिया गया है दार्ष्टान्त नहीं। अतः यहाँ पर 'तथात्रापि' यह वाक्यखण्ड जोड़कर पूरा कर लेना चाहिये। अथवा 'यथाहि' के स्थान पर 'तथाहि' कर लेना चाहिये जिससे यह तर्क हो जावेगा और वाक्य की अपूर्णता जाती रहेगी।

(प्रश्न) आपने विरोधपरिहार के लिये व्यञ्जकभेद का सहारा लिया है। यह अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सङ्कर और सन्देहसङ्कर के विषय में तो ठीक कहा जा सकता है; किन्तु एकाश्रयानुप्रवेश संकर के विषय में क्या व्यवस्था होगी जहाँ एक ही व्यञ्जक से दो व्यंग्यार्थ निकलते हैं? जब तक व्यञ्जक एक ही नहीं होगा तब तक यह भेद कहा ही नहीं जा सकेगा और व्यञ्जक के एक हो जाने पर व्यञ्जकभेद का आपका आश्रय समाप्त हो जावेगा। (उत्तर) केवल व्यञ्जकभेद ही नहीं व्यंग्यभेद भी प्रधानता तथा गुणीभाव का भेदक होता है। प्रधानता तथा गुणीभाव का विरोध वहीं पर होता है जहाँ एक ही व्यंग्य को प्रधान भी कहा जाय और उसी को गुणीभूत भी बतलाया जाय। इसके प्रतिकूल जहाँ प्रधान कोई दूसरा व्यंग्य होता है और गुणीभूतव्यंग्य कोई दूसरा होता है वहाँ विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः

यही उत्तर ठीक है। व्यञ्जकभेद का उत्तर तो अधूरा रह जाता है। व्यंग्यभेद का उत्तर सभी भेदों में ठीक बैठ जाता है। जब दो वस्तुयें भिन्न-भिन्न ही हैं तब उनमें एक प्रधान और दूसरी अप्रधान होगी ही। उसमें विरोध की कल्पना की ही किस प्रकार जा सकती है? (प्रश्न) पुराने आचार्यों ने संकर और संसृष्टि का व्यवहार तो वाच्यालंकारों के विषय में किया है। आप उन्हें ध्वनिभेदों के क्षेत्र में लागू कर रहे हैं इसमें क्या औचित्य है? (उत्तर) पुराने आचार्यों ने मनन किया और उन्हें प्रतीत हुआ कि संकर और संसृष्टि का व्यवहार वाच्यालंकारों के विषय में किया जा सकता है। इस बात का निर्णय कि किस तत्त्व का व्यवहार किस क्षेत्र में किया जाय मनन और प्रतीति का ही कार्य है। यही मनन और प्रतीति यह बतलाती है कि संकर और संसृष्टि का व्यवहार व्यंग्य अर्थों के विषय में भी हो सकता है। दोनों स्थानों पर प्रतीति का ही एकमात्र आश्रय लिया जा सकता है और वह आश्रय वाच्यालंकारों के समान व्यञ्जना के क्षेत्र में भी इनके व्यवहार के औचित्य को सिद्ध करता है।

(ध्वन्या०) यत्र तु पदानि कानिचिदविवक्षितवाच्यान्यनुरणनरूपव्यङ्ग्यवाच्यानि वा तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वम्। यथा—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ। अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणाम्' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेदरूपे 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपे।

(अनु०) जहाँ कुछ पद तो अविवक्षितवाच्य होते हैं अथवा अनुरणनरूप व्यंग्यवाच्य होते हैं वहाँ ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य की संसृष्टि होती है। जैसे—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादि में। यहाँ निस्सन्देह 'विलाससुहृदाम्' और 'राधारहःसाक्षिणां' ये दो पद ध्वनि के उपभेदरूप ही हैं और 'ते' तथा 'जाने' ये दो पद गुणीभूतव्यंग्यरूप हैं।

(लो०) एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्करभेदांस्त्रीनुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति—**यत्र तु पदानीति**। कानिचिदित्यनेन सङ्करावकाशं निराकरोति। सुहृच्छब्देन चाविवक्षितवाच्यो ध्वनिः; 'ते' इति पदेनासाधारणो गुणगणोऽभिव्यक्तोऽपि गुणत्वमवलम्बते, वाच्यस्यैव स्मरणस्य प्राधान्येन चारुत्वहेतुत्वात्। 'जाने' इत्यनेनोत्प्रेक्ष्यमाणानन्तधर्मव्यञ्जकेनापि वाच्यमेवोत्प्रेक्षणरूपं प्रधानीक्रियते। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि चत्वारो भेदा उदाहृताः।

(अनु०) इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य के संकर के तीन भेदों के उदाहरण देकर संसृष्टि का उदाहरण देते हैं—'जहाँ जो पद' इत्यादि। 'कुछ' इससे संकर के अवकाश का निराकरण करते हैं। 'सुहृत्' शब्द और 'साक्षि' शब्द अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। 'ते' इस पद के द्वारा यद्यपि असाधारण गुणगणों की अभिव्यक्ति होती है तथापि (वह गुणगण) गौणरूपता को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि यहाँ पर वाच्यस्मरण ही प्रधानरूप में चारुता में हेतु है। 'जाने' इस शब्द के उत्प्रेक्षा किये जानेवाले अनन्तधर्म के व्यञ्जक होने पर भी उत्प्रेक्षा वाच्य ही प्रधान बना दिया जाता है। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य में भी चारों भेदों के उदाहरण दिये गये।

गुणीभूतव्यङ्ग्य से संसृष्टि

तारावती—ऊपर गुणीभूतव्यङ्ग्य के सांकर्य के तीनों प्रकारों को उदाहरणों के के द्वारा समझाया गया। अब गुणीभूतव्यंग्य की संसृष्टि पर विचार किया जा रहा है। गुणीभूतव्यंग्य तथा ध्वनिभेदों की संसृष्टि वहाँ पर होती है जहाँ कुछ पद अविवक्षितवाच्य-परक हों और उनसे भिन्न कुछ दूसरे पद अनुरणनरूप व्यंग्यपरक हों तथा उनमें कुछ तो प्रधान होकर ध्वनि का रूप धारण करते हैं और दूसरे गुणीभूतव्यंग्य का। कुछ पद इस प्रकार के हों और कुछ उस प्रकार के यह कहने का अभिप्राय यह है कि ध्वनिरूपता में परिणत होने वाली व्यञ्जना और गुणीभूतव्यंग्य का रूप धारण करनेवाली व्यञ्जना पृथक्-पृथक् शब्दों से प्रतीत होने चाहिये। यदि व्यञ्जक शब्दों का पार्थक्य नहीं होगा तो एक ही शब्द से उद्भूत होकर दो पृथक् व्यञ्जनायें संकर का रूप धारण कर लेंगी संसृष्टि का उदाहरण नहीं बन पायेंगी। इसी मन्तव्य से 'कुछ' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'कुछ शब्दों' में 'कुछ' शब्द के प्रयोग से ध्वनि की सम्भावना का निराकरण हो जाता है। उदाहरण के लिये 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इस पद्य को लीजिये। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय उद्योत की ५ वीं कारिका में की जा चुकी है। वहाँ पर 'लतावेश्म' को गोपवधुओं के विलास का 'मित्र' तथा 'राधा के एकान्त विहार का साक्षी' कहा गया है। मित्रता करना या साक्ष्य देना यह चेतन धर्म ही है, लतावेश्म जैसे जड़ तत्त्व से न तो मित्रता की ही सम्भावना की जा सकती है और न साक्ष्य ही का कार्य उनसे सम्पन्न हो सकता है। अतः सुहृद् और साक्षी शब्द बाधित हैं तथा उनसे लक्ष्यार्थ निकलता है कि उन लताओं में गोपियों के विलास और राधा की एकान्त प्रणय लीला चला करती थी। इनसे प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि उनमें पर्याप्त मात्रा में स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त विहार हुआ है, इसी व्यंग्यार्थ की प्रधानता है। अतः यहाँ पर अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। इसके साथ ही 'ते' 'वे' शब्द से व्यक्त होता है कि उनमें असाधारण गुणसमूह विद्यमान है। यह अभिव्यक्त असाधारण गुण-समूह गौण ही है क्योंकि इन अभिव्यक्त गुणगणों से युक्त 'ते' शब्द ही चारुता में हेतु है और वही स्मरण का बोधक है। इस प्रकार 'जाने' 'ज्ञात होता है' वह शब्द उत्प्रेक्षा या कल्पना का वाचक है। इससे अनेक उत्प्रेक्ष्य धर्मों की व्यञ्जना होती है। उन व्यंग्य उत्प्रेक्ष्य धर्मों से उपस्कृत होकर 'जाने' की उत्प्रेक्षा ही चमत्कार में कारण होती है। इस प्रकार 'ते' और 'जाने' शब्दों में व्यंग्योपस्कृत वाच्य ही चमत्कार में कारण है। अत एव इन शब्दों में गुणी-भूतव्यंग्य है। 'सुहृदां' और 'साक्षिणाम्' शब्दों में अविवक्षितवाच्य ध्वनि सिद्ध की जा चुकी है। इस ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के व्यञ्जक पृथक्-पृथक् हैं। अत एव यहाँ इन दोनों की संसृष्टि है। इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य में भी तीन प्रकार का सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि ये चार भेद बतलाये जा चुके और उनके उदाहरण दे दिये गये।

(ध्वन्या०) **वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यापेक्षया रसवति सालङ्कारे काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम्।**

(अनु०) वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्व अलक्ष्यक्रमव्यंग्य की दृष्टि से रसवान् तथा सालङ्कार काव्य में सर्वत्र सुव्यवस्थित है।

(लो०) अधुनालङ्कारगतांस्तान् दर्शयति-**वाच्यालङ्कारेति**। व्यङ्ग्यत्वे त्वलङ्काराणामुक्तभेदाष्टक एवान्तर्भाव इति वाच्यशब्दस्याशयः। **'काव्य' इति**। एवं विधमेव हि काव्यं भवति। **'सुव्यवस्थित'मिति**। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इति द्वितीयोद्योतमूलोदाहरणेभ्यः सङ्करत्रयं संसृष्टिश्च लभ्यत एव। 'चलापाङ्गां दृष्टिम्' इत्यत्र हि रूपकव्यतिरेकस्य प्राग्व्याख्यातस्य शृङ्गारानुग्राहकत्वं स्वभावोक्तेः शृङ्गारस्य चैकानुप्रवेशः। 'उप्पहजाया' इतिगाथायां पामरस्वभावोक्तिर्वा ध्वनिर्वेति प्रकरणाद्यभावे एकतरग्राहकं प्रमाणं नास्ति।

(अनु०) अब अलंकारगत उन (भेदों) को दिखलाते हैं—'वाच्यालंकार' यह। वाच्य शब्द का आशय यह है कि व्यंग्यत्व में तो अलंकारों का उक्त ८ भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। 'काव्य' यह। निस्सन्देह इस प्रकार का ही काव्य होता है। 'सुव्यवस्थित' यह। विवक्षा तत्परत्वेन' इस द्वितीयोद्योत के मूल के उदाहरणों से तीन प्रकार का संकर और संसृष्टि ये प्राप्त हो जाते हैं। 'चलापांगां दृष्टि' यहाँ पर रूपक और व्यतिरेक जिनकी पहले व्याख्या की जा चुकी है शृंगाररस के अनुग्राहक हैं, स्वाभावोक्ति और शृंगार का एक में अनुप्रवेश है। 'उप्पह जाया' इस गाथा में पामर स्वभावोक्ति है या ध्वनि है ? इनमें एक को ग्रहण करनेवाला प्रमाण प्रकरण इत्यादि के अभाव में है ही नहीं।

अलंकारों से सांकर्य और संसृष्टि

तारावती—अब अलंकारों के सांकर्य और संसृष्टि का प्रश्न सामने आता है। अलंकार मूलतः दो प्रकार के होते हैं—एक तो व्यंग्य अलंकार और दूसरे वाच्य अलंकार। व्यंग्य अलंकार के सांकर्य और संसृष्टि का अन्तर्भाव तो उक्त ८ भेदों में ही हो जाता है जो कि ध्वनि के ४ और गुणीभूत व्यंग्य के ४ भेद अभी तक बतलाये गये हैं। अब वाच्यालंकारों का प्रश्न शेष रह जाता है। जहाँ कहीं रसमयी रचना होती है और उसमें अलंकारों का भी प्रयोग किया जाता है वहाँ सर्वत्र असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य की दृष्टि से वाच्यालंकार और ध्वनि का सांकर्य तो सुव्यवस्थित रूप में अधिगत हो ही जाता है। यदि सच पूछा जाय तो ठीक रूप में काव्य की संज्ञा उसे ही प्राप्त हो सकती है जिसकी रचना का उद्देश्य रसनिष्पत्ति हो और उसमें रसप्रवण अलंकारों का चमत्कारों की दृष्टि से प्रयोग किया गया हो। द्वितीय उद्योत में बहुत विस्तार के साथ दिखलाया जा चुका है कि समीक्षा पूर्वक सन्निविष्ट किये हुये अलंकार ही रसपोषक होते हैं। वहाँ यह भी बतलाया जा चुका है कि रस के उद्देश्य से अलंकारों के निबन्धन में किस प्रकार की समीक्षा से काम लेना चाहिये। वहाँ पर 'विवक्षा-तत्परत्वेन' इत्यादि कारिकाओं की व्याख्या के अवसर पर जो उदाहरण दिये गये थे उन्हीं में वाच्यालंकार और रसध्वनि भेद के सांकर्य के उदाहरण भी सन्निविष्ट हैं और उन्हीं में रसध्वनि तथा वाच्यालंकार की संसृष्टि भी मिल जाती है। जैसे 'चलापांगां दृष्टिम्' इस

उदाहरण को लीजिये। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय उद्योत की १९ वीं कारिका में की जा चुकी है। वहाँ यह भी बतलाया गया था कि इसमें मतान्तर से रूपक से युक्त व्यतिरेक भी है। वह रूपकव्यतिरेक शृंगाररस का अनुग्राहक है। अतः रूपक व्यतिरेक और शृंगार ध्वनि का वहाँ पर अनुग्राह्यानुग्राहक भाव संकर है। उस पद्य में प्रमुख रूप में स्वभावोक्ति अलंकार है। अतः स्वभावोक्ति और शृंगार रस का एकाश्रयानुप्रवेश संकर है। एक दूसरी गाथा है 'उप्पह जाआए' इसकी व्याख्या तृतीय उद्योत की ४० वीं कारिका में की जा चुकी है। वहाँ यदि प्रकरण का ज्ञान न हो तो यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वहाँ पर पामरों के स्वभाव का कथन किया गया है या रसध्वनि है। क्योंकि गाथा से दोनों बातें सिद्ध होती हैं। इस प्रकार इस गाथा में रसध्वनि और वाच्यालंकार का सन्देहसंकर है।

(ध्वन्या०) **प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वं भवत्येव। यथा ममैव—**

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥

इत्यत्र विरोधालङ्काराणामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम्।

(अनु०) दूसरे प्रभेदों का भी कदाचित् संकीर्णत्व होता ही है। जैसे मेरा ही—

'हे समुद्रशायी भगवन्! जो रसों को आस्वादमय बनाने के लिये व्यापारवाली कवियों की कोई नवीन दृष्टि और जो परिनिष्ठित अर्थविषय का उन्मेष करनेवाली विद्वानों की दृष्टि उन दोनों का अवलम्ब लेकर निरन्तर विश्व का वर्णन करते हुए हम शान्त हो गये; किन्तु तुम्हारी भक्ति के समान सुख प्राप्त नहीं हुआ।'

यहाँ पर विरोधालंकारों का अर्थान्तर संक्रमितवाच्य नामक ध्वनि प्रभेद से संकीर्णत्व है।

(लो०) यद्यप्यलङ्कारो रसमवश्यमनुगृह्णाति, तथापि 'नातिनिर्वहणैषिता' इतियदभिप्रायेणोक्तं तत्र सङ्करासम्भवात् संसृष्टिरेवालङ्कारेण रसध्वनेः। यथा 'बाहुलतिकापाशेन वद्ध्वा दृढम्' इत्यत्र। **प्रभेदान्तराणामपीति।** रसादिध्वनिव्यतिरिक्तानाम्। **व्यापारवतीति।** निष्पादनप्राणो हि रस इत्युक्तम्। तत्र विभावादियोजनात्मिका वर्णना, ततः प्रभृति घटनापर्यन्ता क्रिया व्यापारः, तेन सततयुक्ता। **रसानिति।** रस्यमानतासारान् स्थायिभावान् रसयितुं रस्यमानतापत्तियोग्यवान् कर्तुम्। **काचिदिति।** लोकवार्तापतितबोधावस्थात्यागेनोन्मीलन्ती। अत एव ते कवयः वर्णनायोगात् तेषाम्। **न वेति।** क्षणे क्षणे नूतनैर्नूतनैर्वैचित्र्यैर्जगन्त्यासूत्रयन्ती। **दृष्टिरिति।** प्रतिभारूपा, तत्र दृष्टिश्चाक्षुषं ज्ञानं षाडवादि रसयतीति विरोधालङ्कारोऽत एव न वा। तदनुगृहीतश्च ध्वनिः, तथाहि चाक्षुषं ज्ञानं नाविवक्षितमत्यन्तमसम्भवा-

भावात्। न चान्यपरम्, अपि त्वर्थान्तरे ऐन्द्रियकविज्ञानाभ्यासोल्लसिते प्रतिभानलक्षणेऽर्थे सङ्क्रान्तम्। सङ्क्रमणे च विरोधोऽनुग्राहक एव। तद्वक्ष्यति—'विरोधालङ्कारेण' इत्यादिना। या चैवंविधा दृष्टिः परिनिष्ठितोऽचलः अर्थविषये निश्चेतव्ये उन्मेषो यस्याः। तथा परिनिष्ठिते लोकप्रसिद्धेऽर्थे न तु कविवदपूर्वस्मिन्नर्थे उन्मेषो यस्याः सा। विपश्चितामियं, वैपश्चिती। ते अवलम्ब्येति कवीनामिति वैपश्चितीतिवचनेन नाहं कविर्न पण्डित इत्यात्मनो, नौद्धत्यं ध्वन्यते। अनात्मीयमपि दरिद्रगृह इवोपकरणतयाऽन्यत आहृतमेतन्मया दृष्टिद्वयमित्यर्थः। **ते द्वे अपीति**। न ह्येकया दृष्ट्या सम्यङ् निर्वर्णनं निर्वहति। विश्वमित्यशेषम्। **अनिशमिति**। पुनः पुनरनवरतम्। निर्वर्णयन्तो वर्णनया तथा निश्चितार्थं वर्णयन्तः इदमित्थमिति परामर्शानुमानादिना निर्भज्य निर्वर्णनं किमत्र सारं स्यादिति तिलशस्तिलशो विचयनम्।

यच्च निर्वर्ण्यते तत्खलु मध्ये व्यापार्यमाणया मध्ये चार्थविशेषेषु निश्चितोन्मेषया निश्चलया दृष्ट्या सम्यङ्निर्वर्णितं भवति। **वयमिति**। मिथ्यातत्त्वदृष्ट्या हरणव्यसनिन इत्यर्थः। **श्रान्ता इति**। न केवलं सारं न लब्धं यावत्प्रत्युत खेदः प्राप्त इतिभावः। च शब्दस्तुशब्दस्यार्थे। **अब्धिशयनेति**। योगनिद्रया त्वमत एव सारस्वरूपवेदी स्वरूपावस्थित इत्यर्थः। श्रान्तस्य शयनस्थितं प्रति बहुमानो भवति। **त्वद्भक्तीति**। त्वमेव परमात्मस्वरूपो विश्वसारस्तस्य भक्तिः श्रद्धादिपूर्वक उपासना क्रमजस्तदावेशस्तेन तुल्यमपि न लब्धमास्तां तावत्तज्जातीयम्।

एवं प्रथममेव परमेश्वरभक्तिभाजः कुतूहलमात्रावलम्बितकविप्रामाणिकोभयवृत्तेः पुनरपि परमेश्वरभक्तिविश्रान्तिरेव युक्तेति मन्वानस्येयमुक्तिः सकलप्रमाणपरिनिश्चितदृष्टादृष्टविषयविशेषजं यत्सुखं, यदपि च लोकोत्तरं रसचर्वणात्मकं तत उभयतोऽपि परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते। तदानन्दविप्रुण्मात्रावभासो हि रसास्वाद इत्युक्तं प्रागस्माभिः। लौकिकं तु सुखं ततोऽपि निकृष्टप्रायं बहुतरदुःखानुषङ्गादितितात्पर्यम्। तत्रैव दृष्टिशब्दापेक्षयैकपदानुप्रवेशः दृष्टिमवलम्ब्य निर्वर्णनमितिविरोधालङ्कारो वाश्रीयताम्, अन्धपदन्यायेन दृष्टिशब्दोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो वास्तु इत्येकतरनिश्चये नास्ति प्रमाणम्। प्रकारद्वयेनापि हृद्यत्वात्। न च पूर्वत्राप्येवं वाच्यम्। न वा शब्देन शब्दशक्त्यनुरणनतया विरोधस्य सर्वथावलम्बनात्।

(अनु०) यद्यपि अलंकार रस को अवश्य अनुगृहीत करते हैं तथापि 'अत्यन्त निर्वहण की इच्छा नहीं होनी चाहिये' यह जिस अभिप्राय से कहा गया है उसमें संकर असम्भव होने से रसध्वनि की अलंकार के साथ संसृष्टि ही होती है। जैसे 'बाहुलतिकापाश से दृढ़तापूर्वक बांधकर' इसमें। 'दूसरे प्रभेदों का भी' यह। रस इत्यादि की ध्वनि से व्यतिरिक्त। 'व्यापारवाली' यह। यह कहा गया है कि रस का प्राण निस्सन्देह निष्पादन है। उसमें विभाव इत्यादि योजनात्मक वर्णना होती है। वहाँ से लेकर घटनापर्यन्त जो क्रिया होती है उसे व्यापार कहते हैं उससे निरन्तर युक्त। 'रसों को' यह। रस्यमानता या आस्वादन करना ही जिनका सार है इस प्रकार के स्थायिभावों को रसित करने के लिये अर्थात् रस्यमानता की

प्राप्ति के योग्य बनाने के लिये। 'कोई' यह। लोकवार्ता में आये हुए बोध की अवस्था के त्याग के द्वारा उन्मीलित होनेवाली। अत एव वे कवि होते हैं क्योंकि उनका वर्णना से योग होता है। 'नई' यह। क्षण क्षण में नई नई विचित्रताओं से जगत् को प्रकाशित तथा गुम्फित करती हुई। 'दृष्टि' यह। अर्थात् प्रतिभारूप। उसमें दृष्टि अर्थात् चाक्षुष ज्ञान षाडव इत्यादि को रसित करती है यह विरोधालंकार है इसीलिये नई है। और ध्वनि उससे अनुगृहीत भी होती है, वह इस प्रकार—चाक्षुष ज्ञान अविवक्षित नहीं है क्योंकि उसमें अत्यन्त असम्भव होने का अभाव है। अन्यपरक भी नहीं है, अपितु ऐन्द्रियिक विज्ञान के अभ्यास से उल्लसित प्रतिभान रूप अर्थ में संक्रान्त हो जाता है। और संक्रमण में विरोध अनुग्राहक ही होता है। वह कहेंगे—'विरोधालंकार' इत्यादि के द्वारा। और जो इस प्रकार की दृष्टि है कि जिसका उन्मेष अर्थविषय में अर्थात् निश्चेतव्य विषय में परिनिष्ठित अर्थात् अचल है उसी प्रकार परिनिष्ठित अर्थात् लोकप्रसिद्ध अर्थ में कवि के समान अपूर्व अर्थ में नहीं जिसका उन्मेष है। विपश्चितों अर्थात् विद्वानों की यह (दृष्टि) वैपश्चिती कहलाती है। 'उन दोनों का सहारा लेकर' यह। 'कवियों की और विद्वानों की' इस कथन से 'न मैं कवि हूँ न विद्वान् हूँ' इस प्रकार अपना अनौद्धत्य ध्वनित किया जाता है। अर्थात् अपना न होते हुए भी दरिद्र गृह में उपकरण के रूप में दूसरे स्थान से यह दो दृष्टियाँ मैं लाया हूँ। 'उन दोनों को भी यहाँ केवल एक के द्वारा ठीक निर्वर्णन का निर्वाह नहीं होता है। विश्व का अर्थ है सम्पूर्ण। 'निरन्तर' यह। बार-बार निरन्तर। निर्वर्णन करते हुए अर्थात् वर्णना के द्वारा तथा निश्चित अर्थ का वर्णन करते हुए 'यह इस प्रकार है' यह परामर्श और अनुमान इत्यादि के द्वारा विभक्त करके निर्वचन करना, यहाँ क्या सार होगा ? यह तिल-तिल करके चयन करना।

और जिसका निर्वर्णन किया जाता है वह निस्सन्देह मध्य में व्यापारित की जानेवाली और मध्य में अर्थविशेषों में निश्चित उन्मेषवाली निश्चल दृष्टि से ठीक रूप में निर्वर्णित हो जाता है। 'हम' यह। अर्थात् मिथ्या और तत्त्व दृष्टि से आहरण का व्यसन रखनेवाले। 'श्रान्त' यह। भाव यह है न केवल सार ही प्राप्त नहीं कर पाया प्रत्युत खेद भी प्राप्त किया। यहाँ पर 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। 'अब्धिशयन' यह। अर्थात् इसलिये योगनिद्रा से तुम सारस्वरूप को जाननेवाले और अपने स्वरूप में ही स्थित हो। थके हुये का सोये हुए के प्रति बहुमान होता है। 'तुम्हारी भक्ति' यह। तुम्हीं परमात्मस्वरूप विश्वसार हो उसकी श्रद्धापूर्वक उपासना इत्यादि के क्रम से उत्पन्न जो भक्ति उसके जो आवेश उसके तुल्य भी प्राप्त नहीं किया तज्जातीय की तो बात दूर रही।

इस प्रकार पहले ही परमेश्वर की भक्ति से युक्त तथा कुतूहल मात्र से कवि तथा प्रामाणिक दोनों की वृत्ति का अवलम्ब लेनेवाले फिर भी परमेश्वर को भक्ति में विश्रान्ति ही उचित है ऐसा माननेवाले की यह उक्ति है। समस्त प्रमाणों से परिनिश्चित दृष्ट और अदृष्ट विषय की विशेषता से उत्पन्न जो रसचर्वणात्मक लोकोत्तर सुख उन दोनों से परमेश्वर-विश्रान्ति का आनन्द प्रकृष्ट हो जाता है हमने यह पहले ही कहा था कि उस आनन्द के विन्दुमात्र का अवभास ही रसास्वाद है। लौकिक सुख तो उससे भी निकृष्टप्राय है क्योंकि

उसमें बहुत से दुःखों का अनुषङ्ग हो जाता है यह तात्पर्य है। वहीं पर दृष्टि शब्द की अपेक्षा से एकपदानुप्रवेश हो जाता है। अथवा दृष्टि का आश्रय लेकर निर्वर्णन करने में विरोधा-लंकार का आश्रय ले लिया जाय। अथवा अन्धशब्दन्याय से दृष्टिशब्द अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य हो जाय इसमें एक के निश्चय में प्रमाण नहीं है क्योंकि दोनों प्रकारों से हृद्यता आ जाती है। यह नहीं कहा जा सकता कि पहले भी ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर नवा शब्दशक्तिमूलक अनुरणन होने के कारण वहाँ विरोध का सर्वथा आलम्बन लिया जाता है।

तारावती—ऊपर वाच्यालंकार और रसध्वनि के तीनों प्रकार के संकर को व्याख्या की जा चुकी है। अब रसध्वनि और अलंकार की संसृष्टि पर विचार करना है। वस्तुतः जितने भी अलंकार होते हैं वे रस को अवश्य ही अनुगृहीत करते हैं तथापि कुछ अलंकार ऐसे अवश्य होते हैं जिनके निर्बन्धन में कवि का मन्तव्य अलंकार निर्बन्धन ही होता है। इसीलिये तो रसपोषक अलंकारों का उपदेश देते हुए आचार्य ने कहा है कि 'अलंकार की योजना करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिस अलंकार की योजना में कवि का ध्यान अलंकार के निर्वहण को ओर होता है वह अलंकार रसपोषक नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि कुछ अलंकार ऐसे भी होते हैं जो रसध्वनि को पुष्ट नहीं करते। ऐसे अलंकारों का रसध्वनि से संकर हो ही नहीं सकता। अत एव उनकी रसध्वनि ही होगी। जैसे उसी प्रकरण में 'नातिनिर्वहणैषिता' का उदाहरण दिया गया था—'कोपात्कोमललोल-बाहुलिकापाशेन बद्ध्वा दृढम्' इत्यादि। यह बतलाया गया था कि यदि 'बाहुलतिकापाशेन' इस रूपक का निर्वाह किया जाय तो नायिका पर व्याधवधू का आरोप करना होगा। इस प्रकार का रूपक रस का पोषक नहीं होगा अपितु उसकी रसध्वनि से संसृष्टि ही होगी। इस प्रकार वाच्यालंकार की रसध्वनि से संसृष्टि और संकर के तीन भेद, इन चारों भेदों की व्याख्या की गई।

जिस प्रकार वाच्यालंकार की संसृष्टि और संकर रसध्वनि के साथ होते हैं उसी प्रकार अन्य भेदों के साथ भी उनका सांकर्य हो सकता है। उदाहरण के लिये आनन्दवर्धन का ही पद्य लीजिये—इसका भाव यह है कि 'एक तो हम कवियों की किसी नवीन दृष्टि का आश्रय लेकर विश्व का निर्वर्णन करते रहे जो दृष्टि निरन्तर रसों को आस्वादमय बनाने के लिये व्यापारमयी रहती है, दूसरे हमारी दृष्टि प्रामाणिकों की दृष्टि का आश्रय लेकर निश्चित वस्तुओं के प्रकथन में दृढ़ता से जमी रही। इन दोनों दृष्टियों का अवलम्बन लेकर हमने निरन्तर ही विश्व का निर्वर्णन किया और इस कार्य में हम श्रान्त हो गये किन्तु हे क्षीरसागरशायी भगवन्! हम आप की भक्ति के समान सुख कहीं भी प्राप्त नहीं कर पाये।

अब इस पद्य के शब्दों के प्रयोग पर विचार कीजिये—इसमें कवियों की दृष्टि को व्यापारवाली कहा गया है और इस व्यापार का उद्देश्य बतलाया गया है रसों को आस्वाद-

योग्य बनाना। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि रसों का प्राण होता है निष्पादन या निष्पत्ति। यह निष्पत्ति इसी प्रकार होती है कि पहले उसमें विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव इस रस सामग्री की संयोजना की जाती है और उस संयोजना को ही वर्णन का विषय बनाया जाता है। फिर उस वर्णन के लिये उचित शब्द और अर्थ की सङ्घटना की जाती है। इस प्रकार सङ्घटित हुए शब्द अर्थ के माध्यम से जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव से सम्वलित रसों को समर्पित किया जाता है तब ठीक रूप में रसनिष्पत्ति हो पाती है। इस रस-निष्पादन की क्रिया में कवि वाणी निरन्तर ही प्रवृत्त रहती है। यहाँ पर रस शब्द का अर्थ है स्थायीभाव। क्योंकि स्थायीभाव का सार ही उनमें रसनीयता उत्पन्न करता है। रति इत्यादि भाव जब विभावादिरहित होते हैं तब उन्हें स्थायीभाव कहते हैं और जब उनमें विभावादि के योग से आस्वादनीयता उत्पन्न हो जाती है तब उसे रस कहने लगते हैं। स्थायीभाव को आस्वादयोग्य बनाने में कवि की वाणी निरन्तर क्रियाशील रहती है। यही 'व्यापारवती' इस विशेषण का आशय है। 'कोई' 'काचित्' यह दृष्टि का दूसरा विशेषण है। इसका आशय यह है कि यह दृष्टि अभूतपूर्व तथा आश्चर्यजनक है। यह वही दृष्टि नहीं है जो कि लौकिक वस्तुओं को देखने के काम में लाई जाती है। लोक में दृष्टि के अन्दर जो वस्तु आ पड़ती है उसका बोध हो जाता है, किन्तु कवि की दृष्टि लोकवार्ता में आ पड़नेवाली बोध की व्याख्या को पीछे छोड़कर नवीन रूप में उन्मीलित होती है और उसी दृष्टि का आश्रय लेकर कवि लोग विश्व का वर्णन करते हैं। कवि शब्द का भी यही अर्थ है। 'कवि' शब्द 'कवृ वर्णे' इस धातु से निष्पन्न हुआ है तथा इसका आशय है 'लोकोत्तर रूप में वर्णन करनेवाला'। यह दृष्टि का तीसरा विशेषण है 'नई' 'नवा'। इसका आशय यह है कि कवि की दृष्टि प्रत्येक क्षण पर विश्व को नये रूप में देखती और प्रकाशित करती है। कवि अपनी दृष्टि से प्रतिक्षण नई-नई विचित्रताओं का आशय लेकर लोक-लोकोत्तर तत्त्व का जिस रूप में गुम्फन करता है वह सर्वथा अद्वितीय तथा लोकातिक्रान्त रूप में अवस्थित होता है। दृष्टि का आशय है प्रतिभा। कवि की दृष्टि प्रतिभारूपिणी ही होती है जिससे वह नई कल्पना करके विश्व को नये रूप में ही दिखलाने की चेष्टा करता है। 'कवि की दृष्टि रसों को आस्वादमय बनाने में सर्वदा क्रियाशील रहती है' इस कथन में विरोधाभास अलंकार है। दृष्टि तो चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण ही है। वह सरसता सम्पादन का कार्य कर ही नहीं सकती। सरस बनाने का अर्थ तो यह है कि षाडव इत्यादि पेय अथवा दूसरे प्रकार के लेह्य चोष्य भोज्य इत्यादि पदार्थ बनाये जावें उनमें चीनी कपूर इत्यादि डालकर उनको सरस बना देना ही सरसतासम्पादन कहा जाता है। यह कार्य दृष्टि का हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ पर विरोध है। किन्तु जब दृष्टि का अर्थ कविप्रतिभा ले लिया जाता है और उससे लौकिक पदार्थों में रस का संचार कर कविता का रूप प्रदान करने का अर्थ किया जाता है तब विरोध जाता रहता है। अतः यह विरोधाभास अलंकार है। इसी प्रकार यहाँ ध्वनि की भी व्याख्या की जा सकती है। यहाँ पर 'दृष्टि को देखकर वर्णन करने' में दृष्टि का अर्थ सर्वथा बाधित नहीं है। क्योंकि कवि को भी तो लौकिक पदार्थों का चाक्षुष साक्षात् करके

ही अपनी कल्पना की भित्ति करनी पड़ती है। इसप्रकार दृष्टि को हम अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य नहीं कह सकते। कारण यह है कि यह शब्द सर्वथा अपने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ का ही बोधक नहीं हो जाता। किन्तु यहाँ पर अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि हो जाती है। क्योंकि इस शब्द का यहाँ पर अर्थ हो जाता है ऐसी कविप्रतिभा जिसमें लौकिक विभिन्न वस्तुओं का ऐन्द्रिय विज्ञान भी सन्निविष्ट हो और उस ऐन्द्रिय ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करने के कारण प्रतिभा में एक चमक आ गई हो। इस प्रकार दृष्टि का अर्थ यहाँ पर अत्यन्त-तिरस्कृत न होकर अर्थान्तरसंक्रमित हो जाता है और इस प्रकार यहाँ पर अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य ध्वनि हो जाती है। इस अर्थान्तरसंक्रमण में सहयोग और सहायता उक्त विरोधालंकार से भी मिलती है। अतः विरोधालंकार और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का यहाँ पर अनुग्राह्यानुग्राहकभाव संकर है। यही बात मूल में आनन्दवर्धन ने कही है। यह तो हो गई एक प्रकार को दृष्टि की बात जिसके द्वारा कवि नई-नई उद्भावनायें और कल्पनायें करके विश्व को नवीन रूप में ही प्रदर्शित करता है। अब दूसरे प्रकार की दृष्टि को लीजिये। यह दृष्टि विद्वानों की दृष्टि होती है। इसमें नवीन कल्पनाओं का अवसर नहीं होता और न नये विश्व की उद्भावना ही की जाती है, किन्तु विश्व जिस प्रकार का है उसका ठीक रूप में वैसा ही उद्घाटन किया जाता है। वस्तुतः संसार रहस्यों से भरा हुआ है। यह एक जादू की पिटारी है। इसको खोलना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं। यह तो वस्तुतः विद्वानों के ही समझने और निरूपित करने की वस्तु है। अतः विद्वान् लोग जिस दृष्टि का सहारा लेकर विश्व के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं वह दूसरे प्रकार की दृष्टि होती है। यहाँ पर इस दृष्टि के लिये विशेषण दिया गया है—'परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा' इसमें बहुव्रीहि समास है और इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है—एक के अनुसार परिनिष्ठित शब्द अर्थ-विषय का विशेषण होगा। प्रथम व्युत्पत्ति यह होगी—अर्थ विषय अर्थात् निश्चेतव्य विषय का उन्मेष अर्थात् निरूपण जिसका परिनिष्ठित है अर्थात् जिसका निरूपण सर्वदा निश्चित और एकरूप ही रहता है कवियों के समान नवनवोन्मेषशाली नहीं होता। दूसरी व्युत्पत्ति यह होगी—जिसका निरूपण परिनिष्ठित अर्थविषयक ही होता है अर्थात् जो दृष्टि कल्पित संसार का निरूपण नहीं किया करती अपितु दृश्यमान जगत् जिस प्रकार का है उसी प्रकार का उसका वर्णन किया करती है। 'इन दोनों दृष्टियों का सहारा लेकर' कहने का आशय यह है कि एक दृष्टि तो कवियों की है और दूसरी विद्वानों की। हमारी दृष्टि इनमें कोई नहीं। न मैं कवि हूँ न विद्वान्। किन्तु जैसे दरिद्र के घर में अपना कुछ भी नहीं होता; वह अवसर पड़नेपर इधर-उधर से कुछ वस्तुओं को मांगकर अपना घर सजा लेता है। उसी प्रकार कवियों और विद्वानों दोनों की दृष्टियों में मेरी कोई अपनी दृष्टि नहीं है। मैं तो इधर-उधर से कुछ ले-लिवाकर विश्व का वर्णन करने लगा हूँ। इस कथन से अपने औद्धत्य का निराकरण हो जाता है। यहाँ पर जगत् के लिये विश्व शब्द का प्रयोग किया गया है। विश्व शब्द का एक अर्थ और है—समस्त, इस प्रकार इसका आशय यह है कि हम निरन्तर ही बार-बार समस्त विश्व का वर्णन करने में लगे रहते हैं। समस्त विश्व का पूर्ण रूप से वर्णन न तो केवल काल्पनिक दृष्टि से सम्भव है और न केवल पारमार्थिक दृष्टि से। अतः हम समस्त विश्व का वर्णन दोनों दृष्टियों

का आश्रय लेकर किया करते हैं। हम इस विश्व का निर्वर्णन अर्थात् निश्शेष रूप में वर्णन किया करते हैं। निर्वर्णन में दोनों दृष्टियों की आवश्यकता होती है एक तो कविकृत वर्णना की क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि कवि शब्द की निष्पत्ति ही वर्णनार्थक 'कवृ' धातु से होती है। दूसरी दृष्टि है विद्वानों की। इस अर्थ में निर्वर्णन का अर्थ होगा निश्चितार्थ का वर्णन। यहाँ 'निः' उपसर्ग का अर्थ है निश्चित। आशय यह है कि हम कविवर्णना के अतिरिक्त निश्चितार्थ का भी वर्णन करते हैं जिसमें व्याप्तिग्रह, लिङ्गपरामर्श इत्यादि अनुमान की सारी प्रक्रिया सन्निविष्ट रहती है और हम प्रत्येक वस्तु के विभिन्न तत्त्वों को पृथक् पृथक् करके समझाते हैं कि अमुक वस्तु के बनानेवाले विभिन्न पदार्थ कौन-कौन से हैं। हम यह भी दिखलाते हैं कि किसी वस्तु का सार क्या है और उसको तिलतिल करके पृथक् पृथक् कर उनको सङ्कलित करके समझाते हैं। (आशय यह है कि एक ओर तो हम तर्क का आश्रय लेकर वस्तुतत्त्व की वास्तविकता का निर्वचन किया करते हैं और दूसरी ओर वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेकर हम किसी पदार्थ के सार, उसके पृथक् पृथक् निर्मापक तत्त्व और उन तत्त्वों से किसी वस्तु के निर्माण की प्रक्रिया को समझाया करते हैं। यह सब वैपश्चिती बुद्धि की ही क्रिया है।) जिस वस्तु का ठीक रूप में वर्णन करना हो उसके प्रकथन करने में बीच-बीच में स्थायीभावों की रसनात्मकता के सम्पादक के व्यापार से उसमें भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और उसी बीच में विशेष अर्थों का निश्चित उन्मेष किया जाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु का ठीक-ठीक निर्वचन हो सकता है। 'हम' 'वयम्' इस कर्ताकारक से व्यक्त होता है कि हमारा यह व्यसन ही है कि कभी मिथ्या (काल्पनिक) दृष्टि से और कभी तत्त्व दृष्टि से इधर-उधर का कुछ खींच-खांच कर विश्व का वर्णन करते रहें। किन्तु इस व्यसन से हमें लाभ क्या हुआ? विवेचन करते-करते थक गये कि हमें इस विश्व का सार प्राप्त हो न हो सका। केवल इतना ही नहीं कि हमें इसका सार नहीं मिला; अपितु हमारी बहुत बड़ी हानि यह हुई कि हमें अत्यधिक कष्टों का सामना करना पड़ा। हे भगवान् आप क्षीरसागर में सोनेवाले हैं और हम थके हुये हैं। जो व्यक्ति थक जाता है वह ऐसे व्यक्ति का ही तो सम्मान करता है जो सो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर हे अब्धिशयन! यह सम्बोधन साभिप्राय है। इस सम्बोधन का दूसरा प्रयोजन यह है कि हम प्रत्येक प्रकार से विश्व का सार ग्रहण करना चाहते हैं; किन्तु हमें कहीं सार के दर्शन होते ही नहीं। किन्तु उस सार का आकर तो हे भगवान् आप ही हैं। आपका यह शयन योगनिद्रा का परिचायक है। योगमाया का आश्रय लेकर आप शयन करते हैं और योगमाया के आश्रय से ही एकमात्र आप ही संसार के सार को भलीभाँति जानते हैं तथा अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। केवल आप ही परमात्मस्वरूप हैं; विश्व का सार हैं। आपकी उपासना जब श्रद्धापूर्वक की जाती है तब उसी क्रम से हमारे अन्दर भक्ति उत्पन्न हो जाती है और भगवद्विषयक प्रेमाधिक्य जब हमारे अन्तःकरणों में सञ्चरित हो जाता है तथा हमारे अन्तःकरण की वृत्तियाँ जब भगवदाकार रूप में ही परिणत हो जाती हैं उस समय हमें जितना सुख प्राप्त होता है उस सुख के तुल्य भी सुख हमें समस्त विश्व के निर्वचन में प्राप्त नहीं होता; यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि हमें

तज्जातीय सुख विश्व में नहीं मिलता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सिद्ध होता है कि यह कथन किसी ऐसे व्यक्ति का है जो पहले से ही परब्रह्म परमात्मा की भक्ति से ओतप्रोत रहा है; वह कवि भी बना है और प्रामाणिक भी। किन्तु ये दोनों वृत्तियाँ उसने केवल अपनी कौतूहलवृत्ति शान्त करने के लिये ही स्वीकार की है। सब कुछ कर चुकने के बाद उसे ज्ञात हो गया है कि संसार में सार नहीं है। यदि कहीं सार है तो वह परमात्मा में। मनुष्य की अन्तरात्मा को विश्राम केवल परमात्मा में ही मिलता है। अतः मनुष्य के लिये विधेय भगवद्भक्ति ही है। यह मानकर ही प्रस्तुत कथन किया गया है। इसका सारांश यही है कि समस्त प्रकरणों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विश्व की विशेषताओं का जितना भी निश्चय किया जाता है और उससे जो भी सुख मिलता है अथवा रसचर्वणाजन्य जितना भी लोकोत्तर सुख मिलता है वह समस्त सुख मिलकर भी परमेश्वरानन्द के समकक्ष नहीं हो सकता, परब्रह्मानन्द इन दोनों प्रकार के सुखों से अत्यधिक प्रकृष्ट होता है। यह तो हम पहले ही बतला चुके हैं कि ब्रह्मानन्द का जो बिन्दुमात्र अवभास या प्रतीति है वही रसास्वाद है। जब रसास्वाद की यह दशा है तब लौकिक आनन्द का तो कहना ही क्या? लौकिक आनन्द तो रसास्वाद की अपेक्षा भी निम्नातिनिम्न कोटि का होता है। क्योंकि रसास्वाद आनन्दचिन्मय होता है और लौकिक आनन्द में अनेक दुःखों का संसर्ग रहता है। अब इसमें तीनों प्रकार के सङ्कर को समझ लीजिये-पहले दृष्टि से रससञ्चार में विरोधाभास और दृष्टि शब्द में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की व्याख्या की जा चुकी है और इनका अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर भी बतलाया जा सकता है। अब निश्चित वर्णनपरक दृष्टि शब्द को लीजिये। क्या यहाँ विरोधाभास अलङ्कार माना जाय या जैसे—'निश्वासान्ध इवादर्शः' में अन्ध शब्द की भाँति अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य माना जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी दृष्टि शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य माना जाय? विरोधाभास और तिरस्कृतवाच्य में किसको माना जाय इस विषय में कोई प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि दोनों ही प्रकारों के मानने में चमत्कार की समान प्रतीति होती है और दोनों ही प्रकार हृद्य तथा आनन्ददायक हैं। इस प्रकार इस दूसरे दृष्टि शब्द में सन्देह संकर है। इस प्रकार इस एक ही पद्य में संकर के तीनों प्रकार मिल जाते हैं। प्रथम कविसम्बन्धिनी दृष्टि में अनुग्राह्यानुग्राहकभाव और एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर तथा वैपश्चिती दृष्टि में सन्देह संकर। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि कविसम्बन्धिनी दृष्टि में सन्देह संकर क्यों नहीं माना जाता। इसका उत्तर यह है कि पहले दृष्टि शब्द के लिए 'नई' 'नवा' यह विशेषण दिया गया था। अतः इस 'नई' शब्द की व्याख्या करने के लिए शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप व्यङ्ग्य विरोधालङ्कार का आश्रय लेना ही पड़ेगा। ऐसी दशा में एक ओर निर्णय का हेतु अधिगत हो जाने से वहाँ पर सन्देह संकर का अवसर ही नहीं रहा।

(ध्वन्या०) वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित् पदानि वाच्यालङ्कारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेदयुक्तानि।

(अनु०) और वाच्यालङ्कार संसृष्टत्व पद की अपेक्षा ही होता है। जहाँ निस्सन्देह

कुछ पद वाच्यालङ्कार से युक्त होते हैं और कुछ ध्वनिप्रभेद से युक्त।

(लो०) एवं सङ्करं त्रिविधमुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति—**वाच्येति**। सकलवाक्ये हि यद्यलङ्कारोऽपि व्यङ्ग्यार्थोऽपि प्रधानं तदानुग्राह्यानुग्राहकत्वसङ्करस्तदभावे त्वसङ्गतिरित्यलङ्कारेण वा ध्वनिना वा पर्यायेण द्वाभ्यामपि वा युगपत्पदविश्रान्ताभ्या भाव्यमिति त्रयो भेदाः। एतद्गर्भीकृत्य सावधारणमाह—**पदापेक्षयैवेति**। यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावं प्रत्याशङ्कापि नावतरति तं तृतीयमेव प्रकारमुदाहर्तुमुपक्रमते—**यत्र हीति**। यस्माद्यत्र कानिचिदलङ्कारभाञ्जि कानिचिद्ध्वनियुक्तानि, यथा दीर्घीकुर्वन्नित्यत्रेति। तथाविधपदापेक्षयैव वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वमित्यावृत्त्या पूर्वग्रन्थेन सम्बन्धः कर्त्तव्यः। **अत्र हीति**। अत्रत्यो हिशब्दो मैत्रीपदमित्यस्यानन्तरं योज्य इतिग्रन्थसङ्गतिः।

(अनु०) इस प्रकार तीन प्रकार के संकर का उदाहरण देकर संसृष्टि का उदाहरण दे रहे है—'वाच्य' यह। यदि समस्त वाक्य में अलङ्कार भी और व्यङ्ग्यार्थ भी प्रधान हो तो अनुग्राह्यानुग्राहकत्व संकर होता है। उसके अभाव में तो असङ्गति ही हो जायेगी, अतः पर्याय से अलङ्कार को अथवा ध्वनि को अथवा दोनों को एक साथ पदविश्रान्त होना चाहिये। इस प्रकार तीन भेद होते हैं। इसको गर्भित करके अवधारण के साथ कह रहे हैं—'पद की अपेक्षा से' यह। जहाँ अनुग्राह्यानुग्राहक भाव के प्रति आशंका भी अवतीर्ण नहीं होती उस तृतीय प्रकार का उदाहरण देने के लिये ही उपक्रम करते हैं—'जहाँ निस्सन्देह' यह। क्योंकि जहाँ कुछ पद अलङ्कार से युक्त होते हैं जैसे 'दीर्घीकुर्वन्' इत्यादि में। उस प्रकार के पद की अपेक्षा से ही वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्व होता है इस प्रकार आवृत्ति से पूर्व ग्रन्थ से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। 'यहाँ निस्सन्देह' यह। यहाँ का 'निस्सन्देह' 'हि' शब्द 'मैत्री पद' इसके बाद जोड़ा जाना चाहिये यह ग्रन्थ की सङ्गति है।

तारावती—ऊपर संकर के तीनों भेदों के उदाहरण दे दिये गये। अब यह दिखलाया जायेगा कि वाच्यालङ्कार की ध्वनि से संसृष्टि किस प्रकार होती है? इसका एक वाक्य में उत्तर यह है कि वाच्यालङ्कार की ध्वनि से संसृष्टि भी पद को दृष्टिकोण में रखकर ही होती है। सम्पूर्ण वाक्य में नहीं। क्योंकि यदि सम्पूर्ण वाक्य से ही किसी अलङ्कार की प्रतीति होगी और इसी से व्यङ्ग्यार्थ की भी प्रतीति होगी तो उनमें अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सांकर्य अनिवार्य रूप से आ जायेगा। आशय यह है कि अलङ्कारों को अलङ्काररूपता तभी प्राप्त होती है जब वे अलङ्कार रस को ही अलङ्कृत करते हैं। अतः जब समासोक्ति इत्यादि अलङ्कार सम्पूर्ण वाक्य से अवगत होते हैं और रसध्वनि भी सम्पूर्ण वाक्य से ही होती है तब उनका अनुग्राह्यानुग्राहक भाव हो जाना स्वाभाविक ही है। यदि उनमें अनुग्राह्यानुग्राहक भाव न माना जाय तो उनका अलङ्कार होना ही असङ्गत हो जायेगा। अतः यह निश्चय ही है कि अलङ्कार तथा ध्वनि की संसृष्टि वहीं पर हो सकती है जहाँ अलङ्कार पद के आश्रित हो। (यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पदबोध्य अलङ्कार रसोपकारक तो होता ही है। अन्यथा उसमें अलङ्कारता ही नहीं आती। किन्तु केवल रसध्वनि ही तो नहीं होती। दूसरी ध्वनियाँ भी तो होती हैं। पदाश्रित अलङ्कार उन्हीं रसातिरिक्त ध्वनियों के साथ संसृष्टि को

प्राप्त होता है। इस संसृष्टि की तीन अवस्थायें सम्भव हैं—या तो अलङ्कार पदविश्रान्त हो या ध्वनि हो पदविश्रान्त हो अथवा दोनों एक साथ पदविश्रान्त हों। यही समझकर 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है, 'एव' शब्द का यहाँ पर अर्थ है अवधारण अर्थात् केवल पद की दृष्टि से ही संसृष्टि हो सकती है वाक्य की दृष्टि से नहीं। जहाँ पदाश्रित अलङ्कार में पर्यवसान होता है अथवा वहाँ यह भी शंका हो सकती है कि अलंकार और ध्वनि का कोई न कोई संकर हो। अतः यहाँ पर तृतीय प्रकार का ही उदाहरण दिया जा रहा है जहाँ ध्वनि और अलङ्कार दोनों को एक साथ पृथक् रूप में विश्रान्ति होती है। इस प्रकार की स्थिति में अनुग्राह्यानुग्राहक भाव या दूसरे प्रकार के सङ्कर की सम्भावना ही नहीं रहती। क्योंकि इसमें कुछ पद अलङ्कार से युक्त होते हैं और कुछ पद ध्वनि से युक्त होते हैं। यहाँ पर यह एक वाक्य है—'जहाँ निस्सन्देह कुछ पद वाच्यालङ्कारवाले होते हैं और कुछ ध्वनि के किसी प्रभेद से युक्त' यह वाक्य अधूरा मालूम पड़ता है। अतः इसकी सङ्गति बैठाने के लिए इसका सम्बन्ध पूर्ववाक्य से कर देना चाहिये कि 'वहाँ उस प्रकार के पद की दृष्टि से ही वाच्यालङ्कार संसृष्टत्व होता है।' इस वाच्यालङ्कार संसृष्टत्व का उदाहरण दिया गया है 'दीर्घीकुर्वन्' इत्यादि मेघदूत का पद्य और लक्षण से इसकी सङ्गति करने के लिये पद्य के बाद आलोककार ने लिखा है—'अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षितवाच्यो ध्वनिः।' 'यहाँ निस्सन्देह मैत्रीपद अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।' इस पर लोचनकार ने लिखा है कि इस वाक्य का 'हि' 'निस्सन्देह' शब्द 'मैत्रीपदम्' के बाद जोड़ा जाना चाहिये। इससे यह वाक्य बन जाता है—'यहाँ मैत्रीपद निस्सन्देह अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।'

(ध्वन्या०) यथा—

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां,
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षितवाच्यो ध्वनिः। पदान्तरेष्वलङ्कारान्तराणि।

(अनु०) जैसे—

'सारसों के रमणीय तथा मद के कारण मधुर कूजन को निपुणतापूर्वक दीर्घ करते हुए, प्रातःकालों में खिले हुए कमलों की सुगन्धि से मैत्री के कारण सुगन्धित, अङ्ग के अनुकूल सिप्रा का वायु प्रार्थनाचाटुकार प्रियतम के समान जहाँ स्त्रियों की सुरतग्लानि को दूर करता है।'

यहाँ मैत्री शब्द अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। दूसरे पदों में दूसरे अलंकार हैं।

(लो०) **दीर्घीकुर्वन्निति।** सिप्रावातेन हि दूरमप्यसौ शब्दो नीयते तथा सुकुमारपवनस्पर्शजातहर्षाः चिरं कूजन्ति, तत्कूजितं च वातान्दोलितसिप्रातरङ्गजमधुरशब्दमिश्रं भवतीति दीर्घत्वम्। **पट्विति।** तथासौ सुकुमारो वायुर्येन तज्जः शब्दः सारसकूजितमपि नाभिभवति प्रत्युत तत्सब्रह्मचारी तदेव दीपयति। न च दीपनं

तदीयमनुपयोगि यतस्तन्मदेन कलं मधुरमाकर्णनीयम् । **प्रत्यूषेष्विति** । प्रभातस्य तथाविधसेवावसरत्वम् । बहुवचनं सदैव तत्रैषा हृद्यतेति निरूपयति । स्फुटितान्यन्तर्वर्तमानमकरन्दभरेण । तथा स्फुटितानि नयनहारीणि यानि कमलानि तेषां य आमोदस्तेन या मैत्री अभ्यासाङ्गाावियोगपरस्परानुकूल्यलाभस्तेन कषाय उपरक्तो मकरन्देन च कषायवर्णीकृतः । **स्त्रीणामिति** । सर्वस्य तथाविधस्य त्रैलोक्यसारभूतस्य य एवं करोति सुरतकृतां ग्लानिं तान्ति हरति, अथ च तद्विषयां ग्लानिं पुनः सम्भोगाभिलाषोद्दीपनेन हरति । न च प्रसह्य प्रभुतयापि त्वङ्गानुकूलो हृद्यस्पर्शः हृदयान्तर्भूतश्च । प्रियतमे तद्विषये प्रार्थनार्थं चाटूनि कारयति । प्रियतमोऽपि तत्पवनस्पर्शप्रबुद्धसम्भोगाभिलाषः । प्रार्थनार्थं चाटूनि करोतीति तेन तथा कार्यत इति परस्परानुरागप्राणश्रृङ्गारसर्वस्वभूतोऽसौ पवनः । युक्तं चैतत्तस्य यतः सिप्रापरिचितोऽसौ वात इति नागरिको न त्वविदग्धो ग्राम्यप्राय इत्यर्थः । प्रियतमोऽपि रतान्तेऽङ्गानुकूलः संवाहनादिना प्रार्थनार्थं चाटुकार एवमेव सुरतग्लानिं हरति । कूजितं चानङ्गीकरणवचनादिमधुरध्वनितं दीर्घीकरोति । चाटुकरणावसरे च स्फुटितं विकसितं यत्कमलकान्तिधारि वदनं तस्य यामोदमैत्री सहजसौरभपरिचयस्तेन कषाय उपरक्तो भवति । अङ्गेषु चातुष्षष्टिकप्रयोगेष्वनुकूलः । एवं शब्दरूपगन्धस्पर्शा यत्र हृद्या यत्र च पवनोऽपि तथा नागरिकः स तवावश्यमभिगन्तव्यो देश इति मेघदूते मेघं प्रति कामिन उक्तिः । उदाहरणे लक्षणं योजयति—**मैत्रीपदमिति** । हि शब्दोऽनन्तरं पठितव्य इत्युक्तमेव । **अलङ्कारान्तराणीति** । उत्प्रेक्षा स्वभावोक्तिरूपकोपमाः क्रमेणेत्यर्थः ।

(अनु०) 'दीर्घ करते हुये' यह । सिप्रावात के द्वारा निस्सन्देह यह शब्द दूर ले जाया जाता है । उसी प्रकार सुकुमार पवन के स्पर्श से उत्पन्न हर्षवाले बहुत समय तक कूजते रहते हैं, उनका कूजन वायु से आन्दोलित सिप्रातरंगों से उत्पन्न मधुर शब्द से मिला हुआ हो जाता है यह दीर्घत्व है । 'पटु' यह । वह वायु इतना सुकुमार है कि उससे उत्पन्न शब्द सारसों के कूजन को भी नहीं दबा पाता प्रत्युत उसका सहचर बन कर उसी का दीपन करता है । उसका दीपन अनुपयोगी तो नहीं ही है क्योंकि वह मद के कारण कल अर्थात् मधुर और आकर्णनीय है । 'प्रभातों में' यह । प्रभात का ही उस प्रकार की सेवा का अवसर है । बहुवचन यह निरूपित करता है कि यह हृद्यता वहाँ सर्वदा रहती है । स्फुटित अर्थात् अन्दर विद्यमान मकरन्द के भार के द्वारा । तथा स्फुटित अर्थात् विकसित नेत्रों को हरनेवाले जो कमल उनका जो आमोद उससे जो मैत्री अर्थात् संश्लेष के अवियोग से परस्पर अनुकूलता का लाभ उससे कषाय वर्ण का बनाया हुआ । 'स्त्रियों का' यह । उस प्रकार के त्रैलोक्यसारभूत सभी का जो यह करता है—सुरत से उत्पन्न हुई ग्लानि को हरता है और तद्विषयक ग्लानि को पुनः सम्भोग की अभिलाषा के उद्दीपन के द्वारा हरता है । बलात् प्रभुता से नहीं अपितु अंगानुकूल अर्थात् प्रियतम के विषय में प्रार्थना के लिए चाटुकारिता कराता है । प्रियतम भी उस पवन के स्पर्श से प्रबुद्ध सम्भोग की अभिलाषावाला हो जाता है । प्रार्थना के लिये चाटुकारिता करता है और उससे वैसा कराता है । इस प्रकार यह पवन ऐसे शृंगार का सर्वस्वभूत

है जिसका प्राण परस्परानुराग ही होता है। यह उसके लिये उचित ही है क्योंकि यह वायु सिप्रा से परिचित है अतः नागरिक है एक गंवार के समान अविदग्ध नहीं है। प्रियतम भी सुरत के अन्त में अंगों के अनुकूल अर्थात् संवाहन इत्यादि के द्वारा प्रार्थना के चाटुकार होकर इस प्रकार सुरत ग्लानि को हरता है। कूजित अर्थात् अस्वीकृति के वचन इत्यादि अर्थात् मधुरध्वनि को और अधिक बढ़ाता है। और चाटुकरण के अवसर पर स्फुटित अर्थात् विकसित जो कमल की कान्ति को धारण करनेवाला मुख उसकी जो सुगन्धि की मैत्री अर्थात् स्वाभाविक सुगन्धि से परिचय उससे कषाय अर्थात् उपरक्त हो जाता है। अङ्गों में अर्थात् चतुष्षष्टिक प्रयोगों में अनूकूल होता है। इस प्रकार शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्श जहाँ हृद्य हैं और जहाँ पवन भी नागरिक है वह देश तुम्हारे लिये अवश्य ही अभिगन्तव्य है यह मेघदूत में मेघ के प्रति कामो को उक्ति है। उदाहरण में लक्षण को योजित करते हैं—'मैत्रीपद' यह। 'हि' शब्द बाद में पढ़ा जाना चाहिये यह कहा ही गया है। 'दूसरे अलंकार' यह। अर्थात् उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रूपक और उपमा क्रमशः।

तारावती—अब उदाहरण को लीजिये—यक्ष मेघ को अपने घर का मार्ग बतलाते हुए विशाला नगरी का परिचय देने लगता है। वह कहता है कि 'यह विशाला नगरी सिप्रा नदी के तट पर बसी हुई है। यहाँ सिप्रा के जल के सम्पर्क से शीतल होकर जो वायु चलता है वह सारसों के सुमधुर तथा आकर्षक कूजन को और अधिक बढ़ा देता है। प्रातःकाल जब कमल खिल जाते हैं तब उनकी सुगन्धि को लेकर जो वायु बहता है वह अत्यन्त सुगन्धित हो जाता है। वह वायु शरीर के अनुकूल होता है और जिस प्रकार कोई चाटुकार प्रियतम प्रातःकाल अपनी प्रियतमाओं की सुरतजन्य श्रान्ति को दूर किया करता है उसी प्रकार वह सिप्रा का वायु भी इस नगरी की स्त्रियों के शरीर की सुरतजन्य थकावट को दूर किया करता है।' यह है कालिदास के पद्य का सारांश। अब इस पद्य के शब्दप्रयोग पर ध्यान दीजिये। वायु के लिये कहा गया है कि वह सारसों के कूजन को और अधिक 'दीर्घ' कर देता है। इस दीर्घ करने में कई एक व्यञ्जनायें निकल सकती हैं—सिप्रा का वायु सारसों के कूजन को दूर ले जाता है जिससे सारसों का कूजन एक स्थान पर उद्भूत होकर दीर्घदेशव्यापी हो आता है। दूसरी बात यह है कि जब यह शीतल मन्द सुगन्धित वायु के संस्पर्श से सारसों में आनन्द का अतिरेक उत्पन्न हो जाता है जिससे सारस बड़ी देर तक सुमधुर स्वर में कूजन करते रहते हैं। तीसरी बात यह है वायु सिप्रा की तरङ्गों को धीरे-धीरे आन्दोलित करता है जिससे सिप्रा की तरंगों में एक मनोहर शब्द होने लगता है। उस शब्द से मिलकर सारसों का कूजन अधिकाधिक दीर्घ हो जाता है। 'दीर्घ करते हुए' का विशेषण दिया गया है 'कुशलतापूर्वक' (पटु)। यह क्रियाविशेषण है। कुशलतापूर्वक कहने का आशय यह है कि यह वायु इतना सुकुमार है कि इसके शब्द से सारस का मन्द स्वर भी दब नहीं पाता। अपितु जैसे कोई साथ में पढ़नेवाला साथी ब्रह्मचारी 'अपने दूसरे सहचर के अध्ययन में सहायता पहुंचाता है वैसे ही यह वायु भी एक अच्छे सहचर के समान सारसकूजन को प्रदीप्त ही करता है। यह प्रदीप्त करना व्यर्थ ही नहीं है अपितु इसका बहुत बड़ा उपयोग

यह है कि कोमल वायु के कारण सारस मदमस्त हो जाते हैं और उसके स्वर में एक स्वाभाविक माधुर्य आ जाता है। इससे वह कूजन मनोहर आकर्षक और सुनने योग्य हो जाता है। 'प्रभातों में' यह शब्द भी साभिप्राय है। कारण यह है कि अपनी प्रियतमाओं की सहवास की थकावट को दूर करने का सबसे अच्छा अवसर तो प्रभात ही होता है। इसमें बहुवचन का अभिप्राय यह है कि इस विशाला नगरी में कोई एक प्रभात ही ऐसा नहीं होता कि उसमें हृद्यता आ जाती है। अपितु यहाँ सदैव सभी प्रभात ऐसी ही हृद्य होते हैं। 'स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः' स्फुटित का अर्थ है फूटा हुआ। जब कोई वस्तु अत्यधिक मात्रा में भर दी जाती है और वह समाती नहीं है तब पात्र फूट पड़ता है। विशाला के कमलों में पुष्पों का रस मकरन्द इतनी अधिक मात्रा में भरा रहता है कि उनके भार से कमल फूट पड़ते हैं। स्फुटित का दूसरा अर्थ है खिले हुए। मकरन्द भार से दब करके ही कमल एकदम खिल उठते हैं। (यहाँ पर विकसित के लिए स्फुटित शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे व्यञ्जना निकलती है कि कमल मकरन्द भार के आधिक्य से फूट कर खिलते हैं।) अत एव वे कमल इतने सुन्दर होते हैं कि दर्शकों के नेत्र एकदम उनकी ओर खिंच जाते हैं। इन कमलों में मस्तिष्क को तृप्त कर देनेवाला अनुपम गन्ध विद्यमान रहता है जिससे सिप्रा के वायु की स्थायी मैत्री है। जिस प्रकार दो निकटवर्ती मित्र कभी एक दूसरे से अलग नहीं रहना चाहते उसी प्रकार विशाला में सिप्रा का वायु भी मकरन्द के अतिनिकट सम्पर्क से रहित नहीं रहता। यह वायु निरन्तर कमलों के आमोद से संपृक्त रहने के कारण सर्वदा उसके अनुकूल ही रहता है और उससे कषाय अर्थात् उपरक्त हो जाता है। दार्शनिक भाषा में कषाय चित्त के उपरञ्जक भावों को कहते हैं। मित्र का चित्त अपने मित्र के प्रति सदा उपरक्त रहता है। उसी प्रकार यह वायु खिले हुए कमलों की सुगन्धि से सर्वदा उपरक्त रहता है। कषाय का दूसरा अर्थ है लाल पीला मिला हुआ एक विशेष प्रकार का वर्ण। सिप्रा का वायु मकरन्द के मिश्रण से उसी वर्ण का हो जाता है। 'स्त्रियों की' यहाँ स्त्री शब्द में बहुवचन का प्रयोग विशेष मन्तव्य से किया गया है। एक तो स्त्रियाँ स्वतः तीनों लोकों का सारभूत तत्त्व हैं। उनसे अधिक रमणीय वस्तु जगतीतल पर कोई अन्य है ही नहीं। फिर यह वायु केवल किसी एक विशेष स्त्री की सुरतग्लानि को ही दूर नहीं करता अपितु सभी स्त्रियों की सुरतग्लानि को दूर करता है। सुरतग्लानि के दूर करने के भी दो अर्थ हैं—एक तो स्त्रियों में रात्रि में सहवासजन्य थकावट के कारण जो मालिन्य आ जाता है यह ताजा वायु उन स्त्रियों के शरीर का स्पर्श कर उस थकावट को दूर कर देता है। दूसरा अर्थ यह है कि जब स्त्रियों में सम्भोग की कामना उद्दीप्त हो उठती है तब उनमें एक अवसाद तथा मुखमालिन्य उत्पन्न हो जाता है। यह वायु उन रमणियों के प्रियतमों में एक हर्ष तथा सम्भोगाभिलाष उत्पन्न कर उन रमणियों की सुरताकांक्षाजन्य मलिनता को दूर करता है। किन्तु प्रश्न यह है कि वायु उस मलिनता को दूर किस प्रकार करता है? क्या प्रभुओं के समान आदेश देकर बलात् उनके अन्दर से उस ग्लानि को दूर करता है? उत्तर है नहीं। वह अङ्गानुकूल बनकर उनकी उस ग्लानि का अपाकरण करता है। इस अङ्गानुकूल शब्द के

भी दो अर्थ हैं। एक तो अङ्गों में स्पर्श करने में सुख देता है, दूसरे यह हृदय के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् इसके प्रति हृदय में एक अनुराग उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार यह वायु बलात् नहीं अपितु प्रेमपूर्वक हृदय में प्रवेश कर तथा अङ्गों में सुखकर स्पर्श करके सुरतग्लानि को दूर करता है। 'प्रियतम इव' शब्द की सन्धि दो प्रकार से तोड़ी जा सकती है। 'प्रियतमे + इव' और 'प्रियतमः + इव'। प्रथम सन्धिविच्छेद में प्रियतम शब्द विषयसप्तम्यन्त है। अतः इसका अर्थ यह होगा कि स्त्रियों के हृदय में प्रियतमविषयक सम्भोग की अभिलाषा का उत्पादन करने के लिए यह पवन चाटुकारिता करता है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ होगा कि प्रियतम के हृदय में भी उस पवन के स्पर्श से सम्भोग की अभिलाषा प्रबुद्ध हो जाती है और प्रियतम स्त्रियों में सहवास की आकांक्षा उत्पन्न करने के लिए चाटुकारिता करने लगता है। प्रियतम को चाटुकारिता करने में प्रेरणा वायु से प्राप्त होती है। अतः वायु प्रियतमों से स्त्रियों की चाटुकारिता कराता है। इस अर्थ में 'प्रार्थनाचाटुकारः' में प्रेरणार्थक णिच् होकर उससे घञ् प्रत्यय होता है। प्रियतम चाटुकारिता करता है। वायु उसे प्रेरित करता है इस प्रकार वायु प्रियतमों से स्त्रियों की चाटुकारिता कराता है। उधर दूसरे अर्थ में वायु स्त्रियों के हृदय में स्वयं सम्भोग की प्रार्थना का भाव जागृत कर देता है। इस प्रकार वायु शृङ्गाररस का सर्वस्व है। क्योंकि शृङ्गार रस का प्राण ही यह है कि दोनों में एक दूसरे के प्रति अनुराग की भावना जागृत हो और उस व्याख्या में यह बतलाया ही जा चुका है कि वायु दोनों में अभिलाषा को जागृत करता है। और यह बात ठीक भी है कि वायु में यह गुण विद्यमान हो क्योंकि वायु कोई देहाती गँवार तो है नहीं वह तो एक अच्छे नागरिक के समान है। अतः उसमें यह निपुणता होनी ही चाहिये कि वह दोनों के हृदयों में प्रेम भावना जागृत करे। यह बात सिप्रावात शब्द से अभिव्यक्त होती है। यह वायु सिप्रा से परिचित है जो कि विशाला जैसी नगरी के पास होकर बहती है। अतः यह विशाला के व्यवहार को भलीभाँति जानता है, नागरिक है और नागरिकों का जैसा व्यवहार करता है।

ऊपर इस पद्य की पवनसम्बन्धी व्याख्या की गई है। इसी प्रकार यह पद्य प्रियतम के विषय में घटाया जा सकता है। प्रियतम भी जो सुरत के बाद में अंगानुकूल होकर अर्थात् अंगों को दबा दबाकर इसी प्रकार तो सुरत की ग्लानि को दूर किया करता है जिससे उसकी प्रियतमा में सुरत के लिये प्रार्थना उत्पन्न हो जावे। अतः वह भी अङ्गों के संवाहन इत्यादि से चाटुकारिता करता है। जिस प्रकार वायु सारसों के कूजन को दीर्घ करता है उसी प्रकार प्रियतम भी स्त्रियों के कूजन अर्थात् सुरत को अस्वीकार करने के मधुर स्वर को अधिकाधिक बढ़ाता जाता है। प्रियतम प्रार्थना करता है और स्त्रियाँ इन्कार करती जाती हैं जिसमें उनका बड़ा मधुर कूजन के समान स्वर होता है। (कामशास्त्र में स्त्रियों के सुरत कालीन शब्द के लिये अनेक पक्षियों के कूजन की उपमा दी गई है।) प्रियतम जिस सयय अपनी प्रियतमाओं से चाटुकारिता करते हैं उस समय स्त्रियों का मुख प्रसन्नता से विभोर होकर खिल उठता है और उनके मुख की शोभा प्रफुल्लित कमल की जैसी हो जाती है। उस मुख में एक प्रकार की स्वाभाविक सुगन्ध होती है जो हर समय बनी रहती है। उससे सम्भोगकाल में रसिकों का

विशेष परिचय होता है जिससे रसिकों के अन्तःकरण कषाय या अनुरक्त हो जाते हैं। 'अंगों के अनुकूल' यह जब प्रियतमपरक होगा तो उसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रियतम कामशास्त्र की ६४ कलाओं में निष्णात है और उसके अनुकूल ही सहवासविधि में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह विशालानगरी सभी गुणों से परिपूर्ण है और सभी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली है। यहाँ सारसों और रमणियों का मधुर कूजन कानों को तृप्त करता है। खिले हुये कमल तथा सुन्दरियों के वदनारविन्द रूप के आगार हैं और नेत्रों को तृप्त करते हैं। चारों ओर सौरभ उड़ता है और वायु आमोद से परिपूर्ण है जिससे घ्राणेन्द्रिय तृप्त हो जाती है। यहाँ वायु का त्वचा को तृप्त करनेवाला बड़ा ही सुकोमल स्पर्श है। यहाँ का पवन भी बहुत ही नागरिक है जो कि प्रेम की विधि को भलीभाँति जानता है। हे मेघ! तुम्हें उस देश में अवश्य जाना चाहिये। यह मेघदूत में मेघ के प्रति कामी यक्ष का कथन है।

अब इस उदाहरण की योजना लक्षण में कीजिये। यहाँ पर मैत्री शब्द अपने अभिधेयार्थ में बाधित है। क्योंकि मित्रता करना मनुष्य का धर्म है पवन का नहीं। अतः यहाँ पर लक्ष्यार्थ निकलता है कि वायु का कमल-मकरन्द की सुगन्ध से अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। इससे प्रयोजनरूप व्यञ्जना यह निकलती है कि वहाँ का वायु और कमल की सुगन्ध एक दूसरे के सर्वथा अनुकूल हैं और वह प्रदेश बड़ा ही मनोरम है। इस प्रकार मैत्री शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। अत एव मैत्री शब्द में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। साथ ही दूसरे शब्दों से यहाँ अलंकार भी प्रतीत होते हैं—(१) मानो वायु सारसों के कूजन को और अधिक बढ़ाता है, मानो वायु स्त्रियों की सुरतग्लानि को दूर करता है, इस प्रकार यहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलंकार है। (२) वायु तथा प्रभात का स्वाभाविक वर्णन किया गया है, अतः स्वभावोक्ति अलंकार है। (३) खिले हुये कमलरूपी स्त्रियों के मुख, नायकरूपी वायु इनमें रूपक अलंकार है और (४) प्रियतम इव में उपमा है; इन अलंकारों की यहाँ मैत्री शब्द की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि से संसृष्टि है (मल्लिनाथ ने 'प्रार्थनाचाटुकारः' से खण्डिता के अनुनय की व्याख्या की है और 'सुरतग्लानि हरतीव' यह अन्वय मान कर लिखा है—क्योंकि खण्डिता का सुरत हुआ ही नहीं है, अतः इस समय उसको मनाना बाद में होनेवाले सुरत की ग्लानि को हरने के समान है, अतः यह उत्प्रेक्षा अलंकार है।)

(ध्वन्या०) संसृष्टालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो ध्वनिर्यथा—

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा,
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

अत्र हि समासोक्तिसंसृष्टेन विरोधालङ्कारेण सङ्कीर्णस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकाशनम्। दयावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थीभूतत्वात्।

(अनु०) दूसरे संसृष्ट अलंकार से संकीर्ण जैसे—

'उठे हुये घने पुलकवाले आपके शरीर पर रक्तमनवाली सिंही की वधू के द्वारा दिये हुये दन्तक्षत और नाखूनों से विदारण, उत्पन्न इच्छावाले मुनियों के द्वारा भी देखे गये।'

यहाँ निस्सन्देह समासोक्ति से संसृष्ट विरोधालंकार के द्वारा संकीर्ण अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का प्रकाशन होता है। क्योंकि यहाँ वस्तुतः तो दयावीर ही वाक्यार्थ हो जाता है।

(लो०) एवमियता—

'सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः सङ्करसंसृष्टिभ्याम्॥"

इत्येतदन्तं व्याख्यायोदाहरणानि च निरूप्य पुनरपि इति यत्कारिकाभागे पदद्वयं तस्यार्थं प्रकाशयत्युदाहरणद्वारेणैव—**संसृष्टेत्यादि।** पुनः शब्दस्यायमर्थः–न केवलं ध्वनेः स्वप्रभेदादिभिः संसृष्टिसङ्करौ विवक्षितौ यावत्तेषामन्योन्यमपि। स्वप्रभेदानां स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वा सङ्कीर्णानां संसृष्टानां च ध्वनीनां संकीर्णत्वं संसृष्टत्वं च दुर्लक्ष्यमितिविस्पष्टोदाहरणं न भवतीत्यलङ्कारस्यालङ्कारेण संसृष्टसंकीर्णस्य वा ध्वनौ सङ्करसंसर्गौ प्रदर्शनीयौ।

तदस्मिन् भेदचतुष्टये प्रथमं भेदमुदाहरति—**दन्तक्षतानीति।** बोधिसत्त्वस्य स्वकिशोरभक्षणप्रवृत्तां सिंहीं प्रति निजशरीरं वितीर्णवतः केनचिच्चाटुकं क्रियते। प्रोद्भूतः सान्द्रः पुलकः परार्थसम्पत्तिजेनानन्दभरेण यत्र। रक्ते रुधिरे मनोऽभिलाषो यस्याः, अनुरक्तं च मनो यस्याः। मुनयश्चोद्बोधितमदनावेशाश्चेति विरोधः। जातस्पृहैरिति च वयमपि कदाचिदेवं कारुणिकपदवीमधिरोक्ष्यामस्तदा सत्यतो मुनयो भविष्याम इति मनोराज्ययुक्तैः। समासोक्तिश्च नायिकावृत्तान्तप्रतीतेः। **दयावीरस्येति।** दयाप्रयुक्तत्वादत्र धर्मस्य धर्मवीर एव दयावीरशब्देनोक्तः। वीरश्चात्र रसः उत्साहस्यैव स्थायित्वादिति भावः। दयावीरशब्देन वा शान्तं व्यपदिशति सोऽत्र रसः संसृष्टालङ्कारेणानुगृह्यते। समासोक्तिमहिम्ना ह्ययमर्थः सम्पद्यते—यथा कश्चिन्मनोरथशतप्रार्थितप्रेयसीसम्भोगावसरे जातपुलकस्तथा त्वं परार्थसम्पादनाय स्वशरीरदान इति करुणातिशयोऽनुभावविभावसम्पदोद्दीपितः।

(अनु०) इस प्रकार इतने से—'गुणीभूतव्यंग्यों के साथ, अलंकारों के साथ अपने प्रभेदों से संकर और संसृष्टि से।' यहाँ तक की व्याख्या करके और उदाहरणों का निरूपण करके 'पुनः भी' ये जो कारिका भाग में दो पद हैं उनके अर्थ को उदाहरणों के द्वारा ही प्रकाशित करते हैं—संसृष्ट इत्यादि। पुनः शब्द का यह अर्थ है—न केवल ध्वनि के अपने प्रभेदों से संकर और संसृष्टि कहना अभीष्ट है अपितु उनका एक दूसरे के साथ भी। अपने भेदों का अपने प्रभेदों से अथवा गुणीभूतव्यंग्य से संकीर्ण और संसृष्ट ध्वनियों का संकीर्ण और संसृष्ट मिलना कठिन है, अतः इनका विस्पष्ट उदाहरण नहीं मिल पाता।

वह इन चार भेदों में प्रथम भेद का उदाहरण देते हैं—'दन्तक्षत' यह। अपने किशोरों के भक्षण में प्रवृत्त सिंही के प्रति अपने शरीर को दे देने वाले बोधिसत्त्व की कोई चाटुकारिता कर रहा है उत्कृष्ट रूप में उद्भूत हुआ है घना पुलक—दूसरे के अर्थ सम्पादन से उत्पन्न आनन्द भार के द्वारा जिसमें। रक्त में अर्थात् रुधिर में मनोऽभिलाषा है जिस (सिंही)

की। और अनुरक्त है मन जिसका। मुनि होते हुए मदन के आवेश को उद्बोधित करनेवाले यह विरोध है। 'जातस्पृहैः' इसका अर्थ यह है कि हम भी कदाचित् कारुणिक पदवी पर अधिरूढ़ होंगे तब मुनि बनेंगे इस मनोराज्य से युक्त। और समासोक्ति है नायिका के वृत्तान्त की प्रतीति के द्वारा। 'दयावीर का' यह। यहाँ धर्म के दयाप्रवृत्त होने के कारण धर्मवीर ही दयावीर शब्द से कहा गया है। यहाँ पर वीररस है, क्योंकि उत्साह का ही स्थायीभावत्व है, यह भाव है। अथवा दयावीर शब्द से शान्त का नामोल्लेख करते हैं। वह यह रस संसृष्ट अलंकार से अनुगृहीत किया जाता है। समासोक्ति की महिमा से यह अर्थ हो जाता है। जैसे कोई सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त प्रार्थनीय प्रेयसी के सम्भोग के अवसर पर पुलकपूर्ण हो जाता है वैसे ही तुम परार्थसम्पादन के लिये अपने शरीरदान में, यह करुणा का अतिशय अनुभाव विभाव की सम्पत्ति से उद्दीपित किया गया है।

संसृष्टि और संकीर्ण भेदों का सांकर्य और संसृष्टि

तारावती—प्रस्तुत (४३ वीं) कारिका में कहा गया था कि ध्वनि की गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कार सहित अपने प्रभेदों से सङ्कर और संसृष्टि होती है। यहाँ तक उस सङ्कर और संसृष्टि की पूरी व्याख्या कर दी गई और प्रत्येक प्रकार का सङ्गमन उदाहरणों से भी कर दिया गया। कारिका के अग्रिम भाग में लिखा है—'पुनरप्युद्योतते बहुधा' 'यह ध्वनि और भी बहुत प्रकार से उद्योतित होती है।' इस 'पुनरपि' शब्द का क्या अर्थ है ? अब इसी पर विचार किया जायगा। यहाँ 'पुनरपि' शब्द का यह अर्थ है कि इस ध्वनि के उक्त साङ्कर्य और संसृष्टि में भिन्न और भी संकर और संसृष्टि सम्भव हैं। वे संकर और संसृष्टि इस प्रकार हो सकती हैं कि ध्वनि के अपने भेदों से, गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकारों से और अलङ्कारों से जब एक बार सङ्कर और संसृष्टि हो जाती हैं तब उन सङ्कीर्ण और संसृष्ट प्रकारों से पुनः ध्वनि की संसृष्टि और संकर हो सकते हैं। उसमें ये भेद और सम्भव हैं—(१) अपने स्वतन्त्र सङ्कीर्ण भेदों की अपने स्वतन्त्र भेदों से संसृष्टि या सङ्कर। (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य से संसृष्ट या संकीर्ण अपने भेदों की पुनः अपने भेदों से संसृष्टि या संङ्कीर्णता। (३) परस्पर संसृष्ट गुणीभूतव्यङ्ग्य की संसृष्टता या सङ्कीर्णता (४) अलङ्कारों से संसृष्ट ध्वनि की अपने भेदों से संसृष्टता या सङ्कीर्णता। (५) परस्पर संसृष्ट या सङ्कीर्ण अलङ्कारों की ध्वनि के किसी भेद से संसृष्टता या सङ्कीर्णता इत्यादि। यहाँ पर प्रथम चार प्रकारों के उदाहरण नहीं दिये जावेंगे क्योंकि उदाहरणों में उनको संघटित करना कुछ कठिन है। अतः अन्तिम प्रकार के ही उदाहरण दिये जावेंगे। ये भेद भी चार प्रकार के हो सकते हैं—(१) सङ्कीर्ण अलंकारों का ध्वनिभेद से साङ्कर्य (२) सङ्कीर्ण अलंकारों की ध्वनि भेद से संसृष्टि। (३) संसृष्ट अलंकारों का ध्वनि भेद से सांकर्य और (४) संसृष्ट अलंकारों की ध्वनि भेद से संसृष्टि। यहाँ पर दो के उदाहरण दिये जावेंगे एक तो संसृष्ट अलंकारों की संकीर्णता और दूसरे संसृष्ट अलंकारों की संसृष्टि। शेष उदाहरण स्वयं समझ लेने चाहिये। पहले संसृष्ट अलंकार की संकीर्णता का उदाहरण लीजिये—

कोई भूखी सिंही अपने बच्चों को खा जाने के लिये तैयार है। बोधिसत्त्व उन सिंही

के बच्चों की रक्षा करने के लिये उस सिंहिनी को अपना शरीर अर्पित कर देते हैं उस समय वह सिंहिनी अपने दाँतों और नाखूनों से बोधिसत्व की जो दुर्दशा कर डालती है उसको देख-कर कोई भक्त बोधिसत्व की प्रशंसा करते हुये कह रहा है—

जिस समय बोधिसत्त्व ने यह देखा कि कोई सिंहिनी भूख से अत्यधिक पीड़ित हो गयी है और यहाँ तक कि अपने बच्चों को भी खा जाने को उद्यत हैं। उसी समय बोधिसत्त्व ने उन सिंहिनी के बच्चों को बचाने के लिए अपना शरीर उस सिंहिनी को अर्पित कर दिया। उस समण दूसरे का उपकार करने का अवसर मिल जाने और अपने कर्तव्य का निर्वाह करने में समर्थ हो सकने के कारण बोधिसत्त्व के हृदय में अभूतपूर्व आनन्द उत्पन्न हो गया और उस हर्ष के कारण उन के शरीर पर बहुत ही घना रोमाञ्च उठ आया। उस समय सिंहिनी का मन रक्तपान में लगा हुआ था। अतः उस सिंहिनी ने बोधिसत्त्व पर आक्रमण कर दिया और उनके शरीर में दाँतों के घाव बना दिये और नाखूनों से उनका शरीर विदीर्ण कर डाला। यह देख कर मुनियों के हृदय में भी आकांक्षा जागृत हो गई कि परमात्मा हमें भी एसी शक्ति देता और हमारे अन्दर भी कारुणिकता की ऐसी ही भावना जागृत होती कि हम भी परो-पकार के लिए अपना शरीर अर्पित कर सकते जिससे हमारा भी मुनि कहलाना वास्तविक रूप में सत्य हो सकता। किन्तु वह अभिलाषा उनकी मनोराज्यपदवी पर ही आरूढ़ है। अर्थात् यह उनका खयाली पुलाव पकाना ही है। और मुनियों में इतनी शक्ति ही नहीं कि वे जोवरक्षा के लिये अपने प्राण दे सकें।

यहाँ पर नायिका के वृत्तान्त की भी प्रतीति होती हैं। अतः यहाँ पर समासोक्ति अलङ्कार है। समासोक्ति अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ विशेषणवाचक शब्द द्वचर्थक हो किन्तु विशेष्य द्वचर्थक न हो, किन्तु उन द्वचर्थक विशेषणों के बल पर एक अप्रस्तुत अर्थ और निकाला जाय और प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अर्थों का उपमानोपमेय भाव स्थापित कर दिया जाय। यहाँ पर दन्तक्षत इत्यादि शब्द द्वचर्थक हैं किन्तु विशेष्य मृगराजवधू शब्द द्वचर्थक नहीं है। द्वचर्थक विशेषणों के बल पर एक अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है कि किसी नायिका ने किसी नायक के शरीर पर अनुरागपरिपूर्ण चित्त होकर दन्तक्षत और नखक्षत के चित्र बना दिये। उस समय नायक के शरीर पर सम्भोगजन्य हर्ष के कारण अत्यन्त घना रोमाञ्च हो रहा था। इस अर्थ में 'रक्तमनसा' का अर्थ होगा—'अनुरक्त है मन जिनका।' इस प्रकार इस समासोक्ति के द्वारा इसका अर्थ हो जावेगा—'जिस प्रकार कोई रसिक प्रेमी व्यक्ति सैकड़ों मनोरथों से प्रेयसी के समागम की कामना करता रहे और सौभाग्य से उसे अपनी मनचाही प्रेयसी का समागम मिल भी जाय तथा वह सुन्दरी हर्ष निर्भर होकर अपने उस प्रियतम के शरीर पर दन्तक्षत और नखक्षत के अनेक चिह्न बनाये उस समय वह रसिक प्रेमी आनन्द निर्भर हो जाता है और उसके शरीर पर अत्यन्त घना रोमाञ्च उद्भूत हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् बोधिसत्त्व के हृदय में प्राणिरक्षा के लिये अपने शरीर दे देने की कामना अत्यन्त तीव्रता के साथ विद्यमान थी फिर जब उन्हें सिंही के बच्चे की रक्षा के लिये अपने शरीरदान का सौभाग्य प्राप्त हो गया तब हर्षातिरेक से

उनके शरीर पर भी गाढ़ा रोमाञ्च हो गया। यह तो हो गया समासोक्ति अलङ्कार। यहाँ पर दूसरा अलङ्कार है विरोधाभास—'मुनियों ने स्पृहापूर्वक देखा' यहां पर स्पृहा का अर्थ है कामवासना का आवेश। रसिकों के शरीर पर दन्तक्षत और नखक्षत देखकर रागियों के हृदय कामवासना से भर ही जाते हैं। यहाँ मुनियों के मन कामवासना से भर गये यह विरोध है। मुनियों के चित्तों में भगवान् बुद्ध के समान अपने शरीरदान की उत्कट स्पर्धा उत्पन्न हुई यह विरोध का परिहार है। इस प्रकार यह विरोधाभास अलङ्कार है। उक्त समासोक्ति और विरोधाभास की परस्पर संसृष्टि है। क्योंकि दोनों में न उपकार्योपकारक भाव है और न सन्देह ही, तथा दोनों की प्रतीति विभिन्न शब्दों से होती ही है। यह समासोक्ति और विरोधाभास की संसृष्टि समस्त पद्य से अभिव्यक्त होनेवाले दयावीर को उपकृत करती है। दयावीर ही यहाँ मुख्य वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) है। अतः समासोक्ति और विरोधाभास की संसृष्टि से उपकृत दयावीर ही यहाँ पर ध्वनि का रूप धारण करता है। अतः यहाँ पर दयावीर और उक्त दोनों अलङ्कारों की संसृष्टि का सङ्कर है। यहाँ पर यह प्रश्न है कि भरत मुनि ने वीररस का दयावीर नामक भेद तो माना ही नहीं फिर दयावीर की ध्वनि कहना कहाँ तक शास्त्रसम्मत हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि यहां यदि दयावीर न माना जाय तो धर्मवीर ही माना जा सकता है। आनन्दवर्धन ने दयावीर इसलिए बतलाया है कि यहां पर धर्म वस्तुतः दयाप्रयुक्त हो है। वास्तविकता यह है कि चाहे इसे आप धर्मवीर कहें चाहे दयावीर, है यह वीररस हो। क्योंकि यहां पर उत्साह ही स्थायीभाव है। अथवा दया का यहाँ पर अर्थ है शान्तरस। क्योंकि निर्वेद की भो यहां प्रधानता बतलाई जा सकती है इस प्रकार यह रस संसृष्ट अलङ्कारों से अनुगृहीत हुआ है।

(ध्वन्या०) संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वं च ध्वनेर्यथा—

अहिणअ पओअरसिएसु पहिअसामाइएषु दिअहेसु।
सोहइ पसारिअगिआणं णच्चिअं मोरवन्दाणम्॥

अत्र ह्यु पमारूपकाभ्यां शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः संसृष्टत्वम्॥ ४३॥

(अनु०) संसृष्ट अलङ्कार का ध्वनि से संसृष्टत्व जैसे—

'अभिनव पयोदों के शब्द से युक्त पथिकों के लिए श्यामायित दिवसों में ग्रीवा को फैलाये हुए मयूरवृन्दों का नृत्त शोभित हो रहा है।'

यहाँ निस्सन्देह उपमा और रूपक से शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि की संसृष्टि हो जाती है॥४३॥

(लो०) द्वितीयं भेदमुदाहरति—**संसृष्टेति**। अभिनवं हृद्यं पयोदानां मेघानां रसितं येषु दिवसेषु। तथा पथिकान् प्रति श्यामायितेषु मोहजनकत्वाद्रात्रिरूपतामाचरितवत्सु। यदि वा पथिकानां श्यामायितं दुःखवशेन श्यामिका येभ्यः। शोभते प्रसारितग्रीवाणां मयूरवृन्दानां नृत्तम्। अभिनयप्रयोगरसिकेषु पथिकसामाजिकेषु सत्सु मयूरवृन्दानां प्रसारितगीतानां प्रकृष्टसारणानुसारिगीतानां तथा ग्रीवारेचकाय प्रसा-

रितग्रीवाणां नृत्तं शोभते। पथिकान् प्रति श्यामा इवाचरन्तीति क्यच्। प्रत्ययेन लुप्तोपमानिर्दिष्टा। पथिकसामाजिकेष्विति कर्मधारयस्य स्पष्टत्वात् रूपकम्। ताभ्यां ध्वनेः संसर्ग इति ग्रन्थकारस्याशयः। अत्रैवोदाहरणेऽन्यद्भेदद्वयमुदाहर्तुं शक्यमित्याशयेनोदाहरणान्तरं न दत्तम्। तथाहि व्याघ्रादेराकृतिगणत्वे पथिकसामाजिकेष्वित्युपमारूपकाभ्यां सन्देहास्पदत्वेन संकीर्णाभ्यामभिनयप्रयोगे च रसिकेष्विति प्रसारितगीतानामिति यः शब्दशक्त्युद्भवस्तस्य संसर्गमात्रमनुग्राह्यत्वाभावात्। 'पहिअ सामाइएसु' इत्यत्र तु पदे संकीर्णाभ्यां ताभ्यामुपमारूपकाभ्यां शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेः संकीर्णत्वमेकव्यञ्जकानुप्रवेशादिति सङ्कीर्णालङ्कारसंसृष्टः सङ्कीर्णालङ्कारसङ्कीर्णश्चेत्यपि भेदद्वयं मन्तव्यम्॥ ४३॥

(अनु०) द्वितीय भेद का उदाहरण देते हैं—'संसृष्ट' यह। अभिनव अर्थात् हृद्यपयोदों अर्थात् मेघों का गर्जन है जिन दिवसों में। तथा पथिकों के प्रति श्यामायित अर्थात् मोहजनक होने से रात्रिरूपता का आचरण करनेवाले (दिनों) में। अथवा पथिकों के लिए श्यामायित अर्थात् दुःखवश श्यामवर्ण की हैं जिनसे। फैलाई हुई गर्दनोंवाले मयूरवृन्दों का नृत्य शोभित होता है। अभिनव प्रयोग के रसिक पथिक सामाजिकों के होते हुए प्रकृष्ट सारणा के अनुसार गीतोंवाले तथा ग्रीवारेचक के लिए फैलाई हुई गर्दनोंवाले मयूरवृन्दों का नृत्य शोभित हो रहा है। पथिकों के प्रति श्यामा के समान आचरण करते हुए हैं इस अर्थ में क्यच् प्रत्यय हो जाता है। प्रत्यय से लुप्तोपमा का निर्देश किया गया है। 'पथिकसामाजिकेषु' में कर्मधारय के स्पष्ट होने के कारण रूपक है। उन दोनों से ध्वनि का संसर्ग होता है यह ग्रन्थकार का आशय है। इसी उदाहरण में और दो भेदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं इस आशय से दूसरे उदाहरण नहीं दिये गये। वह इस प्रकार—व्याघ्रादि के आकृतिगण होने के कारण 'पथिक सामाजिकों' में सन्देहास्पद के रूप में सङ्कीर्ण उपमा और रूपक के द्वारा 'अभिनय के प्रयोग में और अभिनव' प्रयोग में रसिकों में और 'गीत को प्रसारित करनेवालों का' यह जो शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है उसका केवल संसर्ग होता है क्योंकि अनुग्राह्यत्व का अभाव है।' 'पथिअ सामाइएषु' इसमें तो पदों में सङ्कीर्ण उन दोनों उपमा रूपकों से एकव्यञ्जकानुप्रवेश के कारण शब्दशक्तिमूलक का सङ्कीर्णत्व हो जाता है इस प्रकार सङ्कीर्णालङ्कार सङ्कीर्ण ये दो भेद भी माने जाने चाहिये ॥४३॥

तारावती—अब दूसरे भेद का उदाहरण लीजिये जहाँ संसृष्ट अलङ्कार और ध्वनि के किसी भेद की संसृष्टि होती है। इसके उदाहरण के रूप में एक गाथा उद्धृत की गई है जिसकी छाया यह हैः—

अभिनवपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु।
शोभते प्रसारितग्रीवाणां नृत्तं मयूरवृन्दानाम्॥

इस वर्षाकाल के इन दिनों में अभिनव अर्थात् हृदय को प्रिय मेघ गरज रहे हैं तथा विरहियों के लिए विरह वेदना के कारण ये दिन मोह या मूर्छा उत्पन्न करने वाले हैं जिससे ये रात्रि जैसे हो गये हैं अथवा इन दिनों के कारण ही पथिकों में श्यामता अर्थात् कालुष्य

उत्पन्न हो गया है। इस समय गर्दन को फैलाकर मोर नाच रहे हैं अतः बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ते हैं।

इस पद्य की एक छाया यह भी हो सकती है :—

अभिनयप्रयोगरसिकेषु पथिकसामाजिकेषु दिवसेषु।
शोभते प्रसारितगीतानां नृत्तं मयूरवृन्दानाम् ॥

अर्थात् पथिक सामाजिकों के अभिनय प्रयोग के रसिक होने पर इन दिनों में सारणा के अनुसार उत्कृष्ट गानवाले मयूरवृन्दों का नाच शोभित हो रहा है।

इस द्वितीय छाया में 'प्रसारितगीतानां' के स्थान पर 'प्रसारितग्रीवाणां' यह छाया भी रक्खी जा सकती है। तब इसका अर्थ यह होगा कि मयूरवृन्द ग्रीवारेचक नामक नृत्यभेद के लिए अपनी गर्दन फैला रहे हैं और उनका नृत्य बहुत शोभित हो रहा है।

इस पद्य का आशय यह है कि वर्षाकाल में मेघों का गर्जन मयूरों के लिये हर्षपरवश कर देने वाला है जिससे मयूरवृन्द अपनी गर्दन को फैलाकर नाचने और गाने लगते हैं। ये दिन पथिकों अर्थात् वियोगियों के लिये अन्धकारपूर्ण हैं। इसके दूसरे अर्थ का सार यह है कि पथिक तो सामाजिक अर्थात् दर्शक हैं, अभिनय प्रयोग में आनन्द लेना चाहते हैं और उस समाज को आनन्द देने के लिये मयूरों का गान तथा नृत्य प्रवृत्त हो रहा है।

यहाँ पर 'पथिकश्यामायितेषु' की पथिकों के प्रति श्यामायित यह व्युत्पत्ति होगी। श्यामायित का विग्रह होगा—'श्यामा इवाचरन्ति' अर्थात् रात्रि के समान आचरण करनेवाली। यहाँ आचारार्थ में क्यच् प्रत्यय हो जाता है। इस प्रकार इसमें लुप्तोपमालंकार है। यदि इसका पाठ 'पथिकसामाजिकेषु' रक्खा जाय तो कर्मधारय समास होगा—'पथिका एव सामाजिकाः' अथवा 'पथिकाश्च ते सामाजिकाः' इस कर्मधारय समास के अनुसार इसमें रूपक अलंकार माना जावेगा। ये दोनों अलंकार विभिन्न दो शब्दों में हैं इसलिये इनकी यहाँ पर संसृष्टि है। यहाँ पर श्यामायित शब्द का अर्थ होता है दिन रात्रि बन जाते हैं अथवा अन्धकारमय हो जाते हैं क्योंकि जब मेघ गर्जन हो रहा हो और मयूरों का नृत्यगान भी प्रारम्भ हो गया हो उस समय दिनों की उद्दीपकता बहुत बढ़ जाती है। इस प्रकार यहाँ पर दिनों के उद्दीपन के आधिक्य की व्यंजना होती है। यह व्यञ्जना शब्दशक्तिमूलक है क्योंकि 'श्यामायित' परिवृत्ति को सहन नहीं कर सकता। अतः उक्त अलंकारों की संसृष्टि से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की संसृष्टि है।

यहाँ पर दो उदाहरण और दिये जाने चाहिये थे एक तो दो संकीर्ण अलंकारों की ध्वनि के किसी भेद से संकीर्णता का और दूसरा दो संकीर्ण अलंकारों की ध्वनि के किसी भेद से संसृष्टि का। किन्तु वृत्तिकार ने ये दो उदाहरण नहीं दिये हैं। उसका कारण यह है कि यह अन्तिम उदाहरण ऐसा है जिसमें शेष दो उदाहरण भी सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। वह इस प्रकार—'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र के अनुसार जहाँ साधारण धर्म का प्रयोग न हो वहाँ उपमान और उपमेय का समास हो जाता है। इस प्रकार 'पथिकसामाजिकेषु' का यह भी विग्रह किया जा सकता है—'पथिकाः सामाजिकाः इव' इस प्रकार यहाँ

पर 'पथिकसामाजिकेषु' शब्द में ही लुप्तोपमा हो सकती है। व्याघ्रादिगण आकृति-गण है; अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक शब्द उसमें नहीं आया है, अतः यह समास यहाँ पर नहीं हो सकता। 'पथिकसामाजिकेषु' में रूपक बतलाया ही जा चुका है। इस प्रकार एक ही शब्द से दो अलंकारों के सम्भव होने के कारण इन दोनों अलंकारों का सन्देह संकर है। इन संकीर्ण अलंकारों के साथ ध्वनि की संसृष्टि हो जाती है। यह ध्वनि शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि है—'अभिनय के प्रयोग में या अभिनव प्रयोग में रसिकों के मध्य गर्दन को फैलाये हुये या गीतों का प्रसार करनेवाले.......' इत्यादि से यह ध्वनि निकलती है कि पथिक रूपी रसिकों का समूह उपस्थित है जो कि नये अभिनयों को देखने की आकांक्षा कर रहा है। समा बँधा हुआ है, मयूर नाच रहे हैं और अपनी नई नई कला दिखला रहे हैं, साथ ही अभिनय और संगीत भी चल रहा है। इस ध्वनि से उक्त दोनों अलंकारों की संसृष्टि हो जाती है क्योंकि रूपक ध्वनि के अनुग्राहक नहीं होते। यहाँ पर ध्वनि शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि है क्योंकि 'अहिणअ' इत्यादि शब्द बदले नहीं जा सकते। इसी प्रकार 'पथिकसामाजिकेषु' शब्द में जो उपमा और रूपक का सन्देह संकर है उसके साथ इसी शब्द से अभिव्यक्त होनेवाली ध्वनि का संकर हो जाता है क्योंकि यहाँ एक ही व्यञ्जक से अलंकार और ध्वनि दोनों निकलते हैं इस प्रकार संकीर्णालंकार संसृष्टि और सकीर्णालंकार संकर के दोनों उदाहरण प्रस्तुत उदाहरण में ही गतार्थ हो जाते हैं। इसीलिये इनके उदाहरण पृथक् नहीं दिये गये ॥४३॥

(ध्वन्या०) **एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते।**
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥४४॥
अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम् ॥

(अनु०) इस प्रकार ध्वनि के प्रभेद और प्रभेदों के भी भेद किसके द्वारा परिगणित किये जा सकते हैं ? उनका यह दिग्दर्शनमात्र हमारे द्वारा कह दिया गया है' ॥४४॥

ध्वनि के निस्सन्देह अनन्त प्रकार होते हैं। सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये उनका यह दिग्दर्शनमात्र कहा गया है ॥

(लो०) एतदुपसंहरति—एवमिति। स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

(अनु०) इसका उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार' यह। स्पष्ट है ॥४४॥

ध्वनि भेदों की अपरिमिति का उपसंहार

तारावती—४४ वीं कारिका उपसंहारात्मक है जिसमें कहा गया है कि किसी में इतनी शक्ति नहीं है जो ध्वनि-भेदों का पूरा परिगणन कर सके। ध्वनि के भेद, भेदों के भेद, उनकी संसृष्टि और सङ्कर फिर संसृष्टि और संकर की संसृष्टि और संकर, इस प्रकार ध्वनि के अनन्त प्रकार हो जाते हैं। हमने यहाँ पर जितने भी उदाहरण दिये हैं वह तो केवल भेदों की दिशा दिखलाना है जिससे सहृदय लोग उसी पद्धति का आश्रय लेकर ध्वनि की व्याख्या विभिन्न काव्यों में कर सकें अथवा उसे समझ सकें। ध्वनि की इयत्ता दिखलाना प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य नहीं है ॥४४॥

(ध्वन्या०) **इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।**
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥ ४५ ॥

उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति ।

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ४६ ॥

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली च रीतयः प्रवर्तिताः । रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक्स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते । तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित् ।

(अनु०) यह उक्त लक्षणवाली जो ध्वनि सज्जनों के द्वारा अथवा सत्काव्य को करने के लिये या जानने के लिये ठीक रूप में उद्यत लोगों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक विवेचित की जानी चाहिये ॥४५॥

उक्त स्वरूपवाली ध्वनि के निरूपण में निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चितरूप से ही काव्यविषय में प्रकर्ष पदवी को प्राप्त कर लेते हैं ।

'जैसा कहा गया है यह काव्यतत्त्व अस्फुटरूप में स्फुरित हो रहा था । (इसकी) व्याख्या करने के लिये असमर्थ होनेवालों के द्वारा वैदर्भी गौडी और पाञ्चाली ये रीतियां प्रवृत्त की गईं । रीति तत्त्व का विधान करनेवालों के सामने यह काव्यतत्त्व अस्फुटरूप में थोड़ा सा स्फुरित हो रहा था यह लक्षित होता है । वह यहां पर स्फुटरूप में प्रदर्शित (ध्वनि सिद्धान्त) के कारण अन्य रीति लक्षण की कोई आवश्यकता नहीं ।

(लो०) अथ 'सहृदयमनःप्रीतये' इति यत्सूचितं तदिदानीं न शब्दमात्रमपितु निर्व्यूढमित्याशयेनाह—**इत्युक्तेति ।** यः प्रयत्नतो विवेच्यः अस्माभिश्चोक्तलक्षणो ध्वनिरेतदेव काव्यतत्त्वं यथोदितेन प्रपञ्च्य निरूपणादिना व्याकर्तुमशक्नुवद्भिरलङ्कारकारैः रीतयः प्रवर्तिताः इत्युक्तकारिकया सम्बन्धः । अन्ये तु यच्छब्दस्थाने 'अयम्' इति पठन्ति । **प्रकर्षपदवीमिति ।** निर्माणे बोधे चेति भावः । व्याकर्तुमशक्नुवद्भिरित्यत्र हेतुः—अस्फुटं कृत्वा स्फुरितमिति । **लक्ष्यत इति ।** रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता । यदाह—विशेषो गुणात्मा गुणाश्च रसपर्यवसायिन एवेति ह्युक्तं प्राग्गुणनिरूपणे—'श्रृङ्गार एव मधुरः' इत्यत्रेति ॥ ४५-४६ ॥

(अनु०) अब 'सहृदयमन को प्रीति के लिये' यह जो सूचित किया था वह इस समय शब्दमात्र नहीं है अपितु पूरा हो गया । इस आशय से कहते हैं—'यह उक्त' इत्यादि । जो उक्त लक्षणवाली ध्वनि प्रयत्नपूर्वक हमारे द्वारा विवेचित की जानी चाहिये; यही काव्यतत्त्व है, इस काव्यतत्त्व की ठीक रूप में बतलाये हुए प्रपञ्चनिरूपण इत्यादि के द्वारा व्याख्या करने में असमर्थ लोगों के द्वारा रीतियां प्रवृत्त की गईं यह उत्तर कारिका से सम्बन्ध है । और लोग तो 'यत्' शब्द के स्थानपर 'अयम्' यह पढ़ते हैं । 'प्रकर्षपदवी को' यह । भाव यह है कि

निर्माण में और बोध में। 'व्याख्या करने में असमर्थ हुए' इसमें हेतु है—'अस्फुट करके स्फुरित यह। 'लक्षित होता है' यह। रीतियां निस्सन्देह गुणों में ही पर्यवसित होती हैं। जैसा कहा गया है—विशेष गुणात्मक होता है और गुण रसपर्यवसायी होते ही हैं यह निस्सन्देह पहले गुणनिरूपण में कहा गया है—'श्रृंगार ही मधुर होता है' इसमें ॥४५, ४६॥

तारावती—४५ वीं कारिका में ध्वनि निरूपण के प्रयोजन का उपसंहार किया गया है। उपक्रम में प्रयोजन पर दृष्टिपात करते हुए 'सहृदयमनःप्रीतये' लिखा गया था यह सहृदय-मनःप्रीति कोई झूठा वादा नहीं था। यहां तक ध्वनिसिद्धान्त का पूर्ण विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया गया कि सहृदय मनःप्रीति जो कि प्रमुख लक्ष्य था वह पूरा कर दिया गया। ४५वीं कारिका के प्रथम चरण में लोचन के अनुसार दो प्रकार का पाठ प्राप्त होता है—(१) 'इत्युक्तलक्षणोऽयं ध्वनिः' और (२) 'इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिः'। प्रथम पाठ के अनुसार यह एक पूरा वाक्य है और स्वतन्त्र रूप में अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस पाठ के अनुसार इसका सार यह है इस ध्वनि का लक्षण बतलाया जा चुका और उसकी व्याख्या भी कर दी गई। सज्जनों का कर्तव्य है कि वे इसकी मनोयोगपूर्वक विवेचना करें। इसी प्रकार जिन लोगों की कामना है कि वे उत्तम काव्य की रचना कर सकें अथवा जिनकी कामना है कि वे उत्तम काव्य का परिज्ञान कर सकें इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों का परम कर्तव्य है कि वे ध्वनि का ठीक रूप में विवेचन करें। प्रथम पाठ के अनुसार इस कारिका का यही आशय है।

काव्य के मूलतत्त्व के रूप में रीतियों का प्रवर्तन और ध्वनि

अब दूसरे पाठ को लीजिए। इसमें 'अयम्' के स्थान पर 'यः' पाठ है। अत एव यह एक अपूर्ण वाक्य रह जाता है और उसका अर्थ पूरा करने के लिए ४६ वीं कारिका का आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार ४५ वीं और ४६ वीं कारिकाओं का सम्मिलित अर्थ हो जाता है। ४५ वीं कारिका उद्देश्य वाक्य है और ४६ वीं कारिका विधेय वाक्य। इस प्रकार इन दोनों का मिलाकर अर्थ यह होगा कि—जिस ध्वनि के लक्षणों का हमने उक्त प्रकरण में ठीक रूप में निरूपण किया है, जिस ध्वनि का विवेचन करना सज्जनों का परम कर्तव्य है और सत्काव्य की रचना करनेवाले कवियों तथा सत्काव्य को समझने की इच्छा करनेवाले सहृदयों दोनों के द्वारा जिस ध्वनि का विवेचन करना अपरिहार्य कर्तव्य है वह ध्वनि एक सर्वप्रमुख काव्यतत्त्व है जैसा कि उक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। यह काव्यतत्त्व अस्फुट रूप में प्राचीन काव्यशास्त्रियों के सम्मुख स्फुरित अवश्य हुआ था। किन्तु क्योंकि यह तत्त्व बहुत स्पष्ट नहीं था अत एव प्राचीन आचार्य उसकी ठीक रूप में व्याख्या नहीं कर सके। किन्तु उन्होंने इस तत्त्व की व्याख्या करने की चेष्टा अवश्य की और उसका परिणाम यह हुआ कि उन आचार्यों ने रीतियों का प्रवर्तन कर डाला। उनके विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि काव्य का यह तत्त्व बहुत ही मन्द रूप में उनके मस्तिष्क में विद्यमान अवश्य था किन्तु उसका स्पष्ट चित्र उनके सामने नहीं था। उन्होंने व्याख्या करने की चेष्टा की किन्तु वे ठीक व्याख्या नहीं कर सके। इसीलिए उन्होंने रीतियों को प्रवृत्त कर दिया। ये रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। उन्होंने रीति की परिभाषा बनाई

'विशिष्टा पदरचना रीतिः' अर्थात् विशेष प्रकार की पदरचना को रीति कहते हैं। इस पदरचना की विशेषता होती है गुणात्मक अर्थात् ऐसी पदरचना जिसमें गुण विद्यमान हो। बस उन आचार्यों का विवेचन यहाँ पर रुक गया। उन्होंने यह बतलाने की चेष्टा नहीं की कि गुणों को गुणरूपता प्रदान करनेवाला तत्त्व कौन सा है। यदि उन्होंने यह विचार किया होता तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि गुणों का पर्यवसान रस में ही होता है। ध्वनिकार ने कहा ही है— 'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।' इसका अर्थ यह है कि माधुर्य शृङ्गारपर्यवसायी ही होता है। (रस सर्वदा व्यङ्ग्य ही होते हैं।) इस प्रकार स्वतः सिद्ध हो जाता है कि काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व ध्वनि ही है। इस ध्वनि की व्याख्या की जा चुकी। अतः अब रीति के विस्तृत विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं रह गई।

रीतियों का संक्षिप्त परिचय

[यहाँ पर ध्वनिकार ने लिखा है कि रीति का प्रवर्तन वस्तुतः काव्य के मूलतत्त्व के अनुसन्धान की चेष्टामात्र है। यहाँ पर ध्वनिकार ने सम्भवतः वामन की ओर संकेत किया है क्योंकि वामन ने ही स्पष्ट रूप में रीति को काव्य-आत्मा कहा है। आनन्दवर्धन ने व्याख्या करने में तीन रीतियों का उल्लेख किया है वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। यह मान्यता भी वामन की ही है। अभिनव गुप्त ने तो वामन के सूत्रों का भी उल्लेख कर दिया है। इन सब प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ पर वामन की ही ओर आचार्यों ने संकेत किया है।

वस्तुतः रीतियों का इतिहास बहुत पुराना है। भरतमुनि ने तो देश-भेद पर आधारित आचार-व्यवहार और रीति-रिवाजों का वर्णन किया ही है। वाणी का आचार ही रीति है। काव्य शास्त्र का सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ भामह का काव्यालङ्कार है। इसमें सबल शब्दों में काव्य रीति को वैदर्भी और गौडी के रूप में विभाजित करने का प्रतिवाद किया गया है और कहा गया है कि दूसरे विद्वान् रीतियों की मान्यता स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भामह के बहुत पहले रीतियाँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं और देशभेद के आधार पर एक अच्छी और दूसरी बुरी ये दो रीतियाँ मानी जाने लगी थीं। बाणभट्ट ने चार रीतियों का उल्लेख कर उनके समन्वय की चेष्टा की है। ये चारों रीतियाँ हैं उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी। ज्ञात होता है कि काल क्रम से उत्तरी और पश्चिमी शैलियों ने अपनी सत्ता खो दी थी और दक्षिणी (वैदर्भी) तथा पूर्वी (गौडी) ये दो शैलियाँ ही शेष रह गई थीं। इन दोनों शैलियों का विस्तृत विवेचन और इनके प्रति पूरी आस्था हमें दण्डी के काव्यादर्श में प्राप्त होती है। दण्डी ने १० काव्य गुणों का उल्लेख किया है और उनकी सत्ता वैदर्भी रीति में मानी है। दण्डी के बाद वामन ने स्पष्ट रूप में रीति को काव्य की आत्मा कहा। इनकी मौलिकता दो बातों में है—(१) एक तो इन्होंने १० के स्थान पर २० गुण मान लिये १० शब्द गुण और १० अर्थ गुण। अर्थ गुणों में ओज प्रौढि माधुर्य (उक्तिश्लेष) और कान्ति (दीप्तरसत्व) को स्वीकार कर इन्होंने रीतियों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक बना दिया और (२) इन्होंने दो के स्थान पर तीन रीतियाँ स्वीकार कीं। उक्त दोनों रीतियों में एक पाञ्चाली रीति और जोड़

दी। किन्तु वामन ने गुण साकल्य के कारण वैदर्भी को ही ग्राह्य बतलाया और शेष दो में गुणों की कमी बतलाकर उनको स्वीकार न करने का निर्देश दिया। वामन के बाद आनन्दवर्धन के समय तक रीतियों की संख्या में केवल एक की वृद्धि हुई—रुद्रट ने लाटीया रीति को और स्वीकार कर रीतियों की संख्या चार कर दी और अच्छी रीतियों में वैदर्भी तथा पाञ्चाली को और बुरी रीतियों में गौडी तथा लाटी को सन्निविष्ट कर दिया। रुद्रट ने रीतियों का सम्बन्ध वस्तु से भी स्थापित कर दिया। आनन्दवर्धन के पहले रीतियों की यही स्थिति थी। रीतियों का मुख्य आधार तो शब्दगुम्फ ही है। कतिपय आचार्यों ने रीतियों के विवेचन में वर्ण-सङ्घटना पर विचार किया है तथा कतिपय अन्य रुद्रट इत्यादि आचार्यों ने समास प्रयोग पर रीतियों को आधृत माना है। किन्तु रीतियों के केवल यही दो आधार नहीं हैं। दण्डी तथा वामन ने रीतियों के आधारभूत तत्त्वों में काव्य के प्रायः समी तत्त्व समेट लिये हैं वाण ने भी श्लेष इत्यादि को रीतियों का आधार माना है। ध्वनिकार तथा ध्वनिसम्प्रदायवादी दूसरे आचार्य रीतियों को अस्वीकृत तो नहीं करते किन्तु उनका कहना है कि रीतियों की काव्य के मूलतत्त्व के रूप में यह कल्पना सर्वथा अधूरी है। यदि रीतियों के मूलाधार का अनुसन्धान किया जाय तो वह रस ही सिद्ध होगा। 'कोमलबन्ध से श्रृङ्गाररस' 'कठोरबन्ध से रौद्ररस' इत्यादि कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रृङ्गार इत्यादि सब वाच्य नहीं होते अपितु बन्ध के आधार पर उनकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार यदि रीतियों का ठीक रूप में अनुसन्धान किया जाय तो उनका पर्यवसान ध्वनि सिद्धान्त में ही होगा। ध्वनि सिद्धान्त की ठीक ठीक व्याख्या कर देने पर रीतियों के विवेचन की आवश्यकता ही नहीं रह गई।]

(ध्वन्या०) **शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः।**
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे॥ ४७ ॥

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति। अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्वम्।

(अनु०) 'इस काव्यलक्षण के ज्ञात हो जाने पर वृत्तियाँ भी प्रकाशित होती हैं; कुछ शब्दतत्त्व के आश्रित होती हैं और दूसरी अर्थतत्त्व के आश्रित' ॥४७॥

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-विवेचनमय काव्यलक्षण के ज्ञात हो जाने पर जो कोई प्रसिद्ध उपनागरिका इत्यादि शब्दतत्त्वाश्रित वृत्तियाँ और जो अर्थतत्त्व से सम्बद्ध कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ वे ठीक रूप में रीतिपदवी पर अवतीर्ण होती हैं। नहीं तो उन वृत्तियों का अदृष्टार्थ के समान अश्रद्धेयत्व ही हो जाय अनुभवसिद्धत्व नहीं।

(लो०) **प्रकाशन्त इति।** अनुभवसिद्धतां काव्यजीवितत्वे प्रयान्तीत्यर्थः। **रीतिपदवीमिति।** तद्वदेव रसपर्यवसायित्वात्। प्रतीतिपदवीमिति वा पाठः। नागरिकया

ह्युपमितेत्यनुप्रासवृत्तिः शृङ्गारादौ विश्राम्यति। परुषेति दीप्तेषु रौद्रादिषु। कोमलेति हास्यादौ। तथा—'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः। यदाह—'कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गाररससम्भवा' इत्यादि।

इयता तस्याभावं जगदुरपरे इत्यादावभावविकल्पेषु वृत्तयो रीतयश्च गता श्रवणगोचरं, तदतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति तत्र कथञ्चिदभ्युपगमः कृतः कथञ्चिच्च दूषणं दत्तमस्फुटस्फुरितमिति वचनेन।

(अनु०) 'प्रकाशित होती हैं' यह। अर्थात् काव्यजीवितत्व में अनुभवसिद्धता को प्राप्त हो जाती हैं। 'रीतिपदवी को' यह। उसी के समान रसपर्यवसायी होने के कारण अथवा 'प्रतीतिपदवी को' यह पाठ है। 'नागरिका के साथ उपमित' इस (अर्थ) से अनुप्रासवृत्ति शृङ्गार इत्यादि में विश्रान्त होती है। 'परुषा' यह दीप्त रौद्र इत्यादि में। 'कोमला' यह हास्य इत्यादि में। तथा मुनि ने जो कहा है कि वृत्तियों की माता काव्य ही होता है उसमें रसोचित चेष्टाविशेष ही वृत्ति कहलाती है जैसा कि कहते हैं—

'कैशिकी कोमल नेपथ्यवाली होती है जिसका जन्म शृंगार से होता है।'

इतने से 'दूसरे लोग उसका अभाव कहते हैं' इत्यादि में अभाव के विकल्पों में वृत्तियां और रीतियां श्रवणगोचर हुई हैं, उनसे अतिरिक्त यह ध्वनि क्या वस्तु है?' यह (जो कहा था) उसमें किसी प्रकार स्वीकृति दे दी और किसी प्रकार 'अस्फुटस्फुरित' इस वचन के द्वारा दोष दे दिया।

वृत्तियाँ और ध्वनि

तारावती—४७ वीं कारिका वृत्तियों के विषय में है। इसका आशय यह है कि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का विवेचन करना हो काव्य का लक्षण है। जब इतनी बात मान ली गई और व्यङ्ग्यव्यञ्जक के रूप में काव्यलक्षण का विवेचन कर दिया गया तब काव्य जीवन के पर्यालोचन के क्षेत्र में वृत्तियों पर विचार करना भी सार्थक हो जाता है। ये वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ होती हैं जिनका आश्रय शब्दतत्त्व होता है और दूसरी वृत्तियाँ कैशिकी इत्यादि होती हैं जिनका आश्रय अर्थतत्त्व होता है। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के विषय में भी वही कहा जा सकता है जो कि ४६ वीं कारिका में रीतियों के विषय में कहा गया है। अर्थात् वृत्तियाँ भी रीतियों के समान ही रसपर्यवसायिनी होती हैं। यदि रस की सत्ता ही न मानी जाय तो वृत्तियों पर विचार करना ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः रस पर विना विचार किये वृत्तियों पर बिचार अधूरा ही रह जावेगा। रस-प्रवणता के अभाव में उन वृत्तियों पर उसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकेगा जिस प्रकार यज्ञ इत्यादि कार्यों पर विश्वास नहीं किया जाता क्योंकि उनका फल प्रत्यक्ष नहीं अपितु अदृष्ट होता है जिस प्रकार प्रत्यक्ष फल न दिखलाई पड़ने के कारण यज्ञ इत्यादि अनुभव सिद्ध नहीं माने जाते उसी प्रकार वृत्तियों को भी कोई प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध नहीं मानेगा। अतः वृत्तियों का रसप्रवण मानना ही उचित है।

वृत्तियों का संक्षिप्त परिचय

[यहां पर वृत्तियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति ये तीन शब्द काव्यशास्त्र में प्रयुक्त हुए हैं। इनका अन्तर दिखलाते हुए राजशेखर ने लिखा है—वेषविन्यासक्रम को प्रवृत्ति कहते हैं, विलासविन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं और वचनविन्यासक्रम को रीति कहते हैं। अग्निपुराण में इनको अनुभावों के अन्तर्गत रक्खा गया है। शरीरारम्भ अनुभाव आङ्गिक अभिनय कहलाता है जिसे प्रवृत्ति शब्द से अभिहित किया जाता है। वागारम्भ अनुभाव वाचिक अभिनय होता है जो कि रीति शब्द से अभिहित किया जा सकता है। वृत्ति समस्त क्रियाओं को कहते हैं। वृत्तियों का निरूपण आनन्दवर्धन के पहले पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका था। भरत मुनि ने ही वृत्तियों का सर्वप्रथम विवेचन किया था। उनके अनुसार वृत्तियां चार प्रकारकी होती हैं–सात्वती, कैशिकी, आरभटी और भारती। यदि इन वृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो उसका निष्कर्ष यह होगा कि सात्वती वृत्ति सात्विकाभिनय में प्रयुक्त होती है। इसका उपयोग नाट्य में होता है। कैशिकी वृत्ति कोमल वर्णन में प्रयुक्त होती है और आरभटी कठोर वर्णन में। भारती वृत्ति सभी प्रकार के वाचिक अभिनय को कहते हैं। अतः समस्त श्रव्यकाव्य भारती वृत्ति में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इस भारती वृत्ति को कैशिकी और आरभटी परिवर्तित कर देती हैं। यदि भारती वृत्ति कैशिकी के साथ होगी तो वह वैदर्भी रीति बन जावेगी और यदि आरभटी के साथ होगी तो गौडीरीति बन जावेगी। यह वृत्तियों के विषय में भरतमुनि-सम्मत परम्परा है। इसके अतिरिक्त वृत्तियों के विषय में दूसरी मान्यता है अलंकारवादियों की। इनके अनुसार अनुप्रास-जाति को ही वृत्ति कहते हैं। अनुप्रास तीन प्रकार का होता है, उसी आधार पर तीन वृत्तियों की कल्पना की गई है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। इसी आधार पर अनुप्रास का एक भेद वृत्त्यनुप्रास माना गया है। आनन्दवर्धन को भरत की वृत्तियों का तो ज्ञान है ही उद्भट की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों का भी उन्हें पूरा ज्ञान है। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों की व्यवस्था तथा समन्वय उन्होंने इस प्रकार किया है कि भरत की कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ अर्थगत होती हैं और उद्भट की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ शब्दगत होती हैं। यहाँ पर ध्वनिकार का आशय यही है कि वृत्तियाँ रसाभिव्यक्ति और रसानुभूति की साधनमात्र हैं। अतः इनकी मान्यता ही ध्वनिसिद्धान्त में एक प्रमाण है।]

रीतियों और वृत्तियों में ध्वनि के अन्तर्भाव का उपसंहार

यह तो स्पष्ट ही है कि उपनागरिका का अर्थ है नगरनिवासिनी ललना का अनुकरण करनेवाली वृत्ति। जिस प्रकार नगरनिवासिनी ललना अपने सौकुमार्य के लिये प्रसिद्ध होती है उसी प्रकार अनुप्रास की उपनागरिका नामक वृत्ति भी शृङ्गाररस में विश्रान्त होती है। उसी प्रकार परुषा शब्द का अर्थ है कठोर वृत्ति। यह रौद्र इत्यादि दीप्त रसों में विश्रान्त होती है तथा कोमला हास्य इत्यादि में विश्रान्त होती है। ये वृत्तियाँ रसपर्यवसायिनी होती हैं इसमें स्वयं भरतमुनि प्रमाण हैं। उन्होंने लिखा है कि 'वृत्तियों की माता काव्य ही है।' इस कथन से मुनि का तात्पर्य यही है कि वृत्ति उन विशेष प्रकार की चेष्टाओं को कहते हैं

जिनका सन्निवेश रस के औचित्य को ध्यान में रखकर किया गया हो। (क्योंकि भरत की कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ वस्तुतः चेष्टा की विशेषता में ही हैं क्योंकि उन्हीं को लक्षित कर कहा गया है कि 'विलासविन्यासक्रमो हि वृत्तिः'।) यहाँ पर मुनि का अभिप्राय रसप्रवण चेष्टाविशेष को वृत्ति कहना है। इस मान्यता में भी मुनि का वचन ही प्रमाण है, क्योंकि मुनि ने अन्यत्र स्वयं कहा है कि—'कैशिकी का संविधान कोमल होता है और उसकी उत्पत्ति श्रृंगाररस से होती है।'

सारांश यही है कि वैदर्भी रीति कैशिकी अर्थवृत्ति और उपनागरिका शब्दवृत्ति माधुर्य के कारण श्रृंगाररस के अनुकूल होती हैं। इसी प्रकार गौडी रीति आरभटी अर्थवृत्ति और परुषा शब्दवृत्ति ये ओज के कारण रौद्र रस के अनुकूल होती हैं और पाञ्चाली रीति, सात्वती अर्थवृत्ति और कोमला शब्दवृत्ति ये प्रसाद की प्रधानता के कारण हास्य इत्यादि के अनुकूल होती हैं। इन वृत्तियों की स्वरूपस्थिति रस के कारण ही होती है। अतः वृत्तियों से रस सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। रस सर्वदा व्यंग्य ही होता है, अतः वृत्तियों की दृष्टि से भी ध्वनि ही काव्य का परम तत्त्व सिद्ध होता है।

रीतियों और वृत्तियों को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते अपितु उनका अन्तर्भाव ध्वनिसिद्धान्त में ही हो जाता है, यह ऊपर दिखलाया गया है। इसके प्रतिपादन का कारण यह है कि अभाववादियों में कुछ लोग रीतियों और वृत्तियों में ध्वनि के अन्तर्भाव का समर्थन करते थे। अतः उनकी मान्यता पर विचार करना उचित तथा आवश्यक था। इस मान्यता को आनन्दवर्धन ने आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया और आंशिक रूप में उसका प्रत्याख्यान कर दिया। ध्वनिकार ने इसी सिद्धान्त का समर्थन किया कि रीति और वृत्ति को काव्य की आत्मा मानना केवल एकाङ्गी दृष्टिकोण है। रीतियाँ और वृत्तियाँ रसप्रवण होकर ही काव्य की आत्मा हो सकती हैं। अतः दृष्टिकोण ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना ही है।

(ध्वन्या०) एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः। यत्र शब्दानामर्थानां च केषाञ्चित्प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमवभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहार इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते केनचित्तदयुक्तमिति नाभिधेयतामर्हति। यतः शब्दानां स्वरूपाश्रयस्तावदक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः। वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेतिविशेषः। अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यङ्ग्यपरत्वं व्यङ्ग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेषः। तौ च विशेषौ व्याख्यातुं शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम्। तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूलैव। यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्। सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सति प्रकाशमानत्वं तु यदानाख्येयत्वमुच्यते क्वचित् तदपि काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां लक्षणकारैर्व्याकृतरूपत्वात्। रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैव मूल्यस्थितिपरिकल्पनादर्शनाच्च। उभयेषामपि तेषां प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यत्वमस्त्येव। वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः?

(अनु०) इस प्रकार स्फुटरूप में ही इस ध्वनि का स्वरूप लक्षित करने योग्य है। जहाँ कुछ शब्दों और अर्थों का रत्नविशेषों के जात्यत्व के समान विशेष प्रतिपत्ता से संवेद्य चारुत्व न कहने योग्य ही अवभासित होता है उस काव्य में ध्वनि-व्यवहार होता है यह जो ध्वनि का लक्षण किसी के द्वारा कहा जाता है वह अनुचित है अतः वर्णन की योग्यता को प्राप्त नहीं कर पाता। क्योंकि शब्दों की स्वरूपाश्रित विशेषता है क्लिष्ट न होने पर प्रयुक्त का प्रयोग न करना। वाचकाश्रित विशेषता है प्रसाद और व्यञ्जकत्व। अर्थों की विशेषता है स्फुटरूप में अवभासित होना, व्यङ्ग्यपरता और व्यङ्ग्यांशविशिष्टता। उन दोनों विशेषताओंकी व्याख्या की जा सकती हैं और बहुत प्रकार से व्याख्या की भी गई है। उससे भिन्न अनाख्येय विशेष की सम्भावना तो विवेकध्वंसमूलक ही है। क्योंकि सर्व शब्द के अगोचररूप में किसी का अनाख्येयत्व सम्भव नहीं है क्योंकि अन्त में अनाख्येय शब्द से उसका अभिधान सम्भव है। सामान्य का संस्पर्श करनेवाले विशेष से जो शब्द, उससे अगोचर होते हुए प्रकाशमानत्व यदि कहीं अनाख्येयत्व कहा जाय वह भी रत्नविशेषों के समान काव्यविशेषों का सम्भव नहीं है। क्योंकि लक्षणकारों ने उसके रूप की व्याख्या कर दी और क्योंकि सामान्य सम्भावना के द्वारा ही मूल्यस्थिति की परिकल्पना देखी जाती है। उन दोनों का ही प्रतिपत्तृविशेष सम्वेद्यत्व है ही क्योंकि वैकटिक ही रत्न का तत्त्व जाननेवाले होते हैं और सहृदय ही काव्यों के रसज्ञ होते हैं इस विषय में किसको विप्रतिपत्ति हो सकती है?

(लो०) इदानीं वाचां स्थितमविषये इति यदूचे तत्तु प्रथमोद्योते दूषितमपि दूषयति सर्वप्रपञ्चकथने हि असम्भाव्यमेवानाख्येयत्वमित्यभिप्रायेण। **अक्लिष्टत्व इति।** श्रुतिकष्टाद्यभाव इत्यर्थः। अप्रयुक्तस्य प्रयोग इत्यपौनरुक्त्यम्। ताविति शब्दगतोऽर्थगतश्च। विवेकस्यावसादो यत्र तस्य भावो निर्विवेकत्वम्। सामान्यस्पर्शी यो विकल्पस्ततो यः शब्दः। दृष्टान्तेऽपि अनाख्येयत्वं नास्तीति दर्शयति—**रत्नविशेषाणां चेति**। ननु सर्वेण तत्र संवेद्यत इत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरयति—**उभयेषामिति।** रत्नानां काव्यानां च।

(अनु०) इस समय 'वाणी के अविषय में स्थित' यह जो कहा गया वह प्रथम उद्योत में दूषित भी सर्वप्रपञ्चकथन में निस्सन्देह अनाख्येयत्व असम्भव ही है इस अभिप्राय से (पुनः) दूषित कर रहे हैं—'अक्लिष्टत्व' यह। अर्थात् श्रुतिकष्टत्व इत्यादि का अभाव। अप्रयुक्त के प्रयोग का अर्थ है अपौनरुक्त्य। वे दोनों अर्थात् शब्दगत और अर्थगत। विवेक का अवसाद है जिसमें उसका भाव अर्थात् निर्विवेकत्व। सामान्य का स्पर्श करनेवाला जो विकल्प उससे जो शब्द। दृष्टान्त में भी अनाख्येयत्व नहीं है यह दिखलाते हैं—'और रत्न विशेषों का' यह। (प्रश्न) सबके द्वारा वह विदित नहीं किया जा सकता यह शङ्का करके स्वीकृति पूर्वक ही उत्तर देते हैं—'दोनों का' यह। रत्नों का और काव्यों का।

अशक्य-वक्तव्यत्व पक्ष का खण्डन

तारावती—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे अभाववाद के तीनों पक्षों और लक्षणा में अन्तर्भाव के प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है और यह सिद्ध हो गया है कि

ध्वनि का अन्तर्भाव इन किन्हीं काव्य के प्रतिष्ठित तत्त्वों में नहीं हो सकता तथा ध्वनि काव्य का सर्व प्रमुख स्वतन्त्र तत्त्व है। अब पाँचवाँ पक्ष शेष रह जाता है जिसमें यह कहा गया है कि ध्वनि का तत्त्व सर्वथा अनिर्वाच्य है और वाणी में इतनी शक्ति ही नहीं कि उसका ठीक विवेचन कर सके। यद्यपि इसका उत्तर भी पहले उद्योत में दिया जा चुका है तथापि अन्त में उसपर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। इस पक्ष वालों के कथन का सार यही है कि जिस प्रकार माणिक्य का एक धर्म होता है जात्यत्व। यह धर्म माणिक्य में उत्कर्ष का आधान करता है। इस जात्यत्व धर्म को एक तो सभी लोग जान नहीं पाते, कतिपय विशेषज्ञ ही इससे परिचित होते हैं, दूसरे जो लोग इस जात्यत्व को जानते भी हैं वे भी ठीक रूप में उसकी व्याख्या नहीं कर सकते जिससे दूसरे लोग जात्यत्व के आधार पर माणिक्य के उत्कर्ष को पहिचान सकें। इसी प्रकार शब्दों और अर्थों में एक प्रकार की चारुता होती है। जिस प्रकार सभी रत्नों में जात्यत्व गुण विद्यमान नहीं होता उसी प्रकार सभी शब्दों और अर्थों में चारुता नहीं होती। कतिपय शब्द ही ऐसे होते हैं जिनमें इस प्रकार की चारुता विद्यमान होती है। जिस प्रकार रत्नों के जात्यत्व गुण को सभी लोग नहीं समझ पाते उसी प्रकार शब्दों और अर्थों की चारुता का ज्ञान भी कतिपय विशेष सहृदयों को ही होता है। किन्तु वह चारुता गूँगे के गुड़ के समान सर्वथा अनिर्वचनीय है। उसका आनन्द ही लिया जा सकता है प्रकथन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सौन्दर्य का जो अनिर्वचनीय तत्त्व अवभासित होता है वही ध्वनि नाम से अभिहित किया जा सकता है। यह है कुछ लोगों का मत। इस पर निवेदन है कि यह मत तो नितान्त अनुचित है, अतः इस प्रश्न का उठाया जाना भी ठीक नहीं। ऐसी कौन सी विशेषता होती है जिसका निरूपण न किया जा सके। उदाहरण के लिये शब्द को ही लीजिये। शब्द की तीन प्रकार की विशेषतायें होती हैं—(१) स्वरूपगत विशेषता (२) वाचकत्व के आश्रित रहनेवाली विशेषता और (३) अर्थ की विशेषता। शब्द की स्वरूपगत विशेषता यही होती है कि शब्द श्रुतिकटु न हो और एक ही शब्द का बार-बार प्रयोग न किया जाय अर्थात् शब्द की पुनरुक्ति न हो। शब्द की वाचकाश्रित विशेषता यही होती है कि उसमें शीघ्र ही अर्थसमर्पण की शक्ति हो अर्थात् उसमें प्रसाद गुण विद्यमान हो और विशेष अर्थ के अभिव्यञ्जन की क्षमता हो। इसी प्रकार अर्थ की भी यही विशेषता होती है कि अर्थ स्फुटरूप में अवभासित हो रहा हो, वह दूसरे व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति उन्मुख हो और व्यङ्ग्यांश को लेकर उसकी चारुता में अभिवृद्धि हो रही हो। यही शब्द की कतिपय विशेषतायें हैं। इन समस्त विशेषताओं का कथन कर सकना असम्भव नहीं है और अधिकतर आचार्यों ने शब्द और अर्थ की इन विशेषताओं पर प्रकाश डाला भी है। इतना सब होते हुये भी शब्द और अर्थ की विशेषताओं को अनिर्वचनीय (गूँगे का गुड़) कह देना तो यही सिद्ध करता है कि कहनेवाले के विवेक का सर्वथा ध्वंस हो गया है और उसके अविवेक से ही इस प्रकार के तर्क उद्भूत हो गये हैं। आखिर 'अनाख्येय' शब्द का अर्थ क्या है? यही न कि ऐसी विशेषता जिसके लिये किसी शब्द का प्रयोग न किया जा सके अर्थात् जिसका निर्देश किसी शब्द के द्वारा न किया जा सके। यह तो सम्भव ही नहीं है। जितनी भी विशेषतायें होती हैं

सबके लिये किसी न किसी शब्द का प्रयोग तो किया ही जाता है और प्रत्येक वस्तु का अभिधान शब्द के द्वारा तो हो ही जाता है। यदि कहो कि कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जिनके लिये किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता तो इस पर मेरा निवेदन है कि यदि कोई ऐसी विशेषता सम्भव भी हो तो भी उसे 'अनाख्येय विशेषता' कहेंगे अर्थात् ऐसी विशेषता जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।' यह कहना भी तो उस विशेषता का एक परिचय देना ही हो गया। 'अनाख्येय' शब्द स्वयं ही उस विशेषता का परिचायक हो गया। अतः यह कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं कि कोई भी तत्त्व अनाख्येय हो सकता है।

इस विषय में पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि ज्ञान दो प्रकार का होता है एक तो सविकल्पक और दूसरा निर्विकल्पक। जो ज्ञान विशेषण-विशेष्य पर आधृत होता है वह सविकल्पक कहलाता है और जो ज्ञान विशेष्य-विशेषण पर आधृत नहीं होता वह निर्विकल्पक कहलाता है। उदाहरण के लिये हम किसी गाय को इस लिये पहिचान लेते हैं कि हमें गोत्व (आकृति) का ज्ञान है। गाय का ज्ञान विशेष्य ज्ञान है और गोत्व का ज्ञान विशेषण ज्ञान। अत एव गाय का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहा जावेगा। इससे प्रतिकूल जो ज्ञान विशेषण पर आधृत नहीं होता वह निर्विकल्पक कहलाता है। जब हम किसी ज्ञान को अनाख्येय या अनिर्वाच्य कहते हैं तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि उस ज्ञान का आधार कोई सामान्य धर्म नहीं है और वह ज्ञान सविकल्पक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। आशय यह है कि जो ज्ञान प्रकाशित तो होता है किन्तु सामान्य धर्म का स्पर्श करनेवाले सविकल्पक शब्द का क्षेत्र नहीं होता वह ज्ञान अनाख्येय कहा जाता है। इस पर मेरा निवेदन है कि यह परिभाषा मान लेनेपर भी काव्य अनाख्येय सिद्ध नहीं होता जैसे रत्नों की विशेषतायें जात्यत्व इत्यादि अनाख्येय नहीं होती। काव्यशास्त्र के अनेक लक्षणकार आचार्यों ने उन विशेषताओं की व्याख्या कर दी है। अतः हम उसे अनाख्येय कह ही नहीं सकते। रत्नों के विषय में और काव्य के विषय में उभयत्र यह कहा जा सकता है कि सामान्य की सम्भावना ही उनके लिये पर्याप्त होती है। रत्नों के मूल्य की परिकल्पना इतने से ही हो जाती है कि उनकी दृष्टि में सामान्य रूप से उसे रत्न की संज्ञा दे दी जावे। किन्तु उनका विशेष ज्ञान तो विशेष व्यक्तियों को ही होता है सामान्य व्यक्ति इतना तो जान लेता है कि यह रत्न होने के कारण बहुमूल्य है किन्तु उसमें जात्यत्व इत्यादि गुण विद्यमान है यह बात तो जौहरी ही जान पाता है। इसी प्रकार सामान्य सहृदय काव्य से चमत्कृत हो जाता है किन्तु उसके विशेष गुणों को विशेष सहृदय ही जान पाते हैं। इस विषय में तो किसी को विप्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती। यह उन लोगों को उत्तर दिया गया है जो यह कहते थे कि विशेषताओं का ज्ञान सभी को नहीं होता।

(ध्वन्या०) यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः। इह तु ग्रन्थान्तरश्रवणलवप्रकाशनं सहृदयवैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते। बौद्धमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथास्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति। तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादशब्दार्थत्वाच्च तस्योक्तमेव, ध्वनिलक्षणं साधीयः। तदिदमुक्तम्—

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षणं लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम् ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके तृतीय उद्योतः ॥

(अनु०) जो तो सब लक्षणों के विषय में अनिर्देश्यत्व बौद्धों का प्रसिद्ध है उसका निरूपण हम उनके मत की परीक्षा के दूसरे ग्रन्थ में करेंगे। यहाँ तो ग्रन्थांतर के श्रवण के एक अंश का प्रकाशित करना सहृदयों को वैमनस्य देनेवाला होगा अतः (उसका अंशमात्र भी प्रकाशन) नहीं किया जा रहा है। अथवा बौद्धमत से जैसे प्रत्यक्ष इत्यादि का लक्षण (किया जाता है) वैसा हमारा ध्वनिलक्षण हो जावेगा। इस कारण से उसके दूसरे लक्षण के घटित न होने से और शब्द का अर्थ न होने से कहा हुआ ही ध्वनिलक्षण अधिक अच्छा है। वह यह कहा गया है—

'ध्वनि के निर्वाच्यार्थक होने के कारण अनिर्वाच्यांशभासित्व लक्षण नहीं है; इसका लक्षण तो वही ठीक है जैसा कहा गया है ॥'

यह राजानक आनन्दवर्धनाचार्य के रचे हुए ध्वन्यालोक में तीसरा उद्योत है।

(लो०) ननु नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपीति, अनिर्देश्यस्य वेदकमित्यादौ कथमनाख्येयत्वं वस्तूनामुक्तमिति चेदत्राह—**यत्त्विति**। एवं हि सर्वभाववृत्तान्ततुल्य एव ध्वनिरिति ध्वनिस्वरूपमनाख्येयमित्यतिव्यापकलक्षणं स्यादितिभावः। **ग्रन्थान्तर इति**। विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृत्तिरमुना ग्रन्थकृता कृता तत्रैव तद्व्याख्यातम्। **उक्तमिति**। संग्रहार्थं मयैवेत्यर्थः। अनाख्येयांशस्याभासो विद्यते यस्मिन् काव्ये तस्य भावस्तन्न लक्षणं ध्वनेरिति सम्बन्धः। अत्र हेतुः **निर्वाच्यार्थतयेति**। निर्विभज्य वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः। अन्यस्तु 'निर्वाच्यार्थतया' इत्यत्र निसो नञर्थत्वं परिकल्प्यानाख्येयांशभासित्वेऽयं हेतुरिति व्याचष्टे, तत्तु क्लिष्टम्। हेतुश्च साध्याविशिष्ट इत्युक्तव्याख्यानमेवेति शिवम्।

काव्यालोके प्रथां नीतान् ध्वनिभेदान् परामृशत्।
इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान् संविधास्यति ॥
आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम्।
त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेश्वरीम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने ध्वनिसंकेते तृतीय उद्योतः ॥

(अनु०)(प्रश्न) अर्थ को शब्द स्पर्श नहीं ही करते यह अनिर्देश्यत्व का आवेदक है इत्यादि में वस्तुओं का अनाख्येयत्व कैसे कहा गया है यदि यह कहो तो यहाँ पर कहते हैं—'जो तो' यह। इस प्रकार निस्सन्देह सब पदार्थों के वृत्तान्त के समान ही ध्वनि है इसमें ध्वनिस्वरूप अनाख्येय है यह लक्षण अतिव्यापक हो जावेगा यह भाव है। 'ग्रन्थान्तर में' यह। विनिश्चयटीका में धर्मोत्तरी में ग्रन्थकार ने जो विवृति लिखी है वहीं उसकी व्याख्या की है। 'कहा गया है' यह। अर्थात् संग्रह के लिये मेरे द्वारा ही। अनाख्येय अंश का आभास जिस काव्य

में विद्यमान है उसका भाव वह ध्वनि का लक्षण नहीं है यह सम्बन्ध है। इसमें हेतु है—निर्वाच्य होने के कारण। अर्थात् निर्विभक्त करके कहे जाने योग्य होने के कारण। दूसरे ने तो 'निर्वाच्यार्थतया' यहां पर निस् के निषेध अर्थ की परिकल्पना करके यह हेतु अनाख्येयांशभासित्व में है यह व्याख्या की। वह तो क्लिष्ट है और हेतु साध्य से अवशिष्ट है अतः उक्त व्याख्या ही ठीक है। बस, आनन्द मंगल और कल्याण हो।

'काव्यालोक में विस्तार को प्राप्त ध्वनिभेदों का परामर्श करनेवाला लोचन अब लोकों को कृतार्थ कर देगा।'

'आसूत्रित भेदों को स्पष्टता की प्राप्ति करानेवाली त्रिलोचन की प्रिया परमेश्वरी मध्यमा देवी की मैं वन्दना कर रहा हूँ।'

यह है परममाहेश्वर श्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित ध्वनिसंकेत रूप सहृदयालोक लोचन में तृतीय उद्योत ॥

तारावती—यहाँ पर एक प्रश्न यह है कि बौद्धों में एक क्षणिकतावादी वर्ग है जो प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानता है। इस मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षण बदलती रहती है देवदत्त एक क्षण पहले और था दूसरे क्षण वह और ही हो गया। इस मत के अनुसार अनिर्देश्यत्व तो सभी वस्तुओं में आ गया। क्योंकि क्षणिक होने के कारण शब्द तो अर्थ का स्पर्श कर ही नहीं सकते। इस प्रकार जब सभी वस्तुयें अनाख्येय ही हैं तब ध्वनि में ही क्या विशेषता है कि उसको अनाख्येय न माना जा सके। इस विषय में आनन्दवर्धन का कहना यह है कि यह दार्शनिक विषय है। इसका विवेचन हम विनिश्चय नामक बौद्धग्रन्थ पर धर्मोत्तरी नाम की टीका लिखने के अवसर पर करेंगे। साहित्य के छात्र सुकुमार बुद्धिवाले होते हैं अतः यह विषयान्तर यदि उनके सामने विस्तार से रक्खा जावेगा तो वे ऊब उठेंगे और उनको वह विषय नीरस प्रतीत होगा। हाँ यहाँ पर इतना कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि बौद्ध लोग मानते तो सभी पदार्थों को क्षणिक हैं; फिर भी प्रत्यक्ष का लक्षण बनाते ही हैं। इसी प्रकार उनके मत को दुर्जनतोष न्याय से स्वीकार करते हुए भी हमारे ध्वनिलक्षण करने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार क्योंकि कोई दूसरा लक्षण सङ्कुटित नहीं होता और ध्वनि का वाच्य अर्थ है भी नहीं इसलिए हमारा बनाया हुआ लक्षण ही ठीक है।

अनिर्वाच्य पक्ष का उपसंहार

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसको एक ही श्लोक में मैंने इस प्रकारसंगृहीत किया है :—

'इस ध्वनि का अर्थ (निः) निश्शेष रूप में तथा इसको (निर्विभक्त कर) खण्ड-खण्ड करके निरूपित किया जा सकता है; अतः यह ध्वनि का यह लक्षण नहीं है कि ध्वनि उसे कहते हैं जिसमें अनाख्येय (अनिर्वाच्य) तत्त्व आभासित हो रहा हो। ध्वनि का वास्तविक लक्षण तो वही है जिसका भली भांति इस ग्रन्थ में प्रतिपादन कर दिया गया है।

इस श्लोक का अर्थ करने में किसी ने 'निर्वाच्यार्थतया' इस हेतु को 'अनाख्येयांशभासित्व' के साथ लगाया है और 'निः' का अर्थ किया है निषेध। इस प्रकार उनका अर्थ

यह हो जाता है कि 'क्योंकि ध्वनि के अर्थ का निर्वचन नहीं किया जा सकता अतः ध्वनि अनाख्येयांशभासी है।' किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि एक तो इसमें क्लिष्ट कल्पना है दूसरे 'निर्वाच्यार्थता' यह हेतु है और 'अनाख्येयांशभासित्व' साध्य है। दोनों का अर्थ एक ही है। अतः हेतु और साध्य में कोई भेद नहीं रहता। ऊपर जो अर्थ किया गया है वही माना जाना चाहिए। बस इतना पर्याप्त है। शेष यही कहना है कि सभी का इस ग्रन्थ के द्वारा आनन्दमंगल हो।

लोचन के समापन श्लोक

अन्त में लोचनकार ने दो उपसंहारात्मक श्लोक लिखे हैं। एक में लोचन के प्रयोजन का उपसंहार है और दूसरे में अन्त का मंगलाचरण है। प्रथम श्लोक का अर्थ यह है—

'काव्यालोक (ध्वन्यालोक) में विस्तारपूर्वक जिन ध्वनिभेदों का निरूपण किया गया है उन्हीं की छानबीन इस लोचन नामक व्याख्या में की गई है। यह लोचन तृतीय उद्योत तक पूरा हो चुका है। अतः अब यह इस योग्य हो गया है कि सहृदय समाज को ध्वनि का रहस्य समझाकर कृतार्थ कर दे। यह लोचन ऐसा ही करेगा ऐसी हमारी आशंसा है।'

दूसरा श्लोक ग्रन्थान्त में मंगलाचरणपूरक है। दूसरे उद्योत में पश्यन्ती देवी की अभ्यर्थना की गई थी, अब इस उद्योत में मध्यमा देवी की अभ्यर्थना की गई है। (वाणी के चार रूप हैं परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परारूप में सभी ध्वनियां 'क ख ग' इत्यादि एक सी रहती हैं; पश्यन्ती में भेद का सूत्रपात होता है जिसको केवल बुद्धि ग्रहण कर सकती है; फिर मध्यमा में भेद स्फुट हो जाते हैं। द्वितीय उद्योत में ध्वनिभेदों का सूत्रपात किया गया था; अतः उसमें पश्यन्ती की प्रार्थना ठीक थी। अब इस उद्योत में ध्वनिभेदों का स्पष्टीकरण किया गया है, अतः इसमें मध्यमा की प्रार्थना ही उचित है। दूसरी बात यह है कि शैव लोग शिव को ही परब्रह्म का स्वरूप मानते हैं और महामाया भगवती पार्वती ही हैं। भेदों का सूत्रपात कर जगत् को सत्ता में लाना और उनको स्पष्टता प्रदान करना यह महामाया भगवती पार्वती का ही कार्य है। अतः पश्यन्ती और मध्यमा ये भगवती पार्वती के ही रूप हैं। इस प्रकार इस पद्य में मध्यमा के रूप में भगवती पार्वती की वन्दना की गई है।) श्लोक का सार यह है—

'जिन भेदों का सूत्रपात हो जाता है उनको स्पष्टता प्रदान करनेवाली भगवती पार्वती की शक्ति मध्यमा रही है। यह त्रिलोचन भगवान् शंकर की प्रेयसी है। और उन्हीं के आधीन रहकर कार्य करती है। इसकी हम वन्दना करते हैं।'

यहां पर शंकर के लिए त्रिलोचन शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है। 'त्रि' शब्द तृतीय उद्योत की ओर संकेत करता है और 'लोचन' शब्द लोचन टीका की ओर। अतः त्रिलोचन की प्रिया मध्यमा देवी की वन्दना भी सार्थक हो जाती है और इससे यह भी अभिव्यक्त हो जाता है कि ध्वनिभेदों को स्पष्टता प्रदान करना ही लोचन टीका का प्रमुख उद्देश्य है।

●

चतुर्थ-उद्योतः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते—

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥ १ ॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम् ॥

(अनु०) इस प्रकार विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए प्रपञ्च के साथ ध्वनि का व्युत्पादन कर उसके व्युत्पादन में दूसरा प्रयोजन कहा जा रहा है ।

'गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ ध्वनि का जो यह मार्ग दिखलाया गया है इससे कवियों का प्रतिभागुण अनन्तता को प्राप्त हो जाता है ।'

जो यह ध्वनि का और गुणीभूतव्यङ्ग्य का मार्ग प्रकाशित किया गया है इसका फल है कविप्रतिभा की अनन्तता ।

(लो०) कृत्यपञ्चकनिर्वाहयोगेऽपि परमेश्वरः ।
नान्योपकरणापेक्षो यया तां नौमि शाङ्करीम् ॥

उद्योतान्तरसंगतिं विचारयितुं वृत्तिकार आह—**एवमिति** । **प्रयोजनान्तरमिति** । यद्यपि 'सहृदयमनःप्रीतये' इत्यनेन प्रयोजनं प्रागेवोक्तं, तृतीयोद्योतावधौ च सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वेति तदेवेषत्स्फुटीकृतं तथापि स्फुटतरीकर्तुमिदानीं यत्नः । यतस्सुस्पष्टरूपत्वेन विज्ञायते, अतोऽस्पष्टनिरूपितास्पष्टनिरूपणमन्यथैव प्रतिभातीति प्रयोजनान्तरमित्युक्तम् । अथवा पूर्वोक्तयोः प्रयोजनयोरन्तरं विशेषोऽभिधीयते, केन विशेषेण सत्काव्यकरणमस्य प्रयोजनं, केन च सत्काव्यबोध इति विशेषो निरूप्यते । तत्र सत्काव्यकरणे कथमस्य व्यापार इति पूर्वं वक्तव्यं निष्पादितस्य ज्ञेयत्वादिति तदुच्यते ॥ १ ॥

(अनु०) 'परमेश्वर कृत्यपञ्चक के निर्वाह योग में भी जिस माया के कारण अन्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं करते उस शाङ्करी माया की हम वन्दना करते हैं ।'

तीसरे उद्योत की सङ्गति पर विचार करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—'इस प्रकार यह । 'दूसरा प्रयोजन' यह । यद्यपि 'सहृदयों की मनःप्रीति के लिये' इसके द्वारा प्रयोजन पहले ही कहा गया और तृतीय उद्योत की समाप्ति पर्यन्त अच्छे काव्य को करने के लिए अथवा जानने के लिए उसीको कुछ स्पष्ट कर दिया गया तथापि और अधिक स्पष्ट करने के

लिए यह यत्न है। क्योंकि सुस्पष्टरूप में विज्ञात होता है; अतः अस्पष्ट निरूपित की अपेक्षा स्पष्टनिरूपण अन्यथा ही प्रतिभात होता है इसलिए प्रयोजनान्तर यह कहा गया है। अथवा पूर्वोक्त दोनों प्रयोजनों का अन्तर अर्थात् विशेषता बतलाई जा रही है कि किस विशेषता से सत्काव्य का बनाया जाना इसका प्रयोजन है और किससे सत्काव्यबोध यह विशेषता निरूपित की जा रही है। उसमें सत्काव्य करण में इसका व्यापार कैसे होता है यह पहले कहा जाना चाहिये क्योंकि निष्पादित ही ज्ञेय होता है। वह कहते हैं—'ध्वनि का जो' यह ॥१॥

लोचन का मंगलाचरण

तारावतो—चतुर्थ उद्योत के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में भी अभिनवगुप्त ने भगवान् शङ्कर की मायारूपिणी शक्ति की ही अभ्यर्थना की है। जिसका सार यह है—

'भगवान् शिव सर्वदा ५ कर्तव्यों का निर्वाह किया करते है—उत्पत्ति, स्थिति (पालन), संहार, तिरोभाव और अनुग्रहकरण। इन कर्तव्यों का पालन कोई सामान्य बात नहीं है तथापि इनके पालन में परमेश्वर को केवल एक साधन की अपेक्षा होती है वह है शङ्कर जी की मायारूपिणी शक्ति। उसके रहते हुए संसार के क्रियाकलाप सञ्चालित करने में भगवान् को किसी अन्य उपकरण की अपेक्षा ही नहीं होती। हम उसी मायारूपिणी शङ्कर की शक्ति को नमस्कार कर रहे हैं।'

यहाँ आशय यह है कि भगवती शाङ्करी शक्ति ही सबसे बड़ा साधन है जिससे विश्व के सारे क्रियाकलाप सञ्चालित होते हैं। हमें भी उस शाङ्करी शक्ति का ही पूरा विश्वास है कि केवल उसी की सहायता से हम ध्वन्यालोक की व्याख्या जैसे अपने दुस्तर कार्य को सफलतापूर्वक पूरा कर लेंगे।

तृतीय उद्योत की संगति तथा ध्वनिनिरूपण का प्रयोजनान्तर

चौथे उद्योत की प्रथम कारिका की व्याख्या करने के पहले वृत्तिकार ने प्रतीकात्मक उपक्रम में तृतीय और चतुर्थ उद्योतों की सङ्गति बैठाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि ध्वनि के विषय में आचार्यों में पर्याप्त विप्रतिपत्तियाँ चल रही थीं। जब तक उन विप्रतिपत्तियों का निराकरण नहीं किया जाता तब तक इस सिद्धान्त को स्थिरता प्राप्त ही नहीं हो सकती थी। अतः ध्वनि का हमें प्रपञ्च के साथ निरूपण करना पड़ा है और यह कार्य हमने तृतीय उद्योत के अन्त तक पूरा कर लिया। इस ध्वनिनिरूपण के और भी प्रयोजन हैं। अब इस चतुर्थ उद्योत में उन्हीं प्रयोजनों पर प्रकाश डाला जावेगा। 'दूसरे प्रयोजन' कहने का आशय यह है कि तृतीय उद्योत तक कतिपय प्रयोजन तो बतलाये जा चुके। प्रथम उद्योत में ही कहा गया था कि प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रयोजन है सहृदयमनःप्रीति, तृतीय उद्योत में भी ४५ वीं कारिका में कहा गया था कि इस ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन है सत्काव्य का करना या सत्काव्य समझना। वस्तुतः प्रथम उद्योत में कहे हुए प्रयोजन 'सहृदयमनःप्रीति' का ही स्पष्टीकरण है—सत्काव्य का करना या सत्काव्य का समझना। किन्तु यह बात वहाँ पर बहुत स्पष्ट नहीं थी। अब यह जो चतुर्थ उद्योत में प्रयोजन का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है

उसका मन्तव्य उसी प्रयोजन को और अधिक स्पष्ट करना है। (प्रश्न) जब उसी प्रयोजन को अधिक स्पष्ट किया जावेगा तब 'दूसरा प्रयोजन' कहने का क्या आशय? (उत्तर) चतुर्थ उद्योत के विवेचन के बाद वह प्रयोजन अधिक स्पष्टरूप में ज्ञात हो जावेगा। अतः अस्पष्ट-निरूपण और स्पष्टनिरूपण दोनों एक तत्त्व नहीं कहे जा सकते। स्पष्टता और अस्पष्टता में स्वाभाविक भेद होता है। इसीलिये स्पष्टनिरूपण को अस्पष्टनिरूपण की अपेक्षा पृथक् प्रयोजन कहा गया है। अथवा यहाँ पर प्रयोजनान्तर की यह व्युत्पत्ति नहीं होगी कि—'अन्यत् प्रयोजनमिति प्रयोजनान्तरम्' अपितु यहाँ पर अन्तर शब्द का अर्थ है भेद। अत एव यहाँ व्युत्पत्ति यह होगी—'प्रयोजनयोरन्तरमिति प्रयोजनान्तरम्' अर्थात् दो प्रयोजनों का भेद। आशय यह है कि दो प्रयोजन बतलाये गये हैं—सत्काव्य की रचना और सत्काव्य का बोध। अब इस चतुर्थ उद्योत में यह दिखलाया जावेगा कि इन दोनों प्रयोजनों में भेद क्या है? वे कौन सी विशेषतायें होती हैं जिनसे सत्काव्य की रचना ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन है तथा वे कौन सी विशेषतायें होती हैं जिनसे सत्काव्य का बोध ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन होता है? यही निर्णय इस उद्योत में किया जावेगा। समझना निर्माण के बाद आता है क्योंकि जब वस्तु बन जाती है तभी वह समझी जा सकती है। अतः पहले कवि की दृष्टि से ध्वनिनिरूपण के प्रयोजन पर विचार किया जावेगा; बाद में सहृदय की दृष्टि से प्रयोजन बतलाया जावेगा। इस पहली कारिका में कवि की दृष्टि से प्रयोजन बतलाया गया है। कारिका का अर्थ यह है—

'ध्वनि का भी मार्ग बतलाया जा चुका और गुणीभूतव्यङ्ग्य का भी। इसका (सहृदय-मनःप्रीति तो फल है ही दूसरा) फल यह भी है कि इससे कवि का प्रतिभा-गुण अनन्त हो जाता है॥ १॥

(ध्वन्या०) कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि॥ २॥

अतो ध्वनेरुक्तप्रभेदमध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती वाणी पुरातन-कविनिबद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति।

(अनु०) यदि कहो कैसे? तो—

'यदि दोनों में से किसी एक प्रकार से भी विभूषित वाणी पूर्व अर्थ के अन्वयवाली होते हुये भी नवीनताको प्राप्त हो जाती है॥ २॥

'इन दोनों में से अर्थात् ध्वनि के उक्त प्रभेदों के मध्य से अन्यतम प्रकार से विभूषित होती हुई वाणी पुराने कवियों के निबद्ध अर्थ का स्पर्श करती हुई भी नवीनता को प्राप्त हो जाती है।

(लो०) ननु ध्वनिभेदात् प्रतिभानामानन्त्यमिति व्यधिकरणमेतदित्यभिप्रायेणाशङ्कते—**कथमितीति**। अत्रोत्तरम्—**अतो हीति**। आसमन्तात् बहवः प्रकाराः, एकेनाप्येवं भवतीत्यपिशब्दार्थः। एतदुक्तं भवति—वर्णनीयवस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रति-

भानं, तत्र वर्णनीयस्य पारिमित्यादाद्यकविनैव स्पृष्टत्वात् सर्वस्य तद्विषयं प्रतिभानं तज्जातीयमेव स्यात्। ततश्च काव्यमपि तज्जातीयमेवेतिभ्रष्ट इदानीं कविप्रयोगः। उक्तिवैचित्र्येण तु त एवार्था निरवधयो भवन्तीति तद्विषयाणां प्रतिभानामानन्त्यमुपपन्नमिति। ननु प्रतिभानन्त्यस्य किं फलमितिनिर्णेतुं वाणी नवत्वमायातीत्युक्तं, तेन वाणीनां काव्यवाक्यानां तावन्नवत्वमायाति। तच्च प्रतिभानन्त्ये सत्युपपद्यते, तच्चार्थानन्त्ये तच्च ध्वनिप्रभेदादिति।

(अनु०) ध्वनिभेद से प्रतिभानन्त्य यह व्यधिकरण है इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—'कैसे ?' यह। यहाँ उत्तर है—'इन दोनों में से' यह।' 'आ' का अर्थ है कि एक प्रकार के द्वारा भी ऐसा हो जाता है। यह कहा गया है—'प्रतिभान' का अर्थ है वर्णनीय वस्तु में रहनेवाली प्रज्ञा की विशेषता। उसमें वर्णनीय के परिमित होने के कारण आदि कवि के द्वारा ही स्पृष्ट होने से सभी का तद्विषयक प्रतिभान तज्जातीय ही होगा। उससे काव्य भी तज्जातीय ही होगा इससे इस समय कविप्रयोग भ्रष्ट हो गया। उक्तिवैचित्र्य से तो ये ही विषय सीमातीत हो जाते हैं अत एव उनके विषयों का प्रतिभानन्त्य सिद्ध हो जाता है। प्रतिभानन्त्य का क्या फल है ? यह निर्णय करने के लिये वाणी नवीनता को प्राप्त हो जाती है यह कहा गया है। इससे वाणियों का अर्थात् काव्यवाक्यों का नवीनत्व आ जाता है। और वह प्रतिभा के अनन्त होने पर सिद्ध होता है और वह अर्थ की अनन्तता में और वह ध्वनि के प्रभेद से।

पुरानी उक्ति में ही ध्वनि से नवीनता का संचार

तारावती—दूसरी कारिका की प्रतीकयोजना करते हुये वृत्तिकार ने प्रश्न किया है 'यह कैसे ?'। इस प्रश्न का आशय यह है कि वस्तुतः प्रयोजन एकाधिकरण्य में होता है। जो व्यक्ति कोई कार्य करता है या जिसमें कोई गुण होता है उसी व्यक्ति को उसका फल मिलता है अन्य को नहीं। यहाँ पर काव्यमार्ग बतलाया गया है और उसी प्रसङ्ग में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन किया गया है। अतः फल भी ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही दिखलाया जाना चाहिये था। किन्तु इसके प्रतिकूल प्रथम कारिका में फल दिखलाया गया है कवि की प्रतिभा की अनन्तता। इस प्रकार ध्वनि इत्यादि भेद तो काव्यगत होते हैं फल दिखलाया जा रहा है प्रतिभा की अनन्तता, जो कि कविगत होती है यह वैय्यधिकरण्य हो गया। अर्थात् गुण कहीं अन्यत्र है और फल कहीं अन्यत्र। इसकी सङ्गति किस प्रकार लगती है ? इसी प्रश्न का उत्तर दूसरी कारिका में दिया गया है। इस कारिका का आशय यह है कि जिस अर्थ को प्राचीन कवि वाल्मीकि इत्यादि ने काव्यबद्ध कर दिया है उसी अर्थ को लेकर अर्वाचीन कवियों की जो वाणी प्रवृत्त होती है यद्यपि उसमें उपात्त अर्थ पुराना ही होता है तथापि यदि उसमें ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य के किसी एक ही प्रकार का आश्रय ले लिया जाता है तो वह पुराना अर्थ भी नया मालूम पड़ने लगता है। 'किसी एक ही' कहने का आशय यह है कि यदि अनेक प्रकारों का आश्रय लिया जाय तो कितकी नवीनता आ जावेगी यह तो कहा भी नहीं जा सकता। 'आयाति' में 'आ' इस उपसर्ग का अर्थ है चारों ओर से।

अर्थात् ध्वनि के प्रभेद अनन्त हैं; अतः नवीन प्रकार का आश्रय लेने से सभी ओर से उसमें नवीनता आ जाती है।

यहाँ कहने का आशय है कि प्रतिभा का अर्थ क्या है? यही न कि कवि की एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा जो वर्णनीय विषय के सम्बन्ध में होती है अर्थात् कवि के अन्दर एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा होती है जिससे वह किसी वस्तु को उसके अनेक रूपों में देख लेता है उसी प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो कविता के क्षेत्र में आनेवाली वर्णनीय वस्तुयें तो बहुत थोड़ी हैं। (चन्द्र, कमल इत्यादि कुछ गिने-चुने अप्रस्तुत तथा रति उत्साह इत्यादि कतिपय प्रस्तुत भाव ही कविता के क्षेत्र में अपनाये जाते रहे हैं।) इन सबका वर्णन तो आदि कवि वाल्मीकि ने ही कर दिया। अब यदि उन्हीं विषयों को लेकर कवि की प्रतिभा प्रस्फुटित होगी तो उसमें भी वही तत्त्व आयेंगे जिनको महाकवि वाल्मीकि ने पहले ही अपने काव्य में स्थान दे दिया था। यदि इस प्रकार समस्त काव्य एक जैसा ही बनेगा तो कविवर वाल्मीकि के लिये तो कवि कहना ठीक होगा उसके बाद जितने भी कवि हुये हैं उन सबके लिये कवि शब्द ही उच्छिन्न हो जायेगा। अतः उस तत्त्व का अन्वेषण किया जाना चाहिए जिसके कारण पुराने विषय भी नये जैसे प्रतीत होते हैं। वह तत्त्व है उक्ति-वैचित्र्य अथवा वैदग्ध्यभङ्गीभणिति। यदि उक्तिवैचित्र्य का आश्रय लिया जाय तो वही पुराना विषय नवीन हो जाता है और जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है उक्तिवैचित्र्य असीमित होता है; अतः कोई एक विषय भी काव्य के लिये असीमित हो सकता है। इस प्रकार प्रतिभा की अनन्तता सिद्ध हो जाती है। प्रतिभा की इस अनन्तता का यही फल है कि कवि की वाणी में नवीनता का सञ्चार हो जाय और चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ नई-नई ज्ञात होने लगें। इस प्रकार यह जो प्रश्न उठाया गया था कि ध्वनि के अनन्त भेदों से प्रतिभा के अनन्त भेद कैसे हो जायेंगे? यह तो वैय्यधिकरण्य में फल का स्वीकार कर लेना हो जायेगा? इसका उत्तर भी हो गया। वह इस प्रकार कि इनमें परम्परा सम्बन्ध है। ध्वनियों के भेदोपभेद अनन्त होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उपादेय अर्थ भी अनन्त हो जाते हैं क्योंकि यह बतलाया ही जा चुका है कि एक ही अर्थ नवीन भङ्गिमा से कहे जाने पर नवीन ही हो जाता है। किन्तु अर्थों में अनन्तता स्वयं एक हेतु है और उससे कविप्रतिभा में अनन्तता आ जाती है क्योंकि प्रतिभा भी अन्ततः कवि की वर्णनीय वस्तुनिष्ठ विशेष प्रकार की प्रज्ञा ही है। प्रतिभा की अनन्तता का फल यह होता है कि काव्य वाक्य भी अनन्त हो जाते हैं। इस प्रकार वैय्यधिकरण्य का परिहार हो जाता है। यही बात दूसरी कारिका में कही गई है जिसका सार यह है—

ध्वनि के बहुत से भेदोपभेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यदि उनमें से किसी एक का ही आश्रय ले लिया जाय तो कवि चाहे ऐसी ही बात कहे जो पुराने किसी कवि ने कह दी हो फिर भी वह बात पहले कही गई सी नहीं प्रतीत होगी अपितु उसमें एक नवीनता के दर्शन होने लगेंगे।'

इस विषय में दो एक उदाहरण देना वाञ्छनीय होगा। सर्वप्रथम यह दिखलाया जा

रहा है कि कही हुई बात में ही यदि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दोनों प्रकारों की योजना कर दी जाय तो किस प्रकार नवीनता आ जाती है। देखिये—

(ध्वन्या०) **तथा ह्यविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वयसमाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा—**

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव नहि रम्यं मृगदृशः॥

इत्यस्य—

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः॥

इत्येवमादिषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्यध्वनिसमाश्रयेणापूर्वत्वमेव प्रतिभासते।

(अनु०) वह निस्सन्देह पूर्व अर्थ के अनुगम में भी अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो प्रकारों के आश्रय लेने से नवीनता जैसे—

'कुछ मुग्ध स्मित, तरल और मधुर दृष्टि का विभव, अभिनव विलास की ऊर्मियों से सरस वाणी का प्रवाह; लीला का परिमल जिसमें किसलय का आचरण कर रहा है इस प्रकार का गमन का आरम्भ (इत्यादि), ऐसी तारुण्य को स्पर्श करनेवाली नायिकाओं की क्या वस्तु है जो रमणीय नहीं प्रतीत होती।' इसका—

'जिनकी मुस्कुराहट का उद्भेद विलासपूर्ण है, नेत्र चञ्चल हैं; वाणी स्खलित हो रही है, जो नितम्बभार से आलस्ययुक्त गमन वाली हैं वे कामिनियाँ किसको प्यारी नहीं हैं।'

इत्यादि के होते हुए भी तिरस्कृतवाच्यध्वनि के समाश्रय से अपूर्वत्व ही प्रतिभासित होता है।

(लो०) तत्र प्रथममत्यन्ततिरस्कृतवाच्यान्वयमाह—**स्मितमिति**। मुग्धमधुर-विभवसरसकिसलयितपरिमलस्पर्शनान्यत्यन्ततिरस्कृतानि। तैरनाहृतसौन्दर्यसर्वजन-वाल्लभ्याक्षीणप्रसरत्वसन्तापप्रशमनतर्पकत्वसौकुमार्यसार्वकालिकतत्संस्कारानुवृत्तित्वय-त्नाभिलषणीयसङ्गत्वानि ध्वन्यमानानि यानि, तैः स्मितादेः प्रसिद्धार्थकस्य स्थविरवे-धोविहितधर्मव्यतिरेकेण धर्मान्तरपात्रता यावत्क्रियते तावत्तदपूर्वमेव भासत इति दूरेण सम्बन्धः। सर्वत्रैवास्य नवत्वमिति सङ्गतिः।

(अनु०) उसमें प्रथम अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का अन्वय कहते हैं—'स्मित' यह। मुग्ध, मधुर, विभव, सरस, किसलयित, परिमल और स्पर्श ये शब्द अत्यन्ततिरस्कृत हैं, इनसे आहृत सौन्दर्य सर्वजनवाल्लभ्य, अक्षीणप्रसरत्व, सन्तापप्रशमन, तर्पकत्व, सौकुमार्य, सार्वकालिक तत्संस्कारानुवृत्तित्व और यत्नाभिलषणीय संगतत्व ये जो ध्वन्यमान होते हैं उनसे प्रसिद्ध अर्थ-वाले स्मित इत्यादि की बुड्ढे ब्रह्मा के द्वारा बनाये हुए धर्म से भिन्न दूसरे धर्मों की जब तक पात्रता की जाती है तब तक वह अपूर्व ही हो जाता है यह सर्वत्र माना जाना चाहिए।

'इसका' 'अपूर्व हो जाता है' इस दूर के शब्द से सम्बन्ध है। संगति यह है कि सर्वत्र इसका नवत्व ही हो जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के कारण नवीनता का उदाहरण

तारावती—'जब मृगनयनी तारुण्य का स्पर्श करती है तब उससे सम्बद्ध क्या वस्तु मनोरम नहीं हो जाती? मुस्कुराहट कुछ मुग्ध होती है, दृष्टि का वैभव कुछ तरल और मधुर होता है, वाणी का प्रवाह अभिनव विलास की लहरों से सरस हो जाता है, गमन में यह तत्त्व उद्भूत हो जाता है कि उसमें लीला परिमल किसलय का कार्य करने लगता है।'

अब इसके शब्द प्रयोग पर विचार कीजिए :—

(१) 'मुस्कुराहट कुछ मुग्ध है' 'मुग्ध' (भोलाभाला) कोई व्यक्ति हो सकता है मुस्कुराहट नहीं। अतः यह शब्दार्थ में बाधित होकर 'स्वाभाविक' इस अर्थ को लक्षित कराता है। इससे प्रयोजनरूप व्यंग्य निकलता है कि मुस्कुराहट में बिना किसी बनावट के सौन्दर्य का अतिरेक विद्यमान है।

(२) 'दृष्टि मधुर है' मधुर कोई खाद्य पदार्थ हो सकता है, दृष्टि के लिए यह विशेषण बाधित है। अतः इससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'दृष्टिप्रसार सुन्दर है।' इसका प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ होगा कि दृष्टि का प्रसार इतना आकर्षक है कि बिना किसी अपवाद के सभी रसिकों के हृदयों का प्रेम अपनी ओर खींच लेता है।

(३) 'दृष्टि का वैभव' वैभव या ऐश्वर्य व्यक्ति का हो सकता है दृष्टि का नहीं। इससे लक्ष्यार्थ निकलता है 'दृष्टि का प्रसार' और व्यंग्यार्थ निकलता है कि नायिका का दृष्टिपात बेरोकटोक अविरतगति से हो रहा है; उसको कोई रोक ही नहीं सकता।

(४) 'वाणी का सरस प्रवाह' सरस प्रवाह जलधारा का हो सकता है वाणी का नहीं। इससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि वह निरन्तर श्रुतिसुखद वाणी बोल रही है। इससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि उसकी मधुर वाणी को सुनकर सन्ताप शांत हो जाता है और हृदय में एक तृप्ति का अनुभव होने लगता है।

(५) 'गमन किसलय का कार्य कर रहा है।' गमन का किसलय कार्य असम्भव है; अतः बाध होकर लक्ष्यार्थ निकलता है कि उसकी चाल में मनोहरता है। इससे व्यंग्य निकलता है कि उसकी चाल सौकुमार्य से युक्त है और हर समय सौकुमार्य का ही अनुवर्तन करती रहती है।

(६) 'लीला-परिमल' परिमल कमलों का हो सकता है लीला में सम्भव नहीं। अतः बाधित होकर परिमल शब्द सुन्दरता को लक्षित करता है जिससे व्यङ्ग्यार्थ निकलता है उसकी चाल इतनी सुन्दर है कि प्रयत्नपूर्वक उसको देखने की अभिलाषा की जानी चाहिए।

(७) 'तारुण्य का स्पर्श' स्पर्श किसी मूर्त वस्तु का किया जा सकता है; तारुण्य का सम्भव नहीं है। अतः बाध होकर लक्षित होता है कि उसके अन्दर तारुण्य का सञ्चार हो गया है। इससे व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि तारुण्य उसके अंग से मिलकर बहुत ही संगत प्रतीत होता है।

यहाँ पर स्मित इत्यादि शब्दों के वाच्यधर्म का सर्वथा परित्याग हो जाता है। ब्रह्मा जी तो वृद्ध हो गये हैं; उनमें रसिकता कहाँ से आई। अतः उन्होंने स्मित में भी जिस धर्म की स्थापना की वह बड़ा ही अनाकर्षक था। तारुण्य के सञ्चार के साथ वह अनाकर्षक रूप दूर हो गया और यह शब्द दूसरे धर्मों का पात्र बन गया। जब इस तथ्य पर विचार किया जाता है तब इस पद्य में एक अभूतपूर्व चारुता की प्रतीति होने लगती है। किन्तु इस पद्य में कोई नई बात नहीं कही गई है। रमणियों की मुस्कुराहट, दृष्टिपात, भोली भाली वाणी का सरस प्रवाह और लीलागति ये ऐसे तत्त्व हैं, जिनका कविता में प्रायः उपादान होता ही है। इस पद्य की रचना के पहले ही किसी कवि ने लिखा था—

'ऐसी कामिनियाँ किसको प्यारी नहीं होतीं जिनकी मुस्कुराहट हर समय प्रस्फुटित होती रहती है और उस मुस्कुराहट के साथ विलासों का भी योग रहता है, जिनके नेत्र चंचल होते हैं, जिनकी वाणी (मद के कारण) स्खलित होने लगती है और जिनका गमन नितम्बभार के कारण आलस्यमय होता है।'

इस पद्य में भी वे ही सब बातें आ जाती हैं जिनका उपादान उक्त पद्य में कवि ने किया है। अतः वस्तु की तो कोई नवीनता है नहीं। यदि कोई नवीनता कही जा सकती है तो केवल यह कि उस पद्य में कवि ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का प्रयोग किया है जो कि पुराने पद्य में नहीं किया गया था। अत एव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि ने ही परिचित पुराने भाव को सर्वथा नया बना दिया।

एक दूसरा उदाहरण और लीजिये जिसमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के कारण पुराने परिचित भाव में नवीनता आई है। पद्य का भावार्थ यह है :—

(ध्वन्या०) तथा--

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हतहस्तिवहलपललाशी।
श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते ॥

इत्यस्य—

स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिसमाश्रयेण नवत्वम्।

(अनु०) उसी प्रकार—

'जो प्रथम है वह प्रथम ही है। वह इस प्रकार कि मारे हुये हाथियों के घने मांस को खानेवाला जंगली जीवों में सिंह ही है। क्या उसको पराभूत किया जा सकता है ? इसकी—

'अपने तेज से महिमा को अर्जित करनेवाला किस दूसरे के द्वारा नीचा किया जा सकता है ? बड़े-बड़े हाथियों से भी सिंह क्या दबाया जा सकता है ?

इत्यादि श्लोकों के होते हुये भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का आश्रय ले लेने से नवीनता आ जाती है।

(लो०) द्वितीयः प्रथमशब्दोऽर्थान्तरेऽनपाकरणीयप्रधानत्वासाधारणत्वादिव्यङ्ग्यधर्मान्तरे सङ्क्रान्तं स्वार्थं व्यनक्ति। एवं सिंहशब्दोऽपि वीरत्वानपेक्षत्वविस्मयनीयत्वादौ व्यङ्ग्यधर्मान्तरे सङ्क्रान्तं स्वार्थं ध्वनति।

(अनु०) दूसरा प्रथम शब्द अनुपेक्षणीय प्रधानत्व असाधारणत्व इत्यादि व्यङ्ग्य धर्मान्तर रूप अर्थान्तर में संक्रान्त अपने अर्थ को व्यक्त करता है। इसी प्रकार सिंह शब्द भी वीरत्व, अनपेक्षत्व, विस्मयनीयत्व इत्यादि व्यङ्ग्य धर्मान्तर में संक्रान्त स्वार्थ को ध्वनित करता है।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के कारण नवीनता का उदाहरण

तारावती—'जो प्रथम है वह प्रथम ही है, इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि शेर स्वयं हाथियों को मारकर उनके बहुत ही पुष्कल घने मांस को खाता है। समस्त जंगली जीवों में वह शेर शेर ही है। क्या कोई इस विश्व में ऐसा है जो अपने वीरता के गुणों से शेर को नीचा दिखा सके।'

यहाँ पर 'जो प्रथम है वह प्रथम है' यह कोई बात नहीं हुई। तात्पर्यानुपपत्ति के कारण दूसरा प्रथम शब्द स्वार्थ में बाधित है। और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि जिसको अपने गुणों के कारण प्रथम स्थान प्राप्त होता है वह सर्वथा प्रधान ही बना रहता है। इसका प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ है कि जिस व्यक्ति को समाज प्रधान मान लेता है उसके गुण इतने महान् होते हैं कि उसकी प्रधानता को टाल सकने की शक्ति किसी में नहीं होती; और उसमें लोक की अपेक्षा एक विलक्षणता तथा असाधारणता होती है। इसी प्रकार 'सिंह सिंह है' यह कथन भी कुछ सङ्गत नहीं होता और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि सिंह सब जीवों में प्रधान है। उससे भी यही व्यञ्जना निकलती है कि सिंह की प्रधानता को कोई भी ठुकरा नहीं सकता; उसमें असाधारण पराक्रम होता है जिससे उसे किसी की परवाह नहीं होती। चमत्कार व्यङ्ग्यार्थनिष्ठ है अतः यह अर्थान्तरसंक्रमित विवक्षितान्यपर वाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। किन्तु यह भाव भी कोई नया नहीं है। इस पद्य की रचना में भी एक पुराने श्लोक का भाव ही लिया गया है। उस श्लोक का भावार्थ यह है :—

'जिस व्यक्ति को महिमा प्राप्त करने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती वह अपने तेज से ही महिमा को प्राप्त कर लेता है। क्या उसका अतिक्रमण किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है, क्या बड़े-बड़े हाथियों के द्वारा भी सिंह का पराभव किया जा सकता है?'

प्रथम पद्य का भाव भी लगभग वही है। वस्तु में प्रायः कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि उस पद्य में वही बात कहने के लिए अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि का आश्रय ले लिया गया है। इस प्रकार ध्वनि की नई प्रक्रिया का सहारा ले लेने से पुराना अर्थ भी नया हो गया है।

(ध्वन्या०) विवक्षितान्यपरवाच्यस्याप्युक्तप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं यथा—

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदनेर्विन्यस्य वक्त्रं वधूः
बोधाभासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता।

वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः
साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः ॥

इत्यादेः श्लोकस्य ।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम् । यथा वा 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादिश्लोकस्य 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादि श्लोकापेक्षयान्यत्वम् ।

(अनु०) विवक्षितान्यपरवाच्य का भी उक्त प्रकार के आश्रय से नवत्व जैसे—'निद्रा का बहाना करनेवाले प्रिय के मुख पर मुख रखकर वधू जाग जाने के त्रास से चुम्बनरस को रोके हुए प्रयत्न के कारण चञ्चल होकर स्थित रही । लज्जा के कारण विमुख हो जायगी इसलिये उस (नायक) के भी आरम्भ न करने पर साकाङ्क्ष प्रवृत्ति के कारण रति के तो पार पहुँच गया ।'

इत्यादि श्लोक का ।

'वासगृह को शून्य देखकर शयन से धीरे से कुछ उठकर निद्रा के बहाने को प्राप्त हुए पति के मुख को बड़ी देर तक देखकर विश्वासपूर्वक चुम्बन करके उत्पन्न हुए पुलकवाली गण्डस्थली को देखकर लज्जा के कारण नीचे को मुख की हुई बाला हंसनेवाले प्रियतम के द्वारा बहुत देर तक चुम्बन की गई ।'

इत्यादि श्लोकों के होते हुए भी नवीनता है । अथवा जैसे 'तरंगभ्रूभंगा' इत्यादि श्लोक का 'नानाभंगिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादि श्लोक की अपेक्षा अन्यत्व है ।

(लो०) एवं **प्रथमस्य** द्वौ भेदावुदाहृत्य द्वितीयस्याप्युदाहर्तुमासूत्रयति—**विवक्षितेति** । निद्रायां कैतवी कृतकसुप्त इत्यर्थः । **वदने विन्यस्य वक्त्रमिति** । वदनस्पर्शजमेव तावद्दिव्यं सुखं त्यक्तुं न पारयतीति । अत एव **प्रियस्येति** । वधूः नवोढा । बोधत्रासेन प्रियतमप्रबोधभयेन निरुद्धो हठात् प्रवर्तमानोऽपि कथञ्चित्कथञ्चित् क्षणमात्रधृतश्चुम्बनाभिलाषो यया । अत एव आयोगेन पुनः पुनर्निद्राविचारनिर्वर्णनया विलोलं कृत्वा स्थिता, न तु सर्वथैव चुम्बनान्निवर्तितुं शक्नोतीत्यर्थः ।

एवंभूतैषा यदि मया परिचुम्ब्यते तद्विलक्षा विमुखीभवेदिति । तस्यापि परिचुम्बनविषये निरारम्भस्य । **हृदयं साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नामेति** । साकाङ्क्षा साभिलाषा प्रतिपत्तिः स्थितिर्यस्य तादृशं रुहरुहिकाकदर्थितं न तु मनोरथसम्पत्तिचरितार्थं किन्तु रतेः परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानरूपायाः परानिर्वृत्तेः केनचिदप्यनुभवेनालब्धावगाहनायाः पारङ्गतमिति परिपूर्णीभूत एव शृङ्गारः । द्वितीयश्लोके तु परिचुम्बनं सम्पन्नम् लज्जा स्वशब्देनोक्ता । तेनापि सा चुम्बितेति यद्यपि पोषित एव शृङ्गारः,

तथापि प्रथमश्लोके परस्पराभिलाषप्रसरनिरोधपरम्परापर्यवसानासम्भवेन या रति-रुक्ता सोभयोरप्येकस्वरूपचित्तवृत्त्यनुप्रवेशमाचक्षाणा रतिं सुतरां पोषयति ॥ २ ॥

(अनु०) इस प्रकार प्रथम के दो भेदों के उदाहरण देकर द्वितीय के भी उदाहरण देने के लिए उपक्रम करते हैं—'विवक्षित' इत्यादि। 'निद्रा में कैतवी' अर्थात् बनावटी सोये हुए। 'मुख के ऊपर मुख रखकर' यह। अर्थात् वदनस्पर्श से ही उत्पन्न हुए दिव्य सुख को छोड़ने में समर्थ नहीं हो रही है। इसीलिये—'प्रिय का' यह। वधू अर्थात् नवोढ़ा। बोधत्रास से अर्थात् प्रियतम के प्रबोध के भय से हठपूर्वक पुनः पुनः प्रवृत्त हुई भी चुम्बन की अभिलाषा को जैसे तैसे क्षणमात्र के लिए रोका अत एव आभोग से अर्थात् बार-बार निद्रा के विचार के निरूपण के द्वारा चञ्चल होकर स्थित हुई। अर्थात् सर्वथा ही चुम्बन से निवृत्त होने में समर्थ नहीं है।

इस प्रकार की यह यदि मेरे द्वारा चुम्बित की गई तो विलक्ष (लज्जित) होकर विमुख हो जायेगी इसलिए उस प्रियतम के भी परिचुम्बनविषय को प्रारम्भ न करने पर। 'साकांक्ष प्रवृत्तिवाला हृदय' यह। साकांक्ष अर्थात् साभिलाष प्रतिपत्ति से चरितार्थ नहीं किन्तु परस्पर जीवितसर्वस्वाभिमान रूपवाली परा निर्वृति रूप रति के, जिसका अवगाहन किसी भी अनुभव के द्वारा प्राप्त नहीं हुआ है, पार को गया हुआ इस प्रकार शृंगार परिपूर्ण ही हो गया है। द्वितीय श्लोक में तो परिचुम्बन हो गया है, लज्जा स्वशब्द से कही गई है। उसके द्वारा भी वह भलीभाँति चुम्बित की गई इससे यद्यपि शृंगार पुष्ट ही कर दिया गया है तथापि प्रथम श्लोक में परस्पर अभिलाषप्रसार की निरोधपरम्परा के पर्यवसान के असम्भव होने से जो निवृत्ति कही गई है वह दोनों की एक स्वरूपवाली चित्तवृत्ति को कहती हुई रति को भलीभाँति पुष्ट कर देती है ॥२॥

विवक्षितान्यपरवाच्य से नवीनता का उदाहरण

तारावती—ऊपर इस बात का दिग्दर्शन करा दिया गया कि अविवक्षितवाच्य के दोनों भेदों का आश्रय लेने से पुराने अर्थ में भी किस प्रकार नवीनता आ जाती है। अब एक उदाहरण इसका भी लीजिये कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का आश्रय लेने से किस प्रकार पुराने अर्थ में नवीनता आती है। उदाहरण का भावार्थ यह है :—

'प्रियतम निद्रा का अभिनय कर रहा था। अर्थात् वह वस्तुतः सो नहीं रहा था अपितु अपने को ऐसा प्रकट कर रहा था मानो सो रहा हो। वधू के अन्दर सहवास की इतनी उत्कट आकांक्षा थी कि वह क्षणमात्र विलम्ब भी सहन नहीं कर सकती थी। किन्तु प्रियतम के सो जाने के कारण उसे सहवास तत्काल सुलभ नहीं था। अतः उसने प्रियतम के मुख पर अपना मुख रख लिया जिससे उसे वदनस्पर्श का ही सुख प्राप्त हो सके जिसे वह दिव्य सुख समझती थी और जिसे छोड़ने की उसमें शक्ति नहीं थी। क्योंकि सोनेवाला व्यक्ति उसका प्रियतम था। वस्तुतः वह वधू थी अर्थात् नई ही ब्याह कर आई थी। अतः प्रियतम से उसका संकोच पूर्णरूप से छूट नहीं सका था। अत एव उसे भय मालूम पड़ रहा था कि कहीं प्रियतम

जाग न पड़े। इसीलिए यद्यपि उसके अन्दर बार-बार चुम्बन की उत्कण्ठा उद्दीप्त होती जाती थी तथापि वह बड़ी कठिनाई से अपनी उस अभिलाषा को बार-बार दबा जाती थी। किन्तु बार-बार उसके अन्दर चञ्चलता उत्पन्न हो जाती थी और जब यह विचार करती थी कि प्रियतम तो सो रहा है क्यों न अपनी चुम्बन की अभिलाषा पूरी कर ली जाय तब उसकी वह चंचलता और अधिक उद्दाम हो जाती थी। चंचलता का आशय यह है कि वह न तो चुम्बन कर सकती थी और न चुम्बन से सर्वथा निवृत्त ही हो सकती थी। दूसरी ओर प्रियतम सोचता था कि यह इस प्रकार मुख पर मुख रक्खे हुए दुविधा में पड़ी है यदि मैं इसका चुम्बन करूँ तो इसके अन्दर लज्जा उत्पन्न हो जायगी और फिर लज्जा के कारण यह सहवास से पृथक् हो जायगी। अतः प्रियतम भी अपनी ओर से चुम्बन का प्रारम्भ नहीं कर रहा था। इस प्रकार दोनों की स्थिति आकांक्षा से भरी हुई थी, दोनों का मन उत्कण्ठा से पीडित था किन्तु मनोरथ की पूर्णता से उनके मन को सफलता नहीं मिली थी। ऐसी स्थिति में ही उसका हृदय रति के पार पहुँच गया था। रति वस्तुतः है क्या वस्तु? यही तो कि दोनों एक दूसरे को जीवनसर्वस्व मानें और जीवनसर्वस्व के प्राप्त हो जाने का दर्प भी उनमें विद्यमान हो। परा तृप्ति उन्हें उस अवस्था में किसी प्रकार नहीं मिल रही थी। चुम्बन आलिंगन इत्यादि किसी भी अनुभाव से उनको रति के आस्वादन और अवगाहन का अवसर नहीं मिल रहा था फिर भी उनका हृदय रति की अन्तिम सीमा पर पहुंच गया और उनका शृङ्गार पूरा हो ही गया।'

यह पद्य एक दूसरे (अमरुक कवि लिखित) पद्य की छाया पर लिखा गया है जिसका आशय यह है :—

'नायिका ने भली-भाँति देख लिया कि सोने का कमरा बिल्कुल सूना है अर्थात् कोई सखी इधर-उधर छिपी हुई भी नहीं देख रही है। वह चुपके से धीरे से अपनी चारपाई से कुछ उठी अर्थात् आधे शरीर से लेटी रही और शरीर का आधा ऊपरी भाग उसने कुछ उठा लिया। प्रियतम पास ही लेटा हुआ था, वह सो नहीं रहा था किन्तु सोने का बहाना कर रहा था। वह बड़ी देर तक अपने प्रियतम के मुख की ओर ध्यान से देखती रही। जब उसे विश्वास हो गया कि प्रियतम वस्तुतः सो ही रहा है तब उसने निश्चिन्तता से प्रियतम के कपोलों का चुम्बन किया जिससे कामोद्दीपन जन्य हर्षातिरेक से प्रियतम के कपोलों पर रोंगटे खड़े हो गये। यह देखकर उसे लज्जा आ गई और उसने सिर झुका लिया। प्रियतम हंसते हुये उठा और उसने उस बाला का बड़ी देर तक चुम्बन किया।'

दोनों पद्यों का अर्थ एक ही है, किन्तु फिर भी रूपविधान में कुछ अन्तर आ गया है। अमरुक के पद्य में चुम्बन का कार्य पूरा हो गया है किन्तु प्रथम पद्य में वह आकांक्षागत ही है। अमरुक के पद्य में लज्जा शब्द का ही प्रयोग किया गया है जिससे उसमें स्ववाच्यता आ गई है, किन्तु प्रथम पद्य में लज्जा के लिये विलक्ष शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है स्वभाव का परिवर्तन अर्थात् उत्कण्ठा की शान्ति और लज्जा का उदय इस प्रकार प्रथम पद्य में लज्जा व्यंग्य है। अमरुक के पद्य में नायक और नायिका दोनों एक दूसरे

को चूमते हैं। इस प्रकार रति उभयनिष्ठ है। अतः यह पूर्ण स्थायी भाव है। इसके पोषक सभी तत्त्व विद्यमान हैं। नायिका इत्यादि आलम्बन, शून्य वासगृह इत्यादि उद्दीपन, शय्या से उठना इत्यादि अनुभाव और लज्जा इत्यादि संचारी भावों से पुष्ट होकर उभयनिष्ट वह रति आस्वादगोचर होकर पूर्ण शृंगार का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार कमी अमरुक के पद्य में भी नहीं है। किन्तु प्रथम श्लोक में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गई है कि एक दूसरे के अन्दर अभिलाषा तो विद्यमान है किन्तु उसका प्रसार एकदम रुका हुआ है और यह रुकावट की परम्परा अभी समाप्त होती हुई भी नहीं जान पड़ती। इस प्रकार अवरुद्ध हो जाने के कारण रति का उपभोग नहीं हो रहा है, जिससे रति तीव्रतम अवस्था को प्राप्त हो गई है। वह रति यह बात प्रकट करती है कि दोनों की चित्तवृत्ति का अनुप्रवेश एक जैसा ही है। इस प्रकार रति का जितना परिपोष प्रथम श्लोक में हुआ है उतना अमरुक के पद्य में नहीं हुआ। इस उदाहरण द्वारा यह सिद्ध हो गया कि विवक्षितान्यपरवाच्य की नई भङ्गिमा का आश्रय लेने से भी पुराना अर्थ नया हो जाता है।

इसी प्रकार 'तरंगभ्रूभंगा' इत्यादि पद्य पर 'नानाभंगिभ्रमद्भ्रूः' इस पद्य की छाया लक्षित होती है। ('तरंगभ्रूभंगा' यह विक्रमोर्वशीय का पद्य है और इसकी व्याख्या द्वितीय उद्योत में की जा चुकी है। दूसरे पद्य का पता नहीं कि यह कहाँ से लिया गया है। और पूरा पद्य किस प्रकार है। ज्ञात होता है कि वृत्तिकार ने इस पद्य में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का आश्रय लेने के द्वारा भावनवीनता लाने की व्याख्या की होगी। क्योंकि लोचनकार ने अग्रिम कारिका का अवतरण देते हुए लिखा है कि यहाँ तक ध्वनि के चार मूलभेदों की व्याख्या की जा चुकी। इन चार भेदों की व्याख्या तभी पूरी होती है जब इसे रसध्वनि से नवीनता लाने का उदाहरण मान लिया जाय।) ॥२॥

(ध्वन्या०) **युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।**
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥ ३ ॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावभेदकलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसङ्ख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति। रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथास्थितमप्यन्यथैव विवर्तते। प्रतिपादितं चैतच्चित्रविचारावसरे।

गाथा चात्र कृतैव महाकविना—

अतहट्ठिए वि तहसण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी ॥
[अतथास्थितानपि तथा संस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ॥] इति छाया।

तदित्थं रसभावाद्याश्रयेण काव्यार्थानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम् ॥ ३ ॥

(अनु०) 'इस युक्ति से बहुत विस्तारवाले रस इत्यादि का अनुसरण करना चाहिये जिसके आश्रय से सीमित भी काव्यमार्ग अनन्तता को प्राप्त हो गया है ।।३।।

यह रस भाव उनके आभास और प्रशम लक्षणवाला मार्ग अपने स्वत्व के अनुरूप विभाव अनुभाव इत्यादि प्रभेदों की आकलना के द्वारा बहुत प्रकार का है जैसा कि पहले कहा गया है। उस सभी का ही इस युक्ति से अनुसरण किया जाना चाहिये। जिस रस इत्यादि के आश्रय से यह काव्यमार्ग पुराने सहस्रसंख्या वाले अथवा असंख्य कवियों के द्वारा बहुत प्रकार अभ्यस्त होने के कारण सम्मित भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है। रस भाव इत्यादि में निस्सन्देह प्रत्येक का विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के आश्रय से अपरिमितत्व है उनमें एक-एक भेद की दृष्टि से भी सुकवियों के द्वारा जगद्वृत्त का उपनिबन्धन करने पर उनकी इच्छा से अन्यथा स्थित भी अन्यथा परिवर्तित हो जाता है। चित्र विचार के अवसर पर यह भी प्रतिपादित कर दिया गया।

और यहाँ पर महा कवि के द्वारा गाथा रची गई है—

'जो उस रूप में न स्थित भी अर्थ विशेषों को तथास्थित के समान हृदय में निविष्ट कर देती है उस विकट कविगोचर विकट वाणी की जय हो।

वह इस प्रकार रसभाव इत्यादि के आश्रय से काव्यार्थों का आनन्त्य भलीभाँति प्रतिपादित कर दिया गया ।। ३ ।।

(लो०) एवं मौलं भेदचतुष्टयमुदाहृत्यालक्ष्यक्रमभेदेष्वतिदेशमुखेन सर्वोपभेदविषयं निर्देशं करोति—**युक्त्यानयेति । 'अनुसतर्व्यं' इति ।** उदाहर्तव्यमित्यर्थः । **यथोक्तमिति ।**

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये ।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥

इत्यत्र । **प्रतिपादितं चैतदिति ।** च शब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः । एतदपि प्रतिपादितं 'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवदि'त्यत्र । अतथास्थितानपि बहिस्तथासंस्थितानिवे'ति इवशब्देन एकतरत्र विश्रान्तियोगाभावादेव सुतरां विचित्ररूपानित्यर्थः । **हृदय इति ।** प्रधानतमे समस्तभावकनकनिकषस्थान इत्यर्थः । निवेशयति यस्य यस्य हृदयमस्ति तस्य तस्य अचलतया तत्र स्थापयतीत्यर्थः । अत एव ते प्रसिद्धार्थेभ्योऽन्य एवेत्यर्थविशेषा सम्पद्यन्ते । हृदयनिविष्टा एव च तथाभवन्ति नान्यथेत्यर्थः । 'सा जयति' परिच्छिन्नशक्तिभ्यः प्रजाप्रतिभ्योऽप्युत्कर्षेण वर्तते । तत्प्रसादादेव कविगोचरो वर्णनीयोऽर्थो विकटो निस्सीमा सम्पद्यते ।। ३ ।।

(अनु०) इस प्रकार मूलभूत चार भेदों के उदाहरण देकर अलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अतिदेश के माध्यम से सभी भेदों के विषय में निर्देश करते हैं—'इस युक्ति से' यह । 'अनुसरण किया जाना चाहिये' यह । अर्थात् उदाहरण दिये जाने चाहिये । 'जैसा कहा गया है' यह ।

'उसके अङ्गों के जो प्रभेद और स्वगत जो प्रभेद उनके अन्योन्य सम्बन्ध की परिकल्पना में उनका आनन्त्य हो जाता है।'

यहाँ पर । 'यह भी प्रतिपादित किया गया है' यह । 'च' शब्द अपि शब्द के अर्थ में

भिन्नक्रम है। यह भी प्रतिपादित किया गया है—'अचेतन भावों को भी चेतनवत् और' चेतनों को अचेतनवत्' यहाँ पर। 'उस प्रकार न स्थितों को भी बाहर तथास्थितों के समान' यह। 'इव' शब्द से (प्रकट होता है) एक स्थान पर विश्रान्तियोग के अभाव से ही विचित्र-रूप वाले यह अर्थ है। 'हृदय में' यह। अर्थात् प्रधानतम तथा समस्त भावरूपी सोने के लिये कसौटी के स्थान पर स्थित 'निविष्ट करती है' अर्थात् जिसके जिसके हृदय है उसके उसके अन्दर अचल रूप में वहाँ पर स्थापित कर देती है। अत एव वे प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न ही होते हैं यह अर्थ विशेष हो जाता है। अर्थात् हृदय में निविष्ट ही वैसे बनते हैं अन्यथा नहीं। 'उसकी विजय होती है' अर्थात् सीमित शक्तिवाले प्रजापति से भी उत्कृष्ट रूप में वर्तमान रहती है। उसके प्रसाद से ही कविगोचर वर्णनीय अर्थ विकट अर्थात् सीमा रहित हो जाता है ॥३॥

ध्वनिमार्ग से काव्य की अनन्तता का प्रतिपादन

तारावती—द्वितीय कारिका में मूल चार भेदों के द्वारा काव्य में पुराना अर्थ भी किस प्रकार नवीन बन जाता है इस बात की व्याख्या की जा चुकी और उनके उदाहरण भी दिये जा चुके। वे चार मूलभेद हैं—दो प्रकार का अविवक्षितवाच्य अर्थात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा दो प्रकार का विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् संल्लक्ष्यक्रम और असंल्लक्ष्यक्रम। अब तीसरी कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि वस्तुतः काव्य मार्ग अनन्तपार है। इसका कारण ध्वनिभेदों का आश्रय लेना ही है। यहाँ पर रस इत्यादि अल-क्ष्यक्रमव्यंग्य का अतिदेश किया गया है अर्थात् यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार रसध्वनि के भेदों की इयत्ता नहीं है उसी प्रकार का सभी ध्वनिप्रपञ्च है। किसी भी भेद की इयत्ता नहीं कही जा सकती। कारिका का भाव यह है—

'जो उक्ति द्वितीय कारिका में बतलाई गई है वह दिग्दर्शन मात्र है। (कहीं कहीं 'दिशानया' भी पाठ है।) उसका आश्रय लेकर अतिविस्तृत रस इत्यादि के भी उदाहरण दे दिये जाने चाहिये। इस प्रकार यद्यपि काव्यमार्ग बहुत ही सीमित है तथापि इन भेदोपभेदों के कारण वह अनन्त हो जाता है।'

ध्वनिभेदों के निरूपण के अवसर पर पहले ही बतलाया जा चुका है कि ध्वनि का केवल एक भेद रसध्वनि ही ऐसा है कि उसका अन्त नहीं मिल सकता। पहले तो रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता ये आठ भेद आते हैं। फिर इनमें प्रत्येक के विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों का विस्तार होता है। (आलम्बन विभाव में नायक और नायिका आते हैं। आचार्यों ने केवल नायिका के ही सहस्रों भेद बतलाये हैं। वस्तुतः संसार के जितने भी स्त्री-पुरुष हैं उनके स्वभाव में कुछ भेद होता ही है, अतः स्वयं नायक-नायिका भेद ही अनन्त हो जाता है। फिर उनकी चेष्टाओं की भी इयत्ता नहीं कही जा सकती। उद्दीपन विभाव के रूप में विश्व के समस्त जड़-चेतन पदार्थ आ सकते हैं। सञ्चारी भाव मानव चित्तवृत्तियाँ ही हैं। विश्व की अनन्तता की प्रतिफलन-रूप ये चित्तवृत्तियाँ भी अपरिमित ही होती हैं। आशय यह है कि केवल रसध्वनि भेदों की ही कोई सीमा और संख्या नहीं है। फिर ध्वनि के दूसरे भेदों के विषय में तो कहना ही

क्या ? इस अनन्तता और अपरिमितता की व्याख्या 'तस्याङ्गानां प्रभेदा ये—परिकल्पने' (उ. २ का. १२) में की जा चुकी है। इन रसभावादिकों के एक-एक भेद का आश्रय ले लिया जाय और उसके माध्यम से जगद्वृत्त को काव्य के अन्दर लाया जाय तो वे वृत्त जिस प्रकार के होते हैं वे अन्यथा ही प्रतीत होने लगते हैं। आशय यह है कि यदि जगत् के सामान्यवृत्त का ही उपनिबन्धन किया जाय तो भी काव्य के माध्यमों और ध्वनि के भेदों का इतना अधिक विस्तार है कि कविता के विषय कभी समाप्त ही नहीं हो सकते, फिर कविता के विषय कल्पित भी होते हैं और कवि की जैसी भी इच्छा होती है दृश्यमान विश्व वैसा ही बन जाता है। इस प्रकार जब विश्व में कवि की इच्छा से परिवर्तन होता ही रहता है तब काव्यार्थ का अन्त हो सकेगा इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि अनन्त काल से अनन्त कवि इस काव्यमार्ग को पीसते चले आये हैं, यह सीमित ही है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। अतः इसको बहुत पहले ही समाप्त हो जाना चाहिए था। किन्तु रस-ध्वनि इत्यादि ध्वनिभेदों का इतना विस्तार है और उनकी ऐसी अनन्तता है कि वह काव्य-मार्ग न तो अभी तक समाप्त हुआ ही और न हो ही सकता है। 'प्रतिपादितं चैतत्' में 'च' का अन्वय भिन्न क्रम से होता है—'एतत् च'। 'च' का यहाँ पर अर्थ है 'भी' इस बात का भी प्रतिपादन चित्र काव्य के विचार के अवसर पर किया जा चुका है और कवि किस प्रकार अपनी रुचि के अनुसार विश्व को बदल लेता है इसपर भी संकेत रूप में प्रकाश डाला जा चुका है जैसा कि वहाँ पर एक कारिका का उद्धरण देकर बतलाया गया था कि कवि अचेतन भावों को चेतन के रूप में और चेतन भावों को अचेतन के रूप में जैसा चाहता है वैसा ही व्यवहृत करता है। प्राकृत के एक महाकवि ने (सम्भवतः शालिवाहन ने) यही बात एक गाथा में कही है। महाकवि का आशय यह है :—

'जिन कवियों की सम्पत्ति लोकोत्तर वर्णन ही है और जो ऐसी रचना करने में समर्थ होते हैं कि जिसमें अनन्त पदार्थ-समूह का प्रकाशन हुआ करता है इस प्रकार वे कवि अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं और ऐसे कवियों को विकट कवि कहा जाता है। ऐसे कवि ही जिस वाणी का विषय होते हैं वह कविवाणी लोकोत्तर रूप में विद्यमान रहती है। उस कविवाणी की जय हो। इस कविवाणी की विशेषता यही है कि संसार में जो वस्तुएँ भिन्न रूप में ही स्थित होती हैं उन वस्तुओं को यह कविवाणी सहृदयों में अन्यथा के समान निविष्ट कर देती है अर्थात् कामिनी के मुख इत्यादि जो पदार्थ संसार में चन्द्र इत्यादि के रूप में प्रसिद्ध नहीं होते हैं उनको सहृदयों के हृदयों में वह उन्हीं विलक्षण रूपों में निविष्ट कर देती है।"

रसपरिग्रह से पुराने अर्थों में नवीनता का शब्द-शक्त्युद्भव

अन्यथा के समान कहने का आशय यह है कि जिन अर्थसमूहों को कवि की वाणी सहृदयों में निविष्ट कर देती है वे अर्थसमूह विचित्ररूपवाले होते हैं क्योंकि किसी एक ही रूप में उनका पर्यवसान नहीं होता। अतः नये-नये कवि आते जाते हैं और पुरानी वस्तुओं को नये रूप में ही प्रस्तुत करते जाते हैं, उन नये रूपों से सहृदयगण पूर्व परिचित नहीं होते, अतः नवीन अर्थ सहृदयों को विलक्षण ही प्रतीत होते हैं। 'सहृदयों के हृदयों में' कहने का आशय यह है कि सहृदयों के हृदय ही वस्तुतः ऐसी कसौटी होते हैं जिनपर कसकर

प्रत्येक भावरूपी स्वर्ण अपना वास्तविक रूप प्रकट करता है कि वह खरा है या खोटा। 'प्रविष्ट कर देती है' शब्द का आशय यह है कि जो लोग सहृदय होते हैं अर्थात् जिस किसी भी व्यक्ति के पास हृदय होता है उसके अन्दर यह विलक्ष भाव अचलरूप में स्थित हो जाता है। जिनके हृदय में कविवाणीप्रसूत अर्थ अचल स्थान प्राप्त नहीं कर लेता वे वस्तुतः हृदय-हीन ही होते हैं। इसीलिये वे अर्थ कहे जाते हैं। क्योंकि वे प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न ही होते हैं और वे अर्थ विलक्षणता को तभी प्राप्त कर पाते हैं जब सहृदयों के हृदयों में उन्हें स्थान मिल जाता है। 'जय हो' कहने का आशय यह है कि कवि वाणी सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान रहती है यहाँ तक कि ब्रह्मा जी की भी शक्ति सीमित होती है। उसकी अपेक्षा भी कविवाणी उत्कृष्टरूप में वर्तमान रहता है। विकट कवियों की कृपा से ही कविगोचर वर्णनीय अर्थ असीम हो जाता है। इस प्रकार रस और भाव के आश्रय से काव्यार्थों के आनन्त्य का भलीभाँति प्रतिपादन कर दिया गया॥ ३॥

(ध्वन्या०) एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ ४॥

तथाहि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्—'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इत्यादेः।

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं विभृथ क्षितिम्॥

इत्यादिषु सत्स्वपि। तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा—'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि श्लोकस्य।

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः॥

इत्यादिषु सत्सु। अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीरत्वेन नवत्वम्। 'यथा सज्जेइ सुरहिमासो' इत्यादेः?

सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः॥

इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव।

(अनु०) इसी का उपपादन करने के लिये कहा जा रहा है।

'काव्य में पहले देखे हुए अर्थ भी रस परिग्रह से सभी नये जैसे मालूम पड़ते हैं, जैसे मधुमास में वृक्ष' ॥४॥

वह इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य की ही शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्य का आश्रय ले लेने से नवीनता (हो जाती है)। 'जैसे धरणी के धारण करने के लिये इस समय तुम शेष हो' इत्यादि का।

'शेष, हिमगिरि और तुम महान् स्थिर गुरु हो, जो कि मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए विचलित पृथ्वी को धारण करते हो।'

इत्यादि के होते हुए भी। उसी का अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्य के आश्रय लेने से नवत्व। जैसे—'इस प्रकार देवर्षि के कहने पर' इत्यादि श्लोक का।

'वर कथा सम्बन्धी बातचीत करने पर कुमारियाँ लज्जा से नीचे को सिर झुकाए हुए पुलकोद्गम के द्वारा अन्तर्गत स्पृहा को कहती हैं।'

इत्यादि के होते हुए भी। अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्य का कविप्रौढ़ोक्तिनिर्मित शरीर के द्वारा नवत्व जैसे 'सुरभिमास सज्जित करता है' इत्यादि का—

'सुरभि समय के प्रवृत्त होने पर रागियों की रमणीय उत्कण्ठायें सहकार-कलिकाओं के साथ ही प्रादुर्भूत होती हैं।' इत्यादि के होते हुए भी अपूर्वत्व ही है।

(लो०) प्रतिभानां वाणीनां चानन्त्यं ध्वनिकृतमिति यदनुद्भिन्नयुक्तं तदेव कारिकया भङ्ग्या निरूप्यत इत्याह—**उपपादयितुमिति**। उपपत्त्या निरूपयितुमित्यर्थः। यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तः तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः। यदि वा उच्यते संग्रहश्लोकोऽयमिति भावः। अत एवास्य श्लोकस्य वृत्तिकारेण व्याख्यानं न कृतम्।

दृष्टपूर्वा इति। भिहिः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः प्राक्तनैश्च कविभिरित्युभयथा नेयम्। काव्यं मधुमासस्थानीयम्, स्पृहां लज्जामिति। रागवतामुत्कलिका इति च। शब्दस्पृष्टेऽर्थे का हृद्यता।

(अनु०) प्रतिभाओं और वाणियों का आनन्त्य ध्वनि का किया हुआ है यह जो अस्पष्ट कारिका में कहा गया वही कारिका के द्वारा भंगिमा से निरूपण किया जा रहा है यह कहते हैं—'उपपादन करने के लिये' यह। अर्थात् उपपत्ति के द्वारा निरूपण करने के लिये। भाव यह है कि यद्यपि वृत्तिकार ने अर्थानन्त्य मात्र में हेतु बतलाया तथापि कारिकाकार ने नहीं बतलाया। अथवा कहा जाता है भाव यह है कि यह संग्रहश्लोक है। इसीलिये वृत्तिकार ने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की।

'दृष्टपूर्व' यह। बाहर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से और पुराने कवियों से इस प्रकार दोनों ओर लगाना चाहिये। काव्य मधुमासस्थानीय है। स्पृहा, लज्जा, रागवालों की उत्कण्ठा इन शब्दों से स्पर्श हुए अर्थ में क्या हृद्यता है?

तारावती—यह कहा गया था कि कवियों की प्रतिभायें भी अनन्त होती हैं इस अनन्तता का कारण बतलाया गया था ध्वनिप्रभेदों का विस्तार, किन्तु यह बात वहाँ अस्पष्ट रूप में कही गई थी क्योंकि उस बात में कोई प्रमाण नहीं दिया गया था। अब चतुर्थ कारिका में उसी बात को सिद्ध किया जा रहा है। (प्रश्न) पिछले प्रकरण में तो उदाहरण देकर भलीभाँति सिद्ध कर दिया गया कि पुराना अर्थ भी नई भङ्गिमा से कहे जानेपर नया ही हो जाता है। इस प्रकार वहाँ अनन्तता तो सिद्ध कर दी गयी थी। अब उसके लिए यह कहना कि पहले अस्पष्ट तथा अनुपपत्तिक रूप में कहा गया था और उसके लिए एक नई कारिका

लिखना कहाँ तक ठीक है ? (उत्तर) उस बात को सिद्ध करने के लिए जो कुछ कहा गया था वह सब वृत्तिकार का कथन था। कारिकाकार ने उसके प्रमाण के रूप में कुछ नहीं कहा था। अतः कारिकाकार ने उसी कथन में प्रमाण देने के लिये यह कारिका लिखी है। दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि जिस पर चार संख्या डाली गई है वह वास्तव में परिकर श्लोक है। वृत्तिकार की यह शैली है कि किसी बात को विस्तारपूर्वक सिद्ध करके उसके सार के रूप में एक श्लोक लिख देते हैं। यह श्लोक परिकर श्लोक कहलाता है। प्रस्तुत श्लोक वस्तुतः ध्वनिकार की कारिका नहीं अपितु परिकर श्लोक है इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वृत्तिकार ध्वनि कारिकाओं की व्याख्या के रूप में कुछ न कुछ अवश्य लिखते हैं किन्तु इस कारिका की व्याख्या में कुछ नहीं लिखा है। कारिका का आशय यह है:—

'जिन अर्थों को पहले देखा जा चुका है वे अर्थ भी यदि रस को स्वीकार कर लेते हैं तो नये ही जान पड़ते हैं। जैसे जिन वृक्षों को हम देखते ही रहते हैं वे वृक्ष भी वसन्त काल में नए मालूम पड़ने लगते हैं ॥४॥

अनुरणनरूप ध्वनि के भेदों से काव्य में नवीनता लाने का उदाहरण

पुराना अर्थ नई भङ्गिमा से कहे जाने पर किस प्रकार नवीन मालूम पड़ता है इसके कई उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। यह बतलाया जा चुका है कि अविवक्षित वाच्य के दो भेदों का आश्रय लेने से पुराने अर्थ में किस प्रकार नवीनता आती है। अब विवक्षितान्यपर-वाच्य के अनुरणनरूप व्यङ्ग्य के दो भेदों को लीजिये—पहला भेद है शब्दशक्त्युद्भवानुरणन-रूप व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। एक पुराना भाव था—

कोई चाटुकार राजा की प्रशंसा करते हुए कह रहा है—'हे राजन् केवल तीन व्यक्ति ऐसे हैं जो अपनी मर्यादा को न छोड़ते हुए विचलित भूमि को धारण करते हैं—शेषनाग, हिमालय और आप। तीनों ही महान् हैं, (शेषनाग और हिमालय विशाल आकारवाले हैं और राजा महनीय गुणोंवाला है।) गुरु हैं, (पृथिवी के भार को सहन करने में समर्थ हैं और राजा प्रतिष्ठित है) और स्थिर हैं, (शेषनाग और हिमालय तो अविचलित हैं और राजा दृढ़ प्रतिज्ञ है।)'

इसी भाव को वाणभट्ट ने हर्षचरित में अपनाया है। प्रभाकरवर्धन और राजवर्धन दोनों ही समाप्त हो चुके हैं अब केवल हर्षवर्धन ही बच रहे हैं जो राज्य का भार वहन कर सकें। उसी अवसर पर यह वाक्य आया है कि—'पृथिवी को धारण करने के लिये अब तुम शेष हो।' यहाँ पर पृथिवी को धारण करने के दो अर्थ हो सकते हैं—पृथिवी को विचलित होने से रोकना और राज्य-भार वहन करना। इसी प्रकार 'शेष' के भी दो अर्थ हो सकते हैं—शेषनाग और अवशिष्ट। प्रकरण के कारण राज्यभार वहन करने के लिए अवशिष्ट इस अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण हो जाता है तब दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य होकर उपमानोपमेयभाव धारण कर लेता है—जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करने के लिये शेषनाग होता है उसी प्रकार तुम भी राज्यभार वहन करने के लिये अवशिष्ट हो। इस उपमा में महाराज हर्ष की अभूतपूर्व

सक्षमता अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार बात वही है किन्तु 'शेष' शब्द के प्रयोग द्वारा शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का सम्पादन कर पुराने अर्थ को ही नवीनता दे दी गई है।

['शेषो हिमगिरिः' इत्यादि श्लोक का वास्तविक पाठ 'बिभ्रते भुवम्' है। किन्तु यह पाठ अशुद्ध है क्योंकि नियमानुसार जहाँ मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष में दोनों के कर्ता पृथक्-पृथक् विद्यमान हों वहाँ क्रिया का प्रयोग मध्यम पुरुष में होना चाहिये। किन्तु वचन का प्रयोग पृथक् शब्दों की संख्या के अनुसार होता है। इस प्रकार 'शेषः' 'हिमगिरिः' और 'त्वम्' इन तीन कर्ताओं के कारण मध्यम पुरुष का बहुवचन आना चाहिये। अतः यहाँ पाठ होना चाहिये 'बिभृथ' या 'बिभृध्वे'। इस प्रकार या तो 'बिभृथ भुवम्' यह पाठ होना चाहिये या 'बिभृध्वे भुवम्' यह पाठ। किन्तु दोनों दशाओं में छन्दोभङ्ग दोष आ जाता है। 'बिभृथ भुवम्' में 'थ' यह षष्ठ वर्ण ह्रस्व हो जाता है जो दीर्घ होना चाहिये और 'बिभृध्वे भुवम्' में 'भृ' यह संयुक्ताद्य होने के कारण गुरु हो जाता है जो पञ्चम वर्ण होने के कारण लघु होना चाहिये। अतः इन दोषों को दूर करने के लिये दीधितिकार ने 'बिभृथ क्षितिम्' यह पाठ कल्पित कर लिया है। यही पाठ ठीक प्रतीत होता है।]

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि से नवीनता का उदाहरण

विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद है अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि। इसके आश्रय से पुराना अर्थ नया मालूम पड़ता है। जैसे एक प्रसिद्ध श्लोक है जिसका आशय यह है—

'जब कुमारियों के सामने उनके अभिभावक उनके विवाह और उनके भावी पति की बात करने लगते हैं तब कुमारियों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और लज्जा से उनका सिर नीचे झुक जाता है। इस प्रकार वे अपनी अन्तर्गत अभिलाषा को अभिव्यक्त करने लगती हैं।'

इसी पद्य का आशय कालिदास के 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य में भी आया है। (विस्तृत व्याख्या के लिये देखें द्वि. उ. का. २२, तृ. उ. का. ३९ तथा तृ. उ. का. ४३) उक्त श्लोक में लज्जा और स्पृहा शब्दोपात्त हैं, किन्तु कालिदास के श्लोक में लीला-कमलपत्र गणना से उनकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार यहाँ अनुरणनरूप व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपर-वाच्य का आश्रय लेने में ही अर्थ में नवीनता आ गई है।

अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य का जो ऊपर उदाहरण दिया गया है वह तो है स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु व्यञ्जना। इसके प्रतिकूल कभी-कभी कविप्रौढोक्तिरूप वस्तुध्वनि होती है। उसके अवलम्बन में नवीनता का उदाहरण जैसे एक पद्य का भाव है :—

'वसन्त काल के आ जाने पर आम्रकलिकाओं के साथ ही रागियों की रमणीय उत्कण्ठायें सहसा प्रादुर्भूत हो जाती हैं।'

इसी पद्य का भाव 'सज्जेइ सुरहिमासो' इत्यादि पद्य में भी लिया गया है। (दे. द्वि.-उ. का. २४) भाव वही है, केवल अन्तर यह है कि इस पद्य में वसन्त मास का कामदेव के बाणों को तैय्यार करना कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु है जिससे अत्यन्त गाढ़ी होनेवाली मन्मथ की

दशा अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि के कारण पुराने भाव में नवीनता आ गई है।

इसी प्रकार कविनिबद्ध-वक्तृ कल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि का आश्रय लेने से भी काव्य में नवीनता आ जाती है। जैसे एक पुराना भाव है—

(ध्वन्या०) अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्नशरीरत्वेन नवत्वम्। यथा—'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादिगाथार्थस्य।

करिणीवेहव्वअरो मह पुत्तो एक्ककाण्डविणिवाइ।
हअसोन्हाएँ तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ॥
(करिणिवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती।
हतस्नुषया तथाकृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति॥] इतिच्छाया।

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव।

यथा व्यङ्ग्यभेदसमाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जक-भेदसमाश्रयेणापि। तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिख्यते स्वयमेव सहृदयैरभ्यूह्यम्।

(अनु०) अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यङ्ग्य का कविनिबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर के द्वारा नवत्व—जैसे—'हे वणिक् हाथी के दाँत' इत्यादि गाथा के अर्थ का—

'करिणी को वैधव्य करनेवाला एक प्रहार में ही विनिपात कर देनेवाला मेरा पुत्र दुष्ट बहू के द्वारा ऐसा कर दिया गया कि वाणों की राशि को ढो रहा है।'

इत्यादि अर्थों के होते हुए भी अगतार्थता ही है।

जिस प्रकार ध्वनि के व्यङ्ग्य भेद का आश्रय लेने से काव्यार्थों में नवत्व उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यञ्जकभेद का आश्रय लेने से भी। वह ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं लिखा जा रहा है, सहृदयों के द्वारा स्वयं ही जान लिया जाना चाहिये।

(लो०) एतानि चोदाहरणानि वितत्य पूर्वमेव व्याख्यातानीति किं पुनरुक्त्या। सत्यपि प्राक्तनकविस्पृष्टत्वे नूतनत्वं भवत्येवैतत्प्रकारानुग्रहादित्येतावति तात्पर्यं हि ग्रन्थस्याधिकं नान्यत्। करिणीवैधव्यकरो हि मम पुत्रः एकेन काण्डेन विनिपातनस-मर्थः हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहतीत्युत्तान एवायमर्थः, ग.थार्थ-स्यानालीढतैवेति सम्बन्धः॥ ४॥

(अनु०) और इन उदाहरणों की विस्तारपूर्वक पहले ही व्याख्या कर दी गई है अतः पुनरुक्ति से क्या? प्राक्तन कवियों के द्वारा विशेष स्पृष्ट होते हुए भी इन प्रकारों के अनुग्रह से नवीनत्व होता ही है, ग्रन्थ का केवल इतने में ही तात्पर्य है और कुछ भी नहीं। करिणी का वैधव्य करनेवाला एक बाण में विनिपातन में समर्थ मेरा पुत्र दुष्ट बहू के द्वारा ऐसा कर दिया गया, जिससे वाणों का समूह ढो रहा है, यह अर्थ उत्तान ही है, गाथा के अर्थ की अगतार्थता ही है यह सम्बन्ध है॥

तारावती—'मेरा पुत्र हाथियों की पत्नियों को विधवा बनाने वाला है और वाण

के एक ही प्रहार में महागजराजों को धराशायी कर देता है। किन्तु आजकल जीविका को नष्ट करने वाली दुष्ट बहू ने उसे ऐसा बना दिया है कि वह बाणों के समूह धारण करनेवाले तरकस को ढो रहा है।'

यह किसी व्यक्ति के हाथी दाँत के लिये पूछने पर व्याध ने उत्तर दिया है। इसकी व्यञ्जना यह है कि मेरा पुत्र बहू के सम्भोग के कारण इतना क्षीण हो गया है और बहू के हावभाव कटाक्षों में ऐसा फँसा रहता है कि न तो उसमें इतनी शक्ति ही रह गई है कि वह मत्त हाथियों को मार सके और न उसकी प्रवृत्ति ही उस ओर है। वह बाणों को ढो रहा है, किन्तु उनका उपयोग कुछ नहीं। अतः हमारे घर में हाथी दाँत कहाँ से आयें? इसी आशय को लेकर 'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादि गाथा लिखी गई है। (दे० तृ० उ० का० १) यद्यपि भाव वही है, किन्तु 'करिणीवेहव्व अरो...वहइ' में 'हतस्नुषया तथाकृतः' यह कहकर व्यङ्ग्यार्थ को एक अंश में वाच्य बना दिया गया है जब कि 'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादि गाथा में 'यावल्लुलितालकमुखी' इत्यादि शब्दों के द्वारा उस अर्थ को सर्वथा व्यङ्ग्य ही रक्खा गया है। इस प्रकार पुराने अर्थ के होते हुए भी 'वाणिअअ' इत्यादि गाथा का अर्थ सर्वथा नवीन तथा पुराने पद्य के द्वारा अगतार्थ ही है। यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि का आश्रय लेकर नवीनता का संचार किया गया है।

ऊपर व्यङ्ग्य की दृष्टि से ध्वनि के विभिन्न भेदों का आश्रय लेने से पुराना अर्थ किस प्रकार नवीन हो जाता है इसका दिग्दर्शन करा दिया गया और कुछ उदाहरण भी दिये गये। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ही ध्वनिभेद अनन्तता के प्रयोजक नहीं होते अपितु व्यंजकभेद भी अनन्तता के प्रयोजक होते हैं। एक भाव को एक कवि शब्द इत्यादि उपकरणों का आश्रय लेकर अभिव्यक्त करता है उसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिए दूसरा कवि दूसरे ही शब्दों का प्रयोग किया करता है। इस प्रकार एक भाव के अनन्त व्यंजक हो सकते हैं। व्यंजकों का निरूपण तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में किया जा चुका है। उन भेदों का आश्रय लेकर किस प्रकार नवीनता सम्पन्न हो जाती है यह स्वयं समझ लेना चाहिए। यदि इन सब के उदाहरण दिये जायेंगे तो ग्रंथ का अनपेक्षित विस्तार हो जायगा। इस समस्त प्रकरण का सार यही है कि ध्वनि विस्तार काव्यगत भावों को अनन्तता प्रदान कर देता है, यह ध्वनि का सबसे बड़ा प्रयोजन है ॥४॥

(ध्वन्या०) अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥५॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थलाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नादवदधीत। रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्ग्ये तद्व्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचना प्रब-

न्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते। तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनः पुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते। प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति। कस्मिन्निवेति चेत्—यथा रामायणे यथा वा महाभारते। रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवं वादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्त-मेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

(अनु०) और यहाँ पर बार-बार कहा हुआ भी साररूप में यह कहा जा रहा है—

'इस विविध व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के सम्भव होते हुए भी कवि एक रसादिमय में ही ध्यान देनेवाला हो' ॥५॥

शब्दों के इस अर्थानन्त्य में हेतु विचित्र व्यङ्ग्यव्यंजक भाव के सम्भव होते हुए भी अपूर्व अर्थ के लाभ की इच्छावाला कवि एक रसादिमय व्यङ्ग्यव्यंजक भाव में (ही) यत्न से ध्यान दे। रस, भाव और तदाभास रूप व्यङ्ग्य में और उसके यथा निर्दिष्ट व्यंजक वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्ध में मन को सावधानतापूर्वक लगानेवाले कवि का सभी काव्य अपूर्व हो जाता है। वह इस प्रकार—रामायण, महाभारत इत्यादि में बार-बार कहे हुए भी संग्राम इत्यादि नये-नये प्रकाशित होते हैं और प्रबन्ध में एक ही अङ्गी रस उपनिबद्ध किया जाता हुआ अर्थविशेष की प्राप्ति को और छाया के आधिक्य को पुष्ट करता है। यदि कहो किसके समान ? तो जैसे रामायण में अथवा जैसे महाभारत में। रामायण में निस्सन्देह करुण रस 'शोक श्लोक को प्राप्त हो गया' यह कहनेवाले स्वयं आदिकवि ने सूत्र रूप में निर्दिष्ट कर दिया है और सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त प्रबन्ध की रचना करते हुए उसे समाप्ति को भी प्राप्त करा दिया।

(लो०) अत्यन्तग्रहणेन निरपेक्षभावतया विप्रलम्भशङ्कां परिहरति।

(अनु०) अत्यन्त ग्रहण से निरपेक्ष भाव रूप में विप्रलम्भ की शंका को दूर करते हैं।

रसध्वनि की प्रधानता

तारावती—प्रस्तुत पुस्तक के पिछले प्रकरणों में कई बार कहा गया है कि ध्वनि के तीनों भेदों में रसध्वनि ही प्रधान होती है तथा अन्य ध्वनियाँ रसप्रवण होकर ही काव्य की संज्ञा प्रदान करती हैं। यही प्रस्तुत रचना का सार है, अतः अन्त में एक बार पुनः इसी बात को दृढ़ करने के लिये ५वीं कारिका लिखी गई है। कारिका का आशय यह है—

यह ध्वनि अनन्तता में हेतु होती है और ध्वनि का प्रयोजक व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव बड़ा ही विचित्र तत्त्व है। इसके अनेक भेद सम्भव हैं। तथापि यदि कवि ऐसी रचना करने के लिए उत्सुक हो जिसका प्रयोजन चमत्कार प्रकर्ष की अपूर्व प्राप्ति ही हो तो उसे ऐसे व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव में प्रयत्नपूर्वक ध्यान देना चाहिये जिसका स्वरूप रसादिमय हो। यदि कवि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशबलता इत्यादि रसध्वनि के व्यङ्ग्य भेदों का ध्यान रखता है और उनके व्यंजक वर्ण, पद, वाक्य रचना और प्रबन्ध का भी विशेष ध्यान रखता है तो उसका समस्त काव्य अद्वितीय बन जाता है।'

(इस कथन का आशय यही है कि कवि को वस्तुयोजना अलङ्कार ध्वनि इत्यादि काव्य सम्बद्ध सभी तत्त्वों के प्रति जागरूक रहना चाहिए किन्तु विशेष रूप से उसे ऐसे शब्दों और अर्थों का प्रयोग करने में सावधान रहना चाहिये जिससे रस व्याहत न होने पाए। यदि कवि रसोपघातक शब्दों और अर्थों का प्रयोग करेगा तो यह उसके लिए दोष होगा। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस रस की वह व्यंजना कर रहा है वह भी लोकानुमोदित हो तथा औचित्य की सीमा से च्युत न होने पाये। ऐसा करने पर ही उसका काव्य अपूर्व बन जाता है।) यदि कवि रस के प्रति जागरूक रहता है तब तो एक बात यदि वह बार-बार कहता है तो भी उसमें नवीनता ही आती रहती है और यह प्रतीत नहीं हो पाता कि वही पुरानी बात बार-बार कही जा रही है। उदाहरण के लिए रामायण और महाभारत में युद्ध का न जाने कितनी बार वर्णन किया गया किन्तु हर-बार नया ही मालूम पड़ता है। उसका कारण यही है कि यद्यपि युद्ध का वर्णन तो वैसा ही सर्वत्र है तथापि युद्ध के अभिव्यंजक और अभिव्यङ्ग्य तत्वों में भेद पड़ जाने से जो भी अगला वर्णन किया गया है वह नया ही मालूम पड़ता है। प्रबन्ध काव्यों में प्रकरणानुसार अनेक रसों का उपादान होता है कहीं शृङ्गार, कहीं वीर, कहीं शान्त, कहीं हास्य इत्यादि अनेक रस अवसर के अनुसार आते रहते हैं। उन रसों में अङ्गीरस का अनुसन्धान करना पड़ता है। यह तो निश्चित ही है जितने रसों का प्रबन्ध में उपादान किया जायगा उनमें कोई एक ही प्रधान होगा अन्य रस उसके पोषक होंगे। पोषक रसों को अङ्ग कहते हैं और पोष्य रस को अङ्गी। अतः किसी प्रबन्धकाव्य का अध्ययन करने में इस बात का विशेष रूप से अनुसन्धान कर लेना चाहिये कि उस प्रबन्ध में कौन सा रस अङ्गी है और कौन-कौन से रस अङ्ग हैं। अङ्गी रस वही होता है जो अन्य रसों से पुष्ट किया जाय; जिसमें विशिष्ट चमत्कार आधान की शक्ति हो और छायाधिक्य के कारण उससे विशेष अर्थ की अवगति हो रही हो। इस बात को ठीक रूप में हृदयंगम करने के लिए हमें सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रबन्ध रामायण और महाभारत के अङ्गी रस की परीक्षा कर लेनी चाहिये। इस परीक्षा के द्वारा हम दूसरे महाकाव्यों के अङ्गी रस की परीक्षा पद्धति भली भाँति समझ सकेंगे।

रामायण-महाभारत में अंगीरस का विवेचन

(अङ्गी रस की परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है—कवि स्वयं अङ्गी रस का संकेत दे देता है, कभी-कभी उपक्रम में अङ्गी रस का उल्लेख कर दिया जाता है और उपसंहार तक उसी रस का निर्वाह किया जाता है, अन्य रस उसके निर्वाह के लिये आते हैं और उस रस का पोषण ही करते हैं, इत्यादि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनसे अङ्गी रस की परीक्षा की जा सकती है।) सर्व प्रथम रामायण को लीजिये। रामायण में वाल्मीकि जी ने उपक्रम में लिखा है कि—क्रौञ्च के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक ही श्लोक रूप में परिणत हो गया। यह शोक वस्तुतः करुण रस का स्थायी भाव है, क्योंकि क्रौञ्च का वियोग आत्यन्तिक है। मुनि के इस संकेत से व्यक्त होता है कि रामायण का अङ्गीरस करुण है। मुनिवर वाल्मीकि जी ने रामायण की रचना वहाँ तक की है जहाँ राम और सीता का वियोग आत्यन्तिक रूप में

हो जाता है और उनके पुनः सम्मिलन की सम्भावना नहीं रहती। अतः अन्त में भी करुण रस में ही रामायण की समाप्ति होती है। इस प्रकार मुख और निर्वहण दोनों सन्धियों में करुणरस विद्यमान है। मध्य में भी जो वीर रस इत्यादि आये हैं वे भी करुणरस के परिपोषक और अङ्ग ही हैं। इस प्रकार रामायण का अङ्गी रस करुणरस ही है। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि सीतावियोगजन्य दुःख तो विप्रलम्भ शृङ्गार का विषय है फिर यहाँ यह कैसे कहा गया कि रामायण का अङ्गीरस करुण है? इसका उत्तर यह है कि विप्रलम्भ की शङ्का का परिहार करने के लिये ही तो यहाँ पर 'अत्यन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। आत्यन्तिक वियोग करुणरस का ही विषय होता है विप्रलम्भ शृङ्गार का नहीं। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि वृत्तिकार का यह कथन सर्वथा चिन्त्य है क्योंकि 'शोकः श्लोकत्वमागतः' यह श्लोकपाद तो ध्वनिकार का है—'काव्यस्यात्मा स एवार्थः.........' इत्यादि कारिका का यह अन्तिम चरण है—वाल्मीकि का नहीं। यह श्लोक-पाद रामायण में आया भी नहीं है। फिर यह कथन सङ्गत ही कैसे हो सकता है?' इस विषय में निवेदन यह है कि यह चरण स्वयं महाकवि वाल्मीकि का ही है और रामायण बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग के अन्त में आया है। टीकाकार को आक्षेप करने के पहले रामायण का उपक्रम देख लेना चाहिये था।)

(ध्वन्या०) महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमन्यैर्व्याख्याविधायिभिः। स्वयमेव चैतदुद्गीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्नमुज्जिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानालोकदायिना—लोकनाथेन—

(अनु०) शास्त्र और काव्य की छाया के अन्वयवाले महाभारत में भी वृष्णि और पाण्डवों के विरसावसान से वैराग्य देनेवाली समाप्ति को निबद्ध कर महामुनि ने भी अपने प्रबन्ध का मुख्य तात्पर्य वैराग्यजनन ही दिखलाते हुये सूचित किया है कि मोक्षरूप पुरुषार्थ और शान्तरस मुख्यरूप में विवक्षाविषय है। अन्य व्याख्याकारों ने यह आंशिक रूप में विवृत किया है। बड़े-बड़े महामोह में डूबे हुये लोक को निकालते हुये अति निर्मल ज्ञान का आलोक देनेवाले उन लोकनाथ (व्यास) ने स्वयं कह दिया है :—

(लो०) वृष्णीनां परस्परक्षयः, पाण्डवानामपि महापथक्लेशेनानुचिता विपत्तिः, कृष्णस्यापि व्याधाद्विध्वंस इति सर्वस्यापि विरसमेवावसानमिति। **मुख्यतयेति**। यद्यपि 'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे चे'त्युक्तं, तथापि चत्वारश्चकारा एवमाहुः—यद्यपि धर्मार्थकामानां सर्वस्वं तादृङ्नास्ति यदन्यत्र न निगद्यते, तथापि पर्यन्तविरसत्वमत्रैवावलोक्यताम्। मोक्षे तु यद्रूपं तस्य सारतात्रैव विचार्यतामिति।

(अनु०) वृष्णियों का परस्पर क्षय, पाण्डवों की भी महापथ क्लेश से अनुचित विपत्ति

कृष्ण का भी व्याध से विध्वंस इस सबका भी विरस ही अवसान (हुआ) यह । 'मुख्य रूप में' यह । यद्यपि धर्म में और अर्थ और काम में और मोक्ष में' यह कहा गया है कि तथापि चार 'और' यह कहते हैं—यद्यपि धर्म अर्थ और काम का सर्वस्व (यहाँ) वैसा नहीं है जैसा अन्यत्र विद्यमान न हो तथापि पर्यन्तविरसत्व यहीं पर देखा जावे, मोक्ष में तो जैसा रूप है उसकी सारता यहीं विचारी जावे, यह ।

तारावती—अब महाभारत के अङ्गीरसपर विचार कीजिये । महाभारत एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें हमें पातञ्जल इत्यादि शास्त्रों की भी छाया दृष्टिगत होती है और रामायण इत्यादि काव्यों के स्वरूप का भी प्रतिफलन इस महाग्रन्थ में हुआ है । यह ग्रन्थ तत्त्वनिर्णय की दिशा में शास्त्र का काम देता है और चमत्कारोत्पादन दिशा में यह महाकाव्य का कार्य करता है । इस ग्रन्थ का पर्यवसान सभी के विनाश में होता है । वृष्णिवंश वाले इतने महान् तथा संख्या में इतने अधिक हैं, किन्तु अन्त में शाप से वे सब परस्पर लड़कर ही समाप्त हो जाते हैं और उनका भरा पूरा ऐश्वर्य बात की बात में समाप्त हो जाता है । पाण्डवों की कथा मुख्य है । पाण्डव अपनी वीरता में किसी को भी अपने सामने नहीं आने देते । महाभारत जैसे महा-संग्राम में अभूतपूर्व पराक्रम दिखलाकर और सभी शत्रुओं का संहार कर एक समृद्ध राज्य के अधिकारी बन जाते हैं । किन्तु अन्त में होता क्या है ? सभी को हिमालय के महापथ की ओर जाना पड़ता है और अनेक वर्णनातीत विपत्तियों को सहते हुये हिमराशि में अपनी कथा समाप्त कर देनी पड़ती है । उन युगपुरुष भगवान् वृष्णि का ही क्या होता है ! जो अपने योगेश्वर रूप के कारण अपने प्रभुत्व से सारी जनता पर छा जाते हैं और भगवान् के रूप में उनकी पूजा होने लगती है वे भगवान् कृष्ण भी अन्त में एक साधारण बहेलिये से मारे जाते हैं । सभी का कितना नीरस अन्त होता है ! यह नीरसता दिखलाकर ही महाभारत समाप्त कर दिया जाता है । इस उपसंहार से व्यक्त होता है कि महामुनि व्यास वृष्णि पाण्डव और कृष्ण का महान् उत्कर्ष दिखलाकर यही सिद्ध करना चाहते हैं कि जब इतने महापुरुषों और उत्कर्षशालियों का ऐसा नीरस अन्त हो सकता है तब साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या ? मानव कितना ही बढ़ जाय किन्तु अन्त में समाप्ति नीरसता में ही होती है । विश्व की सभी वस्तुएँ क्षणभङ्गुर है । इससे सिद्ध होता है कि महामुनि का तात्पर्य वैराग्य-जनन ही है । यदि काव्यरूप में इस महाग्रंथ का परिशीलन किया जाय तो वैराग्यजनक परिस्थितियाँ विभाव होकर तृष्णाक्षयजन्य सुख में पर्यवसित होंगी और सम्पूर्ण काव्य का अङ्गीरस शान्तरस ही सिद्ध होगा । यदि इसकी पर्यालोचना शास्त्र की दृष्टि से की जाय तो धर्म अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ गौण सिद्ध होंगे और मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष ही सिद्ध होगा । आशय यह है कि महाभारत के कवि भगवान् व्यास को मुख्य रूप में यह कहना अभीष्ट है कि शान्त रस ही इस ग्रन्थ का अङ्गी रस है और मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है । मुख्य कहने का आशय यह है कि गौण रूप में इसमें दूसरे रस भी विद्यमान हैं, किन्तु उनका पर्यवसान शान्त रस में ही होता है । इसी कारण गौण रूप में इसमें धर्म अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ के रूप में प्रति-पादित किया गया है किन्तु परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है । पुरुषार्थ निरूपण के विषय में महा-

भारत का यह श्लोक प्रसिद्ध है :—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

इस श्लोक में प्रत्येक पुरुषार्थ का उल्लेख करने के बाद एक 'च' जोड़ दिया गया है। इस प्रकार चार चकारों का प्रयोग यहाँ किया गया है। इन चकारों का अभिप्राय यह है कि लोक में धर्म, अर्थ और काम ये पुरुषार्थ माने जाते हैं। इन पुरुषार्थों का जिस प्रकार उल्लेख इस महाग्रन्थ में हुआ है वह सब लोक में पाया जाता है। किन्तु लोक में इनकी निस्सारता नहीं पाई जाती जिसका ठीक रूप में उल्लेख इसी ग्रन्थ में किया गया है। मोक्ष के विषय में जो कुछ कहा गया है और जैसा रूप है वह लोक की वस्तु नहीं है। मोक्ष का सार रूप तो इस ग्रन्थ में ही है और इसी में इस तत्त्व का विचार किया जाना चाहिये।

('च' का प्रयोग समुच्चय, अन्वाचय इत्यादि अर्थों में होता है। जिन शब्दों अथवा वाक्यखंडों का एक में अन्वय करना होता है उनके साथ 'च' का योग किया जाता है। सामान्यतया संयुक्त होने वाले शब्दों और वाक्यखण्डों को लिखकर अन्त में 'च' का प्रयोग कर दिया जाता है। किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से प्रत्येक शब्द के साथ 'च' का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ पर इसका विशिष्ट अर्थ लिया जाना चाहिये। वह विशिष्ट अर्थ यही होगा कि जो कुछ लोक में अधिगत होता है वह इस महाग्रंथ में न हो ऐसी बात नहीं है वह सब तो इसमें है ही। किन्तु लोक में उनकी विरसावसानता दृष्टिगत नहीं होती जिसका इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है। मोक्ष का तो प्रतिपादन इस महाग्रन्थ की विशेषता ही है। इस प्रकार विरसावसानता और मोक्ष की विशेषता ही विशिष्ट अर्थ है जिनकी अभिव्यक्ति चार चकारों के प्रयोग से होती है।)

महाभारत के अङ्गी रस के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका आंशिक विवरण महाभारत के विभिन्न व्याख्याताओं ने दे दिया है किन्तु स्पष्ट रूप में यह किसी ने नहीं कहा कि शान्तरस ही महाभारत का अङ्गी रस है। महाभारत के रचयिता को तो हम लोकनाथ कह सकते हैं क्योंकि एक तो अवतारों के परिगणन में भगवान् व्यास का नामोल्लेख पाया जाता है, अतः भगवान् का अवतार होने के कारण वेदव्यास जी लोकनाथ हैं। दूसरी बात यह है कि उन्होंने महाभारत जैसा परमोत्कृष्ट प्रबन्ध लिखकर सांसारिक व्यक्तियों की भावनाओं को नियन्त्रित कर सन्मार्गमें प्रवृत्त करने की चेष्टा की है। इस प्रकार लोक पर नियन्त्रण करने के कारण वे लोकनाथ हैं। उन्होंने देखा कि सारा विश्व एक महान् अज्ञान और मोह में डूबा हुआ है, चारों ओर सत्त्वगुण का पराभव हो चुका है और रजोगुण और तमोगुण ही प्रधान हो गये हैं। अतः यह महामोह बहुत अधिक उदीर्ण हो गया है और लौकिक व्यक्तियों के लिये यह एक बहुत बड़ा बन्धन है। उनकी केवल एक यही कामना थी कि जैसे भी हो सके यह अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ विश्व निस्तार प्राप्त कर ले और मोह-

महोदधि से बाहर निकल सके। इसी मन्तव्य की पूर्ति के लिए उन भगवान् ने महाभारत की रचना की। इस रचना के द्वारा उन्होंने तत्त्वज्ञान का ऐसा प्रकाश प्रदान करने की चेष्टा की जो महामोहान्धकार के अपसरण में समर्थ हो। अतः यह कहा ही जा सकता है कि उनका मन्तव्य मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहना था और शान्तरस को ही वे प्रधान मानकर चले थे। केवल इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने यह बात कही भी है। उनके कथन का एक नमूना देखिये :—

(ध्वन्या०) **यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।**
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारत-तात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते। अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव।

(अनु०) 'जैसे जैसे लोकतन्त्र असार के समान विपरीत होता जाता है वैसे वैसे इसमें विराग होता जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं।'

इत्यादि बहुत बार कहते हुये। उससे शान्तरस दूसरे रसों के द्वारा और मोक्षरूप पुरुषार्थ दूसरे पुरुषार्थों के द्वारा उसके प्रति गौण होने के कारण अनुगमन किया जाता हुआ अङ्गी के रूप में विवक्षा का विषय है यह महाभारत का तात्पर्य स्पष्ट ही अवभासित होता है। रसों का जैसा अङ्गाङ्गिभाव है वैसा प्रतिपादित ही कर दिया गया।

(लो०) **यथा यथेति।** लोकैस्तन्त्र्यमाणं यत्नेन सम्पाद्यमानं धर्मार्थकामतत्सा-धनलक्षणं वस्तुभूततयाभिमतमपि। येन येनार्जनरक्षणक्षयादिना प्रकारेण। असार-वत्तुच्छेन्द्रजालादिवत्। **विपर्येति।** प्रत्युत विपरीतं सम्पद्यते। आस्तान्तस्य स्वरूप-चिन्तेत्यर्थः। तेन तेन प्रकारेण अत्र लोकतन्त्रे। विरागो जायत इत्यनेन तत्त्वज्ञानो-त्थितं निर्वेदं शान्तरसस्थायिनं सूचयता तस्यैव च सर्वेतरासारत्वप्रतिपादनेन प्राधान्य-मुक्तम्।

(अनु०) 'जैसे जैसे' यह। लोकों के द्वारा तन्त्रित किया जाता हुआ अर्थात् प्रयत्न-पूर्वक सम्पादित किया जाता हुआ धर्म, अर्थ और काम तथा उसके साधन के रूप में स्थित वस्तुरूप होने से अभिमत भी। जिस-जिस अर्जन रक्षण और क्षय इत्यादि के प्रकार से। असार-वत् अर्थात् तुच्छ। इन्द्रजालवत् 'विपर्येति' अर्थात् प्रत्युत विपरीत हो जाता है, उसकी स्वरूप-चिन्ता तो दूर रही। उन प्रकारों से इस लोकतन्त्र में। 'विराग उत्पन्न हो जाता है' इसके द्वारा तत्त्वज्ञान से उत्थित शान्त रस के स्थायी निर्वेद को सूचित करते हुये समस्त दूसरी वस्तुओं के असारत्व के प्रतिपादन के द्वारा उसी का प्राधान्य कहा गया है।

तारावती—तन्त्रका अर्थ है प्रयत्नपूर्वक सम्पादन किये जानेवाले तत्त्व, वे हैं—धर्म, अर्थ और काम तथा उनके सम्पादन के लिए उपयुक्त साधन। ये सब लौकिक तत्त्व हैं, सांसारिक

वस्तुयें हैं और सभी लोग इनके जुटाने का प्रयत्न किया करते हैं तथा सभी लोगों के लिये ये वस्तुयें अभिमत होती हैं। संसार इनके उपार्जन तथा संरक्षण के लिये अनेक प्रकारों को अपनाया करता है। किन्तु अन्त में वे समस्त प्रकार और उनके फल धर्म अर्थ और काम सभी कुछ असार सिद्ध हो जाता है तथा ज्ञात होने लगता है कि जैसे इन्द्रजाल में दिखलाई गई वस्तुयें मिथ्या होती हैं उसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या ही हैं। केवल इतना ही नहीं अपितु मानव आनन्द को कामना लेकर जिन वस्तुओं की ओर दौड़ता है वे अन्त में विपरीत फल-दायक अत एव दुःखकारक हो जाती हैं। अतः उनकी स्वरूप चिन्ता से क्या लाभ ? जैसे-जैसे ये भावनायें जागृत होती हैं और अनुभव मनुष्य के सामने वास्तविकता को प्रस्तुत करता जाता है वैसे विराग उत्पन्न होता जाता है।

'विराग उत्पन्न होता है' इन शब्दों से अभिव्यक्त होता है कि तत्त्व ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही संसार का एक मात्र सत्य है। यह निर्वेद शान्तरस का स्थायी भाव है। इससे अन्य समस्त वस्तुओं की असारता का प्रतिपादन करते हुए निर्वेद को ही महाभारत का प्रधान प्रतिपाद्य बतलाया है। इस प्रकार के बहुत से वाक्य महाभारत में आये हैं। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि महाभारत में जितने भी रस आये हैं चाहे वे वीर हों चाहे करुण वे सब शान्तरस के ही पोषक हैं और शान्तरस के ही अङ्ग हैं, अङ्गी शान्तरस ही है। इसी प्रकार धर्म, अर्थ इत्यादि जितने भी पुरुषार्थ प्रतिपादित किये गये हैं वे सब मोक्षरूप पुरुषार्थ के ही अङ्ग हैं और उसी के पोषक हैं, अङ्गी मोक्ष नामक पुरुषार्थ ही है। इस प्रकार इन कथनों के आधार पर स्पष्ट रूपमें सिद्ध हो जाता है कि मुनि की इच्छा शान्तरस और मोक्ष का प्रति-पादन करने की ही है और यही महाभारत का तात्पर्य है। रसों का अङ्गाङ्गिभाव तो हो ही सकता है। इसका तो प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका है। (दे. उ. ३ का. २०)।

(ध्वन्या०) पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य पुरुषा-र्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम्। ननु महाभारते यावान् विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते—सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यां दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन—

(अनु०) पारमार्थिक अन्तस्तत्त्व की अपेक्षा न करते हुये अङ्गभूत शरीर के समान रस का और पुरुषार्थ का अपने प्राधान्य के द्वारा चारुत्व विरुद्ध नहीं है। (प्रश्न) महाभारत में जितना विवक्षा का विषय है वह अनुक्रमणी में सभी अनुक्रान्त किया गया है, यह तो वहाँ नहीं ही देखा जाता; इसके प्रतिकूल महाभारत का सब पुरुषार्थों के प्रबोध का हेतुत्व और सर्वरसगर्भत्व उस उद्देश में स्वशब्दनिवेदितत्व के रूप में प्रतीत होता है। यहाँ कहा जा रहा है—सच ही है कि शान्त रस का ही अङ्गित्व और मोक्ष का ही समस्त पुरुषार्थों में प्रधानत्व यह स्वशब्दाभिधेय के रूप में अनुक्रमणी के द्वारा नहीं दिखलाया गया है; व्यङ्ग्य के द्वारा तो दिखलाया गया है :—

(लो०) ननु श्रृङ्गारवीरादिचमत्कारोऽपि तत्र भातीत्याशङ्क्याह—**पारमार्थिकेति**। भोगाभिनिवेशिना लोकवासनाविष्टानामङ्गभूतेऽपि रसे तथाभिमानः, यथा शरीरे प्रमातृत्वाभिमानः प्रमातुर्भोगायतनमात्रेऽपि।

(अनु०) निस्सन्देह श्रृङ्गार वीर इत्यादि का चमत्कार भी वहाँ शोभित होता है यह शंका करके कहते हैं—'पारमार्थिक' यह। भोग में अभिनिवेश रखनेवाले लोक-वासनाओं में आविष्ट लोगों का अङ्गभूत भी रस में वैसा अभिमान होता है जैसा प्रमाता के भोगायतन मात्र शरीर में भी प्रमाता का प्रमातृत्वाभिमान होता है।

तारावती—बहुत से विचारक महाभारत में कई दूसरे अङ्गीरसों का प्रतिपादन करते वस्तुतः महाभारत में कई दूसरे रस भी पर्याप्त विस्तार के साथ आये हैं। कहीं श्रृङ्गार है, कहीं वीर। किन्तु ये सब रस शान्तरस के ही पोषक हैं। किन्तु जो लोग महाभारत के वास्तविक अन्तस्तत्त्व को नहीं समझते अथवा उस ओर ध्यान नहीं देते वे कहने लगते हैं कि महाभारत में अन्य रसों की प्रधानता है। इसी प्रकार महाभारत में धर्म, अर्थ और काम का भी विस्तार देखकर वे लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और यह नहीं समझ पाते कि ये सब धर्म अर्थ और काम वस्तुतः मोक्ष के ही साधन होकर आये हैं। इन लोगों की यही दशा है जैसे जो लोग सारभूत तत्त्व आत्मा को नहीं जान पाते और शरीर को ही अनेक कार्य करते हुए देखते हैं वे क्रियाकलाप में शरीर की ही प्रधानता बतलाने लगते हैं। शरीर और कुछ नहीं आत्मा का भोगायतन ही है। इसमें रहकर आत्मा अपने कर्मों का भोग किया करता है। किन्तु जब प्रमाता अपने स्वरूप को नहीं जान पाता तब वह शरीर को ही प्रमाता मानने लगता है। इसी प्रकार जिन लोगों का आग्रह ही सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करना है और जिनमें लोकवासनायें आविष्ट हो चुकी हैं वे अङ्गभूत रस को ही अंगी मान बैठते हैं।

(ध्वन्या०) **'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः'**

इत्यस्मिन् वाक्ये। अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीर्त्यते तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात्तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभूतिषु निस्सारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रीतिनिविष्टधियः। तथा चाग्रे पश्यत निस्सारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः। एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोकाः लक्ष्यन्ते—'स हि सत्यम्' इत्यादयः।

(अनु०) 'यहाँ सनातन भगवान् वासुदेव का कीर्तन किया जाता है।'

इस वाक्य में। इससे यह अर्थ व्यङ्ग्यत्व के रूप में कहना अभीष्ट है कि यहाँ पर महाभारत में जो पाण्डवादि चरित कीर्तित किया जा रहा है वह सब अवसान में विरस है और अविद्याप्रपञ्च रूप है; परमार्थ सत्यस्वरूप तो भगवान् वासुदेव यहाँ कीर्तित किये जा रहे हैं। इससे

उन परमेश्वर भगवान् में ही भावित चित्तवाले बनो, निस्सार विभूतियों में रागी न बनो और न नय, विनय, पराक्रम इत्यादि केवल कुछ गुणों में पूर्ण आत्मा से आग्रहयुक्त बुद्धिवाले बनो। उसी प्रकार आगे 'संसार की निस्सारता देखो' इस अर्थ को द्योतित करते हुये व्यञ्जक शक्ति से अनुगृहीत 'च' शब्द स्पष्ट ही अवभासित होता है। इस प्रकार के गर्भित अर्थ को दिखलाते हुये बाद के श्लोक देखे जाते हैं—'स हि सत्यम्' इत्यादि।

(लो०) **केवलेष्विति।** परमेश्वरभक्त्युपकरणेषु तु न दोष इत्यर्थः। विभूतिषु रागिणो गुणेषु च निविष्टधियो माभूतेतिसम्बन्धः। **अग्र इति।** अनुक्रमण्यनन्तरं यो भारतग्रन्थस्तत्रेत्यर्थः।

(अनु०) 'केवलों में' यह। अर्थात् परमेश्वर की भक्ति के उपकरणों में तो दोष नहीं है। सम्बन्ध यह है—विभूतियों में रागी और गुणों में निविष्ट बुद्धिवाले न होओ'। 'आगे' यह। अर्थात् अनुक्रमणी के बाद जो भारत ग्रन्थ है वहाँ।

तारावती—(प्रश्न) महाभारत में कवि को जो कुछ कहना अभीष्ट है वह सब अनुक्रमणी में ही दिखला दिया गया है। यह अनुक्रमणी महाभारत में दी हुई है। अनुक्रमणी लिखने का मन्तव्य यही है कि रचना के सारे उद्देश्यों से पाठक परिचित हो जायें। जिन पुरुषार्थों की सिद्धि महाभारत का लक्ष्य है वे सब पुरुषार्थ वहीं दिखला दिये गये हैं। वहाँ वेद, योग, विज्ञान, धर्म, अर्थ, काम, विभिन्न शास्त्र, लोकयात्रा विधान, इतिहास, विभिन्न श्रुतियाँ इत्यादि ही उद्देश्य के रूप में गिनाये गये हैं। वहाँ यह लिखा ही नहीं गया कि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और ये सब प्रतिपादन उसी के अङ्ग हैं। महाभारत देखने से यही अवगत होता है कि महाभारत का उद्देश्य सभी पुरुषार्थों का प्रतिपादन करना है। इसी प्रकार सभी रसों से गर्भित होना भी उसी प्रकरण से सिद्ध होता है। जो बात कवि ने स्पष्ट शब्दों में स्वयं कही है वही मानी जानी चाहिये। फिर मोक्ष को परम पुरुषार्थ और शान्त रस को अङ्गी रस मानने का आपके पास क्या आधार है? (उत्तर) यह तो सच ही है कि महाभारत की अनुक्रमणी में ऐसा कोई प्रकरण या श्लोक नहीं है कि शान्तरस तथा मोक्ष को अङ्गी सिद्ध किया जा सके। किन्तु उसी प्रकरण में कई ऐसे वाक्य हैं जिनका परिशीलन करने से स्पष्ट रूप में ज्ञात होता है कि मुनि का अभिप्रेत शान्तरस को ही अंगी मानना है। व्यञ्जनों के आधार पर शान्तरस को अंगी सिद्ध किया जा सकता है। अनुक्रमणी के निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं परमं ब्रह्म ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥

(इसमें सनातन वासुदेव का कीर्तन किया गया है, वे निस्सन्देह सत्य हैं, ऋत हैं, पवित्र हैं, पुण्य हैं, शाश्वत परब्रह्म हैं, सनातन अटल प्रकाश हैं जिसके दिव्य कर्मों का मनीषीगण वर्णन करते हैं।)

सनातन का अर्थ है सदा रहनेवाले, आदि मध्यान्त रहित और भगवान् का अर्थ है परम ऐश्वर्यशाली जिनमें अचिन्त्य तथा अद्भुत शक्ति विद्यमान है। यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि महाभारत का प्रधान प्रतिपाद्य वासुदेव कृष्ण का चरित्र नहीं अपितु पाण्डवचरित्र है। किन्तु उपक्रम में कहा गया है कि इस महाग्रन्थ में भगवान् वासुदेव का कीर्तन है। इससे सिद्ध होता है कि पाण्डवादिकों के जिस चरित्र को विस्तार दिया गया है वह भगत्कीर्तन का ही एक अङ्ग है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि पाण्डवादिकों का जो चरित्र महाभारत में आया है उस सबका अवसान विरसता तथा नाश में ही होता है। अतः विश्व का जितना भी प्रपञ्च है वह सब अज्ञान का ही विलास है। इस अविद्या-विलास को सत्य मानकर जो भी प्रवृत्त होता है वह कितना ही महान् क्यों न हो पाण्डवों के समान अन्त में विरसता में ही समाप्त हो जाता है। इस विश्व का वास्तविक तत्त्व वासुदेव ही हैं और उन्हीं का कीर्तन इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य है। अत एव अखण्डाद्वैतस्वरूप संसार के उदय पालन और लय के करने-वाले भगवान् कृष्ण के प्रति ही अपने चित्तों में भावना भरो, जो सांसारिक तुच्छ विभूतियाँ हैं, जिनका पर्यवसान विरसता में ही होता है उनके रागी मत बनो। ये जितने भी सांसारिक गुण हैं जैसे नीति, विनय, पराक्रम इत्यादि, यदि उनका प्रयोजन केवल सांसारिक विभूतियाँ उपार्जित करना ही है तो उनमें भी किसी सीमा तक संलग्न होना बुरा नहीं है किन्तु अपनी पूरी आत्मा से ही उन्हीं में अपनी बुद्धि लगा देना ठीक नहीं है। हाँ यदि इन गुणों का प्रयो-जन भगवत्सान्निध्य प्राप्त करना है और ये गुण भक्ति साधना में सहायक होते हैं तो कोई बुराई नहीं, तब तो इन गुणों में आसक्त होना ही चाहिए। 'भगवान् वासुदेवश्च' में 'च' शब्द विशेष व्यङ्ग्यार्थ को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। इससे यह व्यंजना निकलती है कि इस महाभारत ग्रन्थ में संसार की असारता और भगवत्तत्त्व की ससारता का प्रति-पादन किया गया है इसे समझने की चेष्टा करो। यह व्यंजना इसमें स्पष्ट ही अवभासित होती है अग्रिम ग्रन्थ में इसी व्यङ्ग्यार्थ को दिखलाने के लिए श्लोक लिखे गये हैं जो 'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' के बिल्कुल बाद में आते हैं और जिनका प्रारम्भ 'स हि सत्यम्' इत्यादि से होता है। यहाँ पर 'तथा चाग्रे' का अर्थ करते हुए लोचनकार ने लिखा है कि 'अग्रिम भाग में' का आशय है 'अनुक्रमणी समाप्त कर लेने के बाद जो महा-भारत ग्रन्थ का अगला प्रकरण प्रारम्भ होता है वहाँ पर'। किन्तु वृत्तिकार का यह आशय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि एक तो 'स हि सत्यम्' इत्यादि श्लोक-खण्ड का उद्धरण दिया गया है जो कि अनुक्रमणी का ही श्लोक है, दूसरी बात यह है कि 'अनन्तरश्लोकाः' लिखा गया है जिसका अर्थ है 'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' के तत्काल बाद में आने वाले श्लोकों का संग्रह। अतः यहाँ पर अनुक्रमणी के श्लोकों से ही तात्पर्य है। बाद के प्रकरण के श्लोकों से नहीं।)

(ध्वन्या०) **अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्ति विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक् स्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तत्त्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्व**

पक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते। देवतातीर्थतपःप्रभृतीनां च प्रभावातिशयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूतित्वेनैव देवताविशेषाणामन्येषां च पाण्डवादिचरितवर्णनस्यापि वैराग्यजननतात्पर्याद्वैराग्यस्य च मोक्षमूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात् परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव। परम्परया वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्यास्पदं परंब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव। परम्परया वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्यास्पदं परं ब्रह्म गीतादिप्रदेशान्तरेषु तदभिधानत्वेन लब्धप्रसिद्धिमाथुरप्रादुर्भावानुकृतसकलस्वरूपं विवक्षितं न तु माथुरप्रादुर्भावांश एव, सनातनशब्दविशेषितत्वात्। रामायणादिषु चानया संज्ञया भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहारदर्शनात्। निर्णीतश्चायमर्थः शब्दतत्त्वविद्भिरेव।

(अनु०) और यह निगूढ रमणीय अर्थ महाभारत के अन्त में हरिवंश वर्णन के द्वारा समाप्त करते हुये उन्हीं कवियों के ब्रह्मा कृष्ण द्वैपायन ने ही ठीक रूप में स्फुट कर दिया। और इस अर्थ के द्वारा संसारातीत दूसरे तत्त्व में भक्ति की अधिकता को प्रवर्तित करते हुये (वेदव्यास के द्वारा) सभी सांसारिक व्यवहार पूर्वपक्ष किया हुआ नीचे रूप में प्रकाशित होता है। उसी परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण और विशेष देवताओं तथा दूसरों का उन्हीं की विभूतिरूप होने के कारण देवता, तप, तीर्थ इत्यादि के प्रभाव का अतिशय बर्णन (किया गया है) पाण्डवादि चरित वर्णन का भी वैराग्यजनन-तात्पर्य होने से, वैराग्य के मोक्ष का मूल होने से और मोक्ष के भगवत्प्राप्ति का उपाय होने से मुख्यरूप में गीता इत्यादि में प्रदर्शित होने के कारण परब्रह्म की प्राप्ति का उपायत्व ही है। और परम्परा से वासुदेव इत्यादि की संज्ञा से अभिधेय होने के कारण अपरिमित शक्ति का आस्पद परब्रह्म गीता इत्यादि दूसरे प्रदेशों में उसी नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त करने वाला मथुरा में प्रादुर्भाव से अनुकृत सभी का स्वरूप कहना अभीष्ट है केवल मथुरा में प्रादुर्भाव का अंश ही नहीं, क्योंकि इसके विशेषण के रूप में सनातन शब्द का प्रयोग किया गया है। रामायण इत्यादि में इस संज्ञा से भगवान् की दूसरी मूर्ति में व्यवहार देखा जाता है। इस अर्थ का निर्णय शब्दतत्त्वज्ञों ने ही कर दिया है।

(लो०) ननु वसुदेवापत्यं वासुदेव इत्युच्यते, न परमेश्वरः परमात्मा महादेव इत्याशङ्क्याह—**वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेनेति।**

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। **वासुदेवः सर्वम्**'। इत्यादौ अंशिरूपमेतत्संज्ञाभिधेयमितिनिर्णीतं तात्पर्यम्। **निर्णीतश्चेति।** शब्दा हि नित्या एवं सन्तोऽनन्तरं काकतालीयवशात्तथा सङ्केतिता इत्युक्तम्—ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्चेत्यत्र।

(अनु०) (प्रश्न) वसुदेव का अपत्य वासुदेव यह कहा जाता है, परमेश्वर परमात्मा महादेव नहीं, यह शङ्का करके कहते हैं—'वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्व' के द्वारा यह।

'बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान् मुझे 'वासुदेव सभी है' इस रूप में प्राप्त होता है।' इत्यादि में यह संज्ञाभिधेय अङ्गी रूप में है यह निर्णीत तात्पर्य है। शब्द नित्य होते हुये

निस्सन्देह बाद में काकतालीय न्याय से वैसे संकेतित किये गये हैं यह 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस सूत्र में कहा गया है।

तारावती—अनुक्रमणी में जो कुछ कहा गया है वह सर्वथा बाच्य है और इसीलिये प्रकट है। अत एव उसमें सौन्दर्य नहीं है। किन्तु उसका यह शान्त की अङ्गीरसरूपता और मोक्ष की परमपुरुषार्थता का अर्थ निगूढ रूप में व्यक्त किया गया है, अतः उसमें रमणीयता आ गई है। महाकवि वेदव्यास कवियों के विधाता हैं। उनके मूर्धन्य प्रबन्ध महाभारत को भुवनोपजीव्य कहा जाता है और यह अनिवार्य माना जाता है कि कविता करने में पूर्णता प्राप्त करने के लिये महाभारत का आश्रय लिया जाय। इसीलिये रमणीयता-सम्पादन के उद्देश्य से ही उन्होंने इस अर्थ को प्रच्छन्न रूप में अभिव्यक्त किया है। किन्तु इसे उन्होंने सर्वथा प्रच्छन्न रक्खा भी नहीं है। महाभारत के परिशिष्ट के रूप में हरिवंश पुराण जोड़ा गया है और उसी से महाभारत की समाप्ति की गई है। हरिवंश में कृष्ण की लोकोत्तर लीलायें वर्णित की गई हैं। भगवद्गुणानुवाद से ग्रन्थ का समाप्त करना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि कि ग्रन्थ का उद्देश्य भगवद्गुणानुवाद का प्रकथन करना ही है। हरिवंश पुराण का जो भी अर्थ है उसमें पाठक की मनोवृत्ति लौकिक तत्त्व से उदासीन होकर परम सत्ता परमात्मा में ही लीन हो जाती है और उसी ओर पाठक की अतिशय भक्ति प्रवर्तित हो जाती है। इससे महाभारत के मुख्य भाग में जो कुछ सांसारिक व्यवहार वर्णित किया गया है वह पूर्वपक्ष ही सिद्ध होता है। शास्त्रकारों की यह सामान्य परम्परा है कि वे पहले पूर्वपक्ष को विस्तारपूर्वक दिखलाते हैं और बाद में उसकी त्रुटियाँ दिखलाकर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना कर देते हैं। महाभारत में भी ऐसा ही हुआ है। इसमें पहले धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, यह सब पूर्वपक्ष है। फिर पाण्डवादिकों का करुण अन्त दिखलाकर उसके दोष बतलाये गये हैं जिससे सांसारिक वैभव बहुत ही निम्नस्तर पर आ जाता है और उसके प्रति एक हेय बुद्धि तथा घृणा-बुद्धि उद्भव हो जाती है अन्त में सिद्धान्तपक्ष के रूप में भगवद्गुणानुवाद का उपादान किया गया है। यह सिद्धान्तपक्ष है। किन्तु शास्त्रकार पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष को केवल उपक्रम और उपसंहार में ही नहीं दिखलाता, वह मध्य में भी सिद्धान्त पक्ष की झलक देता चलता है। यही कारण है कि महाभारत के विस्तृत त्रिवर्गसाधना वर्णन के मध्य में कहीं देवता, तप, तीर्थ इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया गया है (कहीं गीता इत्यादि प्रदेशों में ज्ञानोपदेश दिया गया है।) यह सब उस परब्रह्म को प्राप्त करने के उपाय ही हैं। (प्रश्न) देवता तप और तीर्थ का वर्णन भगवत्प्राप्ति का उपाय कैसे हो सकते हैं। देवता तो भिन्न होते हैं, तीर्थ इत्यादि भी विभिन्न देवताओं से सम्बद्ध होते हैं और तप भी जिन देवताओं के उद्देश्य से किया जाता है उन्हीं की प्राप्ति का उपाय हो सकता है, वह भगवत्प्राप्ति का उपाय कैसे हो सकता है? (उत्तर) इसका निरूपण तो गीता इत्यादि में ही किया गया है कि जितने विभूतिमान पदार्थ हैं वे सब भगवान् के ही रूप हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशसम्भवम्॥

अन्य देवताओं की आराधना को भी गीता में भगवदाराधन ही का संग्रह कहा गया है।

येऽप्यन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

इतना ही नहीं मुख्य पाण्डवचरित इत्यादि का तात्पर्य वैराग्यजनन ही है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, वैराग्य मोक्ष का मूल है और मोक्ष भगवत्प्राप्ति का उपाय है। गीता इत्यादि प्रकरणों में यही दिखलाया गया है। (गीता में शरीरादियों को अन्तवान् तथा शरीरियों को नित्य कहकर ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्मों को भस्मकर भगवत्सायुज्य प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। यहाँ पर यह कहना ठीक नहीं है कि मोक्ष तो भगवत्प्राप्ति रूप ही होता है, अतः मोक्ष को भगवत्प्राप्ति का उपाय बताने का आशय यही है कि मोक्ष भगवत्प्राप्ति रूप ही होता है। मोक्ष एक व्यापार है और भगवत्प्राप्ति फल। व्यापार और फल को कभी एक नहीं बतलाया जा सकता।)

(प्रश्न) उद्देश्य वाक्य में तो वासुदेव के कीर्तन करने की बात कही गई है—'भगवान् वासुदेवो हि कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।' वासुदेव का अर्थ है वसुदेव का पुत्र। वसुदेव यदुवंशी थे उनसे मथुरा में कृष्ण ने जन्म लिया था। यहाँ पर उनके ही विषय में कहा गया है कि भगवान् वासुदेव का गुणानुवाद किया जा रहा है। वासुदेव शब्द से आपने यह कैसे अर्थ निकाल लिया कि परब्रह्म का कीर्तन किया जा रहा है? (उत्तर) 'वासुदेव' यह संज्ञा बहुत पुरानी है, केवल मथुरा में उत्पन्न हुए व्यक्तिविशेष का ही नाम नहीं है। ('वासु' शब्द 'वास' धातु में औणादिक उण् प्रत्यय होकर बनता है जिसका अर्थ होता है आत्मरूप में समस्त जगत् में निवास करनेवाली व्यापक सत्ता। उसी का क्रीडार्थक दिव धातु से निष्पन्न देव शब्द में समास हो जाता है। इस प्रकार 'वासुदेव' शब्द का अर्थ हो जाता है समस्त विश्व में व्याप्त सत्ता जो कि लीलामयता से युक्त है। वासुदेव शब्द के इस अभिधेयार्थ की ओर विष्णुपुराण में इस प्रकार निर्देश किया गया है :—

'वासुस्सर्वनिवासश्च विश्वानि सर्वलोमसु।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्त्वाद्विष्णुरुच्यते ॥'

स्वयं महाभारत में इस अर्थ की ओर सङ्केत मिलता है :—

'वासनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद्देवयोनितः।
तस्य देवः परं ब्रह्म वासुदेव इतीरितः ॥'

गीता में लिखा है कि अनेक जन्मों की साधना के बाद ही कोई विरला ज्ञानी मेरे इस तत्त्व को जान पाता है कि यह सारा विश्व वासुदेव ही है। जिसको इस प्रकार का ज्ञान हो गया हो ऐसे महात्मा का मिलना बड़ा ही कठिन है। (यही भाव और भी पुराणों में पाया जाता है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में लिखा है कि 'वेद वासुदेवपरक ही हैं, यज्ञ वासुदेवपरक ही हैं योग वासुदेवपरक ही हैं क्रियायें वसुदेवपरक हैं, ज्ञान, तप, धर्म

और गति सब कुछ वासुदेवपरक ही हैं। इन्हीं विभु वासुदेव भगवान् ने जो स्वयं गुणरहित हैं अपनी सदसद्रूपिणी गुणमयी आत्ममाया के द्वारा इस विश्व की रचना की :—

'वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥
स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥'

इन सभी प्रकरणों में वासुदेव का परब्रह्म सत्ता के लिए प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त वसुदेव के पुत्र के लिए ही नहीं अपितु वासुदेव शब्द का प्रयोग भगवान् के दूसरे अवतारों के लिए भी होता है। (जैसे निम्नलिखित श्लोक में भगवान् राम के लिये वासुदेव शब्द का प्रयोग हुआ है :—

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान् प्रभुः॥)

वैय्याकरणों में भी स्वयं इस तत्त्व का सङ्केत मिलता है कि वासुदेव शब्द व्यापक सत्ता के लिये आनेवाला नित्य शब्द है 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कैय्यट ने लिखा है—'शब्द तो नित्य होते हैं उनका अन्वाख्यान अनित्य अन्धक वंश इत्यादि के आश्रय से कैसे उचित हो सकता है। (उत्तर) त्रिपुरुषानूक नाम करना चाहिये इस नियम से अन्धक शब्द इत्यादि भी नित्य हैं।' काशिकाकार ने भी यही लिखा है कि शब्द नित्य ही होते हैं, जब नामकरण में उनका उपादान होता है तब वह काकतालीय न्याय से ही समझा जाना चाहिये। आशय यह है कि शब्द संयोगवश ही नाम से मेल खा जाते हैं वस्तुतः तो शब्द नित्य ही होते हैं। इस प्रकार वासुदेव शब्द नित्य ही है, सांयोगिक रूप में वसुदेव के पुत्र के रूप में भी उसकी व्युत्पत्ति हो गई है। इसका आशय यह नहीं है कि मथुरा में जन्म लेनेवाले वसुदेव के पुत्र को ही वासुदेव कहते हैं। एक बात और है—यहाँ पर वासुदेव के लिये 'सनातनः' यह विशेषण दिया गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य भगवद्भक्ति ही है।

(ध्वन्या०) तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन। सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन।

(अनु०) वह इस प्रकार भगवान् से भिन्न सभी अन्य पदार्थों की अनित्यता का प्रति-

पादन करनेवाले अनुक्रमणीनिर्दिष्ट वाक्य से शास्त्र की नीति में मोक्षरूप एक ही परम पुरुषार्थ और काव्य की नीति में महाभारत का अङ्गीरस तृष्णाक्षय सुखपरिपोषरूप शान्तरस भली-भाँति प्रतिपादित कर दिया गया। इस अर्थ के अत्यन्त साररूप होने के कारण यह व्यङ्ग्य-रूप में ही प्रतिपादित किया गया है; वाच्य के रूप में नहीं। निस्सन्देह सारभूत अर्थ अपने अनभिधेय रूप में प्रकाशित किये जाने पर भली-भाँति शोभा को धारण करता है। विदग्ध विद्वानों की परिषद् में यह प्रसिद्धि है ही कि अधिक अभिमत वस्तु व्यङ्ग्य के रूप में ही प्रकाशित की जाती है साक्षात् शब्दवाच्यत्व के रूप में नहीं।

(लो०) शास्त्रनय इति। तत्रास्वादयोगाभावे पुरुषेणार्थ्यत इत्ययमेव व्यपदेशः सादरः, चमत्कारयोगे तु रसव्यपदेश इति भावः। एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तमिह त्वस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिर्दर्शितम्। सुतरामेवेति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—**प्रसिद्धिश्चेति**। च शब्दो यस्मादर्थे। यत इयं लौकिकी प्रसिद्धिरना-दिस्ततो भगवद्व्यासप्रभृतीनामप्येवमेवास्वशब्दाभिधाने आशयः। अन्यथा हि क्रिया-कारकसम्बन्धादौ 'नारायणं नमस्कृत्ये'त्यादि शब्दार्थनिरूपणे च तथाविध एव तस्य भगवत आशय इत्यत्र किं प्रमाणमिति भावः। विदग्धविद्वद्ग्रहणेन न काव्यनये शास्त्र-नय इति चानुसृतम्।

(अनु०)'शास्त्रनीति में' यह। भाव यह है कि वहाँ आस्वाद के अभाव में पुरुष के द्वारा अथित किया जाता है यही नामकरण आदरपूर्ण है, चमत्कार के योग में तो रस का नामकरण है और यह ग्रन्थकार ने तत्त्वालोक में विस्तारपूर्वक बतलाया है, यहाँ तो उसका मुख्य अवसर नहीं है इस लिये हमलोगों ने नहीं दिखलाया। 'भली भाँति ही' यह जो कहा उसमें हेतु बत-लाते हैं—'और प्रसिद्धि' यह। 'च' शब्द क्योंकि के अर्थ में है। क्योंकि यह लौकिक प्रसिद्धि अनादि है उससे भगवान् व्यास इत्यादि का भी अपने शब्द के द्वारा न कहने में यही आशय है, अन्यथा क्रिया-कारक सम्बन्ध इत्यादि में और 'नारायणं नमस्कृत्य' इत्यादि शब्दार्थनिरू-पण में उस प्रकार का ही उन भगवान् का आशय है उसमें क्या प्रमाण है? यह भाव है। 'विदग्ध विद्वत्' इस शब्द से काव्य की नीति में इन दोनों का अनुसरण कर लिया गया।

उक्त विषय के निष्कर्ष

तारावती—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि चाहे हम शास्त्र की दृष्टि से विचार करें चाहे काव्य की दृष्टि से, दोनों दशाओं में यही बात सिद्ध होगी। शास्त्र और काव्य इन दोनों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। शास्त्र ऐसे व्यक्तियों के लिये लिखा जाता है जो वस्तु में आनन्द तो लेते नहीं, वे उसे समझना चाहते हैं, ये लोग विद्वान् होते हैं और विषयों की आस्वादनीयता से तटस्थ रहकर निर्लिप्त बुद्धि से बुद्धितत्त्व को जानने की चेष्टा किया करते हैं। यदि उनकी दृष्टि से महाभारत के उद्देश्य पर विचार किया जाय तो यही निर्णय करना होगा कि महाभारत में किस पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है पुरुष के द्वारा प्रार्थित की जानेवाली वस्तु। अर्थात् उनकी दृष्टि से महाभारत में यही देखा जावेगा कि महाभारत में किस तत्त्व को पुरुष के लिए प्रधान रूप में

प्रार्थनीय माना गया है और इसका विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलेगा कि महाभारत में परम पुरुषार्थ मोक्ष ही माना गया है। दूसरे लोग वे होते हैं जो वस्तु में आस्वाद का अन्वेषण करते हैं; ऐसे लोग काव्यरसिक कहे जा सकते हैं। उनके दृष्टिकोण से महाभारत में अङ्गीरस का विचार किया जावेगा। उनके मत से विचार करने पर यही सिद्ध होगा कि शान्तरस ही महाभारत का अङ्गीरस है जिसको लक्षित करानेवाला स्थायीभाव तृष्णाक्षय सुख ही है। यह सब यहाँ पर भली-भाँति सिद्ध किया जा चुका। लोचनकार ने इस प्रकरण पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ग्रन्थकार ने तत्त्वालोक में ही यह बात भलीभाँति समझा कर विस्तारपूर्वक कह दी है। अतः हमें इस विषय में अब कुछ और नहीं कहना है। यह एक सामान्य नियम है कि जो बात प्रधान होती है और जो सारभूत तत्त्व होता है उसका प्रकथन कभी भी वाच्यवृत्तियों में नहीं किया जाता। यदि वह बात साफ-साफ कह दी जाती है तो उसमें कोई सुन्दरता नहीं आती। इसके प्रतिकूल जो बात व्यंजनावृत्ति से कही जाती है वह कुछ छिपाकर कही जाने के कारण उसी प्रकार अत्यधिक शोभा को धारण कर लेती है जिस प्रकार कामिनीकुचकलश कुछ प्रच्छन्न रूपमें ही प्रकट होकर शोभा को धारण करते हैं। इसका कारण यह है कि सहृदयों और विद्वानों दोनों में यह बात प्रसिद्ध ही है कि जो वस्तु अधिक अभीष्ट हो उसे व्यंग्य के रूप में ही प्रकाशित करना चाहिए वाच्य के रूप में नहीं। इसी प्रसिद्धि के आधार पर भगवान् व्यास ने सभी अप्रधान उद्देश्यों का अनुक्रमणी में वाच्यवृत्ति में उल्लेख किया है और प्रधान उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति तथा शान्तरस का उल्लेख व्यंग्य के रूप में 'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' इन शब्दों के द्वारा किया है। इन शब्दों की सङ्गति हमें इस लौकिक प्रसिद्धि के आधार पर ही लगानी चाहिए कि अत्यन्त अभिमत बात व्यंग्य के द्वारा कही जाती है वाक्य के द्वारा नहीं। सारांश यह है कि यह प्रसिद्धि अनादि है और इस प्रसिद्धि का ज्ञान भगवान् व्यास को भी था। इसीलिये उन्होंने अपना मुख्य प्रयोजन कहने के लिए व्यंजना वृत्ति का ही आश्रय लिया। यदि ऐसा न माना जाय कि भगवान् व्यास ने लौकिक प्रसिद्धि का अनुसरण किया था तो फिर महाभारत का कोई अर्थ ही नहीं हो सकेगा। कौन सी क्रिया है? उसका कर्ता कौन है? कर्ता में कौन सी विभक्ति होती है? उत्तम पुरुष की क्रिया अथवा कर्ता कौन होते हैं? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर ही दिया जा सकता है। इसी प्रकार शब्दों के अर्थों का निर्णय भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर ही होता है। 'नारायणं नमस्कृत्य' में नारायण का अर्थ विष्णु और नमः का अर्थ प्रणति है इसका भी निर्णय लोकप्रसिद्धि से ही होता है। यदि लोकप्रसिद्धि को न माना जाय तो महाभारत के किसी भी पद्य का कोई अर्थ ही न लगाया जा सकेगा। लोकप्रसिद्धि का आधार स्वीकार कर लेने पर यह भी मानना ही होगा कि महाभारत के मुख्य मन्तव्य का निर्णय भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर ही हो और इस आधार पर निर्णय करने से यही सिद्ध होता है कि महाभारत में मोक्ष परम पुरुषार्थ माना गया है और उसका अङ्गीरस शान्त है।

(ध्वन्या०) **तस्मात्स्थितमेतत्—अङ्गिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति। अत एव च रसानुगुणार्थ-**

विशेषोपनिबन्धनमलङ्कारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते। यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्यकच्छपौ॥

इत्यादौ। अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलुके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति। तत्र ह्येकचुलुके सकलजलनिधिसन्निधानादपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुतरसानुगुणतरम्। क्षुण्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्धयाद्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति।

(अनु०) इससे यह स्थित हुआ—अङ्गिभूतरस इत्यादि के आश्रय से काव्य किये जाने पर नवीन अर्थ का लाभ होता है और बन्धच्छाया भी बहुत अधिक हो जाती है यह। अत एव दूसरे अलङ्कार के अभाव में भी रसानुकूल अर्थविशेष का उपनिबन्धन लक्ष्य में छाया की अतिशयता से युक्त होते हुए देखा जाता है। जैसे—

'कुम्भ-सम्भव महात्मा योगीन्द्र मुनि की जय हो जिन्होंने एक चुल्लू में उन दो दिव्य मत्स्य और कच्छप को देखा।'

इत्यादि में। यहाँ पर अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मछली-कच्छप का दर्शन छायातिशय को पुष्ट करता है। वहाँ पर निस्सन्देह एक चुल्लू में समस्त महासागरों के सन्निधान से भी दिव्य मत्स्य-कच्छप का दर्शन अनभ्यस्त होने के कारण अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है। निस्सन्देह अभ्यस्त वस्तु अद्भुत होते हुए भी लोकप्रसिद्धि के कारण आश्चर्य कारक नहीं होती।

(लो०) 'रसादिमय एतस्मिन् कविः स्यादवधानवानि'ति यदुक्तं तदेव प्रसङ्गागतभारतसम्बन्धनिरूपणानन्तरमुपसंहरति—**तस्मात्स्थितमिति। अथ इति।** यत एवं स्थितम् अत एवेदमपि यल्लक्ष्ये दृश्यते तदुपपन्नमन्यथा तदनुपपन्नमेव, न च तदनुपपन्नम्, चारुत्वेन प्रतीतेः। तस्याश्चैतदेव कारणं रसानुगुणार्थत्वमेवेत्याशयः। **अलङ्कारान्तरेति।** अन्तरशब्दो विशेषवाची। यदि वा दित्सिते उदाहरणे रसवदलङ्कारस्य विद्यमानत्वात्तदपेक्षयालङ्कारान्तरशब्दः।

ननु मत्स्यकच्छपदर्शनात्प्रतीयमानं यदेकचुलुके जलनिधिसन्निधानं ततो मुनेर्माहात्म्यप्रतिपत्तिरिति न रसानुगुणेनार्थेन च्छायापोषितेत्याशङ्क्याह—**अत्र हीति।** नन्वेवं प्रतीयमानं जलनिधिदर्शनमेवाद्भुतगुणं भवत्विति रसानुगुणोऽत्र वाच्योऽर्थ इत्यस्मिन्नंशे कथमिदमुदाहरणमित्याशङ्क्याह—**तत्रेति। क्षुण्णं हीति।** पुनः पुनर्वर्णननिरूपणादिना यत्पिष्टपिष्टत्वादतिनिर्भिन्न स्वरूपमित्यर्थः।

(अनु०) 'इस रसादिमय में कवि सावधान रहे' यह जो कहा गया था, उसी का प्रसंगात् भारतसम्बन्ध के निरूपण के बाद उपसंहार करते हैं—'इसलिये यह स्थित है' यह। 'अतः' यह। क्योंकि ऐसी स्थिति है इसीलिये यह भी जो लक्ष्य में देखा जाता है वह उपपन्न है अन्यथा वह अनुपपन्न ही हो, वह अनुपपन्न नहीं ही है क्योंकि उसकी प्रतीति चारुता के रूप में होती है। आशय यह है कि उसका कारण यही है कि उसकी रसानुगुणार्थता ही है।

'अलङ्कारान्तर' यह। अन्तर शब्द विशेष अर्थ का वाचक है। अथवा दिये जाने के लिये अभीष्ट उदाहरण में रसवत् अलङ्कार के विद्यमान होने से उसकी अपेक्षा से अलङ्कारान्तर शब्द का प्रयोग किया गया है।

(प्रश्न) मत्स्य और कच्छप के दर्शन से प्रतीत होनेवाला जो एक चुल्लू में समुद्र का सन्निधान उससे मुनि के महात्म्य की प्रतिपत्ति होती है अतः रसानुगुण अर्थ से छाया पोषित नहीं हुई है यह शङ्का करके कहते हैं—'यहाँ निस्सन्देह' यह। (प्रश्न) इस प्रकार प्रतीत होने वाला जलनिधिदर्शन ही अद्भुतरस के अनुगुण है, इस प्रकार रसानुगुण यहाँ पर वाच्यार्थ है इस अंश में यह उदाहरण कैसे हो सकता है? यह शङ्का करके कहते हैं—'वहाँ पर' यह। 'निस्सन्देह क्षुण्ण' यह। अर्थात् पुनः पुनः वर्णन और निरूपण इत्यादि के द्वारा जो अत्यधिक पिष्ट होने से अत्यन्त निर्भिन्न स्वरूपवाला हो गया है।

अङ्गीरस के विवेचन की आवश्यकता

तारावती—यहाँ पर इस बात का विचार किया जा रहा था कि यद्यपि अनेक प्रकार के व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्भव हैं तथापि कवि को एकमात्र रसादिमय व्यंग्य-व्यञ्जक भाव के प्रति ही जागरूक रहना चाहिये। इसी प्रसङ्ग में महाभारत के अङ्गीरस का प्रश्न आ गया और उस पर भी विस्तारपूर्वक विचार कर लिया गया। किन्तु यह प्रासङ्गिक ही था मुख्य विषय नहीं। मुख्य विषय तो यहाँ पर यही चल रहा है कि यदि काव्य की रचना इस प्रकार की जाती है कि एक अङ्गीरस मान लिया जाय और समस्त कथानक में सभी अवान्तर रस उसी परिवेष में ग्रथित किये जायँ तो रचना सुसम्बद्ध हो जाती है और उसमें एक बड़ी बन्धच्छाया सम्पन्न हो जाती है। यह बात यहाँ पर ठीक रूप में सिद्ध हो गई और उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष भी निकल आया। जब हम इस सिद्धान्त को मान लेते हैं तब जो कुछ लक्ष्यग्रन्थों में देखा जाता है वह भी तर्क-सङ्गत सिद्ध हो जाता है यदि हम इसे न मानें तो लक्ष्यग्रन्थों में देखी हुई बात भी असङ्गत हो जायेगी। किन्तु वास्तविकता यह है कि लक्ष्यग्रन्थों में देखी हुई बात असङ्गत होती नहीं। क्योंकि लक्ष्यग्रन्थों में देखा जाता है कि कवि किसी एक प्रधान रस के परिवेष में ही समस्त काव्य को गुम्फित कर देता है और ऐसा करने से उसके काव्य में चारुता भी बढ़ जाती है। अतः एक रस के परिवेष में सम्पूर्ण काव्य को आबद्ध कर देना असङ्गत नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

रसप्रवण रचना में अलङ्कार के अभाव में भी काव्यत्व

यही कारण है कि अलंकार ही काव्य की शोभा के आधार नहीं हैं। यहाँ पर अन्तर शब्द का अर्थ है विशेष। अतः इस वाक्य का आशय यह हो जाता है कि काव्यसौन्दर्य का सम्पादन करने वाला सबसे बड़ा तत्त्व रस ही है। यदि किसी काव्य में कोई विशेष अलंकार न भी हो तब भी यदि वस्तु की योजना रस की दृष्टि से कर दी जाय तो काव्य-सौन्दर्य का सम्पादन हो जाता है। अथवा यहाँ पर 'दूसरा' यह अर्थ भी किया जा सकता है। उस दशा में इस वाक्य की योजना अग्रिम उदाहरण 'मुनिर्जयति····मत्स्यकच्छपौ' की दृष्टि से करनी होगी। इस दशा में इस वाक्य का आशय यह होगा कि प्रस्तुत पद्य का प्रतिपाद्य मुनिविषयक

रतिभाव है। मत्स्य-कच्छप का एक चुल्लू में दर्शन अद्भुतरस के अनुगुण होने से अद्भुतरस की निष्पत्ति कर देता है। यह अद्भुतरस प्रधान प्रतिपाद्य मुनिविषयक रतिभाव का अङ्ग होकर रसवद् अलंकार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर एक तो अलंकार विद्यमान ही है। अत एव किसी दूसरे अलंकार के न होने पर भी वस्तु की रसप्रवण योजना से ही छाया की अधिकता सम्पन्न हो गई है। उदाहरण का आशय इस प्रकार है।

'कुम्भ से उत्पन्न योगिराज महात्मा अगस्त्य की जय हो जिन्होंने उन प्रसिद्ध तथा विचित्र प्रकार के मत्स्य और कच्छप को एक ही अंजली में देखा।'

भगवान् ने प्रलयकाल में मत्स्यावतार लिया था और समुद्रमन्थन के अवसर पर कच्छपावतार। ये दोनों भगवान् के अवतार प्रसिद्ध हैं। 'तौ' इस सर्वनाम से अभिव्यक्त होता है कि वे मत्स्य और कच्छप असाधारण थे तथा उनको सब कोई जानता है। इसी असाधारणता (लोकातिक्रान्तता) को 'दिव्य' शब्द पुष्ट करता है। ये दोनों अवतार महासागर में ही निवास करते हैं। जब महर्षि अगस्त्य ने समस्त महासागर को एक ही चुल्लू में पी जाना चाहा तो वे दिव्य मत्स्य और कच्छप भी उनके चुल्लू में आ गये। यह महामुनि अगस्त्य की लोकोत्तर शक्ति का निदर्शन है। यहाँ पर तिमि नाम की मछली का भी अर्थ लिया जा सकता है। एक ही चुल्लू में उस प्रकार के अनिर्वचनीय मत्स्य और कच्छप का दर्शन विस्मयाधिक्य का उत्पादक है और इस प्रकार अद्भुत रसास्वादन का प्रवर्तक है। काव्य की सुषमा का आधार यह अद्भुत रसास्वादन ही है। यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि छाया की पुष्टि तो मुनि के माहात्म्य से होती है। एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप को देखने से जलधि-पान अभिव्यक्त होता है और उससे मुनि के माहात्म्य की प्रतीति होती है। यह मुनि का माहात्म्य ही काव्य सौन्दर्य में पर्यवसित होता है। फिर यह कैसे कहा गया कि एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप को देखना एक ऐसा वाच्यार्थ है जो अद्भुत रस के अनुकूल पड़ता है उस वाच्यार्थ में ही छाया की अधिकता का पर्यवसान होता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मुख्यरूप में प्रतीति मुनिविषयक रति की ही होती है। किन्तु उस रति में सौन्दर्य का आधान करने वाली तो यह उक्ति ही है। अत एव यह उक्ति ही चमत्कारपर्यवसायिनी है। (प्रश्न) यहाँ पर मत्स्यकच्छप दर्शन रूप वाच्यार्थ चुल्लू में समुद्र को भर लेने का अभिव्यञ्जक है। यह व्यङ्ग्यार्थ ही अद्भुत रस के अनुगुण माना जाना चाहिये। यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि यहाँ पर उक्त वाच्यार्थ ही सौन्दर्य का पोषक है? (उत्तर) सामान्यतया नियम यह है कि जब किसी वस्तु का बार-बार वर्णन कर दिया जाता है और उसका निरूपण भी पर्याप्त मात्रा में हो चुकता है तब वह वस्तु भलीभाँति पिस जाती है और लोगों के सामने बार-बार आने से लोग उससे परिचित हो जाते हैं। वह वस्तु कितनी ही अद्भुत क्यों न हो किन्तु लोकप्रसिद्धि के कारण फिर वह वस्तु लोगों के हृदयों में आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती। (जैसे कितना आश्चर्य जनक है कि विज्ञान के प्रभाव से सैकड़ों मील की दूरी पर बैठे हुए दो व्यक्ति ऐसे ही बातें करते हैं मानों एक कमरे में बैठे हों। किन्तु टेलीफोन इतना सामान्य हो गया है

कि आज उसे देखकर लोगों को आश्चर्य नहीं होता है।) इसके प्रतिकूल जो वस्तु अनेकशः परिशीलन के माध्यम से पूर्ण रूप से पिस नहीं जाती वह जब नये-नये रूप में सामने आती है तब उससे विस्मय की भावना उद्भूत हो जाती है। अगस्त्य का समुद्रपान इतना क्षुण्ण हो चुका है कि अब पाठकों के सामने उसको प्रस्तुत करने में उन्हें आश्चर्य नहीं होता। किन्तु एक अंजलि में भगवान् के विशाल दो अवतारों का दर्शन वस्तुतः पाठकों के लिये नवीन कल्पना है। अत एव इस वस्तु में अद्भुतरस का आस्वादन कराने की अधिक क्षमता है। अधिक कहने का आशय यह है कि समुद्रपान में भी कुछ न कुछ तो आश्चर्य हो ही जाता है। यहाँ पर कोई विशेष अलंकार नहीं है, फिर भी वस्तु की योजना ही इतने सुन्दर ढंग से कर दी गई है कि उसमें अद्भुतरसानुगुणता आ जाती है। (यहाँ पर रुय्यक ने भाविक अलङ्कार का होना बतलाया है। किन्तु भाविक अलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ भूत और भविष्य के अर्थों का वर्तमान में प्रत्यक्षीकरण दिखलाया जाय। किन्तु यहाँ पर भूतकाल में ही प्रत्यक्षीकरण दिखलाया गया है, अतः भाविक अलङ्कार यहाँ पर नहीं हो सकता।)

(ध्वन्या०) न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि। तद्यथा—

सिज्जइ रोमञ्चिज्जइ वेवइ रत्थातुलग्गपडिलग्गो।
सोपासो अज्ज वि सुहअ जेणासि वोलीणो॥

एतद्गाथार्थाद्भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवं विधार्थात्प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते।

(अनु०) उपनिबद्ध किये जाने पर अक्षुण्ण वस्तु अद्भुत रस की ही अनुगुण नहीं होती अपितु दूसरे रस की भी अनुगुण होती है। वह इस प्रकार है—

'हे सुभग! उस (नायिका) के जिस पार्श्व से रथ्या में संयोगवश तुम लग गये थे उसका वह पार्श्व आज भी पसीजता है, रोमाञ्चित होता है और काँपता है।'

भावित किये हुए इस गाथा के अर्थ से जैसी रस की प्रतीति होती है वह प्रतीति 'वह तुम्हें स्पर्श कर पसीजती है, रोमांचित होती है और काँपती है' इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ से बिल्कुल नहीं होती।

(लो०) बहुतरलक्ष्यव्यापकं चैतदिति दर्शयति—**न चेत्यादिना**। रथ्यायां तुलाग्रेण काकतालीयेन प्रतिलग्नः साम्मुख्येन स पार्श्वोऽद्यापि सुभग तस्या येनास्यतिक्रान्तः। **रसप्रतीतिरिति**। परस्परहेतुकश्शृङ्गारप्रतीतिः। अस्यार्थस्य रसानुगुणत्वं व्यतिरेकद्वारेण दृढयति—**सा त्वामित्यादिना**।

(अनु०) और यह बहुत से लक्ष्यों में व्यापक है यह दिखलाते हैं—'और नहीं' इत्यादि के द्वारा। रथ्या में तुलाग्र से अर्थात् काकतालीय से प्रतिलग्न वह (नायिका) मुख्यरूप से वह उसका पार्श्व आज भी हे सुभग जिसके अतिक्रान्त हो गये हो। 'रस प्रतीति' यह। परस्पर-

हेतुक शृङ्गार की प्रतीति। इस अर्थ का रसानुगुणत्व व्यतिरेक के द्वारा दृढ़ करते हैं—'वह तुम्हें' इत्यादि के द्वारा।

अक्षुण्ण रचना से रस की पुष्टि

तारावती—ऊपर कहा गया है कि जो बात लोक में भलीभाँति मँज जाती है और सर्वसाधारण में प्रचलित हो जाती है वह बात आश्चर्यजनक नहीं होती किन्तु जिस बात की पूर्ण प्रतिष्ठा लोक में नहीं हो चुकी होती है वही आश्चर्यजनक तथा अद्भुतरसप्रयोजक होती है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अक्षुण्ण वस्तु केवल अद्भुत रस की ही प्रयोजक नहीं होती अपितु उससे अन्य रसों की भी पुष्टि होती है। उदाहरण के लिये देखिए अक्षुण्ण (नवीन) वस्तु से शृङ्गार रस की किस प्रकार पुष्टि होती है—

नायिका की कोई दूती नायक से नायिका के प्रणय का निवेदन करते हुए कह रही है—

स्विद्यति रोमाञ्चति वेपते रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः।
स पार्श्वोऽद्यापि सुभग तस्या येनास्यतिक्रान्तः॥ (छाया)

'उस दिन जब तुम उस गली से निकल रहे थे नायिका भी उधर से आ गई। न तुमने उससे टकराने का प्रयत्न किया और न उसने ही। किन्तु संयोगवश उसका एक पार्श्व तुम्हारे शरीर से टकरा गया। तुम सौभाग्यशाली हो कि उसी दिन से उसका वही पार्श्व निरन्तर सात्विक भावों से भरा रहता है, कभी रोमांचित हो जाता है, कभी कांपने लगता है।

यहाँ पर नायक और नायिका का उभयनिष्ठ प्रेम है, नायक सौभाग्यशाली है और नायिका अनेक सात्विकों से ओत-प्रोत है। इस शृङ्गार के आस्वादन कराने के लिए जिस वस्तु का उपादान किया गया है वह सर्वथा नवीन है। सँकरी गली में सांयोगिक स्पर्श और उससे केवल उसी पार्श्व का निरन्तर पसीजना इत्यादि न तो कवियों का सामान्य विषय है और न लौकिक घटना में ही प्रायः देखा जाता है। इसमें एक नवीनता है जिससे इसमें रसास्वादन कराने की विशेष क्षमता उत्पन्न हो गई है। यदि इसके स्थान पर यह कहा गया होता कि 'वह तुम्हें देखकर पसीने से युक्त हो जाती है, रोमांचित हो जाती है और काँपने लगती है' तो उससे प्रतीयमान रति उसका अंश-मात्र भी आस्वादन प्रदान न कर सकती जितना गाथा में बतलाये हुए तथ्य से हो जाता है।

(ध्वन्या०) तदेवं ध्वनिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम्। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेदव्यङ्ग्यापेक्षया ये प्रकारास्तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तूनां नवत्वं भवत्येव। तत्त्वतिविस्तारकारीति नोदाहृतं, सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम्।

(अनु०) वह इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का आश्रय लेने से भी जिस प्रकार काव्यार्थों की नवीनता उत्पन्न हो जाती है वैसा प्रतिपादित कर दिया गया। गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी तीन भेदों वाले व्यङ्ग्य की दृष्टि से जो प्रकार होते हैं उनका आश्रय लेने से भी

काव्यवस्तुओं की नवीनता हो ही जाती है। वह तो अत्यन्त विस्तार देने वाला है इसलिये उसके उदाहरण नहीं दिये गये सहृदयों के द्वारा स्वयं समझ लिये जाने चाहिये।

(लो०) 'ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।'

इत्युद्योतारम्भे यः श्लोकः तत्र ध्वनेरध्वना कवीनां प्रतिभागुणोऽनन्तो भवतीत्येष भागो व्याख्यात इत्युपसंहरति—**तदेवमित्यादिना**। सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्येत्यमुं भागं व्याचष्टे—**गुणीभूतेत्यादिना**। त्रिप्रभेदो हि वस्त्वलङ्कारसात्मना यो व्यङ्ग्यस्तस्य यापेक्षा वाच्ये गुणीभावः तयेत्यर्थः। तत्र सर्वे ये ध्वनिप्रभेदास्तेषां गुणीभावादानन्त्यमिति तदाह—**अतिविस्तरेति। स्वयमिति**। तत्र वस्तुना व्यङ्ग्येन गुणीभूतेन नवत्वं सत्यपि पुराणार्थस्पर्शे यथा ममैव—

भअ विहल रक्खणेक्कमल्ल सरणागआण अत्थाण।
खणमत्तं विण दिण्णा विस्सामकहेत्ति जुत्तमिणम्॥

अत्र त्वमनवरतमर्थांस्त्यजसीति औदार्यलक्षणं वस्तु ध्वन्यमानं वाच्यस्योपस्कारकं नवत्वं ददाति, सत्यपि पुराणकविस्पृष्टेऽर्थे। तथा हि पुराणी गाथा—

चाइअणकरपरम्परसञ्चारणखे अणिस्सहसरीरा।
अत्था किवणघरत्था सत्थावत्थास्ववंतीव॥

अलङ्कारेण व्यङ्ग्येन वाच्योपस्कारे नवत्वं यथा ममैव—

वसन्तमत्तालिपरम्परोपमाः कचास्तवासन् किल रागवृद्धये।
श्मशानभूभागपरागभासुराः कथन्तदेते न मनाग्विरक्तये॥

अत्र ह्याक्षेपेण विभावनया च ध्वन्यमानाभ्यां वाच्यमुपस्कृतमिति नवत्वं सत्यपि पुराणार्थयोगित्वे। तथा हि पुराणश्लोकः—

क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यं मरणाच्च महद्भयम्।
पञ्चैतानि विवर्धन्ते वार्धके विदुषामपि॥ इति।

व्यङ्ग्येन रसेन गुणीभूतेन वाच्योपस्कारेण नवत्वं यथा ममैव—

जरा नेयं मूर्ध्नि ध्रुवमयमसौ कालभुजगः,
क्रुधान्धः फूत्कारैः स्फुटगरलफेनान् प्रकिरति।
तदेनं संपश्यत्यथ च सुखितम्मन्यहृदयः
शिवोपायं नेच्छन् बत बत सुधीरः खलु जनः॥

अत्राद्भुतेन व्यङ्ग्येन वाच्यमुपस्कृतं शान्तरसप्रतिपत्त्यङ्गत्वाच्चारु भवतीति न नवत्वं सत्यप्यस्मिन् पुराणश्लोके—

जराजीर्णशरीरस्य वैराग्यं यन्न जायते।
तन्नूनं हृदये मृत्युर्ध्रुवं नास्तीति निश्चयः॥' ५॥

(अनु०) 'गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ ध्वनि का जो भाग दिखलाया गया है।' यह जो उद्योतारम्भ में श्लोक था उसमें ध्वनि के मार्ग से कवियों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है इस भाग की व्याख्या कर दी गई यह उपसंहार करते हैं—'वह इस प्रकार' इत्यादि के द्वारा।

'सगुणीभूतव्यङ्ग्य का' इस भाग की व्याख्या करते हैं—गुणीभूत इत्यादि के द्वारा। अर्थात् तीन उपभेदों वाला निस्सन्देह वस्तु रस और अलंकार की आत्मा से युक्त जो व्यङ्ग्य उसकी जो अपेक्षा अर्थात् वाच्य में गुणीभाव उसके द्वारा। वहाँ पर ध्वनि के जो सब उपभेद उनके गुणीभाव से आनन्त्य हो जाता है वह कहते हैं—'अतिविस्तार' यह। 'स्वयम्' यह। उसमें गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु के द्वारा नवीनता पुराने अर्थ के स्पर्श होते हुए भी जैसे मेरा ही पद्य—

'भय से व्याकुल शरणागतों की रक्षा करने में अद्वितीय योद्धा (हे राजन्) शरणागत धनों को क्षणमात्र भी विश्राम की बात ही न करने दी, यह ठीक था ?'

यहाँ पर तुम निरन्तर धनों का त्याग करते हो यह औदार्यलक्षण वाली वस्तु ध्वनित होते हुये वाच्य की उपस्कारक नवीनता को दे देता है। यद्यपि पुराने कवि का स्पर्श किया हुआ अर्थ विद्यमान है। वह इस प्रकार पुरानी गाथा है—

'त्यागी लोगों के हाथों की परम्परा में सञ्चारण के खेद को अपने शरीर पर न सह सकने वाले धन, कृपणों के घरों में स्थित होकर मानो स्वस्थ अवस्था में सो रहे हैं।'

व्यङ्ग्य अलंकार से वाच्योपस्कार में नवत्व जैसे मेरा ही—

'वसन्त काल के मत्त भौरों की परम्परा की उपमावाले तुम्हारे केश निस्सन्देह राग को बढ़ाने वाले थे। श्मशान भूभाग की पराग के समान भासुर वर्ण के ये कुछ भी विरक्त करने-वाले नहीं हैं, यह क्या बात है ?'

यहाँ ध्वनित होने वाले आक्षेप और विभावना से वाच्य उपस्कृत हुआ है जिससे नवीनता आ गई है यद्यपि पुरानी गाथा विद्यमान थी। वह इस प्रकार पुरानी गाथा है—

'भूख, प्यास, कामवासना, मात्सर्य और मरण ये ५ महान् भय वृद्धावस्था में विद्वानों के अन्दर भी बढ़ जाते हैं।'

गुणीभूतव्यंग्य रस से वाच्योपस्कार के द्वारा नवत्व जैसे मेरा ही—

'यह बुढ़ापा नहीं है अपितु कालरूपी भुजङ्गम क्रोधान्ध होकर सिर पर निस्सन्देह फूत्कारों के द्वारा स्पष्ट रूप में विष के झाग को छोड़ रहा है। उसको देखता है अपने को सुखी हृदयवाला समझता है, कल्याणकारक उपाय की इच्छा नहीं करता। आश्चर्य है कि व्यक्ति कितना धीर है ?'

यहाँ पर व्यंग्य अद्भुत से उपस्कृत वाच्य शान्त रस की प्रतिपत्ति का अङ्ग होने से सुन्दर हो जाता है इससे नवीनता आ जाती है यद्यपि पुराना श्लोक विद्यमान है :—

'जराजीर्ण शरीर वाले व्यक्ति के अन्दर जो वैराग्य नहीं उत्पन्न होता है उससे उसके हृदय में यह दृढ़ निश्चय है कि मृत्यु निश्चित रूप से है ही नहीं ॥५॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य से प्रतिभा की अनन्तता और नवीनता

तारावती—चतुर्थ उद्योत के प्रारम्भ में कहा गया था कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के मार्ग का अवलम्बन करने से कवियों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है। ऊपर यह बतला दिया गया कि ध्वनि-मार्ग के आश्रय से प्रतिभागुण में अनन्तता किस प्रकार आती है। अब यह विचार करना शेष रह गया है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य का आश्रय लेने से प्रतिभागुण में अनन्तता

किस प्रकार आती है। गुणीभूतव्यङ्ग्य भी तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलङ्कार और रस। यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु इत्यादि का भी आश्रय लिया जाय तो भी पुराना अर्थ नया सा मालूम पड़ने लगता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य का विस्तार अनन्त है। एक तो जितने भी ध्वनिभेद होते हैं वे सब गुणीभूत हो जाते हैं। ध्वनिभेद स्वयं ही अनन्त हैं। अतः गुणीभूत-व्यङ्ग्यों का अनन्त हो जाना भी स्वाभाविक ही है। दूसरी बात यह है कि अलंकार भी अनन्त होते हैं जिनमें प्रायः गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही आधार पाया जाता है। अतः वृत्तिकार ने गुणी-भूतव्यङ्ग्य के द्वारा काव्यार्थ में नवीनता लाने के उदाहरण नहीं दिये हैं। उन्होंने उदाहरणों का अन्वेषण पाठकों पर ही छोड़ दिया है। किन्तु अभिनवगुप्त ने दिग्दर्शन कराने के लिये वस्तु, अलंकार और रस इन तीन गुणीभूतव्यङ्ग्यों से काव्य में नवीनता लाने का एक-एक उदाहरण दे दिया है। उनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) पुराने अर्थ के स्पर्श करने पर भी गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु से नवीनता आ जाती है इसका उदाहरण स्वयं अभिनवगुप्त की बनाई हुई एक गाथा है। गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार है—

भयविह्वलरक्षणैकमल्लशरणागतानामर्थिनाम् ।
क्षणमात्रमपि न दत्ता विश्रामकथेतियुक्तमिदम् ॥

कोई कवि राजा की दानशीलता की प्रशंसा करते हुये कह रहा है :—हे राजन्! जो लोग भय से व्याकुल होते हैं उनकी रक्षा करने में जितना शौर्य आपके अन्दर है उतना और किसी में नहीं पाया जाता। धन भी आपकी शरण में आये। किन्तु उन धनों को आपने एक क्षण भी अपने यहाँ विश्राम नहीं करने दिया। क्या ऐसा करना आपकी शरणागतरक्षणतत्परता के अनुकूल था।'

यहाँ पर यह व्यञ्जना निकलती है कि हे राजन्! आप बड़े ही दानशील हैं और शरणागतों की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा सुन्दर भी है और उसका उपकारक भी। अत एव यह गुणीभूतव्यङ्ग्य है। इस पद्य का आशय एक दूसरी गाथा से लिया गया है जिसकी छाया इस प्रकार है :—

त्यागिजनपरम्परासञ्चारणखेदनिस्सहशरीराः ।
अर्थाः कृपणगृहस्थाः स्वस्थावस्थाः स्वपन्तीव ॥

'धन दानी लोगों के हाथों में नित्य प्रति घूमते ही रहते हैं, एक हाथ में आते हैं और दूसरे में चले जाते हैं, कभी रुकते ही नहीं। इस भ्रमणलीला में वे इतने थक जाते हैं कि और अधिक भ्रमण करने की शक्ति ही उनमें नहीं रहती। मानो इसीलिये कृपणों के घरों में पहुँचकर वे धन स्वस्थ अवस्था को प्राप्त होकर आराम से सोते हैं।'

बात वही है। किन्तु अभिनवगुप्त ने अपने पद्य में ऐसी व्यङ्ग्य वस्तु का आश्रय ले लिया है जो गुणीभूत हो गई है। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु का आश्रय लेने से पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है।

(२) यदि अलंकार व्यङ्ग्य हो और वह गुणीभूत हो जाय तो उसका आश्रय ले

लेने से भी पुरानी वस्तु में नवीनता आ जाती है। इसका उदाहरण भी अभिनवगुप्त का पद्य ही है :—

किसी व्यक्ति को वृद्धावस्था में वासनायें पीड़ित कर रही हैं। उसका कोई ज्ञानी मित्र उससे कह रहा है :—

'तुम्हारे यौवन-काल में तुम्हारे बाल इतने काले थे और ऐसे मालूम पड़ रहे थे मानो वसन्तकाल के मतवाले भौंरे पंक्ति बनाकर उड़ रहे हों उस समय तुम्हारे उस भरे-पूरे यौवन ने तुम्हारे अन्दर काम-वासना को खूब बढ़ाया। अब तुम्हारे ये बाल इतने सफेद हो गये हैं कि मालूम पड़ता है मानो श्मशानभूमि पर पड़ी हुई सफेद चिताभस्म हो। इन सफेद बालों से तो तुम्हारे अन्दर विराग होना ही चाहिये किन्तु क्या बात है कि ये बाल तुम्हारे अन्दर विराग को जागृत नहीं करते।'

इस गाथा की रचना में भी एक पुराने पद्य का आशय ग्रहण किया गया है—

'चाहे कोई कितना ही विद्वान् और ज्ञानवान् क्यों न हो किन्तु जब उसकी वृद्धावस्था आ जाती है तो उसके अन्दर ये पाँच बातें बढ़ ही जाती हैं—भूख, प्यास, काम-वासना, दूसरों से ईर्ष्या-द्वेष और मरने से बहुत अधिक भय।'

आशय दोनों पद्यों का एक ही है। किन्तु इस पुराने पद्य का आशय लेते हुये भी अभिनवगुप्त ने इसमें कुछ नवीनता पैदा कर दी है। अभिनवगुप्त के पद्य में दो अलङ्कार ध्वनित होते हैं—(क) 'मृत्यु के निकट पहुँचकर तो तुम्हारे अन्दर विराग होना ही चाहिये; किन्तु अधिक हम तुमसे क्या कहें ? हमारा तुमसे कुछ अधिक कहना ठीक नहीं है।' यह उक्त-विषयक आक्षेप अलंकार है क्योंकि इसमें कही हुई बात का निषेध कर दिया गया है। अथवा 'अब तुम्हारी मृत्यु निकट आ रही है' इस न कही हुई बात के कहने का निषेध व्यंग्य है जिससे यह अनुक्तविषयक आक्षेप है। विराग की भावना को तीव्र करना ही विशेष अभिधेय है। (ख) कामवासना का कारण विद्यमान नहीं है फिर भी कामोत्पत्ति रूप कार्य हो रहा है। यह विभावना है। ये दोनों व्यङ्ग्य अलङ्कार वाच्य का सौन्दर्य ही बढ़ाते हैं। अतः ये गुणीभूत हो गये हैं। इस प्रकार यहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्य अलंकार का आश्रय ही पुराने भाव में नवीनता उत्पन्न करने वाला है।

(३) रस गुणीभूतव्यंग्य होकर जब वाच्य को उपस्कृत करता है तब भी पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है। इसका भी उदाहरण अभिनवगुप्त का बनाया हुआ एक पद्य ही है, जिस पद्य का आशय इस प्रकार है—

'लोगों के सिर के सफेद बाल बुढ़ापा नहीं है किन्तु निस्सन्देह यह काल रूपी सर्प क्रोध में अन्धा हो गया है और बार-बार फुफकारता है जिससे तुम्हारे सिर पर विष का झाग छूट रहा है और वह स्पष्टरूप से सफेद बालों के रूप में झलक रहा है, इसको लोग देखते हैं और फिर भी उनका हृदय अपने को सुखी ही समझता है। लोग इस बात की चेष्टा नहीं करते कि कल्याणकारक उपाय का सहारा लें। निस्सन्देह लोगों में आश्चर्यजनक धैर्य है। यह दुःख की बात है।'

इस पद्य में भी एक दूसरे पुराने श्लोक की छाया है—

'जिस व्यक्ति का शरीर जरा से जीर्ण हो चुका है उसके हृदय में भी वैराग्य की भावना उत्पन्न नहीं होती तो इसका तो आशय यही है कि उसके हृदय में दृढ़ निश्चय है कि असंदिग्ध रूप में मौत है ही नहीं।'

दोनों पद्यों के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु इस श्लोक में शान्तरस का परिपाक हुआ है। शान्तरस का परिपाक उक्त अभिनवगुप्त के श्लोक में भी है किन्तु अन्तर यह हो गया कि अभिनवगुप्त के पद्य में विस्मय स्थायी भाव का उपादान हुआ है वह विस्मय अद्भुतरस के रूप में आस्वादन योग्य है अद्भुतरस शान्त की प्रतिपत्ति का अंग ही है इसीलिये वह गुणीभूत होकर शान्त को अधिक रमणीय बना रहा है यहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्य रस का आश्रय लेने से ही नवीनता आ गई है इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का आश्रय लेकर किस प्रकार पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है इसका दिग्दर्शन करा दिया गया है और गुणीभूतव्यंग्य के मूलभेदों का एक-एक उदाहरण दे दिया गया है ॥५॥

(ध्वन्या०) ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥ ६ ॥

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः, तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते? अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्—परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ॥ ६ ॥

(अनु०) 'इस प्रकार यदि प्रतिभागुण हो तो ध्वनि का और गुणीभूतव्यङ्ग्य का आश्रय लेने से काव्यार्थ का विराम नहीं होता ॥६॥'

पुरातन कवि-प्रबन्धों के होते हुए भी यदि प्रतिभागुण हो; उसके न होने पर कुछ भी कवि की वस्तु नहीं होती। बन्धच्छाया भी दो अर्थों के अनुरूप शब्द-सन्निवेश (ही है वह) अर्थ-प्रतीति के अभाव में कैसे सिद्ध होती है? अर्थविशेष की अपेक्षा न करते हुए अक्षर रचना ही बन्धच्छाया है। यह सहृदयों के निकट नहीं है। निस्सन्देह ऐसा होने पर अर्थ की अपेक्षा न करनेवाले तथा मधुर वचन-रचना में भी काव्य का नाम प्रवृत्त हो जावेगा। यदि कहो कि जब शब्द और अर्थ के साहित्य के द्वारा काव्यत्व होता है तब उस प्रकार के विषय में काव्य-व्यवस्था कैसे होगी? तो (इसका उत्तर यह है कि) दूसरों से उपनिबद्ध अर्थ की रचना में जैसे उस काव्य का व्यवहार होता है वैसे ही उस प्रकार के काव्य-सन्दर्भों के लिए भी (काव्य का व्यवहार हो जावेगा।)

(लो०) सत्स्वपीति कारिकाया उपस्कारः। त्रीन् पादान् स्पष्टान् मत्वा तुर्यं

पादं व्याख्यातुं पठति—**यदीति**। विद्यमानो ह्यसौ प्रतिभागुण उक्तरीत्या भूयान् भवति, नत्वत्यन्तासन्नेवेत्यर्थः। **तस्मिन्निति**। अनन्तीभूते प्रतिभागुणे। **किञ्चिदेवेति**। सर्वं हि पुराणकविनैव स्पृष्टमिति किमिदानीं वर्ण्यं यत्र कवेर्वर्णनाव्यापारः स्यात्। ननु यद्यपि वर्ण्यमपूर्वं नास्ति, तथाप्युक्तिपरिपाकगुम्फघटनाद्यपरपर्यायबन्धच्छाया नवनवा भविष्यति। यन्निवेशने काव्यान्तराणां संरम्भ इत्याशङ्क्याह—**बन्धच्छायापीति**। अर्थद्वयं गुणीभूतव्यङ्ग्यं प्रधानभूतं व्यङ्ग्यं च। **नेदीय इति**। निकटतरं हृदयानुप्रवेशि न भवतीत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—**एवं हि सतीति**। चतुरत्वं समाससङ्घटना। मधुरत्वमपारुष्यम्। **तथाविधानामिति**। अपूर्वबन्धच्छायायुक्तानामपि परोपनिबद्धार्थनिबन्धने परकृतकाव्यत्वव्यवहार एव स्यादित्यर्थस्यापूर्वत्वमाश्रयणीयम्। कवनीयं काव्यं तस्य भावः काव्यत्वं, न त्वयं भावप्रत्ययान्तात् भावप्रत्यय इति शङ्कितव्यम् ॥६॥

(अनु०) 'होते हुये भी' यह कारिका का उपस्कार है तो। तीन पादों को स्पष्ट मान कर चौथे पाद की व्याख्या करने के लिए पढ़ते हैं—'यदि' यह। निस्सन्देह का अर्थ यह है कि निस्सन्देह विद्यमान वह प्रतिभागुण उक्त रीति से अधिक हो जाता है, अत्यन्त रूप में न होते हुए नहीं। 'उसके' यह। अर्थात् अनन्तभूत प्रतिभागुण के। 'कुछ भी नहीं' यह। निस्सन्देह सभी कुछ पुराने कवि द्वारा ही स्पर्श कर लिया गया, अतः इस समय क्या वर्ण्य शेष रह गया जिसमें कवि का वर्णनाव्यापार हो? (प्रश्न) यद्यपि नवीन नहीं है तथापि उक्ति-परिपाक गुम्फघटना इत्यादि दूसरे पर्याय वाली बन्धच्छाया नई-नई हो जावेगी जिसके निविष्ट करने में दूसरे काव्यों की रचना के प्रति अभिनिवेश होता है यह शङ्का करके कहते हैं—'बन्धच्छाया भी' यह। 'दो अर्थ' गुणीभूतव्यंग्य और प्रधानभूतव्यंग्य। 'नेदीय' निकटतर अर्थात् हृदय में अनुप्रविष्ट होने वाला। इसमें हेतु बतलाते हैं—'ऐसा होने पर निस्सन्देह' यह। चतुरत्व अर्थात् समास-संघटना। मधुरत्व अर्थात् अपारुष्य। 'उस प्रकार के' यह। अपूर्व बन्धच्छाया से युक्तों के लिये दूसरों से उपनिबद्ध अर्थ के निबन्धन करने पर परकृत काव्यत्व का व्यवहार ही होगा इसलिये अर्थ के अपूर्वत्व का आश्रय लेना चाहिये। काव्य कहते हैं कवनीय को, उसका भाव है काव्यत्व। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि यहाँ भाव-प्रत्यय से भाव-प्रत्यय किया गया है ॥६॥

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार

तारावती—ऊपर विस्तारपूर्वक सिद्ध किया जा चुका है कि कविता में नवीनता ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य से ही होती है। अर्थ तो पुराने ही होते हैं किन्तु अभिव्यञ्जन-कौशल पुराने अर्थों को भी नवीन रूप दे देता है। इस कारिका में उसी प्रकरण का उपसंहार किया गया है। कारिका का अर्थ करने में 'सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु' इतना वाक्यखण्ड और जोड़ देना चाहिये। इस प्रकार पूरी कारिका का आशय यह हो जावेगा—

जैसा ऊपर वर्णन किया गया है उससे सिद्ध होता है कि चाहे पुराने कवियों के काव्य प्रबन्ध कितनी ही संख्या में विद्यमान हों किन्तु यदि कवि में प्रतिभा का गुण विद्यमान है और वह पुराने अर्थ की ही अभिव्यञ्जना करने के लिये ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य का

सहारा ले लेता है तो पुराने अर्थ भी नये ही मालूम पड़ने लगते हैं इस प्रकार काव्यार्थों की कहीं परिसमाप्ति आयेगी ही नहीं। काव्यार्थ अनन्त हो जायेंगे।'

प्रतिभा के गुण से काव्य में अनन्तता

इस कारिका में और जो कुछ कहा गया है वह तो सब पुरानी ही बात है; वह सब स्पष्ट है और उस विषय में कुछ नहीं कहना है। हाँ एक बात नई अवश्य है। वह यह कि यदि प्रतिभा गुण विद्यमान हो। (प्रतिभा कवियों की उस स्फुरणात्मक शक्ति को कहते हैं जिससे अवसर के अनुकूल शब्द और अर्थ एकदम स्फुरित हो जाते हैं।) और यह प्रतिभा का गुण बीज रूप में विद्यमान हो तो ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के विभिन्न प्रकारों का आश्रय लेने से उस प्रतिभाशाली कवि के सामने नये-नये अर्थ आते जाते हैं और उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। अनन्तता का सम्पादक तो प्रतिभा-गुण ही है। यदि वह बीज रूप में विद्यमान नही है तो कवि के लिये कोई भी विषय वर्णनीय रह ही नहीं जावेगा। नये अर्थ उसे दिखाई नहीं पड़ेंगे और जो अर्थ दिखलाई पड़ेंगे वे ऐसे मालूम पड़ेंगे कि उनका वर्णन तो पुराने कवि ही कर चुके हैं। अतः नवीन अर्थों के स्फुरण के लिये प्रतिभा का होना अनिवार्य है और कवि के लिये केवल यही एक शर्त है। (प्रश्न) नवीनता केवल अर्थ की ही नहीं होती; यदि अर्थ नवीन न भी हो तो भी बन्धच्छाया के नवीन होने से काव्य भी नवीन हो जावेगा। बन्धच्छाया को ही हम उक्तिपरिपाक, गुम्फ, संघटना इत्यादि अनेक नामों से पुकार सकते हैं। इस प्रकार पुराने अर्थों को लेकर बन्धच्छाया यदि नई जोड़ दी जाय तो काव्य भी नवीन हो सकता है और उसी प्रकार के काव्य लिखने में सहृदयों का अभिनिवेश भी हो सकेगा। ऐसी दशा में क्या तो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के आश्रय की अपेक्षा और क्या प्रतिभागुण की आवश्यकता? (उत्तर) बन्धच्छाया का अर्थ क्या है? यही न कि ऐसे शब्दों का सन्निवेश किया जाय जो कि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य इन दो प्रकार के अर्थों के अनुरूप हों। यही तो सङ्घटना या बन्धच्छाया की परिभाषा है। ऐसी दशा में यदि अर्थ का प्रतिभान ही नहीं होगा तो बन्धच्छाया भी कैसे बनेगी? क्योंकि तब हम बन्ध की परीक्षा किस आधार पर कर सकेंगे? (प्रश्न) बन्धच्छाया की परिभाषा में ध्वनि और गुणीभूत के व्यर्थ सन्निवेश की क्या आवश्यकता? बन्धच्छाया तो हम काव्य के उसी सौन्दर्य को मानते हैं जिसमें अर्थ की अपेक्षा न की जाय; केवल अक्षर-रचना के सौन्दर्य पर ही ध्यान दिया जाय। केवल शब्द-सौन्दर्य को ही लेकर काव्य प्रवृत्त हो सकता है, अर्थ की नवीनता पर विचार करने से क्या लाभ? (उत्तर) इस प्रकार की बन्धच्छाया, जिसमें अर्थ पर ध्यान ही न दिया जाय केवल शब्द-सङ्घटना सौन्दर्य को लेकर ही सब कुछ निर्णय कर लिया जाय, सहृदयों के हृदयों में न तो प्रविष्ट हो सकती है और न उनके निकट ही जा सकती है। यदि बन्धच्छाया आप ऐसी ही मानते हैं और उसी के मानने का आग्रह करते हैं तो जहाँ पर समासों की सुन्दर सङ्घटना कर दी जाय और पारुष्यहीन मधुर अक्षर जोड़ दिये जायँ तो उसे भी आप काव्य की संज्ञा देने के लिये बाध्य होंगे चाहे उसमें अर्थ बिल्कुल ही न हो। (प्रश्न) इसके लिये तो हमें काव्य की परिभाषा पर ध्यान देना होगा। काव्य उसे ही कहते हैं जहाँ

सहृदय-हृदयाह्लादजनक शब्द और अर्थ दोनों विद्यमान हों। केवल आह्लादजनक शब्द रचना में अर्थसौन्दर्य तो होगा नहीं, फिर वहाँ पर काव्य की परिभाषा ठीक कैसे बैठेगी और हम उसे काव्य की संज्ञा भी कैसे दे सकेंगे? (उत्तर) जहाँ पर कवि किसी दूसरे के कहे हुये अर्थ को लेकर अपना काव्य बना देता है; वहाँ उस कवि का काव्यबन्धन ही अपूर्व (नया) होता है और बन्धच्छाया ही उसकी अपनी होती है। केवल इतनी सी नवीनता को लेकर उस कवि का वह काव्य कहा जाता है। अतः बन्धच्छाया ही तो आपके मत में काव्य व्यवहार की प्रयोजिका हुई। क्योंकि अब दूसरे कवि का बन्ध ही अपना रहा; अर्थ तो पूर्ववर्ती कवि का हो गया। अतः यदि आप उक्त स्थल पर बन्धच्छाया को लेकर उस कविता को परवर्ती कवि की रचना मान सकते हैं तो जहाँ केवल बन्ध है अर्थ है ही नहीं उसे आप कविता की संज्ञा क्यों नहीं दे सकते? यदि अर्थ को लेकर आप काव्य के कर्त्ता का निर्णय करेंगे तो उस काव्य का कर्त्ता पुराना ही माना जावेगा। अत एव बन्धच्छाया में अनिवार्य रूप से अर्थ की विशेषता सम्मिलित की जानी चाहिये। वह अर्थ की विशेषता ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के द्वारा ही होगी। अतः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को काव्य की अनन्तता का प्रयोजन मानना ही चाहिये और उसका प्रवर्तन कवि की प्रतिभा के द्वारा ही होता है। (इस उत्तर वाक्य का अर्थ विभिन्न व्याख्याओं में विभिन्न प्रकार से प्राप्त होता है। किन्तु एक तो वे व्याख्यायें लोचन के प्रतिकूल हैं, दूसरे उनसे न तो वृत्ति के शब्द ही ठीक सङ्घटित होते हैं और न प्रकरण की सङ्गति ही ठीक बैठती है। अतः उक्त अर्थ ही मान्य है।)

यहाँ पर वृत्तिकार ने 'काव्यत्व' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द 'व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध मालूम पड़ता है 'कवृ-वर्णे' धातु से 'कवि' शब्द निष्पन्न होता है। कवि शब्द से भाव और कर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होकर 'काव्य' बनता है जिसका अर्थ होता है कवि का भाव या कर्म। इस प्रकार 'कवि' शब्द से भावार्थक प्रत्यय होकर 'काव्य' शब्द बनता है। व्याकरण का नियम है कि एक भावप्रत्यय के बाद दूसरा भावप्रत्यय नहीं होता। अतः यहाँ पर 'त्व' नहीं हो सकता। इस प्रकार यह शब्द अशुद्ध है। लोचनकार ने इसका उत्तर यह दिया है कि यहाँ पर भाव प्रत्यय है ही नहीं। यहाँ पर तो विधि के अर्थ में 'कवृ' धातु से ही "ण्यत्' प्रत्यय हो गया है—सूत्र है—'ऋहलोर्ण्यत्'। यह प्रत्यय उसी अर्थ में होता है जिस अर्थ में तव्य और अनीय हुआ करते हैं। अत एव काव्य का अर्थ हुआ कवनीय अर्थात् कवि का विधेय। इस प्रत्यय से त्व प्रत्यय हो सकता है। अतः यह शब्द अशुद्ध नहीं है ॥६॥

(ध्वन्या०) न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थपेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥ ७ ॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः। स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्थाभेदाद्देशभेदात्कालभेदात्स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति। तैश्च तथाव्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया

स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते। यथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा–भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' मन्मथोपकरणभूतेन भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता। सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्नवेनैव प्रकारेण निरूपितरूपसौष्ठवा। न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वाऽनवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते। दर्शितमेव चैतद्विषमबाणलीलायाम्—

ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।
जे बिब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइ वाणीणम्॥

(अनु०) और अर्थानन्त्य न केवल व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही, अपितु वाच्यार्थापेक्षा से भी होता है यह प्रतिपादन करने के लिये कहा जा रहा है—

'अवस्था, देश, काल इत्यादि की विशेषताओं से शुद्ध भी वाच्य का स्वभावतः आनन्त्य हो जाता है'॥ ७॥

शुद्ध का अर्थात् व्यङ्ग्य की अपेक्षा न करनेवाले भी वाच्य का स्वभावतः आनन्त्य हो जाता है। वाक्यों का निस्सन्देह यह स्वभाव होता है कि चेतनों और अचेतनों की अवस्था के भेद से, देशभेद से, कालभेद से और अपने स्वरूप के भेद से अनन्तता हो जाती है। उस प्रकार व्यवस्थित किये हुये होनेवाले उनसे अनेक स्वभावों के अनुसरण रूपवाली स्वभावोक्ति के द्वारा भी निबद्ध किये जानेवालों से काव्यार्थ अवधिहीन हो जाता है। वह इस प्रकार अवस्थाभेदभिन्नत्व जैसे—कुमारसम्भव में 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि उक्तियों से पार्वती के रूप का वर्णन यद्यपि पूर्णरूप से समाप्त कर दिया गया तथापि पुनः भगवान् शङ्कर के नेत्रों के सामने आती हुई 'वसन्त पुष्पों का आभरण धारण की हुई' कामदेव की उपकरणभूत दूसरी भङ्गिमा के द्वारा वर्णित की गई हैं। वह फिर नवीन उद्वाह के समय आभूषित की जाती हुई 'पूर्व को मुख किये हुये उस तन्वी को बैठाकर' इत्यादि उक्तियों के द्वारा नये ही प्रकार से रूपसौष्ठव में निरूपित की गई। वे उस कवि के एक ही स्थान पर बार-बार किये हुए वर्णन के प्रकार पुनरुक्तत्व में अथवा पुराने-पुराने अर्थ से परिपूर्ण रूप में नहीं प्रतीत होते। और यह विषमबाणलीला में दिखलाया ही गया है—

'उनकी सीमा नहीं घटित होती, और वे कैसे भी पुनरुक्त नहीं दिखलाई देते जो प्रियाओं के विभ्रम होते हैं अथवा जो सुकवियों के अर्थ होते हैं।'

(लो०) **प्रतिपादयितुमिति।** प्रसङ्गादिति शेषः। यदि वा वाच्यं तावद्द्विविधव्यङ्ग्योपयोगि तदेव व्यङ्ग्यानन्त्यं भवतीत्यभिप्रायेणेदं प्रकृतमेवोच्यते। **शुद्धस्येति।** व्यङ्ग्यविषयो यो व्यापारः तत्स्पर्शं विनाप्यानन्त्यं स्वरूपमात्रेणैव पश्चात्तु तथा स्वरूपेणानन्तं सद्व्यङ्ग्यं व्यनक्तीति भावः। न तु सर्वथा तत्र व्यङ्ग्यं नास्तीति मन्तव्यमात्मभूततद्रूपाभावे काव्यव्यवहारहानेः। तथा चोदाहरणेषु रसध्वनेः सद्भावोऽस्त्येव।

आदिग्रहणं व्याचष्टे—**स्वालक्षण्येति**। स्वरूपेत्यर्थः। यथा रूपस्पर्शयोस्तीव्रैकावस्थयोरेकद्रव्यनिष्ठयोरेककालयोश्च।

न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्॥

चकाराभ्यामतिविस्मयः सूच्यते। **कथमपीति**। प्रयत्नेनापि विचार्यमाणं पौनरुक्त्यं न लभ्यमितियावत्। **प्रियाणामिति**। बहुवल्लभो हि सुभगो राधावल्लभप्रायस्तास्ताः कामिनीः परिभोगसुभगमुपभुञ्जानोऽपि न विभ्रमपौनरुक्त्यं पश्यति तदा। एतदेव प्रियात्वमुच्यते यदाह—

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' इति

प्रियाणामिति चासंसारं प्रवहद्रूपो योऽयं कान्तानां विभ्रमविशेषः स नवनव एव दृश्यते। न ह्यसावग्निचयनादिवदन्यतः शिक्षितः, येन तत्सादृश्यात् पुनरुक्ततां गच्छेत्। अपि तु निसर्गोद्भिद्यमानमदनाङ्कुरविकासमात्रं तदिति नवनवत्वम्। तद्वत्परकीयशिक्षानपेक्षनिजप्रतिभागुणनिष्यन्दभूतः काव्यार्थ इति भावः।

(अनु०) 'प्रतिपादन करने के लिये' यह। प्रसङ्गवश यह शेष है। अथवा वाच्य तो विभिन्न व्यङ्ग्यों का उपोगी होता है, यदि वही अनन्त हो तो उसके बल पर व्यङ्ग्यों की भी अनन्तता हो जावेगी इस अभिप्राय से यह प्रकृत ही कहा जा रहा है। 'शुद्ध का' यह। व्यंग्यविषयक जो व्यापार उसके स्पर्श के बिना भी स्वरूपमात्र से ही आनन्त्य हो जाता है; बाद में तो स्वरूप से अनन्त होते हुए व्यंग्य को व्यक्त करता है यह भाव है। सर्वथा वहाँ पर व्यंग्य नहीं होता ऐसी बात नहीं मानी जानी चाहिए क्योंकि आत्मस्थानीय उस रूप के अभाव में काव्यव्यापार की ही हानि हो जायेगी, और भी उदाहरणों में रसध्वनि की सत्ता है ही। आदि ग्रहण की व्याख्या करते हैं—'स्वालक्षण्य' यह। अर्थात् स्वरूप। जैसे तीव्र एक अवस्थावाले, एक द्रव्य में रहनेवाले रूप और स्पर्श का।

'न च·······वाणीनाम्' उक्त गाथा की संस्कृतच्छाया है।

दो चकारों से अतिविस्मय सूचित होता है। 'कैसे भी' यह। आशय यह है प्रयत्नपूर्वक विचार किया हुआ भी पौनरुक्त्य प्राप्य नहीं है। 'प्रियाओं को' यह। बहुत वल्लभाओंवाला राधावल्लभ का जैसा सुभग व्यक्ति विभिन्न कामिनियों के सम्भोग का सौभाग्य के साथ उपभोग करता हुआ उस समय विलासों के पौनरुक्त्य को नहीं देखता। यही तो प्रियात्व कहा जाता है जैसा कि कहा गया है—

'क्षण-क्षण पर जो नवीनता को धारण करे वही रमणीयता का रूप है।'

और 'प्रियाओं का' इसका भाव यह है कि समस्त संसार में प्रवाहमय रूप वाला जो कान्ताओं का विभ्रम-विशेष वह नवीन-नवीन ही दिखलाई देता है। भाव यह है कि यह अग्निचयन इत्यादि के समान कहीं और स्थान से नही सीखा गया है जिससे उसके सादृश्य से पुनरुक्तता को प्राप्त हो जाय। अपितु वह स्वभावतः खिलौने वाले मदनाङ्कुर का

विकासमात्र है, अतः वह नवीन नवीन ही होता है। वैसे ही पराई शिक्षा की अपेक्षा न करते हुए अपनी प्रतिभा के गुण का निष्यन्द रूप ही काव्यार्थ होता है।

वाच्य की अपेक्षा भी काव्य में नवीनता

तारावती—ऊपर ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य की दृष्टि से काव्य की अनन्तता की पूरी व्याख्या कर दी। अब इस ७ वीं कारिका में वाच्य की दृष्टि से काव्य की अनन्तता की व्याख्या की जा रही है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि प्रकरण तो ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के प्रयोजन-निरूपण का है, यहाँ पर वाच्य की अनन्तता के प्रतिपादन से क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के प्रयोजन निरूपण के प्रसंग में ही यह भी विषय आ पड़ा कि इनसे काव्य अनन्त हो जाता है। अतः इस अनन्तता के प्रसंग में ही यह भी दिखला देना आप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता कि अनन्तता केवल व्यंग्यार्थ के ही अधीन नहीं होती अपितु वाच्यार्थ के अधीन भी होती है। अथवा इसका दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक तो वाच्यार्थ ही होता है। एक वाच्यार्थ से बहुत से व्यंग्यार्थ निकल आते हैं। यदि व्यञ्जक वाच्यार्थ ही अनन्त होगा तो व्यंग्यार्थ के अनन्त होने में तो कोई सन्देह रह ही नहीं जाता। अतः इस कारिका में जो वाच्यार्थ की अनन्तता बतलाई गई है वह प्राकरणिक ही है अप्राकरणिक नहीं। कारिका का आशय यह है :—

'यदि शुद्ध वाच्य की दृष्टि से ही विचार किया जाय अर्थात् वाच्य का जो व्यंग्य विषय-व्यापार होता है उसका विचार न किया जाय केवल उसके स्वरूप पर ही ध्यान दिया जाय तो भी स्वाभाविक रूप में ही वाच्य की अनन्तता हो जाती है। यह अनन्तता अवस्था देश काल इत्यादि अनेक विशेषताओं से हुआ करती है।'

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि 'शुद्ध वाच्य का यह अर्थ नहीं है कि ऐसा वाच्य जिसमें व्यञ्जना की सत्ता ही न हो। क्योंकि यदि यह अर्थ माना जायेगा तो काव्य की आत्मा तो वहाँ रहेगी नहीं। कारण यह है कि आत्मा तो प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ ही हो सकती है। अतः यहाँ पर शुद्ध वाच्य का अर्थ यह है कि केवल वाच्यार्थ की दृष्टि से ही विचार किया जाय व्यंग्यार्थ पर विचार बाद के लिये स्थगित कर दिया जाय तो भा वाच्यार्थ भी अनन्त ही होते हैं। वृत्तिकार का मन्तव्य यही है इसमें प्रमाण यह है कि उन्होंने शुद्ध वाच्य के जो भी उदाहरण दिये हैं उनमें सब में रसव्यञ्जना विद्यमान है। वाच्य चाहे चेतन हों चाहे अचेतन उनका स्वभाव ही यह होता है कि जब वे काव्य का विषय बनते हैं तब उनमें अनंतता आ जाती है। यह अनंतता अनेक कारणों से होती है जैसे अवस्था-गत भेद, देश-गत भेद, कालगत भेद। इन विभेदक तत्त्वों की परिगणना करते हुये कारिका मे आदि शब्द का प्रयोग किया गया है। आदि का अर्थ है स्वालक्षण्य (स्वालक्षण्य शब्द स्वलक्षण शब्द की भाववाचक संज्ञा है। स्व अर्थात् स्वयं ही लक्षण है जिसका अर्थात् अपना स्वरूप)। आशय यह है कि अवस्थाभेद, देशभेद और कालभेद के साथ अपना स्वरूप भी भेदक होता है जैसे एक ही द्रव्य में, एक ही काल में तीव्र एक अवस्थावाले रूप और स्पर्श में परस्पर भेद होता

है। आशय यह है कि वस्तुएँ तो अवस्था इत्यादि के भेद से अनेक स्वभाव वाली होती हैं। यदि उन वस्तुओं को काव्य में इस रूप में उपनिबद्ध किया जाय कि उसमें स्वभावोक्ति का ही प्रयोग किया जाय, जिसका रूप यह होता है कि वस्तुओं के प्रसिद्ध अनेकविध स्वभावों का अनुसरण किया जाता है तो भी काव्य का विस्तार इतना अधिक हो जायेगा कि काव्यार्थों की कोई सीमा ही न रहेगी। सर्वप्रथम अवस्थाभेद से अनन्तता को लीजिये। कुमारसम्भव में कविवर कालिदास ने पार्वती के यौवनजन्य लावण्य का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। यह वर्णन 'असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेः' इस पद्य से प्रारम्भ होता है। अंग-प्रत्यङ्ग का वर्णन तथा 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि पद्य के द्वारा सामूहिक समस्त शरीर-वर्णन इतना मनोरम बन पड़ा है कि मालूम पड़ने लगता है कि रूप लावण्य के वर्णन की दिशा में अब कुछ कहने को शेष ही नहीं रह गया। फिर जब तृतीय सर्ग में सखियों के साथ शंकर जी की पूजा करने जाती हैं वहाँ पर 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' 'संचारिणी पल्लविनी लतेव' इत्यादि के द्वारा पुनः उनके सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। यह अवस्था भिन्न है जिससे वर्णन में भी एक नया चमत्कार आ जाता है। फिर पंचम सर्ग में 'विमुच्य साहारमहार्यनिश्चया' इत्यादि के द्वारा उनके तपस्विनी रूप का वर्णन किया जाता है वह अवस्था भिन्न ही है और वह वर्णन भी नवीन हो गया है। इसके बाद सप्तम सर्ग में जब विवाह का अवसर आता है तब सखियाँ उनका मण्डन कर रही हैं—'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्यादि पद्यों के द्वारा उनकी इस नवीन अवस्था का वर्णन किया गया है जो कि नई चमक पैदा कर देता है। एक ही पार्वती हैं और वर्णन करने वाला कवि भी एक ही है तथा एक ही काव्य में बार-बार वर्णन किया गया है फिर भी वहाँ पर न तो स्वल्प मात्र भी पुनरुक्ति मालूम पड़ती है और न यही मालूम पड़ता है कि प्रत्येक वर्णन में एक नवीनता नहीं है। कारण स्पष्ट है—एक ही व्यक्ति अवस्थाभेद से असंख्य प्रकारों से वर्णित किया जा सकता है। (यहाँ पर 'दीधिति' टीकाकार ने 'पुनरुक्तत्वेन वाऽनवनवार्थनिर्भरत्वेन' यही पाठ माना है और प्रकरण के अनुसार यह ठीक भी है। आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है कि सभी संस्करणों में 'अपुनरुक्तत्वेन' और 'नवनवार्थनिर्भरत्वेन' यह पाठ पाया जाता है। यद्यपि प्रकरणानुसार यह ठीक नहीं है तथापि जो सभी संस्करणों में पाया जाता है वह लेखक का प्रमाद नहीं हो सकता, अतः उसकी संगति बिठाई ही जानी चाहिये। उन्होंने उसकी संगति बैठाने की चेष्टा की है और बहुत कुछ संगति बैठ भी गई है। किन्तु मेरी समझ में अशुद्ध पाठ की जैसे तैसे संगति बैठाने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि लेखक का प्रमाद मान लिया जाय। दीधितिकार ने ऐसा किया भी है।) यह आनन्दवर्धन की लिखी हुई विषमबाणलीला में दिखलाया गया है। पद्य का आशय यह है—

'प्रियतमाओं के जितने विलास होते हैं तथा सत्कवियों के जितने अर्थ होते हैं न तो उनकी इयत्ता ही निश्चित की जा सकती है, न उनकी सीमा ही प्राप्त होती है और यदि एक ही प्रकार की चेष्टायें बार-बार होती हैं तो भी उनमें किसी प्रकार का भी पुरानापन तथा पुनरुक्ति नहीं मालूम पड़ती।

उक्त पद्य में दो बार 'न च' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे ध्वनित होता है कि यह महान् आश्चर्य की बात है कि रमणियों के विलासों और कवियों के अर्थों में कभी पुरानापन नहीं आता। 'किसी प्रकार भी' शब्द का आशय यह है कि कितना हो प्रयत्नपूर्वक उनका मनन तथा चिन्तन किया जाय, कितना ही उनका पर्यवेक्षण तथा अनुसन्धान किया जाय किन्तु उनमें पुरानापन तथा घिसापिटापन दिखलाई नहीं देता। 'प्रियतमाओं' में बहुवचन का आशय यह है कि राधावल्लभ भगवान् कृष्ण जैसे जो व्यक्ति अनेक बल्लभाओं का उपभोग किया करते हैं और प्रत्येक कामिनी के उपभोग में सौभाग्य का अनुभव करते हैं उन्हें कभी भी ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि उनकी प्रत्येक प्रेयसी के विभ्रम एक जैसे ही हैं। उन्हें प्रत्येक बार नया हो आनन्द आता है। प्रिय होने की परिभाषा भी तो यही है जैसा कि शिशुपाल-वध में कहा गया है कि 'जो वस्तु प्रत्येक क्षण पर नई ही मालूम हो वही रमणीयता का रूप कही जा सकती है।' समस्त संसार में कामिनियाँ और प्रियतमायें भरी पड़ी हैं। प्रत्येक कामिनी के विलास धारावाहिक रूप में प्रवाहित होते रहते हैं। कान्ताओं का प्रत्येक दृष्टिपात, प्रत्येक चाल तथा अंगों की प्रत्येक क्रिया सर्वदा नई ही मालूम पड़ती है। उसमें कभी पुरानापन नहीं आता। बात यह है कि पुरानापन तो उसमें आता है जो किसी दूसरे से सीखा जाय और सीखकर उसी प्रकार उसका अभ्यास किया जाय। उदाहरण के लिए अग्नि का आधान एक ऐसी वस्तु है जिसकी शिक्षा दूसरों से ली जाती है और उसी के अनुसार अभ्यास किया जाता है। अत एव अग्न्याधान की क्रिया एक जैसी ही मालूम पड़ेगी और बार-बार देखने पर वह क्रिया देखी हुई पुरानी प्रतीत होगी। इसके प्रतिकूल रमणियों की प्रेमाभिव्यञ्जक चेष्टायें कहीं से सीखी हुई नहीं होती, अपितु जिस समय उनके हृदयों में कामवासना का अङ्कुर फूटता है उस समय उनके विलास उसी प्रकार प्रारम्भ हो जाते हैं जैसे कि अङ्कुर के निकल आने के बाद उसका विकास अपने आप होता जाता है। विभिन्न अङ्कुरों के विकास विभिन्न प्रकार के होते हैं उसी प्रकार नायिकाओं के यौवनजन्य विलास भी व्यक्तिगत ही होते हैं, कभी पुराने नहीं पड़ते। यही दशा सत्कवियों की काव्यवस्तु की भी होती है। वस्तु की कल्पनामय उद्भावना कहीं से सीखी हुई नहीं होती और न इसकी कोई शिक्षा ही दे सकता है अपितु कवियों में जो जन्मजात प्रतिभा होती है उसी का सारभूत निष्यन्द काव्यवस्तु है। वह भी युवतियों की विलास चेष्टा के समान व्यक्तिगत ही होती है। अतः उसमें पुरानापन कभी आता ही नहीं।

(ध्वन्या०) **अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम्। तच्चोचितविषयस्वरूपयोजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते। यथा कुमारसम्भव एव पर्वतस्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं, पुनः सप्तर्षिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति। प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः। इदञ्च प्रस्थानं विषमबाणलीलायां सप्रपञ्चं दर्शितम्। चेतनानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामवस्थाभेदेऽप्यवान्तरावस्थाभेदान्नानात्वम्। यथा कुमारीणां कुसुमशरभिन्नहृदयानामन्यासां च। तत्रापि**

विनीतानामविनीतानाञ्च। अचेतनानाञ्च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति। यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता—
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः॥

एवमन्यत्रापि दिशानयानुसर्तव्यम्।

देशभेदान्नानात्वमचेतनानां तावत्। यथा वायूनां नानादिग्देशचारिणामन्येषामपि सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामपि मानुषपशुपक्षिप्रभृतीनां ग्रामारण्यसलिलादिसमेधितानां परस्परं महान् विशेषः समुपलक्ष्यत एव। स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमानस्तथैवानन्त्यमायाति। तथा हि मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादिभिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो योषिताम्। उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम्।

कालभेदाच्च नानात्वम् यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानां चेतनानां चौत्सुक्यादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव। स्वालक्षण्यप्रभेदाच्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव। तच्च यथावस्थितमपि तदुपनिबध्यमानमन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति।

(अनु०) यह दूसरा अवस्थाभेद का प्रकार है जो हिमालय, गंगा इत्यादि सब अचेतनों का दूसरा चेतनरूप अभिमानित्व के रूप में प्रसिद्ध है। वह उचित विषय-स्वरूप की योजना के द्वारा उपनिबद्ध किए जाने पर और ही हो जाता है। जैसे कुमार-सम्भव में ही पर्वत स्वरूप हिमालय का वर्णन, फिर सप्तर्षियों की प्रिय उक्तियों में उसके चेतन स्वरूप की दृष्टि से दिखलाया हुआ वह अपूर्व ही प्रतीत होता है और यह सत्कवियों का मार्ग प्रसिद्ध ही है। यह प्रस्थान विषमबाणलीला में प्रपंच के साथ दिखलाया गया है। चेतनों का बाल्य इत्यादि अवस्थाओं से अन्यत्व सत्कवियों में प्रसिद्ध ही है। चेतनों का अवस्थाभेद होने पर भी अवान्तर अवस्थाभेद से नानात्व हो जाता है जैसे कुमारियों का, कामदेव से भिन्न हृदयवालियों का और दूसरों का। उसमें भी विनीतों का और अविनीतों का। आरम्भ इत्यादि अवस्थाभेद भिन्न अचेतनों का एक-एक स्वरूप उपनिबद्ध किये जाने पर अनन्तता हो जाती है। जैसे—

'जिनको भक्षण करने पर शब्दायमान हंसों के मधुर कंठों में संयोग होने से कोमल स्निग्ध नया ही विलासमय स्वर सम्पन्न हो जाता है; हथिनियों के कोमल दन्तांकुरों से स्पर्धा करनेवाली कमलिनीकन्द की वे ही अग्रिम ग्रंथियाँ कमलाकरों में निकल आई हैं।' इस प्रकार अन्यत्र भी इसी दिशा से (अनन्तता का) अनुसरण कर लेना चाहिये।

देशभेद से नानात्व। पहले अचेतनों को लीजिये जैसे नाना दिशाओं और देशों से चलनेवाली वायु और दूसरे जल पुष्प इत्यादि का प्रसिद्ध ही है। चेतनों का गाँव वन

जल इत्यादि में बढ़े हुये मनुष्य पशु पक्षी इत्यादिकों का परस्पर महान् बिशेष दिखलाई ही देता है। और वह विवेचन करके ठीक रूप में उपनिबद्ध किया हुआ उसी प्रकार आनन्त्य को प्राप्त हो जाता है। वह इस प्रकार—दिशा देश इत्यादि से भिन्न मनुष्यों के ही जो व्यवहार और व्यापार इत्यादि उनकी जो विचित्र विशेषताएँ होती हैं उनके अन्त को कौन जान सकता है, विशेष रूप से स्त्रियों का। और वह सब कवियों के द्वारा प्रतिभा के अनुसार निबद्ध किया जाता है।

और कालभेद से नानात्व जैसे ऋतुओं के भेद से दिशा आकाश इत्यादि अचेतनों के और चेतनों के औत्सुक्य इत्यादि कालनिमेष का आश्रय लेनेवाले प्रसिद्ध ही हैं और स्वरूपभेद से समस्त संसार में विद्यमान वस्तुओं का विनिबन्धन प्रसिद्ध ही है। और वह ठीक अवस्था में उपनिबद्ध किये जाने पर काव्यार्थ की अनन्तता का ही सम्पादन करता है।

(लो०) **तावदिति।** । उत्तरकालं तु व्यङ्ग्यसंस्पर्शनेन विचित्रितां परां भजतां नाम तावति तु स्वभावेनैव सा विचित्रेति तावच्छब्दस्याभिप्रायः।

(अनु०) 'तावत्' यह। बाद में तो व्यंग्य के संस्पर्श से बहुत बड़ी विचित्रता को प्राप्त कर ले, उतने में तो स्वभाव से ही वह विचित्र होती है यह 'तावत्' शब्द का अभिप्राय है।

अवस्थाभेद इत्यादि का विवेचन

तारावती—(अग्रिम तीन चार अनुच्छेदों में वृत्तिकार ने वस्तु की नवीनता की ही व्याख्या की है। यह समस्त प्रकरण स्पष्ट है और लोचनकार ने इस पर टिप्पणी भी नहीं दी है। यहाँ इसका सार दिया जा रहा है।) अवस्थाभेदसे वस्तुभेद इस प्रकार भी होता है कि हिमालय गंगा इत्यादि का एक तो अपने स्वाभाविक अचेतन रूप में वर्णन किया जाता है, दूसरा रूप उन पर चेतना के आरोप के द्वारा होता है जिनमें उनके अभिमानी देवता की कल्पना कर दी जाती है। (पुराण इत्यादि में जहाँ कहीं हिमालय गंगा इत्यादि के मानवसुलभ क्रिया-कलापों का वर्णन किया जाता है वहाँ उनके एक चेतन अभिमानी देवता की कल्पना कर ली जाती है और उस देवता के क्रियाकलापों को ही गंगा इत्यादि का क्रियाकलाप माना जाता है। इसके अतिरिक्त मानव-गत चेतना के आरोप के साथ वस्तुओं के वर्णन की भी कवि परम्परा है।) कुमार-सम्भव में हिमालय के अचेतन रूप का प्रारम्भ में वर्णन किया है, किन्तु बाद में सप्त-र्षियों की बातचीत के अवसर पर उन पर मानव धर्म का आरोप कर लिया गया है। अचेतन पर चेतन भावों का आरोप कवियों का एक सामान्य मार्ग है। इसका विस्तृत विवेचन आनन्द-वर्धन ने विषमबाणलीला में किया है। अचेतन भावों की आरम्भ इत्वादि अवस्थाओं का भी भेद होता है जैसे 'हंसानां निनदेषु' इत्यादि पद्य में विसिनी कन्द की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन एक नई ही वस्तु है यद्यपि विसिनी के अनेक रूपों का कवियों ने वर्णन किया है। इसी प्रकार चेतनों की अवस्थायें भी बाल यौवन इत्यादि के द्वारा भिन्न होती हैं फिर उनमें अवा-न्तर अवस्थायें होती हैं जैसे कुमारियों की कामवासना से पीड़ित अवस्था और विकार रहित अवस्था, उसमें भी विनीत कुमारियाँ और अविनीत कुमारियाँ।

देश-भेद से अचेतनों का नानात्व जैसे अनेक दिशाओं से चलने वाली वायु, अनेक देशों और दिशाओं के जल तथा पुष्प इत्यादि एक दूसरे से भिन्न होते ही है। चेतनों में भी मानव, पशु, पक्षी इत्यादि में भी देशजन्य तथा ऋतुजन्य भेद होता ही है! इसी प्रकार ग्रामीण, जंगली, जलीय, शहरी इत्यादि विशेषताएँ जीवों में होती हैं। यदि देश-भेद को दृष्टिगत रखकर काव्य-रचना की जाय तो काव्य-वस्तु अनन्त हो जायेगी। दिशा और देश के भेद से मनुष्यों में, उनके व्यवहार में, रीति-रिवाज में, क्रिया-कलाप में, मनुष्यों में परस्पर इतने भेद होते हैं कि कोई भी व्यक्ति उनका पार नहीं पा सकता। स्त्रियों में विशेष रूप से जैसा चाल-ढाल पहिरावों इत्यादि में भेद होता है उसका तो कोई ठिकाना नहीं। कवि लोग अपनी प्रतिभा के अनुसार इन सभी विभेदों का उपयोग अपने काव्यों में करते हैं।

कालभेद से भी नानात्व होता है। विभिन्न ऋतुओं में दिशायें, आकाश, जल इत्यादि विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। यह तो हुई अचेतन की बात। चेतनों में उत्कण्ठा इत्यादि का परिमाण और उनका स्वरूप आयु, ऋतु इत्यादि काल भेद के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। स्वरूपभेद तो प्रसिद्ध ही है। किसी एक लोहे के खम्भे पर ही असंख्य दृष्टियों से विचार किया जा सकता है, अतः उसके असंख्य ही स्वरूप हो जाते हैं। यदि इन समस्त भेदों को दृष्टिगत रखते हुए इनकी स्वभाविक स्थिति का ही काव्य में निरूपण कर दिया जाय तो भी काव्य-विषय अनन्त हो जायगा। फिर यदि उनमें कल्पना का भी योग कर दिया जाय तब तो कुछ कहना ही नहीं।

वृत्तिकार ने इस प्रकरण में देशभेद का परिचय देते हुये 'तावत्' शब्द का प्रयोग किया है (देशभेदेन नानात्वमचेतनानां तावत्) इस तावत् शब्द का आशय बतलाते हुये लोचनकार ने लिखा है—'तावत्' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि यहाँ पर जो भी विचार किया गया है वह वाच्यवृत्ति तथा काव्यविषय को ही दृष्टिगत रखते हुये किया गया है। यदि हम अभिव्यंग्य अर्थ की विचित्रता पर ध्यान न दें केवल वाच्य वस्तु की ही विलक्षणता पर विचार करें तो भी काव्य-वस्तु का स्वाभाविक स्वरूप ही अनन्त हो जाता है। इसके बाद जब उन वाच्यार्थों से व्यंग्य का स्पर्श होता है और एक-एक वाच्य के सैकड़ों व्यंग्य हो जाते हैं तब तो काव्य की अनन्तता का ठिकाना ही नहीं रहता।

(ध्वन्या०) अत्र केचिदाक्षीरन्—यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेषात्मना; तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यमारोपयद्भिः स्वपरानुभूतरूपसामान्यमात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। नहि तैरतीतमनागतं वर्तमानञ्च परिचितादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते, तच्चानुभाव्यानुभवसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरीभूतम्, तस्याविषयत्वानुपपत्तेः। अत एव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषामपि मानमात्रमेव भणितिकृतवैचित्र्यमत्रास्तीति।

(अनु०) यहाँ पर कुछ लोग कहे—जैसे वस्तुयें सामान्य आत्मा से वाच्यता को प्राप्त होती हैं विशेष आत्मा से नहीं। वे (वस्तुएँ) तो स्वयम् अनुभूत सुख इत्यादि के और उन

(सुख इत्यादि) के निमित्तों के स्वरूप को अन्यत्र आरोपित करनेवाले कवियों के द्वारा अपने और दूसरों के द्वारा अनुभूत किये हुए सामान्यमात्र के आश्रय से उपनिबद्ध की जाती हैं। उनके द्वारा अपरिचित स्वभाववाले अतीत अनागत और भविष्य वस्तु का योगियों के समान प्रत्यक्ष नहीं किया जाता। और वह अनुभाव्य और अनुभावक सामान्य सभी प्रतिपत्ताओं में सर्वसाधारण रूप में परिमित होने के कारण प्राचीनों के ही गोचरीभूत हो गया क्योंकि उसके प्रत्यक्ष का विषय न होने की सिद्धि नहीं होती। अत एव वह प्रकारविशेष जिन आधुनिकों के द्वारा अभिनव रूप में प्रतीत किया जाता है वह उनका अभिमान मात्र है। यहाँ पर उक्ति के द्वारा सम्पादित वैचित्र्य है।

(लो०) **तन्निमित्तानां चेति**। ऋतुमाल्यादीनाम्। **स्वेति**। स्वानुभूतपरानुभूतानां यत्सामान्यं तदेव विशेषान्तररहितं तन्मात्रं तस्याश्रयेण। **न हि तैरिति** कविभिः। एतच्चात्यन्तासम्भावनार्थमुक्तम्। प्रत्यक्षदर्शनेऽपि हि—

शब्दाः सङ्केतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र नः॥

इत्यादियुक्तिभिस्सामान्यमेव स्पृश्यते।

अनु०) 'तन्निमितों का' यह। ऋतुमाल्य इत्यादि का। स्व यह। स्वानुभूत और परानुभूतों का जो सामान्य अर्थात् वही दूसरी विशेषता से रहित केवल उतना भाग, उसके आश्रय से। उनके द्वारा नहीं। अर्थात् कवियों के द्वारा। और यह अत्यन्त असम्भावना के लिये कहा गया है। प्रत्यक्ष दर्शन में भी निस्सन्देह :—

'शब्द संकेतित अर्थ को कहते हैं, वह व्यवहार के लिये होता है। उस समय स्वरूप (सम्मुख) नहीं होता। अतः उसमें हमारा संकेत होता है।'

इत्यादि युक्तियों से समान्य का ही स्पर्श किया जाता है।

उक्त विषय में प्रश्न

तारावती—वाच्य की दृष्टि से काव्य की अनन्तता का ऊपर प्रतिपादन किया गया है। इस पर पूर्वपक्ष की ओर से एक प्रश्न उठाया जा रहा है कि इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु के अनेक पक्ष हो सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की होती है, फिर भूत, भविष्य, वर्तमान कृत कालभेद के कारण भी वस्तुयें बदल जाती हैं, फिर विभिन्न अवस्थाओं में पड़ने के कारण भी वस्तुभेद हो जाता है, फिर उनके अपने तो स्वगत असंख्य पक्ष हो ही सकते हैं। यह सब विवादास्पद नहीं है। किन्तु प्रश्न यह है कि इस सबका परिज्ञान होता किसको है ? इस प्रश्न का उत्तर होगा एक योगी ही अपनी योगसाधना के द्वारा करतलामलकवत् सभी विश्व को देख सकता है और भूत, भविष्य तथा वर्तमान का प्रत्यक्ष कर सकता है। कवि कोई योगी तो है नहीं। जो वस्तु को उसके समस्त पक्षों में देख सके तथा उसक।अनुभव कर सके। आशय यह है कि जिस प्रकार योगी अपरिचित के स्वरूप को भी योगसाधना से प्रत्यक्ष के समान देख सकता है वैसी शक्ति कवि को नहीं होती। कवि तो जितना कुछ उसके लिये प्रत्यक्ष होता

है उतना ही देख सकता है। अतः कवि को यह करना पड़ता है कि वह अपने अनुभव से ऐसे सामान्य तत्त्वों को छाँटता है जो दूसरों के भी अनुभव हो सकते हैं। इस कार्य में कवि उन तत्त्वों को बचाने की चेष्टा करता है जो विशिष्ट अंश होते हैं और सामान्य अनुभव का विषय नहीं बन सकते। कवि केवल सामान्य तत्त्व का आश्रय लेकर काव्यवस्तु को चुनता है। अपने अनुभव किये हुये सुख इत्यादि तथा सुख इत्यादि के निमित्त ऋतु माला इत्यादि का आरोप अपने कल्पित पात्रों पर कर देता है। इस सबका सार यही है कि सामान्य तत्त्व ही काव्य का विषय बन सकते हैं विशिष्ट नहीं। इससे सिद्ध होता है कि अनुभवयोग्य जितने भी सुख इत्यादि हैं, उनके जितने भी लौकिक पदार्थ हैं वे सभी गृहीताओं के लिये एक जैसे ही होते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के सामान्य रूप तो सीमित ही होते हैं और उन सबको पुराने कवियों ने ही प्रत्यक्ष कर लिया था तथा उनको अपने काव्यों में स्थान भी दे दिया। यह तो हम कह ही नहीं सकते और न यह बात सिद्ध ही की जा सकती है कि सामान्यरूप में सभी पदार्थ काव्य का विषय नहीं बन सके तथा पुराने क्रान्तदर्शी कवियों ने वस्तुओं को उनके सामान्य रूप में नहीं देख पाया। यहाँ पर जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि कवि अपने काव्य में सामान्य वस्तु का ही व्यवहार करते हैं। समस्त वस्तुओं को उनके विशेष रूप में देखना सर्वथा असम्भव है। जिन वस्तुओं को कवि विशिष्ट रूप में देखता भी है उन वस्तुओं का प्रयोग भी वह उनके सामान्य रूप में ही करता है विशेष रूप में नहीं। यदि कवि विशेष रूपों का अपने काव्य में उपादान करे तो वे वस्तुयें सर्वसाधारण की समवेदना का विषय बन ही न सकेंगी। जैसा कि कहा गया है :—

'शब्द संकेतित अर्थ को ही कहते हैं। संकेत ग्रहण का प्रयोजन यही है कि व्यवहार का निर्वाह हो सके। शब्दों का अर्थ विशिष्ट नहीं होता और न संकेतग्रहण के अवसर पर विशेषता की ओर ध्यान ही जाता है। इसीसे संकेत उन वस्तुओं में सम्भव होता है।' (आशय यह है कि 'गो' शब्द से संकेत के द्वारा गोत्व का ही बोध होता है विशिष्ट गाय का नहीं। क्योंकि विशिष्ट गाय में संकेत ग्रहण नहीं हो सकता।)

इस प्रकार वस्तुयें अपने सामान्य रूप में प्राचीन कवियों के द्वारा ग्रहीत हो ही चुकी हैं। आधुनिक काव्य में अर्थ की तो कोई नवीनता है नहीं। जो लोग अपने अर्थ को नवीन कहने का साहस करते हैं यह उनका दम्भमात्र ही है। यदि काव्य में कोई नवीनता सम्भव है तो वह उक्तिवैचित्र्य या अभिव्यक्ति के प्रकार की ही नवीनता है, या हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वस्तु के प्रस्तुत करनेमें ही कोई नवीनता हो सकती है वस्तु में कोई नवीनता नहीं हो सकती। ऐसी दशा में अवस्था, देश, काल इत्यादि के द्वारा काव्य-वस्तु की नवीनता का प्रतिपादन कहाँ तक संगत कहा जा सकता है? यह है प्रश्नकार का आशय। (यह प्रश्न स्वरूप-गत भेद के विषय में विशेष रूप से संगत होता है किन्तु अवस्था, देश, काल इत्यादि सभी भेदकों के विषय में लागू किया जा सकता है।) यह एक सम्भावनामूलक प्रश्न है क्योंकि 'आचक्षीरन्' इसमें लिङ्लकार का प्रयोग किया गया है। यह सम्भावना उसी प्रकार की है जैसी कि प्रथम उद्योत में विरोधी सिद्धान्तों की उद्भावना में की गई थी। यहाँ पर बहुवचन प्रयोग सिद्ध करता है कि यह मत अनेकों का है किसी एक का नहीं।

(ध्वन्या०) **तत्रोच्यते—यत्तूक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति तदयुक्तम्—यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किंकृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः? वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य कविव्यपदेश एव वा? सामान्यव्यतिरिक्तस्यान्यस्य काव्यार्थस्याभावात्, सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्। उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्—किमिदमुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादितवचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम्? वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। तेनोक्तिवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्। तदयमत्र सङ्क्षेपः—**

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम्॥

(अनु०) उस विषय में कहा जा रहा है—जो यह कहा गया है कि सामान्यमात्र के आश्रय से काव्यप्रवृत्ति होती है और उसके परिमित होने के कारण पहले ही गोचरीभूत हो जाने से काव्यवस्तुओं का नवीनत्व होता ही नहीं, वह ठीक नहीं है क्योंकि यदि केवल सामान्य का आश्रय लेकर काव्य प्रवृत्त होता है तो महाकवियों के द्वारा निबद्ध किये हुये काव्यार्थों की अतिशयता किसके द्वारा सम्पादित की हुई होती है? अथवा वाल्मीकि से व्यतिरिक्त किसी अन्य का कवि नाम ही कैसे होता है। क्योंकि सामान्य से भिन्न अन्य काव्यार्थ का अभाव ही होता है और सामान्य का आदि कवि के द्वारा ही प्रदर्शन कर दिया गया है। यदि कहो उक्तिवैचित्र्य से यह दोष नहीं होता तो यह उक्तिवैचित्र्य क्या वस्तु है? उक्ति निस्सन्देह वाच्य विशेष के प्रतिपादन करनेवाले वचन को कहते हैं। उसके वैचित्र्य में वाच्य वैचित्र्य क्यों नहीं होता? क्योंकि वाच्य और वाचक की प्रवृत्ति अविनाभाव सम्बन्ध से होती है और काव्य में प्रतिभासित होनेवाले वाच्यों का जो रूप वह तो ग्राह्य विशेष के अभेद के साथ ही प्रतीत होता है। इससे उक्तिवैचित्र्यवादी के द्वारा न चाहते हुये भी वाच्यवैचित्र्य स्वीकृत किया जाना चाहिये। तो यह यहाँ पर संक्षेप है:—'यदि वाल्मीकि से भिन्न किसी एक की भी प्रतिभा अर्थ में अभीष्ट हो तो वह आनन्त्य हो जायेगा।'

(लो०) **किमिति।** असंवेद्यमानमर्थपौनरुक्त्यं कथं प्राकरणिकैरङ्गीकार्यमिति भावः। तमेव प्रकटयति—**न चेदिति। उक्तिर्हीति।** पर्यायमात्रतैव यद्युक्तिविशेषस्तत्पर्यायान्तरैरविकलं तदर्थोपनिबन्धे अपौनरुक्त्याभिमानो न भवति। तस्माद्विशिष्टवाच्यप्रतिपादकेनैवोक्तेर्विशेष इति भावः। **ग्राह्यविशेषेति।** ग्राह्यः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यो विशेषः तस्य योऽभेदः। तेनायमर्थः—पदानां तावत्सामान्ये वा तद्वति वाऽपोहे वा यत्र कुत्रापि वस्तुनि समयः, किमनेन वादान्तरेण? वाक्यात्तद्विशेषः प्रतीयत इति कस्यात्र वादिनो विमतिः? अन्विताभिधानतद्विपर्ययसंसर्गभेदादिवाक्यार्थपक्षेषु सर्वत्र विशेषस्याप्रत्याख्येयत्वात् उक्तिवैचित्र्यं च न पर्यायमात्रकृतमित्युक्तम्।

(अनु०) 'किसके द्वारा' यह। भाव यह है—संवेदनागोचर न होनेवाला अर्थ पौनरुक्त्य प्राकरणिकों के द्वारा कैसे अंगीकार किया जाने योग्य है। उसी को प्रकट करते हैं—'यदि कहो' इत्यादि। 'निस्सन्देह उक्ति' यह। यदि उक्तिविशेष पर्यायमात्रता ही है तो दूसरे पर्यायों से अविकल रूप में उस अर्थ के उपनिबद्ध करने पर अपौनरुक्त्य का अभिमान नहीं होता। उससे विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादक के द्वारा ही उक्ति की विशेषता होती है यह भाव है। 'ग्राह्य विशेष' यह। ग्राह्य अर्थात् प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से जो विशेष उसका जो अभेद। उससे यह अर्थ होता है—पदों का तो सामान्य में अथवा तद्वान् में अथवा अपोह में चाहे जिस किसी वस्तु में हो, इन विशेषवादों की क्या आवश्यकता? वाक्य से उसकी विशेषता प्रतीत होती है इस विषय में किस वादी की असहमति है? क्योंकि अन्विताभिधान, उसके विपर्यय, संसर्ग भेद इत्यादि वाक्यार्थ पक्षों में सर्वत्र विशेष का तो प्रत्याख्यान किया ही नहीं जा सकता। यह तो कहा ही गया है कि उक्ति वैचित्र्य केवल पर्यायकृत नहीं होता।

वस्तुओं का सामान्य-विशिष्ट भाव

तारावती—अब इस प्रश्न के उत्तर पर विचार किया जा रहा है—यह कहना ठीक नहीं है कि काव्य में वस्तुओं के सामान्य रूपों का ही उपादान होता है। यदि सामान्यरूप में ही वस्तुओं को काव्यविषय बनाया जाय तो काव्य की असीमता सिद्ध ही नहीं हो सकती। वास्तविकता यह है कि काव्य में वस्तुयें अपने विशिष्ट रूप में ही प्रस्तुत की जाती हैं अथवा सामान्य रूप के साथ वस्तुओं का कुछ न कुछ विशेष रूप रहता ही है। कवि जिस देश जाति अथवा वर्ग का होता है और जिस समय में उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है साथ ही वस्तु की जिन अवस्थाओं को वह प्रत्यक्ष करता है उन सबकी झलक उसकी कविता में आ ही जाती है। इस प्रकार उसकी कविता कभी भी सामान्यमात्र को लेकर प्रवृत्त नहीं हो सकती। (उदाहरण के लिये राम-काव्य की रचना वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, मैथिलीशरणगुप्त इत्यादि अनेक कवियों ने की है। प्रत्येक कवि की कविता में उसके देशकाल की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है जिससे रामकथा अनन्त प्रकार की हो गई है। इसी आधार पर तुलसी ने कहा है—'राम कथा की मिति जग नाहीं।') यदि देशकाल अवस्था इत्यादि परिस्थितियों को काव्य-वस्तु के भेदक तत्त्व के रूप में स्वीकृत न किया जाय और यही माना जाय कि काव्य केवल वस्तु के सामान्य रूप को लेकर चलता है तो महाकवियों के काव्यों की जो सीमातीत-रूपता है उसमें प्रमाण ही क्या रह जाय? क्या यह सब व्यर्थ ही है जो कहा जाता है कि कालिदास महाकवि हुए, भारवि और माघकवि के महाकाव्यों की रचनायें की, भवभूति बड़े अच्छे नाटककार थे, इत्यादि। क्या जितना भी काव्यवैचित्र्य दिखलाई देता है वह पिष्टपेषण ही है? क्या सर्वत्र पौनरुक्त्य ही है? जब हम कोई नया काव्य पढ़ने लगते हैं तब हमें यह आभासित ही नहीं होता कि हम पढ़े हुए पुराने भावों को ही पढ़ रहे हैं। जब अर्थपौनरुक्त्य हमें संवेदनागोचर होता ही नहीं तब उसे प्रसंगानुकूल कविता करनेवाले लोग स्वीकार कैसे कर सकते हैं? जब वे किसी विशेष प्रसंग को लेकर कविता करते हैं तब यह कैसे मान सकते हैं कि उस प्रसंग की उनकी कविता पर कोई छाप नहीं वे तो केवल कही हुई बातों को ही

दोहरा रहे हैं ? यदि सामान्य को लेकर ही काव्यरचना की जाती है तो वाल्मीकि से भिन्न कालिदास इत्यादि किसी अन्य व्यक्ति को कवि कहना ही ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाल्मीकि आदि कवि हैं—उनके काव्य का इतना विस्तार है कि उन्होंने सभी सामान्य काव्य-विषयों को काव्यबद्ध कर ही दिया है तथा आप के मत में सामान्य से भिन्न कोई काव्यार्थ होता नहीं। अतः कोई नया कवि कवि ही न कहा जा सकेगा और कोई भी नई कविता पुरानी कविता का पिष्टपेषण ही रह जायेगी। यहाँ पर सामान्यतावादी यह कह सकते हैं कि काव्य में नवीनता विषयवस्तु से नहीं अपितु उक्तिवैचित्र्य से आती है। इससे मैं पूछना चाहता हूँ कि उक्तिवैचित्र्य से आप का तात्पर्य क्या है ? यदि पुरानी बात को पर्यायवाचक शब्दों द्वारा प्रकट कर दिया जाय तो उसे आप उक्तिवैचित्र्य कहेंगे ? यदि हाँ तो यदि पूरा-पूरा वही अर्थ पर्यायवाचक शब्दों के माध्यम से उपनिबद्ध कर दिया जाता है तो आपका यह अभिमान सिद्ध नहीं हो सकता कि आपने कोई नई बात कही है या आप यह नहीं कह सकते कि आप पुरानी बात को ही नहीं दुहरा रहे हैं। आप का अपौनरुक्त्य का अभिमान सिद्ध ही नहीं हो सकता। अतः उक्तिवैचित्र्य के मूल में आप को नये शब्द ही नहीं अपितु नया वाच्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। आपको यह कहना पड़ेगा कि उक्तिवैचित्र्य उसे ही कहते हैं जिसमें किसी विशेष उक्ति के द्वारा विशिष्ट वाच्य का प्रतिपादन किया जाय। क्योंकि वाच्य और वाचक का अविनाभाव सम्बन्ध है। वाच्य के बिना वाचक नहीं रह सकता और वाचक के बिना वाच्य नहीं रह सकता। दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः यदि वाचक में नवीनता स्वतः ही आ जायेगी। काव्य में जितने भी वाच्य प्रतीतिगोचर होते हैं उन वाच्यों के जितने भी रूप होते हैं वे सब अपने विशिष्ट रूप में ही प्रतीत हुआ करते हैं। प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों के आधार पर वस्तु की जो विशेषता अवगत होती है उस विशेषता से अभिन्न रूप में ही काव्य के वाच्य संवेदनागोचर हुआ करते हैं। आशय यह है कि काव्य-वस्तु विशिष्ट से ही सम्बन्ध रखती है सामान्य से नहीं। इस सबका निष्कर्ष यह है कि जो लोग काव्य में उक्तिवैचित्र्य को अंगीकार करते हैं वे यदि न भी चाहें तब भी उनको उक्ति-वैचित्र्य के साथ वाच्यवैचित्र्य मानना ही पड़ेगा। इससे वे पीछा नहीं छुड़ा सकते।

(ध्वन्या०) **किञ्च उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्यनवत्वे निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव। यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्रदर्शितः स सर्व एव पुनरुक्तिवैचित्र्याद्द्विगुणतामापद्यते। यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारवर्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्। भणितिश्च स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति। यथा ममैव—**

महमह इत्ति भणन्तउ वज्जादि कालो जणस्स।
तोइ ण देउजणद्दण गोअरी भोदि मणसो॥

इत्थं यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम्॥ ७॥

(अनु०) और भी उक्तिवैचित्र्य जो काव्य की नवीनता में हेतु कहा जाता है वह हमारे पक्ष के अनुगुण ही है। क्योंकि जितना यह काव्यार्थों के आनन्त्य भेद में हेतु के रूप में प्रकार पहले दिखलाये गये हैं फिर वे सभी उक्तिवैचित्र्य से द्विगुणता को प्राप्त हो जाते हैं। और जो यह उपमा श्लेष इत्यादि अलङ्कारवर्ग प्रसिद्ध है वह भणितिवैचित्र्य से उपनिबद्ध किया हुआ स्वयमेव सीमातीत होकर शतशाखता को धारण कर लेता है। और भणिति अपने भाषा-भेद से व्यवस्थित होकर प्रत्येक नियत भाषा में दिखलाई पड़नेवाले अर्थवैचित्र्य के कारण फिर दूसरा ही काव्यार्थों का आनन्त्य सम्पादित कर देती है। जैसे मेरा ही—

'मेरा मेरा कहते यद्यपि लोगों का समय व्यतीत हो जाता है फिर भी मधुमथन देव जनार्दन उनके मन के गोचर नहीं होते।'

इस प्रकार जैसे-जैसे निरूपित किया जाता है वैसे-वैसे काव्यार्थों का अन्त नहीं मिलता ॥७॥

(लो०) अन्यत्तु यत्तत्प्रत्युतास्माकं पक्षसाधकमित्याह—**किञ्चेति पुनरिति**। भूय इत्यर्थः। उपमा हि निभ, प्रतिम, च्छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्यसदृशाभासादिभिर्विचित्राभिरुक्तिभिर्विचित्रीभवत्येव। वस्तुत एतासामुक्तीनामर्थवैचित्र्यस्य विद्यमानत्वात्। नियमेन भानयोगाद्धि निभशब्दः, तदनुकारतया तु प्रतिमशब्द इत्येवं सर्वत्र वाच्यं केवलं बालोपयोगि काव्यटीकापरिशीलनदौरात्म्यादेषु पर्यायत्वभ्रम इतिभावः। एवमर्थानन्त्यमलङ्कारानन्त्यञ्च भणितिवैचित्र्याद्भवति। अन्यथापि च तत्ततो भवतीति दर्शयति **भणितिश्चेति**। प्रतिनियताया भाषाया गोचरो योऽर्थस्तत्कृतं यद्वैचित्र्यं तन्निबन्धनं निमित्तं यस्य, अलङ्काराणां काव्यार्थानाञ्चानन्त्यस्य। तत्कर्मभूतं भणितिवैत्रित्र्यं कर्तृभूतमापादयतीति सम्बन्धः। कर्मणो विशेषणच्छलेन हेतुर्दर्शितः।

मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरो भवति मनसः॥

मधुमथन इति योऽनवरतं भणति, तस्य कथन्न देवो मनोगोचरो भवतीति विरोधालङ्कारच्छाया। सैन्धवभाषया महमह इत्यनया भणित्या समुन्मेषिता॥ ७॥

(अनु०) और जो कुछ है वह प्रत्युत हमारे पक्ष को ही सिद्ध करनेवाला है यह कहते हैं —'और भी' 'अर्थात् फिर' उपमा निस्सन्देह निभ, प्रतिम, छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृश, आभास इत्यादि विचित्र उक्तियों से विचित्र हो ही जाती है। क्योंकि वस्तुतः इन उक्तियों का अर्थवैचित्र्य विद्यमान ही है। नियम से भान का योग होने से निभ शब्द; उसका अनुकरण होने से प्रतिम शब्द इस प्रकार सर्वत्र कहा जाना चाहिये। केवल बालोपयोगी काव्यटीकाओं के परिशीलन के दौरात्म्य से इनमें पर्यायत्व का भ्रम है यह भाव है। इस प्रकार अर्थानन्त्य और अलङ्कारानन्त्य यह भणिति वैचित्र्य से निस्सन्देह हो जाता है। अन्यथा भी वह भणितिवैचित्र्य से हो जाता है यह दिखलाते हैं—'और भणिति' यह। प्रतिनियत भाषा में गोचर अर्थात् वाच्य जो अर्थ उससे किया हुआ जो वैचित्र्य वह है निबन्धन अर्थात् निमित्त

जिसका अर्थात् अलङ्कारों के और काव्यार्थ के आनन्त्यका। उस कर्मभूत को कर्तृभूत भणिति वैचित्र्य सम्पादित कर देता है यह भाव है। कर्म के विशेष के बहाने हेतु दिखलाया गया है। 'मम मम—मनसः' यह छाया है। 'मधुमथन' यह जो निरन्तर कहता है देव उसके मनोगोचर क्यों नहीं होते यह विरोध अलङ्कार की छाया है। सैन्धव भाषा के द्वारा 'महमह' इस उक्ति से प्रकट की गई है ॥ ७ ॥

प्रत्येक दार्शनिक की दृष्टि में शब्द का विशिष्ट अर्थ ही मानना पड़ेगा

तारावती—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह है कि यद्यपि अनेक विचारक पद की शक्ति सामान्य में मानते हैं तथापि वाक्यार्थ की दृष्टि से उन्हें विशेष में शक्ति माननी ही पड़ेगी। पदों का अर्थ आप चाहे जो मानें (१) चाहे आप मीमांसकों के अनुसार यह मानें कि 'जिस शब्द से नियमित रूप से जो प्रतीत होता है वह उसका वाच्य होता है' जैसे, गाय लाओ इस वाक्य में गाय शब्द का वाच्य गोत्व है' (अर्थसंग्रह) अतः मीमांसकों के अनुसार सामान्य में शक्ति मानें; (२) चाहे नैय्यायिकों के अनुसार जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानें; (३) चाहे बौद्धों के अनुसार अपोह को पदार्थ के रूप में स्वीकार करें अर्थात् यह मानें कि गो इत्यादि शब्दों का अर्थ अश्व इत्यादि का परित्याग होता है, हम चाहे जिस सिद्धान्त तथा चाहे जिस वाद को स्वीकार करें हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि पदार्थ के मानने में चाहे जैसा वैमत्य क्यों न हो वाक्यार्थ विशिष्ट में ही होता है और वाक्य से विशेष अर्थ की ही प्रतीति होती है इस विषय में किसी भी वादी को वैमत्य नहीं है। (१) चाहे हम अन्विताभिधान के अनुसार यह मानें कि शब्द की अन्वित में शक्ति होती है चाहे (२) तद्विपर्यय अर्थात् अभिहितान्वय के अनुसार अभिहितों का अन्वय स्वीकार करें, (३) चाहे नामार्थों का संसर्गविधा से अन्वय मानें (देखिये व्युत्पत्तिवाद, प्र० प्रकरण) और चाहे (४) भेदसम्बन्ध का सिद्धान्त मानें अथवा इसी प्रकार की कोई और वाक्यार्थ की व्याख्या करें, प्रत्येक अवस्था में इस तथ्य का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता कि वाक्य सर्वदा विशिष्ट अर्थ का ही अभिधायक होता है। इस विषय में किसी सिद्धान्ती का वैमत्य है ही नहीं। केवल उक्तिवैचित्र्य के आधार तक ही काव्य की अनन्तता सीमित नहीं होती और न यह कहा ही जा सकता है कि किसी वाक्य में शब्दों के पर्याय रख देने से ही उसमें उक्तिवैचित्र्य आ जाता है। उक्तिवैचित्र्य तो तभी हो सकता है जब वाच्यवैचित्र्य हो। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि—

'यदि आप वाल्मीकि को छोड़कर किसी एक कवि को भी कविरूप में स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि अर्थ की दिशा में उसकी प्रतिभा प्रस्फुरित हुई है तो यही बात आपको सभी कवियों के विषय में माननी पड़ेगी तथा इस प्रकार काव्य की अनन्तता स्वतः सिद्ध हो जायेगी। यदि वाल्मीकि से भिन्न किसी एक कवि को भी आप कवि नहीं मानते तो दूसरी बात है।'

काव्य की अनन्तता में उक्तिवैचित्र्य का योग

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे काव्य की अनन्तता पूर्णरूप से प्रतिपादित हो जाती

है। और भी बहुत सी बातें हैं जो काव्य की अनन्तता का प्रतिपादन करने की ओर अग्रसर करती हैं। आपने जो उक्तिवैचित्र्य की बात कही है वह भी निस्सन्देह काव्य की अनन्तता का ही निष्कर्ष निकालती है। क्योंकि हमने ऊपर बहुत से हेतु ऐसे दिखलाये हैं जो कि काव्यार्थ की अनन्तता का प्रतिपादन करते हैं उन सब प्रकारों के साथ जब उक्तिवैचित्र्य भी सम्मिलित हो जाता है तब काव्यार्थों की अनन्तता और दूनी हो जाती है। उपमा श्लेष इत्यादि बहुत से अलंकार गिनाये गये हैं। एक तो इन अलंकारों की संख्या ही बहुत अधिक है। फिर इनके भेदोपभेद असंख्य हो जाते हैं। उन भेदोपभेदों के साथ जब अन्य अलंकारों का प्रवर्तन होता जाता है तब सिद्ध होता है कि उनकी कोई निश्चित संख्या ही नहीं, वे असंख्य हैं। फिर उन अलंकारों का सङ्कर या संसृष्टि होती है, दो-दो अलंकारों का सङ्कर, तीन-तीन का, चार-चार का, इस प्रकार अलंकारों के प्रयोग की कोई सीमा ही नहीं रह जाती। इतना ही नहीं एक एक अलंकार के प्रयोग के भी इतने रूप हो सकते हैं कि उनका अन्त मिलता ही नहीं। उदाहरण के लिये उपमा को ही लीजिये—इसको प्रकट करनेवाले बहुत से शब्द हैं—निभ, प्रतिम, छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृश, आभास इत्यादि। इन सब विचित्र प्रकार की उक्तियों से स्वयं उपमा अलंकार विचित्र हो ही जाता है। यह भी बात नहीं कि उपमा वाचक इन सब शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर न हो। सूक्ष्म अन्तर तो इन सभी अर्थों में पाया ही जाता है 'निभ' शब्द का अर्थ है नियम से भान होना। प्रतिम शब्द का अर्थ है—'प्रति' अर्थात् 'ओर' और 'मा' अर्थात् नापना अर्थात् जिसकी ओर करके कोई वस्तु नापी जाय, आशय यह है कि जिसका अनुसरण किया जाय। इस प्रकार सभी अर्थ कुछ न कुछ एक दूसरे से भिन्न अवश्य हैं। किन्तु कुछ लोगों ने बच्चों को समझाने के लिए काव्य ग्रंथों की टीकायें लिखीं और उनमें उपमा वाचक सभी शब्दों को समानार्थक बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जब दूसरे लोगों ने भी उन टीकाओं को पढ़ा तो वे भी उन सब शब्दों को पर्याय समझने लगे। किन्तु यह केवल उनका भ्रम है और इस भ्रम का उत्तरदायित्व उन टीकाओं के परिशीलन पर है। वस्तुतः सभी शब्दों में कुछ न कुछ अर्थभेद होता है जिससे एक ही अलङ्कार की सैकड़ों शाखायें हो जाती हैं। इस प्रकार उक्तिवैचित्र्य का ही यह प्रभाव है कि अर्थों में भी आनन्त्य आ जाता है और अलङ्कारों में भी आनन्त्य आ जाता है।

केवल उक्तिवैचित्र्य ही भाषाभेद से भी काव्यार्थ में अनन्तता का सम्पादन करता है। संसार में संख्यातीत भाषायें हैं और सब भाषाओं की अपनी-अपनी विशेषतायें होती हैं। उन विशेषताओं से उक्तिवैचित्र्य सम्पन्न हो जाता है जिससे पुनः काव्यार्थों में अनन्तता आ जाती है। भाषा की विशेषता से अर्थानन्त्य भी हो जाता है और अलङ्कारानन्त्य भी। उदाहरण के लिये आनन्दवर्धन ने एक सिन्धी भाषा का पद्य बनाया था जिसका आशय यह है—

'लोगों का समय मधुमथन कहते ही बीतता जा रहा है तथापि देव-जनार्दन लोगों के मनोगोचर नहीं होते।'

जो लोग निरन्तर मधुमथन की ही रट लगाये रहते हैं उनको भगवान् जनार्दन मनो-गोचर नहीं होते यह विरोध है। विरोध का परिहार यह है कि 'महमह' शब्द के सिन्धी

भाषा में दो अर्थ हो सकते हैं—'मधुमथन' और 'मम मम' अर्थात् 'मेरा मेरा'। जब दूसरे अर्थ को लिया जाता है तब इस पद्य का आशय हो जाता है कि लोग मोह माया में फँसे हैं; रात दिन 'यह मेरा' 'यह मेरा' की रट लगाये रहते हैं किन्तु भगवान् जनार्दन का ध्यान नहीं करते। यह विरोध का परिहार है। इस प्रकार सिन्धी भाषा के 'मह मह' शब्द के आधार पर यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार बन गया है। इसी प्रकार भाषाओं का आश्रय लेने से भी काव्यार्थ अनन्तविध हो जाता है। जितना-जितना निरूपण किया जाय उतना-उतना काव्य की अनन्तता का ही परिचय मिलता है ॥७॥

(ध्वन्या०) इदं तूच्यते—

अवस्थादि विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।
यत्प्रदर्शितं प्राक्
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये
न तच्छक्यमपोहितुम्
तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥ ८ ॥

तदिदमत्र संक्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय—

रसभावादिसंबद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥ ९ ॥

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम् ।

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥ १० ॥

तथा हि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भूतविचित्रवस्तुप्रपञ्चा सती पुनरिदानीं परिक्षीणा परपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम् । तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते ॥ ११ ॥

(अनु०) 'अवस्था इत्यादि से विभिन्न वाच्यों का निबन्धन' जो पहले दिखलाया गया है। 'लक्ष्य में अधिकता से देखा जाता है' उसका परित्याग नहीं हो सकता 'वह तो रस के आश्रय से शोभित होता है' ॥

वह यहाँ पर सत्कवियों के उपदेश प्रसङ्ग में कहा जा रहा है—

यदि रस भाव इत्यादि से सम्बद्ध औचित्य का अनुसरण करने वाली तथा देश-काल इत्यादि से भिन्न होने वाली वस्तु का अनुमान किया जाय ॥९॥

तो दूसरे परिमित शक्ति वाले कवियों की गणना ही क्या जब कि 'सहस्र वाचस्पतियों के द्वारा सहस्रों ही यत्नों से निबद्ध की हुई वह संसारों की प्रकृति के समान क्षय को प्राप्त नहीं होती' ॥१०॥

वह इस प्रकार 'जगत् की प्रकृति अतीत कल्प परम्परा से आविर्भूत विचित्र वस्तु प्रपंच वाली होते हुए पुनः इस समय दूसरे पदार्थ के निर्माण की शक्ति परिक्षीण हो गई है यह नहीं कहा जा सकता।' उसी प्रकार यह काव्यस्थिति भी अनन्त कविमतियों के द्वारा उपभुक्त भी इस समय परिहीन नहीं होती प्रत्युत नई-नई व्युत्पत्तियों द्वारा बढ़ती जाती है ॥१०॥

(लो०) अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥

इति कारिका । अन्यस्तु ग्रन्थो मध्योपस्कारः ॥८॥

अत्र तु पादत्रयस्यार्थमनूद्य चतुर्थपादार्थोऽपूर्वतयाभिधीयते । तदित्यादि शक्तीनामित्यन्तं कारिकयोर्मध्योपस्कारः । द्वितीयकारिकायास्तुर्यं पादं व्याचष्टे—**यथा हीति** ॥९, १०॥

संवादा इति कारिकाया अर्थं नैकरूपतयेति द्वितीयम् ॥११॥

(अनु०) 'अवस्थादि ... रसाश्रयात्' यह कारिका है । अन्य ग्रन्थ का उपस्कार है ।

यहाँ तो तीन पादों के अर्थ का अनुवाद करके चौथे पाद का अर्थ अपूर्व होने के कारण कहा जा रहा है । 'तत्' यहाँ से 'शक्तीनाम्' यहाँ तक दो कारिकाओं के मध्य का उपस्कार । द्वितीयकारिका के चौथे पाद की व्याख्या करते हैं—'वह इस प्रकार इत्यादि ॥ १० ॥

'संवादास्तु' यह कारिका आद्या है; 'नैकरूपतया' यह द्वितीय है ॥ ११ ॥

काव्य की अनन्तता का उपसंहार

तारावती—८ से १० तक कारिकायें सामान्य उपसंहारात्मक हैं । न इन पर वृत्तिकार ने कोई विशेष टिप्पणी की है और न लोचनकार ने ही विशेष कुछ कहा है । इन सबका सार यह है—यह अधिकतर देखा जाता है कि वाच्यों को काव्य में अवस्था, देश, काल, स्वरूप इत्यादि के भेद से निबद्ध किया जाता है जिसका पहले परिचय दिया जा चुका है और जिसका अपलाप सम्भव ही नहीं है किन्तु उस सबकी शोभा रस के आश्रय से ही होती है शर्त यह है कि औचित्य का पालन किया जाय और रचना को रस, भाव इत्यादि से सम्बद्ध रखा जाय तो देश और काल से विभेद को प्राप्त होने वाली वस्तु की गति इतनी अनन्त हो जाती है कि साधारण सीमित शक्ति वाले कवियों का तो कहना ही क्या यदि हजारों वाचस्पति आ जावें और हजारों प्रयत्नों के द्वारा उसको निबद्ध करने की चेष्टा करें तो यह काव्यस्थिति समाप्त नहीं हो सकेगी । इसमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि संसार अनादि-काल से चला आ रहा है । अनेक कल्पों में सृष्टि की रचना करने के लिये प्रकृति का उपयोग किया गया और सर्वदा सृष्टि में विचित्र और आश्चर्यजनक वस्तुओं का ही आविर्भाव हुआ । फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे पदार्थों के निर्माण की शक्ति अब समाप्त हो गई है । उसी प्रकार कवियों की संख्यातीत बुद्धियों का समूह इस काव्यस्थिति का उपभोग करता रहा है फिर भी काव्यवस्तु समाप्त नहीं हुई प्रत्युत नवीन नवीन व्युत्पत्तियों से बढ़ती ही जा रही है ॥ ८, ९, १० ॥

(ध्वन्या०) इत्थं स्थितेऽपि—

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।

स्थितं ह्येतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः । किन्तु—

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥ ११ ॥

कथमिति चेत्—

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।

आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम् । यत्पुनःशरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम् । किञ्चिद्धि वस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम्, अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम् ।

(अनु०) ऐसा स्थित होने पर भी—'बुद्धिमानों के (वचनों में) मेल तो बहुलता से होता ही है' यह निश्चित रूप से सिद्ध है कि बुद्धिमानों की बुद्धियाँ संवादिनी ही होती हैं । किन्तु—'बुद्धिमानों के द्वारा वे सब एक रूप में नहीं माने जाने चाहिये । यदि कहो किस प्रकार ? तो—'संवाद निस्सन्देह अन्तःसादृश्य को करते हैं, फिर वह शरीरियों के प्रतिबिम्बवत्, चित्र के आकार के समान और तुल्यदेही के समान होता है ।

संवाद निस्सन्देह काव्यार्थ का कहा जाता है जो कि दूसरी काव्य वस्तु से सदृश हो । जो कि फिर शरीरियों के प्रतिबिम्बवत् आलेख्यवत् और तुल्यदेहिवत् इन तीन रूपों में व्यवस्थित है । निस्सन्देह कोई काव्यवस्तु शरीर ही दूसरी वस्तु के प्रतिबिम्ब के समान होती है, दूसरी आलेख्य के समान दूसरी तुल्य शरीर के समान ।

(लो०) किमियं राजाज्ञेत्यभिप्रायेणाशङ्कते **कथमिति । चेदिति** । अत्रोत्तरम्—**संवादो** ह्यन्येत्यनया कारिकया । एषा खण्डीकृत्य वृत्तौ व्याख्याता । शरीरिणामित्ययञ्च शब्दः प्रतिवाक्यं द्रष्टव्य इति दर्शितम् । शरीरिण इति पूर्वमेव प्रतिलब्धस्वरूपतया प्रधानभूतस्येत्यर्थः ।

(अनु०) क्या यह राजा की आज्ञा है इस अभिप्राय से शङ्का करते हैं—'कैसे' यह । 'यदि' यह । यहाँ उत्तर है—'संवादो ह्यन्य' इस कारिका से । वृत्ति में इस कारिका की खण्डित करके व्याख्या की गई है । और यह दिखलाया गया है कि 'शरीरियों की' यह शब्द प्रत्येक वाक्य में दिखलाया जाना चाहिये । 'शरीरी का' यह । अर्थात् पहले ही स्वरूप को प्राप्त हो जाने के कारण जो प्रधान है उसका ॥ १२ ॥

काव्यों में कवियों के भाव मिल जाने के हेतु

तारावती—११ वीं कारिका में यह बतलाया गया है कि अच्छे कवियों की कवितायें प्रायः एक दूसरी से मिलती ही हैं । इसका कारण यही है कि मेधावी लोगों की बुद्धियाँ एक दूसरे से मेल खाती ही हैं । अतः होता यही है कि एक कवि को जो भाव सूझता है प्रायः वही

दूसरे को भी सूझ जाता है। अतः एक कवि का भाव यदि दूसरे कवि के भाव से मिलता हुआ दिखलाई दे तो यह नहीं समझना चाहिये कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के भाव का अपहरण ही किया है और इसी आधार पर किसी कवि पर भावापहरण का दोषारोपण भी नहीं करना चाहिये। जो इस प्रकार का आक्षेप करता है वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता ॥ ११ ॥

दो कवियों के भावों में मेल के प्रकार

यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि इसमें प्रमाण क्या है कि पूर्ववर्ती कवि के भाव का परवर्ती कवि ने अपहरण नहीं किया है; पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों कवियों को निरपेक्ष भाव से कोई वस्तु सूझी है। क्या आपकी यह बात हम राजाज्ञा के समान अङ्गीकार कर लें? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये १२ वीं कारिका लिखी गई है और इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि दो भावों का मेल कितने प्रकार का होता है। इस कारिका के प्रथम पाद में 'संवाद' की परिभाषा की गई है और शेष तीन पादों में संवाद के प्रकार बतलाए गये हैं। 'संवाद' की परिभाषा है अन्य सादृश्य अर्थात् एक कवि की बुद्धि का दूसरे कवि की बुद्धि से सादृश्य अथवा एक कवि की काव्यवस्तु से दूसरे कवि की काव्यवस्तु का सादृश्य। यह सादृश्य तीन प्रकार का होता है—

प्रतिबिम्बवत् अर्थात् पहले जो काव्यवस्तु अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुकी है और इस प्रकार प्रधान पद पर आरूढ़ हो गई है उसी काव्यवस्तु को लेकर जब दूसरे काव्य लिखे जाते हैं; भाव में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता; केवल पर्यायवाचक शब्दों से वही बात कह दी जाती है तब बने बनाये काव्यशरीर का प्रतिबिम्ब दूसरे काव्य पर पड़ जाता है। इस प्रकार के काव्य की वही स्थिति होती है जो स्थिति दर्पण में मानव शरीर के सङ्क्रमण हो जाने पर उसके प्रतिबिम्ब की हुआ करती है। अतः इस प्रकार के अनुकरण रूप काव्य को प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं।

काव्यमीमांसा में प्रतिबिम्बकल्प की यह परिभाषा दी गई है :—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात् ॥ (अ० १२)

अर्थात् जहाँ सभी अर्थ पुराने कवि का ही कहा हो किन्तु वाक्यरचना दूसरे प्रकार की कर दी जाय और उसमें तात्त्विक भेद न हो उस काव्य को प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं।'

जैसे एक पुराना पद्य है :—

ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।
चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढैर्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः ॥

अर्थात् 'पशुपति के कण्ठ प्रदेश में संलग्न स्फुरित होनेवाले वे सर्प आप लोगों की रक्षा करें; जिनसे कालकूट इस प्रकार शोभित होता है मानों चन्द्र के अमृत रूपी जल के कणों से सींचकर सुखपूर्वक उस कालकूट के अङ्कुर निकल आए हों।'

इसी अर्थ को लेकर एक नवीन पद्य बनाया गया है :—

जयन्ति नीलकण्ठस्य कण्ठे नीला महाहयः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ॥

'नीलकण्ठ के कण्ठ में लगे हुये बड़े-बड़े सर्पों की जय हो जो कि गिरनेवाले गङ्गाजल से सिंचकर उगे कालकूटाङ्कुर जैसे प्रतीत होते हैं ।'

अर्थ वही है केवल शब्दभेद कर दिया गया है । (इस प्रकार के काव्य को प्रतिबिम्ब-कल्प काव्य कहते हैं ।)

अर्थापहरण काव्य का दूसरा प्रकार होता है आलेख्याकारवत् काव्यरचना ।

अर्थात् जिस प्रकार किसी मूर्त पदार्थ का कोई चित्र उतार लिया जाता है और वह चित्र वास्तविक वस्तु के बिल्कुल समानाकार मालूम पड़ता है । उस काव्य को आलेख्याकारवत् कह सकते हैं । (आलेख्याकारवत् की परिभाषा काव्यमीमांसा में इस प्रकार दी है :—

कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति ।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

अर्थात् जहाँ काव्यवस्तु तो पुरानी ही ली जाय किन्तु उसका कुछ थोड़ा सा संस्कार कर दिया जाय, जिससे वस्तु भिन्न जैसी प्रतीत होने लगे उस काव्य को अर्थचतुर लोग आलेख्यप्रख्य काव्य कहते हैं । जैसे ऊपर के ही भाव को लेकर एक दूसरा पद्य बनाया गया है :—

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ॥

'शंकर जी के जटाजूट में लम्बमान श्वेत सर्पों की जय हो, जो ऐसे शोभित होते हैं मानो गिरनेवाले गङ्गाजल से सिंचकर चन्द्ररूपीमूल से अङ्कुर निकल आए हों ।'

बात वही है किन्तु अन्तर यह पड़ गया है कि मूल पद्य में चन्द्रामृत को जल माना गया था इसमें गङ्गाजल के द्वारा सिञ्चन का उपादान किया गया है, पहले कृष्ण सर्प थे इसमें श्वेत सर्प हैं, पहले कालकूट के अङ्कुर थे इसमें चन्द्र के अङ्कुर हैं । इस प्रकार थोड़ा सा संस्कार कर देने से यह भाव कुछ नया सा हो गया है । इस प्रकार का काव्य आलेख्यप्रख्य कहलाता है ।

(३) तीसरे प्रकार का काव्य होता है तुल्यदेहिवत् अर्थात् जिस प्रकार दो व्यक्ति एक सी ही आकृति वाले होते हैं और उन दोनों को देखकर यह कहा जाता है कि दोनों की आकृति एक जैसी ही है, उसी प्रकार भावों के मेल के कारण जहाँ पर यह कहा जाता है कि दोनों पद्य एक जैसे ही हैं उस काव्य को तुल्यदेहिवत् कहते हैं (तुल्यदेहिवत् काव्य की परिभाषा काव्यमीमांसा में यह दी गई है—

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् ।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं निबध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

अर्थात् जहाँ विषय का भेद होते हुये भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद-बुद्धि भाषित होने लगती है उस काव्य को तुल्यदेहिवत् काव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य का निबन्धन बुद्धिमान् लोग भी करते हैं।

उदाहरण के लिए एक पुराना पद्य है—

अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधिः,
पशुर्धन्यस्तावत् प्रतिवसति यो जीवति सुखम्।
अमीषां निर्माणं किमपि तदमृद्गधकरिणाम्,
वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम्।

जो पशु अश्व भेड़ों को आगे करके जब तक रहता है अर्थात् अपने साथ भेड़ों को भी सुख पहुँचाता है तब तक वह सुखपूर्वक रहता है और जीता भी है ऐसा पशु धन्य है। इन भाररूप नष्ट हाथियों का निर्माण हो कैसा अर्थात् व्यर्थ हुआ जिनका निवास या तो वन में होता है या राजाओं के घर में होता है। आशय यह है कि 'जो सभी के काम नहीं आ सकते उनका जीवन व्यर्थ है।'

इसी अर्थ को लेकर एक दूसरा पद्य लिखा गया है।—

प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो मुहुरुपकरणत्वादर्चिताः पूजिताश्च।
स्फुरितहतमणीनां किन्तु तद्धाम येन क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः॥

प्रत्येक घर में पत्थरों का एक ही प्रकार है जो उपभोग का साधन होने के कारण बार-बार अर्चित किया जाता है और पूजा जाता है। किन्तु इन अभागिन मणियों का एक अद्वितीय प्रकाश स्फुरित हो रहा है। जिससे उनका निवास या तो राजभवनों में होता है या अपनी खानों में ही होता है।

यहाँ पर दोनों पद्यों का निष्कृष्टार्थ एक ही है, जीवन उसी का धन्य है जो सभी का उपकार करता है, किन्तु इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये जिन विषयवस्तुओं का उपादान किया गया है वे दोनों परस्पर भिन्न हैं। इस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे दो शरीरी अत्यन्त सादृश्य के कारण एक जैसे मालूम पड़ते हैं। अतः यह प्रकार तुल्यदेहितुल्य कहा जा सकता है।

(राजशेखर ने परार्थहरण का श्रेणीविभाजन अन्य प्रकार से किया है। उन्होंने इस दृष्टि से प्रथमतः काव्य के तीन प्रकार माने हैं—अन्ययोनि, निह्नुतयोनि और अयोनि। अन्ययोनि के दो प्रकार बतलाये हैं—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य। निह्नुतयोनि भी दो प्रकार की बतलाई है—तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेश सदृश। अयोनि को केवल एक प्रकार का ही बतलाया है। फिर इन भेदों के अवान्तर भेद किये हैं। इनका विस्तृत निरूपण काव्य-मीमांसा में किया गया है। वहीं देखना चाहिये। अनपेक्षित होने के कारण यहाँ उन पर विचार नहीं किया जा रहा है।)॥ १२॥

(ध्वन्या०) **तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।**
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥ १३ ॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना । यतस्तदनन्यात्म तात्त्विकशरीरशून्यम् । तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम् ।

(अनु०) 'उनमें पहला अनन्य आत्मा वाला और उसके बाद तुच्छ आत्मा वाला और तृतीय प्रसिद्ध आत्मा वाला होता है । कवि दूसरे के साम्य का त्याग न करे' ।। १३ ।।

उनमें पहले काव्यवस्तु प्रतिबिम्ब के समान होती है वह बुद्धिमान् के द्वारा छोड़ दी जानी चाहिये, क्योंकि वह अनन्य आत्मा वाली अर्थात् तात्त्विकशरीरशून्य होती है । उसके बाद चित्र के समान अन्यसाम्य दूसरे शरीर से युक्त भी तुच्छ आत्मा वाली होने के कारण छोड़ दी जानी चाहिये । तीसरी तो विभिन्न कमनीय शरीर के होने पर मिलती हुई भी काव्यवस्तु कवि के द्वारा छोड़ी नहीं जानी चाहिये । एक शरीरी दूसरे शरीरी के समान होते हुये भी एक ही है यह नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

(लो०) **तत्र पूर्वमितिकारिका** । अनन्या पूर्वोपनिबन्धकाव्यादात्मा स्वभावो यस्य तदनन्यात्म येन रूपेण प्रतिबिम्बं भाति तेन रूपेण बिम्बमेवैतत् । स्वयं तु तत्कीदृशमित्यत्राह—**तात्त्विकशरीरशून्यमिति** । न हि तेन किञ्चिदपूर्वमुत्प्रेक्षितं प्रतिबिम्बमप्येवमेव । एवं प्रथमं प्रकारं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे—**तदनन्तरन्त्विति** । द्वितीयमित्यर्थः । अन्येन साम्यं यस्य तत्तथा । **तुच्छात्मेति** । अनुकारे ह्यनुकार्यबुद्धिरेव चित्रपुस्तादाविव न तु सिन्दूरादिबुद्धिः स्फुरति, सापि च चारुत्वायेति भावः ॥१३॥

(अनु०) 'तत्र पूर्वम्.......' इत्यादि कारिका है । पहले उपनिबन्धन किये हुए काव्य से अनन्य है आत्मा अर्थात् स्वभाव जिसका, वह है अनन्यात्म, वह जिस रूप से शोभित होता है वह रूप दूसरे कवि का स्पर्श किया हुआ ही है । अर्थात् जिस प्रकार जिस रूप में प्रतिबिम्ब शोभित होता है उस रूप में यह बिम्ब ही है । स्वयं वह किस प्रकार का है इसमें कहते हैं—'तात्त्विकशरीरशून्य' यह । उसके द्वारा किसी अपूर्व की कल्पना नहीं की गई । प्रतिबिम्ब भी तो ऐसा ही है । इस प्रकार प्रथम प्रकार की व्याख्या करके द्वितीय की व्याख्या करते हैं—'तदनन्तर तो' यह । अर्थात् द्वितीय । अन्य से है साम्य जिसका वह उस प्रकार का । 'तुच्छात्म' यह । अनुकरण में चित्रलिखित किसी कलाकृति के समान अनुकार्य बुद्धि स्फुरित होती है; सिन्दूर इत्यादि की बुद्धि नहीं और वह भी चारुता के लिये नहीं होती ॥१३॥

प्रकारों की उपादेयता पर विचार

तारावती—१२वीं कारिका में यह दिखलाया गया था कि कितने प्रकार के सम्वाद

हो सकते हैं। अब इस तेरहवीं कारिका में उनकी उपादेयता के तारतम्य पर विचार किया जा रहा है। इस कारिका में यह बतलाया गया है कि सम्वाद का पहला रूप होता है—प्रतिबिम्बकल्प अर्थात् जिस प्रकार दर्पण में संक्रान्त प्रतिमा प्रतिबिम्ब कहलाती है उसी प्रकार जब किसी पुराने कवि की कविता नये कवि के बुद्धिदर्पण में उसी रूप में संक्रान्त हो जाती है तब उसे प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं। बुद्धिमान् कवि का कर्तव्य है कि इस प्रकार के काव्यनिर्माण से सदा दूर रहे, क्योंकि उसकी कोई दूसरी आत्मा नहीं होती। आशय यह है कि जिस प्रकार दर्पण में संक्रान्त प्रतिमा स्वरूपहीन होती है और उसका वही स्वरूप माना जाता है जो वास्तविक वस्तु का होता है। उसी प्रकार बाद के कवि के लिखे हुए काव्य का स्वरूप, स्वभाव अथवा आत्मा उससे भिन्न नहीं होती जो कि पहले उपनिबद्ध काव्य में विद्यमान थी। प्रतिबिम्ब छाया मात्र होता है उसका तात्त्विक शरीर नहीं होता। उस रूप में तो वह बिम्ब ही होता है। इस प्रकार के काव्य की रचना करने वाले को स्वयं कुछ भी श्रेय नहीं मिलता; उसका तो कार्य केवल इतना ही होता है कि दूसरे की कही हुई बात को अपने शब्दों में पाठकों तक पहुँचा दे। अतः महत्त्व तो पूर्ववर्ती कवि को ही मिलता है। अत एव कवियों का यह कर्तव्य है कि जिसके लिए लोग यह कहें कि इसने तो कोई नई कल्पना नहीं की इस प्रकार के काव्य की रचना में कभी प्रवृत्त न हो।

दूसरे प्रकार का काव्य आलेख्यप्रख्य होता है। अर्थात् चित्र के समान उसमें कुछ थोड़े से संस्कारों को बदलकर वही बात दूसरे रूप में कही जाती है। इस काव्य का शरीर तो दूसरा अवश्य होता है; किन्तु इसमें भी दूसरे की समानता बनी रहती है। अतः इसका स्वरूप या स्वभाव अथवा आत्मा अत्यन्त तुच्छ होता है; क्योंकि अनुकरण करने में प्रधानता तो उसी की रहती है जिसका अनुकरण किया जाता है। जैसे यदि सिन्दूर इत्यादि से कोई कलात्मक वस्तु बनाई जाय तो उसे देखकर एकदम मुँह से निकल जाता है कि यह घोड़ा इत्यादि अमुक वस्तु है और ध्यान भी उसी की ओर जाता है जिसका वह चित्र बना होता है। सिन्दूर इत्यादि की ओर ध्यान प्रायः जाता ही नहीं। उसी प्रकार किसी ऐसे काव्य को पढ़कर जिसमें पुराने काव्य की छाया कुछ विभिन्नता के साथ दृष्टिगत हो रही हो, उस पुराने काव्य पर ही ध्यान जाता है। यह काव्य तुच्छ आत्मा वाला होता है अतः इसकी रचना में भी कवि को प्रवृत्त नहीं होना चाहिए क्योंकि उसमें भी कोई चारुता नहीं होती।

तीसरे प्रकार का काव्य वह होता है जिसमें या तो केवल अभिव्यङ्ग्यार्थ का साम्य हुआ करता है, (वैसे दोनों के अभिव्यञ्जक वस्तुतत्त्व भिन्न-भिन्न ही होते हैं) या ध्वनितत्त्व भिन्न होते हैं दोनों का अभिव्यंजकतत्त्व एक ही होता है। दोनों को देखने से यह मालूम पड़ता है कि दोनों भाव समान हैं। यद्यपि यह समानता एक दूसरे से ली हुई नहीं मालूम पड़ती, अपितु जैसे दो आकृतियाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी सांयोगिक रूप में एक दूसरे से मिलती हुई प्रतीत होती हैं उसी प्रकार उन भावों का साम्य भी अवगत होता है। इस प्रकार यदि उनकी अपनी सत्ता पृथक्-पृथक् हो और दोनों का कमनीय कलेवर भी एक दूसरे से निरपेक्ष होकर स्थित हो तो यदि काव्यवस्तु मेल भी खाती हो तो भी कवि को उसका परि-

त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि दो समान आकृतियों को देखकर यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार वहाँ पर परवर्ती काव्य को पूर्ववर्ती से मिलता हुआ देखकर कोई नहीं कह सकता कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के आशय का अपहरण किया है। कारण यह है कि दोनों के कलेवर भिन्न होते हैं ॥१३॥

(ध्वन्या०) एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥ १४ ॥

तत्त्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम्। पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्णाति। न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते। तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥ १४ ॥

(अनु०) इसी को उपपादित करने के लिये कहते हैं—

'पूर्वस्थिति का अनुगमन करने वाली वस्तु अन्य आत्मा के होने पर तन्वी के चन्द्रमा की छायावाले मुख के समान अत्यन्त शोभित होती है ॥१४॥

तत्त्व के अर्थात् सारभूत दूसरी आत्मा के होने पर पूर्वस्थिति का अनुगमन करने वाली वस्तु भी अत्यन्त शोभित होती है। पुरानी रमणीय अनुगृहीत वस्तु निस्सन्देह शरीर के समान परा शोभा को पुष्ट करती है, पुनरुक्तत्व के रूप में तो अवभासित नहीं होती। जैसे तन्वी का चन्द्रमा की छाया वाला मुख ॥१४॥

(लो०) एतदेवेति। तृतीयस्य रूपस्यात्याज्यत्वम्। आत्मनोऽन्यस्येतिकारिका खण्डीकृत्य वृत्तौ पठिता। केषुचित्पुस्तकेषु कारिका अखण्डीकृता एव दृश्यन्ते। आत्मन इत्यस्य शब्दस्य पूर्वपठिताभ्यामेव तत्त्वस्य सारभूतस्येति च पदाभ्यामर्थो निरूपितः ॥ १४ ॥

(अनु०) 'इसी को' अर्थात् तृतीय रूप की आत्मान्यता को। 'आत्मनोन्यस्य' यह कारिका वृत्त में खण्डित करके ही पढ़ी गई है। किन्हीं पुस्तकों में कारिकायें अखण्डीकृत ही दिखलाई देती है। 'आत्मा का' इस शब्द का पहले पढ़े हुए 'तत्त्वस्य' और 'सारभूतस्य' इन दो पदों से अर्थ निरूपित किया गया है ॥१४॥

पूर्वस्थिति का अनुयायी भी काव्य आत्मतत्त्व के भिन्न होने पर सदोष नहीं माना जा सकता

तारावती—ऊपर बतलाया गया है कि प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य रचना करने से कवि निन्दनीय हो जाता है, किन्तु यदि तुल्यदेहितुल्य रचना की जाय तो कवि को दोष नहीं होता। अब इस १४वीं कारिका में उसी बात को सिद्ध किया जा रहा है कि तुल्यदेहितुल्य काव्यरचना करने में कवि का दोष नहीं होता। कारिका का सार यह है कि 'काव्य की आत्मा दूसरी होनी चाहिए। आत्मा का अर्थ है तत्त्व अथवा सार रूप अंश। यदि इस

प्रकार की आत्मा में तादात्म्य नहीं होता तो वह काव्य नवीन ही कहा जाता है फिर चाहे उस काव्य का निर्माण किसी पुराने काव्य की छाया पर ही हुआ हो। उदाहरण के लिए सुन्दरियों के मुख चन्द्र के समान हुआ करते हैं, उनमें भी पूर्णचन्द्र की जैसी आकृति और वैसी ही रमणीयता विद्यमान रहती है। किन्तु उनमें लावण्य का भेद होता है। नायिकाओं के मुख पर एक ऐसी यौवनजन्य चमक आह्लादकता होती है जैसी चन्द्र में नहीं होती। चन्द्र का लावण्य दूसरे ही प्रकार का होता है। इस प्रकार यद्यपि नायिकाओं के मुख का निर्माण पूर्णचन्द्र का जैसा ही हुआ है फिर भी लावण्य का भेद होने के कारण यह कोई नहीं कहता कि चन्द्र और मुख दोनों एक ही वस्तु हैं। यह पहले ही (प्रथम उद्योत में) बतलाया जा चुका है कि काव्य का ध्वनि तत्त्व (प्रधानीभूत प्रतीयमान अर्थ) ललनाओं के लावण्य के समान हुआ करता है। अतः यदि वह तत्त्व भिन्न हो तो जिस प्रकार ललनाओं का लावण्यमय मुखचन्द्र पुनरुक्त नहीं मालूम पड़ता उसी प्रकार नवीन काव्य भी पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता।' आशय यह है कि जिस काव्य से भावापहरण किया गया हो उसमें भी सङ्घटनाजन्य एक रमणीयता विद्यमान ही होती है उस रमणीय वस्तु का उपादान कर यदि नवीन काव्य की रचना की जाय और उसमें आत्मा को बदल दिया जाय तो काव्य पुराना नहीं, नया ही मालुम पड़ता है। जैसे सभी शरीरों की बनावट एक जैसी होती है किन्तु रमणियों का लावण्य ही प्रत्येक की आकर्षकता में विभाजक-तत्त्व का काम देता है। पुराने अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त भी शरीर नये लावण्य को पाकर नया हो जाता है। ऐसा ही काव्य के विषय में भी समझना चाहिए।

यहाँ पर 'आत्मनः' इस शब्द की व्याख्या करने के लिए ही वृत्तिकार ने 'तत्त्वस्य' और 'सारभूतस्य' इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुतः पर्यायवाचक शब्द बाद में लिखे जाते हैं, किन्तु यहाँ पर वृत्तिकार ने 'आत्मनः' के पहले इनको लिख दिया है। कहीं-कहीं इस कारिका को दो भागों में खण्डित करके भी पढ़ा गया है अर्थात् पहली पंक्ति के बाद वृत्ति 'तत्त्वस्य........पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि' यह पंक्ति आई है। फिर दूसरी पंक्ति लिखकर वृत्ति का शेष भाग लिखा गया है। ऐसी दशा में भी अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता।

[ऊपर अर्थ हरण पर पूरा प्रकाश डाला गया है और उसके प्रयोजनों पर भी दृष्टिपात किया गया है। इसके प्रयोजनों के विषय में राजशेखर ने काव्यमीमांसा में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है जिसका सार यह है—

आचार्यों का कहना है कि 'पुराने कवियों के द्वारा भली भाँति अभ्यस्त मार्ग में ऐसी वस्तु को प्राप्त करना ही कठिन है जिसका पहले स्पर्श न किया गया हो। अतः पुराने कवियों के द्वारा अभ्यस्त मार्ग का संस्कार करने की चेष्टा करनी चाहिए।' इस पर वाक्पतिराज का कहना है कि ऐसा नहीं होता क्योंकि—

'संसार की प्रगति पर्यन्त (उसको मर्यादा मानकर) उदार कवि प्रतिदिन उसका सार ग्रहण करते रहते हैं फिर भी वाणी के प्रवाह की मुहर आज तक नहीं टूटी।'

अतः "दुर्लभ और अस्पृष्ट वस्तु को स्पष्ट करने के लिये दूसरों के प्रबन्ध पढ़ने चाहिये।" कुछ लोगों का कहना है कि "दूसरों के प्रबन्धों को पढ़ने से यह बात मालूम पड़ जाती है कि जो एकरूप भाव विभिन्न काव्यों में आ गये हैं उनमें पार्थक्य कहाँ-कहाँ पर क्या-क्या है ?" दूसरे लोग कहते हैं कि 'विभिन्न काव्यों में पढ़े हुये अर्थों का नवीन छाया के द्वारा परिवर्तन कर लेना ही प्राचीन काव्यग्रन्थों के पढ़ने का फल है।' कुछ लोग कहते हैं कि 'महात्माओं की बुद्धियाँ मेल खाने वाली होती हैं और वे एक समान अर्थ को उपस्थित करती हैं, अतः अपने काव्यों में पुरानी बातें न आ जायँ इसके लिये पुराने काव्यों को पढ़ना चाहिये।' इस पर यायावरीय राजशेखर का कहना है कि ऐसा नहीं होता। आचार्य इत्यादिकों ने जो कुछ कहा है वह सब ठीक नहीं है। कारण यह है कि कवियों के नेत्र सरस्वती के तत्त्व से ओतप्रोत होते हैं। उनको भी योगियों की समाधि का वरदान प्राप्त हुआ रहता है। उनकी भी समाधि लोकोत्तर होती है जहाँ न वाणी जा सकती है और न मन। कवियों के ऐसे विलक्षण नेत्र समस्त अर्थ-तत्त्व को उनके सामने स्पष्ट कर देते हैं और उन्हें स्वयं वे सब तत्त्व दिखलाई पड़ जाते हैं जिनको पुराने कवि देख चुके होते हैं या नहीं देख चुके होते हैं। (तुलसी ने अपनी काव्य-रचना में इसी सारस्वत चक्षु का सहारा लिया था किन्तु दिव्य दर्शन का श्रेय गुरु की चरणरज को दिया था :—

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष विभञ्जन ॥
तेहिकरि विमल विवेक विलोचन। वरणौं रामचरित भव मोचन ॥

यथा सुअञ्जन आंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहि शैल वन भूतल भूरि निधान ॥)

राजशेखर का कहना है कि—'यदि महाकवि सो भी रहा हो तो भी सरस्वती उसके सामने शब्द और अर्थ को प्रकट कर देती है। दूसरे लोग यदि जाग भी रहे हों तो भी उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं। महाकवि औरों के देखे हुए अर्थ में जन्मना अन्धे होते हैं और दूसरों के द्वारा अदृष्ट अर्थ में उन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। न तो त्रिनेत्र शंकर और न सहस्राक्ष इन्द्र उस वस्तु को देख पाते हैं जिसको चर्मचक्षु वाले कवि लोग देख लेते हैं। सारा विश्व कवियों के मति-दर्पण में प्रतिफलित हो जाता है। महात्मा कवियों के सामने शब्द और अर्थ 'मैं पहले जाऊँ मैं पहले जाऊँ' इस होड़ के साथ आगे दौड़ते चले आते हैं कि मैं कैसे देख लिया जाऊँ। सिद्ध प्रणिधान वाले योगी जिसको देखते हैं कवि उसमें वाणी के द्वारा विहार करते हैं। इस प्रकार कवियों की सूक्तियों का अन्त नहीं मिल सकता।'] ॥ १४ ॥

(ध्वन्या०) एवं तावत्ससंवादानां समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः। पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥ १५ ॥

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानि चिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि।

(अनु०) इस प्रकार संवाद से युक्त समुदायरूप वाक्यार्थों की सीमाएँ विभक्त ही गईं। (अब) पदार्थरूप दूसरी वस्तु के समान काव्यवस्तुओं को दोष नहीं है यह प्रतिपादित करने के लिये कह रहे हैं—

'अक्षर इत्यादि की रचना के समान स्फुरित होने वाली नूतन काव्यवस्तु में पुरानी वस्तुरचना संयुक्त की जाती है वह स्पष्ट रूप में ही निस्सन्देह दूषित नहीं होती'॥ १५॥

वाचस्पति के द्वारा भी कुछ अपूर्व अक्षर या पद सङ्घटित नहीं किये जा सकते। वे तो उसी रूप में उपनिबद्ध किये हुये नवीनता के विरुद्ध नहीं जाते। उसी प्रकार पदार्थरूप श्लेषादिमय अर्थतत्त्व भी॥ १५॥

(लो०) ससंवादानामिति पाठः। संवादानामिति तु पाठे वाक्यार्थरूपाणां समुदायानां ये संवादाः तेषामितिवैय्यधिकरण्येन सङ्गतिः। वस्तुशब्देन एको वा द्वौ वा त्रयो वा चतुरादयो वा पदानामर्थाः। **तानि त्विति।** अक्षराणि च पदानि च। **तान्येवेति।** तेनैव रूपेण युक्तानि मनागप्यन्यरूपतामनागतानीत्यर्थः। एवमक्षरादिरचनैवेति दृष्टान्तभागं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयति—**तथैवेति। श्लेषादिमयानीति।** श्लेषादिस्वभावानीत्यर्थः। सद्वृत्ततेजस्विगुणद्विजादयो हि शब्दाः पूर्वपूर्वैरपि कविसहस्रैः श्लेषच्छायापथा निबध्यन्ते, निबद्धाश्चन्द्रादयश्चोपमानत्वेन। तथैव पदार्थरूपाणीत्यत्र नापूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते इत्यादिविरुध्यन्तीत्येवमन्तं प्राक्तनं वाक्यमभिसन्धानीयम्॥

(अनु०) 'ससंवादानाम्' यह पाठ है। 'संवादानाम्' इस पाठ में तो वाक्यार्थरूप समुदायों के जो संवाद उनका इस वैय्यधिकरण्य से सङ्गति होगी। वस्तु शब्द से एक अथवा दो अथवा तीन अथवा चार इत्यादि पदों के अर्थ लिये जाते हैं। 'वे तो' यह। अर्थात् उसी रूप से युक्त तथा थोड़ी भी अन्यरूपता को न प्राप्त हुये। इस प्रकार 'अक्षरादिरचना ही' इस दृष्टान्त भाग की व्याख्या करके दार्ष्टान्तिक में जोड़ते हैं—'उसी प्रकार' यह। 'श्लेषादिमय' यह अर्थात् श्लेष आदि स्वभाव वाले। सद्वृत्त, तेजस्वि, गुण, द्विज इत्यादि शब्द पुराने भी सहस्रों कवियों के द्वारा श्लेष की छाया से निबद्ध किये जाते हैं। और चन्द्र इत्यादि उपमानत्व के रूप में निबद्ध किये गये हैं। 'उसी प्रकार पदार्थरूप' यहाँ पर 'अपूर्वरूप में घटित नहीं किये जा सकते' यहाँ से 'विरुद्ध होते हैं, यहाँ तक पहले के वाक्य का भी अभिसन्धान कर लेना चाहिए॥ १५॥

वस्तुयोजना के मेल में तो दोष होता ही नहीं

तारावती—ऊपर यह बतलाया गया है कि वाक्यार्थ जो कि शब्दार्थ समुदायरूप होते हैं यदि एक दूसरे से मेल खा रहे हों अर्थात् एक कवि का शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ दूसरे कवि

के शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ से मेल खा रहा हो तो उसकी सीमायें क्या-क्या होती हैं और कौन सा प्रकार उपादेय है तथा कौन सा प्रकार त्याज्य है। अब इस कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि यदि काव्यवस्तु पदार्थ की दिशा में दूसरी वस्तु के समान हो तो उसके मेल खाने में पौनरुक्त्य इत्यादि दोष तो होते ही नहीं। यहाँ पर वृत्तिग्रन्थ का दो प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—'ससंवादानाम्' और 'संवादानाम्'। यदि पहला पाठ माना जाय तो 'ससंवादानाम्' शब्द 'वाक्यार्थानाम्' का विशेषण होगा और यदि दूसरा पाठ माना जाय तो 'समुदायरूपाणां वाक्यार्थानाम्' यह 'संवादानाम्' का सम्बन्धी होगा। ऐसी दशा में इसका अन्वयार्थ इस प्रकार किया जायेगा—'समुदायरूप वाक्यार्थों के जो संवाद उनका'। प्रथम पाठ में समानाधिकरण्य है और दूसरे में वैय्यधिकरण्य। आशय में कोई भेद नहीं। इस कारिका का भाव यह है कि—रचना करने वाले स्वयं वाचस्पति ही क्यों न हों किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि वे पुराने अक्षर न लिखें यह हो ही नहीं सकता कि अक्षर भी नये कल्पित कर लिये जायँ और उन्हीं का प्रयोग किया जाय। अक्षर पुराने ही जोड़े जाते हैं। इसी प्रकार वाङ्मय में जो शब्द निश्चित हैं उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यह भी सम्भव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने नये शब्द बनाया करे और उन्हीं का प्रयोग किया करे। आशय यह है कि पुराने ही अक्षरों का प्रयोग किया जाता है और पुराने ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु इस तथ्य के आधार पर यह कोई नहीं कहता कि कवि ने कोई नई बात नहीं कही है। पुराने अक्षरों और पदों का प्रयोग नवीनता का विरोधी नहीं होता। उसी प्रकार जब नवीन रूप में स्फुरित होने वाली काव्यवस्तु में पुरानी वस्तुरचना संयोजित की जाती है तब स्पष्ट ही उसमें पौनरुक्त्य का दोष नहीं होता। यहाँ पर 'वस्तुरचना' शब्द में वस्तु का आशय यह है कि बहुत से शब्दों के अर्थ एक होते हैं, बहुतों के दो, बहुतों के तीन, बहुतों के चार या इससे भी अधिक होते हैं। इस प्रकार के शब्दों के आधार पर जहाँ पुरानी वस्तुरचना संयुक्त की जाती है और उसका पर्यवसान नवीनता में होता है, वहाँ पर दोष नहीं होता। वे अक्षर और पद वे ही अर्थात् अपने ही रूप में निबद्ध किये जाते हैं और उनमें थोड़ी भी अन्यरूपता नहीं आती। यह है दृष्टान्त। इसका दार्ष्टान्तिक यह है कि उसी प्रकार शब्द पर आधृत कोई अर्थतत्त्व भी जब पुराना ही होता है और नया कवि उसे नई भङ्गिमा के साथ प्रस्तुत करता है तब उनमें भी पुरानापन नहीं रह जाता। श्लेषादिमय अर्थ-तत्त्वों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सहस्रों कवि अनेक परम्पराप्राप्त श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं जैसे सद्वृत्त के अर्थ हैं सदाचारी, गुणवान्, वर्तुलाकार, सदाचार, सत्स्वभाव इत्यादि। इसी प्रकार तेजस्वी शब्द के अर्थ हैं—प्रकाशमान, शक्तिशाली, उदात्त, प्रदीप्त, अभिमानी इत्यादि। गुण शब्द भी अनेक रूपों में प्रयोग किया जाता है—सामान्य विशेषता, अच्छी विशेषता, उपयोग (कः स्थानलाभे गुणः ?), परिणाम, सूत्र, धनुर्ज्या इत्यादि। द्विज के अर्थ हैं पक्षी, दाँत, नक्षत्र इत्यादि। श्लेष के लिए कवि लोग प्रायः इन्हीं तथा इन जैसे दूसरे शब्दों का आश्रय लिया करते हैं जैसे शिलीमुख, हरि, कौशिक, विष, कमल इत्यादि। अनेकशः इन शब्दों का श्लेषमयी रचना के लिये प्रयोग होता है किन्तु इनमें पुरानापन नहीं आता। इसी प्रकार मुख

के लिए चन्द्र और कमल; नेत्रों के लिये इन्दीवर, खञ्जन, हरिण; स्तनों के लिए कलश, पर्वत; केशों के लिए मयूरकलाप, भृङ्ग, तिमिर, सर्प इत्यादि की उपमायें अनादि काल से दी जाती रही हैं। किन्तु इनमें कभी पुरानापन नहीं आया। इस पुरानेपन न आने का कारण यही है कि पद्यों में पदार्थवस्तु के पुराने होते हुये भी उनकी अन्तरात्मा नई ही होती है। यहाँ पर वृत्तिग्रन्थ का अन्तिम वाक्य पिछले वाक्यों के सन्दर्भ में उनसे मिलाकर पढ़ा जाना चाहिए। इस प्रकार पूरा वाक्य यह हो जायेगा—'तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि न हि कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति' इस वाक्य का आशय यही है कि जिस प्रकार महान् से महान् कवि नये अक्षर नहीं लिख सकता या नये शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकता अपितु पुराने अक्षरों और पुराने शब्दों का ही प्रयोग किया करता है फिर भी नवीनता में न्यूनता नहीं आती। उसी प्रकार कवि शब्दों के अर्थों और श्लेष इत्यादि के क्षेत्र में परम्परा का ही पालन करता रहता है और पुराने अर्थों को ही लिखता रहता है फिर भी उसकी नवीनता त्रुटित नहीं हो जाती। इस समस्त कारिका को लिखने का मन्तव्य यह बतलाना है कि पिछली कारिकाओं में समस्त वाक्यार्थ के अपहरण करने पर भी कवि किस प्रकार नवीन बना रह सकता है यह बतलाया गया है तथा इस कारिका में यह बतलाया गया है कि उसी प्रकार विशिष्ट पदों के अर्थों का अपहरण करके भी कवि नवीन बना रह सकता है ॥ १५ ॥

(ध्वन्या०) तस्मात्—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्—
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥

तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तुतादृक्तादृक्षं सुकविर्विवक्षितव्यङ्ग्यवाच्यार्थसमर्पणसमर्थशब्दरचनारूपया बन्धच्छाययोपनिबध्नन् निन्द्यतां नैव याति ॥१६॥

(अनु०) उससे—

'जहाँ लोक की यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि यह कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे जो हो रमणीय होता है।'

यह कोई स्फुरण है अतः सहृदयों में चमत्कार उत्पन्न होता है।

'सुकवि उस प्रकार की वस्तु को पूर्वच्छाया के रूप में भी उपनिबद्ध करते हुए निन्द्यता को प्राप्त नहीं होता' ॥१६॥

तो पूर्वच्छाया से अनुगत भी उस प्रकार की वस्तु विवक्षित व्यङ्ग्य और वाच्य अर्थ के समर्पण में समर्थ शब्दरचनारूप बन्धच्छाया के द्वारा उपनिबद्ध करते हुए कवि निन्द्यता को प्राप्त नहीं होता।

(लो०) लोकस्येति व्याचष्टे—**सहृदयानामिति** । **चमत्कृतिरिति** । आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यर्थः अभ्युज्जिहति इति व्याचष्टे—**उत्पद्यत इति** । उदेतीत्यर्थः । बुद्धेरेवाकारं दर्शयति—**स्फुरणेयं काचिदिति** । 'यदपि तदपि रम्यं.........नोपयाति' इति कारिका खण्डीकृत्य पठिता ।

(अनु०) 'लोक की' इसकी व्याख्या करते हैं—'सहृदयों का' यह । 'चमत्कृति' यह । अर्थात् आस्वादप्रधाना बुद्धि । 'अभ्युज्जिहीते' इसकी व्याख्या करते हैं—'उत्पन्न होती है' । अर्थात् उदय होती है । बुद्धि के ही आकार को दिखलाते हैं—'यह कोई सम्मुख है ।' 'यदपि तदपि रम्यं....नोपयाति' इस कारिका को खण्डित करके पढ़ा गया है ॥१६॥

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार

तारावती—सोलहवीं कारिका उपसंहारात्मक है इस कारिका में पूर्वार्द्ध की दो पंक्तियाँ लिखी गई हैं । फिर 'स्फुरणेयं........उत्पद्यते' यह वृत्तिकार की पंक्ति है । उत्तरार्द्ध की शेष दो पंक्तियाँ बाद में लिखी हुई हैं । इस कारिका का सारार्थ यह है—जिस कविता को पढ़ कर सहृदयों की बुद्धि में यह आभासित होने लगे कि इस कविता में कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे पुराना हो चाहे नया, रमणीय ही कहा जायगा । 'कुछ स्फुरित' होने का आशय यह है कि जिसको पढ़ कर सहृदय लोग चमत्कृत हो जायँ अर्थात् सहृदयों की बुद्धि में आस्वाद उत्पन्न हो जाय । तात्पर्य यह है कि रमणीयता का एकमात्र आधार है सहृदयों को आस्वादमय चमत्कार की अनुभूति । यदि वह अनुभूति उत्पन्न हो जाती है तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि उस अनुभूति का साधन क्या है ? क्या वह कोई नया अर्थ है या पुराना ? इन प्रश्नों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता । अत एव यदि कवि ऐसी वस्तु का उपनिबन्धन करता है जो आस्वादमय चमत्कार को उत्पन्न करती है तो फिर वह चाहे पुरानी छाया से अनुगत ही क्यों न हो उस कवि की निन्दा नहीं होती । हाँ शर्त यह है कि उसकी अभिव्यक्ति शिथिल नहीं होनी चाहिए । कवि जिस व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करना चाहता है और उसके लिए जिस वाच्यार्थ का अभिधान करता है और उन दोनों व्यङ्ग्य-वाच्य अर्थों के समर्पण करने में उसकी शब्दरचना समर्थ अवश्य होनी चाहिए और उसको बन्धचारुता भी उतनी ही सशक्त होनी चाहिए ॥१६॥

(ध्वन्या०) तदित्थं स्थितम्—

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा ।
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये ॥

सन्ति नवाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धार्थविरचनेन कश्चित्कवेर्गुण इति भावयित्वा ।

परस्वादानेच्छा विरतमनसो वस्तु सुकवेः ।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥१७॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु । येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रह-

निस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते ! सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थं-माविर्भावयति । एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम् ॥१७॥

(अनु०) वह इस प्रकार स्थित है—

'विविध अर्थों का अमृतरस मिला दिया गया है इस प्रकार की वाणियाँ कवियों द्वारा विस्तारित की जायँ । उन्हें अपने अनिन्दनीय विषय में विषाद नहीं करना चाहिये ।'

नये काव्यार्थ हैं; दूसरों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ की रचना में कवि का कोई गुण नहीं है यह समझ कर ।

'दूसरे के अर्थ का आदान करने की इच्छा से विरत कवि की वस्तु को यह भगवती सरस्वती ही यथेष्ट रूप में संघटित कर देती है ।'

दूसरे के अर्थ का आदान करने की इच्छा से विरत मन वाले सुकवि की यह सरस्वती भगवती ही यथेष्ट वस्तु सङ्घटित कर देती है । जिन सुकवियों की प्रवृत्ति पुराने पुण्यों से और अभ्यास के परिपाक के कारण होती है दूसरों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ के ग्रहण करने में निस्पृह उन कवियों का अपना व्यापार कहीं उपयुक्त ही नहीं होता । वह भगवती सरस्वती स्वयं अभिमत अर्थ का आविर्भाव कर देती है । यही महाकवियों का महाकवित्व है । बस आनन्द मङ्गल हो ॥१७॥

(लो०) **स्व विषय इति ।** स्वयं तात्कालिकत्वेनास्फुरित इत्यर्थः । परस्वादानेच्छेत्यादि द्वितीयं श्लोकार्द्धं पूर्वोपस्कारेण सह पठति—**परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेरिति ।** तृतीयः पादः । कुतः खल्वपूर्वमानयामीत्याशयेन निरुद्योगः परोपनिबद्धवस्तूपजीवको वा स्यादित्याशङ्क्याह—**सरस्वत्येवेति ।** कारिकायां सुकवेरिति जातावेकवचनमित्यभिप्रायेण व्याचष्टे—**सुकवीनामिति ।** एतदेव स्पष्टयति—**प्राक्तनेत्यादिना तेषामित्यन्तेन ।** आविर्भावयतीति नूतनमेव सृजतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

(अनु०) 'स्वविषय' यह । अर्थात् स्वयं तात्कालिक रूप में स्फुरित न हुए । 'परस्वादानेच्छा' इत्यादि द्वितीय श्लोकार्द्ध पूर्वोपस्कार के 'परस्वादानेच्छा विरतमनसो वस्तु सुकवेः' यह तृतीय पाद है । कहाँ से अपूर्वता लायें इस आशय से निरुद्योग या परोपनिबद्ध वस्तु का उपजीवक हो जाय यह शङ्का करके कहते हैं—'सरस्वती ही' यह । कारिका में 'सुकवेः' यह जाति में एक वचन है इस अभिप्राय से कहते हैं—'सुकवियों का' यह । इसी को स्पष्ट करते हैं—'प्राक्तन' इत्यादि से लेकर 'न तेषाम्' इस तक । 'आविर्भूत कर देती है' अर्थात् नूतन ही रच देती हैं ॥१७॥

कवियों को निःशंक होकर कविता करने का उपदेश

१७वीं कारिका में कवियों को निश्शङ्क होकर रचना करने का उपदेश दिया गया है । इस कविता का सारांश यह है—कि कवि को निश्शङ्क होकर अपनी भारती का यथेष्ट विस्तार करना चाहिये । जो कुछ भी स्फुरित हो उसको निःसंकोच भाव से व्यक्त कर देना चाहिए । किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि उसकी वाणी से जो वर्ण या शब्द निकलें वे

अर्थगर्भित हों और प्रत्येक अर्थ अमृतोपम काव्यरस से ओतप्रोत हो। उसको यह समझ लेना चाहिए कि कविता का अनन्त क्षेत्र हो सकता है और कवि के असंख्य विषय हो सकते हैं। कोई भी विषय कवि की वाणी में आकर निन्दनीय नहीं रह जाता। अतः कवि को अपने मन में अवसाद नहीं आने देना चाहिए कि उसकी वाणी निम्न कोटि की है, अथवा उसकी वाणी में नवीनता नहीं है, या उसकी वाणी सहृदयसंवेद्य नहीं है। उसे यह समझकर भी मन में अवसाद नहीं आने देना चाहिए कि 'नये काव्यार्थ विद्यमान हैं ही' पुराने अर्थों को लेकर कविता करने में कवि की क्या विशेषता ? साथ ही जिन लोगों की यह दृढ धारणा बन गई है कि नवीन अर्थ के लिखने में ही कवि का गौरव होता है पुराना अर्थ लिखना उसके लिए व्यर्थ है उन्हें भी यह समझकर निराश नहीं होना चाहिए कि अब हम नया अर्थ कहाँ से ले आवें। क्योंकि यदि उनकी यह धारणा बन जायेगी तो या तो वे काव्य-क्रिया से विरत हो जायेंगे या दूसरों के बनाये हुए काव्य का आश्रय लेकर उसी के आधीन कविता करने लगेंगे। ये दोनों स्थितियाँ श्रेयस्कर नहीं हैं। न तो उनका काव्य-क्रिया को छोड़ बैठना ही वाञ्छनीय है और न सर्वथा परमुखापेक्षी हो जाना ही उचित है। (ऐसी दशा में या तो काव्यरचना होगी ही नहीं या यदि होगी भी तो प्रतिबिम्बकल्प अथवा आलेख्यप्रख्य होगी। यह बतलाया जा चुका है कि इस प्रकार की रचनायें साहित्य-जगत् में वाञ्छनीय नहीं कहीं जा सकती।) तब प्रश्न यह है कि ऐसे लोगों को और चारा ही क्या है जिन्होंने दूसरों की रचनाओं से भावापहरण कर रचना न करने का व्रत ले लिया है ? उनकी धारणा यह है कि कवियों की कविता भी उनका एक धन है। अतः उनके भाव को लेना दूसरों की सम्पत्ति की चोरी करना जैसा है। ('स्व' शब्द का अर्थ धन भी है और यहाँ पर उसका अर्थ काव्यार्थ भी है।) इसका उत्तर यह है कि उन्हें भी निराश होने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भगवती सरस्वती में अपूर्व शक्ति है। वे ऐसे लोगों के हृदय में स्वयं ही उस समस्त नवीन अर्थ-समूह को संघटित कर देती है जो कि एक कवि के लिये वाञ्छनीय होता है। वे भगवती यह क्रिया किसी एक कवि पर ही नहीं करती अपितु कवियों की पूरी जाति पर उनकी यह अनुकम्पा होती है। जिन कवियों की काव्य में प्रवृत्ति या तो पूर्वजन्म के सञ्चित पुण्यों के प्रभाव से होती है या अभ्यास का पूरा परिपाक कर लेने पर उन कवियों की प्रवृत्ति होती है तथा दूसरों के रचे हुये अर्थ का उपादान करना ही नहीं चाहते उनको यह आवश्यकता नहीं होती कि वे स्वयं अपने प्रयत्न से नवीन अर्थों की कल्पना करें। यह तो भगवती सरस्वती की उन पर अनुकम्पा का ही प्रभाव है कि उन्हें नये-नये अर्थ एकदम दृष्टिगत हो जाते हैं। भगवती सरस्वती की इस प्रकार की कृपा प्राप्त कर लेना ही महाकवित्व का सबसे बड़ा लक्षण है। (ऐसे हो कवियों को राजशेखर ने सारस्वत कवि कहा है।) ॥ १७ ॥

(ध्वन्या०)—इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो,
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमाभोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्।

(अनु०) इस प्रकार अक्लिष्ट रस के आश्रय से उचित गुण और अलङ्कार को शोभा को धारण करने वाले, जिससे समीहित समस्त वस्तु पुण्यात्माओं के द्वारा प्राप्त कर ली जाती है, समस्त सौख्य के धाम इस काव्य नामक देवोद्यान में ध्वनि प्रदर्शित की गई है। जिसकी महिमा कल्पवृक्ष की उपमा वाली है वह यह भव्य आत्मावालों के उपभोग के योग्य बने।

(लो०) **इतीति**। कारिकातद्वृत्तिनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः। अक्लिष्टा रसाश्रयेण उचिता ये गुणालङ्कारास्ततो या शोभा तां बिभर्ति काव्यम्। उद्यानमप्यक्लिष्टः कालोचितो यो रसः सेकादिकृतः तदाश्रयस्तत्कृतो यो गुणानां सौकुमार्यच्छायावत्त्वसौगन्ध्यप्रभृतीनामलङ्कारः पर्याप्तताकारणं तेन च या शोभा तां बिभर्ति। **यस्मादिति**। काव्याख्यादुद्यानात्। **सर्वसमीहितमिति**। व्युत्पत्तिकीर्तिप्रीतिलक्षणमित्यर्थः। एतच्च सर्वं पूर्वमेव वितत्योक्तमितिश्लोकार्थमात्रं व्याख्यातम्। **सुकृतिभिरिति**। ये कष्टोपदेशेनापि विना तथाविधफलभाज. तैरित्यर्थः। **अखिलसौख्यधाम्नीति**। अखिलदुःखलेशेनाप्यनुविद्धं यत्सौख्यं तस्य धाम्नि एकायतन इत्यर्थः। सर्वथा प्रियं सर्वथा हितं च दुर्लभं जगतीति भावः। विबुधांश्च काव्यतत्त्वविदः। **दर्शित इति**। स्थित एव सन् प्रकाशितः। अप्रकाशितस्य हि कथं भोग्यत्वम्। कल्पतरुणा उपमानं यस्य तादृङ् महिमा यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। सर्वसमीहितप्राप्तिर्हि काव्ये तदायत्ता। एतच्चोक्तं विस्तरतः।

(अनु०) 'इस प्रकार' यह। अर्थात् कारिका और वृत्ति के निरूपण के प्रकार से। रस के आश्रय से उचित (और) क्लेशरहित जो गुण और अलङ्कार उनसे जो शोभा उसको (जो) धारण करता है (अर्थात्) काव्य। उद्यान भी अक्लिष्ट अर्थात् कालोचित जो सेक इत्यादि से उत्पन्न रस उसके आश्रय वाला अर्थात् उससे किया हुआ जो गुणों का अर्थात् सौकुमार्य छायावत्त्व सौगन्ध्य इत्यादि का अलङ्कार अर्थात् पर्याप्ति कर देना उससे जो शोभा उसको धारण करता है। 'जिससे' यह। अर्थात् काव्य नामक उद्यान से। 'सभी' समीहित यह। अर्थात् व्युत्पत्ति कीर्ति और प्रीतिलक्षणवाला। यह सब पहले ही विस्तारपूर्वक बतला दिया गया है। इसलिये श्लोक के अर्थमात्र की व्याख्या की गई है। 'सुकृतियों के द्वारा' यह। अर्थात् जो कष्टोपदेश के बिना भी उस प्रकार का फल प्राप्त करने वाले हैं उनके द्वारा। 'समस्त सुख के धाम' यह अखिल अर्थात् दुःखलेश से भी अननुबिद्ध जो सौख्य, उसके धाम अर्थात् एक मात्र आयतन। भाव यह है कि सर्वथा प्रिय और सर्वथा हित लोक में दुर्लभ है। विबुधोद्यान अर्थात् नन्दन सुकृतियों का अर्थात् किया है ज्योतिष्टोम इत्यादि जिन्होंने उनकी समीहित प्राप्ति के निमित्त। विबुध काव्यतत्त्ववेत्ता भी (कहलाते हैं)। 'दिखलाया है' यह। स्थित होता हुआ ही प्रकाशित किया गया है; अप्रकाशित का भोग्यत्व कैसा? 'कल्पतरूपमानमहिमा' में बहुव्रीहिगर्भित बहुव्रीहि है—कल्पतरु से उपमान है जिसका, उस प्रकार की महिमा है जिसकी। काव्य में निस्सन्देह समीहित प्राप्ति एकमात्र उसी के अधीन है। और यह विस्तारपूर्वक बतला दिया गया है।

तारावती—यहाँ पर वृत्तिग्रन्थ समाप्त होता है और इस समाप्ति की सूचना देने के लिये आनन्दवर्धन ने 'इत्योम्' शब्द का प्रयोग किया है। ओम् शब्द मङ्गलाचरणपरक है क्योंकि स्मृति में कहा गया है कि अथ और ओम् शब्द पहले ब्रह्माजी के कण्ठ को भेद कर निकले थे अतः दोनों माङ्गलिक हैं। यहाँ पर 'ओम्' का प्रयोग आशीर्वादात्मक मङ्गल के लिये किया गया है। इसका आशय यह है कि बस, अब मैं वह सब कुछ कह चुका जो मुझे ध्वनि-कारिकाओं की व्याख्या में कहना था। यदि कुछ शेष रह गया है तो बस यही कि पाठकों का—समस्त विश्व का कल्याण हो। यहाँ पर यह समझना ठीक नहीं है कि 'इत्योम्' यह शब्द वृत्ति-भाग की समाप्ति का सूचक है; अतः बाद के दोनों पद्य कारिका-भाग समझे जाने चाहिये। यहाँ पर 'इत्योम्' शब्द केवल इस बात का सूचक है कि वृत्तिकार को कारिकाओं की व्याख्या में जो कुछ कहना था वह उसने कह दिया। अब अगले दोनों पद्य उसके अपने निवेदन हैं जो कि उसने उपसंहार के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत किये हैं।

उपसंहारात्मक कारिकाओं में ग्रंथ के विषय इत्यादि का उल्लेख

अब उपसंहार के रूप में लिखे गये दोनों पद्यों में ग्रन्थकार (वृत्तिकार) ग्रंथ के विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन इत्यादि का निरूपण कर रहे है। यहाँ पर पहले पद्य में काव्य पर नन्दनवन का आरोप किया गया है और ध्वनि को कल्पवृक्ष की उपमा दी गई है। यहाँ पर कई शब्द द्व्यर्थक हैं—(१) रस—काव्यरस तथा जल, (२) गुण—माधुर्यादि तथा सौकुमार्य इत्यादि, (३) अलङ्कार—उपमा इत्यादि तथा सीमा तक पहुँचा देना, (अलम् अर्थात् समाप्ति और कार अर्थात् करना), (४) समीहित वस्तु—व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति इत्यादि तथा मनचाही वस्तु, (५) सुकृति—काव्यतत्त्ववेत्ता सहृदय तथा समीहित की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञ करनेवाले, (६) विबुध—विद्वान् तथा देवता। यहाँ पर देवोद्यान नन्दन अप्रस्तुत है और काव्य प्रस्तुत है। यहाँ पर उपमानोपमेय भाव के अनुसार इस पद्य का यह अर्थ होगा—जिस प्रकार अक्लिष्ट अर्थात् समयानुसार विना कष्ट के प्राप्त रस अर्थात् जल से सींचने इत्यादि के आश्रय से देवोद्यान अर्थात् नन्दन वन, उद्यान के सभी वांछनीय गुणों की चरम सीमा प्राप्त कर लेता है—वे गुण हो सकते हैं सौकुमार्य, कोमल छायावत्त्व, सौगन्ध्य इत्यादि। तथा जिन लोगों ने समीहित की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञ किये हैं और पुण्यों के प्रभाव से वे नन्दनवन में विहार करने के अधिकारी बन गये हैं वे लोग उस नन्दनवन से अपनी मनचाही सभी वस्तु प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार का यह काव्यजगत् नन्दनोद्यान की उपमावाला है। इसमें भी गुणों और अलङ्कारों की संयोजना इस रूप में की जाती है कि उनके संयोजन में यह प्रतीत नहीं होता कि बलात् उनको काव्य में समाविष्ट किया गया है और उन (गुणों और अलङ्कारों) का प्रयोग रस-निष्पत्ति के अनुकूल भी होता है। काव्य में इस प्रकार के गुणों और अलङ्कारों का सौन्दर्य विद्यमान रहता है। जिस प्रकार नन्दनवन से पुण्यात्माओं को सब कुछ मिल जाता है उसी प्रकार जिन लोगों को अपने प्राक्तन पुण्यों के प्रभाव से सहृदयता प्राप्त हो गई है वे काव्य से व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति इत्यादि सभी कुछ प्राप्त कर लेते हैं। काव्य-प्रयोजनों के प्रसङ्ग में इन तत्त्वों का

विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है वहीं देखना चाहिए। यह काव्यरूपी विबुधोद्यान समस्त सुखों का धाम है। क्योंकि सुख दो प्रकार का होता है—एक तो लौकिक सुख और दूसरा अलौकिक सुख। लौकिक सुख में दुःख का अंश अवश्य विद्यमान रहता है। इसके प्रतिकूल अलौकिक सुख वही होता है जो दुःख से सर्वथा विनिर्मुक्त हो। स्वर्ग में नन्दनवन-विहार और काव्यास्वाद दोनों ही दुःख से संभिन्न नहीं होते। इनमें केवल सुख ही सुख होता है। (काव्यप्रकाशकार ने काव्य-सृष्टि को ह्लादैकमयी बतलाया है। इसमें दुःखाश्रुओं में भी केवल आह्लाद ही होता है।) आशय यह है कि जगत् में सर्वथा प्रिय और सर्वथा हित दुर्लभ ही होता है। किन्तु काव्य तथा नन्दनोद्यान में सभी कुछ आनन्दमय ही होता है। इस काव्यरूपी नन्दनोद्यान में ध्वनि की महिमा कल्पवृक्ष की उपमावाली है। 'कल्पतरूपमानमहिमा' में दो बहुव्रीहि हैं। एक है 'कल्पतरूपमान' में, 'कल्पतरु है उपमान जिसका' और दूसरा है 'कल्पतरूपमानमहिमा' में अर्थात् कल्पतरु की उपमावाली है महिमा जिसकी। काव्यरूपी नन्दनोद्यान में ध्वनिरूपी कल्पवृक्ष पहले से ही विद्यमान था किन्तु इस नन्दनोद्यान में विचरण करने वाले लोग इसे जानते ही नहीं थे। अब इस ध्वन्यालोक की रचना से लोग जान गये हैं कि इस उद्यान में यह कल्पवृक्ष है। कल्पवृक्ष नन्दनोद्यान में अपनी सत्ता-मात्र से ही उपभोग का साधन नहीं बन सकता। इसके लिए आवश्यकता होती है कोई आकर उस कल्पवृक्ष के दर्शन करा दे। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक लिखकर उसी कल्पवृक्ष के दर्शन करा दिये हैं। अब आनन्दवर्धन की कामना यह है कि यह कल्पवृक्ष उन लोगों के उपभोग का साधन बने जिनकी आत्माएँ सच्ची तथा होनहार हैं। (कल्पवृक्ष सभी इच्छाओं को पूरा कर देता है और यह ध्वनि-सिद्धान्त भी काव्य के सभी तत्त्वों को आत्मसात् करा देता है।)

(ध्वन्या०) सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरान्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥
इति राजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके चतुर्थ उद्योतः।
समाप्तोऽयं ग्रन्थः॥

(अनु०) सत्काव्यतत्त्व की नीति का मार्ग जो परिपक्व बुद्धिवालों के मनों में बहुत समय से सोया हुआ जैसा था उसकी सहृदयों के उदयलाभ के लिये आनन्दवर्धन इस प्रसिद्ध नाम वाले (आचार्य) ने व्याख्या की।

यह है श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्य कृत ध्वन्यालोक का चौथा उद्योत।
यह ग्रंथ समाप्त हुआ।

(लो०) सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोः—

इति संबन्धाभिधेयप्रयोजनोपसंहारः। इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या सम्भावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते। स च सम्भावनाप्रत्ययो नाम श्रवणवशात्प्रसिद्धान्यतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुसरणेन भवति। तथाहि भर्तृहरिणेदं कृतं-यस्यायमौदार्यमहिमा यस्यास्मिञ्छास्त्रे एवंविधस्सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादा-

दरणीयमेतदितिलोकः प्रवर्तमानो दृश्यते। लोकश्चावश्यं प्रवर्तनीयः तच्छास्त्रोदित-प्रयोजनसम्पत्तये। तदनुग्राह्यश्रोतृजनप्रवर्त्तनाङ्गत्वाद्ग्रन्थकाराः स्वनामनिबन्धनं कुर्वन्ति, तदभिप्रायेणाह—**आनन्दवर्धन इति**। प्रथितशब्देनैतदेव प्रथितं यत्तु तदेव नामश्रवणं केषाञ्चिन्निवृत्ति, तन्मात्सर्यविजृम्भितं नात्र गणनीयम्, निश्रेयसप्रयोजना-देव हि श्रुतात्कोऽपि रागान्धो यदि निवर्तते किमेतावता प्रयोजनमप्रयोजनमवश्यं वक्तव्यमेव स्यात्। तस्मादर्थिनां प्रवृत्त्यङ्गं नाम प्रसिद्धम्।

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम्।
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम्॥ १॥

आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्यालोकार्थतत्त्वघटनादनुभेदसारम्।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत्॥ २॥

श्रीसिद्धिचेलचरणाब्जपरागपूतभट्टेन्दुराजमतिसंस्कृतबुद्धिलेशः।
वाक्यप्रमाणपदवेदिगुरुः प्रबन्ध सेवारसो व्यरचयद्ध्वनिवस्तु वृत्तिम्॥ ३॥

सज्जनान् कविरसौ न याचते ह्लादनाय शशभृत्किमर्थितः।
नैव निन्दति खलान् मुहुर्मुहुः धिक्कृतोऽपि नहि शीतलोऽनलः॥ ४॥

वस्तुतश्शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतश्शिवमयं विराजते।
नाशिवं क्वचन कस्यचिद्वचः तेन वश्शिवमयी दशा भवेत्॥ ५॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिते काव्यालोकलोचने चतुर्थ उद्योतः।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः॥

(अनु०)'सत्काव्य····लाभ हेतोः' यह सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन का उपसंहार है। यहाँ लोक अधिकता से लोकप्रसिद्धि से सम्भावना के विश्वास के बल पर प्रवृत्त होता है। वह सम्भावना का विश्वास नाम सुनने से उसके अन्य प्रसिद्ध समाचार कवित्व विद्वत्ता इत्यादि का अनुसरण करने से होता है। वह इस प्रकार—भर्तृहरि के द्वारा यह किया गया है जिसकी यह औदार्य महिमा है जिसका इस शास्त्र में इस प्रकार का सार दिखलाई देता है, उसका यह श्लोक प्रबन्ध है, उससे यह आदरणीय है इस बात को लेकर लोक प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है। उस शास्त्र में कहे हुए प्रयोजन की पूर्ति के लिये लोक को अवश्य प्रवृत्त किया जाना चाहिए। इसलिये अनुग्राह्य श्रोताजनों के प्रवर्तन का अङ्ग होने के कारण ग्रन्थकार अपने नाम का निबन्धन करते हैं। उस अभिप्राय से कहते हैं—'आनन्दवर्धन' यह। प्रथित शब्द से जो यह प्रकाशित किया गया है वही नाम श्रवण किसी की निवृत्ति कर देता है; इसलिये मात्सर्य के विजृम्भण को यहाँ पर नहीं गिना जाना चाहिए। निःश्रेयस प्रयोजन वाले ही शास्त्र से यदि कोई रागान्ध निवृत्त हो जाय तो क्या इतने से ही प्रयोजन को अप्रयोजन कहना आवश्यक हो जायेगा। इसलिये प्रसिद्ध नाम अर्थियों की प्रवृत्ति का अङ्ग होता है।

मन में स्पष्ट किये हुये अर्थ वैचित्र्य को बाहर प्रसार देनेवाली प्रत्यक्षार्थ को दिखलाने वाली चौथी शक्ति की हम वन्दना करते हैं॥१॥

आनन्दवर्धन के विवेक से प्रकाशमान काव्यालोक के अर्थतत्त्व को संयोजित करने से

जिसके सारपूर्ण होने का अनुमान लगाया जा सकता है, जो सब प्रकार के भलीभाँति प्रकट होने वाले विषयों को प्रकाशित करने वाला है इस प्रकार के अभिनवगुप्त के नवीन और गुप्त विलोचन को क्रियाशील बनाया गया है ॥२॥

श्री सिद्धिचेल के चरणकमलों की पराग से पवित्र हुये भट्टेन्दुराज की बुद्धि से जिनकी बुद्धि का अंश संस्कृत हुआ है; जो मीमांसा, न्याय और व्याकरण जाननेवालों के गुरु हैं और जिनको प्रबन्धरचना के सेवन में आनन्द आता है (इस प्रकार के अभिनवगुप्त ने) ध्वनि नामक वस्तु के विवरण की रचना की ॥३॥

वह कवि सज्जनों से प्रार्थना नहीं करता। क्या आह्लाद देने के लिए चन्द्र से प्रार्थना की गई है? दुष्टों की निन्दा भी नहीं करता। बार-बार धिक्कार करने पर भी अग्नि शीतल नहीं होती ॥४॥

वस्तुतः शिवमय हृदय होने पर स्फुट रूप में सभी शिवमय ही शोभित होता है; कहीं किसी के वचन अशिव नहीं होते। इससे आप लोगों की दशा शिवमय हो जाय।

यह है महामाहेश्वर अभिनवगुप्तविरचित काव्यालोकलोचन में चतुर्थ उद्योत।

और यह ग्रन्थ समाप्त हो गया ॥

तारावती—दूसरे पद्य में संबन्ध, विषय, प्रयोजन, (और अधिकारी) इन अनुबन्धों का उपसंहार किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी इन पर प्रकाश डाला गया था और अब यहाँ पर उपसंहार में भी इनका उल्लेख किया जा रहा है। यह ध्वनि-सिद्धान्त सत्काव्य का एक उचित तथा न्याय्य मार्ग है। यह सहृदयों के अन्तःकरण की अवचेतन अवस्था में सोया हुआ सा पड़ा था। जिन लोगों की प्रज्ञा परिपाक को प्राप्त हो चुकी है उनको इस ध्वनिमार्ग का आभास अवश्य प्राप्त हो रहा था किन्तु यह तत्त्व उनके सामने सर्वथा प्रकट रूप में विद्यमान नहीं था। आनन्दवर्धन इस प्रसिद्ध नाम वाले आचार्य ने सहृदयों के उदयलाभ के लिए उस तत्त्व की व्याख्या कर दी है। यह नहीं समझा जाना चाहिए कि आनन्दवर्धन ने किसी नये काव्यतत्त्व का प्रवर्तन किया है। यहाँ पर निगूढ ध्वनि तत्त्व ग्रन्थ का विषय है, काव्यसम्बन्धी इतर तत्त्व विषय से संबद्ध है। सहृदयों को उदय प्रदान करना ग्रन्थ का प्रयोजन है और सहृदय उसके अधिकारी हैं। प्रारम्भ में "सहृदयमनःप्रीति" प्रयोजन माना गया था यहाँ पर सहृदयों का उदय प्रयोजन माना गया है।

आनन्दवर्धन नाम पर विशेष प्रकाश

अभिनवगुप्त ने यहाँ पर 'आनन्दवर्धन' इस नामग्रहण पर विशेष प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि यह लोक की एक सामान्य प्रवृत्ति होती है कि लोग किसी काम में तभी प्रवृत्त होते हैं जब उन्हें लोकप्रसिद्धि के आधार पर किसी से विशेष सम्भावना हो जाती है और उसका उन्हें विश्वास हो जाता है। कहने का आशय यह है कि हमें किसी नई बात का अतिशीघ्र प्रायः विश्वास ही नहीं होता। किन्तु जब कोई लेखक लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है और लोक उससे सम्भावना करने लगता है कि जो कुछ कहेगा वह सब अनुभूत तथा

सत्य होगा तब लोग उसकी कही बात को प्रमाणरूप में मानने लगते हैं और उसके अनुसार अपना आचरण बनाने की चेष्टा करते हैं। जब उस प्रामाणिक महापुरुष का नाम लिया जाता है तब उसके दूसरे प्रसिद्ध कार्योंपर एकदम ध्यान चला जाता है और उसकी विद्वत्ता तथा कवित्वशक्ति एकदम नेत्रों के सामने नाचने लगती है। तब उस पर विश्वास जम जाता है और उससे एक प्रकार की सच्ची बात की सम्भावना की जाने लगती है। जैसे यह प्रायः देखा जाता है कि लोग कहते हैं कि यह पद्य भर्तृहरि का बताया हुआ है, उनकी उदारता की ऐसी महिमा है और उनका इस शास्त्र में इतना अधिक प्रवेश है। इस प्रकार भर्तृहरि के नाम आ जाने से उनके औदार्य महिमा तथा शास्त्र में उनकी गति एकदम सामने आ जाती है तथा लोग कहने लगते हैं कि अमुक पद्य उन्हीं भर्तृहरि का बनाया हुआ है अतः इसका आदर करना चाहिए और इसी आधार पर लोग उस कार्य में प्रवृत्त होते हुए दिखलाई देते हैं। शास्त्र का मुख्य प्रयोजन यही होता है कि शास्त्र में जो कुछ कहा गया हो उसमें लोक की प्रवृत्ति हो जानी चाहिए। क्योंकि लोक को प्रेरणा ही न मिले और लोक उस शास्त्र का आदर ही न करे तो शास्त्र-रचना में जो भी उद्योग किया गया होता है वह व्यर्थ ही हो जाता है। इसीलिये ग्रन्थकार अपना नाम ग्रन्थ के साथ जोड़ देते हैं जिससे उनका शास्त्र ऐसे श्रोताओं की प्रवृत्ति का अङ्ग बन जाय जिनपर शास्त्रकार अनुग्रह करना चाहता है। आनन्दवर्धन भी लोक में प्रमाणिकता के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अतः उनकी कही हुई बात को लोग नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेंगे। इसी मन्तव्य से यहाँ पर उन्होंने अपना नाम लिखा है। यहाँ पर 'प्रथिते' शब्द का प्रयोग इसी मन्तव्य से किया गया है। इस शब्द का आशय यह है कि जिन आनन्दवर्धन का नाम लोक में प्रसिद्ध हो चुका है उनका लिखा हुआ यह शास्त्र है। यहाँ पर एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि जिस प्रकार किसी का नामोल्लेख दूसरों के अन्दर श्रद्धा पैदा करता है उन्हें उस शास्त्र की ओर झुका देता है उसी प्रकार किसी का नाम सुन कर कुछ लोग उस ओर से उदासीन भी हो जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की वैराग्यभावना तभी जागृत होती है जब दूसरे लोगों में द्वेष की भावना उद्दीप्त हो रही हो। अतः इस प्रकार की द्वेष बुद्धि से जो बात प्रकट होती है उस पर तो ध्यान देना ही नहीं चाहिये। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति रोग से अन्धा हो रहा है और वासनाएँ उसके अन्तःकरण में भरी हुई हैं तो जब उसके सामने कहा जावेगा कि श्रुति का प्रयोग है पारलौकिक कल्याण प्रदान करना तब वह उससे विरक्त ही हो जावेगा। तो उसके विरक्त हो जाने से क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्रुति का प्रयोजन तो विपरीत फल देता है? ऐसा तो शायद कोई विचार भी न करेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी महान् लेखक का नामग्रहण केवल उन्हीं को प्रवृत्त कर सकता है जो उस शास्त्र को जानने के लिये प्रार्थी होते हैं। ऐसे ही लोगों को ध्वनिसिद्धान्त में प्रवृत्त करने के लिये और उनमें श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए आनन्दवर्धन ने अपना नाम लिखा है।

लोचन के उपसंहारात्मक पद्य

अन्त में लोचनकार ने ५ पद्य उपसंहार के रूप में लिखे हैं। प्रथम पद्य में ग्रन्थान्त

का मङ्गलाचरण है, द्वितीय में लोचन का परिचय दिया गया है, तृतीय में अभिनव गुप्त ने अपने और अपने गुरु के विषय में कुछ कहा है, चौथे में सज्जन और दुर्जन का विभाजन किया गया है और पाँचवें में हृदय के शिवमय होने पर सभी विश्व का शिवमय होना बतलाया गया है और पाठकों की मङ्गलाशंसा की गई है।

अन्त में मंगलाचरण

प्रथम पद्य मङ्गलाचरणपरक है। इसमें क्रमप्राप्त बैखरी वाणी की नन्दना की गई है। यह बतलाया जा चुका है कि वाणी ४ प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। प्रथम तीन उद्योतों में क्रमशः परा, पश्यन्ती और मध्यमा की वन्दना की गई है और इस उद्योत के अन्त में चौथी अर्थात् बैखरी वाणी की वन्दना है। वैखरी वाणी को उस अवस्था को कहते हैं जिसमें शब्द, स्थान और प्रयत्न के बल पर मुख से बाहर निकल कर दूसरों के श्रुतिगोचर हो जाते हैं। प्रथम तीन वाणियों को लोग सुन नहीं पाते, अतः कहने का काम चौथी वाणी से ही लिया जाता है। (गुहात्रीणि निहितानेङ्गयन्ति तुर्यां वाचं मनुष्या वदन्ति।) परा वाणी में सभी अर्थ एकरूप रहते हैं, उनमें वैचित्र्य नहीं होता, सर्वप्रथम मन में अर्थवैचित्र्य स्फुट होता है; उसको बाह्य जगत् में प्रसार देनेवाली वैखरी वाणी ही होती है जिसके प्रभाव से लोग समझ सकते हैं कि अमुक व्यक्ति के मन में अमुक बात है। वैखरी ही अर्थ का प्रत्यक्ष निदर्शन करती है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने यहाँ इस वैखरी वाणी की वन्दना की है और उसे शक्ति का एक रूप बतलाया है ॥१॥

लोचन की विशेषता

दूसरे पद्य में लोचन की विशेषता बतलाई गई हैं। अभिनवगुप्त ने अपने प्रसिद्ध लोचन को ध्वन्यालोक समझने के पुनीत कार्य में प्रवृत्त किया है। यह लोचन अपने कर्ता के नाम के अनुसार अभिनव भी है और गुप्त भी, क्योंकि दूसरे लोग अभी तक इसे समझ नहीं सके हैं। इस लोचन में सार भरा हुआ है जिसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि आनन्दवर्धन जैसे परमनिष्णात आचार्य के विवेक से जिस काव्यालोक का विकास हुआ था उसके अर्थ को पूर्णरूप से इसमें संघटित करा दिया गया है और सहृदयों में काव्य के जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय प्रकृष्ट रूप में प्रकाशित होते हैं उन सबको यह प्रकाशित करनेवाला है ॥२॥

अपनी गुरुपरम्परा का निर्देश

तीसरे पद्य में बतलाया गया है कि अभिनवगुप्त ने भट्टेन्दुराज से शिक्षा पाई थी। भट्टेन्दुराज के गुरु थे श्रीसिद्धिचेल। यहाँ पर लिखा गया है कि अभिनवगुप्त की बुद्धि के एक अंश का भट्टेन्दुराज ने संस्कार किया था। इसका आशय यह है कि अभिनवगुप्त ने कई आचार्यों से शिक्षा पाई थी। विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन की इनकी अभिरुचि इतनी अधिक बढ़ी चढ़ी थी कि ये काश्मीर के तथा बाहर के अनेक अधिकारी विद्वानों के पास शिक्षा प्राप्त करने गये थे। इनके कतिपय आचार्यों के नाम ये हैं—श्रीनरसिंहगुप्त–इनके पिता जो चुजुलक

नाम से प्रसिद्ध थे इनके व्याकरण गुरु थे। श्रीशम्भुनाथ कौलमत के गुरु, भूतिराज वेदान्त के गुरु, त्रिकदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन और शैव सम्प्रदाय के गुरु श्री सोमानन्द, श्री उत्पलपादाचार्य और लक्ष्मण गुप्तनाथ, ध्वनि सिद्धान्त के गुरु भट्टेन्दुराज इत्यादि अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों से इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। यहाँ इन्होंने अपने को वाक्यानुशासन अर्थात् मीमांसा दर्शन, प्रमाणानुशासन अर्थात् न्याय दर्शन और पदानुशासन अर्थात् व्याकरण **शास्त्र** का गुरु बतलाया है। साथ ही इन्होंने इसमें अपने को विभिन्न रचनाओं में रस लेने वाला कहा है। (इनके विशेष परिचय के लिए देखें भूमिका का संबद्ध भाग।)॥३॥

सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा

कवियों तथा लेखकों की सामान्य परम्परा है कि वे अपने ग्रन्थों में सज्जनों की प्रशंसा और दुष्टों की निन्दा किया करते हैं तथा सज्जनों से अपने ग्रन्थ पढ़ने की अभ्यर्थना करते हैं और दुष्टों की निन्दा कर उनकी आलोचना की ओर ध्यान न देने का उपदेश देते हैं। (तुलसी ने ऐसा ही किया है।) किन्तु अभिनवगुप्त ऐसा नहीं करना चाहते क्योंकि सज्जनों और दूर्जनों का जन्मजात दृढ़ स्वभाव होता है, कहने सुनने से उसमें अन्तर नहीं आ सकता। चन्द्र स्वतः आह्लाद देता है और सज्जन स्वभाव से ही बिना प्रार्थना किये ही अपने आचरण से आनन्दित किया करते हैं। इसके प्रतिकूल दुष्ट लोगों को कितना ही धिक्कृत किया जाय वे अपने दुष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ते। क्या निन्दा के भय से पावक भी कभी शीतल हुआ है या हो सकता है ? यहाँ 'वह कवि' का अर्थ यह है कि जिसका परिचय तीसरे पद्य में दिया गया है॥४॥

शिव पर विश्वास और सब कुछ शिवमय होने की प्रशंसा

सज्जनों और दुर्जनों के व्यवहार पर विचार करने की आवश्यकता ही क्या ? कवि को तो अपने भक्ति भाव पर विश्वास है। कवि महाशैव है और उसका हृदय शिवमय है। अतः उसके लिये तो सारा विश्व ही शिवमय है क्योंकि हृदय की झलक सभी पदार्थों पर पड़ती है और अपना हृदय जैसा होता है सारा विश्व वैसा ही मालूम पड़ने लगता है। जिसके हृदय में भगवान् शिव सदा विराजमान रहते हैं उसकी कहीं भी कोई भी वाणी अशिव हो ही नहीं सकती। अतः कवि की कामना यही है कि उसकी शिवमयी वाणी का पाठकों पर ऐसा प्रभाव पड़े कि सभी पाठकों की दशा भी शिवमय हो जाय॥५॥

ग्रन्थ की "तारावती" नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या भी समाप्त हुई तथा महामाहेश्वर अभिनवगुप्त द्वारा रचा गया यह काव्यालोकलोचन का चौथा उद्योत समाप्त हुआ और साथ ही यह ग्रन्थ भी समाप्त हो गया।

——:०:——

कारिकार्धभागानामुदाहरणानां लोचनोद्धृत-कारिकादिखण्डानाञ्च वर्णानुक्रमणी

अ

उ

ए

औ

क

ख

ग

च

ज

ण

त

य

र

'ल'

'व'

श

स

ह

ध्वन्यालोकः
डॉ० रामसागर त्रिपाठी

भारतीय साहित्य-शास्त्र की शास्त्रीय परम्परा में ध्वन्यालोक का अन्यतम स्थान निर्विवाद है। इसका सबसे बड़ा महत्त्व इसी बात में है कि इसमें प्राक्तन समस्त साहित्यराशि पर दृक्पात कर एक समन्वयात्मक सिद्धान्त स्थापित करने की चेष्टा की गई है। केवल काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों का ही नहीं नाट्यशास्त्र का भी काव्यशास्त्र से समन्वय इसका एक बहुत बड़ा गुण है।

इस ग्रन्थ में द्वितीय उद्योत पर्यन्त ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना तथा व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में व्यञ्जक तत्त्वों की मीमांसा की गई है श्रौर उसके बाद ऐसे अनेक प्रश्नों पर विचार किया गया है जो ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में सामने श्राते हैं। साथ ही विभिन्न सिद्धान्तों के समन्वय की दिशा में आचार्य ने स्तुत्य प्रयास किया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि-सिद्धान्त के मानने पर काव्य किस प्रकार अनन्तता को प्राप्त हो जाता है इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। साहित्य-शास्त्र के जिज्ञासु के लिये ध्वन्यालोक का यह खण्ड सर्वथा अनुपेक्षणीय है।

प्रस्तुत संस्करण में योजना कुछ भिन्न कर दी गई है। विषयों के अनुसार पाठ्य सामग्री एक साथ देकर उसकी व्याख्या उसके साथ ही दे दी गई है श्रौर स्थान-स्थान पर उपशीर्षक भी दे दिये गये हैं जिससे समस्त विषय एकसाथ हृदयंगम हो जाता है। आशा है कि यह योजना परिशीलकों के लिए अधिक सुविधाजनक होगी।

मूल्य : रु० ५० (सजिल्द)
३५ (अजिल्द)